शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

भाष्यप्रणेतारः
अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

१६—२० अध्यायात्मको भागः

प्रकाशकः
श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थानम्
कलकत्ता * वृन्दावनम्



शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता

वेदार्थपारिजातभाष्यसमन्विता

[१६-२० अध्यायात्मको भागः]

भाष्यप्रणेतारः

अनन्तश्रीविभूषिताः स्वामिकरपात्रमहाराजाः

भाषानुवादकः

डॉ० प० गजाननशास्त्री मुसलगांवकरः

मीमांसा-वेदान्त-साहित्याचार्यः, एम० ए०, पी०-एच० डी०

सम्पादकः

प० व्रजवल्लभद्विवेदो दर्शनाचार्यः

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालये

सांख्ययोगतन्त्रागमविभागाध्यक्षचरः

प्रकाशकः

श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्

कलकत्ता ▣ वृन्दावन

श्रीवृन्दावनम् प्रथमसंस्करणम् संवत् २०४८

प्रकाशक—
श्रीराधाकृष्णधानुका-प्रकाशनसंस्थानम्
कलकत्ता • वृन्दावन

□

मूल्य : ११०.०० रूप्यकाणि

□

□

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

१. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
११३ पार्क स्ट्रीट, पोद्दार पोइन्ट, कलकत्ता—७०००१६

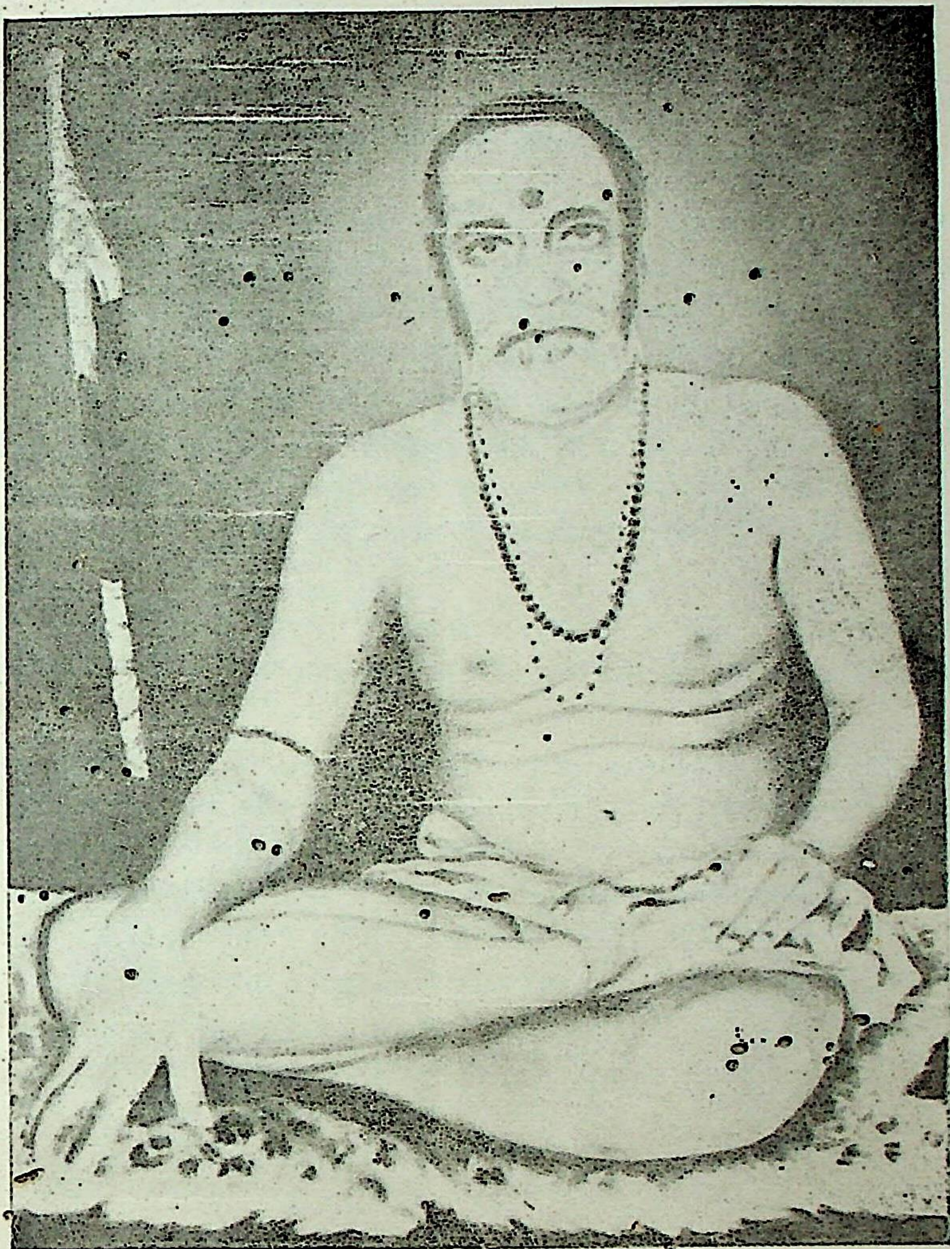
२. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
ब्रह्मकुटीर, डी० २५/१८ नारद घाट
वाराणसी (उ० प्र०)

३. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
धर्मसंघ विद्यालय रमणरेती, वृन्दावन
मथुरा (उ० प्र०)

४. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पैट्रो केमिकल्स लिमिटेड
४०१/४०४ राहेजा सेन्टर
२१४, नारीमन पोइन्ट, बम्बई ४०००२१

५. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पेट्रो केमिकल्स लिमिटेड
ई० ४/२४, ईस्ट पटेल नगर
दिल्ली—८

मुद्रक—
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा, वाराणसी



परब्रह्मस्वरूप
धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

॥ श्रीहरिः ॥

प्रकाशकीय वक्तव्य

अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज द्वारा विरचित यजुर्वेदसंहिता के १६-२० अध्यायों के भाष्य को मन्त्रार्थ और भाष्यनिष्कर्ष के साथ प्रकाशित करते हुए हमें बहुत हर्ष का अनुभव हो रहा है। इससे पूर्व प्रथम तीन अध्यायों का और चालीसवें अध्याय (ईशावास्योपनिषद्) का भाष्य अनुवाद सहित और ११-१५ अध्यायों का भाष्य मन्त्रार्थ एवं भाष्यनिष्कर्ष के साथ प्रकाशित हो चुका है, यह आप लोगों को विदित ही है।

प्रकाशन कार्य विस्तृत है। कई कठिनाइयों के कारण प्रकाशन का कार्य त्वरित गति से नहीं हो पा रहा था। अब चतुर्थ और पंचम अध्याय वाला भाग और छठे से दसवें अध्याय तक का भाग अलग-अलग प्रेसों में छप रहा है। २१ से ३९ अध्याय तक का भाष्य भी मन्त्रार्थ के साथ लगभग छप चुका है। यथाशीघ्र आप लोगों को ये सब भाग प्राप्त हो सकेंगे। हम इस प्रयत्न में हैं कि विक्रम संवत् २०४८ के अन्त तक पूरा भाष्य विज्ञ पाठकों के करकमलों तक पहुँचा दिया जाय।

विदित हो, पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज की अद्वितीय कृति देश के जिन सन्तों, विद्वानों, उच्च शिक्षाविदों और अधिकारियों के पास पहुँचती है, वे अत्यन्त प्रभावित होकर हम लोगों को शेष भाग शीघ्र प्रकाशित करने को सत्प्रेरणा प्रदान करते हैं।

भाष्यभूमिका के लेखक, अनुवादक, समय-समय पर उचित परामर्शदाता, प्रूफ पुनरीक्षक, प्रेसकापी साधक, अनुच्छेद (पैराग्राफ) के निर्धारक के रूप में और प्रकाशन सम्बन्धी सभी साज-सज्जा को तैयार कर इस अमूल्य ग्रन्थरत्न को सबके सम्मुख प्रस्तुत करने वालों के रूप में जिन-जिन महानुभावों ने अपनी अहैतुकी कृपा से इस कार्य को सम्पन्न किया है, उन सभी परम सम्माननीय, आत्मीय, पूज्य आचार्य, विद्वन्मूर्धन्यों के चरणकमलों में धन्यवाद और अभिनन्दनस्वरूप नतमस्तक होकर हम सदा ही कृपा की आशा रखते हैं। जिनके चरणों में धन्यवाद प्रस्तुत करते हैं, वे हैं—

(१) अनन्तश्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थजी महाराज
(२) स्वामी श्री निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज
(३) पण्डित श्री मार्कण्डेय ब्रह्मचारीजी
(४) पण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदीजी
(५) पण्डित श्रीगजानन शास्त्री मुसलगांवकरजी
(६) पण्डित श्री जनार्दन पाण्डेयजी
(७) पण्डित श्री राजवंशी द्विवेदीजी

रत्ना प्रेस के सुयोग्य प्रबन्धक तथा सहृदय कर्मचारियों के स्नेहपूर्ण सौजन्यभरे मुद्रणादि कार्यों के सम्पादन को स्मरण कर उन्हें बहुत धन्यवाद देते हैं।

वृन्दावन धाम
माघी पूर्णिमा
२०४८ वि० सं०

निवेदक
हनुमानप्रसाद धानुका
अध्यक्ष

पंचाध्यायी(१६-२०)-भाष्यनिष्कर्ष

११-१५ अध्याय के भाष्यनिष्कर्ष के प्रारम्भ में भाष्यरचना की पद्धति पर प्रकाश डालते हुए बताया गया था कि अग्निचयन के मन्त्र इस माध्यन्दिन संहिता के ११-१८ अध्याय पर्यन्त वर्णित हैं। अग्निचयन सम्बन्धी उस भाग में ११-१५ अध्यायों में वर्णित उख्यसंभरण आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया था। शेष तीन अध्यायों के अग्निचयन संबन्धी विषयों को तथा १९-२१ अध्यायों के सौत्रामणी याग सम्बन्धी विषयों में से केवल १९-२० अध्यायों के विषयों को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है। साथ ही शतपथ ब्राह्मण के, मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ के और स्वामी दयानन्द के भाष्य के अवधेय अंशों को भी दिखाया जा रहा है।

षोडश अध्याय : शतरुद्रिय होम

प्रस्तुत अध्याय में शतरुद्रहोम सम्बन्धी मन्त्रों का वर्णन है। सुवर्ण के टुकड़ों से अग्नि का प्रोक्षण करने के उपरान्त शतरुद्र सम्बन्धी इस यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है। बुभुक्षित अग्नि रुद्र का स्वरूप धारण कर लेती है। उसकी शान्ति के लिये ये आहुतियां दी जाती हैं। ये आहुतियां आहवनीयाग्नि में नहीं दी जातीं, किन्तु चित्याग्नि के उत्तर पक्ष के नैर्ऋत्य कोण में पहले से खोदी गई जंघाप्रमाण परिश्रित् भूमि में यह शतरुद्रिय होम किया जाता है। यहाँ र्जतिल-मिश्रित गवेधुक के सत्तू को उत्तराभिमुख अध्वर्यु जुहूस्थानीय दाहिने हाथ में लेकर बायें हाथ में स्थित अर्ककाष्ठ से उसकी परिश्रित् स्थान में आहुति देता है। कुछ आचार्यों का मानना है कि र्जतिलमिश्रित गवेधुक-सक्तु के स्थान पर अजाक्षीर की आहुति दी जाती है। [1]वन में पैदा हुए तिल र्जतिल और गेहूँ गवेधुक कहलाते हैं।

'नमस्ते' आदि सोलह ऋचाओं का पहला अनुवाक और बाद के पाँच-पाँच ऋचाओं के अन्य दो अनुवाक, इन तीन अनुवाकों की २६ कण्डिकाओं से जानुप्रमाण परिश्रित् स्थान में आहुतियां दी जाती हैं। इसके बाद पाँच-पाँच कण्डिकाओं के चतुर्थ और पंचम अनुवाकों से नाभिप्रमाण परिश्रित् स्थान में स्वाहाकार किया जाता है। इस अध्याय की अन्तिम तीन कण्डिकाएँ प्रत्यवरोह संज्ञक हैं। इनसे पहले की ३७-६३ कण्डिकाओं से मुखपरिमाण परिश्रितस्थान में आहुतियां दी जाती हैं? 'नमोऽस्तु' (१६।६४-६६) इत्यादि तीन ऋचाओं से प्रतिलोम होम किया जाता है, अर्थात् पहले मन्त्र से मुखप्रमाण, दूसरे से नाभिप्रमाण और तीसरे मन्त्र से जानुप्रमाण परिश्रितस्थान में होम सम्पन्न किया जाता है।

१७-४६ संख्या तक की सभी कण्डिकाएँ "शेषे यजुःशब्दः" इस मीमांसा सूत्र में वर्णित लक्षण के अनुसार यजुर्मन्त्र हैं। इनमें से 'नमो हिरण्यबाहवे' (१६।१७) से लेकर 'धनुष्कृद्भ्यश्च' (१६।४६) पर्यन्त कण्डिकाओं के २४० यजुर्मन्त्रों में इतनी ही संख्या के रुद्र देवता हैं। ४६वीं कण्डिका के शेष चार मन्त्रों के देवता अग्नि, वायु और सूर्य हैं। ये तीनों देवता रुद्र के हृदयस्थानीय हैं। यहाँ चार ही नमः शब्द आये हैं। इसलिये यहाँ इन तीन देवताओं के ये चार मन्त्र माने गये हैं। इन रुद्रों के मध्य में कुछ के उभयतः नमस्कार मन्त्र हैं, अर्थात् रुद्र के दो-दो नामों के पहले और बाद में भी नमः पद संयुक्त हैं। १७वीं कण्डिका से लेकर 'श्वपतिभ्यश्च' (१६।२८) पर्यन्त उभयतः नमस्कार मन्त्र हैं। इसके उपरान्त 'नमो भवाय च' (१६।२८) से लेकर 'प्रखिदते च' (१६।४६) पर्यन्त कण्डिकाओं में अन्यतरतः नमस्कार-मन्त्र हैं, अर्थात् यहाँ प्रत्येक दो यजुर्मन्त्रों के प्रारम्भ में नमः पद संयोजित है। इसके बाद 'नम इषुकृद्भ्यः' (१६।४६) इत्यादि कण्डिकाओं के शेष यजुर्मन्त्र उभयतः नमस्कार हैं। 'नमः सभाभ्यः' (१६।२४) इत्यादि कण्डिकाओं में व्रातसंज्ञक

---

१. "र्जतिला आरण्यतिलाः। गवेधुका आरण्यगोधूमाः" (भाष्य, पृ० १)।

रुद्र वर्णित हैं। इनमें से उभयतः नमस्कार वाले रुद्र अत्यन्त घोर, अत्यन्त अशान्त स्वभाव वाले हैं। अन्यतरतः नमस्कार वाले रुद्र अत्यन्त शान्त स्वभाव के हैं। जातसंज्ञक रुद्रों की स्थिति रुद्रलोक में मानी गई है। सर्वत्र रुद्राद्वैत सिद्धान्त की स्थापना के लिये यहाँ उनका वर्णन किया गया है।

'नम इषुमद्भ्यः' (१६।२२) इत्यादि छः मन्त्रों में प्रयुक्त 'वः' शब्द पूजार्थक है, युष्मदर्थक नहीं, क्योंकि यहाँ सम्बोधन विवक्षित नहीं है। 'नमो ह्रस्वाय' (१६।३०) इत्यादि मन्त्र स्वरूप, गति, वय (अवस्था), वर्ण (रंग) आदि के सूचक हैं। ४६वीं कण्डिका तक रुद्रों की तीन अशीतियां, अर्थात् कुल २४० रुद्रों के नाम पूरे हो जाते हैं। इनसे रुद्र की सर्वात्मकता व्यक्त होती है। इसी के साथ रुद्रों में प्रधानभूत रुद्रहृदयरूप अग्नि, वायु और सूर्यात्मक देवताओं का प्रतिपादन पूरा हो जाता है। ४७वीं से लेकर ५३वीं कण्डिका तक की ७ ऋचाओं में से प्रत्येक में एक-एक रुद्र देवता का माहात्म्य वर्णित है। इसके बाद के दस (१६।५४-६३) अवतानसंज्ञक अनुष्टुप् मन्त्रों के देवता अनेक रुद्र हैं। यहाँ पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, पाताल आदि में स्थित रुद्रों को नमनपूर्वक स्वाहाकार समर्पित किया जाता है। अन्तिम तीन कण्डिकाओं (१६।६४-६६) में प्रत्यवरोह संज्ञक तीन यजुर्मन्त्रों का विधान है। इनसे तीनों लोकों में स्थित रुद्रों को विपरीत क्रम (द्यु-अन्तरिक्ष-पृथिवी) से आहुतियां दी जाती हैं। इस प्रकार यह शतरुद्रिय होमविधि समाप्त होती है। प्रस्तुत खण्ड में इस अध्याय के भाष्य का विस्तृत भाषानुवाद भी समाविष्ट है।

सप्तदश अध्याय : चित्याग्निपरिषेक

सर्वप्रथम यहाँ चित्याग्नि के परिषेक का विधान है। 'अग्नीत्' नामक ऋत्विक् सपक्षपुच्छात्मा स्थापित चित्याग्नि के दक्षिण पक्ष से जुड़े हुए आत्मभाग के नीचे पाषाण को स्थापित कर, जलकुम्भ से हाथ में जल लेकर उस पाषाण खण्ड से प्रारम्भ कर सपक्षपुच्छ चित्याग्नि को प्रदक्षिण क्रम से 'अश्मन्नूर्जम्' (१७।१) मन्त्र का उच्चारण करते हुए जलधारा से चारों तरफ से सींचता है। तदुपरान्त मन्त्र के अपर भाग का उच्चारण करता हुआ पाषाण पर कुम्भ को रखता है। वहाँ से पुनः कुम्भ को उठा कर पूर्ववत् दुबारा परिषेक करता है। इतना करने के उपरान्त अग्नीत् इस जलकुम्भ को यज्ञशाला से बाहर कर देता है और बिना पीछे देखे यज्ञशाला में आकर दक्षिणवेदि के मध्यभाग के पास ईशानाभिमुख खड़ा होकर चित्याग्नि के आत्मभाग के ऊपर अपने हाथों को पूरी तरह से फैला कर उसके मध्यभाग का स्पर्श करते हुए 'इमा मे' (१७।२-३) इत्यादि दो कण्डिकाओं का सस्वर पाठ करता है। इसके बाद वह मण्डूक, शैवाल और वेतसशाखा को एक बांस में बांधकर, उसे दाहिने हाथ से पकड़ कर, उस बांस से आगे की सात ऋचाओं (१७।४-१०) का पाठ करते हुए अग्निक्षेत्र का कर्षण करता है। इसका क्रम यह है—प्रथम ऋचा से दक्षिण श्रोणि से दक्षिणांस पर्यन्त भाग का, द्वितीय से दक्षिण श्रोणि से उत्तर श्रोणि पर्यन्त भाग का, तृतीय से उत्तरश्रोणि से उत्तरांस पर्यन्त भाग का, चतुर्थ से उत्तरांस से लेकर दक्षिणांस पर्यन्त भाग का, पंचम से आत्मा के सम्मुख दक्षिण पक्ष का, षष्ठ से पुच्छ का तथा सप्तम से उत्तर पक्ष का कर्षण किया जाता है।

इसके उपरान्त अध्वर्यु सुवर्ण खण्ड सहित घृत से भरी स्रुवा को और दही, मधु, घृत के पात्र को कुशमुष्टि के साथ लेकर 'नमस्ते' (१७।११) इत्यादि मन्त्र का पाठ करता हुआ चित्याग्नि स्थल पर बैठता है, साथ ही ब्रह्मा और यजमान अग्नि के दक्षिण भाग में बैठते हैं। इसके बाद अध्वर्यु स्वयमातृण्णा इष्टका के ऊपर पंचगृहीत आज्य की 'नृषदे' (१७।१२) इत्यादि कण्डिका के पाँच मन्त्रों से आज्य का व्याघारण[1] तथा हिरण्यशकल को छोड़ कर पूर्वगृहीत पाँच द्रव्यों की आहुतियाँ देता है। इनका क्रम इस प्रकार है—पहले नाभि के दक्षिण अंस में, तब उत्तर श्रोणि में, दक्षिण श्रोणि में, उत्तर अंस में और अन्तिम आहुति मध्य भाग में दी जाती है। [1]एक कोण से लेकर दूसरे कोण तक घृत की धारा का निरन्तर क्षारण

---

१. "व्याघारणं नाम एकस्मात् कोणात् कोणान्तरं प्रति आज्यधाराक्षारणम्। तच्च व्याघारणं पञ्चगृहीतेनाज्येन क्रियते" (भा०, पृ० ९३)।

ही आज्य का व्याघारण कहा जाता है। पंचगृहीत आज्य से इस क्रिया को पूरा किया जाता है। इसके उपरान्त अध्वर्यु पात्र में अवशिष्ट दही, मधु और घृत को कुशा से लेकर परिश्रित् के साथ सपक्षपुच्छ अग्नि का मध्य में और बाहर दो ऋचाओं (१७।१३-१४) से प्रोक्षण करता है। तब 'प्राणदा' (१७।१५) इत्यादि मन्त्र के पाठ के साथ चित्याग्नि स्थान से उत्तर जाता है।

वह प्रवर्ग्य के उत्सादन के बाद यज्ञशाला में आकर पंचगृहीत आज्य की शालाद्वार पर 'अग्निस्तिग्मेन (१७।१६) मन्त्र से आहुति देता है। इसके उपरान्त षोडशगृहीत आज्य को जुहू में भर कर उसके आधे भाग की 'य इमा' (१७।१७-२४) इत्यादि मन्त्रों में शालाद्वार्य अग्नि में ही आहुति दी जाती है। षोडशगृहीत आज्य के बचे आधे भाग की 'चक्षुषः पिता' (१७।२५-३२) इत्यादि आठ मन्त्रों से आहुति दी जाती है। इसके उपरान्त अग्निचयन के इस प्रकरण में चित्याग्नि के प्रति आहवनीय अग्नि का प्रणयन करते समय अध्वर्यु से संप्रेषित ब्रह्मा दक्षिण दिशा में चलता हुआ 'आशुः शिशानः' (१७।३३-४४) इत्यादि अप्रतिरथ सूक्त की बारह ऋचाओं का पाठ करता है। अन्य शाखाओं में बताया गया है कि सभी क्रतुओं में, चाहे वे साग्निक हों अथवा अनग्निक, अप्रतिरथ सूक्त को इन बारह ऋचाओं का पाठ करता हुआ अध्वर्यु भी ब्रह्मा का अनुवर्तन करे।

४५ से ४८ संख्या की चार ऋचाओं का विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र में नहीं बताया गया। ४९वें मन्त्र में प्रदर्शित विनियोग की पद्धति से इनका लैंगिक विनियोग महाव्रत याग में अध्वर्यु द्वारा योद्धा को इषु (बाण)[1] प्रदान करने में तथा योद्धा एवं मरुद्देवता की स्तुति में किया जा सकता है। 'मर्माणि ते' (१७।४९) मन्त्र से महाव्रत याग में अध्वर्यु क्षत्रिय योद्धा को पहनने के लिये कवच प्रदान करता है। तब उदुम्बर (गूलर) की गीली, रातभर घृत में डुबाई गई, प्रादेश-प्रमाण तीन समिधाओं की 'उदेनम्' (१७।५०-५२) इत्यादि तीन ऋचाओं से शालाद्वार्य पर आहुति दी जाती है। इसके बाद अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है। 'उदु त्वा'(१७।५३) मन्त्र को होता तीन बार पढ़ता है। तब अध्वर्यु प्रदीप्त काष्ठ को शालाद्वार्य से उठाता है और 'पञ्च दिशः' (१७।५४-५८) इत्यादि पाँच ऋचाओं का पाठ करते हुए ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता और यजमान चित्य स्थान की ओर बढ़ते हैं। इन मन्त्रों का पाठ सभी को करना चाहिये, यह कर्काचार्य का मत है। हरिस्वामी के अनुसार केवल अध्वर्यु इनका पाठ करे।

इसके उपरान्त अध्वर्यु आग्नीध्र प्रदेश की दक्षिण दिशा में पृष्ठ्या[2] से संलग्न पृश्नि संज्ञक पाषाण को 'विमानः' (१७।५९-६०) इत्यादि दो ऋचाओं से रखता है। यहाँ इस पाषाण की आदित्य के रूप में स्तुति की जाती है। तदुपरान्त इस पाषाण को किसी गुप्त स्थान में छिपा कर 'इन्द्रं विश्वा' (१७।६१-६४) इत्यादि चार ऋचाओं का पाठ करते हुए सभी चयन-स्थान की ओर बढ़ते हैं और ऋत्विक्गण 'क्रमध्वम्' (१७।६५-६९) इत्यादि पांच ऋचाओं का उच्चारण करते हुए [3]तीर्थ मार्ग से चिति-स्थान पर चढ़ते हैं। यहाँ अध्वर्यु स्वयमातृण्णा इष्टका के स्थान से थोड़ा ऊपर कृष्ण वर्ण

---

१. इस प्रसंग में कात्यायनयज्ञपद्धतिविमर्श (पृ० ४०१) में बताया गया है कि गवामयन सत्र के अन्त में महाव्रत का अनुष्ठान किया जाता है। इसमें पृष्ठसंज्ञक स्तोत्र का उपाकरण सौ तार वाली 'बाण' नामक महावीणा के वादन से किया जाता है। वहाँ कात्यायन श्रौतसूत्र (१३।२।२५) और ताण्ड्य महाब्राह्मण के सायण भाष्य (५।६।१२) को भी उद्धृत किया गया है।

२. "तादृशसूत्रस्य आधारभूतत्वेनोपलक्षिता भूमिगता रेखा 'पृष्ठ्या' इति व्यवह्रियते" (श्रौतपदार्थनिर्वचन, पृ० ४)। इसका विशेष विवरण वहीं देखिये।

३. तीर्थ पद के अर्थ के लिये देखिये श्रौतपदार्थनिर्वचन—"आहवनीयायतनस्योत्तरतः प्रागग्रेषु दर्भेषु प्रणीता-प्रणयने प्रणीता नाम आप आसाद्यन्ते। तासां पश्चिमदेश उत्करस्य तु पूर्वदेशो विहारप्रवेशनिर्गमयोर्मार्गस्तीर्थ-संज्ञकः। प्रणीताऽभाववति कर्मणि आह्वनीयोत्तरदेशे आसादितस्येध्मस्य पश्चिमभाग उत्करस्य पूर्वदेशस्तीर्थ-मित्युच्यते। चात्वालवत्सु कर्मसु चात्वालपश्चिमदेश उत्करपूर्वदेश एव तीर्थपदवाच्यः" (पृ० ११)।

की श्वेत वत्स वाली गाय के जुहूस्थानीय मृण्मय पात्र में भरे दूध से सींचते हुए इध्मस्थ अग्नि में 'नक्तोषासा' (१७।७०-७१) इत्यादि दो मन्त्रों से आहुति देता है। अध्वर्यु के ऐसा करते समय प्रतिप्रस्थाता प्रज्वलित काष्ठ को हाथ में लिये रहता है। यहाँ बिना मन्त्र का उच्चारण किये [1]सान्नाय्य धर्मों की प्रवृत्ति होती है। दोहनपात्र में दोहन से सम्बद्ध सारे संस्कार सम्पन्न किये जाते हैं, क्योंकि यहाँ दोहनपात्र से जुहू का कार्य लिया जाता है।

इस प्रकार दुग्ध से सिंचित इस स्थान पर 'सुपर्णोऽसि' (१७।७२-७३) इत्यादि दो वषट्कारान्त मन्त्रों से अग्नि की स्थापना की जाती है। चित्याग्नि में उख्याग्नि के निधान के बाद अध्वर्यु उस अग्नि में तीन मन्त्रों से (१७।७४-७६) से तीन समिधाओं का आधान करता है। प्रथम मन्त्र से शमी की, द्वितीय से विकंकत की और तृतीय से औदुम्बरी समिधा स्थापित की जाती है। इनमें से तृतीय औदुम्बरी समिधा सकर्णक होनी चाहिये। 'कर्णक'[2] लकड़ी का एक प्रकार का रोग है, जिससे लकड़ी फट जाती है। इन तीन समिधाओं के आधान के बाद 'अग्ने त्वम्' (१७।७७-७८) इत्यादि दो ऋचाओं से घृत की दो आहुतियाँ तथा 'सप्त ते' (१७।७९) इत्यादि मन्त्र से पूर्णाहुति दी जाती है। घृत से भरो स्रुचा से जो आहुति दी जाती है, उसे पूर्णाहुति[3] कहते हैं। इसके बाद वैश्वानर पुरोडाश से याग कर हाथ से मारुत पुरोडाशों की 'शुक्रज्योतिश्च (१७।८०-८६) इत्यादि मन्त्रों से एक-एक आहुति दी जाती है, अथवा एक अतिविपुल (बहुत बड़ा) वैश्वानर पुरोडाश बनाकर उसी के ऊपर सभी मारुत पुरोडाशों की आहुति देनी चाहिये। अरण्य (वन) में पठनीय सप्तम मारुत पुरोडाशों की आहुति विमुख संज्ञक 'उग्रश्च' (१७।८६) मन्त्र से दी जाती है। तदुपरान्त 'इमं स्तनम्' (१७।८७-९९) इत्यादि अध्याय समाप्ति पर्यन्त १३ मन्त्रों का वाचन अध्वर्यु यजमान से कराता है अथवा इनका स्वयं पाठ करता है। यहाँ जप और वाचन का विकल्प है। तेरह ऋचाओं वाले इस अनुवाद से यज्ञ की अथवा वसोर्धारा में उपयुक्त होने वाले घृत की स्तुति की जाती है। ८९ वीं कण्डिका में अन्नाध्यास से घृत की और प्राणाध्यास से अग्नि की स्तुति की गई है। इसी अनुवाक में वाणी की स्तुति में विनियुक्त 'चत्वारि शृङ्गाः' इत्यादि मन्त्र भी पठित हैं। अन्तिम मन्त्र (१७।९९) में मन्त्रद्रष्टा ऋषि ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त सारे जगत् को आहुति का ही परिणाम मान कर अग्नि की स्तुति करता है।

अष्टादश अध्याय : वसोर्धारा एवं राष्ट्रभृत् आदि होम

इस अध्याय की प्रारम्भ की २९ कण्डिकाओं में वसोर्धारा नामक आहुति के मन्त्र उपदिष्ट हैं। यहाँ पहले यजमान घृत को संस्कृत करता है। फिर उदुम्बर वृक्ष की बहुत बड़ी स्रुवा से पाँच बार घृत भर कर अरण्यांनूच्य पुरोडाश के ऊपर निरन्तर अविच्छिन्न धारा से वसोर्धारा संज्ञक आहुति देता है। घृत जब अग्नि तक पहुँच जाय, तब 'वाजश्च' इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण प्रारंभ करना चाहिये। प्रत्येक मन्त्र के अन्त में 'वेट् स्वाहा' पदों का संयोजन आवश्यक है। इन २९ कण्डिकाओं में कुल ४०१ यजुर्मन्त्र हैं और कामनाओं की संख्या ११५ है। यहाँ वर्णित कामनाओं की पूर्ति के लिये ये आहुतियाँ दी जाती हैं। इनका पूरा विवरण भाष्य (पृ० १७३) में ही देखना चाहिये। कामनाओं का आश्रय कोई न कोई वस्तु होती है। इन मन्त्रों में वर्णित वाज, प्रसव आदि सब वस्तुएँ ही हैं। इन वस्तुओं को, सब प्रकार की कामनाओं को प्राप्त कराने वाली मन्त्रसाध्य यह धारा वसुमयी कही गई है। वसु की यह धारा ही यहाँ वसोर्धारा नाम से अभिहित है। इन २९ कण्डिकाओं में से २४ वीं अयुग्म स्तोम वाली और २५वीं युग्म स्तोम वाली है, अर्थात् इनमें

---

१. दही और दूध के मिश्रण को सान्नाय्य कहा जाता है। इसके लिये किये जाने वाले सारे संस्कारों की प्रवृत्ति यहाँ अमन्त्रक होती है।

२. "कर्णशब्देनात्र पत्रशाखादिकं विवक्षितम्।........कर्णकशब्देन दारुस्फोटो रोगो विवक्षित इति केचनाचार्या आहुः" (भा०, पृ० १४९-१५०)।

३. "घृतपूर्णया स्रुचा आहुतिः पूर्णाहुतिरित्यर्थः" (भा०, पृ० १५२)।

विषम संख्या और सम संख्या के मन्त्रों से आहुति दी जाती है। सामविधान, ताण्डयमहाब्राह्मण आदि में स्तोत्र नामक मन्त्रों का स्वरूप प्रदर्शित है। अयुग्म और युग्म के भेद से इनके दो प्रकार होते हैं। २६-२७ संख्या की दो कण्डिकाओं का विनियोग [1]वयोहोम में और आगे की कण्डिका का नामग्राहहोम में हैं। २९ वीं कण्डिका में कल्पहोम के मन्त्र उपदिष्ट हैं।

अग्नि क्षेत्र में जैसे सर्वौषधियों का वपन किया जाता है, उसी तरह से यहां भी औदुम्बर चमस में सर्वौषधियों को भर कर चतुष्कोण औदुम्बर स्रुवा से पहले नवम अध्याय (९।२३-२९) में उपदिष्ट सात मन्त्रों से वाजपेय सम्बन्धी वाजप्रसवीय आहुतियाँ दी जाती हैं। इसके बाद उसी विधि से अग्निसम्बन्धी आहुतियाँ देनी चाहिये। इसके लिये 'वाजस्य' (१८।३०-३६) इत्यादि सात मन्त्र विनियुक्त हैं। इस कर्म की समाप्ति पर औदुम्बर चतुष्कोण स्रुवा को आहवनीय अग्नि में प्रक्षिप्त कर और चित्याग्नि की पुंच्छ की उत्तर दिशा में परिश्रित् से संलग्न पूर्व दिशा में ग्रीवा और उत्तर दिशा में लोम वाले कृष्ण मृगचर्म को बिछा कर उस पर बैठता है। चयन याग के लिये तत्पर ब्रह्मवर्चसकाम यजमान को अध्वर्यु 'देवस्य त्वा' (१८।३७) मन्त्र का उच्चारण करते हुए सर्वौषधशेष से अभिषिक्त करता है। प्रोक्षण के लिये सर्वौषधि को दूध और जल से सिंचित किया जाता है, केवल जल से नहीं, क्योंकि कात्यायन श्रौतसूत्र में इसी पक्ष को स्वीकार किया गया है। इसके बाद द्वादशगृहीत घृत के बारह विभाग कर 'ऋताषाट्' इत्यादि छः कण्डिकाओं (१८।३८-४३) में स्थित १२ मन्त्रों को स्वाहाकार से संयुक्त कर राष्ट्रभृत् संज्ञक १२ आहुतियां दी जाती हैं। इन मन्त्रों के निर्माण की विधि भाष्य (पृ० १९४) में निर्दिष्ट है।

राष्ट्रभृत् संज्ञक होम के अनन्तर पूर्व संस्कृत आज्य से ही पाँच बार घृत लेकर प्रतिप्रस्थाता आदि रथ के शिरोभाग के पास आहवनीय अग्नि के समक्ष खड़े रहें और अध्वर्यु उस घृत को पाँच भागों में विभक्त कर 'स नो भुवनस्य' (१८।४४) मन्त्र की आवृत्ति करते हुए पाँच आहुतियाँ दे। रथ का शिरोभाग[2] वह है, जहाँ कि ईषा के दोनों तरफ के भागों में युग को बाँधा जाता है। रथ के शिरोभाग में पंचगृहीत आज्य की आहुति देने के बाद अध्वर्यु उस रथ को अग्नि से दूर हटा कर उत्तर दिशा में वेदि के मध्य में युग, योक्त्र आदि के साथ स्थापित करे और तब उसके तीन स्थानों पर वातहोम नामक तीन आहुतियाँ 'समुद्रोऽसि' (१८।४५) कण्डिका स्थित तीन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए दे। रथयुग की दक्षिण धुरा के नीचे पहली, उत्तर धुरा के नीचे दूसरी और युग के मध्यभाग के नीचे तीसरी आहुति दी जाती है।

वातहोम के अनन्तर पूर्व संस्कृत आज्य में से एक-एक कर नौ बार घृत का ग्रहण किया जाता है और पांच कण्डिकाओं (१८।४६-५०) में स्थित नौ मन्त्रों से नौ आहुतियाँ दी जाती हैं। ये आहुतियां रुङ्मती होम और अर्काश्वमेध-सन्तति होम के नाम से प्रसिद्ध हैं। अब प्रातरनुवाक के मन्त्रों का पाठ (उपाकरण) करते हुए तीन ऋचाओं (१८।५१-५३) से उपधान के क्रम से प्रत्येक परिधि को अग्नि से संयोजित किया जाता है। तब आग्निमारुत स्तोत्र के यज्ञायज्ञीय साम से पहले 'दिवो मूर्धासि' (१८।५४-५५) आदि दो ऋचाओं से दक्षिण और उत्तर परिधि के सन्धिस्थलों का स्पर्श कर अग्नि का विमोचन किया जाता है। इसके बाद आठवें अध्याय के नौ मन्त्रों (८।१५-२३) से समष्टियजुःसंज्ञक होम को सम्पादित कर यहाँ के दो मन्त्रों (१८।५६-५७) से पुनः अग्नि देवता के निमित्त दो आहुतियां दी जाती हैं। तब [3]हृदयशूल के समक्ष 'यदाकूतात्'[4] (१८।५८-६५) आदि आठ मन्त्रों में से प्रत्येक से स्रुवाहुतियाँ दी जाती हैं। इतना कार्य सम्पन्न

---

१. "एकहायनप्रभृत्या पञ्चहायनात् पशवो वयांसीत्युच्यन्ते" (भा०, पृ० १८४)।

२. "ईषाग्रयोरुपरि यत्र युगस्य बन्धनं क्रियते, तत् स्थानं रथस्य शिरः" (भा०, पृ० २००)।

३. "यस्मिन् शूले पशुहृदयं प्रोतं भवति, तद् हृदयशूलमित्युच्यते" (श्रौत० नि०, पृ० १२१)।

४. "आकूतो नाम प्राङ्मनोप्रवृत्तेरात्मनो धर्मो मनःप्रवृत्तिहेतुः" (भा०, पृ० २१४)।

कर अब यजमान 'अग्निरस्मि' (१८।६६) मन्त्र का पाठ करते हुए अपने में अग्नि की भावना करता है, अर्थात् अग्नि के साथ अपनी अभिन्नता का अनुभव करता है। इस त्रिष्टुप् छन्द के मन्त्र से यजमान और अग्नि की अभिन्नता का, अद्वय-दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। अग्नि के साथ अद्वयभावापन्न यजमान 'ऋचो नामास्मि' (१८।६७) मन्त्र से चित्यग्नि का उपस्थान करता है और अन्त में पुरीष-निवाप के बाद सात, आठ अथवा दस (१८।६८-७७) मन्त्रों से चिति का उपस्थान करता है। यह उपस्थान पुरीष-निवाप (मृत्पूरण) के बाद प्रत्येक चिति का किया जाता है।

इस प्रकार इन आठ अध्यायों (११-१८) में यह अग्निचयन की प्रक्रिया पूरी होती है।

एकोनविंश अध्याय : सौत्रामणी याग

इसके बाद के तीन अध्यायों (१९-२१) में सौत्रामणी याग की विधि निरूपित है। ऐहिक समृद्धि की कामना वाले, अग्निचयन की विधि को पूरा कर लेने वाले, मुखेतर छिद्र से अथवा मुख से सोम का वमन कर देने वाले, अर्थात् इसको पचा सकने में असमर्थ, राज्य से च्युत नृपति का अथवा पशुकाम यजमान का इसमें अधिकार है। यहाँ सुरा और सोम को बेचने वाले से अथवा किसी नपुंसक से पहले पूँछ लिया जाता है कि क्या तुम सौत्रामणी याग के लिये उपादेय द्रव्यों को बेंच सकते हो? उसकी स्वीकृति मिल जाने पर सीसे से शष्पों को, ऊन से तोक्म को, सूत से लाजा को और किसी योग्य द्रव्य से नग्नहु को खरीदा जाता है। यहाँ शष्प अंकुरित व्रीहि को, तोक्म अंकुरित यव को और लाजा भूंजे गये व्रीहि (खील = धान का लावा) को कहते हैं। सर्ज की छाल से लेकर शष्प पर्यन्त द्रव्यों को जब एक में मिला दिया जाता है, तो उसे नग्नहु कहते हैं (पृ० २२९)। इनको खरीद लेने के बाद शष्प को हाथ में लेकर दक्षिण द्वार से अग्न्यागार में प्रवेश कर नग्नहु नाम से अभिहित सभी द्रव्यों का चूर्ण बना दिया जाता है। इसी तरह शष्प, तोक्म और लाजा का भी चूर्ण तैयार किया जाता है। तब दर्शपूर्णमास की पद्धति से पात्रासादन आदि की विधि को सम्पन्न कर ढेर सारे पानी में व्रीहि और श्यामाक का अलग-अलग पात्र में चरु पकाया जाता है। इनकी मांड (आचाम) में गरम जल मिलाकर उसे दो अलग-अलग पात्रों में भर लिया जाता है। इनमें नग्नहु का बनाया गया चूर्ण मिला दिया जाता है। ऊपर वर्णित पदार्थों के चूर्ण और इस आचाम (मांड) को मिलाने से बने घोल को [१]मासर कहा जाता है। इस तरह से दो तरह के आचामों और नग्नहु आदि के चूर्णों को मिलाकर मासर तैयार कर लेने के बाद दोनों पात्रों के ओदनों, व्रीहि और श्यामाक के चरुओं को शष्प, तोक्म, लाजा और नग्नहु के चूर्ण के साथ मिला दिया जाता है। तब 'स्वाद्वीं त्वा' (१९।१) और 'अंशुना' (२०।२७) इन दो ऋचाओं का पाठ करते हुए एक ही पात्र में चूर्णसंसृष्ट ओदनों को मासरों के साथ मिला कर यज्ञशाला के नैर्ऋत्य कोण में गड्ढा खोद कर उसमें तीन रात्रि पर्यन्त इसे रहने दे।

इसकी प्रयोगविधि इस प्रकार है—व्रीहि और श्यामाक का चरु अलग-अलग पका कर दो अलग-अलग पात्रों में इनके मांड को भर कर उसमें गरम पानी मिला दिया जाता है। तब शष्प, तोक्म और लाजा के अलग-अलग तीन जगह बनाये गये चूर्ण के तृतीय अंश के दो भाग कर उन मांड से भरे दो पात्रों में उन्हें मिला दिया जाता है। इसके बाद नग्नहु के चूर्ण के दो भाग किये जाते हैं। पहले हिस्से के पुनः दो भाग कर इनको आचाम पात्रों में मिला दिया जाता है। जैसा कि पहले कहा गया है, इस चूर्णसंसृष्ट आचाम को मासर कहा जाता है। अब शष्प, तोक्म और लाजा चूर्ण के द्वितीय तृतीयांश को दो भागों में विभक्त कर इनके एक-एक भाग को ओदन पात्रों में डाला जाता है। इसी तरह से नग्नहु चूर्ण के द्वितीय भाग को भी द्विधा विभक्त कर इन ओदन पात्रों में डाल दिया जाता है। तब इन दोनों पात्रों के ओदनों को एक ही पात्र में भर दे और उक्त दो मन्त्रों का पाठ करते हुए चूर्ण, मासर और ओदनों को हिला-डुला कर एकरस कर दे। इतना कर लेने के बाद इस घोल को तीन रात्रि तक गड्ढे में रखा जाता है। शष्प, तोक्म और लाजा

---

१. "व्रीहिश्यामाकयोश्चरू पक्त्वा तयोरोदनयोराचामौ पृथक् पात्रद्वये निषिच्य अवस्राव्य तदुदकं नग्नहुप्रभृतिभिश्चूर्णैः संसृज्य निदध्यात्।.........तस्य चूर्णसंसृष्टस्य आचामस्य मासरमिति संज्ञा" (भा०, पृ० ३४८)।

चूर्ण के अवशिष्ट तृतीयांश को प्रतिदिन उस निष्पाद्य सुरा में डालने के लिये तीन भागों में विभक्त कर सुरक्षित रख लिया जाता है।

इस सौत्रामणी याग के प्रारंभ में ऊपर की विधि को पूरा कर लेने के बाद सायंकालीन होम के उपरान्त 'अश्विभ्यां पच्यस्व' (१९।१) मन्त्र से एक गाय का स्पर्श कर उसको दुहे और उसके दूध से अध्वर्यु 'परीतः' (२९।२) मन्त्र से सुरा का सेचन करे। बचा कर रखे गये शष्पचूर्ण के तृतीयांश को सुराभाण्ड में डाले। दूसरे दिन निशान्त (प्रातःकाल) में 'सरस्वत्यै पच्यस्व' (१९।१) मन्त्र से दो गायों का स्पर्श करे और उनको दुह कर पूर्ववत् सुरा-सेचन करे। साथ ही तोक्म के चूर्ण का तृतीयांश उसमें डाले। तीसरे दिन रात्रि में 'इन्द्राय सुत्राम्णे' (१९।१) मन्त्र से तीन गायों का स्पर्श कर उन्हें दुहे। तीनों के दूध को एक पात्र में मिला कर पुनः सुरा-सेचन करे तथा लाजा-चूर्ण के तृतीयांश को इसमें मिला दे।

आगे की दो कण्डिकाओं (१९।३-४) में से पहली में दो मन्त्र हैं और दूसरी में एक ही। इन तीनों मन्त्रों का विनियोग यहाँ सुरासेचन में विपरीत क्रम से बताया गया है। इस सुरा को लेकर गाय और अश्व के केशों से निर्मित पवित्र से छान कर सत (पलाश) निर्मित एक बड़े पात्र में 'पुनाति' (१९।४) मन्त्र से भर दिया जाता है। 'सत' शब्द से कुछ आचार्य वारण पात्र का ग्रहण करते हैं। मुखेतरछिद्र से सोम का वमन करने वाले यजमान के लिये सौत्रामणी में 'वायो पूतः' (१९।३) कण्डिका के उत्तरार्ध से और मुख से सोमवामी के लिये 'वायोः पूतः' कण्डिका के पूर्वार्ध से उक्त पात्र में सुरा को छाना जाता है। [1]उत्तर वेदि में अजा और मेष के लोम से निर्मित पवित्र से वेतस निर्मित पात्र में 'ब्रह्म क्षत्रम्' (१९।५) मन्त्र से दूध डाला जाता है। इस प्रकार सुरा और दूध को मिलाने के उपरान्त 'कुविदङ्ग' (१९।६) मन्त्र से तीन पयोग्रहों का ग्रहण किया जाता है। मन्त्रपाठ में 'उपयामगृहीतोऽसि' और 'एष ते योनिः' इन दो याजुष मन्त्रों का यद्यपि एक ही बार पाठ किया गया है, किन्तु तीन पयोग्रहों का ग्रहण करते समय इनकी अलग-अलग आवृत्ति की जाती है। ऐसा करते समय तीन मन्त्रों का जो स्वरूप बनता है, उसे भाष्य में दिखा दिया गया है (पृ० २३५)। 'नाना हि वाम्' (१९।७) मन्त्र से तीनों पयोग्रहों का ग्रहण करने के उपरान्त तीन सुराग्रहों का ग्रहण इन्हीं मन्त्रों द्वारा विपरीत क्रम से किया जाता है। जैसे कि पहले आश्विन पयोग्रह का ग्रहण कर आश्विन सुराग्रह का ग्रहण करे। तब सारस्वत पयोग्रह और सारस्वत सुरा का और अन्त में ऐन्द्र पयोग्रह के साथ ऐन्द्र सुराग्रह का। भाष्य में इसी स्थल पर (पृ० २३६) पात्रों के ग्रहण के बाद उनके सादन-क्रम का भी निरूपण किया गया है। ग्रहण और सादन के बाद अध्वर्यु तीनों पयोग्रहों की उत्तराग्नि में एक साथ 'उपयाम' (१९।८) मन्त्र से आहुति देता है। प्रतिप्रस्थाता दक्षिणाग्नि में एक आहुति पालाश के उलूखल से दे, मृण्मय स्थाली से नहीं, क्योंकि तैत्तिरीय श्रुति ने इसको निषिद्ध माना है। अन्य शाखाओं में सौर ग्रहों का अवघ्राणन मात्र निर्दिष्ट है। इनका भक्षण वर्जित है। वैश्य और राजन्य में से कोई एक मूल्य से इसका क्रय कर भक्षण कर सकता है। एक अन्य पक्ष भी यहाँ बताया गया है कि दक्षिण आहवनीय के अंगारों में परिधि के बाहर दक्षिण दिशा में होमावशिष्ट सुराग्रहों की आहुति दे। इनका क्रम इस प्रकार है—आश्विन सुराग्रह की उत्तर में, सारस्वत की बीच में और ऐन्द्र सुराग्रह की दक्षिण में आहुति दे।

आश्विन ग्रह के ग्रहण के उपरान्त और सादन से पहले दो दर्भ-तृणों के अग्रभाग को पूर्व दिशा में कर पात्र के ऊपर रखा जाता है। इसके साथ ही गोधूम और कुवल के चूर्ण को भी दुग्धपात्र में डाला जाता है। कुवल बड़े बेर को कहते हैं। सारस्वत ग्रह में उपवाक और बदरी फल के चूर्ण को डाला जाता है। यवसदृश गोधूमवर्ण गोधूम (गेहूँ) के समान तुष से रहित इन्द्रयव नामक धान्य को यहाँ उपवाक कहा गया है। यव और कर्कन्धु (अतिस्थूल बदरी फल) के

---

१. "चातुर्मास्य याग के वरुणप्रघास पर्व में, पशुबन्ध याग में और अग्निष्टोम प्रभृति यागों में आहवनीय स्थानीय जिस अग्नि पर प्रधान याग किया जाता है, उस अग्नि के स्थान को उत्तरवेदि कहते हैं" (कात्या० यज्ञ०, पृ० ४७०)।

चूर्ण को ऐन्द्र पयोग्रह में मिलाया जाता है। ऐसा करते समय नवीं कण्डिका में स्थित प्रारंभ के मन्त्रों का पाठ आवश्यक है। अवशिष्ट मन्त्र (१९।९) के तीन भागों से वृक आदि के रोमों का सुराग्रह के तीन पात्रों में निक्षेप किया जाता है। 'या व्याघ्रम्' (१९।१०) इत्यादि मन्त्र से अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों मिलकर [1]अन्तःपात्य स्थान में अवस्थित पूर्वाभिमुख यजमान का श्येन पक्षी के पंखों से प्रोक्षण करते हैं। 'यदा पिपेष' (१९।११) मन्त्र का उच्चारण करते हुए अध्वर्यु यजमान को अग्नि देखने के लिये कहता है। तदनुसार यजमान औत्तरवेदिक अग्नि का ईक्षण करता है। इसी कण्डिका के 'सम्पृच स्थ' (१९।११) मन्त्रभाग से यजमान पयोग्रहों का और 'विपृच स्थ' (१९।११) से सुराग्रहों का स्पर्श करता है।

'देवा यज्ञम्' (१९।१२-३१) इत्यादि बीस कण्डिकाओं का कात्यायन श्रौतसूत्र में विनियोग नहीं बताया गया। इनमें सौत्रामणी याग और सुरा की सोमयाग और सोम से समानता बताई गई है। निदान वाले मन्त्रों का निदान बताने से अर्थ को समझने में सहायता मिलती है। इसके लिये भाष्य में (पृ० २४२) सौत्रामणी संबन्धी इतिहास शतपथ ब्राह्मण के आधार पर बताया गया है। यहाँ मासर, आसन्दी, वेदि, हविर्धान, धाना आदि द्रव्य, शस्यसम्पत्ति, न्यूंख, सवनसम्पत्ति, वायव्य पात्र, इडा, हुतोच्छिष्ट सुरा आदि की सोमयागीय इन्हीं द्रव्यों से तुलना की गई है।

सौत्रामणी याग और सोमयाग की इस समानता से परिचित अध्वर्यु तीनों पयोग्रहों की एक साथ 'सुरावन्तम्' (१९।३२) मन्त्र से आहुति देता है। इसके बाद प्रतिप्रस्थाता दक्षिणाग्नि में पलाश उलूखल से सुराग्रह की 'यस्ते' (१९।३३) मन्त्र से आहुति देता है। मृण्मय स्थाली से आहुति नहीं दी जाती, क्योंकि श्रुति के अनुसार यह निषिद्ध है। 'यमश्विना' (१९।३४) मन्त्र से अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता और अग्नीत्—ये तीनों मिलकर आश्विन पयोग्रह को हाथ में लेकर एक बार मन्त्रोच्चार के साथ तथा दुबारा बिना मन्त्र का उच्चारण किये भक्षण करते हैं। [2]होता, [3]ब्रह्मा और [4]मैत्रावरुण इसी क्रम से सारस्वत ग्रह का और यजमान ऐन्द्र ग्रह का भक्षण करते हैं। 'यदत्र' (१९।३५) मन्त्र में उत्तराग्नि में पयोग्रहों की तथा दक्षिणाग्नि में सुराग्रहों की आहुति देकर भक्षण करने का विधान है। कात्यायन श्रौतसूत्र (१९।३।१६-२०) का कहना है कि विहार के दक्षिण में उपविष्ट प्राचीनावीती अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता और अग्नीत् पयोग्रहण और भक्षण की इतिकर्तव्यता का बिना अतिक्रम किये सौर और आश्विन ग्रहों का भक्षण दो बार करते हैं। यहाँ पूर्व-पूर्व ग्रह के भक्षण से बचे अंश का उत्तर ग्रह में निक्षेप किया जाता है। जैसे कि आश्विन शेष का सारस्वत में और सारस्वत शेष

---

1. "अग्निष्टोम प्रभृति यागों में प्रकृतिशाला से पूर्व और महावेदि के मध्य का तीन अरत्नि का स्थान अन्तःपात्य है" (कात्या० यज्ञ०, पृ० ४५९)।
2. "यह श्रौत याग का एक प्रमुख ऋत्विक् है। इसका कृत्य ऋग्वेद के अनुसार होता है। यह देवता का आवाहन और स्तुति करता है। याज्या और पुरोनुवाक्या के मन्त्रों का पाठ भी यही करता है। वेदि के पश्चिम में उत्तर श्रोणी के निकट इसके बैठने का स्थान है। सोम याग में यह अपने गण का प्रमुख ऋत्विक् है और पूर्ण दक्षिणा का अधिकारी है" (कात्या० यज्ञ०, पृ० ५३१)।
3. "यह श्रौत याग का प्रमुख ऋत्विक है। श्रौत याग यथाविधि हो, इस बात का उत्तरदायित्व इसी पर है। याग के कर्म में वैषम्य होने पर इसे प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इसे सम्पूर्ण श्रौतविधि एवं समस्त ऋत्विजों द्वारा विहित कार्यविधि की जानकारी होनी चाहिये। गोपथब्राह्मण के वचन के आधार पर इसे अथर्ववेदी होना चाहिये। यह श्रौत याग का कर्णधार है। याग के कार्यों में इससे अनुमति माँगनी पड़ती है" (कात्या० यज्ञ०, पृ० ५०५)।
4. "यह सोम याग के होतृगण का द्वितीय ऋत्विक् है। इसे होता की अपेक्षा आधी दक्षिणा मिलती है। इसे अर्घी भी कहते हैं। प्रशास्ता इसका नामान्तर है" (कात्या० यज्ञ०, पृ० ५१०)।

का ऐन्द्र ग्रह में अवनयन किया जाता है। अन्य शाखा वालों का कहना है कि सौर ग्रहों का अवघ्राणन मात्र किया जाता है, मुख से भक्षण नहीं। अथवा वैश्य और राजन्य में से कोई एक मूल्य से खरीद कर सौर ग्रहों का पान कर सकता है। पूर्व (१९।३५) मन्त्र में सुराग्रहों के भक्षण, अवघ्राणन अथवा पान—ये तीन पक्ष बताये गये हैं। 'पितृभ्यः' (१९।३६) मन्त्र में चतुर्थ पक्ष यह बताया गया है कि परिधि के बाहर दक्षिण दिशा में स्थापित दक्षिणसंस्थ दक्षिण आहवनीय के अंगारों में होमावशिष्ट सुराग्रहों की आहुति दी जाय। इनमें से आश्विन सुराग्रह की उत्तर में, सारस्वत ग्रह की मध्य में और ऐन्द्र ग्रह की दक्षिण में आहुति दी जाती है। ये आहुतियाँ भी अपसव्य रहते हुए ही दी जाती हैं। 'अक्षन् पितरः' (१९।३६) मन्त्र से होम के क्रम से सौर ग्रह के पात्रप्रक्षालन जल से यथाक्रम अंगारों का भी अपसेचन किया जाता है और इसी कण्डिका के 'पितरः शुन्धध्वम्' मन्त्र का जप किया जाता है।

इसके बाद चरक सौत्रामणी कुम्भ की १५ वें अध्याय की दसवीं कण्डिका में बताई गई पद्धति से शतछिद्रा कुंभी को लेकर दक्षिण आहवनीय के ऊपर सिकहर बांध कर उसमें बाल, पवित्र और हिरण्य को रख कर उसमें परिस्रुत्[1] शेष का आसिंचन करे। कुंभी के छिद्रों से जब यह रिस कर अग्नि में गिरने लगे, तब 'पुनन्तु' (१९।३७-४४) इत्यादि मन्त्रों का पाठ करे। गोबाल से निर्मित सुरागलन बाल और अजाविलोम से निर्मित पयोगलन पवित्र कहलाता है। हिरण्य शतमान परिमित होना चाहिये। शतछिद्रा कुंभी के स्थापन की विधि यह है कि दक्षिण आहवनीय के दोनों तरफ स्थापित दो खंभों के ऊपर दक्षिणाग्र वंश को रख कर और कुंभी के तल में बाल आदि को रखकर उसमें सुराशेष का सेचन करे। अग्नि के ऊपर सुरा का स्रवण होते समय यजमान उक्त मन्त्रों का पाठ करे। यहाँ ३७ वीं कण्डिका में दो मन्त्र हैं। इस प्रकार इन मन्त्रों की संख्या नौ हो जाती है।

'ये समानाः' (१९।४५) मन्त्र से प्राचीनावीती दक्षिणामुख यजमान सकृत् गृहीत आज्य की दक्षिणाग्नि में जुहू से आहुति देता है और 'ये समानाः' (१९।४६) मन्त्र से उत्तर दिशा में उत्तर वेदि की आहवनीय अग्नि में उपवीती यजमान पूर्ववत् सकृत् गृहीत आज्य की आहुति दे। यहाँ भाष्य (पृ० २६९) में वाल्मीकि रामायण के प्रमाण से बताया गया है कि सगोत्र बन्धु-बान्धव सहज मात्सर्य से कैसे ग्रस्त रहते हैं। तदुपरान्त सभी ऋत्विक् जब यजमान का अनुवर्तन करते हुए चलते हैं, उस समय अध्वर्यु 'द्वे सृती' (१९।४७) मन्त्र से दुग्ध की आहुति देता है और यजमान 'इदं बर्हि' (१९।४८) मन्त्र से उखास्थित शेष दुग्ध को प्रसाद के रूप में ग्रहण करता है। 'उदीरताम्' (१९।४९-६१) इत्यादि १३ ऋचाओं वाले अनुवाक के प्रथम तीन और १३वीं कण्डिका का विनियोग कल्पकार ने अग्निष्वात्त पितरों के लिये, इनके बीच की नौ ऋचाओं में से प्रथम तीन का सोमपा पितरों के लिये, आगे की तीन का बर्हिषद् पितरों के लिये और अन्तिम तीन का पुनः अग्निष्वात्त पितरों की स्तुति में किया है। 'पुनन्तु मा' (१९।३९-४७) इत्यादि नौ ऋचाओं के पाठ के अनन्तर सोमवत्, बर्हिषत् और अग्निष्वात्त पितृदेवताक तीन-तीन, अर्थात् 'त्वं सोम' (१९।५२-६०) इत्यादि नौ ऋचाओं का पाठ अध्वर्यु यजमान से कराता है।

आगे का अनुवाक दस ऋचाओं वाला है (१९।६२-७१)। यद्यपि इसका विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र में निर्दिष्ट नहीं है, तो भी पूर्वतन १३ ऋचाओं वाले अनुवाक का और इस दस ऋचा वाले अनुवाक का लैंगिक विनियोग श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मणभोजन के समय वाचन में किया जाता है। इनमें से अन्तिम मन्त्र (१९।७१) इन्द्रसंबन्धी है और यह अगले 'सोमो राजा' (१९।७२-७९) अनुवाक का निदानभूत है। इस आठ ऋचा वाले अनुवाक से अध्वर्यु पयोग्रहों और सुराग्रहों का एक साथ उपस्थान करता है। यहाँ दूसरा पक्ष यह है कि चार ऋचाओं से पयोग्रहों का और शेष चार से सुराग्रहों का ग्रहण किया जाता है, तदुपरान्त उपस्थान। आगे (१९।८०-९५) की सोलह कण्डिकाओं में से प्रत्येक से दो-दो आहुतियाँ दी जाती हैं। इसके लिये ऋषभ के ३२ खुरों को अग्नि में तपा कर उनमें से वसा निकाल कर किसी पात्र में

---

१. "शिश्नाद् रसात्मना स्रुतात् सोमात् परिस्रुत्" (भा०, पृ० २३०)।

इकट्ठी की जाती है। इन्हीं से अध्वर्यु ३२ आहुतियाँ देता है। एक-एक मन्त्र से दो-दो वसाग्रहों की आहुति देकर प्रत्येक आहुति के शेष भाग को वैतस पात्र में इकट्ठा करता है। भाष्य (पृ० ३००) में बताया गया है कि वृक, व्याघ्र और सिंह के लोमों का भी सुराग्रह के पात्रों के लिये प्रयोग होता है।

विंशाध्याय : सौत्रामणी याग[1]

सोमयाग की आसन्दी के समान यहाँ भी मूँज की रस्सी से बुनी गई औदुम्बर काष्ठ की अरत्नि-प्रमाण घुटनों तक के चार पायों वाली आसन्दी बनाई जाती है। इसके दो पायों को दक्षिण वेदि पर और दो को उत्तर वेदि पर स्थापित किया जाता है। सोम याग ही इस याग की प्रकृति है। वहाँ नाभिप्रमाण पायों वाली आसन्दी का विधान है। उसके स्थान पर यहाँ जानुप्रमाण पायों वाली आसन्दी बनती है। इस पर कृष्णाजिन बिछाया जाता है। यह सारा कार्य इस अध्याय के प्रथम मन्त्र से किया जाता है। दूसरे मन्त्र का पाठ करते हुए यजमान उस पर बैठता है। इस आसन्दी पर बैठे यजमान के वाम पाद के पास 'मृत्योः पाहि' (२०।२) मन्त्र से और 'विद्योत्पाहि' (२०।२) से दक्षिण पाद के समीप पृथ्वी पर सौवर्ण रुक्माभरण रखा जाता है। कुछ आचार्यों के मत से प्रथम मन्त्र से सिर पर और दूसरे से दक्षिण पाद में इनको रखा जाता है। तृतीय कण्डिका में तीन मन्त्र हैं। इनसे चन्दन, कपूर, कस्तूरी, केसर आदि सुगन्धित द्रव्यों से उद्वर्तित, आसन्दी पर बैठे यजमान के मुख पर अध्वर्यु वेतस पात्र में स्थापित वसाग्रह-शेष को चारों दिशाओं में बहाता हुआ उसका अभिषेक करता है। यहाँ के तीनों मन्त्रों को 'सावित्रं देवस्य त्वा' मन्त्र से जोड़ा जाता है। चतुर्थ उपसेचन उत्तराभिमुख अध्वर्यु द्वारा तीनों मन्त्रों को एक साथ पढ़ कर किया जाता है। यहाँ भी सावित्र मन्त्र का संयोजन आवश्यक है। अन्य आचार्यों के मत से चतुर्थ उपसेचन महाव्याहृतियों से किया जाता है। एक पक्ष यह भी है कि चतुर्थ अभिषेक प्रस्तुत कण्डिका के 'इन्द्रस्येन्द्रियेण' (२०।३) मन्त्र से किया जाता है। इतना करने के उपरान्त अध्वर्यु 'कोऽसि' (२०।४) मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान का स्पर्श करता है।

तब यजमान 'शिरो मे' (२०।५-९) इत्यादि पाँच मन्त्रों से अपने शरीर के मन्त्रनिर्दिष्ट विभिन्न अंगों का स्पर्श करता है और आसन्दी से उतर कर 'प्रति क्षत्रे' (२०।१०) मन्त्र का उच्चारण करते हुए नीचे कृष्णाजिन बिछा कर उस पर बैठता है। शस्त्र-मन्त्र की समाप्ति पर वषट्कार का उच्चारण कर 'त्रयो देवाः' (२०।११-१२) इत्यादि दो कण्डिकाओं के मन्त्रों से अवशिष्ट ३३ वें वसाग्रह की आहुति दी जाती है। इस ग्रह के अवशिष्ट भाग का यजमान उपहवपूर्वक 'लोमानि' (२०।१३) मन्त्र का पाठ करते हुए प्रसाद ग्रहण करता है। तदनन्तर अवभृथेष्टि को पूरा कर 'यद्देवाः' (२०।१४-१८) इत्यादि साढे चार कण्डिकाओं से मासर कुंभ को जल में उतारता है और १८ वें मन्त्र के शेष भाग से उसे जल में डुबो देता है। तदनन्तर यजमान अवभृथ स्नान करने से पहले दो डग उत्तर दिशा की ओर बढ़ता है, 'सुमित्रिया' (२०।१९) से जलग्रहण कर 'दुर्मित्रिया' (२०।१९) मन्त्र से उसे उस दिशा में फेंकता है, जिसमें कि उसका शत्रु रहता हो। अब सोमयाग की पद्धति से स्नान कर यजमानदम्पती कर्मकाल में धृत वस्त्र का जल में परित्याग कर देते हैं (२०।२०)। तदुपरान्त अगले मन्त्र (२०।२१) से सोमपान की पद्धति से ही जल से निकल कर ये 'अपाम सोमम्' (८।४८।३) इस ऋचा का पाठ करते हुए त्रिपशुस्थान पर वापस आ जाते हैं। यहाँ 'आपो अद्य' (२०।२२) मन्त्र से यजमान आहवनीय अग्नि का उपस्थान करता है। तब 'एधोऽसि' (२०।२३) मन्त्र से समिधा का ग्रहण कर 'समिदसि' (२०।२३) से अग्नि में उसकी आहुति देता है। इसके उपरान्त कण्डिका (२०।२३) के शेष भाग से सकृत् गृहीत आज्य की आहुति दी जाती है।

अब यजमान सौत्रामणी याग से पहले आदित्येष्टि का अनुष्ठान कर त्रिपशुओं के निमित्त आहवनीय और दक्षिणाग्नि का विहरण कर अग्नि का अन्वाधान और ब्रह्मा का वरण करे। तब आहवनीय अग्नि में तीन (२०।२४-२६)

---

१. इस याग का विशेष विवरण कात्या० यज्ञ० (पृ० १८४-१९९) में देखिये।

मन्त्रों से तीन समिधाओं का आधान करे। आगे का मन्त्र (२०।२७) सुरा के संसर्जन में विनियुक्त है। तब यजमान कारोतर से छानी गई सुरा का 'सिञ्चन्ति' (२०।२८) मन्त्र से किसी पात्र में ग्रहण करता है और दक्षिण वेदि के खर के पास वेदि के बाहर एक गड्ढा खोद कर वहाँ गोचर्म बिछा कर उस सुरा का सेचन करता है। उसके ऊपर कारोतर को, वंशमय पात्र को, जो कि सुरा को छानने में समर्थ हो, रखता है। ऐसा करने से मैला पदार्थ नीचे रह जाता है और पूत सुरा कारोतर से ऊपर आ जाती है। अथवा ऐसा भी किया जा सकता है कि पहले चर्म के ऊपर कारोतर को रखे और उस पर सुरा गिरावे। इससे कारोतर से छन कर पूत सुरा चर्म पर गिरेगी। 'कारोत्तरेण' (१९।८२) मन्त्र से इसी प्रक्रिया को समर्थन मिलता है। आगे का मन्त्र (२०।२९) श्रवणा कर्म से संबद्ध धानाहोम में विनियुक्त है। यही मन्त्र प्रातःसवनीय पुरोडाश की पुरोनुवाक्या भी है। आगे के 'बृहदिन्द्राय' (२०।३०) मन्त्र से अध्वर्यु से प्रेषित (प्रैष-प्राप्त) ब्रह्मा इन्द्र-देवताक बृहती छन्द के इस मन्त्र का साम की पद्धति से गान करता है और 'अध्वर्यो' (२०।३१) मन्त्र से पूयमान पय (दूध) का अनुमन्त्रण करता है।

१९वें अध्याय में 'सीसेन तन्त्रम्' (१९।८०) इत्यादि १६ ऋचाओं से आर्षभ खुरों की वपा की ३२ आहुतियों का और वसाग्रहों के संस्रव से यजमान के अभिषेक का विधान किया गया था। अब यहाँ अध्वर्यु 'यो भूतानाम्' (२०।३२-३३) इत्यादि सार्धकण्डिकात्मक मन्त्र से आर्षभ खुरों के वसाशेष से निर्मित ३३वें वसाग्रह का ग्रहण और शेष आधे मन्त्र से उसका सादन करता है। इस ३३वें वसाग्रह का होम करने के उपरान्त ऋत्विक्गण शेष भाग को 'प्राणदा' (२०।३४-३५) इत्यादि मन्त्रों का पाठ करते हुए सूंघते हैं। सौत्रामणी से संबद्ध आध्वर्यव कर्म यहाँ पूरा हो जाता है।

इसके बाद की 'समिद्धः' (२०।३६-४६) इत्यादि ग्यारह कण्डिकाओं में प्रथम ऐन्द्र पशु के प्रयाज के याज्या-मन्त्र हैं। यहीं से सौत्रामणी याग का हौत्र कर्म प्रारंभ होता है। आगे के छः मन्त्रों (२०।४७-५२) में वपा, पशु और पुरोडाश के याज्यानुवाक्या मन्त्र हैं। भाष्य (पृ० ३३५) में इस विषय को स्पष्ट किया गया है। पुनः आगे के दो मन्त्र (२०।५३-५४) इन्द्र की स्तुति में विनियुक्त हैं। बाद की बारह अनुष्टुप् ऋचाएँ (२०।५५-६६) त्रिपशु संबन्धी प्रयाजयाज्याओं में विनियुक्त हैं। 'अश्विना' (२०।६७-६९) इत्यादि तीन ऋचाएँ त्रिपशुसंबन्धी वपाओं की याज्यानुवाक्याएँ हैं। पुनः आगे के तीन मन्त्र (२०।७०-७२) पुरोडाशों की याज्यानुवाक्याएँ और बाद के तीन मन्त्र (२०।७३-७५) तीन हवियों की याज्यानुवाक्याएँ हैं। यहाँ भी भाष्य (पृ० ३५९) में इस विषय को स्पष्ट रूप से समझाया गया है।

तीन पयोग्रहों और सुराग्रहों के क्रमशः 'युवम्' (२०।७६) और 'पुत्रमिव' (२०।७७) ये दो पुरोनुवाक्या और याज्या मन्त्र हैं। पशुस्विष्टकृद् याग में 'यस्मिन्नश्वासः' (२०।७८) पुरोनुवाक्या और 'अहाव्यग्ने' (२०।७९) याज्या मन्त्र हैं। ३३वें वसाग्रह के सादन के अनन्तर अध्वर्यु प्रतिगर (उत्साहवर्धन) के लिये होता के सामने बैठता है। उस समय होता इस अध्याय के अन्तिम ११ मन्त्रों (२०।८०-९०) का शस्त्र के रूप में शंसन करता है।

शतपथ ब्राह्मण के अवधेय अंश

१६ से २० अध्यायों के मन्त्रों का यह विनियोग कात्यायन श्रौतसूत्र के १८-१९ अध्यायों के आधार पर दिया गया है। भाष्यकार ने यहाँ १६ से १८ अध्यायों में निर्दिष्ट मुनि कात्यायन के उक्त विनियोगों का समर्थन स्थान-स्थान पर शतपथब्राह्मण के ९वें काण्ड से और १९-२० अध्यायों में निर्दिष्ट कात्यायन सूत्रों का समर्थन १२वें काण्ड के वचनों को विस्तार अथवा संक्षेप में उद्धृत कर किया है। साथ ही मन्त्रों की विशिष्ट शब्दावली की व्याख्या भी ब्राह्मण-वचनों के आधार पर की है। विशेष रूप से अवधेय बात यह है कि इस खण्ड में शतपथ के वचन उतने विस्तार से उद्धृत नहीं मिलते, जितने कि पूर्व खण्ड (११-१५ अ०) में ये मिलते हैं।

१६वें अध्याय में शतरुद्रिय होम की प्रक्रिया को बताने वाले कुछ ही वचन यहाँ मिलते हैं (पृ० ७-८)। यहाँ संस्कृत अग्नि को ही रुद्र देवता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कुमार अग्नि के भव, शर्व आदि नामों की चर्चा पहले

आ चुकी है। यजमान पर वह क्रूर न हो जाय, इसके लिये अन्नसंभरण किया जाता है, जर्तिल (आरण्य तिल) आदि की आहुतियाँ दी जाती हैं। आगे (पृ० ४३) जातसंज्ञक रुद्रों का परिचय दिया गया है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में दो-चार ही छोटे-छोटे वचन शतपथ के मिलते हैं।

सोलहवें अध्याय की अपेक्षा १७वें अध्याय में शतपथ के वचन कुछ विस्तार से मिलते हैं। यहाँ (पृ० ८०-८१) बताया गया है कि नवें अध्याय के पहिले ब्राह्मण में शतरुद्रिय होम संबन्धी मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत की गई थी। अब दूसरे ब्राह्मण में परिषेक, धेनूकरण, विकर्षण आदि कर्मों का स्वरूप दिखाया जा रहा है। यहाँ यह भी कहा गया है कि परिषेक विधि को आग्नीध्र सम्पादित करता है, अध्वर्यु नहीं। धेनूकरण की विधि द्वितीय मन्त्र की व्याख्या (पृ० ८२-८३) के अवसर पर बताई गई है और विकर्षण का स्वरूप चतुर्थ से अष्टम मन्त्र की व्याख्या (८५-८९) में। बीच के तृतीय मन्त्र की व्याख्या (पृ० ८४) में अनेक प्रकार की इष्टकाओं की चर्चा आई है। ११वें मन्त्र की व्याख्या में औपवसथीय दिवस की इतिकर्तव्यता तथा १२वें में स्वयमातृण्णा इष्टका पर व्याधारण की विधि प्रदर्शित है। एक कोने से दूसरे कोने तक आज्यधारा का जो क्षारण किया जाता है, उसे ही व्याधारण[1] कहते हैं। यह व्याधारण पंचगृहीत आज्य से किया जाता है और स्वाहाकारपूर्वक यह क्रिया सम्पन्न होती है। यहाँ स्वाहाकार और वषट्कार का अन्तर बताया गया है और व्याधारण का क्रम भी (पृ० ९३)। पाँच आहुतियाँ क्यों दी जाती हैं, इसका प्रतिपादन १३-१६ मन्त्रों के भाष्य में मिलता है (पृ० ९४-९८)।

आगे ३३वें मन्त्र के भाष्य में अग्निप्रणयन के लिये उपयोगी क्रियाओं का निरूपण आख्यायिका के साथ प्रदर्शित है। ब्रह्मा आदि के चित्याग्नि के प्रति गमन का प्रदर्शक ब्राह्मण ५४वें मन्त्र के भाष्य में उद्धृत है। अगले मन्त्र के भाष्य में स्मृत शतपथवचन में भी यही विषय प्रदर्शित है। ५६ वें मन्त्र के भाष्य में इस मन्त्र के सारे विशेषण अग्निपरक ही हैं, इसको दिखाया गया है। ५७-५८ मन्त्रभाष्य में शतपथवचन उपलब्ध हैं, किन्तु ५९वें मन्त्रभाष्य में पृश्नि पाषाण, अर्थात् श्वेत पाषाण के उपधान की विधि को विस्तार से बताने वाले ब्राह्मण-वचनों को दिखाया गया है। आगे के कुछ (६१-६३) मन्त्रों में पुनः संक्षेप में ब्राह्मणवचन उद्धृत हैं और बताया गया है कि 'रजस्' शब्द का प्रयोग यहाँ 'लोक' अर्थ में किया गया है (पृ० १३५)। आगे बताया गया है कि गार्हपत्य, आग्नीध्रीय और आहवनीय अग्नियाँ पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक का प्रतिनिधित्व करती हैं (पृ० १४०)। अग्नि को चक्षु इसलिये कहा गया है कि यह प्रजा का अनेकविध उपकार करती है (पृ० १४२)। इसको सहस्राक्ष इसलिये कहा जाता है कि सहस्र संख्या के हिरण्य-शकलों (खण्डों) से इसका प्रोक्षण किया जाता है (पृ० १४३)। सुपर्ण शब्द में पर्ण शब्द का अर्थ पतन है (पृ० १४५)। एक मत में कर्णक शब्द का पत्र, शाखा आदि अर्थ विवक्षित है, तो अन्य आचार्य वारस्फोट नामक लकड़ी में लगने वाले रोग को कर्णक कहते हैं। ऐसी समिधा के न मिलने पर द्रप्स, अर्थात् दधि-बिन्दु का लेप कर तब समिधा की आहुति दी जाती है। (पृ० १४९-१५०)। आज्याहुतिकरण के प्रसंग में बताया गया है कि लोक में जैसे भोजन परोसते समय पहले शाक, दाल, भात आदि परोसे जाते हैं, जल आदि पेय पदार्थ बाद में दिये जाते हैं, उसी तरह से समिद्धोम परिवेषणस्थानीय है और आज्याहुति पेयस्थानीय (पृ० १५०)। सात समिधाओं की प्राणात्मकता का प्रतिपादन षष्ठ काण्ड के आरंभ में ही किया गया है। वहाँ सात शीर्षण्य प्राणों को ऋषि बताया गया है। यहाँ प्राण शब्द से शरीर-स्थित इन्द्रियाँ, जिह्वा शब्द से सात पुरुषात्मक इन्द्रियाँ और ऋषि शब्द से इष्टकास्थानीय इन्द्रियों का बोध कराया गया है। इस प्रकार सभी शब्दों की इन्द्रियवाचकता के होते हुए भी उनमें अर्थभेद हो जाता है (पृ० १५२-१५३)। वैश्वानर शब्द यहाँ अग्नि का वाचक न होकर उसके लिये प्रदीयमान हवि के लिये प्रयुक्त है। इसकी आध्यात्मिक व्याख्या भी यहाँ शतपथ के आधार पर की गई है (पृ० १५४)।

---

१. ऊपर पृ० ६ की टिप्पणी देखिये।

१८वें अध्याय में वसोर्धारा मन्त्रों के प्रसंग में शतपथ के वचनों को अलग से उद्धृत न कर मन्त्रार्थ के समर्थन में उसके साथ ही दिया गया है। १, १६, १९, २१-२६ मन्त्रों की व्याख्या में यही विधि अपनाई गई है। २८-३० मन्त्रों के भाष्य में ये वचन कुछ विस्तार से मिलते हैं। यहाँ (पृ० १८६) सर्वप्रथम संवत्सरात्मक त्रयोदश-मासाधिपति प्रजापति वाज आदि नामों से अभिहित है और ऊक् शब्द से अन्न का ग्रहण किया गया है। इसी तरह से कल्पहोम के प्रसंग में कल्पों की प्राणात्मकता प्रतिपादित है (पृ० १८७-१८८)। कल्प शब्द का प्रयोग यहाँ मन्त्र के अर्थ में हुआ है। साथ ही स्तोम, यजुः, ऋक्, साम, बृहत्, रथन्तर आदि शब्दों के अर्थ दिये गये हैं और बताया गया है कि वसोर्धारा होम के मन्त्रों के साथ 'वेट् स्वाहा' शब्द जोड़े जाते हैं (पृ० १८८)। वाजप्रसवीय होम के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह कर्म का नाम है। सर्वौषधि शब्द से सात ग्राम्य और सात आरण्य धान्यों का ग्रहण किया जाता है। इसका विधान चितिस्थल पर बीजवपन के प्रसंग में किया गया है। यहाँ यह भी निर्दिष्ट है कि इस कर्म का अनुष्ठान करने वाले को इन १४ प्रकार के अन्नों में से किसी एक का जीवनपर्यन्त परित्याग कर देना चाहिये। यह भी कहा गया है कि वाजप्रसवीय होम स्रुव से ही किया जाता है, चमस से नहीं। औदुम्बर चमस का प्रयोग बाद में सम्पात के अवनयन के लिये और अभिषेक के लिये किया जाता है (पृ० १८९)।

आगे के कुछ मन्त्रों (१८।३८-४५) में विस्तार अथवा संक्षेप से कात्यायन के विनियोगों को समर्थन दिया गया है और राष्ट्रभृत् होम, रथशिरो होम, वात होम जैसे विषयों को स्पष्ट करके इन शब्दों की स्पष्ट व्युत्पत्ति दी गई है। साथ ही यह भी बताया गया है कि पुरुष देवता के लिये वषट्कार और स्वाहाकार से तथा स्त्री देवता के लिये केवल स्वाहाकार से आहुति दी जाती है। वाट् पद वषट्कार का ही परोक्ष रूप है। यहाँ यह भी बताया गया है कि 'ऋताषाड्' (१८।३८) इत्यादि छः मन्त्रों की औषधि, मरीचि इत्यादि छः देवतायें हैं। पुरुष देवताओं और स्त्री देवताओं के मन्त्रों के स्वरूप में किस प्रकार परिवर्तन कर लेना चाहिये, इसका भी निर्देश यहाँ किया गया है (पृ० १९५) और इन मन्त्रों में प्रयुक्त भुज्यु, स्तावा जैसे शब्दों का अर्थ भी। वात की आहुति किस प्रकार कहाँ कहाँ दी जाती है, इस विषय को स्पष्ट करते हुए (पृ० २०१-२०२) आगे के मन्त्रों में (१८।४८-५१) रुङ्मती होम और अर्काश्वमेधसन्तति होम का विवरण इनके शब्दार्थ को स्पष्ट करते हुए दिया गया है। 'इन्दुर्दक्षः (१८-५३) मन्त्र में आये 'परिदा' शब्द की व्याख्या की गई है और तदनुसार परिदा-उपयाचना का अर्थ है मनौती मानना। आगे के (१८।५४) के मन्त्र में अग्नि के विमोचन की प्रक्रिया विस्तार से समझाई गई है। 'यदाकूतात्' (१८।५८) इत्यादि मन्त्र में वैश्वकर्मण होम के आठ मन्त्रों की तो व्याख्या की ही गई है; आकूत, हृत् और मन शब्दों के सूक्ष्म अन्तर को भी दिखाया गया है। इस अध्याय के शेष मन्त्रों में से अधिकांश में ब्राह्मण उद्धृत नहीं है। जहाँ उद्धृत है, वहाँ भी वे मात्र कात्यायन के विनियोग का समर्थन करते हैं।

१९वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में उद्धृत शतपथ-वचनों में सौत्रामणी याग की पूरी प्रक्रिया को समझाया गया है। यहाँ पहले सौत्रामणी याग की उत्पत्ति के प्रसंग में विश्वरूप की आख्यायिका वर्णित है। इन्द्र विश्वरूप को मार डालता है, तो विश्वरूप का पुत्र इन्द्र के विरुद्ध आभिचारिक याग का अनुष्ठान करता है। इन्द्र इसके यज्ञ को विनष्ट कर देता है और बलात् सोमपान करता है। यह सोम इन्द्र के सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है और इसके प्रत्येक अंग से बाहर रिसने लगता है। इन्द्र की आँख, नाक, मुख और कान से क्रमशः तेज, वीर्य, बल और यश के रूप बहे सोम से अजा (बकरी), अवि (भेंड़), गाय, घोड़ा, खच्चर और गदहे की तथा पक्ष्म, अश्रु, श्लेष्म, स्नीहा और फेन से गोधूम, कुवल, उपवाक, बदर, यव और कर्कन्धु की उत्पत्ति होती है। इसी तरह से स्तनों से शुक्र के रूप में स्रुत सोम से दूध की, वक्षस्थल से त्विषि के रूप में स्रुत सोम से श्येन पक्षी की, नाभि से शूष के रूप में स्रुत सोम से सीस की, रेतोरूप से स्रुत सोम से हिरण्य की, शिश्न से रस के रूप में स्रुत सोम से परिस्रुत् की, स्फिगी से क्रोध के रूप में स्रुत सोम से सुरा की, मूत्र से ओजोरूप में स्रुत सोम से वृक पशु की, अवन्ध्य से मन्यु के रूप में स्रुत सोम से व्याघ्र की, लोहित से सह रूप से स्रुत सोम से सिंह की, लोम से चित्त के रूप में स्रुत सोम से श्यामाक की, त्वक् से अपचिति के रूप में स्रुत सोम से अश्वत्थ वृक्ष की, मांस से ऊर्ग् के रूप

में स्रुत सोम से उदुम्बर वृक्ष की, अस्थियों से स्वधा के रूप में स्रुत सोम से न्यग्रोध वृक्ष की, मज्जा से सोमपीथ के रूप में स्रुत सोम से व्रीहि की—इस तरह से सौत्रामणी याग के सभी उपकरणों की उत्पत्ति कहीं सामान्य रूप से, तो कहीं विशेषणों के साथ बताई गई है।

आगे कहा गया है कि किसी समय इन्द्र नमुचि नाम के असुर के साथ विचरण कर रहा था। नमुचि ने उसे सुरा पिला कर इसकी इन्द्रियों के वीर्य का, सोमपीथ और अन्नाद्य का अपहरण कर लिया। तब इन्द्र भ्रमजाल में फंस गया। उसकी यह दशा देख देवों ने सोचा कि यह तो हममें अत्यन्त श्रेष्ठ था। लगता है यह किसी पाप कर्म में फँस गया है। हमें इसकी चिकित्सा करानी चाहिये। इसके लिये देवताओं ने अश्विनीकुमारों और सरस्वती को उपचार के लिये बुलाया और इनसे कहा कि तुम दोनों वैद्य हो और यह सरस्वती औषधि है। इसलिये तुम लोग इन्द्र की चिकित्सा करो। देवताओं की प्रार्थना को सुन कर इन लोगों ने देवताओं से कहा कि चिकित्सा करने के बदले में हमें क्या मिलेगा? इस पर देवताओं ने अश्विनीकुमारों के लिये धूम्र वर्ण का अज और सरस्वती के लिये मेष निर्धारित किया। इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ था। इस लिये इसके निमित्त ऋषभ पशु निश्चित किया गया। तब अश्विनीकुमारों और सरस्वती ने इन्द्र के शरीर का रस जिस जिस मार्ग से बह गया था, उस सारे रस को नमुचि के पास से लाकर इन्द्र के शरीर में पुनः स्थापित कर दिया।

इस तरह से आख्यायिका के रूप में सौत्रामणी याग के अंगभूत तीन पशुओं की उत्पत्ति को बताकर सौत्रामणी शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए इसको जानने से किस फल की प्राप्ति होती है, इसका वर्णन कर दक्षिणा, अधिकार और विधि का भी यहाँ निरूपण किया गया है।

द्वितीय मन्त्र के भाष्य में उद्धृत शतपथ-वचन में सोम-सम्पादन की प्रक्रिया का उल्लेख है। आगे इस अध्याय के कुछ ही मन्त्रों में शतपथ-श्रुति को उद्धृत किया गया है। जहाँ वह उद्धृत है, वहाँ भी कात्यायन मुनि के बताये विनियोगों का ही समर्थन किया गया है। भाष्यकार एक स्थान पर (पृ० २५६) आचार्य हरिस्वामी के मत का स्मरण करते हैं और 'सीसेन तन्त्रम्' (१९।८०) मन्त्र में उद्धृत शतपथ-श्रुति में ३३ वसाग्रहों का, यजमानाभिषेक, स्तोत्र-शस्त्र पाठ आदि का विवरण दिया गया है। १९वें अध्याय के अन्तिम मन्त्र में स्वामी दयानन्द के मत का खण्डन करते समय विस्तार से शतपथ ब्राह्मण के वचनों को उद्धृत किया गया है और ब्राह्मणगत आत्मा, वेदि और संस्था पदों का अर्थ दिया गया है।

२०वें अध्याय के बहुत ही कम मन्त्रों के भाष्य में शतपथ ब्राह्मण के वचन मिलते हैं। जहाँ ये मिलते हैं, वहाँ भी मात्र कात्यायन की विनियोग-पद्धति का समर्थन करने वाले वचन ही हैं। विशेष बात इतनी ही है कि 'यद् ग्रामे' (२०।१७) मन्त्र में आये इन्द्रिय पद का अर्थ शतपथ के अनुसार देवता है और 'उद्वयम्' (२०।२१) मन्त्र में आया 'तमः' पद पाप का वाचक है।

मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ

प्रस्तुत भाष्य के प्रायः प्रत्येक मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ भी किया गया है, इसका उल्लेख पूर्व भाग (११-१५ अ०) के भाष्यनिष्कर्ष में हो चुका है। मन्त्रगत पदों से, विभक्तियों और वचनों से स्वाभाविक रूप से सूचित होने वाले, परमात्मा के सामान्य और विशेष, विभिन्न स्वरूपों को ही यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के किन-किन स्वरूपों को यहाँ स्मरण किया गया है, सामान्य रूप से प्रायः इसका भी उल्लेख पूर्व भाग में हो चुका है। इस भाग में आये इस तरह के विशेष शब्दों का उल्लेख यथास्थान किया जायगा।

१६वें अध्याय के लिये यहाँ बताया गया है कि इस पूरे अध्याय के मन्त्रों का अर्थ स्वतः अध्यात्मपरक है, अर्थात् पूरे अध्याय में भगवान् रुद्र की स्तुति की गई है, अतः इनकी अलग से आध्यात्मिक व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है (पृ० ८)।

१७वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में 'मरुत्' शब्द से मरुदुपलक्षित भगवदंशभूत सम्यक् दानशील देवताओं के लिये प्रयुक्त है। तृतीय मन्त्र में बताया गया है कि इष्टका आदि जड़ पदार्थों में भी उसी प्रकार देवता की भावना करनी चाहिये, जैसी कि व्रीहि, यव, कुश, समिधा आदि में वैदिकगण देवत्व की भावना करते हैं। यहाँ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' जैसे श्रुति-वाक्यों को भी उद्धृत किया गया है। इससे आगे के कुछ मन्त्रों में भक्तियोग की चर्चा है। छठे मन्त्र में राम-कृष्ण, वराह-नृसिंह आदि विष्णु के अवतारों और सीता, राधा, रुक्मिणी आदि देवियों का उल्लेख है। यहाँ 'मण्डूकी' शब्द का अर्थ महाशक्ति किया गया है। ८वें मन्त्र में बताया गया है कि श्रीराम आदि अवतारों का प्रयोजन रावण जैसे त्रिलोकी के कण्टकों के शोधन हेतु होता है। इस प्रसंग में श्रीमद्भागवत के वचनों का भी स्मरण किया गया है। १३वें मन्त्र में 'वेट्' पद का अर्थ हमारे द्वारा दिये जा रहे पत्र, पुष्प, फल आदि हवि के रूप में भगवान् को समर्पित हों, किया गया है। २१वें मन्त्र में विश्वकर्मन् शब्द का अर्थ विश्वस्रष्टा है। श्रीमद्भागवत के प्रमाण से यहाँ बताया गया है कि भगवान् की अनुग्रह शक्ति से प्रेरित होकर ही जीव यज्ञ-याग आदि धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है। २८वें मन्त्र में केनोपनिषद् के प्रमाण से असु, अर्थात् प्राण शब्द का परमात्मा अर्थ किया गया है। ३३वें मन्त्र में इन्द्र शब्द का निरंकुश ऐश्वर्य से सम्पन्न राम अर्थ है, जो कि खेल-खेल में रावण जैसे शत्रुओं को जीत लेते हैं। इस प्रसंग में श्रीमद्भागवत का श्लोक भी उद्धृत है। अग्रिम मन्त्र में 'युधः' शब्द से राम की वानर, भालू आदि की सेना के योद्धाओं को संबोधित किया गया है। इसी तरह से ३५वें मन्त्र की आध्यात्मिक संगति भी श्रीराम के साथ बैठा कर वाल्मीकि रामायण के चार श्लोक दिये गये हैं। आगे के कुछ मन्त्रों की संगति भी श्रीराम, हनुमान् आदि के साथ ही बैठाई गई है। ४०वें मन्त्र में रावण की अहंकार से तुलना कर बताया गया है कि श्रीराम, लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान्, अंगद, नल, नील, द्विविद, मन्द आदि सभी दिशाओं से आक्रमण करते हुए इसका नाश कर देते हैं। ४१वें मन्त्र में भी कुछ इसी प्रकार का प्रसंग है। ४४वें मन्त्र में भगवती सीता से प्रार्थना की गई है। रामायण, सप्तशती आदि के मत को उद्धृत करते हुए यहाँ बताया गया है कि इस मन्त्र की यह आध्यात्मिक व्याख्या श्रीवल्लभाचार्य महाराज के सिद्धान्त के अनुसार की गई है।

भगवान् भक्तों की रक्षा के लिये राम, कृष्ण आदि अवतार लेकर किस प्रकार जागरूक रहते हैं, इस विषय का प्रतिपादन ५६वें मन्त्र में भगवद्गीता, महिम्नस्तोत्र और श्रीमद्भागवत के प्रमाण से किया गया है। ५९वें मन्त्र में आदित्य शब्द का अर्थ आदित्यमण्डल में विद्यमान पुरुष किया गया है। ६२वें मन्त्र में रावण आदि से पीडित देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् विष्णु राम का अवतार लेते हैं, इसका प्रतिपादन वाल्मीकि रामायण के प्रमाण से किया गया है। ७१वें मन्त्र में बताया गया है कि सहस्राक्ष, सहस्रमूर्धा परमात्मा ही अग्नि हैं। इसी तरह से ७२वें मन्त्र में ऋग्वेद के प्रमाण से अग्नि, मित्र, वरुण और इन्द्र के समान गरुत्मान् सुपर्ण को भी परमात्मस्वरूप माना गया है। ७५वें मन्त्र में श्रीराम, श्रीकृष्ण और कल्कि अवतारों की चर्चा है। ७६वें मन्त्र की श्रीरामपरक व्याख्या तो की ही गई है, साथ ही महिम्नस्तोत्र में आये यविष्ट शब्द के आधार पर इसकी शिवपरक व्याख्या भी की गई है। ७९-८५ संख्या के मन्त्रों में श्रीमद्भागवत, कठोपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता आदि के प्रमाण से सर्वत्र ब्रह्मात्मकता की भावना का निरूपण किया गया है। ८७वें मन्त्र में बताया गया है कि यह भावना शालिग्राम में विष्णु की भावना की पद्धति से की जाती है। आगे पुनः परमेश्वर के रूप में अग्नि की उपासना वर्णित है। ९०वें मन्त्र में चतुःश्रृंग पद से ब्रह्म के विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय रूपों का अथवा विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत और तुरीय स्वरूपों का ग्रहण किया गया है। चतुःश्रृंग पद की यही व्याख्या ९१वें मन्त्र में भी दी गई है। इसके अतिरिक्त यहाँ त्रयः पादा, द्वे शीर्षे, सप्त हस्तासः, त्रिधा बद्धः, ऋषभः, रोरवीति आदि पदों की व्याख्या भी अवलोकनीय है। ९२वें मन्त्र में 'त्रिधा हितम्' पदों की व्याख्या में स्थूल, सूक्ष्म, और कारण रूपों का अभिधान किया गया है। अगले दो मन्त्रों में वाणी शब्द से वेदवाणी का ग्रहण कर भगवान् की स्तुति में उनका विनियोग किया गया है। इससे आगे के तीन मन्त्रों (९५-९७) में बताया गया है कि भागवतों के यज्ञ में अग्निस्वरूपी भगवान् को जो कुछ समर्पित किया जाता है, भक्तों के द्वारा भक्तिपूर्वक निवेदित उस उपहार को वे प्रेमपूर्वक

ग्रहण करते हैं, जैसा कि भगवद्गीता (९।२६) में कहा गया है। भक्तों के द्वारा समर्पित घृतधारा भी, अभिषुत, सोम के समान, नवपरिणीता वधू के पति के पास पहुँचने के समान, भगवान् के पास पहुँच जाती है। अन्तिम दो मन्त्रों (९८-९९) में भगवान् के पार्षदों की और अग्निरूपी परमेश्वर की प्रार्थना की गई है।

१८ वें अध्याय के प्रारम्भ की २९ कण्डिकाओं में परमेश्वर से यज्ञ के द्वारा वाज आदि को कामनाओं की पूर्ति के लिये प्रार्थना की गई है। ५ वें मन्त्र में श्रद्धा, धन, मोद, क्रीडा आदि शब्दों के अर्थ प्रदर्शित हैं। २८ वें मन्त्र की व्याख्या में बताया गया है कि इस मन्त्र की आध्यात्मिक व्याख्या भी ईश्वरपरक ही करनी चाहिये। इसी न्याय का अन्य मन्त्रों की आध्यात्मिक व्याख्या के लिये भी अनुकरण करना चाहिये। इसीलिये २९ वें मन्त्र में कहा गया है कि सिंह का शिशु जैसे सिंह ही होता है, उसी तरह से परमेश्वर का पुत्र भी परमेश्वर ही है। यहाँ 'अमृतस्य पुत्राः' (१०।१३।१) यह ऋग्वेद की ऋचा प्रमाण के रूप में उद्धृत है। आगे के कुछ मन्त्रों में बताया गया है कि सर्वात्मभूत भगवान् की ही यहाँ मरुत् आदि के रूप में स्तुति की जाती है। भक्तों का भगवान् ही अन्न है, यही भक्तों की सारी कामनाओं की पूर्ति करता है। दान, याग, पुत्रप्राप्ति, जयप्राप्ति इसी की कृपा से होती है। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि सब उस परमात्मा के ही रूप हैं। वही ऋताषाट भी है। ४३ वें मन्त्र में वासिष्ठ रामायण के प्रमाण से बताया गया है कि वही ब्रह्मा, अव्याकृत, हिरण्यगर्भ और विराट् है और वही भूमि, बीज, अंकुर और वृक्षस्थानीय है। ४४ वें मन्त्र में साकेत, गोलोक, वैकुण्ठ और कैलाश की तथा अयोध्या, वृन्दावन, वाराणसी आदि की इहलोक और परलोक में स्थिति बताई गई है। अगले मन्त्र में बताया गया है कि भगवान् ही हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा के रूप में सारे प्रपंच पर शासन करते हैं, वायुरूप में उन्हीं की स्तुति की जाती है (पृ० २०३)।

आगे के कुछ मन्त्रों में 'इन्द्रं मित्रम्' (१।१६४।४६) इत्यादि ऋचा के आधार पर वरुण आदि को परमेश्वरता वर्णित है। इसी तरह से धर्म आदि भी परमेश्वर के ही रूप हैं। एक मन्त्र (१८।६०) में कर्मसमुच्चित उपासना करने वाले के हृदय में भगवान् निवास करते हैं, इस विषय का श्वेताश्वतरोपनिषद् का प्रमाण देते हुए उल्लेख किया गया है। अग्नि, अर्क, चित्याग्नि आदि के रूप में भी प्रत्यगात्मा ही प्रकाशित होती है (१८।६६)। पुरुहूत इन्द्र भी वही है; आदित्य, विद्युत् आदि के रूप में भी उसी की स्तुति की जाती है (१८।७३)। अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा, बृहस्पति, विश्वेदेव—ये सब स्वरूप उस प्रत्यगात्मा में अभिन्न रूप से स्थित हैं (१८।७६)।

१९ वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में आये सुरा और सोम पदों का आध्यात्मिक अर्थ ब्रह्मविद्या और विवेक किया गया है। विवेक से सम्पन्न ब्रह्मविद्या की सहायता से सब कुछ मंगलमय हो जाता है। यह सारा संसार उसके लिये नन्दन-वन बन जाता है। द्वितीय मन्त्र में परमात्मा की सर्वात्मकता प्रतिपादित है। जैसे घट, शराव, उदंचन आदि मिट्टी के विस्तार मात्र हैं, उसी तरह से याग, यागांग, द्रव्य, देवता आदि में भी ब्रह्म का ही विस्तार है। आगे के मन्त्रों में साम्ब सदाशिव से प्रार्थना की गई है। ७ वें मन्त्र में निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग चर्चित हैं। १० वें मन्त्र में बताया गया है कि विषूचिका स्वरूपिणी अविद्या की बाधा को दूर कर जो साधक कूर्म के अंग के समान विषयों से अपने को समेट लेता है, वह अवश्य ही परमात्मा को प्राप्त करता है। १३ वें मन्त्र में रूपकालंकार की शैली से इन्द्र को अनधिकारी जीव, अश्विनी-कुमारों को प्राणापान और सरस्वती को त्रयीलक्षणा वाक् कहा गया है। यहाँ अनेक मन्त्रों में भगवान् की सर्वात्मकता का विविध रूपों में वर्णन है। २६ वें मन्त्र में बताया गया है कि प्रातःसवन आदि के अनुष्ठान से बुद्धि की शुद्धि के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति होती है। ३१वें मन्त्र में इस सारे जगत् को यज्ञात्मक विष्णु का स्वरूप कहा गया है। ३४ वें मन्त्र में नमुचि को मोह (अज्ञान) के रूप में कल्पना कर कहा गया है कि तत्त्वज्ञान के बिना इसकी निवृत्ति नहीं होती।

३६ वें मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ विशेष रूप से अवधेय है। यहाँ पिता, पितामह और प्रपितामह को परमात्मा का ही स्वरूप बताया गया है और महाभारत एवं भगवद्गीता के प्रमाण से कहा गया है कि किस प्रकार

परमात्मा के इन स्वरूपों को उपासना करनी चाहिये। आगे बताया गया है कि इनकी उपासना न करने पर ये क्रुद्ध हो जाते हैं। अतः इनकी सौम्यता के लिये उपासना अपेक्षित है। ४२ वें मन्त्र में पवमान को वेदान्त की दृष्टि से ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहा है। ४३ वें मन्त्र में भगवद्गीता के प्रमाण से ज्ञान की निर्मल पवित्र शक्ति को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। अगले मन्त्र में दुर्गासप्तशती के विस्तृत उद्धरण के आधार पर वैश्वदेवी भगवती की आराधना वर्णित है। यही राज-राजेश्वरी सौन्दर्यलहरी के प्रमाण से नीप वन में निवास करती है, मोक्षलक्ष्मी को देने वाली है। ४७ वें मन्त्र में भगवद्गीता के प्रमाण से देवयान और पितृयान मार्ग का उल्लेख कर इनकी महिमा वर्णित है। यहीं ब्रह्मसूत्र आदि के प्रमाण से इन द्विविध गतियों का निरूपण कर भगवान् शंकराचार्य की पद्धति से आतिवाहिक मार्ग आदि का भी स्वरूप प्रदर्शित है (पृ० २६७-२६९)। जिज्ञासुओं के लिये यह प्रकरण विशेष रूप से अवधेय है।

अगले मन्त्र (१९।४८) में अन्न, पयस्, रेतस् जैसे शब्दों का आध्यात्मिक अर्थ किया गया है। अगले कुछ मन्त्रों में अभियुक्तवचन, महाभारत, भागवत पुराण आदि के प्रमाण पर सौम्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त आदि पितरों को और कव्य-वाहन जातवेदा को परमात्मा का ही स्वरूप मान कर उनकी उपासना विहित है। ७१ वें मन्त्र में इन्द्र को परमेश्वर के रूप में वर्णित कर कहा गया है कि इनकी कृपा के विना नमुचि रूपी अज्ञान का आवरण नष्ट नहीं होता। ७४ वें मन्त्र में बताया गया है कि नीर और क्षीर के विवेक में निपुण हंस के समान जो साधक सार और असार तत्त्वों के विवेक में निपुण हैं, वह सांसारिक मृगतृष्णा में न पड़ कर शिवामृत का पान करता है। अगले मन्त्र में बताया गया है कि राजस और तामस वृत्तियों से मुक्त जीव ही मायामय पाश को काट सकता है। ७७ वें मन्त्र में कहा गया है कि परमेश्वर ही सत्य और असत्य के भेद का उपदेशक है। तदनुसार ही जीव में आस्तिक और नास्तिक भाव जागृत होते हैं। ८० वें मन्त्र का उपदेश है कि आचार्य और त्रयी विद्या से प्राप्त ज्ञानरूपी यज्ञ का अनुष्ठान करने से ही जीव का उपाधिजन्य सांसारिक स्वरूप विलीन होकर शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है। इस अध्याय के अन्तिम कुछ मन्त्रों में पुनः परमेश्वर की सर्वात्मकता वर्णित है। ८६ वें मन्त्र में बताया गया है कि सौत्रामणी गत स्थाली आदि पात्र ही इन्द्र के रुग्ण शरीर को स्वस्थ करने के लिये आंत आदि का रूप धारण कर लेते हैं। यह सब उस परमात्मा का लीलाविलास है। वही सौत्रामणी का और उसके उपकरणों का भी रूप धारण कर लेता है। इन सबसे उस परमात्मा का सार्वात्म्य ही प्रकट होता है। अन्तिम मन्त्र (१९।९५) में सौत्रामणी याग के उपदेशक उस परमात्मा के प्रति नमस्कार निवेदित है।

इस खण्ड के अन्तिम २० वें अध्याय के अनेक मन्त्रों में साधक अपनी, अपने विविध अंगों की तथा धन, ऐश्वर्य और यश की रक्षा के लिये भगवान् से प्रार्थना करता है। मन्त्रद्रष्टा कहता है कि हे परमेश्वर आपके इन भक्तों की आप रक्षा करें। प्रथम मन्त्र में ही बताया गया है कि अंकुश के बिना जैसे हाथी और लगाम के बिना जैसे घोड़ा अनियमित हो जाता है, उसी तरह से क्षात्र धर्म परमात्मा के नियन्त्रण के बिना पथभ्रष्ट हो सकता है, धर्मविरोधी आचरणों में लिप्त हो सकता है। तृतीय मन्त्र के अश्विनी शब्द से अश्विनीकुमारों के समान परम सुन्दर भवरोग के वैद्य राम और लक्ष्मण का ग्रहण किया गया है। 'पृष्ठीर्मे' (२०।८) मन्त्र में साधक को राष्ट्र के प्रति समष्टिभावना का उपदेश है, क्योंकि व्यष्टिभावना मृत्यु को और समष्टिभावना अमृतत्व को प्राप्त कराती है। नवें मन्त्र में साधक अपने नाभि आदि अंगों में चित्त आदि की भावना करता है। अगले मन्त्र में पुनः समष्टि भावना का उपदेश है। ११ वें मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि ३३ देवता ब्रह्मज्ञान की सम्पत्ति प्रदान कर अविद्यालक्षण संसार से हमें मुक्ति दिलावें। अगले मन्त्र में रक्षा का प्रकार प्रदर्शित है कि ब्रह्मात्मसाक्षात्कार में श्रुति और सूत्र के अनुसार साधक सभी की अपेक्षा रखता है। १३ वें मन्त्र में प्रतिपादित है कि साधक भौतिक व्यष्टि कार्यकारणसंघात रूप न होकर समष्टिभावना द्वारा ज्ञेय हिरण्यगर्भ-स्वरूप है। आगे साधक वायु, सूर्य, मासर कुम्भ आदि के विभिन्न रूपों में विद्यमान परमात्मा की प्रार्थना करता है। १९ वें मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि साधक का हृदय ब्रह्माकाराकारित वृत्ति से ब्रह्मानन्द रस से परिपूर्ण हो जाय, काम-क्रोध आदि उसके आध्यात्मिक शत्रु पराभूत हों।

२१वें मन्त्र में ब्रह्म के उपासक अपने अनुभव का वर्णन करते हैं और २३वें मन्त्र में जगत् के यावत् पदार्थों की प्रकाशिका चिति-शक्ति की स्तुति है। इसी तरह से अगले मन्त्र में व्रतपति अग्निस्वरूप परमात्मा स्तुत हैं। आगे बताया गया है कि ब्राह्म और क्षात्र तेज को सदा अविरोध भाव से रहना चाहिये। २६वें मन्त्र में निर्दिष्ट है कि वेदों में ब्रह्म के पर और अपर दोनों ही रूप प्रसिद्ध हैं। २७-२८ मन्त्रों में विश्वविस्मारिका ब्रह्मानन्दानुभूति की प्रार्थना है। ३३वें मन्त्र में निवेदनीय द्रव्य के प्रति उक्ति है कि मैं तुम्हें राम और लक्ष्मण, बलदेव और श्रीकृष्ण एवं ज्ञानरूपिणी सरस्वती के लिये, निर्गुण-निराकार परमात्मा के लिये ग्रहण करता हूँ। अगले मन्त्र में निवेदित द्रव्य की प्रार्थना है। ३६वें मन्त्र का कहना है कि इन्द्ररूपी परमात्मा धर्ममेघ नामक समाधि के विविध मार्गों का उद्‌घाटन करता है। ३७वें मन्त्र में वानर, भुसुण्डी, गरुड़ आदि से परिवृत भगवान् श्रीराम की आराधना का विधान है और आगे के तीन मन्त्रों (२०।३८-४०) में श्रीराम की महिमा वर्णित है।

४१वें मन्त्र में बताया गया है कि तूलाविद्या और मूलाविद्या, अर्थात् बुद्धि और प्रकृति मिल कर नाना जन्मों के कर्मों की वासना से मलिन होकर परमात्मा को अपने स्वरूप में न देख कर जगत् के रूप में देखने लगती है। अगले मन्त्र में सत्त्व और क्षेत्रज्ञ का होता के रूप में वर्णन है और ४३वें मन्त्र में सुषुम्ना, इडा और पिंगला नामक तीन नाड़ियाँ वर्णित हैं। ४५वें मन्त्र में बताया गया है कि यूपभावापन्न परमात्मा, अथवा वृक्षभावापन्न यमलार्जुन पाशबद्ध भगवान् श्रीकृष्ण के स्पर्श से जैसे मुक्त हो गये, उसी प्रकार दुग्ध, दधि, नवनीत आदि से उनकी सेवा करने वाला साधक भी अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। अगले मन्त्रों (२०।४७-४९) में श्रीराम की, तब (२०।५०-५२) इन्द्र की स्तुति है। इस प्रसंग से दो विशिष्ट श्लोक भी यहाँ उद्‌धृत हैं (पृ० ३३९)। आगे बताया गया है कि भक्तगण विष्णु, राम अथवा कृष्ण को अपनी भावना के अनुसार भजते हैं। यहाँ भी भक्तियोग के प्रतिपादक दो विशिष्ट श्लोक हैं (पृ० ३४१)। ५५वें मन्त्र में 'अश्विनौ' पद का अर्थ सीताराम अथवा पार्वतीपरमेश्वर तथा धर्म पद का 'ध्यान' अर्थ कर भक्त की भावना को अभिव्यक्ति दी गई है। ५६वें मन्त्र में श्रीमद्भागवत और सीतोपनिषद् के प्रमाण से राम, लक्ष्मण और सीता की आराधना वर्णित है। आगे के मन्त्रों में विष्णुपुराण के अनुसार भक्ति को महिमा बताते हुए भक्ति-मन्दाकिनी बहाई गई है। इस अध्याय में अश्विनी और सरस्वती पदों के अनेक अर्थ किये गये हैं।

६१-६२ मन्त्रों में विद्या और अविद्या दशा का वर्णन है। यहाँ बताया गया है कि ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं, एक के बिना दूसरी कुछ भी करने में असमर्थ है। देह, बुद्धि आदि और श्रवण, मनन आदि अविद्या के विलास हैं और इन्हीं से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है। ६४वें मन्त्र में अश्विनी पद से शास्त्र और आचार्य का तथा सरस्वती पद से उपासना लक्षणा विद्यारूपी औषधि का ग्रहण कर बताया गया है कि इनके सेवन से पाशविक कल्पनाओं के निवर्तक वैदिक काम-कर्मों की प्रवृत्ति होती है और इससे भगवान् के प्रति प्रेमभाव अंकुरित होता है। ६५वें मन्त्र में भुशुण्डीरामायण और रामचरितमानस के अनुसार वर्णित है कि ऋतुकाल की प्रतीक्षा किये बिना ही वृक्ष श्रीराम के लिये फल प्रदान करने लगे थे। अश्विनी और सरस्वती पदों के अनेक अर्थों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। ७८वें मन्त्र में जगत् की अग्नीषोमात्मकता का निरूपण है। सोम प्रकृति और अग्नि पुरुष है। इनके संयोग से विश्व की उत्पत्ति होती है। आगे के मन्त्रों में विविधरूपों में भगवान् की स्तुति की गई है। यहाँ ब्रह्माकाराकारित चित्तवृत्ति के निष्पन्न होने की प्रक्रिया भी वर्णित है। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र (२०।९०) में यह कामना की गई है कि श्रीराम सीता के प्रति पत्नीबुद्धि से और लक्ष्मण मातृबुद्धि से प्रीतिमान् होकर भक्त समर्पित द्रव्य का सोमबुद्धि से पान कर भक्त पर अनुग्रह करते हैं।

स्वामी दयानन्द के भाष्य की समालोचना

वेदार्थपारिजातकार ने स्वामी दयानन्द के भाष्य का चुन-चुन कर खण्डन किया है। इसकी सामान्य प्रक्रिया पर ११-१५ अध्यायों के भाष्य-निष्कर्ष (पृ० २३-२५) में प्रकाश डाला गया है, अतः यहाँ पिष्टपेषण से बचने के लिये १६-२० अध्यायों में आये कुछ विशेष स्थलों की ही चर्चा की जायगी।

१६वें अध्याय में अपरस्तु, अपरस्त्वाह, अपर आह, अन्य आह इत्यादि शब्दों से स्वामी दयानन्द ही बोधित हैं। यहाँ इन्होंने रुद्र पद का अर्थ राजा किया है, यह "रूढिर्योगमपहरति" इस प्रसिद्ध न्याय के विपरीत है। द्वितीय मन्त्रगत गिरिशन्त पद का और आगे भी इसी तरह के अनेक पदों का अर्थ इन्होंने छोड दिया है। अनेक स्थलों पर पदों का अर्थ करते समय सायण आदि का अनुसरण किया है, किन्तु कहीं-कहीं उसको विकृत कर दिया है और उसके लिये कोई प्रमाण नहीं दिया। इनके बताये अनेक अर्थों से वेदों की अज्ञातज्ञापकता नष्ट हो जाती है। सप्तम मन्त्र के दयानन्दीय अर्थ की विशेष रूप से समालोचना की गई है। भाषानुवाद के सहारे जिज्ञासुओं को इसे अवश्य देखना चाहिये। नमः पद का अर्थ नमस्कार होता है, किन्तु यहाँ (पृ० २१) अन्न आदि भोग्य पदार्थ, शस्त्रास्त्र-बल आदि किया है, जिसमें कि कोई प्रमाण नहीं दिया गया। ९वें मन्त्र में मुच् धातु का योजन अर्थ कर 'परावत' क्रिया पद से शत्रु पद का अध्याहार किया है। इस प्रकार के अध्याहार में कोई प्रमाण नहीं है। १०वें मन्त्र में 'किम्' शब्द की आक्षेपार्थकता तथा कपर्द पद का मुकुट के अर्थ में प्रयोग भी निष्प्रमाण है। इसी तरह से आगे के मन्त्रों में शस्त्रागार, शतघ्नी जैसे शब्दों का प्रयोग वेदविरुद्ध है। कुछ शब्दों का दुबारा प्रयोग भी शास्त्रविरुद्ध है।

अनेक जगह इन्होंने काल्पनिक अर्थों की योजना की है। १४वें मन्त्र में रुद्र की बाहुओं का वर्णन है। यह वर्णन उनके निराकारवाद के विपरीत पड़ता है, अतः उन्होंने इसका अर्थ पार्श्ववर्तिनी सेना कर दिया। १५वें मन्त्र में ईश्वर पर आरोपित वैषम्य और नैर्घृण्य दोषों का परिहार किया गया है और शास्त्रों के प्रमाण से यह भी बताया गया है कि भक्ति और स्तुति से सभी प्रकार के प्रत्यवाय दूर हो जाते हैं। स्वामी दयानन्द ने भी इस बात को स्वीकार किया है, किन्तु उनके अनुसार मन्त्र में संयोजित राजा अथवा सेनापति स्तोता के जन्मान्तरीय कर्मों में परिवर्तन करने में सामर्थ्यहीन हैं। आगे के मन्त्रों में हिरण्यबाहु आदि पदों का इन्होंने सेनापति, शिल्पी, सेवक, राजमन्त्री आदि अर्थ किया है, जिससे कि निराकारवाद को बचाया जा सके, किन्तु वहां इनकी कोई संगति नहीं बैठती। नमः शब्द का अर्थ सर्वत्र अन्न नहीं किया जा सकता। वेद में सेना, राष्ट्र, राज्य आदि शब्दों का प्रयोग वेद की प्रकृति के विपरीत है। इस अध्याय के २३ से ६५ संख्या तक के मन्त्रों का दयानन्दीय अर्थ इसी पद्धति पर चला है, अतः यहाँ उनका अलग से उल्लेख न कर अन्तिम ६६वें मन्त्र में बताया गया है कि स्वामी दयानन्द ने यद्यपि अनेक स्थानों पर इन मन्त्रों में आये पदों का अर्थ उव्वट और महीधर के अनुसार ही किया है, तो भी अनेक पदों का अर्थ करने में अपनी मनमानी को छोड़ा नहीं है। अनेक पदों की इस प्रकार की असंभव व्याख्या का यहाँ उल्लेख किया गया है। भाषानुवाद के सहारे उसको देखा जा सकता है।

१७वें अध्याय के प्रथम मन्त्र में स्वामी दयानन्द पर्वताकार मेघों में छिपी विद्युत् के उपयोग के लिये वायु के समान क्रियाकुशल मनुष्यों की बात करते हैं। यह अर्थ मुख्यार्थ के त्याग और गौणार्थ के ग्रहण के बिना सम्भव नहीं है और ऐसा अर्थ की अनुपपत्ति के बिना नहीं किया जा सकता। दूसरे मन्त्र में इन्होंने इष्ट का अर्थ यज्ञसामग्री और अग्नि का अर्थ विद्वान् किया है, किन्तु ऐसा करने का प्रयोजन क्या है, यह उन्होंने नहीं बताया। आगे के मन्त्रों में कहीं स्त्री, कहीं सभापति, कहीं विदुषी स्त्री और कहीं विद्वान् पुरुष को सम्बोधित किया गया है। इन सब पदों का यौगिक अर्थ तब तक नहीं लिया जा सकता, जब तक कि रूढि विद्यमान हो। यहाँ कुछ पदों का अर्थ ही नहीं किया। १०वें मन्त्र में सेनापति को सम्बोधित कर बल (सेना) और राज्य की चर्चा है, किन्तु ये दोनों पद मन्त्र में हैं ही नहीं। मन्त्रगत 'ततृषाणः' पद का अर्थ भी यहाँ गलत किया गया है। इसी तरह से ११वें मन्त्र में नमः, हेतयः, शिवः—इन पदों के अर्थ सही नहीं दिये गये हैं। १२वें मन्त्र में सभापति के न्यायासनस्थ होने का निर्देश और वेट् पद की विविधार्थता भी विचारणीय है। १३वें मन्त्र में विद्वान् का अहुताद विशेषण अनावश्यक है, क्योंकि यदि कोई विद्वान् हुताद होता, तब इसकी आवश्यकता पड़ती। १९वें मन्त्र में स्वामी दयानन्द परमाणुओं से आकाश की उत्पत्ति की बात कहते हैं। यह कथन स्पष्ट ही श्रुति और दर्शनशास्त्र के भी विपरीत है। यही स्थिति इस मन्त्र के बाहु, पाद आदि शब्दों के अर्थ की भी है। अनेक पदों का अर्थ स्वामी दयानन्द ने मनमाना किया है। २५वें मन्त्र में प्रजापुरुषों को सम्बोधित कर 'चक्षु' का अर्थ उपदेशक किया है। यह सारा अर्थ अस्त-

व्यस्त है। उपदेशक का पिता कौन है ? वह घृत को कैसे पैदा करता है ? उसको ऐसा करने का अधिकार किसने दिया ? यह सब कुछ 'अव्यापारेषु व्यापारम्' है।

२६वें मन्त्र की व्याख्या में दोष यह है कि यहाँ यम्, प्राप्य और जीव पद का निर्मूल अध्याहार किया गया है। 'सप्त ऋषीन्' शब्दों से पाँच प्राणों के ग्रहण में कोई प्रमाण नहीं है। मरीचि आदि सात ऋषि शास्त्रों में अवश्य प्रसिद्ध हैं। २८वें मन्त्र में भी अनेक पदों और क्रियाओं की उनके बताये अर्थ में शक्ति नहीं है। यही स्थिति २९वें मन्त्र के प्रथम और गर्भ शब्दों की है। ३० वें मन्त्र में निर्विकार ब्रह्म में गर्भाधान की चर्चा निष्प्रमाण है। भगवद्गीता में प्रकृति अथवा शक्ति का कारण के रूप में वर्णन है, गर्भ के रूप में नहीं। ३१ वें मन्त्र में नीहार पद का अर्थ धूम किया गया है। यह भी निष्प्रमाण है। ३२ वें मन्त्र में धनंजय को प्राणों का पिता मान कर आकाश से भी पहले उसकी उत्पत्ति बताई गई है। धनंजय की उपप्राणों में गणना की जाती है। वह प्राणों का पिता कैसे हो सकता है ? फिर प्राण तो वायुरूप है। ऐसी स्थिति में उसकी आकाश से पहले उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है ? इन्द्र पद का अर्थ सेनापति करना भी निर्मूल है (पृ० ११४)। भुशुण्डी, शतघ्नी आदि अर्थों की कल्पना भी निराधार है (पृ० ११५)। इन्द्र, बृहस्पति आदि शब्दों की मुख्यार्थता के रहते उनका गौणार्थ करना गलत है, किन्तु अर्धनास्तिथों को ऐसा अर्थ करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। ४४ वें मन्त्र में 'निर्ऋति' पद का अर्थ 'प्राणापनेत्री क्षत्रिया' किया है। यह ठीक नहीं है। वस्तुतः 'निर्ऋति' 'प्राणापनेत्री कृत्या' का पर्याय है, क्षत्रिया से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस मन्त्र की व्याख्या महात्मा दयानन्द ने ऐसी की है, जो कि उनकी ही उक्ति के विपरीत है।

४५ वें मन्त्र में बाणविद्या में कुशल सेनापति की पत्नी के युद्ध में जाने की चर्चा की गई है। वीर पुरुषों के रहते ऐसी कल्पना आर्यमर्यादा के विपरीत है। ४६ वें मन्त्र की व्याख्या में दोष यह है कि यहाँ समीपस्थ पदों का अन्वय न कर उनको दूरस्थ पदों से संयोजित किया गया है, जो कि उचित नहीं माना जाता। ४७ वें मन्त्र में अपव्रत और तमस् शब्द का अर्थ गलत किया गया है। दूरस्थ पदों से अन्वय करने का दोष ५१ वें मन्त्र में भी है। ५४ वें मन्त्र में यज्ञ पद का अर्थ गृहाश्रम और देव पद का अर्थ विद्वान् किया है। यह सब सही नहीं है। इस विषय की चर्चा भूमिका-भाग के देवता सम्बन्धी प्रकरण में विस्तार से हो चुकी है। सूत्र और ब्राह्मण ग्रन्थों के विपरीत व्याख्या करना तो इनकी क्षेत्रिय व्याधि है, स्वभाव बन गया है (पृ० १२८)। उक्थ आदि वैदिक शब्दों के अर्थों का या तो इनको ज्ञान नहीं है, अथवा ये जानबूझ कर इनका मनमाना अर्थ करते हैं। 'घर्म' पद 'महावीर' के अर्थ में प्रयुक्त है। उसका अर्थ 'अग्निहोत्र' कथमपि नहीं हो सकता (१७।५५)। अगले मन्त्र में बताया गया है कि संनिधान आदि से उपस्थित योग्य पद को छोड़ कर अनुपस्थित दूरस्थ पद से अन्वय जोड़ना उचित नहीं माना जाता। विद्वान् मनुष्य की प्रसन्नता के लिये यज्ञ करने की कोई आवश्यकता नहीं है, वह तो अन्य कार्यों से भी प्रसन्न हो सकता है। जगत् को धारण करने की सामर्थ्य उसमें है भी नहीं। ५८ वें मन्त्र की समालोचना में बताया गया है कि 'ख्याति' पद का मन्त्र में अभाव है और मन्त्र में आये केश पद का अर्थ यहाँ नहीं दिया गया है। विद्या पद भी मन्त्र में नहीं है। स्वामी दयानन्द के भाष्य में इस प्रकार के दोष सामान्य रूप से अनेक स्थलों पर मिलते हैं कि वे निर्मूल अध्याहार करते रहते हैं और मन्त्रगत कुछ अनभीष्ट पदों को अपनी व्याख्या में छोड़ देते हैं। ५९ वें मन्त्र में उन्होंने 'अभिचष्टे' पद का अर्थ गलत किया है और सविता को स्थिर सिद्ध किया है, जो कि "देवो याति भुवनानि पश्यन्" इस मन्त्र वचन के विपरीत है। सविता की स्थिरता को भूमिका-भाग में स्थापित किया जा चुका है।

६० वें मन्त्र में अन्ति अथवा अन्तु शब्द का अर्थ बन्धन दिया है, जो कि हमारे लिये विचारणीय है। ६२ वें मन्त्र में बताया गया है कि शाब्दी मर्यादा का उल्लंघन उच्छृङ्खलता को ही जन्म देता है। इस पद्धति से अर्थ करने पर तो उनके अपने मत के विपरीत भी बातें उसी मन्त्र से निकाली जा सकती हैं। यहाँ (१७।६२) 'देवान्' पद का अर्थ दिव्य गुण अथवा दिव्य भोग करना उसी का उदाहरण है। ६३ वें मन्त्र में सेनापति पद है ही नहीं। यही स्थिति ६४ वें मन्त्र की है। वहाँ सेनापति पद का प्रयोग द्विवचन में किया गया है, जिसका कोई आधार नहीं है। ६६ वें मन्त्र में सभेश का पूर्व

दिशा में गमन किस लिये निर्दिष्ट है, इसका कोई प्रयोजन वहाँ नहीं बताया गया। सिद्धान्त पक्ष में तो आहवनीय अग्नि की स्थिति यज्ञशाला की पूर्व दिशा में रहने से प्राचीगमन उचित ही है। द्यावापृथिवी के मध्य में सोपाधिक सुख की ही प्राप्ति हो सकती है, आत्यन्तिक सुख की नहीं। भगवद्गीता में भी यही बात कही गई है (पृ० १४१)। ७१ वें मन्त्र में अक्षि पद का अर्थ चक्षु तो हो सकता है, किन्तु चक्षुर्विज्ञान अर्थ बिना लक्षणा के सम्भव नहीं है और लक्षणा के लिये अन्वयानुपपत्ति अथवा तात्पर्यानुपपत्ति अपेक्षित है, जो कि यहाँ नहीं है। ७२ वें मन्त्र में पर्ण शब्द का अर्थ पूर्ण तथा गरुत्मान् का अर्थ गुर्वात्मा क्रिया है। प्रक्षेप और अध्याहार द्वारा व्याख्या करना कभी उचित नहीं माना जाता। इस मन्त्र में सविता, राज्यम् आदि पदों का निरर्थक आक्षेप किया गया है, जब कि सिद्धान्त की पद्धति से बिना इन पदों का आक्षेप किये मन्त्रार्थ परिपूर्ण हो जाता है। अगले मन्त्र में अग्नि पद का अर्थ योगाभ्यास से प्रकाशित आत्मा किया है। इसी तरह से सुप्रतीक, योनि, विश्वेदेव आदि शब्दों का मनमाना अर्थ कर दिया गया है। शब्दशास्त्र की इस अराजकता की चर्चा यहाँ अनेक स्थलों पर की जा चुकी है।

७४ वें मन्त्र में कण्व पद के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ दिया गया है और यहाँ अविद्यमान यथा-तथा पदों का निरर्थक अध्याहार किया गया है। ७५ वें मन्त्र में अग्नि पद का अर्थ योगी किया है। बिना लक्षणा के यह सम्भव नहीं है। योगाग्नि में दुःख के होने की बात भी निराधार है। भगवान् पतंजलि द्वारा प्रदर्शित चित्तवृत्ति के निरोध से अवश्य दुःख की निवृत्ति हो सकती है। चार्वाक दर्शन का अनुसरण करते हुए स्वामी दयानन्द ने सिद्धियों को अस्वीकार कर दिया है। अतः संकल्प की सिद्धि से भी ऐसा नहीं हो सकता। ७८ वें मन्त्र में चित्ति और जुहोमि पदों का अर्थ निराधार है। ७९ वें मन्त्र में अग्नि की सात समिधाओं का उल्लेख किया है, किन्तु उनके नाम नहीं बताये गये। सात ऋषियों के रूप में प्राण, अपान आदि का ग्रहण किया है, जब कि इनकी संख्या १० है। धाम पद से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का ग्रहण भी प्रतारणामात्र है! सात होता और सात ऋत्विक् कौन हैं? यह भी यहाँ प्रदर्शित नहीं है। ८०वें मन्त्र में ईश्वर को ज्योतिर्मय बताया गया है। आपके मत से निराकार ईश्वर कैसे ज्योतिर्मय हो सकता है? ८४वें मन्त्र में मरुत् पद का अर्थ विद्वान् किया है। इसी तरह से इस मन्त्र में 'सदृक्षासः' इत्यादि अनेक पदों का अर्थ निराधार है। ८६ वें मन्त्र में इन्द्र पद का अर्थ सामान्य राजा कर विद्वानों की प्रजा और मूर्खों की प्रजा का उल्लेख है। यह सब निराधार कल्पनामात्र है। अभ्युदय और निश्रेयस की सिद्धि ही वेदोपदेश का प्रयोजन है। इसके विपरीत अर्थ को उसमें से निकालना अनुचित है। फिर शब्द की ज्ञापकता ही शास्त्र-निर्दिष्ट है, कारकता नहीं (पृ० १६१)। ८९ वें मन्त्र में ऊर्ध्वगामिनी मधुमती तरंगों का उल्लेख किया गया है, किन्तु ऐसी तरंगें न तो शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं और न कहीं उपलब्ध ही हैं। अगले मन्त्र में भी अवमीत् यज्ञ आदि पदों का निराधार अर्थ किया गया है।

'चत्वारि शृङ्गाः' (१७।९१) मन्त्र की व्याख्या में इनको अनपेक्षित रूप से निरुक्त का सहारा लेना पड़ा है, किन्तु महाभाष्यकार और निरुक्तकार ने यहाँ यज्ञ, सवन आदि की जो व्याख्या की है, उसे ये स्वीकार नहीं करते। इनके मत से वायुशुद्धिमात्र यज्ञ का प्रयोजन है। इसके लिये सवनों की कोई अपेक्षा नहीं है। कात्यायन सूत्रों को ये प्रमाण नहीं मानते। उनके बिना प्रायणीय, उदयनीय आदि शब्दों का अर्थ कैसे ज्ञात हो सकता है? 'सिन्धोरिव' (१७।९५) मन्त्र में लहरियों को वात से अनुमेय बताया गया है। लहरियाँ तो प्रत्यक्ष हैं, इसके लिये अनुमान की अपेक्षा नहीं है! हाथी जब सामने खड़ा हो, तब चीत्कार से उसका अनुमान करने की क्या आवश्यकता है? अगले मन्त्र में वाणी को घृत, अर्थात् ज्ञान की धारा बताया गया है। इसकी प्रस्तुत मन्त्र से कोई संगति नहीं बैठती। ९८वें मन्त्र में स्त्री-पुरुषों को सम्बोधित कर धन और प्रशंसा प्राप्त करने को कहा गया है। यह सब तो रागप्राप्त है, इसके लिये उपदेश की अपेक्षा नहीं रहती। 'अभ्यर्षत' क्रिया का 'प्राप्ति' अर्थ भी निराधार है। संग्राम की प्राप्ति किसी के भी लिये कभी अभीष्ट नहीं हो सकती। इस अध्याय के अन्तिम (१७।९९) मन्त्र में जगदीश और सभापति को सम्बोधित कर जो कहा गया है, वह सर्वथा अस्पष्ट है।

सभापति के प्राणों के भीतर संसार की कल्पना भी निराधार है। सिद्धान्त पक्ष में तो "विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यम्" इत्यादि दक्षिणामूर्तिस्तोत्र की पद्धति से संगति बैठ जाती है।

१८वें अध्याय के 'वाजश्च' (१८।१-२७) इत्यादि मन्त्रों में आये चकारों के तथा 'वाजः' इत्यादि पदों के स्वामी दयानन्द ने बिना प्रमाण के मनमाने अर्थ किये हैं। उनको किसी भी प्रकार से प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये शतपथ ब्राह्मण, श्रौतसूत्र आदि के द्वारा समर्थित अर्थ के पूरी तरह से विपरीत हैं। पारिजातभाष्यकार ने उस विषय को ७, २१ और २४वें मन्त्र में उक्त मत के खण्डन के अवसर पर स्पष्ट कर दिया है। २९वें मन्त्रपर्यन्त स्वामी दयानन्द के व्याख्यान की यही स्थिति है।

३१ वें मन्त्र में विद्वान् मनुष्यों से अभीष्ट सिद्धि की प्रार्थना की गई है; किन्तु विद्वान् सभी मनुष्यों की कामना पूरी नहीं कर सकता। अगले मन्त्र की भी यही स्थिति है, क्योंकि अन्न आदि की प्राप्ति प्रयत्न से होती है, प्रार्थनामात्र से नहीं। शस्त्र के प्रहार से भी उपदेशमात्र से कोई बच नहीं सकता। ३३ वें मन्त्र में मनुष्यों को संबोधित कर जड़ अन्न की प्रार्थना का निर्देश किया गया है। जड़ पदार्थ की कोई क्यों प्रार्थना करेगा? वेग रूप गुण की सहायता से वसन्त आदि ऋतुएँ समीचीन गुणों का समर्थन करती है, इस अर्थ की क्या संगति है? 'वाजः' (१८।३४) इत्यादि मन्त्र में जयेयम् और यत् पद का बिना प्रमाण के अध्याहार किया गया है। ३५वें मन्त्र को व्याख्या में भोक्ता, अर्थात् शुद्ध आत्मा के पृथिवी, जल और ओषधि से संमिश्रण की चर्चा है। यह कैसे संभव होगा? मन्त्र में यह शब्द है भी नहीं। ३७वें मन्त्र में अभिषेक से वाक्सिद्धि और ऐश्वर्य-प्राप्ति की चर्चा है, किन्तु अभिषेक से कोई पुण्य या अदृष्ट उत्पन्न होता है, इस बात को जब आप स्वीकार नहीं करते, तो यह कैसे संभव हो सकता है? 'ऋताषाट्' (१७।३८) मन्त्र की इनकी व्याख्या भी यहीं भाष्य में उद्धृत श्रुति के विपरीत होने से प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। स्वाहा और वाट् इन दो शब्दों का प्रयोग एक साथ क्यों किया गया, इसका भी इनके पास कोई उत्तर नहीं है। ३९वें मन्त्र की व्याख्या भी श्रुति के विपरीत ही है। कोई भी विद्वान् सूर्य नहीं हो सकता और न पृथिवी को धारण ही कर सकता है। भाष्यकार ने इस मन्त्र की व्याख्या में अन्य भी अनेक विसंगतियां दिखाई हैं। ४०वें मन्त्र में किया गया वाट् और स्वाहा पदों का अर्थ भी वैदिक मर्यादा के विरुद्ध है।

४४वें मन्त्र में तो इनकी संस्कृत और हिन्दी व्याख्या में भी परस्पर कोई संगति नहीं है। ४९वें मन्त्र की व्याख्या में भी अनेक विसंगतियां हैं। यजमान जिसको चाहता है, जिसको प्राप्त करता है, वक्ता उसको कैसे प्राप्त कर सकता है? मनुष्य से आयु आदि की कामना पूरी तरह से असंगत है। ५०वें मन्त्र में यह शंका उठती है कि किसकी सत्यक्रिया से किस विधि से घर्म आदि सुखतुल्य हो जाते हैं? मनुष्यों की सत्क्रिया से यह संभव नहीं है, उनमें तो असत्क्रिया भी रहती है, उससे दुःखतुल्यता भी उत्पन्न हो सकती है। इस मन्त्र का भावार्थ तो पूरी तरह से मन्त्राक्षरों से विपरीत है। ५२ वें मन्त्र में मनुष्य के दो पंखों की चर्चा की गई है, जिससे कि वह दुष्टों को मारता है। कार्यकारणभाव को हम पंख नहीं कह सकते, क्योंकि उनसे वह उड़ नहीं सकता। इधर के सारे मन्त्रों में यहाँ विद्वान् को सम्बोधित किया गया है, किन्तु मनुष्य में वह सामर्थ्य नहीं हो सकती, जिसकी कि इन मन्त्रों में चर्चा है। चेतन विग्रहवती देवता को ये स्वीकार नहीं करते। मनुष्य में जल की नदी बहा देने की भी सामर्थ्य नहीं है, वह घृत और दूध को नदी कहाँ से बहावेगा। ५८ वें मन्त्र के दयानन्दीय अर्थ का यहाँ विस्तार से खण्डन किया गया है। वेद नित्य हैं। उनमें किसी लौकिक घटना और इतिहास की कल्पना नहीं की जा सकती। आख्यायिका सरलता से मन्त्रार्थ को समझाने के लिये दी जाती है। इनमें देवताओं के बाह्य अथवा आन्तर व्यापार के वर्णन के व्याज से वर्णाश्रम धर्म सम्बन्धी आचारों का वर्णन अवश्य मिल सकता है। ये आख्यायिकाएँ कहीं विधि की स्तुति में अर्थवाद का रूप ले लेती हैं और अर्थवाद के सहारे विधि की भी कल्पना कहीं-कहीं की जाती है।

६३ वें मन्त्र में प्रस्तर और परिधि शब्द का अर्थ गलत किया गया है। वस्तुतः ये दोनों शब्द कुशमुष्टि और बाहुपरिमित काष्ठत्रय के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इसी तरह से ६४ वें मन्त्र में पूर्त शब्द का अर्थ भी सही नहीं है। ६५ वें मन्त्र में घृतधारा का तो विधान मिलता है, किन्तु वैदिक वाङ्मय में मधु की धारा का कहीं उल्लेख नहीं है। ६६ वें मन्त्र में जीव की सर्वव्यापकता का, घृत की प्रकाशकता का और अग्नि में हुत द्रव्य की अमृतता का उल्लेख है। जीव को अणुप्रमाण कहा गया है, घृत स्वयं प्रकाशशून्य है और अग्नि में दी गई आहुति तो नष्ट हो जाती है। आपके मत के अनुसार उससे अदृष्ट की उत्पत्ति भी नहीं होती। त्रिधातु और विमान पद का अर्थ भी यहाँ गलत है। ६८ वें मन्त्र में वृत्र पद का अर्थ वर्तमान शत्रु करने में कोई प्रमाण नहीं है। आवरक अज्ञान, मेघ या अन्धकार ही इसका अर्थ हो सकता है। ७१ वें मन्त्र में कुचर पद का कुटिल गति और मृग का सिंहतुल्य अर्थ भी काल्पनिक है। इसी तरह से आगे के मन्त्र में वैश्वानर और परावद् शब्दों का अर्थ भी प्रमाणरहित है। मनुष्य की स्तुति की अपेक्षा परमेश्वर की स्तुति में ही मन्त्रों का विनियोग उचित है। ७३ वें मन्त्र में उपमावाचक कोई पद नहीं है। ७४ वें मन्त्र में वाज पद का अर्थ संग्राम में विजय प्राप्त करना बताया है और मनुष्य की अजरता की चर्चा है। जिसका जन्म हुआ है, वह जरा आदि विकारों से अवश्य ग्रस्त होगा और वाज पद के उक्त अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है। ७६ वें मन्त्र में अग्नि पद का इन्द्र अर्थ करना भी प्रमाणशून्य है।

१९ वें अध्याय के पहले ही मन्त्र में बिना प्रमाण के वैद्य और ओषधी की चर्चा की गई है। यह शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन श्रौतसूत्र से समर्थित नहीं है। आयुर्वेद में ही वैद्य और ओषधी की चर्चा उचित है। धर्म और ब्रह्म के प्रतिपादक वेद से इनको निकालना सर्वथा असंगत है। दूसरे मन्त्र में हवि पद से सामान्य भोजन का ग्रहण किया गया है और मेघ से सोम की उत्पत्ति मानी गई है। वस्तुतः 'हवि' पद आहुति के अर्थ में प्रयुक्त है और सोम आदि की उत्पत्ति भूमि से होती है, मेघ से नहीं। इस पूरे अध्याय में सुरा और सोम की चर्चा है, किन्तु स्वामी दयानन्द ने नाना प्रकार की ओषधियों की और विद्वान् वैद्य की चर्चा मानी है। इसका उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। सुरा और सोम दो भिन्न पदार्थ हैं। इनकी एकता भी नहीं मानी जा सकती। १० वें मन्त्र में विदुषी राज्ञी के लिये विषूचिका विशेषण दिया गया है। लोक में यह शब्द एक बुरे रोग के लिये प्रयुक्त है। सामान्य स्त्री के लिये भी इसका प्रयोग हमारे लिये उद्वेगकारी हो सकता है। ११ वें मन्त्र में पितृ-ऋण से विमुक्ति की चर्चा एक दम निराधार है। फिर एक व्यक्ति के पुण्य-पाप किसी दूसरे व्यक्ति में संक्रान्त नहीं हो सकते। १२ वें मन्त्र में विसंगति यह है कि केवल वाणी से न तो रोग ही दूर हो सकते हैं और न ऐश्वर्य की प्राप्ति ही हो सकती है। अश्विनीकुमारों और सरस्वती की योजना यहाँ तीन वैद्यों के रूप में की गई हैं। इनमें दो पुरुष हैं और एक स्त्री। ऐसा करते समय इन्होंने प्रमाण नहीं दिया। मनमाना अर्थ करने का यही फल होता है कि कभी-कभी उसका जवाब देना भारी पड़ जाता है।

अगले मन्त्र में भी दीक्षा, प्रायणीय आदि वैदिक शब्दों का व्युत्पत्ति के सहारे मनमाना अर्थ किया गया है। मासर, नग्नहु, महावीर, परिस्रुत्, सरस्वती, आसन्दी, कारोतर, यूप आदि शब्दों के अर्थ भी पूरी तरह से वैदिक प्रसिद्धि के विपरीत किये गये हैं। इस तरह के निरर्थक प्रसंगों की चर्चा यहाँ मात्र विद्वानों के मनोविनोद के लिये और उनके कौतुक के लिये की गई है (पृ० २४६)। १९ वें मन्त्र में प्रैष, आप्री और अनुयाज शब्दों की भी यही स्थिति है। वषट्कार से आहुति प्राप्त नहीं होती, दी जाती है। पुरोडाश, आमिक्षा, वाजिन, धाय्या, प्रगाथ, उक्थ, सवन, इडा, व्रत, दीक्षा, दक्षिणा आदि सभी वैदिक शब्दों की यहाँ पूरी तरह से दुर्गति की गई है। इन सबका निरूपण करने के साथ यहाँ ३० वें मन्त्र में "तं परमेश्वरं धर्मं वा आप्यते" इस वाक्यगत अशुद्धि को दिखाया गया है। ३१ वें मन्त्र में सौत्रामणी जैसे प्रसिद्ध शब्द का अर्थ भी गलत किया है। ३२ वें मन्त्र में बताया गया है कि आपके मत से यज्ञ से केवल वायु-शुद्धि होती है। इस स्थिति में उससे वीरभाव की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? यज्ञ की अन्तरिक्ष में स्थिति भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि आप अदृष्ट को नहीं मानते। ३३ वें मन्त्र में आनन्द को ओषधि का रस बताना सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि यह तो आत्मा

का धर्म है। इस मन्त्र में सरस्वती का अर्थ विदुषी और अश्विनीकुमारों का अर्थ अध्यापक करके जो कुछ कहा गया है, वह अतीव हास्यास्पद है। ३६ वें मन्त्र के दयानन्दीय अर्थ की भी विचित्र स्थिति है। मृत पितरों के श्राद्ध की बात आप स्वीकार नहीं करते। जीवित पितरों के लिये स्वधा आदि शब्दों का उच्चारण निरर्थक है। शास्त्रीय पद्धति से मनुष्यों के लिये हन्तकार, पितरों के लिये स्वधाकार और देवताओं के लिये स्वाहाकारपूर्वक हवि आदि द्रव्य अर्पित किये जाते हैं। आपके मत में पितरों और देवताओं की कोई स्थिति नहीं है, तो फिर केवल मनुष्यों के लिये इन तीन तरह के शब्दों के प्रयोग का प्रयोजन क्या है? पितृकार्य अपसव्य होकर और देवकार्य उपवीती होकर किया जाता है। इसका भी कारण बताना होगा। मनुष्यों, देवों और पितरों में कोई भेद न करने से एक दोष यह भी आवेगा कि तब देवयान और पितृयान नामक दो मार्गों की क्या आवश्यकता है? फिर द्यावापृथिवी शब्द से माता-पिता के ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है। 'सृती' शब्द से देवयान और पितृयान का ही ग्रहण होता है, जननमरण का नहीं (पृ० २६९)।

४८वें मन्त्र में अग्नि पद से पति का ग्रहण करने में क्या प्रमाण है? अश्वमेध संम्बन्धी महीधर व्याख्या की अश्लीलता की स्वामी दयानन्द निन्दा करते हैं, किन्तु वे स्वयं स्थान-स्थान पर इस प्रकार का अश्लील अर्थ करते हैं, उसका यह मन्त्र एक उदाहरण है। यहाँ ६२वें मन्त्र में भी इसी प्रकार का अर्थ देखा जा सकता है। ४९वें मन्त्र में वृक शब्द का अर्थ चोर किया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसी तरह से यम शब्द की सन्तानार्थता भी अप्रसिद्ध है (पृ० २७३)। ५२वें मन्त्र में अविद्यमान 'यं तं माम्' पदों का अध्याहार अनावश्यक है। अगले मन्त्र में भी इसी तरह के अनेक पद अध्याहृत हैं। ५६वें मन्त्र की संस्कृत और हिन्दी व्याख्याएँ परस्परविरुद्ध हैं। ५८वें मन्त्र के 'अग्निष्वात्ताः' पद का और अगले मन्त्र के 'बर्हि' शब्द का अर्थ अपारम्परिक है। ६०वें मन्त्र के स्वधा पद की और अगले मन्त्र के नाराशंस पद की भी यही स्थिति है। ६३वें मन्त्र में दिवंगत पितरों की स्तुति की गई है, क्योंकि घुटने जोड़ कर दक्षिण दिशा में मुँह कर कुतप आदि का दान पितरों के लिये ही किया जाता है। स्वामी दयानन्द श्राद्ध, तर्पण आदि के विरोधी हैं। इसलिये ऐसे स्थलों पर इनको क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। हव्य और कव्य शब्द भी इनकी कल्पना के शिकार हो गये हैं। यहाँ (पृ० २८२) तो इनकी व्याकरणगत अशुद्धि भी उजागर होती है। ६६वें मन्त्र में हव्य और स्वधा शब्द का अर्थ यदि एक ही है, तब दोनों का एक साथ प्रयोग अनावश्यक है। चार्वाकों के सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना इस प्रकार के अर्थों की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। ६९वें मन्त्र में अविद्या और आवरण पद मन्त्र में हैं ही नहीं। अरुणी पद सुशील स्त्री का बोधक है, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है। ७०वे मन्त्र के अग्नि पद का अर्थ विद्यार्थी अथवा पुत्र किया गया है। स्थापन और संदीपन तो अग्नि का ही हो सकता है, पुत्र अथवा शिष्य का नहीं।

७४वें मन्त्र की व्याख्या में कितनी अस्पष्टता है, इसको उनकी वाक्यावली को उद्धृत कर दिखाया गया है। ७५वें मन्त्र में इन्होंने अन्ध और अन्धस् शब्दों को एक ही मान लिया है। यह स्थिति स्वजन और श्वजन, सकृत् और शकृत् को एक मान लेने के समान है। किसी भी कोशकार ने अन्धस् शब्द अन्धकारार्थक नहीं माना है। आगे के मन्त्रों में स्थित अन्धस् शब्द की भी यही स्थिति है। ७८वें मन्त्र में बताया गया है कि मन्त्रात्मक वेदभाग में विधि का उल्लेख नहीं है और विधि-निषेधप्रधान ब्राह्मणभाग को स्वामी दयानन्द वेद नहीं मानते। आगे के मन्त्रों में सौत्रामणी यागगत परिश्रुत्, सोम, सूत्र, शष्प, वेम, नग्नहु, नासत्य आदि शब्दों का काल्पनिक अर्थ किया गया है। ८७वें मन्त्र में कुंभ और कुंभी शब्द का अर्थ स्त्री और पुरुष किया गया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं है। ८९वें मन्त्र में 'अश्विनौ' पद से दम्पती के ग्रहण की भी यही स्थिति है। अश्लीलता ने इनका यहाँ भी पिण्ड नहीं छोड़ा है। अगले मन्त्र में अश्वि पद का अर्थ ढेर सारा खाने वाले स्त्री-पुरुष किया है। मन्त्रार्थ और भावार्थ की विसंगति और अस्पष्टता तो अनेक मन्त्रों में देखने को मिलती है। 'अङ्गान्यात्मन्' (१९।९३) मन्त्र में बिना प्रसंग के योगांगों का उल्लेख है और आत्मा के समाधान की चर्चा की गई है। वस्तुतः समाधान चित्त का होता है, आत्मा का नहीं। जैसा कि गंगालहरी में पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है—'समाधानं बुद्धेः'। इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र की स्थिति यह है कि अन्य अनेक मन्त्रों के समान यहाँ भी 'अश्विभ्याम्' पद से वैद्यों का ग्रहण

किया गया है। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि जब इस पद से लौकिक वैद्य का ग्रहण करना है, तो उस शब्द के साथ वेदों में सर्वत्र द्विवचन के जुड़े रहने की क्या संगति है ? सुतासुत शब्द की द्विवचनान्तता की भी यहाँ संगति नहीं बैठती। ब्राह्मण ग्रन्थों में तो यहाँ परिस्रुत् और पयस् का ग्रहण किया गया है। इसलिये इनके लिये क्रमशः सुत और असुत शब्दों का द्विवचनान्त प्रयोग शास्त्रसंगत है।

२०वें अध्याय का आरम्भ 'क्षत्रस्य योनिः' से होता है। यहाँ स्वामी दयानन्द ने क्षत्र का अर्थ राज्य किया है। वस्तुतः क्षत्र शब्द जातिविशेष में रूढ़ है। काशिका, सिद्धान्तकौमुदी और महाकवि कालिदास का प्रयोग—ये सब इसी अर्थ की पुष्टि करते हैं। मनुष्य मनुष्य की अपमृत्यु से रक्षा करने में असमर्थ है और इस तरह की प्रार्थना भी वीर पुरुषों के लिये उचित नहीं है। इसीलिये द्वितीय मन्त्र का अर्थ भी असंगत है। "पस्त्या' पद न्यायगृह के अर्थ में कहीं प्रयुक्त हुआ नहीं मिलता। छठे मन्त्र में अंगुलियों की मोद-प्रमोदरूपता असंगत है। सिद्धान्त पक्ष में तो सभी जड़ और अजड़ पदार्थों में ब्रह्म की भावना उसी प्रकार की जाती है, जैसे कि शालिग्राम में विष्णु की बुद्धि तथा स्त्री में अग्नि की बुद्धि। आगे के मन्त्रों के अर्थ में अखण्ड प्रतीकोपासना को न मानने के कारण असंगति रहेगी। सर्वत्र उद्देश्य और विधेय का भेद ही माना जाता है। आपके ऐसा न मानने से नवें मन्त्र का अर्थ असंगत हो जाता है। ११वें मन्त्र में आठ वसु, दस प्राण, जीवात्मा, बारह मास, विद्युत् और यज्ञ—३३ देवों के रूप में आपको मान्य हैं। इन सबकी रक्षा की सामर्थ्य मनुष्य में नहीं है। ११ रुद्रों की आपने भी चर्चा की है। यहाँ उनको छोड़ देने का क्या कारण है ? शस्त्र, स्तोत्र, पुरोनुवाक्या, याज्या, वाय्या, वषट्कार—ये सब वेदों के पारिभाषिक शब्द हैं। १३ वें मन्त्र में इनका मनमाना अर्थ किया गया है। यह सब भारतीय परम्परा के विपरीत है।

स्वामी दयानन्द ने देव पद का अर्थ सर्वत्र विद्वान् किया है। यह हाथ के लड्डू को छोड़ कर अंगुलियों को चाटने वाली कहावत को चरितार्थ करने वाला है। विद्वान् मनुष्य भी अन्य जीवों के जाग्रत् अथवा स्वप्नावस्था में किये गये अपराधों को क्षमा करने में असमर्थ है। 'उद्वयम्' (२०।२१) मन्त्र के अर्थ में भी विसंगति है, क्योंकि आपके मत से परमात्मा के नीरूप होने से उसकी चक्षुगोचरता असंभव है। हमारे मत में तो सूर्य का चक्षु से, हिरण्यश्मश्रुत्व आदि विशेषणों से संयुक्त परमात्मा का ध्यान से और नीरूप ब्रह्मज्योति का अपने प्रत्यगात्मस्वरूप से साक्षात्कार संभव है। आप तो आत्मा और परमात्मा का भेद मानने वाले हैं, अतः आपके यहाँ यह व्यवस्था संभव नहीं है। २२वें मन्त्र में जलविद्या की चर्चा का कोई आधार नहीं है। वेद में मधुर जलपान की चर्चा का भी क्या तुक हो सकता है। २३वें मन्त्र में अनेक पदों का निरर्थक अध्याहार किया गया है और स्वाहा पद का अर्थ भी पारम्परिक नहीं है। २४वें मन्त्र में समित्, श्रद्धा आदि पदों का अर्थ निराधार है। २७वें मन्त्र में आत्मगत अच्युत गन्ध और रस की चर्चा है। इसमें असंगति यह है कि एक तो आत्मा में इनकी स्थिति हो ही नहीं सकती, फिर ये भौतिक गन्ध और रस कभी अनश्वर नहीं हो सकते। २८ वें मन्त्र में 'किं त्वो वदति' का अर्थ असंगत है। अगले मन्त्र में करम्भ और इन्द्र पद की भी यही स्थिति है। ३०वें मन्त्र में मरुत् पद के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ दिया गया है। सत्य की वृद्धि असंगत है और परमात्मज्योति के नित्य होने से उसकी उत्पत्ति भी नहीं मानी जा सकती।

३१वें मन्त्र की 'पुनीहि' क्रिया सकर्मक है, अतः उसका 'पवित्रा भव' अर्थ नहीं किया जा सकता। ३३वें मन्त्र में अश्वि, इन्द्र और सुत्राम पदों का अर्थ असंगत है। ३५वें मन्त्र में वाक्यार्थ की असंगति है। ३८वें मन्त्र में 'हवि' पद का अर्थ 'सद्विद्यादान' किया है और मन्त्रों के द्वारा सेनापति के आह्वान का विधान है। मन्त्रों से तो देवताओं का आह्वान किया जाता है। ४०वें मन्त्र में इन्द्र की स्तुति है, किन्तु स्वामी दयानन्द यहाँ स्वयंवर का विधान बताते हैं। ४१वें मन्त्र में उषस्, पयस् आदि शब्दों का अर्थ निराधार है। सभी मनुष्य किसी शूरवीर का अनुगमन करें, यह भी जरूरी नहीं है, क्योंकि वीतराग मनुष्य के लिये इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। ४४वें मन्त्र में त्वष्टा पद का अर्थ 'विद्युत् के समान विद्वान्' किया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं है। ४५वें मन्त्र में वनस्पति शब्द के प्रसिद्ध अर्थ को

छोड़ कर 'वृक्ष समूह का पालक मनुष्य' अर्थ किया है। यह शब्दों के साथ खिलवाड़ ही तो है। ४६वें मन्त्र में 'घृतप्रुषा' पद का भी मनमाना अर्थ है। अगले मन्त्र में पूर्वी, तविषी आदि पदों की तथा ४८वें मन्त्र में तुर्वणि पद की भी यही स्थिति है। ४९वें मन्त्र में वज्री पद का अर्थ शस्त्रविद्याकुशल और हरि पद का सुशिक्षित अर्थ किया है। वह भी निष्प्रमाण है।

५२वें मन्त्र में इन्द्र पद का अर्थ 'पिता के समान वर्तमान' किया है और ५५वें मन्त्र के 'अश्विनौ' का स्त्री-पुरुष, धर्म का यज्ञ और इन्द्रिय का धन अर्थ किया है, किन्तु ऐसा करते समय कोश आदि का कोई प्रमाण नहीं दिया गया। ५६वें मन्त्र की भी यही स्थिति है। अश्विनौ, भिषजौ, नासत्यौ—ये सब शब्द देवताओं के वैद्यों के लिये प्रसिद्ध हैं, जो कि दोनों सदा एक साथ रहते हैं। इस अर्थ के अभाव में लौकिक वैद्य के साथ सदा दो संख्या के रहने का प्रयोजन बताना पड़ेगा। गौण अर्थ करने पर भी दो सुन्दर पुरुष तो अर्थ हो सकता है, किन्तु इससे स्त्री और पुरुष का ग्रहण किस आधार पर किया जायगा ? ५७वें मन्त्र में नग्न पद की व्युत्पत्ति और नराशंस पद का अर्थ पूरी तरह से हास्यास्पद है। ६२वें मन्त्र में इन्द्र का अर्थ सोमलता किया गया है। भावार्थ का इनके यहाँ मूल से कोई संबन्ध नहीं रहता, इस बात की चर्चा तो यहाँ बहुत जगह हो चुकी है। ६६वें मन्त्र में मासर पद की व्याख्या पूरी तरह से श्रुति और सूत्र के विरुद्ध है। ६७वें मन्त्र में नमुचि और इन्द्र पद का अर्थ भी बड़ा अनोखा है। ७०वें मन्त्र के पदों की ऐसी व्याख्या की गई है कि आपस में इन पदों की संगति ही ठीक से नहीं बैठ पाती। ७२वें मन्त्र में यूयं और प्राप्नोति पदों का व्यर्थ ही अध्याहार किया गया है। ७३वें मन्त्र में निर्दिष्ट 'हु' धातु की पुरुषार्थता में भी कोई प्रमाण नहीं है। कहाँ तक गिनाया जाय, स्वामी दयानन्द के किये अर्थ में सर्वत्र इसी तरह की विप्रतिपत्तियों के दर्शन होते हैं।

७४ वें मन्त्र के संस्कृत और हिन्दी अर्थों में परस्पर विरोध है। यहाँ सरस्वती का अर्थ सुवर्ण से व्यवहार करने वाली स्त्री किया है। इस तरह से वेदों को चार्वाक की झोली में डाल देने का यह एक अच्छा प्रयास है। यह बार-बार पूँछा जा चुका है कि वैद्यों के साथ सदा जो द्वित्व संख्या जुड़ी हुई है और सरस्वती पद का प्रयोग सदा एकवचन में होता है, इसका क्या कारण है ? इन्द्र पद की ऐश्वर्यार्थता में भी प्रमाण देना होगा। ७६ वें मन्त्र में मेघ की नित्यता बताई गई है। ग्रीष्म आदि ऋतुओं में मेघ की कोई स्थिति नहीं रहती, अतः उसमें तो प्रवाहनित्यता भी नहीं मानी जा सकती। ७८ वें मन्त्र में सोमपृष्ठ का अर्थ पूरी तरह से असंगत है। ८० वें मन्त्र में मनुष्यों के प्राण, नेत्र आदि के, धारण-सामर्थ्य की चर्चा की गई है, किन्तु प्राण आदि का धारण मनुष्य के अधीन नहीं है। ऐसा होता तो मनुष्य कभी मरता ही नहीं। ८४ वें मन्त्र में वाणी की विज्ञानाश्रयता बताई गई है, किन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो चिदात्मा का गुण है। ८७ वें मन्त्र का राजा की स्तुति में विनियोग बताया गया है। राजपूजा कोई धर्म का अंग नहीं है, जिसकी स्तुति में वेद की प्रवृत्ति मानी जाय। ८८ वें मन्त्र में ब्रह्म पद का अन्न और धन अर्थ किया है। क्या मनुष्य-जीवन की सार्थकता अन्न और धन के उपार्जन में ही है ? इस अध्याय के अन्तिम मन्त्र (२०।९०) में अश्वि पद के साथ सुत्रामा और वृत्रहा पदों का भी गौण अर्थ किया गया है। यह अनेक बार बताया जा चुका है कि मुख्यार्थ की सम्भावना के रहने पर गौण अर्थ करना ठीक नहीं है। सभी मनुष्यों को ओषधियों के रस के पान का उपदेश करने की कोई उपयोगिता भी नहीं है और न वह अश्विनीकुमारों की तरह सबको सुलभ ही है।

भाष्य के विशेष अवधेय अंश

१६ वें अध्याय के पहिले और दूसरे मन्त्र (पृ० ४-६, १०-११) में परमेश्वर के निर्गुण, निराकार स्वरूप के साथ सगुण, साकार स्वरूप की प्रतिष्ठा छान्दोग्य, बृहदारण्यक, केन आदि उपनिषदों, वाल्मीकिरामायण, महाभारत, पुराण और रामतापनीय, गोपालतापनीय, नृसिंहतापनीय, त्रिपुरातापनीय, गणेशाथर्वशीर्ष, सूर्योपनिषद् आदि के प्रमाण से की गई है। साथ ही ईश्वर के एकत्व एवं अनेकत्व से सम्बद्ध पक्षों का भी समाधान किया गया है। यहाँ (पृ० ६) भाष्यकार ने

बताया है कि इस विषय की जिनको विशेष जानकारी अपेक्षित है, वे भाष्यकार-रचित रामायणमीमांसा का अवलोकन करें। आगे १७ वें मन्त्र के भाष्य में अर्चिरादि और धूमादि मार्ग की तथा सद्योमुक्ति एवं क्रममुक्ति की चर्चा के साथ वृहदारण्यक उपदिष्ट तृतीय मार्ग की भी चर्चा है (पृ० ३२-३३)। २० वें मन्त्र में वृन्दारण्य, बदरिकारण्य और धर्मारण्य आदि पुण्यारण्यों की चर्चा है (पृ० ३८)। 'परि नो' (१६।५०) मन्त्र स्थित अघायु शब्द की व्युत्पत्ति यहां सम्भारपूर्वक दी गई है।

१७ वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में वाल्मीकिरामायण के प्रमाण से कोटि, शंकु आदि संख्याओं का स्वरूप बताया गया है। 'य इमा विश्वा भुवनानि' (१७।१७) मन्त्र का दार्शनिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। आचार्य उव्वट के अनुसार यहाँ ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का प्रतिपादन किया गया है। 'किं स्विद्वनम्' (१७।२०) मन्त्र में भी दार्शनिक प्रश्नों को उठाया गया है। वस्तुतः यहाँ के अनेक मन्त्रों में ब्रह्मविषयक प्रश्न-प्रतिवचनों के रहने से इन सबका दार्शनिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। आगे ७६ वें मन्त्र में सूर्मी शब्द के अर्थ के विषय में मनुस्मृति का प्रमाण देकर अच्छा विचार किया गया है। ७० वें मन्त्र में सात छन्दों, सात धामों (अग्नियों), सात होताओं और सात संस्थाओं का विवरण दर्शनीय है। इस अध्याय की 'चत्वारि शृङ्गाः' (१७।९१) आदि कई ऋचाओं का अपना दार्शनिक महत्त्व है। यहाँ वाणी की महिमा विशेष रूप से गाई गई है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक चार वाणियों का उल्लेख करने वाले इस मन्त्र की निरुक्त और महाभाष्य में ही नहीं, तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में भी विशेष रूप से व्याख्या की गई है।

१८ वें अध्याय के ३८ वें मन्त्र में बताया गया है कि पुरुष[1] देवता के लिये आहुति देते समय वषट्कार और स्वाहाकार का तथा स्त्री देवता के लिये केवल स्वाहाकार का उच्चारण किया जाता है। ४९ वें मन्त्र में स्वामी करपात्री जी महाराज ने निरुक्त के प्राचीन व्याख्याकार स्कन्दस्वामी के मत को उद्धृत कर उसमें अपनी अरुचि प्रदर्शित की है। इस प्रसंग में निरुक्त और व्याकरण की अलग-अलग भूमिकाओं का उल्लेख करते हुए स्वामीजी ने शाकटायन व्याकरण की भी चर्चा की है। यह प्रसंग विद्वानों के लिये विशेष रूप में विचारणीय है। १९ वें अध्याय के २५ वें मन्त्र में 'न्यूंख' पद पर विचार किया गया है और इसके उच्चारण के क्रम को शास्त्रीय पद्धति से दिखाया गया है। पाणिनि सूत्र (१।२।३४) काशिका, पदमञ्जरी, सायण आदि के मत को भी यहाँ दिखाया गया है। १७ वें अध्याय के १७ वें मन्त्र में धूमादिमार्ग और अर्चिरादि मार्ग की संक्षिप्त चर्चा हुई है। यहाँ (पृ० २६७-२६९) ब्रह्मसूत्र और शांकर भाष्य के आधार पर इन पर विस्तार से चर्चा की गई है। साथ ही आतिवाहिक मार्ग का भी उल्लेख है।

इस प्रकार यहाँ १६ से २० अध्यायों तक के मन्त्रभाष्य में विवेचित चतुर्विध विषयों को और विशेष अवधेय अंशों को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। इससे हिन्दी पाठकों को भी इस अतिविशिष्ट भाष्य के विषयों की अवश्य कुछ न कुछ जानकारी मिलेगी, ऐसा हमारा पूरा विश्वास है। भाष्य के शेष भागों को भी शीघ्र प्रकाशित करा देने के लिये हम सतत प्रयत्नशील हैं।

वाराणसी

माघी पूर्णिमा, संवत् २०४८

विद्वद्वशंवद

व्रजवल्लभ द्विवेदी

---

१. "स्वाहाकारवषट्काराभ्यां पुंसे हूयते, स्वाहाकारेणैव स्त्रीभ्यः" (भा०, पृ० १९५)।

विषय-सूची

अष्टादश अध्याय : वसोर्धारा तथा अन्य होम मन्त्र

एकोनविंश अध्याय : सौत्रामणी याग

विंश अध्याय । सौत्रामणी याग

षोडशोऽध्यायः

नम॑स्ते रुद्र म॒न्यव॑ उ॒तो त॒ इष॑वे॒ नमः॑। बा॒हुभ्या॑मु॒त ते॒ नमः॑ ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे दुःखनाशक रुद्र ! तुम्हारे क्रोध, बाण और हस्तों को हम प्रणाम करते हैं ॥ १ ॥

इतः पूर्वं पञ्चदशेऽध्याये चयनमन्त्रा उक्ताः। अस्मिन् षोडशेऽध्याये शतरुद्रियहोममन्त्रा उच्यन्ते। हिरण्यशकलैरग्निप्रोक्षणानन्तरं शतरुद्रियसंज्ञो होमः। 'अथातः शतरुद्रियं जुहोति' (श० ९।१।१।१) इत्युपक्रम्य 'स एषोऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानः' (श० ९।१।१।१) इत्यादिश्रुत्या बुभुक्षमाणस्याग्ने रुद्ररूपताव्याहरणात् तस्माद् भीतैर्देवैस्तत्तर्पणं कृतम्। तस्य आहवनीयाग्नौ होमे प्राप्ते तदपवादमाह कात्यायनः—'शतरुद्रियहोम उत्तरपक्षस्यापरस्यां स्रक्त्यां परिश्रित्स्वर्कपर्णेनार्ककाष्ठेन शातयन्त्सन्ततं जर्तिलमिश्रान् गवेधुकासक्तूनजाक्षीरमेके तिष्ठन्नुदङ् नमस्त इत्यध्यायेन, त्र्यनुवाकान्ते स्वाहाकारो जानुमात्रे, पञ्चान्ते नाभिमात्रे, प्राक् च प्रत्यवरोहेभ्यो मुखमात्रे, प्रतिलोमं प्रत्यवरोहान् जुहोति प्रमाणेषु नमोऽस्त्विवति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १८।१।१-५) इति। उत्तरपक्षस्य वायव्यकोणे पूर्वं निखातासु जङ्घामात्र्याद्यासु परिश्रित्सु शतरुद्रियसंज्ञको होमः कार्यः। तत्प्रकारमाह—जर्तिलमिश्रितान् गवेधुकासक्तून् दक्षिणहस्तस्थितेन जुहूस्थानीयेन तिष्ठन्नुदङ्मुखोऽध्वर्युर्नमस्त इत्यध्यायेन जुहोति। किं कुर्वन् ? तान् सक्तूनर्ककाष्ठेन सव्यहस्तधृतेन परिश्रित्सु पातयन्। एके आचार्या अत्र अजाक्षीरं जुह्वति, न जर्तिलमिश्रितान् गवेधुकासक्तून्। जर्तिला आरण्यतिलाः। गवेधुका आरण्यगोधूमा इति प्रथमसूत्रार्थः। अत्र नाहवनीय इति शेषणीयम्। 'नमस्ते' इति षोडशर्चः प्रथमोऽनुवाकः। ततः पञ्चभिः पञ्चभिः

भाष्यभाषानुवाद

इसके पूर्व पन्द्रहवें अध्याय में चयन-मन्त्र कहे गये हैं। इस सोलहवें अध्याय में शतरुद्रिय होम के मन्त्र बताये जा रहे हैं। हिरण्य-शकलों से अग्निप्रोक्षणानन्तर शतरुद्रियसंज्ञक होम होता है। 'अथातः शतरुद्रियं जुहोति' ऐसा उपक्रम कर 'स एषोऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानः' इस ब्राह्मण-श्रुति ने बुभुक्षमाण अग्नि की रुद्ररूपता बताई है। उस कारण भयभीत हुए देवताओं ने उसको तृप्त किया है। उसका आहवनीय अग्नि में होम प्राप्त होने पर 'कात्यायन' महर्षि उसका अपवाद बताते हैं—उत्तर पक्ष के वायव्य कोण में पूर्व से निखात की हुई जंघामात्र परिमाण की परिश्रित् में शतरुद्रियसंज्ञक होम करना चाहिये। उसका प्रकार बताते हैं—जर्तिलमिश्रित गवेधुका सक्तु की दक्षिण हस्त में स्थित जुहूस्थानीय 'नमस्ते' इस अध्याय से उदङ्मुख खड़े होकर अध्वर्यु आहुति देता है। क्या करते हुए ? सव्य हस्त में लिये हुए अर्ककाष्ठ से उन सक्तुओं को परिश्रित् में गिराते हुए। अन्य आचार्य यहाँ पर अजाक्षीर की आहुति देना बताते हैं, जर्तिलमिश्रित गवेधुका सक्तुओं की नहीं। आरण्य तिलों को जर्तिल कहते हैं। आरण्य गोधूमों को गवेधुक कहते हैं। इस प्रकार प्रथम सूत्र का अर्थ है। यहाँ 'नाहवनीये' यह शेष रखना चाहिये। 'नमस्ते' यह सोलह ऋचाओं का प्रथम अनुवाक है। उसके पश्चात् पाँच-पाँच कण्डिकाओं के दो अनुवाक हैं। इन छब्बीस कण्डिकाओं के अन्त में जानुमात्र परिमाण के परिश्रित् में स्वाहाकार करना चाहिये। यह द्वितीय सूत्र का अर्थ है।

तदनन्तर ग्यारह कण्डिकाओं के चतुर्थ और पंचम दो अनुवाक हैं। उनकी समाप्ति पर 'सुधन्वने च' जब कहा जाय, तब नाभिपरिमाण के परिश्रित् में स्वाहाकार करना चाहिये। यह तृतीय सूत्र का अर्थ है। 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यः' ये

कण्डिकाभिरनुवाकद्वयम् । एवं च षड्विंशतिकण्डिकानामन्ते जानुमात्रे परिश्रिति स्वाहाकारो विधेय इति द्वितीयसूत्रार्थः । तत एकादशभिः कण्डिकाभिश्चतुर्थपञ्चमावनुवाकौ । तदन्ते सुधन्वने चेत्यत्र नाभिमात्रे परिश्रिति स्वाहाकारः कर्तव्य इति तृतीयसूत्रार्थः । नमोऽस्तु रुद्रेभ्य इति तिस्रः कण्डिकाः प्रत्यवरोहाः । तेभ्यः प्राग् मुखमात्रे परिश्रिति स्वाहाकारः कर्तव्य इति चतुर्थसूत्रार्थः । नमोऽस्त्विति कण्डिकात्रयेण प्रतिलोमं होमः । 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि' इति मुखमात्रे, 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे' इति नाभिमात्रे, 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्याम्' इति जानुमात्र इति पञ्चमसूत्रार्थः ।

अस्याध्यायस्य परमेष्ठिदेवप्रजापतयः ऋषयः । 'मा नो महान्तम्, मा नस्तोके' इत्यनयोः कुत्सोऽपि ऋषिः । अत्र प्रथमैः षोडशर्वोऽनुवाक एकरुद्रदेवत्यः । आद्या गायत्री, तिस्रोऽनुष्टुभः, तिस्रः पङ्क्तयः, सप्तानुष्टुभः, द्वे जगत्यौ । अथ कण्डिकार्थः—यजमानाः, ऋत्विजः, अन्ये वा भक्ता भगवन्तं नानारूपेण स्तुवन्ति । हे रुद्र परमेश्वर ! रोदयतीति रुत् तापत्रयात्मकं संसारदुःखम्, दुःखहेतुर्वा—'रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा द्रावयत्येव नः प्रभुः । रुद्र इत्युच्यते सद्भिः शिवः परमकारणम् ॥ अशुभं द्रावयन् रुद्रो यज्जहार पुनर्भवम् ॥' इदं वचनं 'रुद्र जलाष भेषज' (अ० सं० २।२७।६) इति मन्त्रव्याख्याने सायणेनोद्धृतम् । तथा हि तदीयं वचनम्—'अथवा रुद् रोदनकरं सांसारिकं दुःखम्, तद्धेतुभूतामविद्यां वा द्रावयति विनाशयतीति रुद्रः । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा तद् द्रावयति नः प्रभुः । रुद्र इत्युच्यते तस्मात् शिवः परमकारणम् ॥' इति । एवं च अशुभं द्रावयन् रुद्रः, भवं जन्ममरणाविच्छेदलक्षणं संसारमपहरन् हर इति स एव गीयते । यद्वा रुद् दुःखं पीडा रोगो विपत्तिर्वा, तद् द्रावयतीति रुद्रः, परमेश्वराश्रयणादेव दुःखाब्धिसन्तरणसम्भवात्, तत्सम्बुद्धौ । यद्वा रवणं रुत् । 'रु शब्दे' । शब्दस्य ज्ञान एव पर्यवसानम्, शक्तिग्रहादेः शब्देनैव जायमानत्वात् । रुद् ज्ञानं स्वात्मसाक्षात्काररूपं राति ददातीति रुद्रः, ज्ञानप्रद इत्यर्थः । 'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' (कठो० १।२।२३) 'ददामि बुद्धियोगं तं

तीन कण्डिकाएँ 'प्रत्यवरोह' हैं । उनसे पूर्व मुखमात्र के परिश्रित् में स्वाहाकार करना चाहिये । यह चतुर्थ सूत्र का अर्थ है । 'नमोऽस्तु' इन तीन कण्डिकाओं से प्रतिलोम होम करना चाहिये । 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि' से मुखपरिमाण वाले, 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे' से नाभि परिमाण वाले, और 'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्याम्' से जानुपरिमाण वाले परिश्रित् में स्वाहाकार करना चाहिये । यह पंचम सूत्र का अर्थ है ।

इस अध्याय के परमेष्ठी, देव, प्रजापति ऋषि हैं । 'मा नो महान्तम्', 'मा नस्तोके' इन दो के कुत्स भी ऋषि हैं । इनमें प्रथम सोलह ऋचाओं का एक अनुवाक है और एकरुद्र देवता है । आद्या गायत्री, तीन अनुष्टुप्, तीन पंक्ति, सात अनुष्टुप् छन्द की और दो जगती छन्द की ऋचाएँ हैं ।

कण्डिका का अर्थ यह है—यजमान, ऋत्विक् अथवा अन्य भक्तगण भगवान् की अनेक रूपों में स्तुति करते हैं । हे रुद्र परमेश्वर ! यह वचन 'रुद्र जलाष भेषज'— इस अथर्ववेद के मन्त्र की व्याख्या में सायणाचार्य ने उद्धृत किया है । वह उनका वचन इस प्रकार है—'अथवा रुद् रोदनकरं सांसारिकं दुःखम्, तद्धेतुभूतामविद्यां च द्रावयति विनाशयतीति रुद्रः । तदुक्तं वायवीयसंहितायाम्—'रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा तद् द्रावयति नः प्रभुः । रुद्र इत्युच्यते तस्मात् शिवः परमकारणम् ॥' इति । एवं च अशुभ को जो खदेड़ देता है, उसे रुद्र कहते हैं । भव अर्थात् जन्म-मरण के अविच्छेद लक्षण संसार का अपहरण करनेवाला 'हर' कहलाता है, अतः उसी को गाया जाता है । 'रोदयतीति रुत्, तापत्रयात्मक संसारदुःख, अथवा दुःखहेतु । कहा भी है—'रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा द्रावयत्येव नः प्रभुः । रुद्र इत्युच्यते सद्भिः शिवः परमकारणम् ॥ अशुभं द्रावयन् रुद्रो यज्जहार पुनर्भवम् ॥' इति । इस रीति से अशुभ को नष्ट कर अपुनर्भव को जो प्राप्त कराता है, वह रुद्र ही है । अथवा 'रुत्' यानी दुःख-पीडा-रोग अथवा विपत्ति को जो विनष्ट करता है, वह रुद्र है । परमेश्वर का आश्रय करने से ही दुःखसागर से पार होना संभव है । उसके संबोधन के एकवचन में हे रुद्र ! कहा गया है । अथवा 'रवणं रुत्', 'रु शब्दे'

येन मामुपयान्ति ते' (भ० गी० १०।१०) इति श्रुतिस्मृतिभ्याम्, तत्सम्बुद्धौ। यद्वा रुतिर्वेदरूपा वाणी, तया द्रावयति बोधयति धर्मब्रह्मादीति रुद्रः, 'द्रु गतौ', तत्सम्बुद्धौ। यद्वा रुत्या प्रणवरूपया वाण्या द्रावयति प्रापयति स्वात्मानमिति रुद्रः, तत्सम्बुद्धौ। अथवा रोरूयमाणो द्रवति प्रविशति मर्त्यानिति रुद्रः शिव उच्यते। रोधिकां बन्धिका च शक्तिरेव रुत्, तां भक्तेभ्यो द्रावयति अपसारयति स रुद्रः, तत्सम्बुद्धौ। अथवा रुत् शब्दं वेदात्मानं कल्पादौ ब्रह्मणे ददातीति रुद्रः, 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० उ० ६।१८) इति श्रुतेः, तत्सम्बुद्धौ।

अथवा पातकिनो जनान् दुःखभोगदानेन रोदयतीति रुद्रः परमात्मा, शुभकर्मणामिवाशुभकर्मणामपि तस्यैव फलदातृत्वात्। 'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं''''उन्निनीषते''''एवैनमसाधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते (कौ० ब्रा० उ० ३।८), 'फलमत उपपत्तेः' (ब्र० सू० ३।२।३८) इति श्रुतिसूत्राभ्याम्। तस्यैव रुद्रस्य अंशभूतो रुद्रो ब्रह्मणो जातो रुरोदेति पौराणिकाः, 'सोऽरोदीद्यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै० सं० १।५।१।१) इति श्रुतेश्च, तत्सम्बुद्धौ। अथवा एकादशेन्द्रियाधिष्ठातृदेवतरूपेण तस्य पूर्वदेहाद् देहान्तरगमनेन जनानां रोदनहेतुत्वादपि रुद्रः। एकादशत्वं चापि तेनैव, 'सर्वात्मनोऽन्तःकरणं गिरित्रम्' (भा० पु० २।१।३५) इति श्रीम-

---

यहाँ शब्द से तात्पर्य 'ज्ञान' ही समझना चाहिये, क्योंकि शक्तिग्रह आदि शब्द से ही हुआ करते हैं। एवं च 'रुत्' यानी ज्ञानम्, अर्थात् स्वात्मसाक्षात्काररूपं राति ददाति इति 'रुद्रः'। तात्पर्य यह है कि स्वात्मसाक्षात्काररूप ज्ञान को देनेवाला 'रुद्र' है, अर्थात् वह 'ज्ञानप्रद' है। 'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्' अर्थात् यह आत्मा उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देती है। उसी तरह 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' ये श्रुति और स्मृति के वचन उपर्युक्त कथन का समर्थन करते हैं।

अथवा 'रुतिः' वेदरूपा वाणी, उसके द्वारा जो द्रावयति यानी बोधयति = ज्ञान करा देता है, धर्म, ब्रह्म आदि का, उसे 'रुद्र' कहते हैं। 'द्रु गतौ' धातु से यह अर्थ निकलता है। उसकी संबुद्धि में यह एकवचन है—हे रुद्र! अथवा 'रुत्या प्रणवरूपया वाण्या = प्रणवरूप वाणी के द्वारा, द्रावयति = प्रापयति स्वात्मानम् = आत्मतत्त्व के प्रति जो पहुँचा देता है, उसे 'रुद्र' कहते हैं, उसके संबोधन में हे रुद्र! कहा गया है।

अथवा 'रोरूयमाणो द्रवति प्रविशति मर्त्यान् इति रुद्रः', अर्थात् जो मर्त्यों को देखता हुआ उनमें प्रवेश करता है, उसे 'रुद्र' यानी 'शिव' कहते हैं। रोधिका और बन्धिका शक्ति को ही 'रुत्' कहते हैं, उस शक्ति को जो अपने भक्तों से दूर करता है, उसे 'रुद्र' कहते हैं। उसके संबोधन का रूप 'हे रुद्र' है।

अथवा 'रुत् शब्दं वेदात्मानं कल्पादौ ब्रह्मणे ददातीति रुद्रः', अर्थात् रुत् = वेदात्मक शब्द को कल्प के आरंभ में ब्रह्मा के लिये जो देता है, उसे 'रुद्र' कहते हैं। क्योंकि भगवती श्रुति कह रही है—'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वे० उ० ६।१८)। उसका संबोधन में हे रुद्र! रूप है।

अथवा 'पातकिनो जनान् दुःखभोगदानेन रोदयतीति रुद्रः', अर्थात् पातकी लोगों को दुःखभोग दिलाकर जो रुलाता है, उसे रुद्र कहते हैं। जो पुण्यवान् या पापी रहते हैं, उनसे वैसे ही कर्म वह करवाता है, यह बात श्रुति-स्मृति के वचनों से अवगत होती है। उसी रुद्र का अंशभूत रुद्र ब्रह्मा से उत्पन्न होकर रोने लगा, ऐसा पौराणिकों ने बताया है। 'सोऽरोदीद्यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै० सं० १।५।१।१) यह श्रुतिवचन भी उसी बात को बता रहा है। उसके संबोधन में हे रुद्र! रूप निष्पन्न होता है।

अथवा ग्यारह इन्द्रियों की अधिष्ठात्री देवता के रूप में उसके पूर्व शरीर से शरीरान्तर में जाकर लोगों के रुदन में जो कारणीभूत होता है, उसे रुद्र कहते हैं। उसकी एकादश संख्या भी उसी से होती है। श्रीमद्भागवत में अहङ्कार के

द्भागवतेऽहङ्काररूपेणोपास्यत्वाभिधानात्। तथा चाह श्रीतोटकाचार्यः–'यदि सा न भवेज्जनमोहकरी व्यवहारमिमं न जनोऽनुभवेत्' इति। सा अहङ्कृतिरित्यर्थः, तत्सम्बुद्धौ। ते तव सम्बन्धिने मन्यवे क्रोधाय नमो नमस्कारोऽस्तु। उतो अपि च ते तव सम्बन्धिने इषवे काण्डाय शराय वा नमो नमस्कारोऽस्तु। उत अपि च ते तव सम्बन्धिभ्यां बाहुभ्यां नमो नमस्कारोऽस्तु। तव क्रोधबाणहस्ता अस्मदरिष्वेव प्रसरन्तु, नास्मास्वित्यर्थः।

तस्य परमेश्वरस्य निर्गुणत्वे निराकारत्वे च सत्यपि लोकसंचालनाय भक्तहिताय च सगुणत्व-साकारत्वादिकं च। अनन्तानन्तब्रह्माण्डनिर्माणक्षमस्य तस्य दिव्यगुणविग्रहादिधारणे सुतरां सक्षमत्वम्। न चैतावतापि सगुणत्वनिर्गुणत्वयोः साकारनिराकारत्वयोश्च विरोधः, समानसत्ताकयोरेव भावाभावयोर्विरोधो न विषमसत्ताकयोरिति न्यायस्य सुप्रसिद्धत्वात्। अत एव व्यावहारिकसत्ताकरजताभाववत्यामपि शुक्तिकायां प्रातिभासिकसत्ताकं रजतं भवत्येव। तथैव भगवत्स्वरूपसत्तापेक्षया किञ्चिन्न्यूनसत्ताकानां दिव्यगुणलीलाविग्रहादीनां सत्त्वे बाधाभावः। न च सत्यत्वे भेदाभावान्न वैषम्यमिति वाच्यम्, 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० उ० ६।१।४), 'आप इत्येव सत्यम्', 'तेज इत्येव सत्यम्' इति श्रुतिषु सत्यभेदश्रवणात्। यथा साधारणराजापेक्षया राजराजस्य वैशिष्ट्यम्, तथैव 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' (बृ० उ० २।१।२०) इति भगवतः श्रोत्रस्य श्रोत्रत्ववत्, मनसा मनस्त्ववत् सत्यानां सत्यत्वश्रवणात्। तथा च रामायणे—'सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः। श्रियाः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमा क्षमा। (वा० रा०, अ० ४४।१५)। यथा नित्यनिरतिशयदाहकत्वप्रकाशकत्ववतो वह्नेः प्रसादादेव अयस्पिण्डादौ सातिशयानित्यदाहकत्वादिकं भवति, यथा वा नित्य-

---

रूप में उसे उपास्य बताया है। इसी बात को श्री तोटकाचार्य भी बता रहे हैं—'यदि सा न भवेज्जनमोहकरी व्यवहारमिमं न जनोऽनुभवेत्' इति। यहाँ 'सा' शब्द से अहंकृति समझनी चाहिये। उसकी सम्बुद्धि में 'हे रुद्र' रूप बना है। हे रुद्र! तुम्हारे क्रोध को मेरा प्रणाम रहे। उसी तरह तुम्हारे काण्ड अथवा शर को मेरा प्रणाम रहे। तुम्हारे दोनों बाहुओं को मेरा प्रणाम रहे। अर्थात् तुम्हारे क्रोध, बाण और हाथ हमारे शत्रुओं पर ही चलें, हम पर नहीं।

उस परमेश्वर की निर्गुणता, निराकारता रहने पर भी लोकसंचालनार्थ और भक्त जनों के कल्याणार्थ उसकी सगुणता, साकारता भी हुआ करती है। अनन्त अनन्त ब्रह्माण्डों के निर्माण करने में समर्थ रहने वाले उस परमात्मा की दिव्यगुणविग्रह धारण करने में भी पूर्णरूपेण क्षमता है। उस कारण उसके सगुणत्व-निर्गुणत्व, साकारत्व-निराकारत्व के स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं होना चाहिये। 'समानसत्ता वाले भाव-अभाव का विरोध हुआ करता है, विषमसत्ताक भाव-अभाव का विरोध नहीं है'—यह नियम तो सर्वत्र सुप्रसिद्ध ही है। अत एव व्यावहारिकसत्ताक रजतभाव वाली शुक्तिका पर भी प्रातिभासिकसत्त्यक रजत की प्रतीति होती ही है। उसी तरह भगवत्स्वरूप की सत्ता की अपेक्षा किञ्चित् न्यूनसत्ता वाले दिव्यगुण लीलाविग्रह आदि के होने में कोई किसी तरह का बाध होता दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। सत्य में भेद न रहने से वैषम्य के अभाव की शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि श्रुति ने अनेक वचनों के द्वारा सत्य में भी भेद बताया है—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा० उ० ६।१।४), 'आप इत्येव सत्यम्', 'तेज इत्येन सत्यम्' इति। जैसे साधारण राजा की अपेक्षा राजाधिराज को विशेषता रहती है, तथैव 'प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्' (बृ० उ० २।१।२०) इस वचन से भगवान् के 'श्रोत्रस्य श्रोत्रत्वम्', 'मनसो मनस्त्वम्' के समान 'सत्यानां सत्यत्वम्' भी सुना जाता है। उसी तरह रामायण में कहा भी है—'सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः। श्रियाः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमा क्षमा॥' (वा० रा०, अयो० ४४।१५)।

जैसे नित्य निरतिशय दाहकत्व प्रकाशत्व धर्म वाले अग्नि के अनुग्रह से ही अयःपिण्ड आदि में अत्यधिक अनित्य दाहकत्व आदि धर्म प्राप्त होते हैं, अथवा नित्य निरवद्य स्वप्रकाश चैतन्य के अनुग्रह से ही श्रोत्र आदि की वृत्तियों में अपने विषय का प्रकाशत्व होता है, उसी तरह पारमार्थिक सत्त्व-रजस्-तमस् गुणों के सत्य होने से ही माया और उसके कार्यभूत

निरवद्यस्वप्रकाशचितीऽनुग्रहेणैव श्रोत्रादिवृत्तिषु स्वविषयावद्योतकत्वं भवति, तथैव पारमार्थिकसतो भगवतः सत्यत्वेनैवं मायातत्कार्यस्य निखिलप्रपञ्चस्य सत्यत्वम्। भगवदीयगुणविग्रहादयस्तु भगवतः परमान्तरङ्गदिव्य-शक्तिमयत्वाद् भगवत्स्वरूपमया एव। अत एवास्मिन् मन्त्रे भगवतः क्रोधोऽपि वन्द्यते, घातकः शरोऽपि नमस्क्रियते, किमु वक्तव्यं स्वरूपभूतस्य बाह्वोः पूजायाम्। 'नमो हिरण्यबाहवे', 'नीलग्रीवाः' इत्यादिश्रुतिशतैर्भगवतो दिव्य-विग्रहवत्त्वं सगुणसाकारत्वं डिण्डिमघोषेणोद्घोषितम्। एतेन वेदेषु विग्रहवत्त्वं भगवतः परमेश्वरस्य नोपवर्णित-मित्यपास्तम्, एकस्यैव परमेश्वरस्य शिवविष्णुशक्तिसूर्यगणपतिरामकृष्णनृसिंहादिरूपेण तत्र तत्र भूयस्सु शास्त्रेषु वर्णनात् समेषामैकात्म्यमेव मन्तव्यम्, मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु रामतापनीय-गोपालतापनीय-नृसिंहतापनीय-त्रिपुरा ताप-नीय-गणेशाथर्वशीर्ष-सूर्योपनिषदादिषु च समेषां परमेश्वरत्व-निर्गुणत्व-निराकारत्व-सगुणसाकारत्वादिप्रतिपादनात्, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठो० १।२।१५), 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (भ० गी० १५।१५), 'वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ। आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥ ९३॥' (हरिवंशेऽन्तिमेऽध्याये) इत्यादिश्रुति-स्मृतिपुराणैरेकस्यैव तत्तद्रूपेण वर्णनात्।

अनेकेषामीश्वरत्वं न सम्भवत्येव। यद्यनेके ईश्वरास्तदा तैः परस्परं संमतिं संगृह्य जगदुत्पादनपालन-संहाररूपाणि कार्याणि सम्पादनीयानि, स्वातन्त्र्येण वा? नाद्यः पक्षः, अनेकेषामीश्वराणां काचित् समितिः, तत्र न कश्चनापि सत्यसङ्कल्पः, कश्चनापि न सर्वशक्तिमान्, कश्चनापि न स्वतन्त्रः, समितेः पराधीनत्वात्। तथा च न कस्यापीश्वरत्वम्। नापि द्वितीयः, उत्पादन-पालन-संहाररूपेषु कार्येषु परस्परं विभिन्नेषु प्रत्येकं भिन्ने सङ्कल्पे जाते समानबलत्वेन न कस्यचनैकस्यापि सिद्धिः, किन्तु सर्वोऽपि सङ्कल्पो विध्वंसेत। अतो यस्य स्वातन्त्र्येण

सम्पूर्ण प्रपंच का सत्यत्व है। भगवदीय गुण, विग्रह आदि तो भगवान् के परम अन्तरंग दिव्य शक्तिमय हैं, भगवत्स्वरूपमय ही हैं। अत एव इस मन्त्र में भगवान् के क्रोध को भी प्रणाम किया जा रहा है, घातक शर (बाण) को भी नमस्कार किया जा रहा है, तब पूजा में भगवत्स्वरूप उनकी भुजाओं के विषय में कहना ही क्या है। 'नमो हिरण्यबाहवे', 'नीलग्रीवाः' इत्यादि शतशः श्रुतिवचनों ने भगवान् के दिव्यविग्रहवत्त्व, सगुण-साकारत्व की डिण्डिमघोषपूर्वक घोषणा की है। यह कहने से 'वेदों ने भगवान् परमेश्वर का विग्रहवत्त्व (साकारत्व) नहीं बताया है', इस कथन का खण्डन पूर्णरूप से हो जाता है। शास्त्रों में यत्र-तत्र पुनः पुनः एक ही परमेश्वर का शिव-विष्णु-शक्ति-सूर्य-गणपति-राम-कृष्ण-नृसिंह आदि के रूपों में वर्णन किया गया है। अतः सभी को एकरूप ही समझना चाहिये। मन्त्रों में, ब्राह्मणों में तथा रामतापनीय, गोपालतापनीय, नृसिंहतापनीय, त्रिपुरातापनीय, गणेशाथर्वशीर्ष, सूर्योपनिषद् आदि ग्रन्थ सभी का परमेश्वरत्व, निर्गुणत्व, निराकारत्व, सगुण-साकारत्व बता रहे हैं। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठ० १।२।१५), 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (भ० गी० १५।१५), तथा— 'वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ। आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते'॥ ९३॥—(हरिवंश, अन्तिमाध्याय में) इत्यादि श्रुति, स्मृति और पुराणों ने उस एक ही परमेश्वर का अनेक रूपों में वर्णन किया है।

अनेक व्यक्तियों में ईश्वरत्व का होना संभव नहीं है। यदि अनेक ईश्वरों को स्वीकार किया जाय, तो क्या वे परस्पर एक-दूसरे की संमति लेकर सृष्टि (जगत्) के उत्पादन, पालन, संहारात्मक कार्यों का सम्पादन करते हैं? या प्रत्येक ईश्वर किसी की संमति लिये बिना ही स्वतन्त्र रूप से उन कार्यों को करता है? इनमें प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि अनेक ईश्वरों की ऐसी कोई एक समिति बनी हुई नहीं है। यदि कोई एक समिति है, ऐसा मान भी लें, तो उसमें कोई एक व्यक्ति सत्यसंकल्प हो या सर्वशक्तिमान् हो, यह भी नहीं कहा जा सकता और समिति का कोई व्यक्ति स्वतन्त्र भी नहीं है, क्योंकि सभी समिति के पराधीन हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि समिति के किसी व्यक्ति में ईश्वरत्व नहीं है। उसी तरह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पादन, पालन, संहार के कार्यों में परस्पर विभिन्नता रहने से तद्विषयक प्रत्येक व्यक्ति का संकल्प (इच्छा) भी भिन्न-भिन्न हो सकता है। प्रत्येक के भिन्न-भिन्न संकल्प होने पर किसी का भी संकल्प सफल नहीं

सर्वशक्तिमत्त्वं सर्वज्ञत्वं सर्वकारणत्वं च निरङ्कुशं स्यात्, तस्यैव परमेश्वरत्वमुपपन्नम्। अन्येषां देवानामपि विग्रहवत्त्वं मन्त्रैर्ब्राह्मणैश्च सिद्धयत्येव। 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' (तै० ब्रा० २।७।३।२) इत्यादिभिः श्रुतिभिः, देवताधिकरणादौ च ब्रह्मसूत्रभाष्ये प्रतिपादनात्। विस्तरस्तु अस्मत्कृतरामायणमीमासायां द्रष्टव्यः।

यद्यपि भगवान् रुद्रः शिवः शान्तोऽघोरो दयालुरेव, तथापि प्राणिनां कर्मवैचित्र्यात् तत्फलप्रदानाय सत्त्वादिगुणाश्रयेण दयापरवशस्यापि परमेश्वरस्य क्रोधवत्त्वसम्भवात्। यद्यपि सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात् परमानन्दरूपतैव भगवतः, तथाप्यविदुषां समुद्यतस्य वज्रस्येव भयहेतुत्वमपि, वायु-सूर्य-कालादीनामपि तद्भीत्यैव नियमेन प्रवृत्तिमत्त्वात्। तथा च श्रुतिः—'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥' (तै० उ० २।८), 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (कठो० २।६।२), 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' (तै० उ० २।७) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

यथा कारुणिकस्य चिकित्सकस्य आतुरहितायैव तीक्ष्णशस्त्रेण तदीयव्रणच्छेदे प्रवृत्तिः, तथैव प्राणिनां हितायैव भगवदीयः क्रोधोऽपि। 'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः'[1] इति स्मरणात्। तथैव तदीयबाणादयोऽपि। महाप्रलयेऽपि पापतापाद्युपतप्तजीवानां महासुप्तिसम्पादनेन प्रलयस्य अनन्तसत्त्वविश्रान्तिपर्यवसायित्वात्। तथा च भगवदीयो बाहुरेव न कल्याणमयः, किन्तु तस्य क्रोधशरादयोऽपि कल्याणमया वन्दनीयाश्च।

हो पावेगा, सभी के संकल्प ध्वस्त हो जायंगे, क्योंकि कोई भी ईश्वर व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से दुर्बल नहीं है, सभी समान बल वाले हैं। अतः यही स्वीकार करना होगा कि जिसका स्वतन्त्र सर्वशक्तिमत्व, सर्वविध बलशालित्व और सर्वकारणत्व निरंकुश हो, वही परमेश्वर है, उसी में परमेश्वरत्व उपपन्न हो सकता है। अन्य देवताओं का विग्रहवत्त्व (शरीरधारित्व) मन्त्र-ब्राह्मणात्मक श्रुति से सिद्ध ही है। जैसे—'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्' (तै० ब्रा० २।७।३।२) इत्यादि श्रुतिवचनों के द्वारा तथा ब्रह्मसूत्र के भाष्य में देवताधिकरण के द्वारा बताया गया है। इसी प्रसंग को विस्तार से जानना हो, तो हमारी (पूज्यपाद स्वामी करपात्रीजी महाराज द्वारा विरचित) 'रामायण मीमांसा' को देखना चाहिये।

यद्यपि भगवान् रुद्र शिव, शान्त, अघोर दयालु ही हैं, तथापि प्राणियों के कर्मवैचित्र्य से तत्तत् कर्मों का फल देने के लिये सत्त्वादि गुणों का आश्रय कर दयालु होने पर भी परमेश्वर को भी क्रोध आना संभव है। यद्यपि भगवान सभी प्राणियों के परप्रेमास्पद होने से परमानन्दरूप ही हैं, तथापि समुद्यत हुए वज्र के तुल्य अविद्वानों के लिये वह भयहेतु भी हैं। उसके भय से ही सूर्य, काल आदि भी नियमपूर्वक प्रवृत्तिशील रहते हैं। तथा च श्रुति कह रही है—'इसके भय से वायु बहती है, इसके भय से सूर्य उदित होता है, इसके भय से अग्नि, इन्द्र और पांचवां मृत्यु भी दौड़ता रहता है' (तै० उ० २।८)। इसी प्रकार कठ, तैत्तिरीय आदि श्रुतियों में अन्यान्य वचन हैं।

जैसे कारुणिक चिकित्सक आतुर के कल्याणार्थ ही तीक्ष्ण शस्त्र से उसके व्रण-च्छेदन में प्रवृत्त होता है, तथैव प्राणियों के हितार्थ ही भगवान् का क्रोध भी हुआ करता है। रावण के प्रति भगवान् सनत्कुमार का यह वाक्य है—'ये ये हताश्चक्रधरेण राजन् त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन। ते ते गतास्तन्निलयं नरेन्द्राः क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः॥' (वा० रा० उ० ३६ सर्गानन्तर प्रक्षिप्त पांच सर्गों में से द्वितीय सर्ग का २२ वां श्लोक है)। उसी तरह भगवान् के बाण आदि आयुध भी हैं। महाप्रलय में भी पाप-ताप आदि से सन्तप्त हुए जीवों को महासुषुप्ति का सम्पादन कराकर प्रलय का पर्यवसान भी अनन्त सत्त्व में ही विश्रान्त हो जाता है। अत एव उसे हिंसा भी करनी पड़ती है।

---

1. इदं रावणं प्रति भगवतः सनत्कुमारस्य वाक्यम्। श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे उत्तरकाण्डे षट्त्रिंशसर्गानन्तरं प्रक्षिप्तेषु पञ्चसर्गेषु द्वितीयेसर्गे द्वाविंशः श्लोकोऽयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथातः शतरुद्रियं जुहोति। अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र रुद्रो देवता तस्मिन् देवा एतदमृतꣳ रूपमुत्तममदधुः स एषोऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानस्तस्माद् देवा अबिभयुर्यद्वै नोऽयं न हिꣳस्यादिति' (श० ९।१।१।१)। अथ चित्युपधानपरिसमाप्त्यनन्तरम्, अतो यतः कारणात् संचितोऽग्निरुपशमनीयः, अतो हेतोः। शतरुद्रियमिति कर्मनामधेयम्। शतरुद्रियाख्यं होमं भावयेदित्यर्थः। रुद्ररूपतापन्नस्याग्नेरुपशमनार्थोऽयं होमः। एवं सत्यग्निः साकल्येन संस्कृतो भवति। यतो देवाश्चयनलक्षणेन संस्कारेण निष्पन्नममृतमुत्तमं रूपं विस्रंसनात् प्राग् यदमृतं रूपमस्ति तस्य विस्रंसनावसरे गतत्वात् तदेव पुनरत्र चयनसंस्कारेण अदधुः। तस्मादेषोऽग्निर्दीप्यमानः, अन्नमिच्छमानः, अतिष्ठत्। इषेः परस्मैपदित्वाद् उपग्रहव्यत्ययेन शानच्। अथवा 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (पा० सू० ३।२।१२९) इति शक्यार्थे चानश्। अस्मादग्नेर्हिंसाशङ्कया देवा अबिभयुः, यथा न हिंस्यादिति विचारं च चक्रुः।

'तेऽब्रुवन्। अन्नमस्मै सम्भराम तेनैनꣳ शमयामेति तस्मा एतदन्नꣳ समभरञ्छान्तदेवत्यं तेनैनमशमयंस्तद्यदेतं देवमेतेनाशमयंस्तस्माच्छान्तदेवत्यꣳ शान्तदेवत्यꣳ ह वै तच्छतरुद्रियमित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवास्तथैवास्मिन्नयमेतदमृतꣳ रूपमुत्तमं दधाति स एषोऽत्र दीप्यमानस्तिष्ठत्यन्नमिच्छमानस्तस्मा एतदन्नꣳ सम्भरति शान्तदेवत्यं तेनैनꣳ शमयति' (श० ९।१।१।२)। पश्चात् ते देवाः, अस्मै रुद्राय अन्नं सम्भराम तेनैनं शमयामेति परस्परमुक्त्वा तथैवाकार्षुः। अतः शमनार्थत्वात् तदन्नं शान्तदेवत्यम्। तच्च देवाः परोक्षकामत्वात् शतरुद्रियमित्यभिदधते, तदन्नसाध्यत्वात् कर्मापि तथैव व्यपदिश्यते। पूर्वं यथा देवा अकार्षुः, तथैव यजमानोऽपि तेनान्नेन रुद्रं शमितवान् भवति।

'जर्तिलैर्जुहोति। जायत एष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्मा अन्नाय जायत उभयं वेतदन्नं यज्जर्तिला यच्च ग्राम्यं यच्चारण्यं यदह तिलास्तेन ग्राम्यं यदकृष्टे पच्यन्ते तेनारण्यमुभयेनैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति ग्राम्येण

ग्राहकत्वविशिष्ट प्राणवियोगानुकूल व्यापार को ही 'हिंसा' शब्द से कहा गया है, अतः अनुग्राहक प्राणवियोगानुकूल व्यापार को 'हिंसा' नहीं समझना चाहिये। तथा च भगवान् का केवल 'बाहु' ही कल्याणमय नहीं है, अपितु उसके क्रोध, शर आदि भी कल्याणमय और वन्दनीय हैं। इस विषय में ब्राह्मण कह रहा है—'अथातः शतरुद्रियं जुहोति। अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र रुद्रो देवता। तस्मिन् देवा एतदमृतं रूपमुत्तममदधुः। स एषोऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानस्तस्माद् देवा अबिभयुर्यद्वै नोऽयं न हिंस्यादिति' (श० ब्रा० ९।१।१।१)।

इसका अभिप्राय यह है कि चिति का उपधान समाप्त होने के बाद, जब कि संचित अग्नि उपशमनीय है, अतः अर्थात् उस कारण। 'शतरुद्रियम्' यह एक कर्मविशेष का नाम है, यानी 'शतरुद्रियं जुहोति' का अर्थ होगा कि 'शतरुद्रियाख्यं होमं भावयेत्'। एवं च रुद्ररूपता को प्राप्त हुए अग्नि के उपशमनार्थ यह होम है। उससे अग्नि सम्पूर्णतया संस्कृत हो जाता है, क्योंकि देवताओं ने चयनलक्षण संस्कार से निष्पन्न हुए अमृत, अर्थात् उत्तम रूप को धारण किया है, जो उत्तम रूप विस्रंसन के पूर्व था, वह विस्रंसन के समय समाप्त हो चुका था, किन्तु चयनसंस्कार के कारण उसी को पुनः उन्होंने प्राप्त कर लिया। उससे दीप्यमान हुआ यह अग्नि अन्न की इच्छा करता हुआ रहने लगा। 'इष' धातु परस्मैपदी होने से उपग्रह के व्यत्यय से शानच् किया गया है। अथवा 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (पा० सू० ३।२।१२९) सूत्र से शक्ति के अर्थ में 'चानश्' किया गया है। इस अग्नि से हिंसा की आशंका करके देवता लोग डर गये। जिस प्रकार से हिंसा न हो पावे, वैसा विचार करने लगे। शतपथ ब्राह्मण कहता है—'तेऽब्रुवन्। अन्नमस्मै सम्भराम तेनैनं शमयामेति। तस्मा एतदन्नं······ तेनैनं शमयति'। (श० ब्रा० ९।१।१।२)। पश्चात् उन देवताओं ने परस्पर यह कहा कि इस रुद्र के लिये हम अन्न देकर उससे इसे शान्त करेंगे और वैसा ही उन्होंने किया। अतः शमनार्थ होने से वह अन्न शान्तदेवत्य है। देवता लोग

चारण्येन च' (श० ९।१।१।३), 'अर्कपर्णेन जुहोति' (श० ९।१।१।४), 'गवेधुकासक्तुभिर्जुहोति' (श० ९।१।१।८), 'परिश्रित्सु जुहोति' (श० ९।१।१।१०)। प्रकृते होमद्रव्यविशेषं विधाय तस्य चोभयविधान्नात्मकत्वात् चयन-संस्कारे जातरुद्रदैवतोचितरूपत्वेन प्रशंसति—जर्तिलैरित्यादिना। जर्तिला आरण्यतिलाः। प्रकृते होमे साधनतया प्राप्ताया जुह्वा अपवादत्वेन अर्कपर्णविधानम्। प्रकृतहोमस्य परिश्रित्सु चितीः परितो निक्षिप्तेषु क्षुद्रपाषाणेषु कर्तव्यतया विधानम्। पुनस्तस्यैव होमस्य शतशीर्ष्णो रुद्रस्य इतरेषां च रुद्राणामुत्पत्तिप्रकारं दर्शयित्वा तच्छम-नार्थत्वेन प्रशंसनम्। होमस्य द्रव्यान्तरं विधाय तत्प्रशंसनम्। होमसाधनत्वेन विहितस्य अर्कपर्णस्य प्रकारान्त-रेण प्रशंसनम्। एवं शतपथे शतरुद्रियस्यानेकाभिः कण्डिकाभिर्द्रव्यदेवतादिप्रशंसनमिति।

प्रायोऽस्मिन्नध्याये आध्यात्मिकपक्षीय एवार्थः, नातः पृथक् तन्निरूपणावश्यकता।

अपरस्तु राजपरत्वेन रुद्रशब्दं योजयति। तथा च—'हे रुद्र दुष्टरोदक राजन्, त्वदधीनस्थेभ्यो नम-स्कारार्हाणि शक्तिवीर्यशस्त्राण्युपनमन्तु। त्वदीयेभ्यो बाणधारिसैन्येभ्योऽन्नान्युपसीदन्तु। त्वदीयबाहुरूप-मित्रेभ्यः शत्रुपराभूष्णु वीर्यमुपतिष्ठतु' इति। यद्यप्येतादृशी प्रार्थना नानुचिता, तथापि मन्त्राक्षरसम्बन्धशून्यै-वैषा। अत्र त्रयो नमःशब्दाः। तद्योगे त्रीण्येव चतुर्थ्यन्तानि पदानि। रुद्र इति सम्बुद्धिः। तेन स्वाभा-

---

परोक्षकाम होने से उसे शतरुद्रिय कहते हैं। वह अन्नसाध्य होने से कर्म के लिये भी उसी प्रकार का शब्द प्रयोग करते हैं ? यानी शतरुद्रिय कहते हैं। पूर्व काल में देवताओं ने जैसे किया, वैसे ही यजमान भी उस अन्न से रुद्र को शान्त करता है। पुनः शतपथ ब्राह्मण (९।१।१।३, ४, ८, १०) में कहा गया हैं कि प्रकृत में होमीय द्रव्यविशेष का विधान करे, क्योंकि वह उभयविध अन्नात्मक है, इसलिये चयन संस्कार में जातरुद्र दैवतोचित रूप में उसकी प्रशंसा की जाती है।

प्रकृत होम के साधन के रूप में प्राप्त हुई जुहू का बाध करके 'अर्कपर्ण' का विधान किया गया है। प्रकृत होम को परिश्रितों में चितियों के चारों ओर निक्षिप्त क्षुद्र पाषाणों पर करने का विधान है। पुनः उसी होम की शतशीर्ष रुद्र और अन्य रुद्रों की उत्पत्ति के प्रकार को प्रदर्शित कर उसके शमनार्थ प्रशंसा की गई है। होमसाधन के रूप में विहित अर्कपर्ण की प्रकारान्तर से प्रशंसा की गई है। इसी प्रकार शतपथ में अनेक कण्डिकाओं के द्वारा शतरुद्रिय के द्रव्य-देवता आदि की प्रशंसा की गई है।

प्रायः इस अध्याय में जो अर्थ है, वह अध्यात्म पक्ष का ही है, अतः उसके निरूपण की पृथक् से आवश्यकता नहीं है।

कोई अन्य व्याख्याकार 'रुद्र' शब्द को राजा के अर्थ में लगाते हैं। तथा च—'हे रुद्र यानी दुष्टरोदक राजन्! तुम्हारे अधीन रहनेवालों के पास नमस्कारार्ह शक्ति-वीर्य-शस्त्र आदि सर्वदा रहें। तुम्हारे बाणधारी सैनिकों के पास अन्न आदि सर्वदा रहे। तुम्हारे बाहुरूप मित्रों के पास शत्रुओं को पराजित करनेवाला पराक्रम सर्वदा रहे'।

यद्यपि यह प्रार्थना अनुचित नहीं है, तथापि मन्त्र में प्रयुक्त अक्षरों से कोई मेल नहीं खा रही है, यानी मन्त्र के शब्दों से उस प्रार्थना का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस मन्त्र में 'नमः' शब्द का प्रयोग तीन बार हुआ है। उसके योग में तीन बार ही चतुर्थ्यन्त पदों का प्रयोग हुआ है। 'रुद्र!' यह संबोधन का एकवचन है। इन सब पर ध्यान रखते हुए ही व्याख्या-कार को मन्त्रार्थ करना चाहिये। अतः उव्वट, महीधर आदि पूर्ववर्ती भाष्यकारों का अनुसरण करके किया हुआ पूर्व निर्दिष्ट अर्थ ही तत्तत् मन्त्र-शब्दों के साथ स्वाभाविक रूप से सम्बद्ध है।

संपूर्ण संसार में 'रुद्र' शब्द देवता के अर्थ में प्रसिद्ध है, किन्तु किसी व्याख्याकार ने उस प्रसिद्धि की ओर ध्यान न देकर 'रुद्र' शब्द को राजपरक लगाकर मन्त्र का अर्थ किया है, जो अत्यन्त असंगत है, क्योंकि 'रूढिर्योगमप-हरति' यह नियम है, इस नियम का उल्लंघन उसने किया है, जो नहीं करना चाहिये था। 'रुद्र' शब्द को योगरूढ मानना

विकोऽयमेवार्थो यः पुरस्तान्निर्दिष्टः। रुद्रशब्दस्य देवपरत्वप्रसिद्धिमपहाय राजपरत्वयोजनमप्यसङ्गतम्, रूढिर्योगमपहरतीति न्यायविरोधात्। योगरूढतया च रुद्रशब्दस्य पातकिरोदकत्वेन प्रलये सर्वसंहारकत्वेन च परमेश्वरपरत्वोपपत्तेः। अत्र शस्त्रवीर्याणीति कैः शब्दैरुपात्तानि? बाहुपदेन सेना कथं गृह्यते? कथञ्चिद् गौण्या वृत्त्या तदुपपत्तावपि तन्मित्रग्रहणस्य क आधारः? सङ्गतिरपि नास्ति तथाविधेष्वर्थेषु। तस्मादुव्वटमहीधरानुसार्येवार्थो युक्तः॥ १॥

या ते॑ रुद्र शि॒वा त॒नूरघो॒राऽपा॑पकाशिनी।
तया॑ नस्त॒न्वा॒ शन्त॑मया॒ गिरि॑शन्ता॒भि चा॑कशीहि॥ २॥

मन्त्रार्थ—कैलास पर रह कर संसार का कल्याण करने वाले हे रुद्र! तुम्हारा जो मङ्गलदायक, सौम्य, केवल पुण्यप्रकाशक शरीर है, उस अनन्त सुखकारक शरीर से हमारी ओर देखो, यानी हमारी रक्षा करो॥ २॥

भक्तानां पुरतस्तु प्रादुर्भवन्ती तनूरनन्तसुखशान्तिपरमविश्रामावहेत्याह—हे रुद्र, ते तव या शिवा शान्ता मङ्गलरूपा तनूः शरीरम्, अघोरा अविषमा अनुद्वेगिनी, सौम्येति यावत्। अपापकाशिनी पापमसुखं काशयति प्रकाशयति या सा पापकाशिनी, तद्भिन्ना अपापकाशिनी सर्वथा सर्वदा सुखदायिन्येव दिव्यकर्मोपासनादिफलमेव सा ददाति न पापफलम्। यस्याः स्मरणमात्रेणापि पापतापादिकमपैति, तया शन्तमया अतिशयेन शमिति शन्तमा तया 'सुखतमया अतिशयेन सुखरूपया सुखयित्र्या च तन्वा हे गिरिशन्त! गिरौ कैलासे स्थितः सन् प्राणिनां शं सुखं तनोति विस्तारयतीति गिरिशन्तः, तस्य शुभानुसन्धानेनैव मङ्गलसम्पत्तेः। अनेन पुराणप्रसिद्धः कैलासवासी भगवान् शिवः स्तूयते, तत्सम्बुद्धौ। यद्वा गिरि वाचि स्थितो वाचोच्चार्यमाणः स्तूयमानः शं सुखं तनोतीति गिरिशन्तः। 'यस्य नाम महद्यशः' (वा० सं० ३२।३) इति मन्त्रवर्णात्, तत्सम्बुद्धौ। यद्वा गिरौ मेघेऽवस्थितस्तदन्तर्यामिरूपेण वृष्ट्या शं सुखं तनोतीति गिरिशन्तः, तत्सम्बुद्धौ। यद्वा गिरौ शेत इति गिरिशः, अमति

चाहिये। योगरूढ मानने पर पातकियों को रुलाने से और प्रलय काल में सम्पूर्ण संसार का संहार करने से उस 'रुद्र' शब्द की परमेश्वरपरकता उपपन्न हो जाती है। राजपरकता तो उसको अनुपपन्न ही है। किञ्च शस्त्र, वीर्य आदि अर्थों को मन्त्र के किन शब्दों ने बताया है? 'बाहु' शब्द से 'सेना' का अर्थ, किस प्रकार किया गया है? किसी तरह 'गौणी वृत्ति' से उसकी उपपत्ति लगाने पर भी उसका 'मित्र' अर्थ करने में कौन सा आधार है? उस प्रकार के अर्थ करने में कोई किसी प्रकार की संगति भी नहीं है। इसलिये उव्वट व महीधर के अनुसार ही अर्थ करना समुचित है॥ १॥

भक्तों के सामने प्रकट होनेवाला शरीर अनन्त सुख, अनन्त शान्ति, परम विश्रामावह रहता है, इस तथ्य को भगवती श्रुति बता रही है—हे रुद्र! तुम्हारा जो शान्त मंगलमय शरीर है, वह अघोर, यानी अविषम है, अर्थात् अनुद्वेजक है, सौम्य है। वह 'अपापकाशिनी' अर्थात् सर्वदा सुखदायी है। वह दिव्य कर्म, उपासना आदि के फल को देता है, पाप फल को नहीं। जिसके स्मरणमात्र से पाप-ताप आदि नष्ट हो जाते हैं, उस सुखस्वरूप और दूसरे को सुखी बनाने वाली अपनी तनू (शरीर) से हे गिरिशन्त! अर्थात् कैलास गिरि पर रहते हुए प्राणियों के सुख (शं) का विस्तार करने वाले हे भगवान् शिव! आपके नाम का शुभानुसन्धान करने से ही मंगल की सम्पत्ति (प्राप्ति) हो जाती है। इस प्रकार से पुराणप्रसिद्ध कैलासवासी भगवान् शिव की स्तुति की जाती है। उसीका संबोधन के एक वचन में प्रयोग किया गया है।

गच्छति जानाति सर्वमित्यन्तः सर्वज्ञः, गिरिशश्चासावन्तश्चेति गिरिशन्तः, शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्, तत्सम्बुद्धौ। नः अस्मान् सुखयितुम् अभिचाकशीहि अभितः करुणापूर्णदृष्ट्या पश्य। 'चाकशीतिः पश्यतिकर्मा' (निघ० ३।११।८)।

इदमत्रावधेयम्—निर्गुणन्निराकारनिर्विकारसच्चिदानन्दात्मकस्य ब्रह्मणोऽतनुत्वेऽपि स्वतोऽचिन्त्यदिव्यशक्त्या दिव्यतनुत्वं भवति। यथा काष्ठगतोऽव्यक्तोऽग्निर्निराकारोऽपि मन्थनादिभिरभिव्यज्यते दाहकत्वप्रकाशकत्वरूपेण, यथा वा घृतवर्तिकाद्युपाधिभिर्दीपकलिकारूपेणाग्निरेव व्यज्यते, तथैव भक्तभक्तिभावनया दिव्यशक्त्या च परमेश्वरस्तनुमान् भवति। यथा वा निस्तरङ्गमेव गङ्गाजलं वायुसङ्घट्टनया तरङ्गमालि भवति, तथैव निर्गुणं निराकारमपि ब्रह्म सगुणं साकारं च भवति। यथा वा अतिशयशैत्ययोगेन गङ्गाजलमेव घनीभूतं सद् हिमतामुपैति, तथैव निर्गुणं निराकारं ब्रह्म भक्तिशक्त्येशशक्त्या च सगुणं साकारं भवति। तत एव 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' (केनो० ३।१) इत्यादिप्रघट्टकेन केनोपनिषदि ब्रह्मणो महायक्षरूपेण प्रादुर्भावः श्रूयते।

छान्दोग्ये हिरण्यश्मश्रुत्वहिरण्यकेशत्वविशिष्टस्य हिरण्मयस्य परमेश्वरस्य आदित्यमण्डले दक्षिणेऽक्षिणि चोपासनं विहितम्। हिरण्यं ज्योतिरित्यनर्थान्तरम्। 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७), 'तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मु० २।२।१०) इत्यादिमन्त्रवर्णश्रुतिसिद्धब्रह्मज्योतिरेव

अथवा हे गिरिशन्त! 'गिरि = वाणी में स्थित, यानी वाणी से उच्चारण किया जाने वाला, अर्थात् स्तुति किया जाने वाला वह 'शं' सुख का 'तनोति' विस्तार करता है, अतः उसे 'गिरिशन्त' कहते हैं। 'यस्य नाम महद् यशः' (वा० सं० ३२।३) ऐसी मन्त्रवर्णात्मक श्रुति है। 'गिरिशन्त' यह संबोधन के एकवचन का रूप है।

अथवा हे गिरिशन्त! 'गिरौ' = मेघ में तदन्तर्यामी रूप से अवस्थित रह कर वृष्टि के द्वारा 'शं' सुख का विस्तार करता है, उसे 'गिरिशन्त' कहा जाता है, उसके संबोधन में एकवचन का यह रूप है।

अथवा 'गिरौ शेते इति गिरिशः, श्यति गच्छति जानाति सर्वमिति अन्तः सर्वज्ञः, गिरिशश्चासावन्तश्चेति गिरिशन्तः'। शकन्ध्वादित्वात् पररूप होकर संबोधन के एकवचन में गिरिशन्त रूप निष्पन्न हो जाता है। अतः हे गिरिशन्त! हे कैलासवासी सर्वज्ञ शिव! 'नः' हम लोगों को सुखी बनाने के लिये 'अभिचाकशीहि' अभितः करुणापूर्ण दृष्टि से देखो। 'चाकशीतिः पश्यतिकर्मा' (निघ० ३।११।८)।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि निर्गुण, निराकार, निर्विकार सच्चिदानन्द ब्रह्म अशरीरी होने पर भी अपनी अचिन्त्य शक्ति से दिव्य शरीर से भी सम्पन्न हो जाता है। जैसे काष्ठगत अव्यक्त अग्नि निराकार रहता हुआ भी मन्थन आदि के द्वारा उसे अभिव्यक्त किया जाता है, जो तब दाहक, प्रकाशक कहलाता है। अथवा जैसे घृत, वर्तिका (बत्ती) आदि उपाधि के कारण दीप-कलिका के रूप में अग्नि ही प्रकट होता है, वैसे ही भक्तों की भक्तिभावना और दिव्य शक्ति से परमेश्वर शरीर धारण भी कर लेता है। जैसे—तरंगरहित भी गंगाजल वायु के संघट्टन से अनेक तरंगों को धारण कर तरंगमाली बन जाता है, तथैव निर्गुण निराकार भी ब्रह्म सगुण और साकार हो जाता है। अथवा जैसे अत्यन्त शैत्य के कारण गंगाजल ही घनीभूत होकर 'हिम' बन जाता है, वैसे ही निर्गुण निराकार ब्रह्म भक्तों की भक्तिमयी शक्ति और अपनी ईशन शक्ति से सगुण साकार भी हो जाते हैं। यही कारण है कि 'ब्रह्म देवेभ्यो विजिग्ये' (केनोप० ३।१) इत्यादि प्रघट्टक से केनोपनिषद् में महान् यक्ष के रूप में 'ब्रह्म' का प्रादुर्भाव होना बताया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् में हिरण्यश्मश्रुत्व, हिरण्यकेशत्व से युक्त हिरण्मय परमेश्वर की उपासना करने का विधान आदित्य-मण्डल के दक्षिण नेत्र में कहा गया है। 'हिरण्य' और 'ज्योति' पर्याय शब्द हैं, क्योंकि तैत्तिरीय ब्राह्मण, मुण्डक उपनिषद् इत्यादि मन्त्रवर्ण-श्रुतिसिद्ध जो ब्रह्म है, वह ज्योति ही है, उसी को हिरण्यश्मश्रुत्वादि विशिष्ट हिरण्मय परमेश्वर के रूप में भी प्रकट किया गया है। उसी को ब्रह्म, शक्ति, विष्णु, राम, कृष्ण, नृसिंह आदि देवताओं के रूप में

हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्टहिरण्यमयपरमेश्वररूपेणापि व्यज्यते। तदेव ब्रह्म शक्ति-विष्णु-राम-कृष्ण-नृसिंहादिरूपेणापि व्यज्यते। 'वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ। आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥' (हरिवंशेऽन्तिमेऽध्याये) इत्येवं वेदवेद्यो भगवान् परमात्मैव रामायण-महाभारत-पुराणादिषु शिव-विष्णु-राम-कृष्णादिरूपेण प्रतिपिपादयिषितः।

अपर आह—'हे रुद्र राजन्, त्वदीयकल्याणकारिणी सौम्या पापातिरिक्तस्य पुण्यस्यैव प्रकाशिका विस्तृतविधिव्यवस्था आज्ञारूपा वाग्वास्ते, तच्छान्तिविस्तारिण्या वाचा व्यवस्थया वाण्या वा हे सर्वशान्तिप्रद त्वं सर्वमभिपश्य' इति, तदपि पूर्वव्याख्यानुकारि इति किमुपालम्भनीयम्। अत्रापि व्याख्यायां तनूशब्दस्य व्यवस्थार्थकत्वमप्रामाणिकमेव। गिरिशन्तशब्दस्तु व्याख्यात्रा सर्वथाप्यस्पृष्टः। अन्येऽपि सर्वेऽर्थाः सायणादिभाष्यदृष्ट्यैव गृहीता विकृतिमुपनीताश्च॥ २॥

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत्॥ ३॥

मन्त्रार्थ—कैलास पर रह कर जगत् का कल्याण करने वाले हे रुद्र! तथा मेघों में स्थित होकर वृष्टि के द्वारा जगत् की रक्षा करने वाले हे सर्वज्ञ रुद्र! शत्रुओं का नाश करने के लिये जिस बाण को तुम अपने हाथ में धारण किये हो, वह सबके लिये कल्याणकारक हो और जंगम जो पुत्र-पौत्र आदि तथा गो, अश्व आदि हैं, उनका नाश तुम करो॥ ३॥

हे गिरिशन्त, स्मृतिमात्रेण सुखप्रद, यामिषुं यं शरं त्वमस्तवे शत्रून् प्रति क्षेप्तुं हस्ते बिभर्षि धारयसि, हे गिरित्र, गिरौ कैलासे स्थितो भक्तान् भूतजातं वा त्रायत इति गिरित्रः, तत्सम्बुद्धौ। तामिषुं शिवां कल्याणकारिणीं कुरु। यथा व्याघ्रस्य या दंष्ट्रा भूतोद्वेगिनी सैव स्वशावकान् प्रति शिवैव भवति तद्वत्। अत एव भगवतो

भी व्यक्त किया जाता है। इस तथ्य को हरिवंश के अन्तिम अध्याय में—'वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ। आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥' कहा गया है। वेदवेद्य भगवान् परमात्मा को ही रामायण, महाभारत, पुराण आदि में शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि के रूप में प्रतिपादन करने की इच्छा की है।

किसी ने उक्त मन्त्र की व्याख्या यह की है कि 'हे रुद्र राजन्! तुम्हारी कल्याणकारिणी सौम्या पापातिरिक्त की = पुण्य की ही प्रकाशिका विस्तृत विधिव्यवस्था आज्ञारूपा वाक् तुम्हारी शान्ति का विस्तार करनेवाली वाचा = व्यवस्था अथवा वाणी से हे सर्वशान्तिप्रद! तुम सब देखो'। यह व्याख्या भी उनकी अपनी पूर्व व्याख्या के अनुसार ही मन्त्र से असम्बद्ध है, अतः क्या पुनः पुनः उस असम्बद्धता को बतावें? इस व्याख्या में भी 'तनू' शब्द को व्यवस्थार्थक बताना अप्रामाणिक ही है। 'गिरिशन्त' शब्द को तो व्याख्याकार ने छुआ तक नहीं है। अन्य अर्थ भी सायण आदि के भाष्य के अनुसार ही ग्रहण कर उनको विकृत कर दिया है॥ २॥

हे गिरिशन्त! स्मरण करने मात्र से सुख देने वाले! जिस बाण को तुम शत्रुओं पर फेंकने के लिये हाथ में धारण करते हो, हे गिरित्र! गिरौ = कैलास गिरि पर स्थित होता हुआ भक्त जनों का अथवा प्राणी मात्र का जो रक्षण करता है, उसे 'गिरित्र' कहते हैं, उसके सम्बोधन में—हे गिरित्र! कहा गया है। ताम् = उस बाण को तुम कल्याणकारक बनाओ, जैसे व्याघ्र की दंष्ट्रा प्राणियों की उद्वेजक होती है, वही अपने शावकों के प्रति कल्याणमयी भी होती है। अत एव भगवान्

नृसिंहस्य नखा दंष्ट्राश्च प्रह्लादस्य कृते सुखकरा एव जाताः। किञ्च, पुरुषं मम पुत्रपौत्रादिकं जगद् जङ्गममन्यदपि गवाश्वादिकं मा हिंसीर्मा वधीः। असुधातोः 'तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः' (पा० सू० ३।४।९) इति तवेङ्प्रत्ययस्तुमर्थे। असिभ्वादिको गतिदीप्त्यादानार्थः, आदादिकश्च सत्तार्थकः, दैवादिकश्च क्षेपणार्थकः, काण्ड्वादिकश्च उपतापार्थकः। तदेते सर्वेऽप्यर्थाः सम्भावयितुं सुशकाः।

अपरस्तु—'हे गिरिशन्त, आज्ञप्तिरूपायां वाचि सर्वशान्तिदायक! यद्वा हे मेघवत् सर्वसुखवर्षकरूपेण सर्वशान्तिदायक, यं बाणादिशस्त्रगणं शत्रूणामुपरि प्रक्षेप्तुं हननकारिणि स्वहस्ते बिभर्षि, हे विद्वद्रक्षक, यद्वा हे स्वव्यवस्थायां सर्वरक्षक, तन्माङ्गल्यकारकं रक्ष मनुष्यानन्यान् जङ्गमान् गवादिपशून् मा हिंसीः' इति, तदत्रापि सैव दिक्। मेघवत् सुखवर्षकत्वं हस्तस्य हननकारित्वं च न मन्त्रगतस्य कस्यचनापि शब्दस्यार्थः। तस्मादत्राप्युव्वटमहीधरानुसार्येवार्थो युक्तः॥ ३॥

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाऽच्छावदामसि।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मꣳ सुमना असत्॥ ४॥

मन्त्रार्थ—हे कैलासनिवासी रुद्र! तुम्हें प्राप्त करने के लिये हम लोग तुम्हारी स्तुति करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि तुम हमारे जंगम पुत्र-पौत्र आदि को तथा गो, अश्व आदि सबको नीरोग और निर्मल मन के बना दो॥ ४॥

हे गिरिश, गिरौ कैलासे शेते विश्राम्यतीति गिरिशः, तत्सम्बुद्धौ। अथवा गिरि भक्तानां स्तुतिरूपायां वाचि शेते विश्राम्यतीति गिरिशः, तत्सम्बुद्धौ। शिवेन मङ्गलमयेन स्तुतिरूपेण वैदिकेन वचसा वचनेन त्वा त्वाम् अच्छ त्वामेव प्राप्तुम्। अच्छेत्यस्य आप्तुमित्यर्थः। तथा च निरुक्तम्—'अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः'

नृसिंह के जो नख और दंष्ट्राएँ थीं, वे प्रह्लाद के लिये सुखकर ही सिद्ध हुईं। किञ्च, मेरे पुत्र-पौत्र, गो-अश्व आदि जङ्गम-स्थावर जगत् का विनाश मत करो। 'अस्तवे' = 'अस्' + तवेङ्। 'अस्' धातु से 'तुमर्थे सेसेनसे' (पा०सू० ३।४।९) से 'तवेङ्' प्रत्यय 'तुमुन्' के अर्थ में किया गया है। यह 'अस्' धातु अनेक गणों में आया है। भ्वादिगण के 'अस्' धातु का अर्थ 'गति-दीप्ति-आदान' है, अदादिगण के 'अस्' धातु का अर्थ 'सत्ता' है, दिवादिगण के 'अस्' धातु का अर्थ 'क्षेपण' है, कण्ड्वादिगण के 'अस्' धातु का अर्थ 'उपताप' है। अतः इन सभी अर्थों की सम्भावना यहाँ की जा सकती है।

किसी व्याख्याकार ने उक्त मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार है—'हे गिरिशन्त! आज्ञप्तिरूप वाणी में सर्वशान्तिदायक! अथवा हे सर्वसुखवर्षकरूप से सर्वशान्तिदायक! जिस बाण आदि शस्त्रसमूह को शत्रुओं के ऊपर फेंकने के लिये तुम अपने हननकारी हाथ में धारण करते हो। हे विद्वद्रक्षक अथवा अपनी व्यवस्था में हे सर्वरक्षक! उसके मंगलकारक की रक्षा करो, मनुष्यों के अन्य जंगम गाय आदि पशुओं की हिंसा मत करो' इति।

इस व्याख्या में भी वही उनकी अपनी दिशा है। 'मेघ के समान सुखवर्षकत्व और हस्त का हननकारित्व' यह अर्थ मन्त्रगत किसी शब्द का नहीं है। इसलिये यहाँ भी, उव्वट-महीधरानुसारी अर्थ करना ही उचित होगा॥ ३॥

हे गिरिश! 'गिरौ शेते इति गिरिशः, तत्सम्बुद्धौ इति'। कैलास गिरि पर जो विश्राम करता है, उसे गिरिश कहते हैं, उसे संबोधित करने में हे गिरिश! कहा गया है। अथवा 'गिरि' भक्तों की स्तुति रूप वाणी में जो शेते = विश्राम करता है, उसे 'गिरिश' कहते हैं, उसका संबोधन में यह रूप है। मंगलमय स्तुतिरूप वैदिक वचन के द्वारा तुम्हें ही 'अच्छ' प्राप्त करने के लिये। 'अच्छ' का अर्थ 'आप्तुम्' है। तथा च निरुक्त का प्रमाण दिया जा रहा है—'अच्छाभेराप्तुमिति शाक-

५।२८) इति । 'संहितायाम्' (पा० सू० ६।३।११४) इत्यधिकारे 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति दीर्घः । तेन 'अच्छा' इति रूपम् । वदामसि वदामः, प्रार्थयामह इति यावत् । 'इदन्तो मसि' (पा० सू० ७।१।४६) इतीगागमे वदामसीति रूपम् । किमर्थं प्रार्थयामह इति चेत्, तदेव परमपुरुषार्थरूपत्वाय अन्यस्य सर्वस्य गौणपुरुषार्थत्वमेव, 'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः' (तत्त्वप्रदीपिका ४।८) इति रीत्या ज्ञातत्वोपलक्षितस्य आत्मनो मोक्षरूपतोक्ता । भक्तिसिद्धान्तरीत्यापि सर्वनैरपेक्ष्येण भगवदर्थैव भगवत्स्तुतिरभिप्रेयते । अत एव ज्ञानी त्वेकभक्तित्वाद् विशिष्यते । तथा च श्रीभगवानाह—'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् । आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥' (भ० गी० ७।१६-१८) । आर्तादय आर्तिनिवृत्त्यादिकामा अपि भगवद्भक्ता भवन्ति । ज्ञानी तु निष्कामत्वान्नान्यभक्तः, किन्तु स एकभक्तिरेव । एकस्मिन् भगवत्येव भक्तिर्यस्य स एकभक्तिः ।

केचित्तु यथा लब्धगजेनापि राज्ञाऽश्वः काम्यते, तथैव लब्धब्रह्मानन्देनापि पुत्रादयः काम्यन्त इत्यधिकारिभेदेन वा अन्यकामनापि युज्यते । किञ्च, यथा येन प्रकारेण नोऽस्माकं सर्वमित् सर्वमेव, इच्छब्द एवार्थकः, जगद् जङ्गमादि पुत्रपश्वादि, अयक्ष्मं यक्ष्मादिसर्वव्याधिरहितम्, सुमनाः शोभनमनस्कं च असद् भवति, तथा कुरु । जगद्विशेषणत्वात् सुमन इति प्रयोगेण भाव्यम् । तत्स्थाने सुमना इति पुम्प्रयोग आर्ष, छन्दसि दृष्टानुविधेः । असदिति अस्धातोर्लेटि लेटस्तिपि 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमे ङिद्वदतिदेशाच्च 'इतश्च' (पा० सू०

पूणिः' (नि० ५।२८) इति । 'संहितायाम्' (पा० सू० ६।३।११४) इस अधिकार में 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) से दीर्घ हुआ है । तब 'अच्छा' यह रूप निष्पन्न हुआ । 'वदामसि' = हम बोलते हैं, यानी हम प्रार्थना करते हैं । 'इदन्तो मसि' (पा० सू० ७।१।४६) सूत्र से इगागम होने पर 'वदामसि' रूप बना है ।

किसलिये प्रार्थना कर रहे हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना है कि जिसको प्रार्थना की जा रही है, वह परम पुरुषार्थ रूप है । उससे भिन्न अन्य-अन्य जो पदार्थ हैं, उनमें पुरुषार्थत्व का व्यवहार 'गौण' रूप में ही किया जाता है । 'निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः' (त० प्र० ४।८) इस रीति से ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा की मोक्षरूपता बताई गई है । भक्ति सिद्धान्त की रीति से भी सर्वनैरपेक्ष्येण यानी सांसारिक किसी भी विषय की अपेक्षा न करते हुए एकमात्र भगवत्प्रीत्यर्थ भगवत्स्तुति करना ही अभिप्रेत है । अत एव एकमात्र भगवान् में ही भक्ति के कारण 'ज्ञानी' की विशेषता बताई गई है । तथा च श्रीकृष्ण भगवान् कह रहे हैं – 'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् । आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवाऽनुत्तमां गतिम् ॥' (भ० गी० ७।१६-१८) आर्त आदि, आर्ति (पीडा) निवृत्ति की इच्छा करने वाले भी भगवद्भक्त कहे जाते हैं, किन्तु ज्ञानी तो निष्काम होने के कारण अन्य भक्त नहीं है, अपि तु वह 'एकभक्ति' कहलाता है । 'एकस्मिन् भगवत्येव भक्तिर्यस्य स एकभक्तिः' एक भगवान् में ही है भक्ति जिसकी, उसे 'एकभक्ति' कहा जाता है ।

कुछ लोगों का कहना है कि जैसे किसी राजा को हाथी के उपलब्ध होने पर भी घोड़े की कामना रहती है, वैसे ही ब्रह्मानंद की उपलब्धि हो जाने पर भी पुत्र आदि की कामना रहती ही है, अथवा अधिकारी के भेद से अन्यान्य कामना भी हो सकती है । किञ्च, जिस प्रकार से हमारा सारा जगत्, अर्थात् पुत्र-पशु आदि जङ्गम-सम्पत्तियुक्त यक्ष्मादि सर्वव्याधियों से रहित, अच्छे मनवाला हो, वैसा करो । जगत् का विशेषण होने से 'सुमनः' प्रयोग होना चाहिये । तथापि उसके बजाय 'सुमनाः' प्रयोग किया गया है, अतः उसे आर्ष प्रयोग समझना चाहिये, क्योंकि 'छन्दसि दृष्टानुविधयः' कहा गया है । 'असत्' यह 'अस' धातु का 'लेट्' लकार का रूप है । 'तिप्' करके 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) सूत्र से अडागम

३।४।१००) इतीकारलोपे असदिति रूपम्। एतेन भगवत्कामनया पुत्रादिकामनया सर्वकामनया च भगवांस्तोतव्य इत्यायातम्। 'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥' (भा० पु० २।३।१०) इति श्रीमद्भागवतवचनात्।

अपरस्तु—'हे समस्ताज्ञप्तिषु स्वयमाज्ञापकरूपेण व्यवस्थापकरूपेण वा विद्यमान राजन्, तुभ्यं कल्याणकारिणा वचसा सम्यङ् निवेदयामि -यथास्माकं समस्तप्राणिवर्गो राज्यव्यवहारश्च राजयक्ष्मादिरोगरहितः परस्परं सुमना भवेत् तथा यतस्वेति शेषः' इति, तदपि न चारु, यतो हि वैदिकानां वेद एव व्यवस्थापको भवति, न कश्चिद् राजा पर्षद्वा, वैदिकानां सर्वेषां नियमानां शास्त्रमूलकत्वात्। सर्वास्वपि वाक्षु राज्ञ आज्ञापकत्वमप्यसङ्गतमेव, राज्ञः स्वातन्त्र्ये वेनरावणादिवाक्ष्वपि तथात्वापत्तेः। प्राणिवर्गस्य यक्ष्मादिराहित्येन सौमनस्येन च सम्बन्धसत्त्वेऽपि राज्यव्यवहारस्य तदसम्बन्धादसङ्गतिश्च, राजव्यवहारबोधकशब्दस्य मन्त्रेऽभावादस्यार्थस्य स्वकपोलकल्पितत्वात्। तस्मादुव्वटमहीधरोक्त एवार्थः कण्डिकायाः साधीयान्॥ ४॥

अध्य॑वोचदधिव॒क्ता प्र॑थ॒मो दैव्यो॑ भि॒षक्। अही॑ँश्च॒ सर्वा॑ञ्ज॒म्भय॒न्त्सर्वा॑श्च यातुधा॒न्यो॒ऽध॒राची॒: परा॑सुव॥ ५॥

मन्त्रार्थ—जिसका स्वभाव दूसरे को सर्वश्रेष्ठ बनाने का है, ऐसा सर्वश्रेष्ठ देव कल्याणकारी रोगनाशक रुद्र मुझे सर्वश्रेष्ठ बना दे। हे रुद्र! समस्त सर्प, व्याघ्र आदि हिंसकों का नाश करके अधोगमन कराने वाली राक्षसियों को तुम हमसे दूर कर दो॥ ५॥

अध्यवोचत्, अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वेत्युव्वटः। सर्वोपरि भाविना ऐश्वर्येण अधिवदतु ब्रवीतु कञ्चित् स्वकीयं पुरुषं भगवान् रुद्रः। स च अधिवक्ता य ऐश्वर्येणैव वक्तुं जानाति। प्रथमो मुख्यः, दैव्यो देवसम्बन्धी,

---

और ङित् के समान अतिदेश होने से 'इतश्च' (पा० सू० ३।४।१००) सूत्र से इकार का लोप होने पर 'असत्' यह रूप बना है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवत्कामना से, पुत्र आदि की कामना से और सर्वकामना से मनुष्य को भगवान् की स्तुति करनी चाहिये। कहा भी है—'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥' (भाग० २।३।१०)।

किसी ने उक्त मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—'समस्त आज्ञाओं में स्वयं आज्ञापक रूप से अथवा व्यवस्थापक रूप से विद्यमान हे राजन्! कल्याणकारक वाणी से आपको मैं अच्छी तरह निवेदन कर रहा हूँ कि हमारा सम्पूर्ण प्राणि वर्ग और राज्य-व्यवहार जिस प्रकार से भी राजयक्ष्म आदि रोग से रहित और परस्पर सुमनस्क हो जाय, वैसा आप प्रयत्न करें'। किन्तु ये सभी व्याख्याएँ ठीक नहीं हैं, क्योंकि वैदिक जनों का व्यवस्थापक भगवान् वेद ही होता है, उनका व्यवस्थापक कोई राजा अथवा परिषद् नहीं हुआ करती। वैदिक जनों के सभी नियम शास्त्रमूलक हुआ करते हैं। सभी वाणियों में राजा का आज्ञापकत्व बताना असंगत ही है, क्योंकि राजा को यदि स्वतन्त्र माना जाय तो वेन, रावण आदि की वाणियों में भी वैसा मानना होगा। प्राणी वर्ग का यक्ष्मादिराहित्य से और सौमनस्य से संबन्ध रहने पर भी राज्यव्यवहार का उसके साथ संबन्ध न रहने से असंगति है। मन्त्र में राजव्यवहारबोधक किसी भी शब्द के न रहने से उक्त व्याख्या को कपोल-कल्पित ही समझना चाहिये। इसलिये उव्वट, महीधर आदि के द्वारा बताया गया कण्डिकार्थ ही सुसंगत समझना चाहिये॥ ४॥

'अध्यवोचत्'। 'अधि' शब्द उपरिभाव अथवा ऐश्वर्य अर्थ में है, ऐसा उव्वट कहते हैं। भगवान् रुद्र अपने किसी स्वकीय पुरुष को सर्वोपरि रहने वाले ऐश्वर्य के साथ कहें। अधिवक्ता वही है, जो अपने ऐश्वर्य के साथ बोलना जानता है।

भिषग् वैद्यः, 'देवाद्यञञौ (पा० सू० ४।१।८५, वा० २) इति रूपसिद्धिः । किमभिवदत्वित्याह—अहीनिति । सर्वान् सर्वप्रकारान् अहीन् असुरान् सर्पव्याघ्रादीन् वा जम्भयन् नाशयन् । यातुधान्यो याति प्रापयति कष्टमिति यातुः यातना, धापयन्ति यास्ता धान्यः, यातूनां यातनानां धान्यो यातुधान्यस्ता राक्षसीश्च जम्भयन् । कथम्भूताः अधराचीः, अधोऽञ्चना अधोगमनशीलयः कृत्वा परासुव परिक्षिप, दूरतराः कुर्वित्यर्थः ।

यद्वा—अध्यवोचत् सर्वोपरि राजमान ईश्वरो रुद्रोऽधिवक्ता अधिवदतु । किमित्यपेक्षायाम्—प्रथमो दैव्यो भिषण् अहीन् जम्भयन् यातुधानीश्च अधराचीः कृत्वा परासुव । रुद्रोऽध्यवोचत्—मां सर्वाधिकम् अधिवक्तु । तेनोक्ते मम सर्वाधिक्यं भविष्यति, तस्यामोघवचनात् । सर्वाधिक्यमेव प्रकटयति—अधिवक्तेति । तद्वचनादहमधिवक्ता ऐश्वर्येण वदनशीलो भविष्यामि, भिषग् रोगनाशकश्च भविष्यामि । यथा स्मरणमात्रेणापि रोगनाशको रुद्रः, तस्य वचनादहमपि तथाविध एव भविष्यामि, 'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्' (भा० पु० ८।१०।५५) इति श्रीमद्भागवतवचनात् । एवं परोक्षमुक्त्वा प्रत्यक्षमुच्यते—हे रुद्र, सर्वाश्च यातुधानी राक्षसीः, अधराचीर् अधोगमनशीलाः कृत्वा परासुव अस्मत्तो दूरीकुरु । ईश्वरस्य सत्यसङ्कल्पत्वेन तदुक्तामोघवचनेन च भगवत्स्वरूपावाप्तिः सर्वविघ्ननिवृत्तिश्च । तदुक्तं वाल्मीकीये रामायणे—'अमोघं देव वीर्यं ते न ते मोघाः पराक्रमाः ॥ अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः । अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि' ॥ (वा० रा०, युद्ध० ११७।२९-३०) इति रामायणवचनात्, 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छा० उ० ८।७।१) इति श्रुतेश्च । कामक्रोधपापतापादयोऽहयः, सर्पवत् कुटिलस्वभावत्वात् । तद्वासनाश्च यातुधान्यः, ता एव प्राणिभ्यो यातना धारयन्ति । उभयेषामेषां पराक्षेपेण निर्मलमनस्कोऽभ्युपैति परमात्मानम् ।

देवताओं से संबद्ध वह मुख्य वैद्य क्या कहे ? अहीनिति । ('दैव्यः' यह रूप 'देवाद्यञञौ' (पा० सू० ४।१।८५, वा० २) से निष्पन्न होता है ।) सभी प्रकार के असुरों को अथवा सर्प-व्याघ्रादिकों को नष्ट करते हुए और राक्षसियों को अधोगमनशील करते हुए उन्हें अत्यन्त दूर कर दो । 'यातुधान्यः' याति प्रापयति कष्टमिति यातुः = यातना । 'धापयन्ति यास्ता धान्यः । यातूनां यातनानां धान्यो यातुधान्यस्ताः' । यातनाओं को देनेवाली राक्षसियाँ ।

अथवा 'अध्यवोचत्' अर्थात् सर्वोपरि विराजमान ईश्वर यानी रुद्र अधिवक्ता कह दे । क्या कह दे ? यह अपेक्षा होने पर कहा गया है कि पहिला दैव्य भिषक् अहियों को नष्ट करता हुआ और यातुधानियों को अधोगमनशील बनाता हुआ उन्हें दूर खदेड़ दे । रुद्र ने मुझे सर्वाधिक अधिवक्ता कहा है । इस प्रकार उसके कहने पर मैं सबसे अधिक हो जाऊँगा, क्योंकि उसका कथन अमोघ, यानी अव्यर्थ रहता है । सर्वाधिकता को ही प्रकट करते हैं—अधिवक्तेति । उसके कहने से मैं अधिवक्ता, अर्थात् ऐश्वर्य के साथ वदनशील बन जाऊँगा और भिषक् यानी रोगनाशक हो जाऊँगा । जैसे स्मरण करने मात्र से ही रुद्र रोगनाशक होता है, अतः उसके कहने मात्र से ही मैं भी वैसा हो हो जाऊँगा । 'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्' (भाग० ८।१०।५५) ऐसा श्रीमद्भागवत का वचन है ।

इस प्रकार से परोक्ष बताकर प्रत्यक्ष कहते हैं—हे रुद्र ! समस्त राक्षसियों को अधोगमनशील बनाकर हमसे उन्हें दूर कर दो । ईश्वर सत्यसंकल्प है, उसके अमोघ वचन से भगवत्स्वरूप की प्राप्ति और सर्व विघ्नों की निवृत्ति होती है । यही बात वाल्मीकीय रामायण में कही गई है—'अमोघं देव वीर्यं ते न ते मोघाः पराक्रमाः ॥ अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः । अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि ॥ (वा० रा० यु ११७।२९-३०) । 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० उ० ८।७।१) यह श्रुतिवचन भी है । काम-क्रोध-पाप-ताप आदि को ही 'अहि' समझिये, क्योंकि ये भी सर्प के समान ही कुटिल स्वभाव के हैं । इनके जो संस्कार हैं, वे ही 'यातुधानियाँ' हैं । वे यातुधानियाँ ही प्राणियों को विविध यातनाओं (कष्टों = पीडाओं) को देती रहती हैं । इन दोनों को त्यागने पर (दोनों के नष्ट हो जाने पर) निर्मल मन हुआ मनुष्य परमात्मा को पा लेता है ।

अपरस्तु—'यः सर्वश्रेष्ठो देवानां राज्ञो विदुषां च हितकारी शरीरगतानां राष्ट्रगतानां च रोगपीडादीनां निवर्तनक्षमः, यश्च सर्वेषामुपर्यधिष्ठातृत्वेन आज्ञापको भूत्वा आज्ञां दद्यात्, एवंविधसामर्थ्योपेत हे राजन्, यथा सर्वानहीन् विषवैद्यो वशयति, तथैव त्वं सर्पवत् कुटिलाचारान् पुरुषानुपायैर्विनाशयन् सर्वप्रजानां पीडारोगकष्टबाधाप्रदायिनोः कुसृतिरता निकृष्टा योषितः शक्तीर्वा राष्ट्राद् दूरीकुरु' इति, तदपि स्वकपोलकल्पितम्, मन्त्रे सम्बोधनपदाभावात्। तथा च नानाविशेषणविशिष्टस्य सम्बोधनपदस्यार्थे स्थापने नास्ति किमपि मूलम्। एवमेव अधिवक्तेति शब्दस्यापि सर्वोपरिशासक इति नार्थः, तादृशेऽर्थे तस्याशक्तत्वात्। अध्यवोचदिति पदस्यार्थोऽपि परित्यक्तः ॥ ५ ॥

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः। ये चैनꣳ रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषाꣳ हेड ईमहे ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—उदय और अस्त के समय रक्त वर्ण तथा अन्य समय में पिंगल वर्ण का, समस्त मंगलों का प्रदायक यह रविरूप रुद्र है। दसों दिशाओं में रहने वाले हजारों रुद्रों ने उसका आश्रय किया है। उनका हम पर जो क्रोध है, उसे हम भक्ति के द्वारा दूर करते हैं ॥ ६ ॥

स एव रुद्र आदित्यरूपेण स्तूयते, रुद्रस्य परमेश्वरस्यैव आदित्यरूपेणाविर्भावात्। असौ यः प्रत्यक्षो रुद्रः सूर्यरूपः, स उदयकाले ताम्रवर्णः अत्यन्तरक्तः, अस्तमनकाले अरुणः, उतापि च अन्यदा बभ्रुः पिङ्गलवर्णः कपिलवर्णो वा। सुमङ्गलः शोभनानि मङ्गलानि यस्य सः, तन्मूलत्वात् सर्वमङ्गलानाम्। ये चैनं भगवन्तमादित्यं रुद्रा रश्मयः, अभित इतश्चेतश्च दिक्षु प्राच्यादिषु सर्वासु सहस्रशः असंख्याताः श्रिताः। प्रथमे एषां हेडः क्रोधमस्मादिप्रमादजम्। 'हेड इति क्रोधनामसु पठितम्' (निघ० २।१३।१)। अव ईमहे अवनयामो भक्त्या निराकुर्मः।

किसी ने उक्त मन्त्र की ऐसी व्याख्या की है—'देवताओं में, राजाओं में और विद्वानों में जो सर्वश्रेष्ठ है, हितकारी है, शरीर और राष्ट्र के रोग तथा पीड़ाओं को नष्ट करने में जो समर्थ है और जो सबके ऊपर अधिष्ठाता के रूप में आज्ञापक बनकर सबको आज्ञा दे सकता है, ऐसे सामर्थ्य से युक्त हुए हे राजन्! जैसे कोई विषवैद्य समस्त सर्पों को अपने वश में कर लेता है, वैसे ही तुम सर्प की तरह कुटिल व्यवहार करने वाले लोगों को अनेक उपायों से विनष्ट कर सम्पूर्ण प्रजाओं को पीड़ा, रोग, कष्ट, बाधा पहुँचाने वालीं कुमार्गगामिनी निकृष्ट स्त्रियों का अथवा शक्तियों का राष्ट्र से निष्कासन कर दो'। किन्तु यह व्याख्या भी कपोल-कल्पित ही है, क्योंकि मन्त्र में संबोधन पद का अभाव है। तथा च अनेक विशेषणों से विशिष्ट संबोधन पद का अर्थ बताने में कोई मूल भी नहीं है। एवमेव 'अधिवक्ता' शब्द का भी 'सर्वोपरि शासक' यह अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह शब्द उस अर्थ में शक्त नहीं है। वे 'अध्यवोचत्' शब्द का अर्थ ही नहीं कर पाये, उसे छोड़ ही दिया है ॥ ५ ॥

उसी रुद्र की आदित्य के रूप में स्तुति की जा रही है। आदित्य के रूप में परमेश्वर रुद्र का ही आविर्भाव हुआ है। जो यह प्रत्यक्ष दृश्यमान सूर्य है, वह रुद्र ही है। वह उदय काल में अत्यन्त लाल (रक्तवर्ण = ताम्रवर्ण) रहता है और अस्त के समय में भी अरुण वर्ण (लाल वर्ण) का रहता है। इन दोनों कालों के अतिरिक्त समय में पिंगल वर्ण (बभ्रु वर्ण) अथवा कपिल वर्ण का रहता है। उसके समस्त मंगल शोभन ही हुआ करते हैं, क्योंकि समस्त मंगल, सूर्यमूलक ही हैं। इधर-उधर (अभितः) पूर्व आदि दिशाओं में (दिक्षु) असंख्यात (सहस्रशः) जो रश्मियां (किरणें = रुद्र) हैं, वे सभी इस भगवान् सूर्य (आदित्य) के ही आश्रित रहती हैं। हम लोगों के प्रमादों (अपराधों) से उत्पन्न हुआ जो इनका क्रोध (हेड) है, उसे हम लोग उसकी भक्ति करके प्रथमतः निराकृत (दूर) करते हैं।

अथवा रुद्र एव ताम्रवर्णः,अरुणवर्णः, बभ्रुवर्णः, सुमङ्गलः, कार्यवशात् स एवानेकानि रूपाणि बिभर्ति। असंख्यातास्तदंशभूता अन्ये च रुद्रास्तमेनमभितः सर्वासु दिक्षु श्रिताः। अज्ञानप्रमादादिवशाज्जीवास्तान् प्रति स्वधर्मोल्लङ्घनतदवमानादिभिरपराध्नुवन्ति, अतस्तेषां भक्त्या तत्क्षमापणेन तन्निवारणं युक्तमेव, एकस्यैवाखण्डचैतन्यात्मकस्य रुद्रस्यानन्तानन्तशक्तिमत्त्वेन तत्तच्छक्त्यवच्छिन्नचैतन्यरूपाणां रुद्राणामानन्त्यं युज्यत एव। आदित्यपक्षे किरणा एव रुद्राः, तेषामपि विचित्रशक्तित्वादनन्तत्वाच्च।

अपर आह—'असौ यः योऽयं ताम्रवद्रक्तोऽग्निवत्तेजस्वी सूर्यवद् भरणपोषणकारको राष्ट्रमङ्गलेच्छुः सेनापतिश्चान्ये शत्रुरोदकाः सैनिकगणा अस्याभितो दिक्षु सहस्रसंख्याका विराजन्ते, तेषां क्रोधवृत्तिं दूरयतु शमयतु वा' इति, तत्कुतोऽयमर्थो लब्धः? पूर्वं रुद्रपदेन राजा गृहीतः, अतोऽत्रापि स एव ग्रहीतव्यः। सेनापतिबोधकः कः शब्द इत्यपि नोक्तम्। सेनापतिश्च ताम्रवद्रक्तः कथम्? अग्निवत्तेजस्वीति कस्य शब्दस्यार्थः? बभ्रुशब्दस्य तु पिङ्गलवर्णः कपिलवर्णो वार्थः प्रसिद्धः। सर्वथापि वेदानामज्ञातज्ञापकत्वेन प्रामाण्यम्। अर्थनीत्यादिशास्त्रसिद्धस्यार्थस्यानुवादकत्वेन वेदानामप्रामाण्यापत्तिर्दुर्निवारा। तस्माद् वेदप्रामाण्यव्यवस्थायै उव्वटमहीधरोक्त एवार्थो ग्रहणीयः॥ ६॥

अ॒सौ यो॑ऽव॒सर्प॑ति॒ नील॑ग्रीवो॒ विलो॑हितः। उ॒तैनं॑ गो॒पा अ॑दृश्र॒न्नदृ॑श्रन्नुदहा॒र्यः स दृ॒ष्टो मृ॑डयाति नः॥ ७॥

मन्त्रार्थ—जिसे अज्ञानी गोप तथा जल भरने वाली दासियाँ भी प्रत्यक्ष देख सकती हैं, विष धारण करने से जिसका कण्ठ नील वर्ण का हो गया है, तथापि विशेषतः रक्त वर्ण का होकर जो सर्वदा उदय और अस्त को प्राप्त होकर गमन करता है, वह रविमण्डल स्थित रुद्र हमें सुखी कर दे॥ ७॥

अथवा रुद्र ही ताम्र वर्ण, बभ्रु वर्ण और सुमङ्गल स्वरूप है। कार्यवशात् वही अनेक रूपों को धारण करता है। उसी के अंशभूत अन्यान्य जो असंख्यात रुद्र हैं, वे सब दिशाओं में इसी के चारों ओर आश्रित हैं, किन्तु इस रहस्य को न समझते हुए किये जाने वाले प्रमादों के कारण ये जीवधारी लोग उनके प्रति अपने कर्तव्य को भूल कर स्वधर्म का उल्लघंन करते रहते हैं। इस प्रकार उनका अपमान करने से ये जीवधारी निरन्तर अपराधी बनते जाते हैं। अतः उनकी भक्ति करके, उनसे क्षमा प्राप्त कर अपने अपराधों का निवारण करना उचित ही है। अखण्ड चैतन्यात्मक एक ही रुद्र अनन्त-अनन्त शक्तियों से युक्त होने के कारण उनकी तत्तत् शक्ति से विशिष्ट हुए चैतन्यरूप रुद्रों का आनन्त्य जो बताया गया है, वह उचित ही है।

आदित्यपक्ष में 'किरणें' ही 'रुद्र' हैं। उनकी भी शक्तियाँ विचित्र, विलक्षण और अनन्त होती हैं।

किसी ने इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—'जो यह ताम्र के तुल्य रक्त वर्ण का और अग्नि के तुल्य तेजस्वी तथा सूर्य के समान भरण-पोषण करने वाला, एवं राष्ट्र के मंगल को चाहनेवाला सेनापति और अन्य भी जो शत्रुओं को रुलाने वाले सैनिकगण हैं, वे इसके चारों ओर समस्त दिशाओं में हजारों की संख्या में विराज रहे हैं, उनकी क्रोधवृत्ति को दूर कर दो अथवा शान्त कर दो'। किन्तु यह अर्थ मन्त्र के किस शब्द से उपलब्ध हो रहा है? पहले 'रुद्र' शब्द से 'राजा' बताया है, अतः यहाँ भी उसी को बताना चाहिये। 'सेनापति' के अर्थ का बोधक कौन सा शब्द है? यह भी नहीं बताया। 'सेनापति' को ताम्रवत् रक्त कैसे बताया है? 'अग्निवत् तेजस्वी' यह किस शब्द का अर्थ है? 'बभ्रु' शब्द का तो 'पिङ्गल वर्ण' या 'कपिल वर्ण' अर्थ सर्वत्र प्रसिद्ध है। वेदों का प्रामाण्य सर्वथा 'अज्ञात-ज्ञापकत्वेन' हुआ करता है। अर्थनीतिशास्त्र से सिद्ध अर्थ का अनुवादक होने से वेद की अप्रामाण्यापत्ति दुर्निवारणीय है। इसलिये वेदप्रामाण्य के व्यवस्थापनार्थ उव्वट-महीधरोक्त अर्थ को ही स्वीकार करना चाहिये॥ ६॥

असौ यः आदित्यरूपो रुद्रः, अवसर्पति अस्तमनकाले अवाचीनं गच्छति। अस्तं गच्छन् नीलग्रीवो नीलकण्ठ इव लक्ष्यते। विलोहितो विशेषेण रक्तः। एनं गोपा गोपाला वेदादिसंस्कारशून्या उत अपि गवां प्रवेशकालं मन्यमाना अदृश्रन् अभिपश्यन्ति। उदहार्य उदकं हरन्तीति 'मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु' च (पा० सू० ६।३।६०) इत्युदकशब्दस्य उदादेशः, जलभरणपरायणा नार्योऽपि, अदृश्रन् पश्यन्ति, आगोपालाङ्गनाप्रसिद्ध इति यावत्। स दृष्टो दृष्टमात्रः सन् नोऽस्मान् मृडयाति मृडयति, सुखयतीत्यर्थः। मृदुतमहृदयो दयापरवशः स्तुत्यादिनिरपेक्षो दर्शनमात्रेण शं तनोति भगवान् रुद्रः। स्वेन रूपेणापि भक्त्या स्तुत्या प्रत्यक्षो भूत्वा भक्तस्याभिमुखमागच्छति। नीलग्रीवो नीला ग्रीवा विषधारणेन यस्य सः, दयापरवश इति यावत्। सर्वजगद्रक्षणाय हालाहलविषपानं भगवता शिवेन कृतमिति पुराणप्रसिद्धम्। विलोहितो विगतकलुषभावो नित्यनिरस्तसमस्तानर्थव्रातः। अथवा विलोहितो विशेषेण रक्तः शिवाङ्कनिलयायाः सिन्दूरारुणविग्रहायाः श्रीमद्राजराजेश्वर्याः संश्लेषाद् आत्मना हृदयेन विग्रहेण च विशिष्टरागवान् अनायासेन दृष्टमात्रो मृडयाति, प्रिययाश्लिष्टत्वाच्च प्रहृष्टः सच्चिदानन्दरूपत्वात् सुखयति, ऐहिकामुष्मिकभोगापवर्गप्रदानेन कृतार्थयति। 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७) इति श्रुतेः।

अपरस्त्वाह—'योऽयं नीलकण्ठो विशेषेण अरुणवस्त्रादिपरिहितः, निरन्तरं पुरो वर्धिष्णुस्तं गोपाला जलहारिण्यश्च प्रत्यभिजानन्ति। स नेत्रैर्दृष्टोऽस्मान् प्रजाजनान् सुखयतु' इत्यादिकम्, तदपि न समञ्जसम्, कथं

यह जो आदित्य रूप रुद्र है, वह अस्त के समय अवाचीन जाता है। अस्त होते समय नीलग्रीव 'नीलकण्ठ' की तरह लक्षित होता है। 'विलोहितः' का अर्थ 'विशेष रक्त' होता है। गोपालक ग्वाले वेदादि-संस्कार से शून्य रहने पर भी गायों का यह गोष्ठ में प्रवेश करने का काल है, ऐसा समझ कर इसे देखते हैं। जलभरणपरायण (उदहार्य) नारियाँ भी उसे देखती हैं। तात्पर्य यह है कि यह आदित्यस्वरूप रुद्र आगोपालाङ्गना प्रसिद्ध है। 'उदकं हरन्ति इति उदहार्यः'। यहाँ 'उदक' शब्द को 'मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभार' (पा० सू० ६।३।६०) सूत्र से 'उदादेश' होता है।

उसका दर्शनमात्र करने से वह हमें सुखी कर देता है। उसका हृदय मृदुतम होने से वह दयापरवश हो जाता है, स्तुति आदि की अपेक्षा उसे नहीं रहती। ऐसे भगवान् रुद्र दर्शन करने मात्र से ही हम दर्शक भक्तों को सुखी कर देते हैं। भक्तिपूर्वक उसकी स्तुति करने पर वह अपने निजी स्वरूप से भी प्रत्यक्ष दर्शन देकर भक्त के सामने आ जाते हैं। वह दयापरवश हुए विषपान करने से नीलग्रीव कहलाने लगे। सम्पूर्ण जगत् का रक्षण करने के लिये भगवान् शिव ने हालाहल विष का पान किया था, यह पुराणों ने बताया है। उस रुद्र में कलुषभार तो है ही नहीं, अर्थात् समस्त अनर्थसमूह जिससे नित्यनिरस्त रहते हैं, अत एव उसे 'विलोहित' कहा गया है। अथवा 'विलोहित' का अर्थ 'विशेषेण रक्तः' यानी अत्यधिक प्रसन्न भी किया जा सकता है, क्योंकि भगवान् शिव जी के अंक में बैठी हुई, सिन्दूर के तुल्य अरुण वर्ण के शरीरवाली श्रीराजराजेश्वरी का संश्लेष प्राप्त होने से हृदय और शरीर से भी अत्यधिक प्रसन्न होने वाले शिवजी का दर्शन करने मात्र से अनायास दर्शन करने वाले को सुखी कर देते हैं। वे अपनी प्रिया से आश्लिष्ट हैं, अतः प्रहृष्ट हैं और स्वयं सच्चिदानन्दरूप भी हैं। अतः अपने भक्तों को सुख पहुँचाने में उन्हें किञ्चिन्मात्र भी आयास करने की आवश्यकता नहीं होती। निष्कर्ष यह है कि ऐहिक और आमुष्मिक भोग तथा अपवर्ग दिलाकर अपने भक्तों को ये कृतार्थ कर देते हैं। यही बात भगवती श्रुति के द्वारा भी कही गई है—'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७)।

किसी ने जो यह कहा है—'जो यह नीलकण्ठ है, विशेषेण अरुण वस्त्र आदि का परिधान जिसने किया है, निरन्तर पुरः (सामने) जो वर्धिष्णु है, उसे गोपाल और जल-हरण करने वाली स्त्रियाँ पहचानती हैं। हमारे नेत्रों से दृष्ट हुआ वह हम प्रजाजनों को सुखी करे' आदि-आदि, वह भी सुसंगत नहीं है। यह 'पुरः' अर्थ कैसे और किससे निकल रहा है? इस

पुरोऽर्थकल्पनम् ? तत्र च किं प्रमाणमित्यनुक्तेः। नेत्रैर्दृष्ट इत्यादिना सेनापतिरेवात्रापि वर्णितः। तत्रैवं पृच्छा ? कश्चैवं वर्णयति? यदि कश्चन मनुष्य इति चेत्, मन्त्राणां पौरुषेयत्वापत्तिः, ईश्वरवक्तृको वेद इतिसिद्धान्तव्याहतिश्च। ईश्वरवक्तृकत्वे च कथमीश्वरस्य स्वं प्रति तत्सुखयितृत्वकामना सम्भवति, ईश्वरस्य परमानन्दरूपत्वेन अवाप्त-समस्तकामत्वात्। अतः कस्य कं प्रत्येतद्वर्णनमित्यपि चिन्त्यमेव। तस्मादुव्वटमहीधरोक्त एव समीचीनो वेदार्थः।

यच्च तेनोक्तम्—'ब्रह्मध्याने समाधिकाले ताम्रारुणबभ्रुनीलरक्तवर्णानां साक्षात्कारो भवति। तस्यात्मनः प्रभावाद् रोदनशीलाः सहस्रशः प्राणिन आश्रिताः। तस्यानादरं न कुर्मः, यतस्तत्र स एव चेतनांशो योऽस्मासु विद्यते। नीलमणिवत् स्वच्छं कान्तिमन्तं विशुद्धलोहितं जितेन्द्रिया अभ्यासिनो ब्रह्मामृतरसपायिनश्चित्तभूतयः साक्षात्कुर्वन्ति, सोऽस्मान् सुखयतु' इति, तदपि न युक्तम्, समाधिकाले नीलरक्तादिवर्णानां प्रतीतावपि तेषामात्मना कः सम्बन्धः ? यदि त्वात्मन एव ताम्रारुणादिवर्णवत्त्वेन भानम्, तदा दत्तो जलाञ्जलिस्त्वया निराकारत्वेनाभि-मताय स्वसिद्धान्ताय। नीलमणिवत् स्वच्छत्वे कान्तिमत्त्वे च सति निराकारत्वहानिरेव। रक्तमणिवद्विशुद्धलोहि-तत्वमपि निराकारस्य न सम्भवत्येव, कण्ठशब्दस्य निरर्थकत्वापत्तिश्च। चित्तभूतयस्तु दृश्यत्वाज्जडत्वाच्च न तं साक्षात्कर्तुं प्रभवेयुः, चक्षुषा द्रष्टुरिव दृश्याभिस्ताभिर्दृशोऽवभासासम्भवात्। सिद्धान्ते तु निराकारस्यापि सर्व-शक्तिमतः परमेश्वरस्य दिव्यलीलाशक्त्या साकारत्वाद्युपपत्तिः।

यदपि चोक्तम्—'पातकिनां पीडकत्वात् ताम्रत्वम्, शरणदत्वादरुणत्वम्, पोषकत्वाद् बभ्रुत्वम्, सुख-मयेन रूपेण व्यापकत्वात् सुमङ्गलत्वम्। समस्तानां महाशक्तीनामाश्रयत्वात् तदनादरणं न युक्तम्। स एव प्रलय-

---

'पुरः' अर्थ के करने में क्या प्रमाण है ? यह भी आपने नहीं बताया है। 'नेत्रैर्दृष्टः' से यहां पर भी 'सेनापति' का ही वर्णन किया है। उस पर यह पूछा जा सकता है कि यह वर्णन कौन कर रहा है ? इसके उत्तर में यदि यह कहें कि कोई मनुष्य वर्णन कर रहा है, तो 'मन्त्रों' को पौरुषेय कहना होगा और 'ईश्वरवक्तृक वेद' है, इस सिद्धान्त को हानि होगी। ईश्वरवक्तृक मानने पर उस ईश्वर के मन में दूसरों को सुखी करने की कामना क्यों होगी ? क्योंकि ईश्वर तो परमानन्द-स्वरूप होने से वह तो अवाप्तसमस्तकाम है, उसे कोई कामना करनी नहीं है। अतः यह वर्णन किसका और किसके लिये है ? यह विचारणीय ही है। तस्मात् उव्वट-महीधरोक्त अर्थ ही सुसंगत वेदार्थ है।

यह जो उसने कहा है—'ब्रह्म का ध्यान करने में, यानी समाधिकाल में ताम्र के तुल्य अरुण, बभ्रु, नील, रक्तादि वर्णों का साक्षात्कार होता है। उस आत्मा के प्रभाव से रोदनशील सहस्रशः जो प्राणी आश्रित हैं, उनका अनादर हमें नहीं करना चाहिये, क्योंकि वहां भी वही चेतनांश है, जो हममें है। जितेन्द्रिय, अभ्यासी, ब्रह्मामृत के रस का पान करने में जिनका चित्त लगा हुआ है, वे लोग नीलमणि के तुल्य स्वच्छ कान्तिसम्पन्न विशुद्धलोहित का साक्षात्कार कर पाते हैं, ऐसा वह विशुद्धलोहित हम लोगों को सुखी करे'। किन्तु यह कथन भी युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि समाधिकाल में नील-रक्तादि वर्णों की प्रतीति होने पर भी उनका आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है ? यदि यह कहो कि आत्मा के ताम्र-अरुण आदि वर्णों का भान होने से आत्मा का ही भान होता है, तब तो आपने अपने निराकारता के सिद्धान्त को जलाञ्जलि ही दे दी, यही कहना पड़ेगा। नीलमणिवत् स्वच्छ और कान्तिमान् कहने पर 'निराकारत्व' सिद्धान्त को हानि हो ही गई। रक्त मणि के समान विशुद्धलोहितत्व का संभव भी 'निराकार' में कैसे हो सकेगा ? तब 'कण्ठ' शब्द को निरर्थक कहना होगा। चित्तभूमियां तो दृश्य और जड़ होने से उसका साक्षात्कार करने में समर्थ नहीं हो सकतीं। द्रष्टा को चक्षु से जैसा अवभास होता है, वैसा अवभास उन दृश्य और जड़ चित्तभूमियों को कदापि नहीं हो सकता। हमारे सिद्धान्त के अनुसार तो परमेश्वर निराकार होने पर भी सर्वशक्तिसम्पन्न रहने से अपनी दिव्य लीलाशक्ति के द्वारा उसका साकार होना भी उपपन्न हो जाता है।

यह जो कहा है—'पातकियों को पीड़ा देने से उसकी 'ताम्रता' है, शरणद होने से उसकी 'अरुणता' है, पोषक होने से उसकी 'बभ्रुता' है, अपने सुखमय रूप से सर्वत्र व्यापक रहने से उसकी 'सुमङ्गलता' है और सम्पूर्ण महाशक्तियों का

काले जगल्लयाधारत्वाद् नीलग्रीवः, सृष्टिकाले विविधवस्तूनां नैरन्तर्येणोत्पादकत्वाद् विलोहितः, तं संयमिजना ब्रह्मरसपायिन्य ऋतम्भराश्चित्तवृत्तयश्च साक्षात्कुर्वन्ति। स ईश्वरो नो मृडयतु' इति, तदपि चिन्त्यम्, हेडःशब्दस्य क्रोधार्थकत्वे हेडः क्रोधम् अव ईमहे अवनमयामो निवारयाम इत्यर्थो भवति। हेड इत्यस्य अनादरार्थत्वे तदकरणबोधकत्वं कस्य शब्दस्यार्थः ? 'लीनमास्यं मुखं प्रवृत्तिद्वारं रागादि येषां ते तथा' इति, तदपि न क्षोदक्षमम्, राज-सेनापति-सैनिक-महत्त्ववर्णनप्रसङ्गे परमेश्वरवर्णनस्याकाण्डताण्डवायितत्वात्, विसङ्गतेश्च। असत्यामनुपपत्तौ पदानां मुख्यार्थत्यागेन वृत्त्यन्तराश्रयणं दूषणमेव। किञ्च, साक्षात्कर्तृत्वमपि प्रमातृनिष्ठं भवति, न प्रमाणरूपचित्तवृत्तिनिष्ठमित्यादि विभावनीयम् ॥ ७ ॥

नमो॑ऽस्तु॒ नील॑ग्रीवाय सहस्रा॒क्षाय॑ मी॒ढुषे॑।
अथो॒ ये अ॑स्य॒ सत्वा॑नो॒ऽहं तेभ्यो॑ऽकरं॒ नमः॑ ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—नीलकण्ठ, सहस्रनेत्र, इन्द्रस्वरूप और वृष्टि करने वाले रुद्र को मेरा प्रणाम है। उसके जो भृत्य हैं, उनको भी मैं प्रणाम करता हूं ॥ ८ ॥

नीलग्रीवाय नीलकण्ठाय सहस्राक्षाय अनन्ताक्षिपादादिमते। सर्वप्राणिनामात्मत्वात् सर्वेषामक्षिपादादीनि तस्यैव। 'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' (भ० गी० १३।१३)। अथवा सहस्रं सहस्रसंख्यापरिमितानि, अक्षीणि चक्षूंषि (इन्द्रस्वरूपे यस्य स सहस्राक्षस्तस्मै, 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (पा० सू० ५।४।११३) इति रूपसिद्धिः। मीढुषे मिमेहेति मीढ्वान्, 'मिह सेचने' अस्मात् 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' (पा० सू० ६।१।१२) इति क्वसन्तो निपातः। तस्मै नित्यतरुणाय शश्वदपरिणामिने भगवते। सेक्त्रे वृष्टिकर्त्रे

आश्रय होने से उसका अनादर करना उचित नहीं है। वही प्रलय काल में सम्पूर्ण जगत् के लय का आधार होने से 'नीलग्रीव' है, सृष्टि काल में निरन्तर विविध वस्तुओं का उत्पादक होने से 'विलोहित' है। उसका साक्षात्कार संयमी लोग और ब्रह्मरस का पान करने वाली ऋतम्भरा चित्तवृत्तियां किया करती हैं। वह ईश्वर हमें सुखी करे' इति। किन्तु यह अर्थ भी विचारणीय है। 'हेड' शब्द को क्रोधार्थक मानने पर 'हेडः क्रोधम् अव ईमहे' अर्थात् क्रोध का निवारण करते हैं, यह अर्थ होता है। तथा 'हेड' शब्द को अनादरार्थक मानने पर उसे न करने का बोध कराने वाला कौन सा शब्द है ? 'लीयमानस्य मुखं प्रवृत्तिद्वारं रागादि येषां ते तथा' अर्थात् 'लीन होने वाले के प्रवृत्तिद्वार रागादि हैं जिनके' यह अर्थ भी असंगत है, क्योंकि राजा के सेनापति-सैनिकों का महत्त्व वर्णन करने के प्रसंग में परमेश्वर का वर्णन कर बैठना अकाण्डताण्डव का ही आचरण कर दिया है और वह असंगत भी है। किसी अनुपपत्ति के न होते हुए भी पदों के मुख्यार्थ का त्याग कर वृत्त्यन्तर का आश्रय करना तो दोष ही कहलायगा। साक्षात्कारित्व भी प्रमातृनिष्ठ होता है, प्रमाणरूप चित्तवृत्तिनिष्ठ नहीं। इत्यादि बातें सभी विचारणीय ही हैं ॥ ७ ॥

जो नीलकण्ठ है, जिसके अक्षि-पाद आदि अनन्त हैं, क्योंकि समस्त प्राणियों का वह आत्मा है, अतः सभी के जो अक्ष-पाद आदि हैं, वे सब उसी के हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' (१३।१३)। अथवा 'सहस्रम्' सहस्रसंख्यापरिमित 'अक्षीणि' चक्षु (नेत्र) हैं जिसके, उसे सहस्राक्ष कहते हैं, अर्थात् 'देवराज इन्द्र'। उस इन्द्र के लिये 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' (पा० सू० ५।४।११३) से इस 'सहस्राक्ष' पद की की सिद्धि होती है। 'मीढुषे' मिमेह इति मीढ्वान्, 'मिह सेचने' धातु से 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' (पा० सू० ६।१।१२)

पर्जन्यरूपाय वा। नमो नमस्कारः, हृद्वाग्वपुर्भिः प्रह्वीभावोऽस्तु। अथो अपि च, येऽस्य सत्त्वानः सत्त्वभूता रुद्रा भृत्या वा, अहं तेभ्यो नमो नमस्कारम् अकरं करोमि। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति कालसामान्ये लङ्।

अपर आह—'नीलग्रीवाय नीलमणिभूषितकण्ठाय सहस्राक्षाय सहस्रसंख्याकेषु जनेषु दृष्टिमते मीढुषे प्रजासु सुखवर्षुकाय सेनापतये नमोऽस्तु। शत्रूणां नमनानि वज्राणि अन्नमादरभावश्च उपनमन्तु। ये चास्याधीनाः सामर्थ्यवन्तो वीरास्तेभ्यो वयं प्रजाजना अन्नादिभोगपदार्थान् शस्त्रास्त्रबलानि सम्मानं चोपहरामः' इति, तदपि न क्षोदक्षमम्, नमःपदेन नमस्कारविज्ञानात्। शस्त्रास्त्रबलादिभोगपदार्थसमर्पणं तु कुतो विज्ञायत इति व्याख्यातैव विचारयतु। सेनापतिः सैनिकाश्च काल्पनिका एवेत्युव्वटमहीधरादिसम्मत एवार्थो युक्तः॥ ८॥

प्रमु॑ञ्च॒ धन्व॑न॒स्त्वमु॒भयो॒रार्त्न्यो॒र्ज्याम्।
याश्च॑ ते॒ हस्त॒ इष॑वः॒ परा॒ ता भ॑गवो वप॥ ९॥

मन्त्रार्थ—हे भगवन्! आप धनुष की दोनों कोटियों में अटकी हुई डोरी (प्रत्यंचा) का त्याग कर दें और अपने हाथ में स्थित बाणों का भी त्याग कर दें॥ ९॥

तमेव भगवन्तं स्तुवन्नाह—हे भगवः, भगं षड्विधमैश्वर्यमस्यास्तीति भगवान्। 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥' इति रीत्या नित्ययोगेऽतिशायने चात्र 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (पा० सू० ५।२।९४) इति मतुप्प्रत्ययो बोध्यः। तेन षड्विधमैश्वर्यं नित्यं निरतिशयं च यत्र स्यात्, स एव भगवान् भवति। अत एव—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग

इन ववसन्त शब्दों का निपातन किया गया है। नित्यतरुण, शश्वत् अपरिणामी भगवान् के लिये नमस्कार, अर्थात् हृदय, वाणी, शरीर यानी शरीर, वाणी और मन से हमारा सर्वदा प्रह्वीभाव रहे। 'अथो'=अपि च, जो इसके सत्त्वभूत रुद्र अथवा भृत्य हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ। मन्त्र में 'अकरम्' यह कालसामान्य में 'लङ्' का प्रयोग किया गया है।

किसी ने उक्त मन्त्र की व्याख्या यह की है—'नीलमणि भूषित कण्ठवाले और हजारों जनों में जो दृष्टिमान् है तथा प्रजाओं पर सुख की वर्षा करने वाले सेनापति के लिये हमारा नमस्कार रहे। शत्रुओं के नमन, वज्र, अन्न और आदरभाव ये सब हमें प्राप्त हों। जो इसके अधीन रहने वाले सामर्थ्यवान् वीर हैं, उनके लिये हम प्रजाजन अन्नादि भोग्य पदार्थ और शस्त्र-अस्त्र बल, सम्मान देते रहें'। किन्तु यह अर्थ उचित नहीं है, क्योंकि 'नमः' पद से नमस्कार विज्ञान, शस्त्रास्त्र बलादि भोगपदार्थ समर्पण करना, यह आपने किस शब्द से जान लिया? इसका विचार व्याख्याता ही करे। सेनापति और सैनिक सब कपोलकल्पित ही बना लिये हैं। अतः उव्वट-महीधरादिसम्मत अर्थ ही उचित है॥ ८॥

उसी भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं—हे भगवः! 'भगं षड्विधमैश्वर्यं यस्यास्तीति भगवान्' अर्थात् षड्विध ऐश्वर्य है जिसके पास, उसे भगवान् कहते हैं। 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥' इस रीति से यहाँ पर नित्ययोग और अतिशायन अर्थ में 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'(पा. सू. ५।२।९४) सूत्र से 'मतुप्' प्रत्यय हुआ समझना चाहिये। अतः जहाँ यानी जिसके पास षड्विध ऐश्वर्य नित्य और निरतिशय हो, उसी को 'भगवान्' कहा जा सकता है। अत एव—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव

इतीरणा ॥' (विष्णुपुराण ६।५।७४) इत्यत्र समग्रमिति विशेषणमैश्वर्यादिभिः सर्वैरेव शब्दैः सम्बद्धयते। समग्रस्य नित्यस्य निरतिशयस्य ऐश्वर्यस्य तथाविधस्यैव धर्मादेश्च भग इतीरणा, भगशब्देनैते ज्ञायन्त इत्यर्थः। 'ईर गतौ कम्पने च' इति धातुः। अत एव तदनुग्रहेणैत्र अन्येऽपीन्द्रादयो देवा ऐश्वर्यंभाजो भवन्ति। 'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥' एवंविधो भगवानीश्वर एव भवति। अन्यत्र तु गौण्या वृत्त्यैव भगवच्छब्दप्रयोगः, तत्सम्बुद्धौ हे भगवन्, धन्वनो धनुषः, उभयोर् आर्त्न्योः कोट्योः स्थितां ज्यां मौर्वीं त्वं प्रमुञ्च प्रकृष्टतया दूरीकुरु। याश्च ते हस्ते इषवो बाणास्ता इषूः परावप पराक्षिप। भक्तानां निर्भयत्वाय परित्यजेत्यर्थः।

अपर आह—'हे सेनापते, धन्वनो धनुषः, आर्त्न्योः कोटयोः, जयदायिनीं ज्यां योजय। ये च त्वदीयहस्ते बाणाः सन्ति, तान् हे ऐश्वर्यवन्, दूरपर्यन्तं शत्रुषु प्रक्षिप' इति, तदपि कल्पनादावदग्धम्, प्रोपसृष्टस्य मोक्षणार्थस्य मुचेः क्रियापदस्य प्रकर्षतया मोक्षणमर्थः, न तु योजनम्। मन्त्रे योजनार्थको नास्ति कश्चन शब्दः। परावपेति क्रियापदस्य दूरदेशसम्बन्धेनैव नैराकाङ्क्ष्ये शत्रुष्वित्यादिशब्दाध्याहारे किं मूलम्? शत्रुष्वित्यादीनामध्याहारेण वा नैराकाङ्क्ष्ये दूरपर्यन्तेत्यध्याहारे वा न किमपि मूलमिति विचारे क्रियमाणे व्याख्याया निःसारत्वानपायात् ॥ ९ ॥

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाँ२॥ उत।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—जटाजूट धारण करने वाले रुद्र का धनुष प्रत्यंचारहित रहे, तूणीर में स्थित, बाणों के नोंकवार अग्र भाग नष्ट हो जाँय, उसके बाण नष्ट हो जाँय तथा तलवार का कोष भी तलवार से रहित हो जाय ॥ १०॥

षण्णां भग इतीरणा॥' (वि० पु० ६।५।७४)। यहाँ पर 'समग्र' इस विशेषण का सम्बन्ध ऐश्वर्यादि सभी शब्दों के साथ है। अर्थात् समग्र नित्य निरतिशय ऐश्वर्य को, उसी प्रकार के धर्म आदि को भी 'भग' शब्द से जाना जाता है। 'ईरणा' में 'ईर गतौ कम्पने च' धातु है। उस भगवान् के ही अनुग्रह से अन्य इन्द्र आदि देवता भी ऐश्वर्यवान् हो जाते हैं। 'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥' इस प्रकार का भगवान् तो ईश्वर ही हो सकता है। उसके अतिरिक्त जहाँ कहीं 'भगवत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह गौणी वृत्ति से ही किया जाता है। 'भगवत्' शब्द के संबोधन का एकवचन 'हे भगवः' यानी हे भगवन्! तुम धनुष को दोनों कोटियों पर स्थित मौर्वी (प्रत्यंचा) को 'प्रमुञ्च' अर्थात् प्रकृष्टतया दूर कर दो। तथा तुम्हारे हाथ में जो बाण है, उन बाणों को भक्तों की निर्भयता के लिये त्याग दो।

किसी ने इस मन्त्र की व्याख्या यह की है—'हे सेनापते! धनुष की दोनों कोटियों पर जय देने वाली प्रत्यंचा को चढ़ाओ। तुम्हारे हाथ में जो बाण हैं, उन्हें हे ऐश्वर्यशालिन्! दूर तक शत्रुओं पर फेंको' इति। किन्तु इस प्रकार से की गई अपनी व्याख्या को व्याख्याकार ने ही अपनी कल्पना की दावाग्नि में जला दिया है। 'प्र' उपसर्गपूर्वक मोक्षणार्थक 'मुच्' धातु से निष्पन्न 'प्रमुञ्च' क्रियापद का अर्थ 'प्रकर्षतया मोक्षण' होता है, 'योजन' करना नहीं। मन्त्र में 'योजना' के अर्थ को बताने वाला कोई भी शब्द नहीं है। 'परावप' इस क्रियापद की आकांक्षा, 'दूरदेश के सम्बन्ध' से ही शान्त हो जाती है, तब 'शत्रुओं पर' इत्यादि शब्द के अध्याहार करने की निर्मूलता स्पष्ट ही है। अथवा 'शत्रुषु' इस अध्याहार से ही नैराकांक्ष्य मान लिया जाय, तो 'दूरपर्यन्तम्' इस प्रकार के अध्याहार करने में कोई भी मूल नहीं है। इस रीति से विचार करने पर व्याख्या की निःसारता स्पष्ट हो जाती है ॥ ९ ॥

कपर्दिनो जटाबन्धनवतः। पर्वणं पर्, 'पर्व पूरणे' इत्यस्मात् सम्पदादित्वाद् भावे क्विप्। 'राल्लोपः'(पा० सू० ६।४।२१) इति वकारस्य लोपे पर्। केन सुखेन अनायासेन जलेन वा परं भक्तमनोरथानां पूरणं ददातीति कपर्दः। अथवा कस्य जलस्य परा पूरणेन दायति शोधयति मनोमलमिति कपर्दः, 'कपर्दोऽस्य जटाजूटः' (अ० को० १।१।३५) इति कोषात्। कपर्दोऽस्यास्तीति कपर्दी, तस्य रुद्रस्य धनुः, विज्यं विगता ज्या यस्मात् तत्, मौर्वीरहितमस्तु। उतापि च बाणवान् बाणाः सन्त्यस्मिन्निति इषुधिः, इषवो धीयन्तेऽस्मिन्निति स तथोक्तो विशल्यः शल्यं बाणाग्रगतो लौहभागः, विगतं शल्यं फलं यस्मात् स तथाविधः, अस्य तूणीरः फलरहितबाणवान् भवत्वित्यर्थः। अस्य रुद्रस्य या इषवः फलरहितबाणाः, ता अपि अनेशन् नश्यन्तु। अदर्शनार्थकस्य नशेर्लुङि प्रथमपुरुषबहुवचने पुषादित्वात् च्लेरङि नशेरत एवे च अनेशन्निति रूपम्। किञ्चास्य रुद्रस्य निषङ्गधिः, निषज्यते गात्रेष्विति निषङ्गः खड्गः, स धीयतेऽस्मिन्निति निषङ्गधिः असिकोशः, आभुः आसमन्ताद् भावयति प्रकाशयति स्वात्मरूपमिति आभुः रिक्तः। 'आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च' (उ० १।३३) इति बाहुलकाद् उप्रत्यये रूपम्। अस्य असिकोशोऽपि खड्गरहितो भवत्वित्यर्थः। अथवा नितरां सजति सङ्गं करोतीति निषङ्गधिस्तूणीरो बाणकोशः। 'नौ सञ्जेर्घिन्' (उ० ४।८८) इति निपूर्वकात् परिष्वङ्गार्थकात् सञ्जेर्घिन्प्रत्ययः। 'लशक्वतद्धिते' (पा० सू० १।३।८) इति घकारस्येत्संज्ञायाम्, 'चजोः कु घिण्यतोः' (पा० सू० ७।३।५२) इति कुत्वे रूपम्। अस्मान् प्रति न्यस्तसर्वशस्त्रो भगवान् रुद्रो भवत्वित्यर्थः। यथा व्याघ्र्या नखा दंष्ट्राश्च स्वशावकान् प्रति अकिञ्चित्करा भवन्ति, तथैव भगवतः सर्वाणि शस्त्रास्त्राण्यनुद्वेगकराणि भक्तरक्षकाणि च भवन्त्वित्यर्थः।

'कपर्दिनः' जटाबन्धन से युक्त। 'पर्वणं पर्' 'पर्व पूरणे' धातु से 'सम्पदादित्वात्' भाव अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय, और 'राल्लोपः' (पा० सू० ६।४।२१) से 'वकार' का लोप कर देने से 'पर्' बना। 'केन सुखेन अनायासेन जलेन वा परं भक्तमनोरथानां पूरणं ददाति इति कपर्दः। अर्थात् अनायास ही अथवा जल से भक्तों के मनोरथों को जो पूर्ण कर देता है. वह कपर्द है। अथवा 'कस्य जलस्य परा-पूरणेन दायति शोधयति मनोबलम् इति कपर्दः'। अर्थात् जल का पूरण करके मनोबल का जो शोधन करता है, उसे कपर्द कहते हैं। 'कपर्द' शब्द का अर्थ 'कपर्दोऽस्य जटाजूटः' कोष के अनुसार 'जटाजूट' है। 'कपर्दः अस्य अस्तीति कपर्दी तस्य कपर्दिनः'। जटाजूट है जिसके उसे कपर्दी कहते हैं, उस कपर्दी यानी रुद्र का धनुष प्रत्यञ्चारहित हो और 'बाणवान्' बाणाः सन्ति अस्मिन् इति ऐसा 'इषुधिः' इषवो धीयन्ते अस्मिन् इति सः अर्थात् बाण जिसमें रखे जाते हैं, यानी तरकस (भाता) विशल्य रहे। 'शल्यः' अर्थात् बाण का अग्र भाग (लौह भाग) 'विगतं शल्यं फलं यस्मात् सः' लौह भाग से रहित रहे, अर्थात् उसका तूणीर (तरकस) फलरहित बाणवान् रहे। उस रुद्र के इषु (बाण) यानी फलरहित बाण भी नष्ट हों। 'नश्' धातु से लुङ् लकार में 'पुषादित्वात् च्लेरङि' से नश के अकार को एत्व और तकार को नकार होने पर 'अनेशन्' रूप सिद्ध होता है। किञ्च, अदर्शनार्थक नश् धातु से लुङ् लकार के प्रथम पुरुष बहुवचन में 'पुषादित्वात् च्लेरङि' च्लि को अङ् होने पर नश के अकार को एत्व करने पर 'अनेशन्' रूप बनता है। किञ्च, इस रुद्र का 'निषङ्गधिः' निषज्यते गात्रेषु इति निषङ्गः, स धीयते अस्मिन् इति निषङ्गधिः, अर्थात् असिकोष, 'आभुः' आसमन्ताद् भावयति प्रकाशयति स्वात्मरूपम् इति आभुः, अर्थात् रिक्त हो जाय। 'आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च' (उ० १।३३) से बाहुलकात् 'उ' प्रत्यय करने पर 'आभुः' रूप बनता है। अर्थात् इसका असिकोश भी खड्गरहित हो जाय। अर्थात् हमारे प्रति समस्त शस्त्रों को त्याग कर भगवान् रुद्र शान्त हो जांय। व्याघ्री के नख और दंष्ट्राएँ अपने बच्चों के प्रति जैसे अकिञ्चित्कर रहते हैं, वैसे ही भगवान् के समस्त शस्त्र-अस्त्र भी हम लोगों के लिये अनुद्वेगकर और भक्तरक्षक हो जांय।

यत्तु कश्चित्—'शिरसि शुभं पल्लवाङ्कुरं शिरोभूषणं मुकुटविशेषं वा धृतवतो वीरपुरुषस्य धनुः किं ज्यारहितं सम्भवति ? न चेत्तदीयतूणीरमपि बाणशून्यं कथं स्थास्यति ? तस्य बाणाः किं नश्यन्ति ? एवं किं तस्यासिकोशोऽसिहीनः सम्भवति ? नैतत्सर्वं कदाचिदपि सम्भवति' इति, तच्चिन्त्यम्, मन्त्रेऽस्मिन्नाक्षेपार्थकस्य किमादेरप्रयोगात्। उतेति निपातोऽप्यर्थकः। एवं कपर्दशब्दो जटाजूटे प्रसिद्धः। तथा चामरसिंहवचनमुद्धृतम्। तद्वान् कपर्दी शङ्कर एवात्र गृह्यते, तत्रास्य शब्दस्य योगरूढत्वात्। विशल्य इति पदस्यार्थोऽपि न कृतः। वेदाक्षरानुसारी त्वक्षरार्थं उव्वटमहीधरसम्मतो मदुक्त एव ग्राह्यः ॥ १० ॥

या ते॑ हे॒तिर्मी॑ढुष्टम॒ हस्ते॑ ब॒भूव॑ ते॒ धनुः॑।
तया॒स्मान् वि॒श्वत॒स्त्वम॑य॒क्ष्मया॒ परि॑भुज ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे अत्यधिक वृष्टि करने वाले रुद्र ! तुम्हारे हाथ में जो धनुष है, उस सुदृढ धनुष से हमारी सब ओर से रक्षा करो ॥ ११ ॥

हे मीढुष्टम, अतिशयेन वर्षणशील ! 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' (पा० सू० ६।१।१२) इति सूत्रेण क्वसन्तो निपातो मीढ्वानिति। अतिशयेन मीढ्वान् मीढुष्टमः। 'तसौ मत्वर्थे' (पा० सू० १।४।१९) इति भसंज्ञायाम्, 'वसोः सम्प्रसारणम्' (पा० सू० ६।४।१३१) इति सम्प्रसारणे, 'सम्प्रसारणाच्च' (पा० सू० ६।१।१०८) इति पूर्वरूपे, 'आदेशप्रत्यययोः' (पा० सू० ८।३।५९) इति मूर्धन्यादेशे, 'ष्टुना ष्टुः' (पा० सू० ८।४।४१) इति ष्टुत्वे रूपसिद्धिः। सेक्तृतमो वर्षुकः यविष्ठो वा, 'नमो बंहिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमः' (महिम्नस्तोत्र० २९) इत्युक्तेः। परिणामनिषेधेन षड्विधभावविकारविवर्जितः परमेश्वरोऽत्र सम्बोध्यते। अथवा—'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥' (भ० गी० १४।३) इति रीत्या प्रकृतिरूपायां योनौ स्वप्रतिबिम्बमयवीर्या-

---

किसी ने यह व्याख्या की है—'सिर पर शुभ पल्लवाङ्कुररूप शिरोभूषण अथवा मुकुटविशेष को धारण करने वाले वीर पुरुष का धनुष क्या प्रत्यञ्चा से रहित हो सकता है ? यदि ज्यारहित होना संभव नहीं है, तो उससे सम्बद्ध तूणीर भी बाणशून्य कैसे रहेगा ? उसके बाण क्या नष्ट होते हैं ? उसी प्रकार क्या उसका असिकोष असिरहित होना संभव है ? ये सब बातें कदापि संभव नहीं हो सकतीं'। किन्तु यह व्याख्या चिन्तनीय ही है, क्योंकि प्रस्तुत मन्त्र में आक्षेपार्थक 'किम्' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं है। 'उत' यह निपात 'अपि' के अर्थ में है। इसी प्रकार 'कपर्द' शब्द 'जटाजूट' में प्रसिद्ध है। उसके समर्थन में अमरसिंह का वचन पहले उद्धृत कर ही दिया है। तद्वान् यानी जटा-जूटवान् कपर्दी शब्द से 'शङ्कर' का ग्रहण यहाँ पर किया जाता है। शङ्कर के अर्थ में यह कपर्दी शब्द योगरूढ़ है। 'विशल्य' पद का अर्थ भी नहीं किया। उव्वट-महीधरसम्मत वेदाक्षरानुसारी अक्षरार्थ को हमने ऊपर बताया है, अतः वही ग्राह्य है ॥ १० ॥

हे मीढुष्टम ! खूब अच्छी तरह से वर्षण करने वाले ! 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' (पा० सू० ६।१।१२) सूत्र से 'मीढ्वान्' यह क्वसन्त निपात किया गया है। अतिशयेन मीढ्वान् इति मीढुष्टतमः। 'तसौ मत्वर्थे' (पा० सू० १।४।१९) से भसंज्ञा और 'वसोः सम्प्रसारणम्' (पा० सू० ६।४।१३१) से सम्प्रसारण, तदन्तर 'सम्प्रसारणाच्च' (पा० सू० ६।१।१०८) से पूर्वरूप और 'आदेशप्रत्यययोः' (पा० सू० ८।३।५९) से मूर्धन्यादेश, 'ष्टुना ष्टुः' (पा० सू० ७।४।४१) से ष्टुत्व करने पर 'मीढुष्टतमः' रूप निष्पन्न होता है। 'मीढुष्टतम' का अर्थ है—सेक्तृतम, वर्षुक अथवा यविष्ठ, क्योंकि महिम्नस्तोत्र में कहा गया है—'नमो बंहिष्ठाय त्रिनयनयविष्ठाय च नमः' (महि० स्तो० १९)। परिणामनिषेध से षड्भाव विकारों से विवर्जित परमेश्वर को ही यहाँ सम्बोधित किया गया है। अथवा—'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥' (भ० गी० १४।३) इस वचन की रीति से प्रकृति रूप योनि में स्वप्रतिबिम्बमय वीर्य के आधायक होने से सर्वोत्पादक परमेश्वर है, अतः वह सेक्तृतम कहलाता है, यानी मीढुष्टतम कहलाता है, उसका संबोधन में रूप है—हे

धायकत्वेन सर्वोत्पादकत्वात् परमेश्वरः सेक्तृतमो भवति, तत्सम्बुद्धौ। ते तव हस्ते या हेतिर्वज्रोपमो बाणविशेषो विद्यते, यच्च ते धनुर्बभूव अस्ति, तया धनूरूपया अयक्ष्मया अविद्यमानो यक्ष्मा रोगो यस्यां सा अयक्ष्मा। 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' (पा० सू० २।२।४, वा० २) इति रूपसिद्धिः। तया रोगरहितया दृढया अनुपद्रवंकारिण्या वा हेत्या विश्वतः सर्वतोऽस्मान् परिभुज परिपालय। 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इति भुजेः रौधादिकस्य सतो विकरणव्यत्ययेन तौदादिकः शः।

अपरस्त्वाह—'हे अधिकवीर्यशालिन्, शत्रूणामुपरि मेघवच्छरवर्षक! त्वदीये हस्ते वज्रं धनुश्चास्ति, तेन अरुग्णेन विशुद्धबाणेन त्वं सर्वप्रकारेण अभितोऽस्मान् रक्ष। अत्र व्याख्याने द्वितीयस्य तेशब्दस्य व्याख्या न कृता' इति, तन्न क्षोदक्षमम्, शरवर्षकेऽर्थे मीढुष्टमशब्दस्य स्वाभाविक्या वृत्त्या अप्रवृत्तेः। जलवर्षणादिरूपेऽर्थे एव तस्य स्वाभाविकी प्रवृत्तिः, अत्रापि लौकिकवीरस्तावकत्वेनानुवादकत्वेन वेदस्याप्रामाण्यापत्तेर्दुर्निवारत्वात्॥ ११॥

परि॑ ते॒ धन्व॑नो हे॒तिर॒स्मान् वृ॑णक्तु वि॒श्वतः॑।
अथो॒ य इ॑षु॒धिस्तवा॒रे अ॒स्मन्नि धे॑हि॒ तम्॥ १२॥

मन्त्रार्थ—हे रुद्र! तुम्हारा धनुषरूप आयुध सब ओर से हमारा त्याग करे, अर्थात् हमें न मारे। तुम अपने बाणों से भरे तूणीर को हमसे दूर रखो॥ १२॥

हे रुद्र, ते तव धन्वनो धनुःसम्बन्धिनी धनुःप्रेरिता वा हेतिः। आयुधं विश्वतः सर्वतोऽस्मान् परिवृणक्तु परिवर्जयतु, मा हन्त्वित्यर्थः। अथो अपि च, यस्तव इषुधिस्तूणीरः, तमस्मद् अस्मत्सकाशाद् आरे दूरे निधेहि स्थापय। अपराधप्रसङ्गेन शत्रुकृतप्रयोगादिप्रभावेण वा प्रवृत्तानां रुद्रायुधादीनाम् अवरोधाय इयमभ्यर्थना ज्ञेया।

मीढुष्टम। तुम्हारे हाथ में जो वज्र के तुल्य बाणविशेष है और जो तुम्हारा धनुष है, उस धनुष रूप अयक्ष्मा से 'अविद्यमानो यक्ष्मा रोगो यस्यां सा अयक्ष्मा'। 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोप-' (पा० सू० २।२।४, वा० २) इस रीति से 'अयक्ष्मा' यह रूप सिद्ध होता है। इस रोगरहित दृढ अथवा अनुपद्रवकारी हेति (शस्त्र) से हमारा सर्वथा पालन करो। 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इस रौधादिक भुज धातु से विकरण व्यत्यय से तौदादिक 'श' हुआ है।

किसी ने इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—'हे अधिक वीर्यशालिन्! शत्रुओं पर मेघ के समान बाणों की वर्षा करनेवाले! तुम्हारे हाथ में वज्र और धनुष है, उस अरुग्ण यानी विशुद्ध बाण से तुम सब प्रकार से चारों ओर से हमारी रक्षा करो'। इस व्याख्या में द्वितीय 'ते' शब्द की व्याख्या नहीं की गई है। 'मीढुष्टम' शब्द स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि वह जलवर्षणादि रूप अर्थ में साधारण है', किन्तु यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि शरवर्षक अर्थ में 'मीढुष्टम' शब्द की स्वाभाविक वृत्ति से प्रवृत्ति नहीं है। जलवर्षणादि रूप अर्थ में ही उस शब्द की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यहाँ भी लौकिक वीरों की स्तुति होने से अनुवादकत्व कहना होगा, जिससे वेद में अप्रामाण्यापत्ति प्राप्त होगी, जो दुर्निवारणीय है॥ ११॥

हे रुद्र! तुम्हारी धनुःसम्बन्धिनी अथवा धनुःप्रेरित हेति यानी आयुध सब ओर से हमें त्याग दे, अर्थात् हमें न मारे। अपि च, जो तुम्हारा तूणीर है, उसको हम लोगों से दूर रखो। अपराध के प्रसंग से अथवा शत्रुकृत प्रयोगादि के प्रभाव से प्रवृत्त रुद्रायुधादिकों के अवरोधनार्थ यह प्रार्थना है।

अपर आह—हे रुद्र, त्वदीयधनुःसम्बन्धिनो बाणाः सर्वतोऽस्मान् रक्षन्तु। ये त्वदीया बाणास्तान् दूरे रक्ष। शास्त्रागाराः शतघ्न्यादयो नगरात् पर्याप्तं दूरे तिष्ठन्तु। यतस्तेषां विस्फोटेन नगरहानिर्न भवेत्। शस्त्रेषु शतघ्न्यो नगरस्याभितो रक्षार्थं नियुज्यन्ताम्' इति, तन्न रोचते, यतो ह्यत्रापि व्याख्याने रुद्रपदेन राजैव विवक्षितः स्यात्। नीतिज्ञो राजा लोकत एवैतज्जानाति। वेदेनापि तदेव बोध्यते चेत्, तदा ध्रुवम् अनुवादकत्वेन वेदस्याप्रामाण्यमापतेत्। परिपूर्वकस्य वृजेर्वर्जनमेवार्थो न रक्षणम्। इषुधिशब्दोऽपि तूणीरे रूढो न शास्त्रागारे। नापीषुशब्देन शतघ्न्यो बोध्यन्ते, निष्प्रमाणत्वात्। आरेशब्द एकधैव प्रयुक्तो दूरत्वबोधकः। द्विवारं तदुपयोगोऽपि अशुद्ध एव ॥ १२ ॥

अवतत्य धनुष्ट्वᳪ सहस्राक्ष शतेषुधे।
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे सौ तूणीर और सहस्र नेत्रधारी इन्द्र! धनुष की प्रत्यंचा दूर करके और बाणों के अग्र भागों को तोड़ कर तुम हमारे विषय में शान्त और सद्बुद्धि धारण करो ॥ १३ ॥

हे सहस्राक्ष, सहस्रम् अक्षीणि नेत्राणि यस्य स सहस्राक्षः, तत्सम्बुद्धौ। हे शतेषुधे शतम् इषुधयो यस्य स शतेषुधिः, तत्सम्बुद्धौ। त्वं धनुर् अवतत्य अवतार्य ज्यारहितं कृत्वा शल्यानां बाणफलानां मुखा मुखानि निशीर्य शातयित्वा कुण्ठितानि कृत्वा अस्मान् प्रति शिवः शान्तः सुमनाः शोभनचित्तो भव, अनुगृहाणेत्यर्थः।

अन्यस्त्वेवमाह—हे सहस्राक्ष, सहस्रशः कार्येषु दृष्टिमन्, बाणशततूणीरवान् शस्त्रागारवांश्च त्वं धनुरवतत्य बाणमुखानि तीक्ष्णीकृत्य अस्मान् प्रति कल्याणकरः शुभचित्तश्च भव' इति, तदपि पूर्वव्याख्यानसदृशमेव

किसी ने इसकी व्याख्या यह की है—'हे रुद्र! तुम्हारे धनुष के बाण हमारी सब तरह से रक्षा करें। जो तुम्हारे बाण हैं, उन्हें दूर रखो।' शतघ्नी आदि शस्त्रागार नगर से पर्याप्त दूर स्थित रहें, क्योंकि उनके विस्फोट हो जाने पर नगर की हानि न हो सके। नगर के चारों ओर रक्षणार्थ शस्त्रों में से शतघ्नियों की नियुक्तियां की जाय', किन्तु यह व्याख्यान ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें भी 'रुद्र' पद से 'राजा' की ही विवक्षा करनी होगी। नीतिज्ञ राजा इन सब बातों को लोक से ही जान लेता है, उन्हीं बातों को यदि वेद भी बोधन कराने लगे, तो निश्चित ही उसे अनुवादक कहना होगा, जिससे वेद में अप्रामाण्य का प्रसंग प्राप्त होगा। परिपूर्वक 'वृज' धातु का 'वर्जन' ही अर्थ है, 'रक्षण' नहीं। 'इषुधि' शब्द भी तूणीर में रूढ है, 'शस्त्रागार' अर्थ में नहीं। 'इषु' शब्द से 'शतघ्नियों' को बोधित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे निष्प्राण हैं। दूरत्व का बोधक 'आरे' शब्द मन्त्र में एक ही बार प्रयुक्त हुआ है। व्याख्याकार के द्वारा उसका दो बार प्रयोग किया जाना भी अशुद्ध है ॥ १२ ॥

हे सहस्राक्ष! 'सहस्रम् अक्षीणि नेत्राणि यस्य स सहस्राक्षः, तत्सम्बुद्धौ' हजार नेत्र हैं जिसके, उसे सहस्राक्ष कहते हैं, उसके सम्बोधन में रूप बना 'सहस्राक्ष!' हे शतेषुधे! 'शतम् इषुधयो यस्य स शतेषुधिः, तत्सम्बुद्धौ' सौ तूणीर हैं जिसके पास, उसे शतेषुधि कहते हैं, उसके संबोधन में 'शतेषुधे' रूप बनता है। तुम अपने धनुष को प्रत्यंचारहित करके और बाणफलकों के मुखों को कुण्ठित करके हम लोगों के प्रति शान्त और प्रसन्नचित्त होकर हम पर अनुग्रह करो।

किसी अन्य व्यक्ति ने यह अर्थ किया है—'हे सहस्राक्ष, यानी हजारों कार्यों में दृष्टि रखनेवाले! सैकड़ों बाण-तूणीर और शस्त्रागारों को रखनेवाले तुम अपने धनुष को खींचकर तथा बाणमुखों को तीक्ष्ण कर हमारे प्रति कल्याणकर और प्रसन्नचित्त हो जाओ', किन्तु यह अर्थ भी पूर्व व्याख्या के समान ही त्याज्य है। 'इषुधि' शब्द को

हेयम्, इषुधिशब्दस्य शस्त्रागारार्थत्वस्य रूढिविरुद्धत्वात्, तूणीरे तस्य योगरूढत्वात्। अवपूर्वस्य ततेरवतारणमेवार्थो न त्वातानम्। शॄ हिंसायामिति धातोर्निपूर्वकान्निष्पन्नस्य निशीर्यशब्दस्य हिंसनमेवार्थो नोत्तेजनम्, तथा प्रयोगादर्शनात्।

सिद्धान्ते तु रुद्र ईश्वरोऽत्र प्रार्थ्यते। तस्य शस्त्राणि शत्रुषु वेदादिशास्त्रादिप्रतीपेषु सुतीक्ष्णान्यपि सन्मार्गस्थान् वैदिकान् प्रति कुण्ठितान्येव भवन्त्विति प्रार्थ्यते। यथा व्याघ्रादीनां नखा दंष्ट्राश्च हिंसनीयान् प्रति तीक्ष्णा अपि स्वशावकान् प्रति कुण्ठिता भवन्तीति, तद्वत्। सहस्राक्षशब्दस्यापि सहस्रकार्यदृष्टित्वं नार्थः, कार्यशब्दस्य तत्रासत्त्वात्॥ १३॥

नम॑स्त॒ आयु॑धा॒याना॑तताय धृ॒ष्णवे॑।
उ॒भाभ्या॑मु॒त ते॒ नमो॑ बा॒हुभ्यां॒ तव॒ धन्व॑ने॥ १४॥

मन्त्रार्थ—हे रुद्र! शत्रुओं को मारने में जो धृष्ट है, ऐसे और धनुष पर न चढ़ाये गये तुम्हारे बाण को हमारा प्रणाम है। तुम्हारे दोनों बाहुओं को और धनुष को भी हमारा प्रणाम है॥ १४॥

हे रुद्र, ते-तव अनातताय धनुष्यनारोपिताय आयुधाय बाणाय नमः। कीदृशाय? धृष्णवे धर्षणशीलाय शत्रुवधे प्रगल्भाय। उत अपि च, तव उभाभ्यां बाहुभ्यां नमः। अनातताय अवतारितज्याय धृष्णवे शत्रुवधप्रगल्भाय धन्वने धनुषे च नमः।

अपर आह—'आयुधाय अभितो योद्ध्रे अनातताय धृष्णवे स्वल्पकायत्वेऽपि शत्रुपराजिष्णवे ते तुभ्यं वयं प्रजागणा नम आदरम् अन्नादिपदार्थांश्च समर्पयामः। त्वदीयपार्श्ववर्तिनीभ्यः सेनाभ्यश्च बलादन्नादिकमुपनयतु। त्वदीयाय धनुष्मते सेनाबलाय च अन्नं वीर्यं चोपतिष्ठतु' इति, तन्न शोभनम्, सर्वस्याप्यर्थस्य उदक्षरत्वात्

शस्त्रागारार्थक बताना रूढिविरुद्ध है, क्योंकि वह 'तूणीर' के अर्थ में योगरूढ है। अवपूर्वक 'तत' का 'अवतारण' ही अर्थ होता है, 'आतानन' नहीं। 'शॄ हिंसायाम्' धातु को 'निर्' उपसर्ग लगाकर निष्पन्न हुए 'निशीर्य' शब्द का 'हिंसन' अर्थ ही होता है, 'उत्तेजन' नहीं, क्योंकि उस अर्थ में प्रयोग दिखाई नहीं देता।

सिद्धान्त की दृष्टि से यहाँ पर भगवान् रुद्र (ईश्वर) की प्रार्थना की गई है। उस ईश्वर के शस्त्र वेद-शास्त्र के विपरीत चलनेवाले शत्रुओं पर सुतीक्ष्ण होकर गिरें और सन्मार्ग पर स्थिर रहने वाले वैदिकों के प्रति वे तीक्ष्ण शस्त्र कुण्ठित ही हो जाँय। जैसे व्याघ्र आदि हिंसक प्राणियों के नख और दाढें हिंसनीय प्राणियों के लिये तीक्ष्ण रहती हुई भी अपने बच्चों के लिये कुण्ठित ही हो जाती हैं, उसी तरह तुम्हारे सुतीक्ष्ण शस्त्र हमारे लिये कुण्ठित हों। 'सहस्राक्ष' शब्द का अर्थ भी सहस्र कार्यों पर दृष्टि रखना नहीं है, क्योंकि 'कार्य' शब्द वहाँ है ही नहीं॥ १३॥

हे रुद्र! तुम्हारे धनुष पर अनारोपित (अनातताय) बाण रूप आयुध के लिये प्रणाम हो, जो आयुध धर्षणशील अर्थात् शत्रुवध करने में प्रगल्भ है। अपि च, तुम्हारे दोनों बाहुओं को प्रणाम है और अनातत अर्थात् जिसकी प्रत्यंचा उतारी नहीं गई है, अत एव शत्रुवध करने में प्रगल्भ है, उस धनुष के लिये प्रणाम है।

कोई व्याख्याकार इसी मन्त्र का अर्थ यह करता है—'चारों ओर युद्ध करनेवाले, स्वल्प काय रहने पर भी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले तुमको हम लोग प्रजागण नमस्कार और आदर तथा अन्नादि पदार्थों को अर्पित करते हैं। तुम्हारी पार्श्ववर्तिनी सेनाओं को बल आदि प्राप्त हो। तुम्हारे धनुष और सेनाबल के लिये अन्न और वीर्य प्राप्त हों',

काल्पनिकत्वाच्च। शस्त्रास्त्रेषु रूढस्य आयुधशब्दस्य सर्वतो योद्धृपरत्वं न सम्भवति। एवमेव नमःशब्दस्य वीर्यादिप्रदानमपि नार्थः, तादृशेऽर्थे शक्तिग्रहाभावात्। बाहुभ्यामिति पदेन पार्श्ववर्तिनीसेनाग्रहणे न किमपि प्रमाणम्। वस्तुतस्तु परमेश्वरस्य रुद्ररूपस्य बाहुमत्त्वेन त्वदीयो निराकारत्वाभ्युपगमवादो नितरां बाध्यते। तद्रक्षणायैव काल्पनिकनिष्प्रमाणार्थकल्पनम् ॥ १४ ॥

मा नो॑ म॒हान्त॑मु॒त मा नो॑ अर्भ॒कं मा न॒ उक्ष॑न्तमु॒त मा न॑ उक्षि॒तम्।
मा नो॑ वधीः पि॒तरं॒ मोत मा॒तरं॑ मा नः॑ प्रि॒यास्त॒न्वो॑ रुद्र रीरिषः ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे रुद्र ! हमारे सम्बन्धी जो बालक, तरुण और वृद्ध हैं, उनका विनाश मत करो तथा हमारे गर्भस्थ सम्बन्धी और माता-पिता तथा प्रिय पुत्र-पौत्रों का भी नाश मत करो ॥ १५ ॥

हे रुद्र, नोऽस्माकं महान्तं वृद्धं वयसा विद्यया च गुरुपितृव्यादिकं मा वधीर्मा हिंसीः। उतापि नो अस्माकम् अर्भकम् अल्पं बालं मा वधीः। नः उक्षन्तं सेचनसमर्थं तरुणम् उतापि न उक्षितं सिक्तं गर्भस्थं च मा वधीः। उतापि नः पितरं मातरं च मा वधीः। यद्यपि महान्तमित्यनेनैव पित्रोरपि ग्रहणं जातमेव, तथापि आदरातिशयार्थं पुनर्ग्रहणम्। नः प्रियास्तन्वस्तनूः प्रेमास्पदशरीरप्रायाणि पुत्रपौत्रादीनि च मा रीरिषो मा मनो हिंसितुं कार्षीः। 'रिष हिंसायाम्' इत्यस्य ण्यन्तस्य रूपम्।

अन्य आह—'हे सेनापते, त्वमस्माकं महतो वृद्धान् आदरणीयान् पूजनीयान् अर्भकान् निम्नपदस्थांश्च मा हिंसीः। वीर्यसेचनसमर्थान् अस्माकं तरुणपुरुषानपि मा हन्तु। गर्भस्थान् डिम्भांश्च मा नाशयतु। पितरं मातरं च मा हन्तु। हे दुष्टरोदक, अस्मत्प्रियशरीराणि मा पीडयस्व' इति, तदप्यशोभनम्, विरुद्धार्थत्वात्। तथाहि—पूर्वं

किन्तु यह अर्थ मन्त्राक्षरों से मेल न खाने के कारण शोभा नहीं दे रहा है। यह सम्पूर्ण अर्थ कल्पनाप्रसूत ही है। शस्त्र-अस्त्र के अर्थ में रूढ हुए 'आयुध' शब्द का 'सर्वतो योद्धृपरत्व' अर्थ करना कैसे संभव है ? एवमेव 'नमः' शब्द का 'वीर्यादिप्रदान करना' अर्थ नहीं है, क्योंकि उस अर्थ में शक्तिग्रह नहीं है। 'बाहुभ्याम्' पद से 'पार्श्ववर्तिनी सेना' का अर्थ ग्रहण करने में कोई प्रमाण नहीं है।

वस्तुतः इस प्रकार के काल्पनिक अर्थ के गढ़ने में रहस्य यह है कि रुद्र भगवान् के भुजाओं से युक्त होने के कारण तुम्हारा 'निराकारत्व' का सिद्धान्त पूर्णतया भंग हो जाता है। अतः अपने निराकारत्व सिद्धान्त को यथाकथञ्चित् बचा पाने की इच्छा से ही उक्त काल्पनिक अर्थ को गढा गया है, किन्तु इसमें कोई प्रमाण नहीं है ॥ १४ ॥

हे रुद्र ! हमारे वयोवृद्ध और विद्यावृद्ध गुरु पितृव्य आदि की हिंसा मत करो तथा हमारे छोटे बालकों को भी हिंसा मत करो। उसी प्रकार हमारे सेचनसमर्थ (तरुण) तथा सिक्त और गर्भस्थित शिशुओं की भी हिंसा मत करो, एवं हमारे पिता और माता को भी हिंसा मत करो। यद्यपि 'महान्तम्' कह देने से ही माता-पिता का भी ग्रहण हो ही जाता है, तथापि आदरातिशय के प्रदर्शनार्थ पुनः ग्रहण किया है। हमारे प्रेमास्पद शरीरप्राय पुत्र-पौत्रादिकों की भी हिंसा मत करो, अर्थात् उनकी हिंसा करने की बात मन में भी मत लाओ। 'रिष् हिंसायाम्' धातु के ण्यन्त का रूप 'हिंसीः' है।

किसी ने इस मन्त्र की व्याख्या यह की है—'हे सेनापते ! तुम हमारे महान् वृद्ध, आदरणीय पूजनीय और निम्न पद पर स्थितों की हिंसा मत करो। हमारे वीर्यसेचन समर्थ तरुण पुरुषों की भी हिंसा मत करो। तथा गर्भस्थ और डिम्भों (शिशु) का भी नाश मत करो। हमारे पिता-माता का भी हनन मत करो। हे दुष्टरोदक ! हमारे प्रिय शरीरों की भी

रुद्रपदेन राजा सम्बोधितः, इदानीं तु सेनापतिः सम्बोध्यते। राजा वा सेनापतिर्वा राष्ट्ररक्षको भवति, न राष्ट्रपीडकः। तेन तत्कर्तृकः प्रजाया महदर्भकतरुणगर्भस्थशिशुघातो मातापितृघातश्च अप्राप्त एवेति मुधैव तदभ्यर्थना। नन्वीश्वरपक्षेऽपि तस्य न्यायकारित्वात् तद्विघातोऽप्यप्राप्त एवेति चेन्न, जन्मान्तरीयदुष्कृतवशात् फलदातुरीश्वरस्य तत्फलदानरूपेण तथा प्रवृत्तिसम्भवात्। तावतापि न तस्य वैषम्यनैर्घृण्ये, कर्मसापेक्षत्वात्, 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति' (बा० सू० २।१।३४) इति बादरायणसूत्रे तथा निर्णयात्। नन्वेवमवश्यम्भावित्वेऽपि तथाभ्यर्थनापार्थैवेति चेत्, तदपि तुच्छम्, भक्त्या स्तुत्या दुष्कृतनाशस्य वेदादिशास्त्रेषु श्रवणात्, त्वयापि तथाभ्युपगमाच्च। न चैवं राजादिषु जन्मान्तरीयदुष्कृतफलदातृत्वं सम्भवति, तेषां पराग्दर्शित्वेन तद्बोधासम्भवात्, लोकप्रत्यक्षाणां कर्मणामेव फलदाने तेषामधिकाराच्च ॥ १५ ॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे रुद्र ! हमारे पुत्र-पौत्र, आयु, गाय, घोड़ों आदि का नाश मत करो तथा हमारे क्रोधी भृत्यों का भी नाश मत करो। हम हमेशा ही हविर्धारण करके यज्ञ में तुमको बुलाते हैं ॥ १६ ॥

नः अस्माकम्, तोके पुत्रविषये, मा रीरिषः मा हिंसीः। तनये पौत्रे च मा हिंसीः। नः अस्माकमायुषि जीवने विषयभूते मा हिंसीः। नः अस्माकं गोषु धेनुषु विषयभूतासु मा हिंसीः। नः अस्माकमश्वेषु विषयभूतेषु मा हिंसीः। हिंसितुं मनोऽपि मा कार्षीः। अथवा विभक्तिव्यत्ययेन व्याख्यानम्। नः अस्माकम् तोकं तनयमायुर्गाः

हिंसा मत करो', किन्तु यह व्याख्या विरुद्धार्थक होने से अशोभन ही है, क्योंकि पहले तो 'रुद्र' पद से 'राजा' को संबोधित किया था, किन्तु अब 'रुद्र' पद से 'सेनापति' को संबोधित कर रहे हैं। राजा अथवा सेनापति राष्ट्र का रक्षक होता है, राष्ट्र का पीड़क नहीं। इस कारण उस राजा या सेनापति के द्वारा वृद्ध, अर्भक, तरुण, गर्भस्थ शिशु आदि प्रजा का और माता-पिता का हनन हो ही नहीं सकता, अर्थात् उनका हनन अप्राप्त है, तब उसकी अभ्यर्थना करना व्यर्थ ही है।

यदि कहो कि ईश्वरपक्ष में भी उसके न्यायकारी होने से उनका भी विघात अप्राप्त ही है, किन्तु यह विचार करना ठीक नहीं है। जन्म-जन्मान्तर के दुष्कृत के कारण उसका फल देने के लिये फलदाता ईश्वर की उस प्रकार की प्रवृत्ति होना संभव है। उस प्रवृत्ति से ईश्वर में किसी प्रकार भी वैषम्य-नैर्घृण्य की संभावना नहीं की जा सकती, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति में प्राणियों के कर्म की अपेक्षा रहती है। अर्थात् कर्मसापेक्ष उसकी प्रवृत्ति है। कहा भी है—'वैषम्य-नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति' (बा० सू० २।१।३४) बादरायणसूत्र में उक्त निर्णय किया गया है। यदि कोई यह शंका करे कि इस प्रकार की अवश्यंभाविता रहने पर भी प्रार्थना की जा सकती है, उसे व्यर्थ कैसे कह सकते हैं? किन्तु यह शंका सारहीन है, क्योंकि भक्ति से, स्तुति से दुष्कृतपुंज का नाश होना वेदादि शास्त्रों में श्रुत है। तुमने उसे स्वीकार भी किया है। तब तो यह भी कह सकते हैं कि राजा भी जन्मान्तरीय दुष्कृत का फलदाता है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं होगा, क्योंकि राजा पराग्दर्शी है, अतः जन्मान्तरीय दुष्कर्मों का ज्ञान उसे होना संभव नहीं है। उसे तो वर्तमान जन्म के ही कतिपय कर्मों का ज्ञान हो पाता है, इसीलिये लोकप्रत्यक्ष कर्मों के फलदान में ही उनका अधिकार बताया गया है ॥ १५ ॥

हमारे पुत्र (तोक) की हिंसा मत करो, पौत्र (तनय) की हिंसा मत करो, हमारी आयु की (प्राणों की) हिंसा मत करो, हमारी गायों की हिंसा मत करो, हमारे अश्वों (घोड़ों) की हिंसा मत करो, उनकी हिंसा करने बात की मन में भी मत लाओ। अथवा विभक्तिव्यत्यय करके व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं—हमारे तोक, तनय, आयु, गो, अश्व—इनको अपनी हिंसन क्रिया का साध्य मत बनाओ।

अश्वान् मा रीरिषः हिंसीः । हे रुद्र, नः अस्माकम् भामिनः भामन्ते इति भामिनः, 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (पा० सू० ३।१।१३४) इति ग्रहादित्वाण्णिनिः, तान् । क्रुद्धानपि वीरान् योद्धॄन् मा वधीः । यतो हविष्मन्तो हवियुक्ता वयं सदं सदैव त्वा इत् त्वामेव, इच्छब्द एवार्थकः । यागाय आह्वयामहे आह्वयामः । सर्वदैव त्वदेकशरणा वयमिति भावः ।

अपर आह—'हे दुष्टरोदक, अस्मन्नवजातशिशून् पञ्चवर्षाधिकवयस्कांश्च पुत्रान् मा हिंसीः । वयं सदैव अन्नाद्युपहरणीयैः पदार्थैस्तवैव सम्मानं कुर्मः' इति, अत्रापि 'गोषु-अश्वेषु' इत्यनयोः पदयोर्व्याख्यानं कुतो न कृतम् ? हवामह इत्यस्य आदरकरणमर्थोऽप्रमाणकः । रुद्रस्य राज्ञः सेनापतेर्वा नहि गवाश्वादिहनने प्रवृत्तिः सम्भवति । वीरास्तु तदुपयोगिन एवेति कुतस्तद्धननं प्राप्यते ? परमेश्वरस्य रुद्रस्य तु प्राणिनां प्राक्तनकर्मवशात् तथा प्रवृत्तौ न काचिद्बाधा । शुभकर्मभिः स्तुत्यादिभिश्च तद्वारणमपि सम्भवत्येव । न च राज्ञः सेनापतेर्वा प्राक्तनकर्मज्ञानं न वा तदनुसारेण फलप्रदायकत्वम् ? ॥ १६ ॥

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—जिसकी भुजाएं अलंकार स्वरूप हैं, सेनापति, दिक्पालक, हरित पत्रवाले वृक्षों का रूप धारण करने वाला, जीवों का रक्षण करने वाला, बाल तृण के समान पीतता लिये हुए रक्त वर्ण का, कान्तिमान्, मार्गों का रक्षक, कृष्ण केशयुक्त, मंगलार्थ यज्ञोपवीत धारण करने वाला, सम्पूर्ण गुणों से युक्त नरों का अधिपति जो रुद्र है उसे हमारा प्रणाम है ॥ १७ ॥

'नमो हिरण्यबाहवे' (कण्डिका १७) इत्यारभ्य 'द्रापे अन्धसस्पते' (कण्डिका ४७) इत्यतः प्राक् सर्वाणि यजूंषि यजुर्मन्त्राः, नियताक्षरावसानपादत्वाभावात् ।

हे रुद्र ! क्रुद्ध होने पर भी उनका वध मत करो । 'भामिनः', 'भामन्ते इति भामिनः', 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (पा० सू० ३।१।१३४) सूत्र से ग्रहादित्वात् णिनिः । तान् भामिनः, अर्थात् क्रुद्धान् । क्रुद्ध होने वाले उन वीरों को मत मारो, क्योंकि हम हविष्मान् हैं । हवि लिये हुए हम सर्वदा ही (सदं) तुम्हीं को (इत् = एव) यज्ञ में आने के लिये बुलाते हैं । सर्वदा हमलोग एकमात्र तुम्हारी शरण में हैं ।

किसी ने इस मन्त्र का अर्थ यह किया है—'हे दुष्टरोदक ! हमारे नवजात शिशुओं की और पाँच वर्ष से अधिक अवस्था वाले वयस्कों की और पुत्रों की हिंसा मत करो । हम सदैव अन्नादि उपहारों के योग्य पदार्थों से तुम्हारा ही सम्मान करते हैं' इति । इस अर्थ में भी 'गोषु, अश्वेषु' इन दो पदों की व्याख्या क्यों नहीं की गई ? 'हवामहे' का 'आदरकरण' रूप अर्थ अप्रामाणिक है । राजा या सेनापति (रुद्र) की प्रवृत्ति गो-अश्व आदि के हनन में नहीं हो सकती, क्योंकि वीर लोग ही उसके उपयुक्त हैं, तब उनके हनन में राजा या सेनापति की प्रवृत्ति क्यों होगी ? परमेश्वर रुद्र की तो प्राणियों के प्राक्तन कर्मवशात् उस विषय में प्रवृत्ति हो सकती है । उसकी प्रवृत्ति होने में कोई बाधा नहीं है । शुभ कर्मों से और स्तुति आदि करने से उसका निवारण भी हो सकता है । राजा या सेनापति को प्राक्तन कर्मों का ज्ञान होना संभव नहीं और न ही तदनुसार उनका फलप्रदायकत्व ही है ॥ १६ ॥

'नमो हिरण्यबाहवे' (कण्डिका १७) से आरंभ कर 'द्रापे अन्धसस्पते' (कण्डिका ४७) के पूर्व तक सब यजुस्, अर्थात् यजुर्मन्त्र हैं, क्योंकि उनमें नियताक्षरावसानपादत्व नहीं है ।

तत्र 'नमो हिरण्यबाहवे' इत्यारभ्य 'धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमः' इत्यन्तानां चत्वारिंशदधिकद्विशतसंख्याकानां यजुषां तावन्तो रुद्रा देवताः, 'नमो वः किरिकेभ्यः' इत्यादि चतुर्णाम् अग्निवायुसूर्या देवता रुद्राणां प्रधानभूताः। छन्दांसि तु चतुरक्षरं दैवी बृहती, पञ्चाक्षरं दैवी पङ्क्तिः, षडक्षरं यजुर्गायत्री, सप्ताक्षरं यजुरुष्णिग्, अष्टाक्षरं यजुरनुष्टुप्, नवाक्षरं यजुर्बृहती, दशाक्षरं यजुःपङ्क्तिः, एकादशाक्षरं यजुस्त्रिष्टुप्, द्वादशाक्षरं यजुर्जगती, चतुर्दशाक्षरं साम उष्णिक्। एकमेव किरिकेभ्य इति चतुर्णाम्। तद्रुद्रमध्ये केचनोभयतोनमस्काराः। अर्थात् पदद्वयात् पूर्वं पदोच्चारणात् पश्चाच्च नमःपदं येषां ते। 'हिरण्यबाहवे' इत्यारभ्य 'श्वपतिभ्यश्च वो नमः' (कण्डिका २८) इत्यन्तम्। ततोऽन्यतरतोनमस्काराः, अन्यतरत आदावेव यजुर्द्वयस्य नमस्कारो येषां ते। 'नमो भवाय च रुद्राय च' (कण्डिका २८) इत्यारभ्य 'प्रखिदते च' (कण्डिका ४६) इत्यन्ताः। तत उभयतोनमस्काराः, 'नम इषुकृद्भ्यश्च वो नमः' (कण्डिका ४६) इति। 'नमः सभाभ्यः' (कण्डिका २४) इत्यारभ्य जातसंज्ञा रुद्राः। तेषामुभयतोनमस्कारा घोरतरा अशान्ततराः। अन्यतरतोनमस्काराः शान्ततराः। तथा चाह ब्राह्मणम्—'तेषां वा उभयतोनमस्कारा अन्येऽन्यतरतोनमस्कारा अन्ये ते ह ते घोरतरा अशान्ततरा य उभयतोनमस्कारा उभयत एवैनानेतद्यज्ञेन नमस्कारेण शमयति' (श० ९।१।१।२०) इति।

अथ मन्त्राणामर्था उच्यन्ते। एकैकस्यां कण्डिकायाम् अष्टावष्टौ रुद्राः। मन्त्रार्थस्तु—हिरण्यबाहवे हिरण्यं स्वर्णमयमाभरणं बाह्वोर्यस्य स हिरण्यबाहुस्तस्मै रुद्राय नमः। स्पष्टमत्र रुद्रस्य परमेश्वरस्य सगुणसाकार-विग्रहवत्त्वं विज्ञायते। सेनान्ये हिरण्यबाहू रुद्रश्च सेनां नयतीति सञ्चालयतीति सेनानीः, तस्मै रुद्राय नमः। दिशां च पतये पालकाय रुद्राय नमः। हरिकेशेभ्यः हरयो हरितवर्णाः केशाः पर्णरूपा येषां ते हरिकेशास्तेभ्यः, वृक्षेभ्यः वृक्षरूपरुद्रेभ्यो नमः। पशूनाम्पतये रागद्वेषादिदोषान्धाः सन्तः सर्वमविशेषमेव पश्यन्तीति पशवो जीवाः, तेषां पतये

उनमें 'नमो हिरण्यबाहवे' से आरम्भ कर 'धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमः' तक दो सौ चालीस (२४०) यजुष् (यजुर्मन्त्र) हैं, उतने ही उनके रुद्र देवता हैं और 'नमो वः किरिकेभ्यः' इत्यादि चार मन्त्रों के अग्नि, वायु, सूर्य देवता हैं. जो रुद्रों के प्रधान-भूत हैं। उनके छन्द तो अनेक हैं। चार अक्षर वाले दैवी बृहती, पाँच अक्षरवाले दैवी पङ्क्ति, छह अक्षरों वाली यजुर्गायत्री, सात अक्षरों वाली यजुरुष्णिक्, आठ अक्षरों वाली यजुरनुष्टुप्, नौ अक्षरों वाली यजुर्बृहती, दश अक्षरों वाली यजुःपङ्क्ति, ग्यारह अक्षरों वाली यजुस्त्रिष्टुप्, बारह अक्षरों वाली यजुर्जगती, चौदह अक्षरों वाली साम उष्णिक्, किरिकों के लिये एक ही।

उन रुद्रों में से कुछ के दोनों ओर नमस्कार हैं, अर्थात् पदोच्चारण से पूर्व और पश्चात् 'नमः' पद है, 'हिरण्य-बाहवे' से आरम्भ करके 'श्वपतिभ्यश्च वो नमः' (कण्डिका २८) के अन्त तक। उसके बाद एक ओर से नमस्कार हैं, 'अन्यतरितः' आदि में ही दो यजुओं को नमस्कार हैं। 'नमो भवाय च रुद्राय च' (कण्डिका २८) से आरम्भ कर 'प्रखिदते च' (कण्डिका ४६) के अन्त तक। उसके आगे उभयतः नमस्कार हैं, 'नम इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमः' (कण्डिका ४६) इति। 'नमः सभाभ्यः' (कण्डिका २४) से आरम्भ करके जातसंज्ञक रुद्र हैं। उनको उभयतः नमस्कार हैं, जो घोरतर यानी अशान्ततर हैं। जो शान्ततर हैं, उनको अन्यतरतः नमस्कार है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण (९।१।१।२०) भी बता रहा है।

एक-एक कण्डिका में आठ-आठ रुद्र हैं। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—स्वर्णमय आभरण है बाहुओं में जिसके, उस हिरण्यबाहु रुद्र के लिये नमस्कार। इससे स्पष्ट है कि परमेश्वर रुद्र सगुण-साकार विग्रहधारी है। वह हिरण्यबाहु रुद्र सेना का संचालन करता है, इसलिये उसे 'सेनानी' कहते हैं, उस सेनानी रुद्र को नमस्कार हैं। दिशाओं के पालक रुद्र को नमस्कार हैं। 'हरित वर्ण के हैं पर्णरूप केश जिनके, वे हरिकेश कहलाते हैं, वे हरिकेश वृक्ष हैं। उन वृक्षरूप रुद्रों को नमस्कार है। 'पशूनाम्पतये' रागद्वेषादि दोषों से अन्ध होकर सबको समान रूप से जो देखते हैं, वे पशु कहलाते हैं। उन

पालकाय रुद्राय नमः। शष्पिञ्जराय शष्पं बालतृणं तद्वत् पिञ्जरः पीतरक्तवर्णः शष्पिञ्जरः, छान्दसष्टिलोपः, तस्मै। त्विषीमते त्विषिर्दीप्तिरस्यास्तीति त्विषिमान्। संहितायां त्विषिशब्दस्य दीर्घभावः, त्विषीमान् तस्मै। ईदृशाय रुद्राय नमः। पथीनां मार्गाणां पतये पालकाय रुद्राय नमः। पथामित्यस्य स्थाने पथीनामिति छान्दसं रूपम्। 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥', (भ० गी० ८।२४-२६) 'एते सृती ते नृप वेदगीते त्वयाभिपृष्टे ह सनातने च। ये वै पुरा ब्रह्मण आह पृष्ट आराधितो भगवान् वासुदेवः ॥' (भा० पु० २।२।३२) इत्यर्चिरादिमार्गो धूमादिमार्गश्चेति द्वे सृती, यद्वा सद्योमुक्तिः क्रममुक्तिश्चेति द्वे सृती, सनातने वेदगीते। तथा च श्रुतिः—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥' (बृ० उ० ४।४।७) इति सद्योमुक्तिः, 'तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति' (बृ० उ० ६।२।१५), 'ते धूममभिसम्भवन्ति' (बृ० उ० ६।२।१६) इति क्रममुक्तिः संसाराभिगमनं चेति मार्गद्वयं प्रतिपाद्य 'य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्' (बृ० उ०

पशु कहलाने वाले जीवों के पालक स्वरूप रुद्र को नमस्कार है। 'शष्पिञ्जराय' बालतृण के समान पीत-रक्तवर्ण को शष्पिञ्जर कहते हैं। यहाँ 'टि'लोप छान्दस हुआ है। पीत-रक्तवर्ण वाले और 'त्विषीमते त्विषिः दीप्तिः अस्य अस्ति इति त्विषिमान्'। अर्थात् कान्तिमान्। संहिता में त्विषि शब्द को दीर्घ होकर त्विषीमान् बना है। उस पीतरक्त वर्ण वाले और कान्तिसम्पन्न रुद्र के लिये नमस्कार। 'पथीनां पतये' मार्गों के पालक बने हुए रुद्र को नमस्कार। 'पथाम्' के स्थान में 'पथीनाम्' यह छान्दस रूप है।

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत महापुराण में अर्चिरादि मार्ग और धूमादि मार्ग, ये दोनों सृतियां (मार्ग) बताई गई हैं, अथवा सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति, ये दो सृतियाँ सनातन हैं, ऐसा वेद ने बताया है। भगवती श्रुति कह रही है— 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥' (बृ० उ० ४।४।७)। अर्थात् जिस समय इसके हृदय में आश्रित संपूर्ण कामनाओं का नाश हो जाता है, तो फिर यह मरणधर्मा अमृत हो जाता है और इस शरीर में ही उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। यह सद्योमुक्ति, 'तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति' (बृह० उ० ६।२।१५) इस वचन के द्वारा देवयान मार्ग (सद्योमुक्ति) को बताया गया है। इस द्वितीय ब्राह्मण की पन्द्रहवीं श्रुति में यह बताया है कि जो गृहस्थ इस पञ्चाग्नि विद्या को जानते हैं तथा जो संन्यासी अथवा वानप्रस्थ वन में श्रद्धायुक्त होकर सत्य, अर्थात् ब्रह्म-हिरण्यगर्भ की उपासना करते हैं, वे ज्योति के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, वहां से दिन के अभिमानी देवता को, वहाँ से शुक्लपक्षाभिमानी देवता को, वहाँ से उत्तरायण के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। वहाँ से देवलोक को, वहाँ से आदित्य को, वहाँ से विद्युत् सम्बन्धी देवताओं को प्राप्त होते हैं। वैद्युत देवों के पास एक मानस पुरुष आकर उन्हें ब्रह्मलोक में ले जाता है। वे उन ब्रह्मलोकों में अनन्त संवत्सर तक रहते हैं। उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती।

उसी तरह 'ते धूममभिसम्भवन्ति' (बृ० उ० ६।२।१६) इस वचन से क्रममुक्ति को बताया गया है। इसमें धूमयान मार्ग का वर्णन किया है। जो लोग यज्ञ-दान-तप के द्वारा लोकों को जीतते हैं, वे धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। वहाँ से रात्रि देवता को, वहाँ से कृष्णपक्षाभिमानी देवता को, वहाँ से दक्षिणायन मार्ग के अभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। वहाँ से पितृलोक को, वहाँ से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं, चन्द्रमा में पहुँच कर वे 'अन्न' हो जाते हैं। वहाँ जैसे ऋत्विक्गण सोम राजा को 'आप्यायस्व, अपक्षीयस्व' कहकर चमस में भरकर पी जाते हैं, वैसी प्रकार इन्हें देवगण भक्षण कर जाते हैं। जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं, तो वे इस आकाश को ही प्राप्त होते हैं। आकाश से वायु को, उससे वृष्टि को, उससे पृथ्वी को प्राप्त होते हैं। वहाँ पर वे अन्न हो जाते हैं, फिर उनका पुरुष रूप अग्नि में हवन किया जाता है, स्त्रीरूप अग्नि में हवन किया जाता है। इसी प्रकार वे पुनः पुनः परिवर्तित होते रहते हैं। इस प्रकार दो मार्गों को बता

६।२।१६) इति शास्त्रेषु मार्गत्रयं प्रसिद्धम्। तेषां मार्गाणाम्, अर्थात् तन्मार्गजुषां जीवानां पतये पालकाय रुद्राय नमः। हरिकेशाय हरयो नीलवर्णाः केशा यस्य स हरिकेशो नित्यतरुणः, नित्यनव इति यावत्, तस्मै उपवीतिने मङ्गलार्थं यज्ञोपवीतधारिणे रुद्राय नमः। अथवा हरिश्च कश्च ईशश्च वशे सन्ति यस्यासौ हरिकेशस्तस्मै ब्रह्माण्डसृष्टिस्थितिप्रलयकारिणामपि स्वामिने। पुष्टानां गुणपूर्णानां समृद्धानां वा पतये स्वामिने रुद्राय नमः।

अपरस्त्वाह—'हिरण्यबाहवे स्वर्णपदकभूषितबाहवे सेनानायकाय वज्रं बलं च प्राप्नोतु। दिशाम्पालकेभ्योऽन्नमुपनमतु। क्लेशहारिभ्यः शत्रुहन्तृभ्यो वीरपुरुषेभ्योऽन्नं बलं चोपनमतु। पशुपालकेभ्यो वीरेभ्योऽपि तदन्नादिकमुपतिष्ठतु। शुष्कतृणवच्छत्रुदाहकाय तेजस्विपुरुषाय मार्गेषु मार्गयात्रिपालकेभ्यो मार्गाध्यक्षेभ्यश्च राष्ट्रियमन्नं बलं च प्राप्तं भवतु। नीलकेशेभ्यो यज्ञोपवीतिने बालब्रह्मचारिणे हृष्टपुष्टबालकानां मातापितृभ्योऽन्नमादरश्चोपलभ्यताम्। अथवा सेनान्यादयो राष्ट्रस्य विभिन्नविभागाधिकारिणः। तेषामेव हिरण्यबाहु-हिरण्यकेश-त्विषीमदादिसम्मानवाचकपदानि, तेभ्यो राष्ट्रियान्नादीनि प्राप्नुवन्तु' इति, अत्रापि परमेश्वरस्य हिरण्यबाहुत्वेन ज्योतिर्मयशरीरत्वं सिद्ध्यति। ततो निराकारत्वभङ्गभिया तद्विरुद्धास्वाभाविकार्थकल्पनं स्वामिना कृतम्। 'पुष्टानां बालकानां पतये' इत्यनेन मातापित्रोर्ग्रहणमपि निरभिप्रायमेव, बालकाबालकसाधारणानामपि मात्रादीनां सम्मानावश्यकत्वात्॥ १७॥

कर 'य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्' (बृ० उ० ६।२।१६), अर्थात् जो इन दोनों मार्गों को नहीं जानते, वे कीट, पतंग और डाँस-मच्छर आदि होते हैं। इस प्रकार शास्त्र में तीन मार्ग प्रसिद्ध हैं। उन मार्गों की सेवा करने वाले जीवों के पालक रुद्र को नमस्कार है। 'हरिकेशाय' नील वर्ण के हैं केश जिसके, वह हरिकेश यानी नित्यतरुण (नित्यनवीन) उस उपवीतधारी, अर्थात् मंगलार्थ यज्ञोपवीत धारण करने वाले रुद्र को नमस्कार। अथवा 'हरिश्च कश्च ईशश्च वशे सन्ति यस्य असौ हरिकेशः, तस्मै'। अर्थात् हरि, ब्रह्मा, शिव हैं वश में जिसके, वह 'हरिकेश' है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्माण्ड की सृष्टि-स्थिति-प्रलय करने वालों के भी स्वामी के लिये और 'पुष्टानां पतये' गुणों से पूर्ण अथवा समृद्धि से पूर्ण लोगों के स्वामी रुद्र के लिये नमस्कार है।

किसी ने इस मन्त्र का अर्थ यह किया है—'हिरण्यबाहवे' स्वर्णपदक से विभूषित बाहु वाले सेनानायक के लिये वज्र और बल प्राप्त हो। दिशाओं के पालकों के लिये अन्न प्राप्त हो। क्लेशों के हरण करने वाले शत्रुओं का हनन करने वाले वीर पुरुषों को अन्न और बल प्राप्त हो। पशुओं का पालन करने वाले वीरों के लिये भी वह अन्न आदि प्राप्त हो। शुष्क तृण के समान शत्रुओं के दाहक तेजस्वी पुरुष के लिये, मार्गों में मार्ग के यात्रियों के पालक और मार्ग के अध्यक्षों के लिये राष्ट्रिय अन्न और बल प्राप्त हो। नीलकेश, यज्ञोपवीती, बालब्रह्मचारी हृष्ट-पुष्ट बालकों के माता-पिताओं के लिये अन्न और आदर प्राप्त हो। अथवा जो सेनानी आदि हैं, जो विभिन्न विभागों के अधिकारी हैं, उन्हीं को हिरण्यबाहु, हिरण्यकेश, त्विषीमत् आदि सम्मानवाचक पद और उन्हीं को राष्ट्रिय अन्न आदि प्राप्त हों। इस मन्त्र में भी परमेश्वर को हिरण्यबाहु बताकर उसका ज्योतिर्मय शरीर सिद्ध किया गया है। इस कारण निराकारत्व सिद्धान्त के भंग हो जाने की भीति से विरुद्ध और अस्वाभाविक अर्थ की कल्पना दयानन्द स्वामी ने की है। 'पुष्टानां बालकानां पतये' से माता-पिता का ग्रहण भी अभिप्रायशून्य ही है। बालक-अबालक साधारण माता आदि को भी संमान की आवश्यकता होती है॥ १७॥

नमो॑ बभ्लु॒शाय॑ व्याधिनेऽन्ना॑नां पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ भ॒वस्य॑ हे॒त्यै जग॑तां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ रु॒द्राया॑तता॒यिने॒ क्षेत्रा॑णां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नम॑: सू॒तायाह॑न्त्यै॒ वना॑नां॒ पत॑ये॒ नम॑: ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—कपिल वर्ण, शत्रुनाशक, अन्नपालक, संसारनाशक, आयुधस्वरूपी, जगत्पति, आततायी, क्षेत्रपालक, हनन न करनेवाला, सारथीरूपी, वनों का पालक जो रुद्र है, उसे हमारा प्रणाम है ॥ १८ ॥

बभ्लुशाय, बभ्रुः पिङ्गलवर्णः (भूरा इति भाषायाम्) अस्ति अस्येति बभ्लुशः। रेफस्थाने लः। 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः' (पा० सू० ५।२।१००) इति लोमादित्वात् शप्रत्ययः, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा बिभर्ति रुद्रमिति बभ्रुः वृषभः, तस्मिन् शेते इति बभ्रुशः, रेफस्य लः, तस्मै वृषवाहनाय रुद्राय नमः। व्याधिने विध्यति शत्रूनिति व्याधी, णिनिः, तस्मै रुद्राय नमः। अन्नानां भोग्यपदार्थानां पालकाय रुद्राय नमः। भवस्य जननमरणाविच्छेदलक्षणस्य संसारस्य हेत्यै छेदकाय संसारनिवर्तकाय मोक्षदात्रे रुद्राय नमः। जगतां जङ्गमानां पालकाय रुद्राय योगक्षेमप्रदानेन सर्वेषां पालकाय नमः। आततायिने आततेन उद्यतेन आयुधेन सह एतीत्याततायी, तस्मै उद्यतायुधाय रुद्राय नमः। क्षेत्राणां धान्यवपनभूमीनां व्रीह्यादिसस्योपेतानां स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूपाणां शरीरत्रयाणां पतये पालकाय नमः। महाभूतादिधृत्यन्तानां वा गीतोक्तानां क्षेत्राणां पालकाय क्षेत्रज्ञरूपाय अन्तर्यामिरूपाय वा रुद्राय नमः। 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥····महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ॥ इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः। एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥' (भ० गी० १३।१, ५-६) इत्यादिस्मृतिभ्यः। अहन्त्यै न हन्तीत्यहन्तिः, (उ० ४।१८१) इति बाहुलकात् तिः, तस्यै, अहन्त्रे इति यावत्। सूताय रथसारथये तद्रूपाय रुद्राय नमः। पार्थसारथिः कृष्णो वा अहन्तिः, न कञ्चित्तदानीं हतवान्। वनानामरण्यानां वननीयाभीष्टफलानां वा पतये रुद्राय नमः।

'बभ्लुशाय' बभ्रुः पिङ्गलवर्णः (भूरा रंग) अस्ति, अस्य इति बभ्लुशः। रेफ के स्थान में 'ल' होता है। 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः' (पा० सू० ५।२।१००) सूत्र से लोमादित्वात् 'श' प्रत्यय हुआ है, तस्मै पिंगल वर्ण वाले रुद्र के लिये नमस्कार। अथवा 'बिभर्ति रुद्रमिति बभ्रुः वृषभः, तस्मिन् शेते इति बभ्रुशः। रेफ को 'ल' हो गया है, तस्मै वृषभवाहन रुद्र के लिये नमस्कार। 'व्याधिने' विध्यति शत्रून् इति व्याधी, णिनिस्तस्मै शत्रुओं को बेधने वाले रुद्र को नमस्कार। भोग्य पदार्थों के पालक रुद्र को नमस्कार। जनन-मरण के अविच्छेदलक्षण संसार के छेदक अर्थात् संसारनिवर्तक यानी मोक्षदायक रुद्र को नमस्कार। 'जगतां पतये' जङ्गमों के पालक और योग-क्षेम प्रदान के द्वारा सबके पालक रुद्र को नमस्कार। 'आततायिने' आततेन उद्यतेन आयुधेन सह एति इत्याततायी, तस्मै। आयुध को उठाये हुए रुद्र को नमस्कार। 'क्षेत्राणां पतये' धान्यवपन (बोना) करने की भूमियों के व्रीहि आदि धान्य (सस्य) से भरे हुए तथा स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूप त्रिविध शरीरों के पालक को नमस्कार। महाभूतादि धृत्यन्त गीता में उक्त क्षेत्रों के पालक यानी क्षेत्रज्ञ, अर्थात् अन्तर्यामी रूप रुद्र को नमस्कार। यह सब श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में एक, पांच, छह संख्या वाले श्लोकों में बताया गया है। 'सूतायाहन्त्यै' अहन्त्यै न हन्ति इति अहन्तिः, (उ० ४।१८१) से बाहुलकात् 'तिः'। तस्मै अहन्त्रे इत्यर्थः। किसी को न मारनेवाले 'सूताय' रथ के सारथीरूप रुद्र को नमस्कार। अथवा पार्थसारथी कृष्ण 'अहन्ति' है, क्योंकि उस समय (युद्ध में) किसी को भी उन्होंने नहीं मारा था। 'वनानाम्पतये' अरण्यों के अथवा वननीय अभीष्ट फलों के स्वामी रुद्र को नमस्कार।

यत्तु—'राज्यभरणपोषणकारिणे मृगयापरायणाय पुरुषाय वन्यपशुभ्यः क्षेत्राणां रक्षकाय च राष्ट्रियान्नाभोगः प्राप्नोतु। उत्पन्नप्राणिनां वृद्धये जङ्गमानां च पालकाय बलवीर्याणि लभ्यन्ताम्। चतुर्दिक्षु विततेषु शत्रुदलान्यालक्ष्य आक्रमणकारिभ्यो बलं प्राप्यताम्। अश्वनियन्त्रे युद्धेष्वप्रहारिणे क्षेत्राणां पालकाय वनानां पालकाय चान्नमुपतिष्ठतु' इति, तन्न मनोरमम्, सर्वथाप्यस्यार्थस्य काल्पनिकत्वात्, अत्रार्थे मन्त्रस्यास्वारस्याच्च। तथाहि—कोऽयमाज्ञाप्रदः प्रार्थयिता वा? न प्रजाजनः, राज्ञः सेनायाश्च भीत आत्मत्राणकामः पूर्वनिर्दिष्टः प्रजाजनः कथमाज्ञापयेत्? ईश्वरश्चेदाज्ञापकः, स कथमात्मपशुपुत्रादित्राणकामः स्यात्, कथं वा कं नमस्कुर्यात्? तस्माद् उव्वटादिसम्मतः पूर्वोक्त एवार्थः साधीयान् ॥ १८ ॥

नमो॒ रोहि॑ताय स्थ॒पत॑ये वृ॒क्षाणां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ भुव॒न्तये॑ वारिवस्कृ॒तायौष॑धीनां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ म॒न्त्रिणे॑ वाणि॒जाय॒ कक्षा॑णां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नम॑ उ॒च्चैर्घो॑षायाक्र॒न्दय॑ते पत्तीनां पत॑ये॒ नमः॑ ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—लोहित वर्ण का, विश्वकर्मा के रूप में गृहों का निर्मापक, वृक्षपालक, भूमण्डल का विस्तारक, द्रव्योत्पादक, गाँव की और अरण्य की ओषधियों का पालक, मन्त्री, व्यापारी, वन के तृण और गुल्मों का वर्धक, ऊँचा और महान् शब्द करने वाला तथा पैदल (पदाति) सेना का अधिपति जो रुद्र है, उसे हमारा प्रणाम है ॥ १९ ॥

रोहिताय वर्णतो निर्देशः। रोहितो लोहितवर्णः। शोणो धावतीतिवद् अजहल्लक्षणया शिवोऽत्र लक्ष्यते। स च कण्ठे नीलोऽन्यत्र लोहितः, नीललोहित इति यावत्, तस्मै। स्थपतिर्गृहादिकर्ता विश्वकर्मरूपेण त्रिभुवनभवननिर्माता अनन्तानन्तब्रह्माण्डभवननिर्माता परमेश्वर एव वा स्थपतिः शिल्पी। "येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः। मयूराश्चित्रिता येन" इति नारदपाञ्चरात्रवचनात्। येन महदादीनि शरीरान्तानि

यह जो किसी ने कहा है—'राज्यभरण पोषणकारी, मृगयापरायण पुरुष के लिये और वन्य पशुओं के लिये, क्षेत्ररक्षकों के लिये राष्ट्रिय अन्न का भोग प्राप्त हो। उत्पन्न हुए प्राणियों के संवर्धनार्थ अन्न प्राप्त हो। जङ्गमों के जो पालक हैं, उन्हें बल-वीर्य प्राप्त हो। इन विशाल चारों दिशाओं में शत्रु दलों को लक्षित कर उन पर आक्रमण करने वालों के लिये बल प्राप्त हो। अश्व का नियन्त्रण करने वाले को, युद्धों में प्रहार न करने वाले को, क्षेत्रों के और वनों के पालक को अन्न प्राप्त हो', किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि सभी अर्थ काल्पनिक हैं। इस अर्थ में मन्त्र का स्वारस्य नहीं है। जैसे—यह आज्ञा देने वाला कौन है? आशीर्वाद देने वाला अथवा प्रार्थना करने वाला। प्रजा में से तो कोई व्यक्ति हो नहीं सकता, क्योंकि राजा से और सेना से भयभीत हुआ अपनी रक्षा चाहने वाला कोई भी प्रजाजन आज्ञा कैसे दे सकता है? ईश्वर को यदि आज्ञापक कहो, तो उसे अपने पशु, पुत्र आदि के त्राण (रक्षा) की इच्छा क्यों होगी? ये किसी को वह क्यों नमस्कार करेगा? इसलिये उव्वट आदि प्राचीन व्याख्याकारों का संमत अर्थ ही सुन्दर और प्रामाणिक है ॥ १८ ॥

'रोहिताय' यह वर्णतः निर्देश है। 'रोहित' का अर्थ है लोहित वर्ण। 'शोणो धावति' के तुल्य अजहल्लक्षणा से यहाँ 'शिव' को लक्षित किया गया है। वह कण्ठ में नील है, अन्यत्र लोहित है अर्थात् 'नीललोहित' है। 'स्थपति' विश्वकर्मा के रूप में गृह आदि का निर्माण करनेवाला, अर्थात् नीललोहित विश्वकर्मा के रूप में स्थपति को और वृक्षों के पालक को नमस्कार। त्रिभुवन-निर्माता अथवा अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड रूपी भवन का निर्माता परमेश्वर ही स्थपति यानी शिल्पी है। 'येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः। मयूराश्चित्रिता येन' यह नारद पाञ्चरात्र का वचन है। जिसने महदादि शरीरान्त विलक्षण कार्यों को रचा है, उस महाशिल्पी रुद्र को नमस्कार है।

विलक्षणानि कार्याणि चितानि, तस्मै महाशिल्पिने रुद्राय नमः। वृक्षाणां फलच्छायादिभिरुपकारकाणां पतये पालकाय नमः। भुवन्तये भुवं तनोतीति भुवन्तिः, भूमण्डलविस्तारको वराहपृथिव्यादिरूपेण वा परमेश्वरो रुद्रस्तस्मै। वारिवस्कृताय 'वरिवो धनम्' (निघ० २।१०।५), तत्कृतं येन स वरिवस्कृत.। स एव वारिवस्कृतः, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण्, छान्दसं दीर्घत्वं वा, तस्मै स्थानभोग्यकराय भूपश्वन्नरत्नहिरण्यादिनिर्मात्रे वा रुद्राय नमः। ओषधीनां ग्राम्यारण्यानां पतये पालकाय नमः। मन्त्रिणे मन्त्रयतीति मन्त्री आलोचनकुशलो नीतिनिपुणो वा तस्मै, मन्त्राणां वैदिकतान्त्रिकाणामाविर्भावयित्रे वा। तदनुष्ठात्रे वा रुद्राय नमः। वाणिजाय वणिगेव वाणिजो व्यापारी क्रयविक्रयादिकर्ता। स्वार्थिकोऽण्। तस्मै तद्रूपाय रुद्राय नमः। कक्षाणां नदीतटगता गिरिवनादिगता वा तृणगुल्मवीरुधादयः कक्षाः, तेषां पतये पालकाय रुद्राय नमः। उच्चैर्घोषाय उच्चैर्घोषो ध्वनिर्यस्य स उच्चैर्घोषः, तस्मै युद्धे महाशब्दायेत्यर्थः। आक्रन्दयते आसमन्तात् क्रन्दयति रोदयति शत्रूनिति आक्रन्दयन्, तस्मै युद्धे महाशब्देन रिपुरोदकाय रुद्राय नमः। पत्तीनां पद्यन्ते पद्भ्यां गच्छन्तीति पत्तयः पदातयः, तेषाम्। क्तिच् प्रत्ययः। सेनाविशेषाणां वा। 'एकेभैकरथा त्र्यश्वा पत्तिः पञ्चपदातिका' (अ० को० २।८।८०) इत्यमरोक्तेः, 'एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः। त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते ॥' (म० भा० १।२।१९) इति भारतोक्तेश्च। पतये पालकाय तद्रूपाय रुद्राय नमः।

अपर आह—'वृक्षारोपकाय गृहादिनिर्मात्रे तक्ष्णे शिल्पिने वृक्षाणां पालकाय पर्वतारण्यादिषु कृषियोग्यभूमिनिर्मात्रे सेवकाय राजमन्त्रिणे व्यापारकुशलाय वन्यलताघासादिपालकाय राजगृहप्रान्तरक्षकाय राष्ट्रे राजाज्ञामुच्चैर्घोषयद्भ्यः शत्रुरोदकेभ्यः पदातिसेनापतिभ्यश्च अन्नमुपतिष्ठतु' इति, तच्चिन्त्यम्, नमःशब्देन सर्वत्र

फल, छाया आदि के द्वारा उपकारक वृक्षों के पालन करने वाले को नमस्कार। 'भुवन्तये' भुवं तनोति इति भुवन्तिः, भूमण्डल का विस्तार करनेवाला वराह अथवा पृथिवी आदि के रूप में परमेश्वर रुद्र को नमस्कार। 'वारिवस्कृताय' 'वरिवो धनम्' (निघ० २।१०।५) तत्कृतं येन स वरिवस्कृतः, स एव 'वारिवस्कृतः', प्रज्ञादित्वात् स्वार्थ में अण्। अथवा 'दीर्घत्व' छान्दस है, ऐसे रुद्र को नमस्कार। स्थान को भोग्य बनाने वाले अथवा भूपश्वन्नरत्नहिरण्यादि का निर्माण करने वाले रुद्र को नमस्कार। 'ओषधीनाम्' ग्राम्यारण्य ओषधियों के पालक को नमस्कार।

'मन्त्रिणे' मन्त्रयतीति मन्त्री यानी आलोचन कुशल अथवा नीतिनिपुण रुद्र को नमस्कार। अथवा वैदिक-तान्त्रिक मन्त्रों के आविर्भावक अथवा उनका अनुष्ठान करनेवाले रुद्र को नमस्कार। 'वाणिजाय' वणिगेव वाणिजः, व्यापारी क्रय-विक्रय करनेवाला। 'स्वार्थिक अण्' तद्रूप रुद्र को नमस्कार। 'कक्षाणाम्' नदीतटगत अथवा गिरि-वनादिगत तृण, गुल्म, वीरुध आदि कक्षों के पालक रुद्र को नमस्कार। 'उच्चैर्घोषाय' उच्चैर्घोषो ध्वनिर्यस्य स उच्चैर्घोषः, तस्मै, अर्थात् युद्ध में महान् शब्द करने वाले। 'आक्रन्दयते' आसमन्तात् क्रन्दयति रोदयति शत्रून् इति आक्रन्दयन् तस्मै। अर्थात् युद्ध में महाशब्द करके शत्रुओं को रुलाने वाले रुद्र को नमस्कार। 'पत्तीनाम्' पद्यन्ते पद्भ्यां गच्छन्तीति पत्तयः पदातयस्तेषाम्। क्तिन्' प्रत्यय। अथवा सेनाविशेषों के—'एकेभैकरथा त्र्यश्वा पत्तिः पञ्चपदातिका' ऐसा अमरकोशकार ने कहा है। 'एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः। त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते ॥' (महाभा० १।२।१९) ऐसा महाभारत में कहा है। 'पतये' पालक रुद्र को नमस्कार।

किसी ने इस मन्त्र का अर्थ यह किया है—'वृक्षों का आरोपण करनेवाले, गृह आदि का निर्माण करनेवाले, शिल्पी (तक्षा) के लिये, वृक्षों का पालन करनेवाले, पर्वत-अरण्य आदि स्थानों में कृषियोग्य भूमि का निर्माण करनेवाले, सेवक राजमन्त्री, व्यापारकुशल, वन्यलता-घास आदि के पालक, राजगृह प्रान्त-भाग के रक्षक और राष्ट्र में राजाज्ञा को जोर से घोषित करनेवाले, शत्रुओं को रुलानेवाले, पदाति, सेनापति के लिये अन्न का लाभ हो' इति। किन्तु यह अर्थ चिन्तनीय है, क्योंकि 'नमः' शब्द से सर्वत्र अन्नप्राप्ति का वर्णन करना निर्मूल है। निघण्टु में यद्यपि अन्न के नामों से 'अन्न'

अन्नप्राप्तिवर्णनस्य निर्मूलत्वात्। निघण्टौ अन्ननामसु नमःशब्दपाठादपि नहि सर्वत्रैव अन्नार्थता तवाप्यभिप्रेता। बाहुभ्यामुत ते नम उत अपि च, बाहुभ्यां स्वभुजाभ्यामहं ते तुभ्यं नमः अन्नं समर्पयामीत्याद्यर्थाकरणात्। एतेभ्यः अन्नोपस्थापयिता चै कः ? न तावत् सर्वसाधारणः प्रजाजनः, सेनामध्ये तस्य प्रवेशानर्हत्वात्। न वा राजा, राजभृत्यैः सैनिकैरेव सर्वस्यैतस्य सम्पादनात्। प्रायेण सर्वे जनाः पुरुषार्थपरायणा भवन्ति राष्ट्रेषु। नहि तेषां कृतेऽन्नदानमपेक्षितम्, स्वप्रयत्नेनैव अन्नार्जकत्वात्। सिद्धान्ते तु रुद्रस्य परमेश्वरस्य सार्वात्म्यबोधनाय अयमुपक्रमः। तेन तत्तद्रूपेभ्यो रुद्रेभ्यो नमस्काररूपं पूजनमेव समर्प्यते। यथा चायमर्थस्तथा दर्शित एव ॥ १९ ॥

नमः॑ कृत्स्नाय॒तया॒ धाव॑ते॒ सत्व॑नां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमः॒ सह॑मानाय निव्या॒धिन॑ आव्या॒धिनी॑नां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ निष॒ङ्गिणे॑ ककु॒भाय॑ स्ते॒नानां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ निचे॒रवे॑ परिच॒रायार॑ण्याना॒ं पत॑ये॒ नमः॑ ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—कान तक खींचकर दीर्घ धनुष को लिये रणभूमि में दौड़ने वाला, प्राणों का स्वामी, शत्रुओं को पराजित करने वाला, विशेषतया उनका नाश करने वाला, शूर सेना का पालक, खड्ग धारण करने वाला, गुप्त चोरों का पालक, चौर्य और अपहरण की बुद्धि से जहाँ-तहाँ घूमने वाला, चोर का स्वरूप धारण करने वाला और अरण्यों का अधिपतिस्वरूप जो रुद्र है, उसे हमारा प्रणाम है ॥ २० ॥

कृत्स्नायतया कृत्स्नं समग्रम् आयतम् आकर्णमाकृष्टं धनुर्यस्य स कृत्स्नायतः, तस्य भावः कृत्स्नायतता, तया आकर्णपूर्णधनुष्ट्वेन। छान्दसस्तकारलोपः। धावते युद्धे शीघ्रं गच्छते रुद्राय नमः। अथवा कृत्स्नः सर्वविधोऽपि आयो लाभो यस्य स कृत्स्नायः, तस्य भावः कृत्स्नायता, तया। भक्तानामभ्युदयनिःश्रेयसलाभाय शीघ्रं धावते। यद्वा भक्तानां योगक्षेमनिर्वाहाय शीघ्रं धावते। यद्वा कृत्स्नं च तदायतं च कृत्स्नायतं धनुः, तस्य भावः कृत्स्नायतता, तया हेतुभूतया। छान्दसस्तकारलोपः। धावते भक्तारिवधाय शीघ्रं गच्छते। शीघ्रगतौ सृतेर्धावा-

---

शब्द का पाठ है, तथापि सर्वत्र 'नमः' शब्द की अन्नार्थता आपको भी अभिप्रेत नहीं है। 'बाहुभ्यामुत ते नमः' यहाँ पर 'उत' का अर्थ 'अपि च' है। 'बाहुभ्याम्' अपनी दोनों भुजाओं से मैं तुमको 'नमः' नमस्कार करता हूँ। यहाँ 'नमः' का 'अन्नं समर्पयामि' यह अर्थ नहीं किया है। इनके लिये अन्न का उपस्थापयिता कौन है ? सर्वसाधारण प्रजाजन तो हो नहीं सकेगा, क्योंकि उसका सेना में प्रवेश नहीं है। उसी तरह राजा, राजसेवक या सैनिक भी अन्न के उपस्थापक नहीं हो सकते, क्योंकि सभी के पास इसका सम्पादन हुआ रहता है। प्रायः सभी लोग राष्ट्र में पुरुषार्थपरायण हुआ करते हैं। उनके लिये अन्नदान अपेक्षित नहीं है, क्योंकि वे स्व-प्रयत्न से ही अन्न सम्पादन कर लेते हैं। सिद्धान्त तो यह है कि यहाँ परमेश्वर का सार्वात्म्य बोधन करने के लिये यह उपक्रम किया गया है। उस कारण तत्तद्रूप में रुद्र भगवान् को नमस्काररूप पूजन ही समर्पित किया जा रहा है। जो इसका वास्तविक अर्थ है, उसे वैसा ही प्रदर्शित किया गया है ॥ १९ ॥

'कृत्स्नायतया' कृत्स्नं समग्रम् आयतम् आकर्णमाकृष्टं धनुर्यस्य स कृत्स्नायतः, तस्य भावः कृत्स्नायतता, तया', यानी कान तक पूर्णरूप से धनुष को खींच कर। 'कृत्स्नायतया' में तकार का लोप छान्दस है। 'धावते' युद्ध में शीघ्र जानेवाले रुद्र को नमस्कार अथवा 'कृत्स्नः सर्वविधोऽपि आयो लाभो यस्य स कृत्स्नायः, तस्य भावः कृत्स्नायता, तया कृत्स्नायतया। सब प्रकार का लाभ जिसके पास है, उसे 'कृत्स्नाय' कहते हैं, उसके भाव को 'कृत्स्नायता' कहते हैं। उस कारण शीघ्र दौड़ कर जानेवाले, अर्थात् भक्तों के अभ्युदय-निःश्रेयस लाभ के लिये शीघ्र गमन करनेवाले। अथवा भक्तों के योग-क्षेम का निर्वाह

देश:। सत्त्वनां समेषां प्राणिनां पतये पालकाय, पशुपतित्वात्। यद्वा सत्त्वानः सात्त्विकाः शरणागताः प्राणिनः, तेषां पालकाय रुद्राय नमः। सहमानाय सहते अभिभवत्यरीनिति सहमानः, तस्मै। निव्याधिने नितरां विध्यतीति निव्याधी तस्मै नितरां शत्रुघातिने रुद्राय नमः। आव्याधिनीनाम् आसमन्ताद् विध्यन्तीति आव्याधिन्यः शूरसेनाः, तासां पालकाय। रुद्रानुग्रहेणैव शूरसेना अपि सुरक्षिताः सत्यो विजयमासादयन्ति। निषङ्गिणे नितरां सजति अङ्गेष्विति निषङ्गः खड्गः, तूणीरो वा, सोऽस्यास्तीति निषङ्गी, तस्मै। ककुभाय महते रुद्राय नमः। 'कक लौल्ये' लौल्यं गर्वश्चापल्यं मर्षणं च। एतस्माद् उभः प्रत्ययः। ककते क्षमतेऽपराधानिति ककुभः, तस्मै। दिक्स्वरूपाय व्यापकाय वा, दिङ्नामसु पाठात्। 'ककुभशब्दस्य महन्नामसु पाठः' इत्युव्वटाचार्यः। स्तेनानां स्तेनयन्तीति स्तेना गुप्तचौराः, तेषां पतये पालकाय रुद्राय नमः। ईश्वरकृपयैव जीवस्य शक्तिलाभात्, शक्तिप्रदानेन सर्वस्यैव पालकत्व-मीश्वरे। निचेरवे अपहारबुद्ध्या निरन्तरं चेलतीति निचेरुः। लस्य रः। तस्मै रुद्राय नमः। परिचराय परित आपणवाटिकादिषु हरणेच्छया चरतीति परिचरः, तस्मै रुद्राय नमः। अरण्यानाम्, ऋच्छन्ति गृहाद् गच्छन्ति यत्र तानि अरण्यानि पुण्यारण्यानि वृन्दारण्य-बदरिकारण्य-धर्मारण्यादीनि, तेषां पतये पालकाय रुद्राय नमः। 'अर्तेर्निच्च' (उ० ३।१०२) इत्यन्यप्रत्ययः। वनानाम्पतये इत्यत्र तु अरण्यसामान्यं गृहीतम्। लीलया रुद्रस्य चौरादिरूपत्वम्, सार्वात्म्याद्वा। यद्वा स्तेनादिशब्दा अभिधाशक्त्या तांस्तान् जीवान् बोधयन्ति, लक्षणया तु शाखाचन्द्रन्यायेन तत्तदन्तर्यामिणं बोधयन्ति, मन्त्रेषु लक्ष्यार्थविवक्षया लौकिकशब्दानां बाहुल्येन प्रयोगात्।

करने के लिये शीघ्र गमन करनेवाले। अथवा 'कृत्स्नं च तद् आयतं च कृत्स्नायतं धनुः। तस्य भावः कृत्स्नायतता, तया हेतुभूतया। तकार का लोप छान्दस है। अर्थात् धनुष को सम्पूर्ण तान लेने के कारण भक्तों के शत्रुओं का वध करने के लिये शीघ्र दौड़कर जानेवाले। शीघ्रगति के अर्थ में 'सृ' धातु को 'धाव्' आदेश हुआ है। 'सत्त्वनाम्' समस्त प्राणियों के पालक हैं, क्योंकि वे 'पशुपति' हैं, उनके लिये नमस्कार। अथवा 'सत्त्वानः सात्त्विकाः शरणागताः प्राणिनः, तेषाम्। यानी शरण में आये हुए प्राणियों के पालक रुद्र को नमस्कार। 'सहमानाय' सहते अभिभवति अरीन् इति सहमानः, तस्मै। शत्रुओं का अभिभव करनेवाला, उसके लिये। 'निव्याधिने' नितरां विध्यति इति निव्याधी, तस्मै। शत्रुओं का सम्यक् रीति से घात करनेवाले रुद्र को नमस्कार। 'आव्याधिनीनाम्' आ समन्ताद् विध्यन्तीति आव्याधिन्यः शूरसेनाः, तासां पालकाय। रुद्र के अनुग्रह से ही शूरसेना भी सुरक्षित रहती हुई विजय प्राप्त करती है।

'निषङ्गिणे' नितरां सजति अङ्गेषु इति निषङ्गः खड्गः, तूणीरो वा सोऽस्यास्तीति निषङ्गी, तस्मै। खड्ग अथवा तूणीर लिये हुए और 'ककुभाय महते' 'कक लौल्ये' 'लौल्य' का अर्थ है—'गर्व, चापल्य और मर्षण। 'कक' से 'उभ' प्रत्यय करने पर 'ककुभ' निष्पन्न होता है। ककते क्षमते अपराधान् इति ककुभः, तस्मै। अपराधों को क्षमा करनेवाले दिक्स्वरूप अथवा व्यापक रुद्र को नमस्कार। दिक् के नामों में 'ककुभ' का पाठ है। उव्वट का कहना है कि 'ककुभ' शब्द का महत् के नामों में पाठ है। 'स्तेनानाम्' स्तेनयन्तीति स्तेना, गुप्तचौराः, तेषां पतये, अर्थात् गुप्त चोरों के पालक रुद्र को नमस्कार। ईश्वर की कृपा से ही जीव को शक्ति-लाभ होता है। शक्ति-प्रदान के द्वारा ही ईश्वर में सर्वपालकत्व है। 'निचेरवे' अपहारबुद्ध्या निरन्तरं चेलति इति निचेरुः। 'ल' को 'र' हुआ है। ऐसे रुद्र को नमस्कार। 'परिचराय' परितः आपण-वाटिकादिषु हरणेच्छया चरतीति परिचरः। बाजार, वाटिका आदि में हरण करने की इच्छा से चलनेवाले रुद्र को नमस्कार। अरण्यानाम् ऋच्छन्ति गृहान् गच्छन्ति यत्र तानि अरण्यानि पुण्यारण्यानि वृन्दारण्यबदरिकारण्यधर्मारण्यादीनि, तेषाम्। जहाँ गृह के पति जाते हैं, ऐसे वृन्दारण्य, बदरिकारण्य, धर्मारण्य आदि पुण्यारण्यों के पालक रुद्र को नमस्कार। 'अर्तेर्निच्च' (उ० ३।१०२) से 'अन्य' प्रत्यय हुआ है। 'वनानां पतये' यहाँ पर तो अरण्यसामान्य का ग्रहण किया गया है। लीला से रुद्र का चौरादिरूपत्व है, अथवा सार्वात्म्य होने से चौरादिरूपत्व समझना चाहिये। अथवा स्तेनादि शब्द अपनी अभिधा शक्ति से उन-उन जीवों का बोध कराते हैं। लक्षणा से तो शाखाचन्द्र न्याय से तत्तदन्तर्यामी का बोध कराते हैं। मन्त्रों में लक्ष्यार्थ की विवक्षा से लौकिक शब्दों का बाहुल्येन प्रयोग होता है।

यत्तु—'पूर्णतया धनुरायम्य शत्रुषु वेगेन आक्रमणसमर्थाय वीर्यवतां सैनिकानां पतये शत्रूणां पराजेत्रे लक्षव्याधिने अभितः शस्त्रास्त्रप्रहारिणीनां सेनानां पतये शस्त्रागारपालकाय चौराणां वशयित्रे कारागारप्रधानाध्यक्षाय राजकार्यसम्बन्धिगुप्तचराय भृत्याय वनाध्यक्षाय चान्नमुपलब्धं भवतु' इति, तत्तु यत्किञ्चित्, तादृगर्थस्य निष्प्रयोजनत्वात्। सिद्धान्ते तु रुद्रपरत्वेन तत्स्तुतिः पुरुषार्थरूपा ॥ २० ॥

नमो॒ वञ्च॑ते परि॒वञ्च॑ते स्ताय॒ूनां पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ निष॒ङ्गिण॑ इषुधि॒मते॒ तस्क॑राणां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमः॑ सृका॒यिभ्यो॒ जिघां॑सद्भ्यो मुष्ण॒तां पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ऽसि॒मद्भ्यो॒ नक्त॒ञ्चर॑द्भ्यो विकृ॒न्तानां॒ पत॑ये॒ नमः॑ ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—एक अथवा अनेक लोगों की वंचना करके उनके द्रव्य को हर लेने वाला, गुप्त रूप से दूसरे के द्रव्य को हरण करने वाला, चोर के स्वरूप को धारण करने वाला, बाण और तूणीर को धारण करने वाला, प्रकट रूप में चोरी करने वालों का अधिपति, वज्रधारियों का तथा शत्रुओं का नाश चाहने वालों को स्वरूप धारण करने वाला, लुटेरों का अधिपति, खड्गधारी और रात्रि में संचार करने वालों का तथा दूसरों का नाश करके उनके द्रव्य को हरण करने वालों का अधिपति जो रुद्र है, उसे हमारा प्रणाम है ॥ २१ ॥

वञ्चते 'वञ्चु गतौ' इति भौवादिकः, 'वञ्चु प्रलम्भने' इति चौरादिकश्च। वञ्चति गच्छतीति वञ्चन् गन्ता, तस्मै। वञ्चयते प्रलम्भयति प्रतारयतीति वा वञ्चन्, णिचो वैकल्पिकत्वस्य सामान्यापेक्षज्ञापनात्, तस्मै रुद्राय नमः। परिवञ्चते परितो गन्त्रे सर्वव्यापकाय रुद्राय नमः। यद्वा सर्वतः प्रतारयित्रे रुद्राय नमः। य आप्यायितः स्वामिन आप्तो भूत्वा कुत्रचिद् व्यवहारे तदीयं धनमपहरति स वञ्चकः, यः सर्वत्रैव व्यवहारे धनमपहरति स परिवञ्चक इति विवेकः। स्तायूनां गुप्तचौराणाम्। गुप्तचौरा द्विविधाः। रात्रौ गृहे खातादिना सन्धिं कृत्वा द्रव्यहर्तार एके। स्वीया एव अहर्निशमज्ञाता हर्तारोऽपरे। पूर्वे स्तेना उत्तरे स्तायवः। पतये स्वामिने पालकाय रुद्राय नमः। तदन्तर्यामिण इति यावत्। निषङ्गिणे निषङ्गः खड्गो बाणो वा, तद्वते रुद्राय नमः। इषुधिमते

यह जो किसी ने कहा है कि 'पूर्णतया धनुष को खींचकर शत्रुओं पर वेग के साथ आक्रमण करने में समर्थ और बलवान् सैनिकों के पालक, शत्रुओं को पराजित करनेवाले, लाखों को व्याधित करनेवाले, सब ओर से शस्त्रास्त्रों का प्रहार करनेवाली सेनाओं के पालक, शस्त्रागार के पालक और चोरों को वश में करनेवाले, कारागार के प्रधानाध्यक्ष, राजकार्यसम्बन्धी गुप्तचर, भृत्य तथा वनाध्यक्ष के लिये अन्न उपलब्ध होता रहे', यह अर्थ तो बिल्कुल ही साररहीन है, क्योंकि इस अर्थ से कोई प्रयोजन ही निष्पन्न नहीं हो पाता। सिद्धान्त पक्ष में तो रुद्रपरक अर्थ करने पर उसकी स्तुति पुरुषार्थरूप सिद्ध होती है ॥ २० ॥

'वञ्चते' 'वञ्चु गतौ' (भ्वा०), 'वञ्चु प्रलम्भने (चुरा०) वञ्चति गच्छतीति वञ्चन् गन्ता, तस्मै। वञ्चयते प्रलम्भयति प्रतारयति वा वञ्चन्। अर्थात् जानेवाले अथवा वञ्चना करनेवाले रुद्र को नमस्कार। 'परिवञ्चते' परितो गन्त्रे अर्थात् सर्वव्यापक रुद्र को नमस्कार। अथवा सब तरह से प्रतारणा करनेवाले रुद्र को नमस्कार। जो स्वामी का आप्त होकर भी किसी व्यावहारिक कार्य में उसके धन का अपहरण करता है, उसे 'वञ्चक' कहते हैं और जो सर्वत्रैव व्यावहारिक कार्य में धन का अपहरण करता है, उसे 'परिवञ्चक' कहते हैं, यही दोनों में भेद है। 'स्तायूनाम्' गुप्तचौराणाम्। गुप्त चोर दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे गुप्त चोर हैं, जो रात्रि के समय घर में सेंध लगाकर द्रव्यहरण करते हैं, दूसरे गुप्त चोर वे हैं, जो अपने ही लोग हैं, वे रातदिन द्रव्यहरण किया करते हैं, फिर भी वे अज्ञात रहते हैं, उन्हें कोई पहिचान नहीं पाता। इनमें पूर्व के 'स्तेन' हैं और दूसरे 'स्तायु' हैं। उनके पालक रुद्र को नमस्कार, अर्थात् वह रुद्र उनका भी अन्तर्यामी है।

इषवो धीयन्तेऽस्मिन्निति इषुधिस्तूणीरः, सोऽस्यास्तीति इषुधिमान्, तस्मै रुद्राय नमः। तस्कराणां तत्कुर्वन्तीति तस्कराः प्रकटचौराः, 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' (पा० सू० ६।१।१५७ वा० १) इति साधुः। तेषां पतये स्वामिने श्रीकृष्णरूपाय चोराग्रगण्याय रुद्राय नमः। सृकायिभ्यः सृकेण वज्रेण सार्धमेतुं शीलं येषां ते सृकायिणः। तेभ्यो वज्रेण सहागमनशीलेभ्यः। 'सृक इति वज्रनाम' (निघ० २।२०।१६) जिघांसद्भ्यो हन्तुमिच्छन्ति जिघांसन्ति, जिघांसन्तीति जिघांसन्तः, तेभ्यो हन्तुमिच्छद्भ्यो रुद्रेभ्यो नमः। हन्तेः सन्नन्तात् शता। मुष्णतां मुष्णन्ति क्षेत्रादिषु स्थितं धान्यादिकमिति मुष्णन्तः, 'मुष् स्तेये' इत्यस्य रूपम्, तेषां पतये पालकाय रुद्राय नमः। असिमद्भ्यः असयः खड्गाः सन्ति येषु ते असिमन्तः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। नक्तञ्चरद्भ्यः नक्तं रात्रौ चरन्तीति चरन्तः, तेभ्यो रात्रौ गच्छद्भ्यो नमः। विकृन्तानां विशेषेण कृन्तन्ति छिन्दन्तीति विकृन्ताः, छित्वा छित्वापहारिणः, तेषां पतये पालकाय रुद्राय नमः।

विशिष्टतत्तद्रूपावच्छिन्नचैतन्यरूपा रुद्रविभूतयः। तेन तद्रूपेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। द्यूतमपि भगवद्विभूतिः। 'द्यूतं छलयतामस्मि' (भ० गी० १०।३६) इति गीतायां भगवदुक्तेः। तद्वदेव चोराणां मध्ये चोराग्रगण्योऽपि भगवद्विभूतिरेव। 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥' (भ० गी० १०।४१) इति गीतातां भगवदुक्तेः। किञ्च, सर्वेषामपि पदार्थानां व्यवहारे सत्त्वेऽपि साधर्म्यवैधर्म्यादौ परमार्थतोऽधिष्ठानदृष्ट्या सर्वस्य रुद्रत्वमेव। व्यवहारे साधुत्वासाधुत्वग्राह्यत्वाग्राह्यत्वादिभेदसत्त्वेऽपि परमार्थतो भेदमात्रस्यासत्त्वेन अधिष्ठानभूतस्य रुद्रस्य समत्वमेव। 'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥' (भ० गी० ६।९) इति भगवदुक्तेः।

'निषङ्गिणे' खड्ग अथवा बाण धारण करनेवाले रुद्र को नमस्कार। 'इषुधिमते' इषवो धीयन्तेऽस्मिन्, इति इषुधिस्तूणीरः, स अस्य अस्तीति इषुधिमान्, तस्मै। अर्थात् तूणीर धारण करनेवाले रुद्र को नमस्कार। 'तस्कराणाम्' तत्कुर्वन्तीति तस्कराः प्रकटचौराः। 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुप् तलोपश्च' (पा० सू० ६।१।१५८ वा० १) से 'तस्कर' शब्द निष्पन्न होता है। उन तस्करों के स्वामी श्रीकृष्णरूप चौराग्रगण्य रुद्र को नमस्कार।

'सृकायिभ्यः' सृकेण वज्रेण सार्धम् एतुं शीलं येषां ते सृकायिणस्तेभ्यः, अर्थात् वज्र के साथ आनेवाले के लिये। 'सृक' यह वज्र का नाम है (निघ० २।२०।१६)। 'जिघांसद्भ्यः' हन्तुमिच्छन्ति जिघांसन्ति, जिघांसन्तीति जिघांसन्तस्तेभ्यः। मारने की इच्छा करनेवाले रुद्रों को नमस्कार। सन्नन्त हन् धातु से शतृ प्रत्ययान्त रूप है। 'मुष्णताम्' मुष्णन्ति क्षेत्रादिषु स्थितं धान्यादिकमिति मुष्णन्तः। 'मुष् स्तेये' का यह रूप है, अर्थात् क्षेत्र में लगे हुए धान्यादि को चुरानेवाले चोरों के पालक रुद्र को नमस्कार। 'असिमद्भ्यः' असयः खड्गाः सन्ति येषु ते असिमन्तः, तेभ्यः। यानी खड्गधारी रुद्रों को नमस्कार। 'नक्तञ्चरद्भ्यः' नक्तं रात्रौ गच्छद्भ्यः। रात्रिचर रुद्रों को नमस्कार। विकृन्तानाम्पतये विशेषेण कृन्तन्ति छिन्दन्तीति विकृन्ताः, तेषां पतये। अर्थात् छीन-छीनकर अपहरण करनेवालों के पालक रुद्र को नमस्कार। विशिष्ट तत्तद्रूपावच्छिन्न चैतन्यरूप जो हैं, वे सब रुद्र की ही विभूतियाँ हैं, अतः तद्रूप रुद्रों को नमस्कार किया गया है। 'द्यूत' भी भगवान् की ही विभूति है। 'द्यूतं छलयतामस्मि' (भ० गी० १०।३६) इस प्रकार गीता में भगवान् ने ही कहा है। उसी प्रकार चौरों में जो चौराग्रगण्य है, वह भी भगवान् की विभूति ही है। 'यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥' (१०।४१) भगवद्गीता में भगवान् ने स्वयं यह बताया है।

किञ्च, व्यवहार में सभी पदार्थों का सत्त्व रहने पर भी उनके साधर्म्य-वैधर्म्यादि में परमार्थतः अधिष्ठान की दृष्टि से सभी की रुद्ररूपता ही प्रतीत होती है। व्यवहार में साधुत्व-असाधुत्व, ग्राह्यत्व-अग्राह्यत्व आदि का भेद विद्यमान रहने पर भी वस्तुतः भेदमात्र का असत्त्व रहने से अधिष्ठानरूप रुद्र का समत्व ही प्रतीत होता है, क्योंकि—'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥' (भ० गी० ६।९) ऐसा भगवान् ने ही कहा है।

यत्तु—'छद्मना शत्रुसेनापदार्थोलब्ध्रे शत्रुसेनासु कपटेन निवसते खड्गधारणसमर्थाय वाणतूणीरादिवाहकाय कार्यकारिभ्यः शत्रूणां जिघांसद्भ्यः खड्गवद्भ्यो गृहेभ्यः प्रहरिभ्यो जङ्गलच्छेतृभ्योऽधिकारिगणेभ्यः क्षेत्रेभ्यश्च अन्नादिपदार्थान् आहरद्भ्योऽन्नमुपनमतु' इति, तन्न, कः कं प्रार्थयते इति निर्देशमन्तरा सर्वस्याप्येवंविधस्यार्थस्य असङ्गतत्वात्, उन्मत्तप्रलापायितत्वाच्च। सर्वत्र राष्ट्रेषु तासु तासु शासनव्यवस्थासु स्वतन्त्राः पुरुषार्थपरायणा जनाः स्वयमेव अन्नमुपार्जयन्ति। कर्मचारिगणाः परस्परं समयबन्धेन वेतनमुपलभन्ते। न तत्राज्ञा प्रार्थना वाऽपेक्षिता। मन्त्रार्थस्तु सिद्धान्तानुसारी उक्त एव। 'वञ्चु गतौ', 'वञ्चु प्रलम्भने' इति धातुभ्यां निष्पन्नस्य वञ्चत इति पदस्य छद्मनाऽर्थप्रापक इति कथङ्कारमर्थः? गतिर्वञ्चनं वा तदर्थः प्रसिद्धः। स्तायूनामित्यस्य सृकायिभ्य इत्यस्यापि चार्थो नोक्तः॥ २१॥

नम॑ उष्णी॒षिणे॑ गिरि॒च॒राय॑ कुलु॒ञ्चानां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नम॑ इषु॒मद्भ्यो॑ धन्वा॒यिभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नम॑ आत॒न्वा॒नेभ्यः॑ प्रति॒दधा॑नेभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॑ आ॒यच्छ॑द्भ्यो॒ स्य॑द्भ्यश्च वो॒ नमः॑ ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—सिर पर पगड़ी पहने हुआ, पर्वतादि दुर्गम स्थानों में संचार करने वाला, छोटी-मोटी चोरी करने वालों का अधिपति जो रुद्र है, उसे हमारा प्रणाम है। उसी तरह बाण और धनुष धारण करने वाले, धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने वाले, धनुष पर बाण सन्धान करने वाले, धनुष का आकर्षण करने वाले और बाण चलाने वाले जो रुद्र हैं, उनको हमारा प्रणाम प्राप्त हो॥ २२॥

उष्णीषिणे, उष्णं तदुपलक्षितं शीतादिकं सर्वं बाधकम् ईषते तिरोदधातीति उष्णीषं शिरोवेष्टनं किरीटं वा। 'ईष गतिहिंसादर्शनेषु' इत्यस्मात् 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कः, शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्, तदस्यास्तीति उष्णीषी, तस्मै रुद्राय नमः। गिरिचराय गिरौ पर्वते चरतीति गिरिचरस्तस्मै रुद्राय

किसी ने यह कहा है—'कपट से शत्रुसेना के पदार्थों को उपलब्ध करने वाले, शत्रुसेना में कपटपूर्वक निवास करने वाले, खड्ग धारण करने वाले, बाण-तूणीर आदि अपने पास रखनेवाले, काम करने वाले, शत्रुओं को मारने की इच्छा करने वाले खड्गधारियों के लिये, घर के लोगों के लिये, प्रहरियों के लिये, जंगल काटने वाले अधिकारियों के लिये, क्षेत्रों से अन्न आदि पदार्थों को लाने वालों के लिये अन्न प्राप्त हो' इति। किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि कौन किससे प्रार्थना कर रहा है, इसका निर्देश किये बिना इस प्रकार का सम्पूर्ण अर्थ असंगत ही है, उन्मत्त के प्रलाप के समान ही यह अर्थ प्रतीत हो रहा है। सर्वत्र राष्ट्रों में तत्तत् शासन-व्यवस्थाओं में नियुक्त हुए जन स्वतन्त्र और पुरुषार्थपरायण हुआ करते हैं। वे स्वयं ही अन्नोपार्जन कर लेते हैं। कर्मचारीगण आपस में परस्पर समय-बन्ध करके वेतन प्राप्त करते हैं। उसमें आज्ञा या प्रार्थना की अपेक्षा नहीं होती। किञ्च, 'वञ्चु गतौ', 'वञ्चु प्रलम्भने' इन दो धातुओं से निष्पन्न हुए 'वञ्चते' पद का 'कपट से अर्थ प्राप्त करने वाला 'छद्मना अर्थप्रापकः' यह अर्थ कैसे निकला है? 'वञ्चते' का अर्थ तो 'गति अथवा वञ्चन करना' सर्वत्र प्रसिद्ध है। किञ्च, 'स्तायूनाम्' और 'सृकायिभ्यः' इन दो पदों का अर्थ तो आपने बताया ही नहीं। सिद्धान्त के अनुसार मन्त्रार्थ को पूर्व बता ही चुके हैं॥ २१॥

'उष्णीषिणे' उष्णं तदुपलक्षितं शीतादिकं सर्वबाधकम् ईषते तिरोदधातीत्युष्णीषं शिरोवेष्टनं किरीटं वा। अर्थात् उष्ण-शीत आदि बाधकों को जो तिरोहित करता है, उसे 'उष्णीष' यानी शिर को वेष्टित करने वाली पगड़ी, साफा अथवा किरीट कहते हैं। 'ईष गतिहिंसादर्शनेषु' धातु से 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा०सू० ३।१।१३५) सूत्र से 'क' प्रत्यय और शकन्ध्वादित्वात् पररूप हुआ है। वह उष्णीष है जिसके पास, उसे 'उष्णीषी' कहते हैं। उस किरीट पहने हुए रुद्र को नमस्कार। 'गिरिचराय' गिरौ पर्वते चरतीति गिरिचरस्तस्मै। पर्वतचारी रुद्र को नमस्कार। 'कुलुञ्चानां पतये' कुत्सितं लुञ्चन्तीति कुलुञ्चाः,

नमः। कुलुञ्चानां कुत्सितं लुञ्चन्तीति कुलुञ्चाः कुत्सितदुष्टघातकाः, तेषां पतये स्वामिने रुद्राय नमः। अथवा कुलानि दुष्टकुलानि लुञ्चन्तीति कुलुञ्चाः, कुं भूमिं क्षेत्रारामगृहादिरूपां वा लुञ्चन्ति हरन्तीति कुलुञ्चाः, तेषां पतये पालकाय रुद्राय नमः। इषुमद्भ्य इषवो बाणाः सन्ति येषां त इषुमन्तः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। धन्वायिभ्यश्च धन्वति गच्छति आखेटार्थमनेनेति धन्वा, धविर्गत्यर्थको भौवादिकः, अस्मात् 'कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उ० १।१५६) इति कनिन्प्रत्ययः। धन्वना धनुषा सह यन्ति गच्छन्ति तच्छीला इति धन्वायिनः, तेभ्यः। हे रुद्राः, धनुर्धरेभ्यश्च वो युष्मभ्यं नमः। चकारो मन्त्रभेदज्ञापनार्थः। एवमग्रेऽपि। आतन्वानेभ्यः आतन्वन्ति आरोपयन्ति मौर्वीं धनुषीत्यातन्वानाः, तेभ्यस्तद्रूपेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। प्रतिदधानेभ्यः प्रतिदधते सन्दधते बाणं धनुषीति प्रतिदधानाः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। आयच्छद्भ्य आयच्छन्ति आकर्षन्ति धनूंषि ये त आयच्छन्तः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। अस्यद्भ्यः अस्यन्ति क्षिपन्ति बाणानिति अस्यन्तः, तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः।

यत्तु—'उष्णीषिणे शिरोवेष्टनवस्त्रविशेषधारिणे ग्रामपतये पर्वतीयकुलानामध्यक्षाय बाणवद्भ्यो धनुर्धरेभ्योऽधिज्येभ्यः, तत्र लक्ष्यं प्रति बाणान् सन्दधानेभ्यः शत्रुनिग्रहकारिभ्यः शस्त्राण्यस्यद्भ्यश्च अन्नमुपलब्धमस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यक्षग्रामपत्याद्यर्थानां मन्त्रबाह्यत्वात् ॥ २२ ॥

नमो॑ विसृ॒जद्भ्यो॒ विध्य॑द्भ्यश्च वो॒ नमो॒ नमः॒ स्वप॑द्भ्यो॒ जाग्र॑द्भ्यश्च वो॒ नमो॒ नमः॒ शया॑नेभ्य आसी॑नेभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॒स्तिष्ठ॑द्भ्यो॒ धाव॑द्भ्यश्च वो॒ नमः॑ ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—शत्रुओं पर बाण छोड़ने वाले, शत्रुओं को विद्ध करने वाले, स्वप्न, जागृति और सुषुप्ति की अवस्थाओं को धारण करने वाले, बैठने वाले, उठने वाले और दौड़ने वाले जो रुद्र हैं, उन्हें हमारा प्रणाम प्राप्त हो ॥ २३ ॥

अर्थात् कुत्सित दुष्टघातकों के स्वामी रुद्र को नमस्कार। अथवा 'कुलानि दुष्टकुलानि लुञ्चन्तीति कुलुञ्चाः, अर्थात् दुष्ट कुलों को जो नष्ट करते हैं, उनको कुलुञ्च कहते हैं। अथवा 'कुं भूमिं क्षेत्रारामगृहादिरूपां लुञ्चन्ति हरन्तीति कुलुञ्चाः। यानी क्षेत्र, बगीचा, गृहादिरूप भूमि (कु) के हरण करने वालों को कुलुञ्च कहते हैं। उन कुलुञ्चों के पालक रुद्र को नमस्कार। 'इषुमद्भ्यः' इषवो बाणाः सन्ति येषां ते इषुमन्तः। अनेक बाणों को पास रखने वाले रुद्रों को नमस्कार। 'धन्वायिभ्यश्च' धन्वति गच्छति आखेटार्थमनेनेति धन्वा। मृगया को जाने वाला यानी शिकारी। गत्यर्थक धन्वि धातु भौवादिक है, उससे 'कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उ० १।१५६) सूत्र से 'कनिन्' प्रत्यय होता है। धन्वना धनुषा सह यन्ति गच्छन्ति तच्छीला इति धन्वायिनः, तेभ्यः। हे रुद्रों! तुम धनुर्धारियों को नमस्कार। 'चकार' का प्रयोग मन्त्रभेद के ज्ञापनार्थ है। इस प्रकार आगे भी समझना चाहिये। 'आतन्वानेभ्यः' आतन्वन्ति आरोपयन्ति मौर्वीं धनुषीत्यातन्वानाः, तेभ्यस्तद्रूपेभ्यः। धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा कर तानने वाले रुद्रों को नमस्कार। 'प्रतिदधानेभ्यः' प्रतिदधते सन्दधते बाणं धनुषीति प्रतिदधानाः, तेभ्यः। धनुष पर बाण-संधान करनेवाले तुम रुद्रों को नमस्कार। 'आयच्छद्भ्यः' आयच्छन्ति आकर्षन्ति धनूंषि ये ते आयच्छन्तः, तेभ्यः। धनुषों को खींचने वाले उन रुद्रों को नमस्कार। 'अस्यद्भ्यः' अस्यन्ति क्षिपन्ति बाणान् इति अस्यन्तः, तेभ्यः। बाणों को फेंकने वाले तुम रुद्रों के लिये नमस्कार।

यह जो किसी ने अर्थ किया है कि 'उष्णीषिणे' शिरोवेष्टन-वस्त्रविशेष को धारण करनेवाले ग्रामपति के लिये, पर्वतीय कुलों के अध्यक्ष के लिये, धनुर्बाण को लिये हुओं के लिये, धनुष को सज्ज रखनेवालों के लिये, लक्ष्य के प्रति बाणों का संधान करने वालों के लिये, शत्रुओं का निग्रह करने वालों के लिये, शस्त्रप्रक्षेप करने वालों के लिये अन्न की उपलब्धि होती रहे'। किन्तु यह अर्थ भी मन्त्र के शब्दों से नहीं निकल रहा है, मन्त्रबाह्य अर्थ हैं, क्योंकि अध्यक्ष, ग्रामपति इत्यादि अर्थ मन्त्र के किसी शब्द से भी निष्पन्न नहीं हो रहा है ॥ २२ ॥

विसृजद्भ्यो विसृजन्ति बाणान् योद्धृषु इति विसृजन्तः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। विध्यद्भ्यश्च विध्यन्ति ताडयन्ति शत्रूनिति विध्यन्तः, तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः। मुक्तस्य बाणस्य लक्ष्ये प्रवेशो वेधः। स्वपद्भ्यः स्वप्नावस्थामनुभवन्तीति स्वपन्तः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। जाग्रद्भ्यो जाग्रति इन्द्रियैरर्थोपलब्धिरूपां जाग्रदवस्थामनुभवन्तीति जाग्रतः, तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः। शयानेभ्यः शेरतेऽज्ञानमात्रमनुभवन्तीति शयानाः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। आसीनेभ्यश्च आसत उपविशन्तीत्यासीनाः। 'आस उपवेशने' इति धातोः शानचि 'ईदासः' (पा० सू० ७।२।८३) इत्याकारस्य ईत्त्वे रूपसिद्धिः। तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः।

तिष्ठद्भ्यः, तिष्ठन्तीति गमनमवरुद्ध्य वर्तन्त इति तिष्ठन्तः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। धावद्भ्यो धावन्ति भूयसा वेगेन गच्छन्तीति धावन्तः, तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः॥ २३॥

नमः॑ स॒भाभ्यः॑ स॒भाप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमोऽश्वे॒भ्योऽश्व॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॑ आव्या॒धिनी॑भ्यो वि॒विध्य॑न्तीभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॒ उग॑णाभ्यस्तृँ॒ह॒तीभ्य॑श्च वो॒ नमः॑ ॥२४॥

मन्त्रार्थ—सभा, सभापति, अश्व और अश्वपति के स्वरूप को धारण करने वाले जो रुद्र हैं, उनको हमारा प्रणाम है। सब ओर से विशेष कर विद्ध करने वाले, उत्कृष्ट सेवकों से युक्त, बध करने में समर्थ ब्रह्मादि देवताओं को हमारा प्रणाम प्राप्त हो ॥ २४ ॥

इत उत्तरं 'जातेभ्यो जुहोति'(श०९।१।१।१९) इति जातसंज्ञा रुद्रा रुद्रलोके सन्ति, त इहोच्यन्ते रुद्राद्वैतप्रतिपादनाय, 'अथो एवँ हैतानि रुद्राणां जातानि' (श० ९।१।१।१९) इति श्रुतेः। रुद्रलोके किल इत्थंभूता रुद्रा सन्ति, तेभ्यो जुहोति। सभाभ्यः सभारूपेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। सभादिषु रुद्रदृष्टिः कर्तव्येति तात्पर्यम्। उव्वटमहीधरौ बाधसामानाधिकरण्येन रुद्रदृष्टिमाहुः, अर्थादधिष्ठानज्ञानेन सभादीन् बाधित्वा तत्र रुद्रयाथात्म्य-

---

'विसृजद्भ्यः' विसृजन्ति बाणान् योद्धृष्विति विसृजन्तः, तेभ्यः। योद्धाओं पर बाण छोड़ने वाले रुद्रों के लिये नमस्कार। 'विद्धचद्भ्यश्च' विध्यन्ति ताडयन्ति शत्रून् इति विध्यन्तः, तेभ्यः। शत्रुओं को ताडित करनेवाले तुम रुद्रों के लिये नमस्कार। छोड़े गये बाण का लक्ष्य में प्रवेश होना 'वेध' कहलाता है। 'स्वपद्भ्यः' स्वप्नावस्थामनुभवन्तीति स्वपन्तः, तेभ्यः। स्वप्नावस्था का अनुभव करनेवाले रुद्रों को नमस्कार। 'जाग्रद्भ्यः' जाग्रति इन्द्रियैरर्थोपलब्धिरूपां जाग्रदवस्थामनुभवन्तीति जाग्रतः, तेभ्यः। इन्द्रियों के द्वारा अर्थोपलब्धिरूप जाग्रदवस्था का जो अनुभव करते हैं, उन्हें जाग्रत् कहते हैं : उन जाग्रत् स्वरूप तुम रुद्रों को नमस्कार। 'शयानेभ्यः' शेरते प्रज्ञानमात्रमनुभवन्तीति शयानाः, तेभ्यः। केवल ज्ञानमात्र का अनुभव करनेवाले शयान स्वरूप रुद्रों को नमस्कार। 'आसीनेभ्यश्च' आसने उपविशन्तीति आसीनाः। 'आस उपवेशने' धातु से 'शानच्' करके 'ईदासः' (पा० सू० ७।२।८३) सूत्र से आकार का ईत्व करने पर यह रूप सिद्ध होता है। आसन पर बैठने वाले तुम रुद्रों को नमस्कार। 'तिष्ठद्भ्यः' तिष्ठन्तीति गमनमवरुद्धय वर्तन्त इति तिष्ठन्तः, तेभ्यः। स्थित रहने वाले उन रुद्रों को नमस्कार। 'धावद्भ्यः' धावन्ति भूयसा वेगेन गच्छन्तीति धावन्तः, तेभ्यः। बहुत तेजी से जाने वाले तुम रुद्रों को नमस्कार। २३।

इसीके आगे 'जातेभ्यो जुहोति' (श० ब्रा० ९।१।१।१९) जातसंज्ञक 'रुद्र' रुद्रलोक में हैं, उन्हें यहाँ बताया जा रहा है, जिससे रुद्राऽद्वैत का प्रतिपादन हो सके। क्योंकि 'अथो एवँ हैतानि रुद्राणां जातानि' (श० ब्रा० ९।१।१।१९) श्रुति कहती है। रुद्रलोक में निश्चित ही इस प्रकार के रुद्र हैं। उनके लिये हवन करना चाहिये। 'सभाभ्यः' सभारूप रुद्रों को नमस्कार। सभा आदि में रुद्रदृष्टि करनी चाहिये, यह तात्पर्य है। उव्वट-महीधर दोनों ने बाधसामानाधिकरण्य से रुद्रदृष्टि करने के लिये कहा है। अर्थात् अधिष्ठान के ज्ञान से सभा आदि का बाध करके उसमें रुद्रयाथात्म्य दृष्टि का सम्पादन करना

दृष्टिरुपार्जनोया। सभापतिभ्यः सदसस्पतिभ्यश्च वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः। अश्वेभ्यस्तुरगेभ्यस्तद्रूपेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। अश्वपतिभ्यश्च अश्वानां पतयोऽश्वपतयस्तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः। आव्याधिनीभ्य आसमन्ताद् विध्यन्तीति आव्याधिन्यो रुद्रदेव्यो रुद्रशक्त्यो रुद्रसेना गणरूपा वा, ताभ्यो रुद्ररूपाभ्यो नमः। विविध्यन्तीभ्यो विशेषेण विध्यन्तीति विविध्यन्त्यः, ताभ्यो रुद्ररूपाभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। उगणाभ्य उद् उदीर्णा उद्गूर्णा उद्रिक्ता गणा भृत्यभक्तादिसमूहा वा यासां ता उगणाः, पृषोदरादित्वाद् उपसर्गान्त्यलोपः। ब्राह्म्याद्या मातरः, ताभ्यो नमः। 'ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा। चामुण्डा च तथेन्द्राणी वाराही सप्त मातरः॥' इति शिष्टोक्तेः। तृंहतीभ्यस्तृंहन्ति घ्नन्तीति तृंहत्यो हन्तुं समर्था दुर्गादयः, ताभ्यो रुद्ररूपाभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। तृंहू हिंसार्थकस्तौदादिकः। रुद्रसेना एव वा विविधविशेषणाः॥ २४॥

नमो॑ ग॒णेभ्यो॑ ग॒णप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ व्राते॑भ्यो॒ व्रात॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ गृत्सेभ्यो॒ गृत्स॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ विरू॑पेभ्यो वि॒श्वरू॑पेभ्यश्च वो॒ नमः॑॥ २५॥

मन्त्रार्थ— भूतविशेषों के संघों के और देवताओं के सेवकसमूहों के पालक, भिन्न-भिन्न जातियों के पालक, बुद्धिमान् और बुद्धिमानों के पालक, विकृत स्वरूप वाले और अश्वमुख आदि भिन्न-भिन्न रूपों वाले जो रुद्र हैं, उनको हमारा प्रणाम प्राप्त हो॥ २५॥

गणेभ्यः, देवानुचरा नन्दिभृङ्ग्यादयो भूतविशेषाः समूहा वा गणाः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। गणपतिभ्यो गणानां भूतप्रेतादिगणानां महदादिगणानां देवगणानां वा पतयः पालका गणपतयः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। व्रातेभ्यो नानाजातीयसङ्घातेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। यद्वा भोजननियमार्थे व्रतशब्दात् 'मुण्डमिश्र' (पा० सू० ३।१।२१) इत्यादिना णिजन्ताद् घञि व्रातशब्दो निष्पन्नः। व्रत्यते नियम्यते इति व्रातः, व्रातमर्हन्तीति

चाहिये। 'सभापतिभ्यः' अर्थात् सदसत्पतिरूप तुम रुद्रों को नमस्कार। 'अश्वेभ्यः' तुरगस्वरूप रुद्रों को नमस्कार। 'अश्वपतिभ्यश्च' अश्वपति स्वरूप तुम रुद्रों को नमस्कार। 'आव्याधिनीभ्यः' 'आसमन्ताद् विध्यन्तीति आव्याधिन्यो रुद्रदेव्यो रुद्रशक्त्यो रुद्रसेना गणरूपा वा, ताभ्यः। चारों ओर से बंधने वाली को आव्याधिनी कहते हैं। वह रुद्रदेवी, या रुद्रशक्ति, या रुद्रसेना, या रुद्रगण के रूप में होती हैं, उन रुद्ररूपिणियों को नमस्कार। 'विविध्यन्तीभ्यः' विशेषेण विध्यन्तीति विविध्यन्त्यः, ताभ्यः। विशेष रूप से जो बेधती हैं, वह विविध्यन्ती' कही जाती है। अर्थात् विशेषतया बेधनेवाली उन रुद्ररूपिणियों के रूप में स्थित रुद्रों को नमस्कार। 'उगणाभ्यः' अद् उदीर्णा उद्गूर्णा उद्रिक्ता गणा भृत्यभक्तादिसमूहा वा यासां ता उगणाः। अर्थात् जिन रुद्ररूपा शक्तियों के सेवक-भक्तादिगण अथवा समूह इतनी अधिक संख्या में उमड़ रहे हैं, प्रकट हो रहे हैं, उन शक्तियों को 'उगण' कहा गया है। उन उगण ब्राह्मी आदि मातृकाओं को नमस्कार। 'उत्+गण' उगण में पृषोदरादित्वात् उपसर्गान्त्यलोपः। शिष्टों ने कहा भी है—'ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा। चामुण्डा च तथेन्द्राणी वाराही सप्तमातरः॥' इति। 'तृंहतीभ्यः' तृंहन्ति घ्नन्तीति तृंहत्यो हन्तुं समर्था दुर्गादयः, ताभ्यः। हनन करने में समर्थ दुर्गा आदि रूप वाले रुद्र देवताओं को नमस्कार। तृंह हिंसार्थक तौदादिक धातु है, अथवा रुद्रसेना के ही ये विविध विशेषण हो सकते हैं॥ २४॥

'गणेभ्यः' देवानुचर नन्दी, भृङ्गी आदि भूतविशेष अथवा समूह को 'गण' कहा गया है। उन रुद्ररूप गणों को नमस्कार। 'गणपतिभ्यः' भूत-प्रेतादिगण, या महदादिगण, या देवगणों के जो पति यानी पालक हैं, उन्हें गणपति कहा गया है। उन रुद्ररूप गणपतियों को नमस्कार। 'व्रातेभ्यः' रुद्ररूप नानाजातीय संघातों के लिये नमस्कार। अथवा भोजन-नियम के अर्थ में 'व्रत' शब्द के होने से 'मुण्डमिश्र' (पा० सू० ३।१।२१) सूत्र से णिजन्त धातु से घञ् प्रत्यय करने पर 'व्रात' शब्द निष्पन्न होता। 'व्रत्यते नियम्यत इति व्रातः, व्रातमर्हन्तीति व्राताः, तेभ्यः। नियमित किये जाने वाले रुद्ररूप

व्राताः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। व्रातपतिभ्यो व्रातानां पतयः स्वामिनः पालका व्रातपतयः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। गृत्सेभ्यो विषयविषमपहाय कैवल्यमयं भगवन्तमेव गृध्यन्ति वाञ्छन्तीति गृत्साः, गृधेः 'गृधिपण्योर्दकौ च' (उ० ३।६९) इति सप्रत्ययः, धकारस्य दकारादेशश्च, मेधाविनो वीतरागाः ब्रह्मप्रतिपित्सवः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। यद्वा गृणातेः स्तुतिकर्मणो बाहुलकात् सक्प्रत्ययो ह्रस्वत्वं तुगागमश्च। गृत्सः स्तुत्यो लोकानां स्तोता वा देवानाम्, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। गृत्सपतिभ्यो गृत्सानां पतयः स्वामिनः पालकाः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। विरूपेभ्यो विविधानि विकृतानि वा रूपाणि येषां ते विरूपाः, एकानेकबाहूर्वक्षिमुखसिंहतुरगखरवानरहयमुखा नग्नमुण्डजटिलादयो वा, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। विश्वरूपेभ्यो विश्वं सर्वं नानाविधं रूपं येषां ते विश्वरूपा व्यष्टिसमष्टिकार्यकारणवाच्यवाचकतदतीततुरीयरूपेभ्यो रुद्रेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः॥ २५॥

नमः॒ सेना॑भ्यः सेना॒नि॑भ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॑ र॒थिभ्यो॑ अर॒थेभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमः॑ क्ष॒त्तृभ्यः॑ संग्रही॒तृभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ म॒हद्भ्यो॑ अर्भ॒केभ्य॑श्च वो॒ नमः॑॥ २६॥

मन्त्रार्थ—सेना का स्वरूप धारण किये हुए, सेनापति का रूप धारण किये हुए, रथ पर बैठकर जाने वाले, रथ पर बैठकर न जाने वाले, रथों के स्वामी तथा सारथी भी, जातिगुणों से युक्त और अल्प प्रमाण के जो रुद्र हैं, उनको हमारा प्रणाम प्राप्त हो॥ २६॥

सेनाभ्यः सेनारूपेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। सेनानिभ्यः सेनां नयन्ति नियम्य सञ्चालयन्तीति सेनान्यः सेनापतयः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। रथिभ्यो रथाः सन्ति येषां ते रथिनो रथवन्तः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। अरथेभ्यः अविद्यमाना रथा येषां ते अरथाः, 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' (पा० सू० २।२।२४ वा० १) इति समासः, उत्तरपदलोपश्च। अश्वारूढगजारूढपदातिरूपेभ्यो योद्धृभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्यभ्यं नमः। क्षत्तृभ्यः क्षदति संवृणोतीति क्षत्ता द्वारपालः, 'क्षद संवरणे' इति सौत्रो धातुः। अस्मात् 'तृन्तृचौ शंसिक्षदा-

---

=रुद्रस्वरूप पदार्थों को नमस्कार। 'व्रातपतिभ्यः' नियमित किये हुए व्रतीय पदार्थों के स्वामी भी रुद्ररूप हैं, अतः उनको भी नमस्कार। 'गृत्सेभ्यः' विषयविषमपहाय कैवल्यमयं भगवन्तमेव गृध्यन्ति वाञ्छन्तीति गृत्साः, तेभ्यः। अर्थात् मेधावी वीतराग ब्रह्मजिज्ञासु उन रुद्र रूपों को नमस्कार। 'गृध्' धातु से 'गृधिपण्योर्दकौ च' (उ० ३।६९) सूत्र से 'स' प्रत्यय और धकार को दकारादेश हुआ है। अथवा गृणातेः स्तुतिकर्मणो बाहुलकात् 'सक्' प्रत्यय, ह्रस्वत्व और तुगागम हुआ है। लोगों में जो प्रशंसनीय है अथवा देवताओं की स्तुति करने वाला है, उसे 'गृत्स' कहते हैं। उन रुद्र रूप गृत्सों को नमस्कार। 'गृत्सपतिभ्यः' गृत्सों के पालक रुद्र रूप तुम्हारे लिये नमस्कार। 'विरूपेभ्यः' विविधानि विकृतानि वा रूपाणि येषां ते विरूपाः। अनेक प्रकार के अथवा विकृत रूपवालों को विरूप कहते हैं। अथवा एक-अनेक बाहु, ऊरु, अक्षि, मुखवाले, या सिंह, तुरग, खर, वानर, अश्व के मुखवाले, अथवा नग्न, मुण्ड, जटाधारी उन रुद्र रूपों को नमस्कार। 'विश्वरूपेभ्यः' विश्वं सर्वं नानाविधं रूपं येषां ते विश्वरूपाः, तेभ्यः। समस्त अर्थात् नानाविध रूपवाले, व्यष्टि, समष्टि, कार्यकारण, वाच्यवाचक आदि के परे तुरीयरूप तुम रुद्रों को नमस्कार॥ २५॥

'सेनाभ्यः' सेना रूप रुद्रों के लिये नमस्कार। 'सेनानिभ्यः' सेनां नयन्ति नियम्य सञ्चालयन्तीति सेनान्यः सेनापतयः, तेभ्यः। तुम सेनापति रूप रुद्रों को नमस्कार। 'रथिभ्यः' रथाः सन्ति येषां ते रथिनो रथवन्तः, तेभ्यः। जिनके पास रथ हैं, उन रुद्रों को नमस्कार। 'अरथेभ्यः' अविद्यमाना रथा येषां ते अरथाः, तेभ्यः। रथरहित तुम रुद्रों को नमस्कार। 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' (पा० सू० २।२।२४, वा० २) से समास और उत्तरपद का लोप। अश्वारूढ, गजारूढ, पदातिरूप योद्धा रुद्र रूपों को नमस्कार। 'क्षत्तृभ्यः' क्षरति संवृणोतीति क्षत्ता द्वारपालः। उस रुद्र रूप द्वारपाल को नमस्कार। 'क्षद संवरणे' यह सौत्र धातु है, उससे 'तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ' (उ० २।९५) से

दिभ्यः संज्ञायां चानिटौ' (उ० २।९५) इति तृच्। तस्मै रुद्ररूपाय नमः। संग्रहीतृभ्यः संगृह्णन्ति अश्वानिति संग्रहीतारः सारथयः, 'ण्वुल्तृचौ' (पा० सू० ३।१।१३३) इति तृच्, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। महद्भ्यो मह्यन्ते कुलेन अभिजनेन जात्या वीर्यातिरेकेण विद्यावैभवेन वेति महान्तः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। अर्भकेभ्य ऋध्नुवन्ति वर्धन्ते इत्यर्भकाः, 'अर्भकपृथुकपाका वयसि' (उ० ५।५३) इति निपातितो वुन्प्रत्ययः, धस्य भश्च निपात्यते, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। बालरूपेभ्योऽल्पप्रमाणेभ्यो वा नमः॥ २६॥

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः॥ २७॥

मन्त्रार्थ—बढ़ई का काम करने वाले, रथ बनाने वाले, कुम्हार, लोहार, भील, तन्तुवाय, अन्त्यज, कुत्तों के गले की डोरी पकड़ने वाले, चिड़ीमार (व्याध) के रूप को धारण करने वाले रुद्रों को हमारा प्रणाम प्राप्त हो॥ २७॥

तक्षभ्यः, तक्षाणः शिल्पिविशेषाः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। रथकारेभ्यो रथं कुर्वन्तीति रथकाराः, एतेऽपि तद्विशेषा एव, न तु रथनिर्मातारः। यतो ह्येतेभ्योऽन्येऽपि रथकारा भवन्ति, योगरूढत्वादस्य पदस्य, तथा च योगियाज्ञवल्क्यः—'माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते' (या० स्मृ० १।९५), तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। कुलालेभ्यः कुं भूमिं लालयतीति कुलालः। 'लड् विलासे' कर्मण्यण्। डलयोरभेदः। अथवा कुलं मालातीति कुलालः। आङ् पूर्वकाद् लाधातोः कप्रकरणे 'मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम्' (पा० सू० ३।२।५ वा० १) इति कः। बहुत्वविवक्षायां कुलालाः कुम्भकाराः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। कर्मारेभ्यः कर्म क्रियामृच्छन्तीति कर्मारा लोहकाराः, तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्ररूपेभ्यो नमः। निषादेभ्यो निषीदति पापमेष्विति निषादा गिरिचरा

तृच् प्रत्यय हुआ है। 'संग्रहीतृभ्यः' संगृह्णन्ति अश्वान् इति संग्रहीतारः सारथयः, तेभ्यः। उन सारथी स्वरूप तुम रुद्रों को नमस्कार। 'ण्वुल्तृचौ' (पा० सू० ३।१।१३३) से तृच् होता है। 'महद्भ्यः' मह्यन्ते कुलेन अभिजनेन जात्या वीर्यातिरेकेण विद्यावैभवेन वेति महान्तः, तेभ्यः। कुल से, अभिजात्य से, अत्यधिक पराक्रम से, अथवा विद्या-वैभव से महान् रहनेवाले रुद्रों को नमस्कार। 'अर्भकेभ्यः' ऋध्नुवन्ति वर्धन्त इति अर्भकाः। उन अर्भकरूप रुद्रों को नमस्कार। बालरूप अथवा अल्प प्रमाणवालों को नमस्कार 'अर्भकपृथुकपाका वयसि' (उ० ५।२३) से निपातित शब्द है। वुन् प्रत्यय और 'ध' को 'भ' का निपातन किया है। उससे 'अर्भक' शब्द निष्पन्न होता है॥ २६॥

'तक्षभ्यः' तक्षाणः शिल्पिविशेषाः, तेभ्यः। उन शिल्पिविशेष रुद्रों को नमस्कार। 'रथकारेभ्यः' रथं कुर्वन्तीति रथकाराः, तेभ्यः। शिल्पिविशेष रथकार रूप रुद्रों को नमस्कार। ये रथकार भी शिल्पिविशेष ही हैं। ये रथ के निर्माण करने वाले नहीं हैं। यह 'रथकार' शब्द योगरूढ होने से उक्त रथकार के अतिरिक्त भी रथकार होते हैं। जैसा कि योगी याज्ञवल्क्य ने कहा है—'माहिष्येण करिण्यां तु रथकारः प्रजायते' (या० स्मृ० १।९५)। 'कुलालेभ्यः' कुं भूमिं लालयतीति कुलालः, जो पृथिवी (भूमि) को लालित करता है, उसे कुलाल कहते हैं। 'लड् विलासे' धातु से 'कर्मण्यण्' अण् प्रत्यय होता है। ड-लयोरभेदः, ड-ल का अभेद माना जाता है। अथवा कुलमालातीति कुलालः। आङ्पूर्वक 'ला' धातु से क प्रकरण में 'मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम्' (पा० सू० ३।२।५, वा० १) से 'क' प्रत्यय हुआ। बहुत्व की विवक्षा में 'कुलालाः' कुम्भकाराः। उन कुम्भकारस्वरूप रुद्रों को नमस्कार। कर्मारेभ्यः, कर्म क्रियामृच्छन्तीति कर्मारा लोहकाराः, तेभ्यः। लोहकार स्वरूप रुद्रों को नमस्कार। 'निषादेभ्यः' निषीदति पापम् एषु इति निषादा गिरिचरा मांसाशिनो भिल्लाः, तेभ्यः। पर्वत पर संचार करनेवाले मांसभक्षी भिल्ल (भील) स्वरूप रुद्रों को नमस्कार। अथवा निषादा

मांसाशिनो भिल्लाः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। अथवा निषादा मात्सिकाः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। पुञ्जिष्ठेभ्यो जात्यन्तरसम्बद्धाः पक्षिपुञ्जघातकाः पुल्कसादयः पुञ्जिष्ठाः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। श्वनिभ्यः शुनो नयन्तीति श्वन्यः श्वकण्ठबद्धरज्जुधारकाः श्वगणिनः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। नयतेर्ह्रस्व आर्षः। मृगयुभ्यश्च मृगान् कामयन्ते ये ते मृगयवः, मृगशब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि, 'क्यचि च' (पा० सू० ७।४।३३) इति प्राप्तस्य ईत्वस्य 'न छन्दस्यपुत्रस्य' (पा० सू० ७।४।३५) इति निषेधे, 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युत्वे रूपसिद्धिः। 'इदंयुरिदंकामयमानः' इति यास्काभिप्रायेणेदं व्याख्यानम्। मृगाणां वधार्थं यातीति वा मृगयुः, मृगोपपदात् 'या प्रापणे' इत्यस्मात् 'मृगय्वादयश्च' (उ० १।३७) इति कुप्रत्ययान्तनिपातनाद् रूपसिद्धिः। बहुत्वविवक्षायां मृगयवो लुब्धकाः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः॥ २७॥

नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च॥ २८॥

मन्त्रार्थ—श्वान (कुत्ते) और उनका पालन करने वाले रुद्रों को प्रणाम है। सम्पूर्ण प्राणियों के उत्पादक, दुःखनाशक, पापों को नष्ट करने वाले, आदेशों का पालन करने वाले, विषभक्षण करने से जिसके कण्ठ का कुछ भाग नीला और उसी कण्ठ का कुछ भाग श्वेत है, उस रुद्र को हम नमस्कार करते हैं॥ २८॥

श्वभ्यः श्वयति गच्छति वर्धते वा असौ श्वा कुक्कुरः। 'श्वन्नुक्षन्' (उ० १।१५९) इति कनिनन्तो निपातितः। बहुत्वविवक्षायां श्वानः, तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो नमः। श्वपतिभ्यश्च शुनां पतयः श्वपतयस्तेभ्यो रुद्ररूपेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। किरातदेवस्य अनुचरेभ्य इत्यर्थः। इत्युभयतोनमस्काराः समाप्ताः। 'नम इषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमः' (१६।२२) इत्यारभ्य ये वःशब्दा अतिक्रान्तास्ते पूजावचना ज्ञेयाः। यद्यपि व्याख्यायां युष्मदादेशो व्याख्यातः, तथापि तथा सम्बोध्याभावात् पूजार्थत्वमेव तेषां ज्ञेयम्। सर्वस्य वा रुद्ररूपत्वात् सम्बोध्योऽर्थोऽपि

मात्स्यिकाः, तेभ्यः। मछुओं का रूप धारण किये हुए रुद्रों को नमस्कार। पुञ्जिष्ठेभ्य, जात्यन्तरसम्बद्धाः पक्षिपुञ्जघातकाः पुल्कसादयः पुञ्जिष्ठाः, तेभ्यः। पक्षियों के घातक पुल्कस जातिवाले रुद्रों को नमस्कार। श्वनिभ्यः शुनो नयन्तीति श्वन्यः। श्वकण्ठबद्धरज्जुधारकाः श्वगणिनः, तेभ्यः। कुत्तों के कण्ठ में बन्धी रज्जु को पकड़ने वाले श्वगणिस्वरूप रुद्रों को नमस्कार। नी का ह्रस्वत्व आर्ष है। 'मृगयुभ्यश्च' मृगान् कामयन्ते ये ते मृगयवः। जो मृगों को चाहते हैं, वे मृगयु कहलाते हैं। मृग शब्द से 'सुप आत्मनः 'क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) से क्यच् करने पर, 'क्यचि च' (पा० सू० ७।४।३३) से प्राप्त हुए ईत्व का 'न छन्दस्यपुत्रस्य' (पा० सू० ७।४।३५) से निषेध होने पर, 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) से उत्व करने पर मृगयु शब्द निष्पन्न होता है। 'इदंयुरिदंकामयमानः' इस यास्काभिप्राय के अनुसार यह व्याख्या की गई है। मृगान् वधार्थं यातीति वा मृगयुः। मृगों के वधार्थ जानेवाले को मृगयु कहते हैं। मृगयवो लुब्धकाः, तेभ्यः। मृगलुब्धक मृगयु रूपधारी रुद्रों को नमस्कार। मृग उपपद वाले 'या प्रापणे' धातु से 'मृगय्वादयश्च' (उ० १।३७) से कुप्रत्ययान्त का निपातन करके इस रूप की निष्पत्ति की गई है। बहुत्व की विवक्षा में 'मृगयवः' है॥ २७॥

'श्वभ्यः' श्वयति गच्छति वर्धते वा असौ श्वा कुक्कुरः। बहुत्वविवक्षायां श्वानः, तेभ्यः। कुक्कुर का रूप धारण करने वाले उन रुद्रों को नमस्कार। 'श्वपतिभ्यश्च' शुनां पतयः श्वपतयः, तेभ्यः। किरात देव के अनुचरों के रूप में स्थित रुद्रों को नमस्कार। इस प्रकार के उभयतः नमस्कार वाले मन्त्र समाप्त हुए। 'नम इषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमः' (१६।२२) से आरंभ कर जो 'वः' शब्द अतिक्रान्त हुए हैं, उन्हें पूजावाचक समझना चाहिये। यद्यपि व्याख्या में युष्मदादेश की व्याख्या की गई है, तथापि वैसा संबोध्य न होने से उन्हें पूजार्थक ही समझना चाहिये। अथवा सभी कुछ रुद्ररूप होने से सम्बोध्य अर्थ भी असंभव नहीं है।

नासम्भवी। अथ नमस्कारोपक्रमा नाममन्त्रा उच्यन्ते। भवाय भवन्ति उत्पद्यन्ते जन्तवोऽस्मादिति भवः, तस्मै नमः। रुद्राय रुद् दुःखं द्रावयति नाशयतीति रुद्रः, तस्मै नमः। शृणाति हिनस्ति पापमिति शर्वः, तस्मै नमः। पशुपतये पशून् मायापाशबद्धान् अज्ञान् संसारिणो जीवान् पाति रक्षतीति पशुपतिः, तस्मै नमः। नीलग्रीवाय विषपानेन नीला ग्रीवा कण्ठो यस्य स नीलग्रीवः, तस्मै नमः। शितिकण्ठाय शितिः श्वेतः कण्ठो नीलातिरिक्तभागो यस्य स शितिकण्ठः, तस्मै नमः। 'शिती धवलमेचकौ' (अ० को० ३।३।८२) इत्यमरकोषात् ॥ २८ ॥

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—जटा धारण करने वाले, जिसके केशों का मुण्डन हुआ है, सहस्रनयन और सौ धनुषों को धारण करने वाले, कैलास पर्वत पर रहने वाले, प्राणीमात्र के शरीरों में व्याप्त रहने वाले, अतिवृष्टि करने वाले, बाणों को अपने पास रखने वाले रुद्र को हम नमस्कार करते हैं ॥ २९ ॥

कपर्दिने केन सुखेन जलेन वा परं पूर्तिं ददातीति कपर्दः शिवस्य जटाजूटः, 'कपर्दोऽस्य जटाजूटः' (अ० को० १।१।३५) इत्यमरसिंहोक्तेः, सोऽस्यास्तीति कपर्दी, तस्मै नमः। व्युप्तकेशाय व्युप्ता मुण्डिताः केशा यस्य स व्युप्तकेशः, तस्मै नमः। सहस्राक्षाय सहस्रमक्षीणि यस्यासौ सहस्राक्षः, तस्मै इन्द्ररूपाय विराड्रूपाय वा रुद्राय नमः। शतधन्वने शतं धनूंषि यस्यासौ शतधन्वा, 'धनुषश्च' (पा० सू० ५।४।१२३) इत्यनङ्ङादेशः, तस्मै रुद्राय नमः। गिरिशयाय गिरौ कैलासे शेत इति गिरिशयः, तस्मै रुद्राय नमः। शिपिविष्टाय शिपिविष्टो विष्णुर्महेश्वरो वा, 'शिपिविष्टस्तु खलतौ दुश्चर्मणि महेश्वरे' (अ० को० ३।३।३४) इत्यमरसिंहवचनात्, तस्मै विष्णुरूपाय रुद्राय नमः।

अब नमस्कार से आरंभ होने वाले नाम मन्त्रों को बता रहे हैं—'भवाय' भवन्ति उत्पद्यन्ते जन्तवोऽस्मादिति भवः। समस्त प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उस भव को नमस्कार। 'रुद्राय' रुद् दुःखं द्रावयति नाशयतीति रुद्रः, तस्मै। दुःख का नाश करनेवाले रुद्र को नमस्कार। 'शर्वाय' शृणाति हिनस्ति पापमिति शर्वः, तस्मै। पाप को नष्ट करनेवाले शर्व को नमस्कार। 'पशुपतये' पशून् मायापाशबद्धान् अज्ञान् संसारिणो जीवान् पाति रक्षतीति पशुपतिः, तस्मै। मायापाश से बद्ध हुए अज्ञ संसारी जीवों की रक्षा करनेवाले पशुपति को नमस्कार। 'नीलग्रीवाय' विषपानेन नीला ग्रीवा कण्ठो यस्य स नीलग्रीवः, तस्मै। विषपान करने से नील वर्ण के कण्ठवाले नीलग्रीव को नमस्कार। 'शितिकण्ठाय' शितिः श्वेतः कण्ठो नीलातिरिक्तभागो यस्य स शितिकण्ठः, तस्मै। जिसके कण्ठ का नीलातिरिक्तभाग श्वेत है, उस शितिकण्ठ को नमस्कार। 'शिती धवलमेचकौ' (अ० को० ३।३।८२) शिति के श्वेतार्थक होने में उक्त कोष प्रमाण है ॥ २८ ॥

'कपर्दिने' केन सुखेन जलेन वा परं पूर्तिं ददातीति कपर्दः शिवस्य जटाजूटः, सोऽस्यास्तीति कपर्दी, तस्मै। सुख अथवा जल के पूरक जटाजूट को धारण करने वाले कपर्दी को नमस्कार। अमरकोशकार ने 'कपर्दोऽस्य जटाजूटः' कपर्द का अर्थ शिव का जटाजूट बताया है। 'व्युप्तकेशाय' व्युप्ता मुण्डिताः केशा यस्य स व्युप्तकेशः, तस्मै। मुण्डित केशवाले व्युप्तकेश को नमस्कार। 'सहस्राक्षाय' सहस्रम् अक्षीणि यस्याऽसौ सहस्राक्षः, तस्मै। इन्द्रसंज्ञक सहस्राक्ष को नमस्कार। अथवा विराड् रूपी रुद्र को नमस्कार। 'शतधन्वने' शतं धनूंषि यस्यासौ शतधन्वा, तस्मै। सौ धनुषों को धारण करनेवाले रुद्र को नमस्कार। 'धनुषश्च' (पा० सू० ५।४।१२३) से अनङ् आदेश हुआ है। 'गिरिशयाय' गिरौ कैलासे शेत इति गिरिशयः, तस्मै। कैलास पर्वत पर शयन करने वाले रुद्र को नमस्कार। 'शिपिविष्टाय' विष्णु अथवा महेश्वर। 'शिपिविष्टस्तु खलतौ दुश्चर्मणि महेश्वरे' इत्यमरः। इस कोशप्रामाण्य से विष्णुरूप रुद्र को नमस्कार। अथवा 'शिपिषु पशुषु विष्टः प्रविष्टः शिपिविष्टः, तस्मै

यद्वा शिपिषु पशुषु विष्टः प्रविष्टः शिपिविष्टः, 'पशवः शिपिः' (तै० ब्रा० १।३।८।५) इति श्रुतेः। सर्वप्राणिष्वन्तर्यामितया स्थित इत्यर्थः, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा 'यज्ञो वै विष्णुः' (ता० म० ब्रा० ९।७।१०) इति श्रुतेर्यज्ञेऽधिदेवतात्वेन प्रविष्टः। अथवा शिपयो बालरश्मयः, तैराविष्टः शिपिविष्ट आदित्यो वा मण्डलाधिष्ठाता। तथा च यास्कः—'शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते, तैराविष्टो भवतीति' (निरु० ५।८), तस्मै शिपिविष्टाय रुद्राय नमः। मीढुष्टमाय मीढ्वान् मेघरूपेण सेक्ता, अतिशयेन मीढ्वान् मीढुष्टमः, तस्मै रुद्राय नमः। इषुमते इषवः सन्त्यस्येति इषुमान्, तस्मै बाणधारिणे रुद्राय नमः॥ २९॥

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च नमो वृद्धाय च सवृधे च नमोऽग्र्याय च प्रथमाय च॥ ३०॥

मन्त्रार्थ—छोटा, ठिंगना, बड़ा, विद्या-विनयादि गुणों से विशिष्ट, वृद्धों के साथ रहने वाला, सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रथम जो रुद्र है, उसे हम प्रणाम करते हैं॥ ३०॥

अथ रूपतो नमस्कारमन्त्राः। ह्रस्वाय ह्रसति प्रमाणेन लघुतया यं कमपि दृष्ट्वा शब्दायत इति ह्रस्वः। 'ह्रस्वं लघु' (पा० सू० १।४।१०) इति निर्देशाद् बाहुलकाद् वप्रत्ययः। तस्मै लघुप्रमाणदेहाय रुद्राय नमः। वामनाय वमति उद्गिरति सुषमादिकमिति वामः, 'ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः' (पा० सू० ३।१।१४०) इति णप्रत्ययः, सोऽस्यास्तीति वामनः, 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः' (पा० सू० ५।२।१००) इति नप्रत्ययः, तस्मै सङ्कुचितावयवाय रुद्राय नमः। बृहते बर्हति वर्धत इति बृहत्, 'वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च' (उ० २।८५) इति निपातनात् साधु, प्रौढाङ्गः, तस्मै रुद्राय नमः। वर्षीयसे अतिशयेन वृद्ध इति वर्षीयान् 'प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः' (पा०सू० ६।४।१५७) इति वर्षादेशः, तस्मै रुद्राय नमः। वृद्धाय वर्धनं वृद्धिः, सास्यास्तीति वृद्धः, तस्मै रुद्राय नमः। 'अर्शआदिभ्योऽच्' (पा० सू०

शिपिविष्टाय। 'पशवः शिपिः' (तै० ब्रा० १।३।८।५) इस श्रुतिवचन से 'शिपि' का अर्थ 'पशु' है। समस्त पशुओं में प्रविष्ट हुए उस रुद्र को नमस्कार, अर्थात् सभी प्राणियों में अन्तर्यामी के रूप में वह स्थित है। अथवा 'यज्ञो वै विष्णुः' (ता० म० ब्रा० ९।७।१०) इस श्रुतिवचन के अनुसार यज्ञ में अधिदेवता के रूप से प्रविष्ट हुए उस रुद्र को नमस्कार। अथवा शिपयो बालरश्मयः, तैराविष्टः शिपिविष्टः, आदित्यो वा मण्डलाधिष्ठाता, तस्मै। बाल किरणों से व्याप्त आदित्य या मण्डलाधिष्ठाता रूप शिपिविष्ट रुद्र को नमस्कार। यास्क ने बताया है—'शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते, तैराविष्टो भवतीति' (निरु० ५।८)। 'मीढुष्टमाय' मीढ्वान् मेघरूपेण सेक्ता। अतिशयेन मीढ्वान् मीढुष्टमः, तस्मै। मेघ का रूप धारण कर अच्छी तरह से सिंचन करने वाले रुद्र को नमस्कार। 'इषुमते' इषवः सन्त्यस्येति इषुमान्, तस्मै। बाणधारी रुद्र को नमस्कार॥ २९॥

अब रूप को बताने वाले नमस्कार मन्त्र—'ह्रस्वाय' ह्रसति प्रमाणेन लघुतया यं कमपि दृष्ट्वा शब्दायत इति ह्रस्वः, तस्मै। लघु प्रमाण के देह वाले रुद्र को नमस्कार है। 'ह्रस्वं लघु' (पा०सू० १।४।१०) इस निर्देश के कारण बाहुलकात् 'व' प्रत्यय हुआ है। 'वामनाय' वमति उद्गिरति सुषमादिकमिति वामः, सोऽस्यास्तीति वामनः, तस्मै। 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः' (पा०सू० ५।२।१००) से 'न' प्रत्यय। संकुचित विभव वाले रुद्र को नमस्कार। 'बृहते' बर्हति वर्धत इति बृहत् प्रौढाङ्गः, तस्मै। प्रौढ अंग वाले रुद्र को नमस्कार! 'वर्षीयसे' अतिशयेन वृद्ध इति वर्षीयान्, तस्मै। अत्यधिक वृद्ध रुद्र को नमस्कार। 'वृद्धाय' वर्धनं वृद्धिः, सास्यास्तीति वृद्धः, तस्मै। अधिक अवस्था वाले रुद्र को नमस्कार। 'सवृधे' वर्धन्ते

५।२।१२७) इत्यजन्तः, वयसाधिकाय नमः। सवृधे वर्धन्ते विद्याविनयादिगुणैरिति वृधः पण्डिताः, तैः सह वर्तत इति सवृत्, तस्मै विद्वद्वरिष्ठपरिवृताय रुद्राय नमः। अग्रयाय अग्रे संसारे सर्वतः प्रथमं भवतीति अग्रयः, 'अग्राद्यत्' (पा० सू० ४।४।११६) इति यत्प्रत्ययः, तस्मै रुद्राय नमः। प्रथमाय प्रथते प्रख्यातो भवतीति प्रथमः, 'प्रथेरमच्' (उ० ५।६८) इत्यमच्प्रत्ययः, सर्वत्र मुख्यः, तस्मै रुद्राय नमः॥ ३०॥

नम॑ आ॒शवे॑ चाजि॒राय॑ च॒ नम॒: शीघ्र्या॑य च॒ शीभ्या॑य च॒ नम॒ ऊर्म्या॑य चावस्व॒न्या॑य च॒ नमो॑ नादे॒याय॑ च॒ द्वीप्या॑य च ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वव्यापक, गतिशील, शीघ्रताशील, जल-प्रवाह में रहने वाले, लहरों में विद्यमान रहने वाले, स्थिर जल में, गर्त के जल में, नदी में, द्वीप में रहने वाले रुद्र को नमस्कार है ॥ ३१ ॥

आशवे अश्नुते व्याप्नोति जगदित्याशुः, तस्मै विभवे रुद्राय नमः। 'कृवापिजि०' (उ० १।१) इत्युणि साधुः। अजिराय अजति क्षिपति व्याध्यादिकं गच्छत्यचिरं वेति अजिरः, 'अजिरशिशिर (उ० १।५६) इति निपातितः। व्यापकत्वान्न चलति परिच्छिन्नत्वाच्चलति च, 'तदेजति तन्नैजति' (वा० सं० ४०।५) इति मन्त्रवर्णात्। तस्मै रुद्राय नमः। 'उभावपि क्षिप्रनामसु (निघ० २।१५।१६, २।१५।१३)। शीघ्र्याय च शीभ्याय च। शीघ्रशीभशब्दौ क्षिप्रनामनी इत्युव्वटाचार्यः, 'तत्र भवः' (पा० सू० ४।३।५३) इति छान्दसो यद् अधिष्ठातृदेवतावचनः। शीघ्रे वेगवद्वस्तुनि वाय्वादौ भवः शीघ्र्यः, तस्मै वाय्वाद्यधिष्ठातृदेवताय नमः। शीभ्याय शीभते कत्थते स्वात्मानमिति शीभः, पचाद्यच्, आत्मश्लाघी, तत्र भवः शीभ्यः। जलप्रवाहो वा शीभः। स हि सर्वैरपि उष्णार्दितैर्जन्तुभिः कत्थते। क्षिप्रो वा शीभः। तत्र भवः शीभ्यः। तस्मै रुद्राय नमः। ऊर्म्याय ऋच्छतीति ऊर्मिः। 'अर्तेरुच्च' (उ० ४।४५) इति मिः, अर्तेरुदादेशः, रपरत्वम्, 'हलि च' (पा० सू० ८।२।७७) इति दीर्घः। यत्तु दयानन्दस्वामिना स्वीये ऋग्भाष्ये (१।९५।१०) 'अर्तेरुच्च' इति सूत्रमुद्धृत्य 'ऋधातोर्मिःप्रत्यय उकारादेशश्च' इत्युक्तम्, तत्तु

विद्याविनयादिगुणैरिति वृधः पण्डिताः, तैः सह वर्तत इति सवृत्, तस्मै विद्वद्वरिष्ठपरिवृताय। वरिष्ठ विद्वानों से परिवृत हुए रुद्र को नमस्कार। 'अग्रयाय' अग्रे संसारे सर्वतः प्रथमं भवतीति अग्रयः, तस्मै। संसार में सबसे प्रथम गणनीय उस रुद्र को नमस्कार। 'प्रथमाय' प्रथते प्रख्यातो भवतीति प्रथमः। सर्वत्र मुख्य रूप से माननीय उस रुद्र को नमस्कार! 'प्रथेरमच्' से अमच् प्रत्यय॥ ३०॥

'आशवे' अश्नुते व्याप्नोति जगदित्याशुः, तस्मै। जगत् को व्याप्त करके रहने वाले उस रुद्र को नमस्कार। 'अजिराय' अजति क्षिपति व्याध्यादिकं गच्छति अचिरं वेत्यजिरः, व्यापकत्वान्न चलति, परिच्छिन्नत्वाच्चलति च, तस्मै। व्याधि आदि के प्रक्षेप करने वाले अथवा शीघ्र चलने वाले उस रुद्र को नमस्कार। 'शीघ्र्याय च शीभ्याय च' शीघ्र और शीभ्य शब्द दोनों क्षिप्र के नाम हैं, ऐसा उव्वटाचार्य का कहना है। अधिष्ठातृवाचक छान्दस 'यत्' किया गया है। शीघ्रे भवः शीघ्र्यः, तस्मै। अर्थात् वायु आदि के अधिष्ठातृदेवता को नमस्कार। 'शीभ्याय' शीभते कत्थते स्वात्मानमिति शीभ आत्मश्लाघी, तत्र भवः शीभ्यः, जलप्रवाहो वा शीभः। गर्मी से पीड़ित हुए सभी प्राणियों के द्वारा उसकी प्रशंसा की जाती है। क्षिप्रो वा शीभः, तत्र भवः शीभ्यः, तस्मै। शीघ्र गति वाले, शीघ्र गति की वस्तुओं में रहने वाले उस रुद्र को नमस्कार। 'ऊर्म्याय' ऋच्छतीति ऊर्मिः। 'अर्तेरुच्च' (उ० ४।४५) से 'मि' प्रत्यय और अर्ति को उदादेश, रपर और 'हलि च' (पा० सू० ८।२।७७) से दीर्घ हुआ है। तत्र कल्लोले भव ऊर्म्यः, तस्मै रुद्राय नमः। जलप्रवाह में रहने वाले या जलतरंग में रहने

सर्वथापि प्रामादिकम्, उद्धृतसूत्रपाठविरोधात्, केनापि पूर्वाचार्येण तथा पाठानादराच्च। तत्र कल्लोले भव ऊर्म्यः, तस्मै रुद्राय नमः। अवस्वन्याय अवाचीनमुदकस्य गच्छतः स्वनो ध्वनिरवस्वनः। यद्वा अवगतो व्यपगतः स्वनो यस्मात् तद् अवस्वनं स्थिरजलम्। तत्र भवोऽवस्वन्यः, तस्मै रुद्राय नमः। नादेयाय नद्यां भवो नादेयः 'स्त्रीभ्यो ढक्' (पा० सू० ४।१।१२०), तस्मै रुद्राय नमः। द्वीप्याय द्विर्गता आपो यस्मिन् तद् द्वीपम्। द्वाभ्यां दिग्भ्यां वा अनुकूला आपो यस्मिन् तद् द्वीपम्। 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (पा० सू० ५।४।७४) इति समासान्ते अप्रत्यये 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' (पा० सू० ६।३।९७) इत्यपोऽकारस्य ईकारे रूपम्। तत्र जलान्तर्वर्तिनिर्जलभूमौ भवो द्वीप्यः। समुद्राद्विप्रकृष्टं द्वीपमेतत्। तस्मै रुद्राय नमः॥ ३१॥

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च नमो मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च॥ ३२॥

मन्त्रार्थ—सबसे ज्येष्ठ और सबसे कनिष्ठ, सृष्टि के आदि में, प्रलय काल में और मध्य काल में विद्यमान रहने वाले, अज्ञानी, गाय आदि के जघन भाग से तथा वृक्षों के मूल भाग (जड़) से प्रकट होने वाले रुद्र को हम प्रणाम करते हैं॥ ३२॥

वयोऽवस्थाभिप्रायाः, अर्थाद् अवस्थाभेदाभिधायकाः षण्नमस्काराः। ज्येष्ठाय अत्यन्तं प्रशस्यो ज्येष्ठः। 'ज्य च' (पा० सू० ५।३।६१) इति इष्ठनि ज्यादेशः, तस्मै प्रशस्यतमाय रुद्राय नमः। कनिष्ठाय अत्यन्तं युवा अल्पो वा कनिष्ठः। 'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' (पा० सू० ५।३।६४) इति कनादेशः, तस्मै युवतमाय अल्पतमाय वा नमः, 'अणोरणीयान्' (कठो० २।२१) इति श्रुत्यन्तरात्। पूर्वजाय पूर्वं सृष्ट्यादौ हिरण्यगर्भरूपेण जात ईश्वरः

वाले उस रुद्र को नमस्कार। दयानन्द स्वामी ने अपने ऋग्भाष्य (१।९५।१०) में 'अर्तेरुच्च' सूत्र का उल्लेख करके 'ऋ धातु' से 'मि' प्रत्यय और उकारादेश जो बताया है, वह सर्वथा ही प्रामादिक है। वह उद्धृत सूत्रपाठ के विरुद्ध है। किसी भी पूर्वाचार्य ने वैसा पाठ० स्वीकार नहीं किया है। 'अवस्वन्याय' अवाचीनमुदकस्य गच्छतः स्वनो ध्वनिरवस्वनः। अथवा अवगतो व्यपगतः स्वनो यस्मात्, तद् अवस्वानं स्थिरजलम्, तत्र भवोऽवस्वन्यः, तस्मै रुद्राय नमः। गर्त में स्थित जल में अथवा स्थिर जल में रहने वाले। 'नादेयाय' नद्यां भवो नादेयः। 'स्त्रीभ्यो ढक्' (पा० सू० ४।१।१२०) सूत्र से ढक् और एयादेश हुआ है। नदी के जल में रहने वाले। 'द्वीप्याय' द्विर्गता आपो यस्मिन् तद् द्वीपम्। द्विर्गत हुआ है जल जिसमें, उसे द्वीप कहते हैं, अथवा 'द्वाभ्यां दिग्भ्यां वा अनुकूला आपो यस्मिन् तद् द्वीपम्। 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (पा० सू० ५।४।७४) से समासान्त अप्रत्यय करके 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' (पा० सू० ६।३।९७) से अप् के अकार को ईकार करके 'द्वीप' शब्द निष्पन्न होता है। तत्र जलान्तर्वर्तिनिर्जलभूमौ भवो द्वीपः, समुद्राद्विप्रकृष्टं द्वीपमेतत्, तस्मै रुद्राय नमः। जलान्तर्वर्ती निर्जल भूमि पर होने वाला द्वीप कहलाता है। यह द्वीप समुद्र से कुछ दूर है। ऐसे द्वीप में रहने वाले उस रुद्र को नमस्कार॥ ३१॥

अवस्था (वय) का भेद बताने वाले छह नमस्कार कहे जा रहे हैं—'ज्येष्ठाय' अत्यन्तं प्रशस्यो ज्येष्ठः। 'ज्य च' (पा० सू० ५।३।६१) से इष्ठन् प्रत्यय होने पर ज्यादेश हुआ है, तस्मै। प्रशस्यतम रुद्र के लिये नमस्कार। 'कनिष्ठाय' अत्यन्तं युवा अल्पो वा कनिष्ठः, तस्मै। 'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' (पा० सू० ५।३।६४) से कनादेश हुआ है। उस युवतम अथवा अल्पतम को नमस्कार। 'अणोरणीयान्' यह श्रुति भी इसी बात को बता रही है।

पूर्वजः, तस्मै रुद्राय नमः। अपरजाय अपरस्मिन् प्रलयकाले कालाग्निरूपेण जातोऽपरजः, तस्मै रुद्राय नमः। मध्यमाय मध्ये सृष्टिसंहारयोरन्तराले देवनरतिर्यगादिरूपेण भवो मध्यमः, तस्मै रुद्राय नमः। अपगल्भाय गल्भनं गल्भो धाष्टर्यम्, अपगतो गल्भो यस्मात् सोऽपगल्भः, अव्युत्पन्नेन्द्रियः, तस्मै रुद्राय नमः। विनीतो वा अपगल्भः, तस्मै रुद्राय नमः। अपगतो गर्भो वा अपगर्भः, रेफलकारयोरभेदेऽपगल्भः, एकगर्भान्तरितः, तस्मै रुद्राय नमः। जघन्याय जघनं गवादीनां पश्चाद् भागः, तत्र भवो जघन्यः, 'शरीरावयवाच्च' (पा० सू० ४।३।५५) इति यत्, तस्मै पवित्रतमपुच्छगोमूत्रगोमयादिरूपाय रुद्राय नमः। बुध्न्याय बुध्नम् आदिः, मूलमित्यर्थः, तत्र अश्वत्थवृक्षादिमूले भवतीति बुध्न्यो ब्रह्मा, तस्मै अश्वत्थमूलनिवासिब्रह्मरूपाय रुद्राय नमः। अथवा जघनमिव जघन्यः, 'दिगादिभ्यो यत्' (पा० सू० ४।३।५४), अपकृष्ट इति यावत्, तस्मै रुद्राय नमः। बुध्नं मूलम् आदिपुरुषः, सर्वोत्कृष्ट इत्यर्थः, तस्मै रुद्राय नमः ॥ ३२ ॥

नमः सोभ्याय च प्रतिसर्याय च नमो याम्याय च क्षेम्याय च नमः श्लोक्याय चावसान्याय च नम उर्वर्याय च खल्याय च ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—गन्धर्वनगर में और अभिचार कर्म में प्रकट हुआ, नरक की पीडा देने वाला, कुशल कर्म में और वैदिक मन्त्रों में विद्यमान रहने वाला, वेदों में दृष्टिगोचर होने वाला, भूमि में धान्य के रूप में उत्पन्न होने वाला, गर्त में विद्यमान रहने वाला जो रुद्र है, उसे हम प्रणाम करते हैं ॥ ३३ ॥

सोभ्याय सोभं गन्धर्वनगरम्, तत्र भवः सोभ्यः, तस्मै प्रतिभासमात्रशरीरेषु गन्धर्वनगरादिष्वपि सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन विद्यमानाय रुद्राय नमः। यद्वा उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां सहितः सोभो मनुष्यलोकः, 'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यां मनुष्यलोकम्' (प्रश्नो० १) इत्याथर्वणश्रुतेः। तत्र ब्रह्मविद्वरिष्ठ-दत्तात्रेय-

---

'पूर्वजाय' पूर्वं सृष्ट्यादौ हिरण्यगर्भरूपेण जात ईश्वरः पूर्वजः, तस्मै रुद्राय नमः। सृष्टि के आरंभ में हिरण्यगर्भ के रूप में हुआ ईश्वर ही सबका पूर्वज है, उस रुद्र को नमस्कार।

'अपरजाय' अपरस्मिन् प्रलयकाले कालाग्निरूपेण जातोऽपरजः, तस्मै। प्रलय काल में कालाग्नि रूप से होने वाले उस रुद्र को नमस्कार। 'मध्यमाय' मध्ये सृष्टिसंहारयोरन्तराले देव-नर-तिर्यगादिरूपेण भवो मध्यमः, तस्मै। सृष्टि और संहार के मध्यकाल में देव-नर-तिर्यक् आदि रूप से रहने वाले उस रुद्र को नमस्कार। 'अपगल्भाय' गल्भनं गल्भो धाष्टर्यम्, अपगतो गल्भो यस्मात् स-अपगल्भोऽव्युत्पन्नेन्द्रियः, तस्मै। अव्युत्पन्नेन्द्रिय रुद्र को नमस्कार। अथवा 'विनीतो वा अपगल्भः' विनीत रुद्र को नमस्कार। अथवा 'अपगतो गर्भो वा अपगर्भः, रेफ-लकारयोरभेदेऽपगल्भः। एकगर्भान्तरित रुद्र को नमस्कार। 'जघन्याय' जघनं गवादीनां पश्चाद्भागः, तत्र भवो जघन्यः, तस्मै। 'शरीरावयवाच्च' (पा० सू० ४।३।५५) से 'यत्' प्रत्यय हुआ है। तस्मै उस पवित्रतम पुच्छ, गोमूत्र, गोमयादि रूप रुद्र को नमस्कार। 'बुध्न्याय' बुध्नम् आदिः, मूलमित्यर्थः, तत्र अश्वत्थवृक्षादिमूले भवतीति बुध्न्यो ब्रह्मा, तस्मै। अश्वत्थमूल निवासी ब्रह्मरूप रुद्र को नमस्कार। अथवा जघनमिव जघन्यः। 'दिगादिभ्यो यत्' (पा० सू० ४।३।५४) सूत्र से यत् प्रत्यय हुआ है, अपकृष्ट इति यावत्, तस्मै। अपकृष्ट रुद्र को नमस्कार। बुध्नं मूलम् आदिपुरुषः, सर्वोत्कृष्ट इत्यर्थः, तस्मै। सर्वोत्कृष्ट रुद्र को नमस्कार ॥ ३२ ॥

सोभ्याय सोभं गन्धर्वनगरम्, तत्र भवः सोभ्यः, तस्मै। प्रतिभासमात्र शरीर वाले गन्धर्वनगरादि में भी सत्तास्फूर्तिप्रद के रूप में विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। अथवा 'उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां सहितः सोभो मनुष्यलोकः, क्योंकि 'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापम्, उभाभ्यां मनुष्यलोकः' (प्रश्न० १) यह आथर्वण श्रुति प्रमाण है। तत्र ब्रह्म-

दुर्वास-आदिरूपेण भवतीति सोम्यः, तस्मै रुद्राय नमः । प्रतिसर्याय सरति निरन्तरं मलमनेनेति सरः अभिचारकर्म । तस्य प्रतिकूलः प्रतिसरः प्रत्यभिचारः, तत्र भवः प्रतिसर्यः, तस्मै रुद्राय नमः । अथवा प्रतिसरो विवाहोचितं हस्तकङ्कणम्, 'भवेत् प्रतिसरो मन्त्रभेदे माल्ये च कङ्कणे । व्रणशुद्धौ चमूपृष्ठे पुंसि न स्त्री तु मण्डले । आरक्षे करसूत्रे च नियोज्ये त्वन्यलिङ्गकः ॥' इति मेदिनीकोषात् । तत्र भवः प्रतिसर्यः, तस्मै रुद्राय नमः । याम्याय यमः पापिनां नरकार्तिदाता, तत्र भवो याम्यः, यमान्तर्यामी, तस्मै रुद्राय नमः । क्षेम्याय क्षेमः प्राप्तस्य परिरक्षणम्, तत्र भवः क्षेम्यः, तस्मै रुद्राय नमः । श्लोक्याय श्लोका वैदिका मन्त्रा यशो वा, तत्र भवः श्लोक्यो वेदपरमतात्पर्यभूतः, तस्मै रुद्राय नमः । अवसान्याय अवसानं समाप्तिः, वेदानामन्तभागो वेदान्तो वा, तत्र भवोऽवसान्यः, वेदान्ततात्पर्य-विषयः, तस्मै रुद्राय नमः । उर्वर्याय उर्वरः सर्वसस्याढ्यभूभागः, 'उर्वरा सर्वसस्याढ्या' (अ० को० २।१।४) इत्यमर-कोषवचनात् । सर्वसस्याढ्ययोर्लाङ्गलपद्धत्योरन्तराल उर्वर इत्युव्वटाचार्यः, तत्र भव उर्वर्यः, तस्मै धान्यरूपाय रुद्राय नमः । खल्याय खलो तुषादिभ्यो धान्यविवेचनदेशः, तत्र भवः खल्यः स्फीतधान्यम्, तस्मै रुद्राय नमः ॥३३॥

नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नम आशुषेणाय चाशुर-थाय च नमः शूराय चावभेदिने च ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—वनों में और गुल्मों में रहने वाले, ध्वनि और प्रतिध्वनि का स्वरूप धारण करने वाले, जिसकी सेना और रथ शीघ्रगामी हैं और जो शूर एवं शत्रुनाशक है, उस रुद्र को प्रणाम है ॥ ३४ ॥

वन्याय वनं कान्तारूपवृक्षसमूह उदकं वा, तत्र भवो वन्यः, वृक्षलतादिरूपो वरुणो वा, तस्मै रुद्राय नमः । कक्ष्याय कक्षः शुष्कं तृणं वल्ली वा, तत्र भवः कक्ष्यः, तस्मै रुद्राय नमः । श्रवाय श्रूयत इति श्रवः शब्दः,

---

विद्वरिष्ठदत्तात्रेयदुर्वास-आदिरूपेण भवतीति सोम्यः, तस्मै । मनुष्य लोक में ब्रह्मज्ञानी दत्तात्रेय, दुर्वासा आदि के रूप में अवतीर्ण होने वाले उस रुद्र को नमस्कार । प्रतिसर्याय सरति निरन्तरं मलमनेनेति सरः, अभिचारकर्म, तस्य प्रतिकूलः प्रतिसरः प्रत्यभिचारः, तत्र भवः प्रतिसर्यः, तस्मै । प्रत्यभिचार में रहने वाले रुद्र को नमस्कार । अथवा प्रतिसरो विवाहोचितं हस्त-कङ्कणम्, तत्र भवः प्रतिसर्यः, तस्मै । माङ्गलिक हस्तकङ्कण में रहनेवाले रुद्र को नमस्कार । याम्याय यमः पापिनां नरकार्तिदाता, तत्र भवो याम्यो यमान्तर्यामी, तस्मै । यम के अन्तर्यामी रुद्र को नमस्कार । क्षेम्याय क्षेमः प्राप्तस्य परिरक्षणम्, तत्र भवः क्षेम्यः, तस्मै । कुशल कर्म में रहने वाले रुद्र को नमस्कार । श्लोक्याय श्लोका वैदिका मन्त्रा यशो वा, तत्र भवः श्लोक्यो वेदपरमतात्पर्यभूतः, तस्मै । वैदिक मन्त्रों में अथवा यश में रहने वाले परमतात्पर्यभूत उस रुद्र को नमस्कार । अवसान्याय अवसानं समाप्तिः, वेदानामन्तभागो वेदान्तो वा, तत्र भवोऽवसान्यो वेदान्ततात्पर्यविषयः, तस्मै । वेदान्ततात्पर्यविषय-भूत उस रुद्र को नमस्कार ।

उर्वर्याय, उर्वरः सर्वसस्याढ्यभूभागः, सर्वसस्याढ्ययोर्लाङ्गलपद्धत्योरन्तराल उर्वर इत्युव्वटाचार्यः । तत्र भव उर्वर्यः, तस्मै । धान्यरूप रुद्र को नमस्कार । खल्याय खलस्तुषादिभ्यो धान्यविवेचनदेशः, तत्र भवः खल्यः स्फीतधान्यम्, तस्मै । खलिहान के देश में रहने वाले रुद्र को नमस्कार ॥ ३३ ॥

वन्याय, कान्तारूप वृक्षसमूह को 'वन' कहते हैं । अथवा 'उदक' को भी वन कहते हैं । उसमें होने वाला 'वन्य' कहलाता है । एवं च वृक्षलतादिरूप अथवा वरुणस्वरूप रुद्र को नमस्कार । कक्ष्याय शुष्क तृण अथवा वल्ली को कक्ष कहते हैं । उसमें होने वाला कक्ष्य कहलाता है । शुष्क तृण अथवा गुल्मों में रहने वाले रुद्र को नमस्कार । श्रवाय शब्दरूप को नमस्कार ।

तस्मै शब्दरूपाय रुद्राय नमः । प्रतिश्रवः प्रतिशब्दः, तस्मै रुद्राय नमः । आशुषेणाय आशुः शीघ्रगा सेना यस्य स आशुषेणः, तस्मै रुद्राय नमः । आशुरथाय आशुः शीघ्रगामी रथो यस्यासौ आशुरथः, तस्मै रुद्राय नमः । शूराय शूरयत इति शूरः, 'शूर वीर विक्रान्तौ' पचाद्यच्, तस्मै युद्धधीराय रुद्राय नमः । अवभेदिने अवभिनत्ति रिपून् नीचैर्विदारयतीत्यवभेदी, तस्मै रुद्राय नमः ॥ ३४ ॥

नमो॑ बि॒ल्मिने॑ च कव॒चिने॑ च॒ नमो॑ व॒र्मिणे॑ च वरू॒थिने॑ च॒ नमः॑ श्रु॒ताय॑ च श्रुतसे॒नाय॑ च॒ नमो॑ दुन्दु॒भ्या॒य चाहन॒न्या॒य च॒ ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—पगड़ी, रुई का अंगरखा और लोहे के कवच को धारण करने वाले, जिसके रथ पर गुम्मट लगा है तथा जो स्वयं प्रसिद्ध है और जिसकी सेना भी प्रसिद्ध है. दुन्दुभि (नगाड़ा) में और उसे बजाने के दण्ड में जो विद्यमान रहता है, उस रुद्र को प्रणाम है ॥ ३५ ॥

बिल्मिने बिल्मं शिरस्त्राणमस्यास्तीति बिल्मी, तस्मै रुद्राय नमः। कवचिने कवचं पटस्यूतं कार्पासगर्भं देहरक्षकमस्यास्तीति कवची, तस्मै रुद्राय नमः। वर्मिणे वर्म लोहमयं शरीररक्षकमस्यास्तीति वर्मी, तस्मै रुद्राय नमः । वरूथिने वरूथो गजोपरिस्थो गृहाकारो कोष्ठकः, रथगुप्तिर्वा, सोऽस्यास्तीति वरूथी, तस्मै रुद्राय नमः। श्रुताय प्रसिद्धाय सर्वलोकविदिताय रुद्राय नमः। श्रुतसेनाय श्रुता प्रसिद्धा सेना यस्य स श्रुतसेनः, तस्मै रुद्राय नमः । दुन्दुभ्याय दुन्दुभौ भेर्यां भवो दुन्दुभ्यः, तस्मै रुद्राय नमः। आहनन्याय आहन्यते ताड्यतेऽनेनेत्याहननम्, वाद्यसाधनं दण्डादि, तत्र भव आहनन्यो दण्डादिनिष्ठवादनसौष्ठवजननसामर्थ्यरूपः, तस्मै रुद्राय नमः ॥ ३५ ॥

नमो॑ धृ॒ष्णवे॑ च प्रमृ॒शाय॑ च॒ नमो॑ निष॒ङ्गिणे॑ चेषुधि॒मते॑ च॒ नमस्ती॒क्ष्णेष॑वे चायु॒धिने॑ च॒ नमः॑ स्वायु॒धाय॑ च सु॒धन्व॑ने च ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ – जो प्रगल्भ और विचारशील है, जिसके पास खड्ग, तूणीर, तीक्ष्ण बाण और आयुधसमूह है, तथा जो त्रिशूल और उत्तम धनुष धारण करने वाला है, उस रुद्र को हम प्रणाम करते हैं ॥ ३६ ॥

प्रतिश्रवाय प्रतिध्वनिरूप रुद्र को नमस्कार । आशुषेणाय शीघ्रगतिक सेना वाले रुद्र को नमस्कार । आशुरथाय शीघ्रगामी रथ वाले रुद्र को नमस्कार । शूराय शूरस्वरूपी रुद्र को नमस्कार । अवभेदिने अवभिनत्ति रिपून् नीचैर्विदारयतीत्यवभेदी, तस्मै । शत्रुविनाशक रुद्र को नमस्कार ॥ ३४ ॥

बिल्मिने बिल्मं शिरस्त्राणमस्यास्तीति बिल्मी, तस्मै । शिरस्त्राण धारण करने वाले रुद्र को नमस्कार । कवचिने कवचं पटस्यूतं कार्पासगर्भं देहरक्षकमस्यास्तीति कवची, तस्मै । रुई का अंगरखा पहने हुए रुद्र को नमस्कार । वर्मिणे वर्म लोहमयं शरीररक्षकमस्यास्तीति वर्मी, तस्मै । लोहमय कवच पहने हुए रुद्र को नमस्कार । वरूथिने वरूथो गजोपरिस्थो गृहाकारकोष्ठको रथगुप्तिर्वा, सोऽस्यास्तीति वरूथी, तस्मै । हाथी पर घुम्मटदार रथ वाले रुद्र को नमस्कार । श्रुताय प्रसिद्धाय सर्वलोकविदिताय । सर्वलोक के विदित रुद्र को नमस्कार । श्रुतसेनाय श्रुता प्रसिद्धा सेना यस्य स श्रुतसेनः, तस्मै । प्रसिद्ध सेना वाले रुद्र को नमस्कार । दुन्दुभ्याय दुन्दुभौ भेर्यां भवो दुन्दुभ्यः, तस्मै । दुन्दुभी (नगाडा) में रहने वाले रुद्र को नमस्कार । आहनन्याय आहन्यते ताड्यतेऽनेनेत्याहननं वाद्यसाधनदण्डादि, तत्र भव आहनन्यः, दण्डादिनिष्ठवादनसौष्ठव-जननसामर्थ्यरूपः, तस्मै । नगाड़ा बजाने के दण्ड में सौष्ठवोत्पादक सामर्थ्यसम्पन्न रुद्र को नमस्कार ॥ ३५ ॥

धृष्णवे धृष्णोतीति धृष्णुः, तस्मै प्रगल्भाय रुद्राय नमः। 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' (पा० सू० ३।२।१४०) इति रूपसिद्धिः। प्रमृशाय प्रकर्षेण मृशति सदसद्विवेकपूर्वकं विचारयतीति प्रमृशः। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति रूपसिद्धिः, तस्मै पण्डिताय रुद्राय नमः। निषङ्गिणे खड्गयुताय रुद्राय नमः। इषुधिमते तूणीरधराय रुद्राय नमः। तीक्ष्णेषवे तीक्ष्णा असह्या इषवो बाणा यस्य स तीक्ष्णेषुः, तस्मै रुद्राय नमः। आयुधिने आयुधान्यन्यान्यपि सन्तीति आयुधी, तस्मै विविधायुधधारिणे रुद्राय नमः। स्वायुधाय शोभनमायुधं त्रिशूलं यस्य स स्वायुधस्तस्मै रुद्राय नमः। सुधन्वने सु सुष्ठु शोभनं धनुः पिनाकरूपं यस्यासौ सुधन्वा, 'धनुषश्च' (पा० सू० ५।४।१३२) इत्यनङ्गादेशे रूपसिद्धिः, तस्मै रुद्राय नमः ॥ ३६ ॥

नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काटच्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—गली में, विस्तृत मार्ग में, संकुचित मार्ग में, पर्वत की तलहटी में, छोटी नदी अथवा नहर में, सरोवर में, नदियों में और गोष्पद में विद्यमान रहने वाले रुद्र को प्रणाम है ॥ ३७ ॥

स्रुत्याय नद्या एकदिशोदकवाहिनी स्रुतिः, क्षुद्रमार्गो वा स्रुतिः, तत्र भवः स्रुत्यः, तस्मै रुद्राय नमः। पथ्याय पन्था रथाश्वगजादियोग्यो मार्गः, तत्र भवः पथ्यः, तस्मै रुद्राय नमः। शरीरादिस्वास्थ्यानुकूलमशनपानविहारादिकं पथ्यम्, तस्मै रुद्राय नमः। ऐहिकामुष्मिकाभ्युदयनिःश्रेयसानुगुणो वेदादिशास्त्रसम्मतो मार्गः पन्थाः, तत्र भवं पथ्यम्, तस्मै रुद्राय नमः। काट्याय कुत्सितमटति जनो यत्र स काटो विषममार्गः, कूपो वा, कुल्याप्रदेशो वा। तत्र भवः काट्यः, तस्मै रुद्राय नमः। नीप्याय नीचैर्यन्ति पतन्त्यापो यत्र स नीपः, गिर्यधोभागो नीपः। 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (पा० सू० ५।४।७४) इत्यप्रत्ययः। 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' (पा० सू० ६।३।९७) इति ईकारादेशः, तस्मै रुद्राय नमः। कुल्याय कौ पृथिव्यां लीयन्त इति कुलानि शरीराणि, तेषु क्षेत्रज्ञरूपेण अन्तर्यामिरूपेण वा भवतीति कुल्यः, तस्मै रुद्राय नमः। प्रशस्ते कुले वा भवतीति कुल्यः कुलीनः, तस्मै तद्रूपाय रुद्राय नमः।

धृष्णवे धृष्णोतीति धृष्णुः, तस्मै। प्रगल्भ रुद्र को नमस्कार। प्रमृशाय प्रकर्षेण मृशति सदसद्विवेकपूर्वकं विचारयतीति। पण्डित रुद्र को नमस्कार। निषङ्गिणे खड्ग से सम्पन्न रुद्र को नमस्कार। इषुधीमते तूणीरधारी रुद्र को नमस्कार। तीक्ष्णेषवे तीक्ष्णा असह्या इषवो बाणा यस्य स तीक्ष्णेषुः, तस्मै। असह्य बाण वाले रुद्र को नमस्कार। आयुधिने आयुधान्यन्यान्यपि सन्तीत्यायुधी, तस्मै। विविध आयुधों को धारण करने वाले रुद्र को नमस्कार। स्वायुधाय शोभनमायुधं त्रिशूलं यस्य स स्वायुधः, तस्मै। त्रिशूलधारी रुद्र को नमस्कार। सुधन्वने सु सुष्ठु शोभनं धनुः पिनाकरूपं यस्याऽसौ सुधन्वा, तस्मै। पिनाकधारी रुद्र को नमस्कार ॥ ३६ ॥

स्रुत्याय नद्या एकदेशोदकवाहिनी स्रुतिः, क्षुद्रमार्गो वा स्रुतिः, तत्र भवः स्रुत्यः, तस्मै। नदी के एकदेशोदकवाहिनी को स्रुति कहते हैं, अथवा क्षुद्र मार्ग (गली) को स्रुति कहते हैं, उसमें विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। पथ्याय पन्था रथाश्वगजादियोग्यो मार्गः, तत्र भवः पथ्यः, तस्मै। राजमार्ग में विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। काटचाय कुत्सितमटति प्रान्ते यत्र सः काटो विषममार्गः कूपो वा, कुल्याप्रदेशो वा, तत्र भवः काटचः, तस्मै। विषम मार्ग, अथवा कूप, अथवा कृत्रिम सरित् (नहर आदि) में विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। नीप्याय नीचैर्यन्ति पतन्त्यापो यत्र स नीपः, तत्र भवो नीप्यः, तस्मै। पर्वत की तलहटी में विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। कुल्याय कौ पृथिव्यां लीयन्त इति कुलानि शरीराणि, तेषु क्षेत्रज्ञरूपेणान्तर्यामिरूपेण वा भवतीति कुल्यः, तस्मै। शरीरों में क्षेत्रज्ञ रूप से अथवा अन्तर्यामी होकर जो

'सजातीयगणे गोत्रे देहेऽपि कथितं कुलम्' इति विश्वकोषः। सरस्याय सरसि भवः सरस्यः, तस्मै रुद्राय नमः। नादेयाय नद्यां भवं नादेयं जलम्, तस्मै रुद्राय नमः। वैशन्ताय वेशन्तोऽल्पसरः, तत्र भवो वैशन्तः, तस्मै रुद्राय नमः। सर्वरूपस्य भगवतः सार्वात्म्यद्योतनाय गौणान्येतानि नामानि ॥ ३७ ॥

नमः कूप्याय चावट्याय च नमो वीध्र्याय चातप्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—कूप, खड्डे, शरद् ऋतु के बादल, धूप (आतप), मेघ, विद्युत्, वृष्टि, अनावृष्टि—इन सब में विद्यमान रहने वाले रुद्र को प्रणाम है ॥ ३८ ॥

कूप्याय कूपे भवः कूप्यः, तस्मै रुद्राय नमः। अवट्याय अवटो गर्तः, तत्र भवोऽवट्यः, तस्मै रुद्राय नमः। वीध्र्याय विशेषेण इन्धे दीप्यत इति वीध्रः शरदभ्रं निरभ्रं चन्द्रनक्षत्रादिमण्डलं वा, स्वभावशुद्धं वा। विपूर्वाद् इन्धेः 'वा विन्धेः' (उ० २।२७) इति क्रनि, 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (पा० सू० ६।४।२४) इत्युपधालोपे दीर्घे च रूपम्। तत्र भवो वीध्र्यः। तस्मै स्वभावशुद्धाय रुद्राय नमः। 'वीध्रं तु विमलात्मकम्' (अ० को० ३।१।५५) इत्यमरः। यद्वा विगत इध्रो दीप्तिर्यस्मादसौ वीध्रो घनागमः, तत्र भवो वीध्र्यः, तस्मै रुद्राय नमः। आतप्याय आतपतीत्यातपः, तत्र घर्मे भव आतप्यः, तस्मै रुद्राय नमः। मेघ्याय मेघे पर्जन्ये भवो मेघ्यः, तस्मै रुद्राय नमः। विद्युत्याय विद्युति तडिति भवो विद्युत्यः, तस्मै रुद्राय नमः। वर्ष्याय वर्षे वृष्टौ भवो वर्ष्यः, तस्मै रुद्राय नमः। अवर्ष्याय अवर्षेऽवग्रहे वृष्टिप्रतिबन्धे भवोऽवर्ष्यः, तस्मै रुद्राय नमः ॥ ३८ ॥

नमो वात्याय च रेष्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—वायु, प्रलयकाल और गृहों में वर्तमान रहने वाले, गृहपालक के स्वरूप में स्थित, पार्वती के साथ रहने वाले, दुःख-नाशक, ताम्र और अरुण वर्ण के रुद्र को हम नमस्कार करते हैं ॥ ३९ ॥

रहता है, उस रुद्र को नमस्कार। अथवा प्रशस्ते कुले भवतीति कुल्यः कुलीनः, तस्मै। उस कुलीन रुद्र को नमस्कार। सरस्याय सरसि भवः सरस्यः, तस्मै। सरोवर में विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। नादेयाय नद्यां भवं नादेयं जलम्, तस्मै। जल में विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। वैशन्ताय वेशन्तोऽल्पसरः, तत्र भवो वैशन्तः, तस्मै। अल्प सरोवर में रहने वाले रुद्र को नमस्कार। सर्वरूप भगवान् के सार्वात्म्य का द्योतन करने के लिये ये गौण नाम हैं ॥ ३७ ॥

कूप्याय कूपे भवः कूप्यः, तस्मै। कूप में विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। अवट्याय अवटो गर्तः, तत्र भवः अवट्यः, तस्मै। गर्त में रहने वाले रुद्र को नमस्कार। वीध्र्याय विशेषेण इन्धे दीप्यत इति वीध्रः शरदभ्रम्, निरभ्रं चन्द्रनक्षत्रादिमण्डलं वा, स्वभावशुद्धं वा, तत्र भवो वीध्र्यः, तस्मै। स्वभावशुद्ध, अथवा शरदृतु के मेघ, अथवा नीरभ्र अथवा चन्द्र-नक्षत्रादिमण्डल के रूप में स्थित रुद्र को नमस्कार। अथवा विगत इध्रो दीप्तिर्यस्मादसौ वीध्रो घनागमः, तत्र भवो वीध्र्यः, तस्मै। घनागम में विद्यमान रुद्र को नमस्कार। आतप्याय आतपतीत्यातपः, तत्र घर्मे भव आतप्यः, तस्मै। आतप (घर्म) में रहने वाले रुद्र को नमस्कार। मेघ्याय मेघे पर्जन्ये भवो मेघ्यः, तस्मै। पर्जन्य में रहने वाले रुद्र को नमस्कार। विद्युत्याय विद्युति तडिति भवो विद्युत्यः, तस्मै। विद्युत् में विद्यमान रुद्र को नमस्कार। वर्ष्याय वर्षे वृष्टौ भवो वर्ष्यः, तस्मै। वृष्टि में विद्यमान रुद्र को नमस्कार। अवर्ष्याय अवर्षे अवग्रहे वृष्टिप्रतिबन्धे भवोऽवर्ष्यः, तस्मै। अवर्षण में रहनेवाले रुद्र को नमस्कार ॥ ३८ ॥

वात्याय वाते भवो वात्यः, तस्मै रुद्राय नमः। रेष्म्याय रिष्यन्ते नश्यन्ति भूतानि यत्र स रेष्मा, 'रिष् हिंसायाम्' इत्यस्मात् 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति मनिन्, तत्र भवो रेष्म्यः परमात्मा प्रलयकालेऽपि विद्यमानत्वात्। वास्तव्याय वास्तुनि गृहभूमौ भवो वास्तव्यः, 'वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम्' (अ० को० २।२।१९) इत्यमरः, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा वसतीति वास्तव्यः, 'वसेस्तव्यत् कर्तरि णिच्च' (पा० सू० ३।१।९६, वा० १) इति वार्त्तिकात् सिद्धिः, सर्वशरीरवासी रुद्रः, तस्मै रुद्राय नमः। वास्तुपाय वास्तुं गृहं भुवं पातीति वास्तुपः, तस्मै रुद्राय नमः। सोमाय उमया बहु शोभमानया ब्रह्मविद्यया महाशक्त्या वा सहितः सोमः, तस्मै साम्बसदाशिवाय रुद्राय नमः। रुद्राय रुद् दुःखं रोदनं वा द्रावयतीति रुद्रः सर्वविधानिष्टहन्ता, तस्मै रुद्राय नमः। इति नामतो नमस्काराः।

अथ वर्णतो नमस्काराः। ताम्राय ताम्रो रक्तवर्णः, उदयद्रविरूपेण, तस्मै रुद्राय नमः। अरुणाय अरुण ईषद्रक्तः, उदयोत्तरकालिकार्करूपेण, तस्मै रुद्राय नमः॥ ३९॥

नमः शङ्गवे च पशुपतये च नम उग्राय च भीमाय च नमोऽग्रेवधाय च दूरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय॥ ४०॥

मन्त्रार्थ—सुखदायक वाणी बोलने वाले, प्राणियों के अधिपतिस्वरूप, शस्त्रों को ऊंचा धारण करने वाले, भयंकर, सामने आने वाले और दूर स्थित शत्रुओं का नाश करने वाले, सामान्य रूप से मारने वाले, विशेष रूप से प्रलय काल में मारने वाले रुद्र को प्रणाम तथा हरे-भरे कल्पवृक्ष रूप रुद्रों को तथा संसारतारक रुद्रों को हमारा प्रणाम॥ ४०॥

शङ्गवे शं सुखं गवां यस्मादसौ शङ्गुः, यद्वा शं सुखं गमयति प्रापयति भक्तानामिति शङ्गुः, अथवा शं सुखरूपा गावो धेनवो वाचो वेदरूपा वा यस्यासौ शङ्गुः, तस्मै रुद्राय नमः। पशुपतये पश्यन्ति विषममिति पशवः पराग्दृशः संसारिणः, तान् पाति पालयतीति पशुपतिः, तस्मै रुद्राय नमः। उग्राय उच्यति समवैति सर्वं जगत्

वात्याय वाते भवो वात्यः, तस्मै। वायु में रहने वाले रुद्र को नमस्कार। रेष्म्याय रिष्यन्ते नश्यन्ति भूतानि यत्र स रेष्मा, तत्र भवो रेष्म्यः, तस्मै। प्रलय काल में विद्यमान रहने वाले रुद्र को नमस्कार। 'रिष् हिंसायाम्' धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) से मनिन् प्रत्यय हुआ है। वास्तव्याय वास्तुनि गृहभूमौ भवो वास्तव्यः, तस्मै। गृहभूमि में विद्यमान रुद्र को नमस्कार। 'वेश्मभूर्वास्तुरस्त्रियाम्' इत्यमरः। अथवा वसतीति वास्तव्यः, 'वसेस्तव्यत् कर्तरि णिच्च' (पा० सू० ३।१।९६, वा० १) इस वार्त्तिक से यह रूप सिद्ध है। सर्वशरीरवासी रुद्र को नमस्कार। वास्तुपाय वास्तुं गृहभुवं पातीति वास्तुपः, तस्मै। गृहभूमि की रक्षा करने वाले रुद्र को नमस्कार। सोमाय उमया बहुशोभमानया ब्रह्मविद्यया महाशक्त्या वा सहितः सोमः, तस्मै। साम्ब सदाशिवरूपी रुद्र को नमस्कार। रुद्राय रुद् दुःखं रोदनं वा द्रावयतीति रुद्रः, तस्मै। सर्वविध अनिष्ट के विनाशक रुद्र को नमस्कार। ये नामग्रहणपूर्वक नमस्कार कहे गये हैं। अब वर्ण को बता कर रुद्र को नमस्कार कर रहे हैं—ताम्राय ताम्रो रक्तवर्ण उदयद्रविरूपेण, तस्मै। उदित होने वाले सूर्य के रूप में रक्त वर्ण के उस रुद्र को नमस्कार। अरुणाय अरुण ईषद्रक्त उदयोत्तरकालिकार्करूपेण, तस्मै रुद्राय नमः। उदय के उत्तर क्षणवर्ती सूर्य के रूप में ईषद् रक्त वर्ण वाले रुद्र को नमस्कार॥ ३९॥

'शङ्गवे' शं सुखं गवां यस्मादसौ शङ्गुः। गौओं को जिससे सुख होता है, उसे 'शङ्गु' कहते हैं। अथवा शं सुखं गमयति प्रापयति भक्तानामिति शङ्गुः। भक्तों को जो सुख प्राप्त कराता है, उसे 'शङ्गु' कहते हैं। अथवा शं सुखरूपा गावो धेनवो वाचो वेदरूपा वा यस्याऽसौ शङ्गुः। जिसकी वाणी अथवा वेदरूपा वाणी सुखरूप है, उसे शङ्गु कहते हैं। उस

प्रलयकाले स्वात्मनेत्युग्रः, 'ऋज्रेन्द्राग्र (उ० २।२८) इत्यादिना रन्, निपातनात् चकारस्य गकारश्च, महेश्वरः, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा उग्र उद्गूर्णायुधो धर्मध्वंसकान् प्रति सदैवेति संहारकाले प्रचण्डो वा, तस्मै रुद्राय नमः। भीमाय बिभ्यति शत्रवो यस्मात् स भीमः, तस्मै रुद्राय नमः। अग्रेवधाय अग्रे पुरतो वर्तमानः सन् हन्तीति अग्रेवधः, 'हनश्च वधः' (पा० सू० ३।३।७६) इत्यप्प्रत्ययः, हनो वधादेशश्च, तस्मै रुद्राय नमः। दर्शनं दत्त्वा रिपूनपि हत्वा तारयतीत्यर्थः। दूरेवधाय च दूरे वर्तमानो हन्तीति दूरेवधः, तस्मै रुद्राय नमः, दूराद् लक्ष्यभेत्तीति यावत्। हन्त्रे हन्तीति हन्ता, तस्मै रुद्राय नमः। हनीयसे अतिशयेन हन्तेति हनीयान्, 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृशब्दस्य लोपः, तस्मै रुद्राय नमः, प्रलये सर्वहन्त्रे इत्यर्थः। हरिकेशेभ्यो वृक्षेभ्यो हरयो हरितवर्णाः केशाः पत्ररूपा येषां ते हरिकेशास्तेभ्यो वृक्षेभ्यः कल्पतरुरूपेभ्यो नमः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। ताराय तारयति उत्तारयति ज्ञानोपदेशेन अधिकारिजनानिति तारः, यद्वा तारयति काशीस्थान् सर्वान् कीटपतङ्गादीनपि स तारः, अथवा तारयति आत्यन्तिकप्रलये सर्वान् सर्वत्रस्थान् इति तारः शिवः, तस्मै रुद्राय नमः ॥ ४० ॥

नमः॑ शम्भ॒वाय॑ च मयोभ॒वाय॑ च॒ नमः॑ शङ्क॒राय॑ च मयस्क॒राय॑ च॒ नमः॑ शि॒वाय॑ च शि॒वत॑राय च ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—संसार के रूप में तथा मोक्ष के रूप में स्थित सांसारिक तथा अन्य ऐहिक और पारलौकिक मोक्ष सुख देने वाले, स्वयं निष्पाप और भक्तों को भी निष्पाप बना देने वाले रुद्र को हम प्रणाम करते हैं ॥ ४१ ॥

रुद्र को प्रणाम है। 'पशुपतये' पश्यन्ति विषममिति पशवः पराग्दृशः संसारिणः। तान् पाति पालयतीति पशुपतिः। जो विषम दृष्टि से देखते हैं, वे पशु हैं, यानी पराग् दृष्टिवाले संसारी जीव हैं, उनके पालन करने वाले को पशुपति कहते हैं। उस रुद्र को प्रणाम है। 'उग्राय' उच्यति समवैति सर्वं जगत् प्रलयकाले स्वात्मनेत्युग्रो महेश्वरः। प्रलय काल में सम्पूर्ण जगत् को स्वयं ही अपने में समा लेता है, उसे उग्र कहते हैं, यानी महेश्वर, तत्स्वरूपी रुद्र को प्रणाम है। यद्वा उग्र उद्गूर्णायुधो धर्मध्वंसकान् प्रति सदैवेति संहारकाले प्रचण्डो वा। धर्मविध्वंसकों के प्रति सदैव जो संहार काल में आयुध उठाये हुए रहता है, अथवा संहार काल में जो प्रचण्ड हो जाता है, उस रुद्र को प्रणाम। 'भीमाय' बिभ्यति शत्रवो यस्मात् स भीमः। शत्रु जिससे डरते हैं, उसे भीम कहते हैं। उस रुद्र को प्रणाम। 'अग्रेवधाय' अग्रे पुरतो वर्तमानः सन् हन्तीत्यग्रेवधः। सामने खड़े होकर जो वध करता है, उसे अग्रेवध कहते हैं, उस रुद्र को प्रणाम। अर्थात् दर्शन देकर और शत्रुओं को भी मार कर वह उद्धार करता है। 'दूरेवधाय च' दूरे वर्तमानो हन्तीति दूरेवधः। दूर रह कर भी जो मारता है, उसे दूरेवध कहते हैं, अर्थात् दूर से लक्ष्यभेद करने वाले उस रुद्र को प्रणाम। 'हन्त्रे' हन्तीति हन्ता, तस्मै रुद्राय नमः। हनन करने वाले उस रुद्र को प्रणाम। 'हनीयसे' अतिशयेन हन्तेति हनीयान्। प्रलय काल में जो सर्वहन्ता है, उस रुद्र को प्रणाम। 'हरिकेशेभ्यो वृक्षेभ्यः' हरयो हरितवर्णाः केशाः पत्ररूपा येषां ते हरिकेशास्तेभ्यः। 'वृक्षेभ्यः कल्पतरुरूपेभ्यो नमः। तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। हरे रंग के पत्ररूप केश वाले कल्पतरुस्वरूप रुद्र को प्रणाम। 'ताराय' तारयति उत्तारयति ज्ञानोपदेशेन अधिकारिजनानिति तारः। अधिकारी जनों को ज्ञानोपदेश देकर जो तार देता है। अथवा तारयति काशीस्थान् सर्वान् कीटपतङ्गादीनपि स तारः। काशी क्षेत्र में स्थित कीट-पतङ्ग आदि सभी को जो तार देता है। अथवा तारयत्यात्यन्तिकप्रलये सर्वान् सर्वत्रस्थान् इति तारः शिवः, तस्मै रुद्राय नमः। आत्यन्तिक प्रलय में सर्वत्र स्थित प्राणियों को जो तारता है, उसे 'तार' कहते हैं, अर्थात् 'शिव' कहते हैं। उस शिवस्वरूप रुद्र को प्रणाम ॥ ४० ॥

शम्भवाय शं सुखं भवत्यस्मादिति शम्भवः, 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै०उ० २।७) इति श्रुतेः। अथवा भवते प्राप्नोति सर्वमिति भवः, शं सुखरूपश्चासौ भवः संसाररूपश्चेति शम्भवः, ज्ञानिनां निरावरणब्रह्मसुखरूपोऽपि भगवानज्ञानां सावरणत्वात् संसाररूप एव। शं सुखेन अनायासेन भावयति जगदुत्पादयतीति वा शम्भवः, 'निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्च भूतानि। स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥' इत्युक्तेः। यद्वा शं देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं भवनमस्तित्वं यस्य स शम्भवः अपरिच्छिन्नशिवस्वरूपः। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१), 'एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' (श्वे० उ० ३।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मै रुद्राय नमः। मयोभवाय मयः संसारसुखं मोक्षसुखं च भवत्यस्मादिति मयोभवः। भोगमोक्षप्रद इत्यर्थः। तस्मै रुद्राय नमः। शङ्कराय शं लौकिकसुखं करोतीति शङ्करः, तस्मै रुद्राय नमः। मयस्कराय मयो मोक्षसुखं करोतीति मयस्करः, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा स्रक्चन्दनादिरूपेण सुखकारित्वात् शङ्करत्वम्। वेदान्तशास्त्रतज्जनितप्रत्यगभिन्नब्रह्म-साक्षात्कारादिरूपेण मयस्करत्वम्। एताभ्यां पदाभ्यां साक्षात्सुखकारित्वं पूर्वपदाभ्यां तद्द्वारा कारयितृत्वमिति विवेकः। शिवाय शिवः शान्तः कल्याणरूपो निष्पापः, तस्मै रुद्राय नमः। शिवतराय शिवतरोऽत्यन्तं शिवो भक्तानपि निष्पापान् कल्याणरूपान् करोतीति, तस्मै रुद्राय नमः॥ ४१॥

नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च॥ ४२॥

'शम्भवाय' शं सुखं भवत्यस्मादिति शम्भवः। जिससे सुख होता है, उसे 'शम्भव' कहते हैं। 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै० उ० २।७) यह तैत्तिरीय श्रुति कह रही है। यद्वा शं सुखरूपश्चासौ भवः संसाररूपश्चेति शम्भवः। ज्ञानिनां निरावरण-ब्रह्मसुखरूपोऽपि भगवान् अज्ञानां सावरणत्वात् संसाररूप एव। सुखरूप जो भव यानी संसार, अर्थात् सुखरूप संसार जिसका स्वरूप है, उसे शम्भव कहते हैं। ज्ञानी पुरुषों के लिये निरावरण ब्रह्म सुखरूप होता हुआ भी अज्ञानी पुरुषों के लिये वह ब्रह्म आवरणसहित होने के कारण संसाररूप ही है। अथवा शं सुखेन अनायासेन भावयति जगदुत्पादयतीति शम्भवः। अनायास ही जो जगत् को उत्पन्न कर देता है, उसे शम्भव कहते हैं। 'निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्च भूतानि। स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥' इस ब्रह्म के निःश्वसित 'वेद' हैं, उसका वीक्षण ही 'पञ्चभूत' हैं, उसका स्मित 'चराचर जगत्' है एवं उसकी सुषुप्ति (निद्रा) 'महाप्रलय' है, ऐसा कहा गया है। यद्वा शं देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यं भवनम् अस्तित्वं यस्य स शम्भवः। परिच्छेदत्रयशून्य जिसका अस्तित्व है, उसे शंभव कहते हैं। वह शिवस्वरूप 'अपरिच्छिन्न' है, क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१), 'एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे' (श्वे० उ० ३।२) इत्यादि श्रुतियाँ उसमें प्रमाण हैं। उस रुद्र को प्रणाम है।

'मयोभवाय' मयः संसारसुखं मोक्षसुखं भवत्यस्मादिति मयोभवः। अर्थात् भोग और मोक्ष को देनेवाले उस रुद्र को प्रणाम। 'शङ्कराय' शं लौकिकसुखं करोतीति शङ्करः। लौकिक सुख को देनेवाले रुद्र को प्रणाम। 'मयस्कराय' मयो मोक्षसुखं करोतीति मयस्करः। मोक्षसुख देने वाले रुद्र को प्रणाम। यद्वा—स्रक्चन्दनादिरूपेण सुखकारित्वात् शङ्करत्वं स्रक् (माल्य), चन्दन आदि के रूप में सुखकारी होने से वह शङ्कर कहलाता है। वेदान्तशास्त्र तज्जनित–प्रत्यगभिन्नब्रह्म-साक्षात्कारादिरूपेण मयस्करत्वम्। वेदान्तशास्त्र से होने वाले ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार के रूप में वह मयस्कर कहलाता है, उस रुद्र को प्रणाम है। इन दोनों पदों में साक्षात् सुखकारित्व और पूर्व के दो पदों से तद्द्वारा कारयितृत्व बताया गया है। 'शिवाय' शिवः शान्तः कल्याणरूपो निष्पापः। कल्याणरूप निष्पाप उस रुद्र को प्रणाम।

'शिवतराय' शिवतरोऽत्यन्तं शिवो भक्तानपि निष्पापान् कल्याणरूपान् करोतीति। जो अपने भक्तों को भी निष्पाप बनाकर कल्याणरूप कर देता है, उसे शिवतर कहते हैं। उस रुद्र को प्रणाम है॥ ४१॥

मन्त्रार्थ—संसार के उस पार और इस पार भी स्थित रहने वाले, पाप और संसार को तरने में हेतुभूत, प्रयागादि तीर्थ, उनके तट, बालतृण और फेन में स्थित रहने वाले रुद्र को प्रणाम है ॥ ४२ ॥

पार्याय पारे संसारसमुद्रस्य परतीरे भवः पार्यः, विष्णुः परस्वरूपः, तस्मै रुद्राय नमः। 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (क० उ० ३।९) विष्णोर्व्यापनशीलस्य परमं सर्वोत्कृष्टं पदं प्रपदनीयस्वरूपं ब्रह्मेत्यर्थः। तदेव अध्वनः पारम्। पारे स्थितः पार्यः संसारातीतो जीवन्मुक्तो वा, तस्मै तद्रूपाय रुद्राय नमः। अवार्याय अवारे संसारमध्ये संसाररूपेण भवतीत्यवार्यः, तस्मै संसारव्यापिने संसारिरूपाय वा रुद्राय नमः। यद्वा पार्यपदेन विकारावर्तित्वेन मुक्तोपसृप्यत्वम्, अवार्यपदेन सप्रपञ्चं ब्रह्मोक्तम्। अत्र महीधराचार्येण 'पारावारे परार्वाची तीरे पात्रं यदन्तरम्' इति कोषवचनमुद्धृतम्। प्रतरणाय प्रकर्षेण दुःखपापतरणहेतवे रुद्राय नमः। उत्तरणाय उत्कृष्टेन ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण संसारतरणहेतवे रुद्राय नमः। प्रतरन्ति येन तत्प्रतरणमुदकम्, उत्तरन्ति येन तद् उत्तरणं नौरित्युव्वटाचार्यः। तदुभयरूपाय रुद्राय नमः। तीर्थ्याय तीर्थेषु प्रयागादिषु भवस्तीर्थ्यः। 'निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ' (३।३।८६) इत्यमरः, तस्मै रुद्राय नमः। कूल्याय कूले गङ्गादितटे भवः कूल्यः, तस्मै रुद्राय नमः। शष्प्याय शष्पं गङ्गादितटोद्भूतकुशाङ्कुरादि बालतृणम्, तत्र भवः शष्प्यः, तस्मै रुद्राय नमः। फेन्याय जलविकारोऽब्धिकफः फेनः, तत्र भवः फेन्यः। तस्मै रुद्राय नमः ॥ ४२ ॥

नमः सिक॒त्या॑य च प्रवा॒ह्या॑य च॒ नमः॒ किꣳ शि॒ला॒य॑ च क्षय॒णाय॑ च॒ नमः॑ कप॒र्दिने॑ च पुल॒स्तये॑ च॒ नम॒ इरि॒ण्या॑य च प्रप॒थ्या॑य च ॥ ४३ ॥

'पार्याय' पारे संसारसमुद्रस्य परतीरे भवः पार्यः, विष्णुः परस्वरूपः। संसार समुद्र के पर तीर पर रहने वाला 'पार्य' कहलाता है, अर्थात् परस्वरूप विष्णु है। उस विष्णुरूप रुद्र को प्रणाम है। 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्', अर्थात् व्यापनशील विष्णु के सर्वोत्कृष्ट पद को ही प्रपदनीयस्वरूप ब्रह्म कहते हैं। वही अध्वा का पार है। पारे स्थितः पार्यः संसारातीतो जीवन्मुक्तो वा। अर्थात् संसारातीत अथवा जीवन्मुक्त को पार्य कहते हैं। तत्स्वरूपी रुद्र को प्रणाम है। 'अवार्याय' अवारे संसारमध्ये संसाररूपेण भवतीत्यवार्यः। संसार के रूप में जो रहता है, उसे 'अवार्य' कहते हैं। संसारव्यापी अथवा संसारी रूप रुद्र को प्रणाम। यद्वा—पार्यपदेन विकारावर्तित्वेन मुक्तोपसृप्यत्वम्, अवार्यपदेन सप्रपञ्चं ब्रह्म उक्तम्। अथवा 'पार्य' पद से विकारावर्ती के रूप में मुक्तोपसृप्यत्व को और 'अवार्य' पद से सप्रपञ्च ब्रह्म को बताया गया है। यहाँ महीधराचार्य ने 'पारावारे परार्वाची तीरे पात्रं यदन्तरम्' यह कोषवचन उद्धृत किया है। 'प्रतरणाय' प्रकर्षेण दुःखपापतरणहेतवे रुद्राय नमः। दुःख, पाप आदि से प्रकृष्टतया तारने वाले रुद्र को प्रणाम। 'उत्तरणाय' उत्कृष्टेन ब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण संसारतरणहेतवे रुद्राय नमः। उत्कृष्ट ब्रह्मसाक्षात्कार करा कर संसार से तारने वाले रुद्र को प्रणाम। प्रतरन्ति येन तत् प्रतरणमुदकम्, उत्तरन्ति येन तत् उत्तरणम्। नौरित्युव्वटाचार्यः। तदुभयरूपाय रुद्राय नमः। जो पार किया जाता है, उसे 'प्रतरण' यानी 'उदक' कहा जाता है, जिससे पार किया जाता है, उसे 'उत्तरण' कहते हैं। अर्थात् 'नौका', ऐसा उव्वटाचार्य कहते हैं। इस उभयरूप रुद्र को प्रणाम है। 'तीर्थ्याय' तीर्थेषु प्रयागादिषु भवस्तीर्थ्यः। प्रयाग आदि तीर्थों में होने वाले रुद्र को प्रणाम। 'कूल्याय' कूले गङ्गादितटे भवः कूल्यः, तस्मै रुद्राय नमः। गंगा आदि नदियों के तट पर होने वाले को 'कूल्य' कहते हैं, उस कूल्य रुद्र को प्रणाम है। 'शष्प्याय' शष्पं गङ्गादितटोद्भूतकुशाङ्कुरादि-बालतृणम्, तत्र भवः शष्प्यः, तस्मै रुद्राय नमः। गंगा आदि नदियों के तट पर उत्पन्न होने वाले अंकुरादि बाल तृण को 'शष्प' कहते हैं, तत्र भवः शष्प्यः। उसमें होनेवाले को 'शष्प्य' कहते हैं। उस रुद्र को प्रणाम है। 'फेन्याय' जलविकारोऽब्धिरूपः फेनः, तत्र भवः फेन्यः, तस्मै। जलविकार अब्धिरूप को फेन कहते हैं, उसमें होने वाला 'फेन्य' कहा जाता है, उस रुद्र को प्रणाम है ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—रेतीले प्रदेश में, जल-प्रवाह में, वालुकामय प्रवेश में, स्थिर जल वाले प्रदेश में विद्यमान रहने वाले, जटाधारी सर्वान्तर्यामी, पथरीले प्रदेश में और विशाल राजमार्गों में रहने वाले रुद्र को हमारा प्रणाम है ॥ ४३ ॥

सिकत्याय सिकतासु गङ्गादिवालुकासु भवः सिकत्यः, तस्मै रुद्राय नमः। प्रवाह्याय प्रवाहे स्रोतसि भवः प्रवाह्यः, तस्मै रुद्राय नमः। किंशिलाय किमेतदुदकं हिमीभूतमुत शिलेति यत्र वितर्कः स किंशिलः, अथवा कुत्सिताः क्षुद्राः शिलाः शर्करारूपाः पाषाणा यत्र प्रदेशे स किंशिलः, तस्मै रुद्राय नमः। क्षयणाय क्षियन्ति निवसन्ति आपो यत्र स क्षयणः स्थिरजलप्रदेशः, तस्मै रुद्राय नमः। कपर्दिने जटामुकुटधारिणे रुद्राय नमः। पुलस्तये शुभाशुभदिदृक्षया पुरोऽग्रे तिष्ठतीति पुलस्तिः, थस्य तत्वं रस्य लत्वं च छान्दसम्। यद्वा-पूर्षु शरीरेषु अस्तिः सत्ता यस्य स पुलस्तिः सर्वान्तर्यामी, तस्मै रुद्राय नमः। इरिण्याय इरिणम् ऊषरम् तृणाद्युद्भवानर्हो देशः, अथवा निरुदकप्रदेशः, तत्र भव इरिण्यः, तस्मै रुद्राय नमः। प्रपथ्याय प्रकृष्टः पन्थाः प्रपथो बहुसेवितो मार्गः, तत्र भवः प्रपथ्यः, तस्मै रुद्राय नमः ॥ ४३ ॥

नमो व्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमस्तल्प्याय च गेह्याय च नमो हृदय्याय च निवेष्प्याय च नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—गोसमूह में, गोष्ठ में, शय्या में, गृह में, हृदय में, जल के भंवर में, गहन वनप्रदेशों में और गुफाओं में विद्यमान रहने वाले रुद्र को हमारा प्रणाम है ॥ ४४ ॥

व्रज्याय व्रजतीति व्रजो गोसमूहः, 'व्रज गतौ', पचाद्यच्। 'व्रजो गोष्ठाध्ववृन्देषु' (मेदिनी० ३०।१५), तत्र भवो व्रज्यः, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा प्रसिद्धे व्रजे गोपेश्वरादिरूपेण भवतीति व्रज्यः, तस्मै रुद्राय नमः।

'सिकत्याय' सिकतासु गङ्गादिवालुकासु भवः सिकत्यः, तस्मै रुद्राय नमः। गंगा आदि नदियों की वालुकाओं में होने वाले को 'सिकत्य' कहते हैं, उस रुद्र को प्रणाम। 'प्रवाह्याय' प्रवाहे स्रोतसि भवः प्रवाह्यः, तस्मै। प्रवाह से होने वाले को प्रवाह्य कहते हैं, उस रुद्र को प्रणाम है।

'किंशिलाय' किमेतदुदकं हिमीभूतमुत शिलेति यत्र वितर्कः स किंशिलः। क्या यह उदक हिम हो गया है अथवा शिला है, ऐसा वितर्क जहां होता है, उसे 'किंशिल' कहते हैं। अथवा—कुत्सिताः क्षुद्राः शिलाः शर्करारूपाः पाषाणा यत्र प्रदेशे स किंशिलः, तस्मै। क्षुद्र शिला अर्थात् शर्करारूप पाषाण जिस प्रदेश में हैं, उस प्रदेश को 'किंशिल' कहते हैं, तत्स्वरूप रुद्र को प्रणाम है। 'क्षयणाय' क्षियन्ति निवसन्ति आपो यत्र सः क्षयणः स्थिरजलप्रदेशः, तस्मै। स्थिर जल जिस प्रदेश में हैं, तत्स्वरूपी रुद्र को प्रणाम है। 'कपर्दिने' जटा मुकुटधारी रुद्र को प्रणाम। 'पुलस्तये' शुभाशुभदिदृक्षया पुरोऽग्रे तिष्ठतीति पुलस्तिः। थस्य तत्वं रस्य लत्वं च छान्दसम्। शुभाशुभ देखने की इच्छा से जो सामने खड़ा रहता है, उसे 'पुलस्ति' कहते हैं। उस पुलस्तिरूप रुद्र को प्रणाम। यहाँ 'थ' को 'त' और 'र' को 'ल' छान्दस हुआ है। यद्वा—पूर्षु शरीरेषु अस्तिः सत्ता यस्य स पुलस्तिः। सर्वान्तर्यामी स्वरूप रुद्र को प्रणाम। 'इरिण्याय' इरिणम् ऊषरम् तृणाद्युद्भवानर्हो देशः। ऊसर भूमिरूप रुद्र को प्रणाम है। अथवा निरुदकप्रदेशः, तत्र भव इरिण्यः, तस्मै। निरुदक प्रदेशरूप रुद्र को प्रणाम है। 'प्रपथ्याय' प्रकृष्टः पन्थाः प्रपथो बहुसेवितो मार्गः, तत्र भवः प्रपथ्यः। अनेक जनों से संसेवित मार्ग में होने वाले रुद्र को प्रणाम है ॥ ४३ ॥

'व्रज्याय' व्रजतीति व्रजो गोसमूहः, 'व्रज गतौ' पचाद्यच्, तत्र भवो व्रज्यः, तस्मै। गोसमूह में होनेवाले को व्रज्य कहते हैं, उस व्रज्यरूप रुद्र को प्रणाम है। यद्वा प्रसिद्धे व्रजे गोपेश्वरादिरूपेण भवतीति व्रज्यः, तस्मै। प्रसिद्ध व्रज

गोष्ठ्याय गावस्तिष्ठन्ति यस्मिस्तद् गोष्ठम्, तत्र भवो गोष्ठ्यः, तस्मै रुद्राय नमः। तल्प्याय तल्पते प्रतिष्ठीयतेऽस्मिन्निति तल्पः शय्या। 'खष्पशिल्पशष्पबाष्परूपपर्पतल्पाः' (उ० ३।२८) इति पप्रत्ययान्तो निपातितः। तस्मै रुद्राय नमः। गेह्याय गेन गणेशेन गन्धर्वेण वा ईह्यते काम्यत इति गेहम्। कर्मणि घञ्। गः गणेशो गन्धर्वो वा, ईह ईप्सितो यस्मिस्तद् गेहम्, तत्र भवो गेह्यस्तस्मै रुद्राय नमः। हृदय्याय हृदये भवो हृदय्यो जीवः, तस्मै रुद्राय नमः। ईश्वरो वा, तस्मै रुद्राय नमः। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति मन्त्रवर्णात्। निवेष्प्याय निवेष्प आवर्तो नीहारजलं वा, तत्र भवो निवेष्प्यः, तस्मै रुद्राय नमः। काट्याय कुत्सितमटन्ति गच्छन्ति जना यत्र स काटो दुर्गारण्यप्रदेशः, कूपो वा, तत्र भवः काट्यः, तस्मै रुद्राय नमः। गह्वरेष्ठाय गह्वरे विषमे गिरिगुहादौ गम्भीरे जले वा तिष्ठतीति गह्वरेष्ठः, 'गुहादम्भौ गह्वरे द्वे' (अ० को० ३।३।१८३) इति कोषः, तस्मै रुद्राय नमः॥ ४४॥

नमः शुष्क्याय च हरित्याय च नमः पाᳬसव्याय च रजस्याय च नमो लोप्याय चोलप्याय च नम ऊर्व्याय च सूर्व्याय च॥ ४५॥

मन्त्रार्थ—सूखी और गीली लकड़ियों में, मोटी और बारीक धूल में, अगम्य प्रदेशों में, बल्वजसंज्ञक तृण में, वडवानल तथा प्रलयकाल की अग्नि में विद्यमान रहने वाले रुद्र को हमारा प्रणाम है॥ ४५॥

शुष्क्याय शुष्के काष्ठादावपि सत्तारूपेण भवतीति शुष्क्यः, तस्मै रुद्राय नमः। हरित्याय हरिते आर्द्रे काष्ठादौ भवति सत्तारूपेणेति हरित्यः, तस्मै हरित्याय नमः। पांसव्याय पांसुषु धूलिषु भवतीति पांसव्यः, 'उग-

---

(वृन्दारण्य) में गोपेश्वर के रूप में रहने वाले को व्रज्य कहते हैं, उस व्रज्यरूपी रुद्र को प्रमाण है। 'गोष्ठ्याय' गावस्तिष्ठन्ति यस्मिस्तद् गोष्ठम्, तत्र भवो गोष्ठ्यः, तस्मै। गायों के रहने वाले गोष्ठ में रहने वाले को गोष्ठ्य कहते हैं, उस गोष्ठ्यरूपी रुद्र को प्रणाम है। 'तल्प्याय' तल्पते प्रतिष्ठीयतेऽस्मिन्निति तल्पः शय्या। यहाँ 'तल्प्य' शब्द 'य'प्रत्ययान्त का निपातन किया गया है। जिस पर प्रतिष्ठित होते हैं, उसे 'तल्प्य' कहते हैं। उस तल्प्यरूपी रुद्र को प्रणाम है। 'गेह्याय' गेन गणेशेन गन्धर्वेण वा ईह्यते काम्यत इति गेहम्। कर्मणि घञ्। अथवा गः गणेशः गन्धर्वो वा, ईहः ईप्सितो यस्मिन् तत् गेहम्, तत्र भवो गेह्यः, तस्मै। गणेश अथवा गन्धर्व के द्वारा जो चाहा जाता है, उसे 'गेह' कहते हैं। अथवा गणेश या गन्धर्व अभीष्ट हैं जिसमें, उसे 'गेह' कहते हैं, उसमें होनेवाले को 'गेह्य' कहते हैं, उस गेह्यरूपी रुद्र को प्रणाम है। 'हृदय्याय' हृदये भवो हृदय्यो जीवः, तस्मै। हृदय में रहनेवाले को जीव कहते हैं, उस जीवरूपी रुद्र को प्रणाम है। ईश्वरो वा तस्मै। अथवा ईश्वररूपी रुद्र को प्रणाम है। मन्त्रवर्ण के द्वारा उक्त तथ्य का समर्थन किया गया है। 'निवेष्प्याय' निवेष्प आवर्तो नीहारजलं वा, तत्र भवो निवेष्प्यः, तस्मै। 'निवेष्प' का अर्थ है आवर्त या नीहार जल, उसमें होनेवाले को निवेष्प्य कहते हैं, उस निवेष्प्य रूपी रुद्र को प्रणाम है। 'काट्याय' कुत्सितमटन्ति गच्छन्ति जना यत्र स काटो दुर्गारण्यप्रदेशः कूपो वा, तत्र भवः काट्यः, तस्मै। जहाँ लोग कुत्सित गति से चलते हैं, उसे 'काट' कहते हैं, यानी दुर्गारण्य प्रदेश अथवा कूप, उसमें रहने वाले को काट्य कहते हैं, उस काट्य स्वरूपी रुद्र को प्रणाम है। 'गह्वरेष्ठाय' गह्वरे विषमे गिरिगुहादौ गम्भीरे जले वा तिष्ठतीति गह्वरेष्ठः, तस्मै। अर्थात् गिरि-गुहा आदि में अथवा गम्भीर जल में जो रहता है, उसे गह्वरेष्ठ कहते हैं, उस गह्वरेष्ठ रूपी रुद्र को प्रणाम है॥ ४४॥

'शुष्क्याय' शुष्के काष्ठादावपि सत्तारूपेण भवतीति शुष्क्यः; तस्मै। काष्ठ आदि शुष्क पदार्थों में भी सत्ता रूप से जो रहता है, उसे शुष्क्य कहते हैं, उस रुद्र को प्रणाम है। 'हरित्याय' हरिते आर्द्रे काष्ठादौ भवति सत्तारूपेणेति हरित्यः,

वादिभ्यो यत्' (पा० सू० ५।१।२) इति यति 'ओर्गुणः' (पा० सू० ६।४।१४६) इति गुणे रूपम्, तस्मै रुद्राय नमः। रजस्याय रजसि गुणे परागे वा भवो रजस्यः, 'रजो रेणौ परागे स्याद् आर्तवे च गुणान्तरे' इति जान्तेषु मेदिनी, तस्मै रुद्राय नमः। लोप्याय लोपे अदर्शने सर्वेन्द्रियव्यापारशान्तावपि, अथवा प्रलयेऽपि भवति साक्षिरूपेणेति लोप्यः, तस्मै रुद्राय नमः। अथवा लुप्यते नश्यति गमनादिर्यत्र स लोपोऽगम्यप्रदेशः, तत्र भवो लोप्यः, तस्मै रुद्राय नमः। उलप्याय उलपास्तृणविशेषा वल्वजादिनामधेयाः, तत्र भव उलप्यः, तस्मै रुद्राय नमः। ऊर्व्याय उर्व्यां भूमौ भव ऊर्व्यः, छान्दसो दीर्घः, तस्मै रुद्राय नमः। अथवा उरोः स्वमातुरुरुप्रदेशाज्जात ऊर्वः, तत्र भव ऊर्व्यो वाडवाग्निः, तस्मै रुद्राय नमः। सूर्व्याय शोभन ऊर्वो वडवानलः सूर्वः, तत्र भवः सूर्व्यः, तस्मै रुद्राय नमः ॥ ४५ ॥

नमः॑ प॒र्ण्या॑य च पर्णश॒दाय॑ च॒ नम॑ उद्गु॒रमा॑णाय चाभिघ्न॒ते च॒ नम॑ आखिद॒ते च॑ प्रखिद॒ते च॒ नम॑ इषुकृ॒द्भ्यो॑ धनुष्कृ॒द्भ्यश्च॑ वो॒ नमो॒ नमो॑ वः किरि॒केभ्यो॑ दे॒वाना॒ᳬ हृद॑येभ्यो॒ नमो॑ विचिन्वत्के॒भ्यो॒ नमो॑ विक्षिणत्के॒भ्यो॒ नम॑ आनिर्ह॒तेभ्यः॑ ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—पत्तों में, पत्तों के गिरने की भूमि में रहने वाले, उद्योगी, शत्रुओं का नाश करनेवाले, अभक्त पापियों को सब प्रकार से दीन बना देने वाले रुद्र को हमारा प्रणाम है। उसी तरह बाण और धनुष धारण करने वाले, वृष्टि के द्वारा जगत् की वृद्धि करने वाले, पापी और पुण्यवानों का विभाग करने वाले, अनेक प्रकार से हिंसा करने वाले; सृष्टि के आरम्भ में उदित होने वाले और रुद्रों के हृदयरूप अग्नि, वायु तथा सूर्य के रूप में विद्यमान रुद्रों को मेरा प्रणाम हो ॥ ४६ ॥

पर्ण्याय पिपर्ति पालयति पूरयति वा तत् पर्णम्, 'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः' (उ० ३।६) वृक्षस्य पत्रम्, तस्मै रुद्राय नमः। अथवा पृणति सुखयति वृक्षमिति पर्णः, पचाद्यच्, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा पर्णयति हरि-

---

तस्मै। आर्द्र काष्ठ आदि में सत्ता रूप से जो रहता है, उसे हरित्य कहते हैं, उस रुद्र को प्रणाम है। 'पांसव्याय' पांसुषु धूलिषु भवतीति पांसव्यः, 'दिगादिभ्यो यत्' इति यति, 'ओर्गुणः' इति गुणे रूपम्, तस्मै। धूलि में होने वाले को पांसव्य कहते हैं उस पांसव्य रूपी रुद्र को प्रणाम है। 'दिगादिभ्यो यत्' इस पाणिनिसूत्र से 'यत्' प्रत्यय और 'ओर्गुणः' इस पाणिनिसूत्र से गुण होकर 'पांसव्य' निष्पन्न हुआ है। 'रजस्याय' रजसि गुणे परागे वा भवो रजस्यः, तस्मै। गुण अथवा पराग में होने वाले को रजस्य कहते हैं, उस रजस्य रूपी रुद्र को प्रणाम है। 'लोप्याय' लोपेऽदर्शने सर्वेन्द्रियव्यापारशान्तावपि, अथवा अत्ययेऽपि भवति साक्षिरूपेणेति लोप्यः, तस्मै। सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापार की शान्ति होने पर भी अथवा संहार में भी [illegible] वन कर रहता है, उसे लोप्य कहते हैं, उस लोप्य रूपी रुद्र को प्रणाम है। अथवा लुप्यते नश्यति गमनादिर्यत्र स लोपोऽगम्य-प्रदेशः, तत्र भवो लोप्यः, तस्मै। अगम्य प्रदेश में होने वाले को लोप्य कहते हैं, उस लोप्य रूपी रुद्र को प्रणाम है। 'उलप्याय' उलपास्तृणविशेषा वल्वजादिनामधेयाः, तत्र भव उलप्यः, तस्मै। वल्वजादि तृण विशेषों में होने वाले को उलप्य कहते हैं, उस उलप्य रूपी रुद्र को प्रणाम है। 'ऊर्व्याय' उर्व्यां भूमौ भव ऊर्व्यः, छान्दसो दीर्घः, तस्मै। भूमि पर होनेवाले उस रुद्र को प्रणाम। अथवा उरोः स्वमातुरुरुप्रदेशाज्जात ऊर्वः, तत्र भव ऊर्व्यो वाडवाग्निः, तस्मै। अपनी माता के उरुप्रदेश से पैदा होनेवाले को ऊर्व कहते हैं, उसमें रहने वाले को ऊर्व्य यानी वाडवाग्नि कहते हैं, तद्रूपी रुद्र को प्रणाम है। 'सूर्व्याय' शोभन ऊर्वो वाडवानलः कल्पानलः, तत्र भवः सूर्व्यः, तस्मै। वही वाडवानल कल्पानल है, उसमें होने वाले सूर्व्यरूपी रुद्र को प्रणाम है ॥ ४५ ॥

'पर्ण्याय' पिपर्ति पालयति पूरयति वा तत् पर्णम्, वृक्षस्य पत्रम्, तस्मै रुद्राय नमः। जो पालन करता है या पूरण करता है, उसे पर्ण कहते हैं, अर्थात् वृक्ष का पत्र, तत्स्वरूपी रुद्र को प्रणाम है। अथवा पृणति सुखयति वृक्षमिति पर्णः,

तयति वृक्षमिति पर्णः, पचाद्यच्, तस्मै रुद्राय नमः। पर्णशदाय पर्णानि शीयन्ते जना यत्र देशे स पर्णशदः, पचाद्यच्, तस्मै रुद्राय नमः। अथवा पर्णानि शीयन्ते स्वभावतो यत्र काले स पर्णशदो वसन्तर्तुः, तस्मै रुद्राय नमः। उद्‌गुरमाणाय उद्‌गूरयत इत्युद्‌गुरमाण उद्यमी, गूरी उद्यमने, क्वचिदयं लघूपधोऽपि, पुरुषार्थपरायण इति यावत्, तस्मै रुद्राय नमः। अभिघ्नते अभितः सर्वतो हन्ति शत्रूनित्यभिघ्नन्, शतरि 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' (पा० सू० ६।४।९८) इत्युपधालोपे रूपम्, तस्मै रुद्राय नमः। आखिदते आसमन्तात् खिद्यते खिन्ते वा, दैन्यं करोत्यभक्तानामित्यर्थः, स आखिदन्, तस्मै रुद्राय नमः। प्रखिदते प्रकर्षेण खिद्यते खिन्ते वा प्रलयकाले सर्वभूतानि संहृत्येति प्रखिदन्, तदनन्तरं तस्य स्वापः स्वरूपेऽवस्थानमिति यावत्, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा प्रकर्षेण खेदयति दीनभावं सम्पादयत्यभक्तानामिति प्रखिदन्, तस्मै रुद्राय नमः। यद्वा भक्तपारवश्येन आत्मदुःखेन आ समन्तात् स्वयं खिद्यत इति आखिदन् भक्तदुःखदुःखी दयार्द्रहृदयः, तस्मै रुद्राय नमः। इषुकृद्भ्य इषून् बाणान् कुर्वन्ति ते इषुकृतः, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। धनुष्कृद्भ्यश्च वः, धनूंषि चापानि कुर्वन्तीति धनुष्कृतः, तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः। व इति युष्मदादेशप्रयोगात् प्रत्यक्षा एते रुद्राः।

तिस्रोऽशीतयो रुद्राणां समाप्ताः। एवं चत्वारिंशदधिकशतद्वयमन्त्रै रुद्रस्य सर्वात्मकता निगदव्याख्याता। अथ रुद्रेषु प्रधानभूतानां रुद्रहृदयरूपाणामग्निवायुसूर्याणां सम्बन्धीनि चत्वारि यजूंष्युच्यन्ते। चतुर्णामिवादौ नमःशब्दप्रयोगात् चत्वार्येव यजूंषि। आद्यं चतुर्दशाक्षरम्, त्रीणि सप्ताक्षराणि। तानि व्याहृतिसंज्ञानि। नमो व इति। देवानां हृदयेभ्यः, रुद्राणां हृदयवत् प्रधानभूतेभ्योऽग्निवायुसूर्येभ्यो वो युष्मभ्यं नमः, 'देवानाꣳ हृदयेभ्य इत्यग्निर्वायुरादित्य एतानि ह तानि देवानाꣳ हृदयानि' (श० ९।१।१।२३) इति श्रुतेः। हृदयानीव हृदयानि यथाङ्गानां

तस्मै। वृक्ष को जो सुखी करता है, उसे पर्ण कहते हैं, तत्स्वरूपी रुद्र को प्रणाम है। यद्वा पर्णयति हरितयति वृक्षमिति पर्णः, तस्मै रुद्राय नमः। वृक्ष को जो हरित बना देता है, उसे पर्ण कहते हैं, तत्स्वरूपी रुद्र को प्रणाम है। 'पर्णशदाय' पर्णानि शीर्यन्ते जना यत्र देशे स पर्णशदः, तस्मै। जिस स्थान पर लोग पत्रों को शीर्ण करते हैं, उस देश (स्थान) को पर्णशद कहते हैं, तत्स्वरूपी रुद्र को प्रणाम है। अथवा पर्णानि शीर्यन्ते स्वभावतो यत्र काले स पर्णशदो वसन्तर्तुः, तस्मै। जिस काल में पर्ण अपने आप ही शीर्ण होते हैं, उस वसन्त ऋतु को पर्णशद कहते हैं, तद्रूपी रुद्र को प्रणाम। 'उद्‌गुरमाणाय' उद्‌गूरयत इत्युद्‌गुरमाणः, उद्यमी। 'गूरी उद्यमने'। क्वचिदयं लघूपधोऽपि, पुरुषार्थपरायण इति यावत्, तस्मै। पुरुषार्थपरायण रहने वाले उस रुद्र को प्रणाम। 'अभिघ्नते' अभितः सर्वतो हन्ति शत्रून् इत्यभिघ्नन्, तस्मै। सब ओर से शत्रुओं का हनन करने वाले रुद्र को प्रणाम। 'आखिदते' आसमन्तात् खिद्यते खिन्ते वा दैन्यं करोत्यभक्तानामित्यर्थः, स आखिदन्, तस्मै। सब ओर से अभक्तों को जो दीन बना देता है, उस रुद्र को प्रणाम है। 'प्रखिदते' प्रकर्षेण खिद्यते खिन्ते वा प्रलयकाले सर्वभूतानि संहृत्येति प्रखिदन्, तदनन्तरं तस्य स्वापः स्वरूपेऽवस्थानमिति यावत्, तस्मै। प्रलय काल में समस्त भूतों का संहार करके जो श्रान्त हो जाता है, तदनन्तर उसका स्वाप यानी अपने स्वरूप में स्थिति होती है, उस रुद्र को प्रणाम है। यद्वा प्रकर्षेण खेदयति दीनभावं सम्पादयत्यभक्तानामिति प्रखिदन्, तस्मै। अथवा जो लोग भक्त नहीं हैं, उन अभक्तों को जो अत्यधिक दीन बना देता है, उस रुद्र को प्रणाम है। यद्वा भक्तपारवश्येन आत्मदुःखेन आसमन्तात् स्वयं खिद्यत इति आखिदन् भक्तदुःखदुःखी दयार्द्रहृदयः, तस्मै। अपने भक्तों के दुःखों से दुःखी होने के कारण दया से आर्द्रहृदय होने वाले उस रुद्र को प्रणाम है। 'इषुकृद्भ्यः' इषून् बाणान् कुर्वन्ति ते इषुकृतः, तेभ्यः। बाण निर्माण करने वाले उन रुद्रों को प्रणाम है। 'धनुष्कृद्भ्यश्च वः' धनूंषि चापानि कुर्वन्तीति धनुष्कृतः तेभ्यो वो युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः। धनुषों को जो करते हैं, बनाते हैं, उन्हें धनुष्कृत् कहते हैं, उन रुद्रों के लिये प्रणाम। 'वः' इस युष्मदादेश के प्रयोग से ये रुद्र प्रत्यक्ष हैं।

तीन अशीतियाँ (२४०) रुद्रों की समाप्त हुईं। इस रीति से दो सौ चालीस मन्त्रों के द्वारा रुद्र की सर्वात्मकता निगदव्याख्यात ही है। अब रुद्रों में प्रधानभूत रुद्रहृदयरूप अग्नि, वायु और सूर्य से सम्बद्ध चार यजुओं को बताया जा रहा है।

हृदयं प्रधानम्, एवमेते रुद्राणां प्रधाना इत्यर्थः। कीदृशेभ्यस्तेभ्यः ? किरिकेभ्यः,' कुर्वन्ति जगद् वृष्ट्यादिद्वारेति किरिकाः, तेभ्यः रुद्रेभ्यो नमः, 'एते हीद७ँ सर्वं कुर्वन्ति' (श० ९।१।१।२३) इति श्रुतेः। पुनः कीदृशेभ्यः ? विचिन्वत्केभ्यः, विचिन्वति विवेचयन्ति पृथक् पृथक् कुर्वन्ति धर्मिष्ठं पापिष्ठं चेति विचिन्वत्काः, तेभ्योऽन्यादिभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। पुनः कीदृशेभ्यः ? विक्षिणत्केभ्यः, विविधं क्षिण्वन्ति हिंसन्ति सुकृतदुष्कृतसाक्षिण एते पापं रोगम् अकल्याणं भक्तानामिति विक्षिणत्काः, तेभ्योऽन्यादिभ्यों रुद्रेभ्यो नमः। पुनः कीदृशेभ्यः ? आनिर्हतेभ्यः। आ समन्ताद् आभिमुख्येन निर्हता निर्गताः सर्गादौ लोकेभ्य इत्यानिर्हताः, तेभ्यो रुद्रावतारेभ्योऽग्निवायुसूर्येभ्यो नमः। हन्तिर्गत्यर्थः, 'स इमांस्त्रील्लोकानभितताप। तेभ्यस्ततेभ्यस्त्रीणि ज्योती७ँष्यजायन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यः' (श० ११।५।८।२) इति श्रुतेः ॥ ४६ ॥

द्रापे अन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित। आसां प्रजानामेषां पशूनां मा भेर्मा रोङ् मो च नः किञ्चनाममत् ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—पापियों को बुरी गति देनेवाले, सोमरस के स्वामी, किसी प्रकार का परिग्रह न करने वाले, जिसका कण्ठमात्र नील वर्ण का और शेष शरीर ताम्र वर्ण का है ऐसे हे रुद्र ! हमारी पुत्रादि प्रजाओं तथा गो आदि पशुओं को भयभीत मत करो, उनको नष्ट मत करो और उनको किसी प्रकार के रोग से रुग्ण भी मत करो ॥ ४७ ॥

इतः प्रारभ्य सप्त ऋच एकरुद्रदेवत्याः। आद्या उपरिष्टाद्बृहती सप्ताष्टदशद्वादशार्णपादा। द्रापे द्रापयति कुत्सितां गतिं प्रापयत्ययथोक्तकारिणो दुष्कृतिन इति द्रापिः। 'द्रा कुत्सायां गतौ' तत्सम्बुद्धौ, हे अन्धसस्पते !

प्रथमतः चारों के साथ ही 'नमः' शब्द का प्रयोग होने से चार ही यजुः हैं। आद्य चतुर्दश अक्षर का है, तीन यजुः सात अक्षरों के हैं। वे व्याहृतिसंज्ञक हैं।

नमो व इति। देवानां हृदयेभ्यः, रुद्रों के हृदय के समान प्रधानभूत तुम अग्नि, वायु, सूर्य स्वरूपों को प्रणाम। इसी रहस्य को शतपथ ने भी बताया है। हृदयानीव हृदयानि। हृदयों के समान ही हृदय हैं। जैसे अंगों में हृदय प्रधान होता है, वैसे ही ये रुद्रों में प्रधान हैं। वे अग्नि, वायु, सूर्य स्वरूप कैसे हैं, जिनको प्रणाम किया जा रहा है ? तो उत्तर दे रहे हैं कि 'किरिकेभ्यः' कुर्वन्ति जगद् वृष्टयादिद्वारेति किरिकाः, तेभ्यः किरिकेभ्यः। वृष्टि आदि के द्वारा जो जगत् का निर्माण करते हैं, उन्हें किरिक कहते हैं। उन रुद्रों को प्रणाम है। 'एते हीद७ँ सर्वं कुर्वन्ति' (श० ब्रा० ९।१।१।२३) इस शतपथश्रुति ने भी उसी बात को बताया है। पुनः कीदृशेभ्यः ? विचिन्वत्केभ्यः, विचिन्वन्ति पृथक् पृथक् कुर्वन्ति धर्मिष्ठं पापिष्ठं चेति विचिन्वत्काः, तेभ्यः। पुनः कैसे हैं ? यह प्रश्न होने पर उत्तर दे रहे हैं कि जो धर्मिष्ठ और पापिष्ठ जनों को पृथक्-पृथक् करते हैं, उन्हें 'विचिन्वत्क' कहते हैं। उन अग्नि आदि रुद्रों को प्रणाम है। पुनः कीदृशेभ्यः ? विक्षिणत्केभ्यः, विविधं क्षिण्वन्ति हिंसन्ति सुकृतदुष्कृतसाक्षिण एते पापं रोगमकल्याणं भक्तानामिति विक्षिणत्काः, तेभ्यः। भक्तों के पाप, रोग, अकल्याण को दूर कर देने वाले, सुकृत-दुष्कृत के साक्षी रहने वाले ये अग्नि आदि रुद्र हैं, उनको प्रणाम है। पुनः कीदृशेभ्यः? अनिर्हतेभ्यः, आसमन्ताद् आभिमुख्येन निर्हता निर्गताः सर्गादौ लोकेभ्य इत्यनिर्हताः, तेभ्यः। ये अग्नि, वायु, सूर्य सर्ग के आदि में आभिमुख्येन (मुख्यतया) इन लोकों से निर्गत हुए हैं, उन अग्नि, वायु, सूर्य स्वरूप रुद्रों को प्रणाम है। ये अग्नि वायु, सूर्य रुद्र के अवतार हैं। 'स इमांस्त्रींल्लोकान् अभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योती७ँष्यजायन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यः' इस शतपथश्रुति ने भी यही बताया है ॥ ४६ ॥

यहाँ से आरम्भ करके सात ऋचाएँ एक रुद्रदेवता वाली हैं। ऊपर की आद्या ऋक् बृहती छन्द की है। वह सात, आठ और बारह अक्षरों की है। 'द्रापे' द्रापयति कुत्सितां गतिं प्रापयत्ययथोक्तकारिणो दुष्कृतिन इति द्रापिः, 'द्रा कुत्सायां गतौ', तत्सम्बुद्धौ। आज्ञा न मानने वाले दुष्कृतियों को जो कुत्सित गति को प्राप्त कराता है, उसे द्रापि कहते हैं।

सोमस्य पते पालक, 'अन्धसस्पत इति सोमस्य पत इत्येतत्' (श० ९।१।१।२४) इति श्रुतेः। हे दरिद्र हे निष्परिग्रह हे अशेषविशेषातीत, सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यत्वेन अद्वितीयत्वात्। परमेश्वरस्यैव सगुणत्वेऽचिन्त्यानन्तज्ञानवैराग्याद्यैश्वर्यपूर्णकल्याणगुणाकरत्वेऽपि निर्गुणस्य तस्यैव केवलस्य सर्वराहित्येन अनन्ताखण्डानन्दबोधवपुष्ट्वमेव, 'मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्' (भा० पु० ११।१३।४०) इति श्रीमद्भागवतवचनात्। निर्विशेषब्रह्मात्मक् कामेश्वर! हे नीललोहित, निराकारत्वेन आकाशवन्नीलत्वेऽपि सिन्दूरारुणविग्रहायाः षोडश्याः सन्निधानेन लौहित्यम्। अथवा कण्ठे नीलत्वेऽप्यन्यत्र लोहितत्वेन वा लौहित्यम्। नीलश्चासौ लोहितश्चेति नीललोहितस्तत्सम्बुद्धौ, 'नीललोहितेति नामानि चास्यैतानि रूपाणि च' (श० ९।१।१।२४) इति श्रुतेः। नोऽस्माकम्, आसां प्रजानां पुत्रादीनाम्, एषां पशूनां गवाश्वादीनाम्, त्वं मा भेर्भयं मा कुरु। सगुणत्वे संहारदेवतात्वात् त्वत्तोऽभयप्रार्थना युक्तैव। 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुकि रूपम्। मा रोग् भङ्गं मा कार्षीः। 'रुजो भङ्गे'। च पुनः, नोऽस्माकम्, किञ्चन किमपि द्विपदचतुष्पदादिकम्, मो मा उ आममद् रुग्णं मा कार्षीत्। यद्वा रुग्णं माऽस्तु। 'अम् रोगे' धातोरमागम आर्षः॥ ४७॥

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्॥ ४८॥

मन्त्रार्थ—हम अपनी बुद्धि को रुद्र के स्वाधीन करते हैं (अर्थात् हम रुद्र का चिन्तन करते रहते हैं), इस कारण हमारे पुत्र-पशुओं को सुख प्राप्त हो, हमारे ग्राम के सम्पूर्ण प्राणी परिपुष्ट और रोगरहित हों। वह रुद्र शक्तिमान् है, जटाओं को धारण किये हुए है और शत्रुनाशक है॥ ४८॥

कुत्सदृष्टा जगती। वयमिमा अस्मदीयाः, मतीर्बुद्धीः, याभिर्भवांस्तूयते ताः, रुद्राय शङ्कराय प्रभरामहे प्रहरामहे समर्पयामः, प्रेरयामो वा। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' (पा० सू० ८।२।३२, वा० १)। कथम्भूताय रुद्राय?

उसके सम्बोधन में 'द्रापे' रूप होता है। हे द्रापे! हे अन्धसस्पते! सोमस्य पते पालक! हे सोमपालक! 'अन्धसस्पत इति सोमस्य पत इत्येतत्' इस श्रुति से भी यह अर्थ ज्ञात होता है। हे दरिद्र, हे निष्परिग्रह, हे अशेषविशेषातीत! सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य होने से तू अद्वितीय है। परमेश्वर के ही सगुण होने पर अचिन्त्य-अनन्त-ज्ञान-वैराग्यादि ऐश्वर्यपूर्ण कल्याण-गुणाकर होने पर भी उसी निर्गुण केवल का सर्वसाहित्य होने से अनन्त-अखण्ड-आनन्दबोध-शरीरत्व ही है, क्योंकि 'मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्' ऐसा भागवत का वचन है। हे निर्विशेष ब्रह्मात्मक कामेश्वर! हे नीललोहित! निराकार होने से आकाश के समान नील रहने पर भी सिन्दूरारुण विग्रहवती षोडशी के सन्निधान से आपमें लौहित्य भी है। अथवा कण्ठ में नीलता होने पर भी अन्यत्र लौहित्य रहने से आपमें लौहित्य है। 'नीलश्चासौ लोहितश्चेति नीललोहितः', तत्सम्बुद्धौ हे नीललोहित! 'नीललोहितेति नामानि चास्यैतानि रूपाणि च' यह श्रुति कह रही है।

नोऽस्माकम्, आसां प्रजानां पुत्रादीनाम्, एषां पशूनां गवाश्वादीनाम्, त्वं मा भेः भयं मा कुरु। हमारी इन पुत्रादि, इन गाय-अश्वरूप पशु आदि प्रजाओं को भय मत होने दो। तुम्हारे सगुण होने पर तुम संहार के भी देवता हो, अतः तुम्हारी दोनों प्रकार से प्रार्थना करना उचित हो है। 'बहुलं छन्दसि' सूत्र से शप् का लुक् होने पर यह रूप है।

मा रोक्, 'रुजो भङ्गे', प्रजा-पशु आदि का नाश न होने दो। कर्म के अर्थ में दोनों षष्ठी विभक्तियाँ हैं। पुनः हमारी जो भी द्विपाद-चतुष्पाद प्रजा है, उसे 'मा उ आममत्', रोगग्रस्त मत होने दो, अथवा वह रुग्ण न होने पावे। 'अम् रोगे' धातु से लङ् लकार में अमागम आर्ष है॥ ४७॥

इस कण्डिका के द्रष्टा ऋषि 'कुत्स' हैं, छन्द 'जगती' है। वयमिमा अस्मदीयाः, मतीः बुद्धीः, याभिर्भवान् स्तूयते ताः, हमलोगों की जो बुद्धियाँ हैं, जिनसे आपकी स्तुति की जाती है, उन बुद्धियों को हम रुद्र के लिये समर्पित

तवसे महते बलवते वा, उभयत्र तवः, तवस इति शब्दपाठात्। कपर्दिने जटिलाय जटाजूटधारिणे। क्षयद्वीराय क्षयन्तो निवसन्तो वीराः शूरा यत्रासौ क्षयद्वीरस्तस्मै, यमाश्रित्य वीराः शूराश्च वीर्यं शौर्यं च लभन्ते तस्मै, अनन्तशौर्यवीर्यपूर्णाय भगवते रुद्राय नमः। अथवा क्षयन्ति नश्यन्ति वा वीरास्त्रिपुरान्धकादयो यस्मात् स क्षयद्वीरः शत्रुसंहारको भगवान्, तस्मै रुद्राय नमः। द्विपदे द्वौ पादौ यस्यासौ द्विपात्, तस्मै पुत्रपौत्रादये चतुष्पदे गवादिपशवे। यद्वा द्विपदे चतुष्पदे इति सप्तम्यौ। पुत्रादिविषये गवादिविषये वा यथा येन प्रकारेण शं सुखम् असद् भवति, अस्मिन् ग्रामे वासस्थाने विश्वं सर्वं प्राणिजातं पुष्टं समृद्धम् अनातुरं निरुपद्रवं स्वस्थं च यथा असद् भवति, तथाभिप्रायेण स्वमतीः शिवाय समर्पयामः, तदीयस्मरणचिन्तनादिभक्तिपरायणा भवामः ॥ ४८ ॥

या ते॑ रुद्र शि॒वा त॒नूः शि॒वा वि॒श्वाहा॑ भेष॒जी।
शि॒वा रु॒तस्य॑ भेष॒जी तया॑ नो मृड जी॒वसे॑ ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—हे रुद्र ! तुम्हारा शरीर उत्तम है, यह सभी समय में कल्याणप्रद है, व्याधियों को नष्ट करने वाला भेषज (औषधि) रूप है, अतः हम लोगों को दीर्घ आयु देकर सुखी करो ॥ ४९ ॥

इयमनुष्टुप्। हे रुद्र, या ते तव ईदृशी मङ्गलमयी तनूः शरीरम्, तया तन्वा नोऽस्मान् जीवसे जीवितुं मृड सुखय। कीदृशी तनूः ? शिवा शान्ता अघोरा सुखमयी विश्वाहा विश्वानि च तान्यहानि च विश्वाहा। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० सू० २।३।५) इति द्वितीया, तस्या आकारः। सर्वेष्वहस्सु सर्वदा शिवा कल्याणकारिणी भेषजी औषधरूपा संसारव्याधिनिर्वर्तिका दिव्यौषधरूपा, रुतस्य शारीरव्याधेर्निवर्तिका, शिवा समी-

---

करते हैं, अथवा प्रेरित करते हैं, अर्थात् रुद्र का स्मरण करते हैं। किस प्रकार के रुद्र को हम स्मरण करते हैं ? 'तवसे' महते बलवते वा, अर्थात् महान् अथवा बलवान् रुद्र को हम स्मरण या समर्पण करते हैं। दोनों जगह 'तवः तवसः' शब्द का पाठ है। कपर्दिने जटिलाय जटाजूटधारिणे, अर्थात् जटा-जूट धारण करने वाले। 'क्षयद्वीराय' क्षयन्तो निवसन्तो वीराः शूरा यत्र असौ क्षयद्वीरः, तस्मै। अर्थात् जिसका आश्रय करके शूर लोग वीर्य और शौर्य को प्राप्त करते हैं, उस अनन्त शौर्य-वीर्यपूर्ण भगवान् रुद्र के लिये प्रणाम है। अथवा क्षयन्ति नश्यन्ति वीरास्त्रिपुरान्धकादयो यस्मात् स क्षयद्वीरः, अर्थात् उस शत्रुसंहारक भगवान् रुद्र को प्रणाम है। 'द्विपदे' द्वौ पादौ यस्याऽसौ द्विपात् तस्मै पुत्र-पौत्रादये चतुष्पदे गवादिपशवे। अथवा 'द्विपदे-चतुष्पदे' ये दोनों पद सप्तम्यन्त भी हो सकते हैं। तब अर्थ होगा कि पुत्रादि अथवा गवादि के विषय में जिस प्रकार से सुख प्राप्त हो, इस निवास स्थान में सम्पूर्ण प्राणिवर्ग समृद्ध और निरुपद्रव जैसे हो सके, उस अभिप्राय से हम अपनी बुद्धि को शिव के लिये समर्पित कर रहे हैं, अर्थात् उसके स्मरण-चिन्तन स्वरूप भक्ति में हम तत्पर हो रहे हैं ॥ ४८ ॥

यह कण्डिका अनुष्टुप् छन्द की है। हे रुद्र, या ते तव ईदृशी मङ्गलमयी तनूः शरीरम्, तया तन्वा नः अस्मान् जीवसे जीवितुं मृड सुखय। अर्थात् हे रुद्र ! तुम्हारा जो मङ्गलमय शरीर है, उससे हमें जीवित रहने के लिये सुखी बनाओ। कीदृशी तनूः ? तुम्हारा शरीर कैसा है ? शिवा शान्ता अघोरा सुखमयी, 'विश्वाहा' विश्वानि च तान्यहानि च विश्वाहा, अर्थात् तुम्हारा शरीर शान्त है, सुखमय है और विश्वाहा यानी सभी दिन (सर्वदा) वह एकरूप है। वह तुम्हारी कल्याणकारिणी तनू साक्षात् भेषजी है, यानी औषधरूपा है, संसारव्याधि की निवर्तिका है, दिव्य औषधि स्वरूपा है। 'रुतस्य' शारीर व्याधि की निवर्तिका है, शिवा यानी समीचीन औषधि है। यद्वा शिवारुतस्य शृगालीफेत्कृतस्य शब्दस्य भेषजी,

चोना निवर्तकौषधिः। यद्वा शिवारुतस्य शृगालीफेत्कृतस्य भेषजी तदुपलक्षितसर्वविधस्य अपशकुनस्य अपहन्त्री। ईदृश्या लोकोत्तरया अमङ्गलघ्न्या तन्वा नोऽस्मान् मृडयेत्यर्थः॥ ४९॥

परि॑ नो रु॒द्रस्य॑ हे॒तिर्वृ॑णक्तु॒ परि॑ त्वे॒षस्य॑ दुर्म॒तिर॑घा॒योः।
अव॑ स्थि॒रा म॒घव॑द्भ्यस्तनुष्व॒ मीढ्व॑स्तो॒काय॒ तन॑याय मृड॥ ५०॥

मन्त्रार्थ—हे रुद्र! तुम्हारा आयुध और क्रुद्ध हुए द्वेषी पुरुषों की दुर्बुद्धि हम लोगों को वर्जित कर दे, अर्थात् उनसे हम लोगों को किसी प्रकार की पीडा न हो पावे। अभिलषित वस्तुओं की वृष्टि करनेवाले हे रुद्र! तुम अपने धनुष को प्रत्यंचा से रहित करके यजमान-पुरुषों के भय को दूर कर दो और उनके पुत्र-पौत्रों को सुखी बनाओ॥५०॥

इयं त्रिष्टुप्। रुद्रस्य शिवस्य हेतिरायुधम्, नोऽस्मान् परिवृणक्तु परितो वर्जयतु। अस्मान् मा हन्त्वित्यर्थः। त्वेषस्य त्वेषति दीप्यते, क्रोधेनेति त्वेषः, पचाद्यच्, तस्य क्रुद्धस्य अघायोः परानिष्टेच्छोः, अघं परस्येच्छतीति अघायति, अघायतीत्यघायुः, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति सूत्रे छन्दसि परेच्छायामपि क्यच् भवतीति व्याख्येयम्। व्याख्यानं पुनर्यदयमाचार्योऽघशब्दात् क्यचि कृते 'क्यचि च' (पा० सू० ७।४।३३) इति प्राप्तेत्वबाधनार्थम् 'अश्वाघस्यात्' (पा० सू० ७।४।३३) इत्यघशब्दस्यात्वं शास्ति। एतदेव ज्ञापयति छन्दसि परेच्छायामपि क्यच् भवतीति। नहि कश्चनाप्यात्मनोऽघमिच्छति। 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युः। तस्य द्रोग्धुर्दुर्मतिर्द्रोहबुद्धिः, अस्मान् परिवृणक्तु परिवर्जयतु। हे मीढ्वः, मेहति वर्षति कामानिति मीढ्वान्, तत्सम्बुद्धौ कामाभिवर्षुक। स्थिरा स्थिराणि दृढानि, अर्थाद् धनूंषि त्वमवतनुष्व अवतारय, मौर्वीरहितानि कुर्वित्यर्थः। किमर्थमिति चेत्? मघवद्भ्यः, 'मघमिति धननाम' (निघ० २।१०।१)। मघं हविर्लक्षणं धनं विद्यते येषां ते मघवन्तो यजमानाः, तेभ्यः। यजमानानां भयनिवृत्तय इति यावत्। किञ्च, तोकाय पुत्राय तनयाय पौत्राय च मृड पुत्रं पौत्रं च सुखय। कर्मणि चतुर्थ्यौ। तौतीति पूरयति कुलमिति तोकम्। तुः सौत्रो धातुर्हिंसावृत्तिपूर्तिषु। तनोतीति तनयः। 'बलिमतितनिभ्यः क्यन्' (उ० ४।९९) इति रूपसिद्धिः॥ ५०॥

तदुपलक्षितसर्वविधस्य अपशकुनस्य अपहन्त्री। अथवा शृगाली के अपशकुनरूपी शब्द की यानी सर्वविध अपशकुनों को निवारक तुम्हारी मंगलमयी तनू है। इस प्रकार की अलौकिक और अमङ्गल की विनाशक अपनी तनू से हमें सुखी बना दो॥ ४९॥

यह कण्डिका त्रिष्टुप् छन्द की है। रुद्रस्य शिवस्य हेतिर् आयुधम्, नः अस्मान् परिवृणक्तु परितो वर्जयतु। शिव का आयुध हमारा हनन न करे। 'त्वेषस्य' त्वेषति दीप्यते क्रोधेनेति त्वेषः, पचाद्यच्, तस्य क्रुद्धस्य, अघायोः पराऽनिष्टेच्छोः, अघं प्राप्तुं परस्य इच्छतीत्यघायति, अघायतीत्यघायुः, 'सुप आत्मनः क्यच्' इत्यत्र परेच्छायामपि वाच्यमिति क्यच्। 'क्यचि च' इतीत्वे प्राप्ते 'अश्वाघस्यात्' सूत्रेण आकारः, 'क्याच्छन्दसि' सूत्र से 'उ' प्रत्यय हुआ है। त्वेषस्य क्रुद्धस्य अघायोः द्रोग्धुः दुर्मतिः दुष्टमतिः द्रोहबुद्धिश्च अस्मान् परिवृणक्तु, अर्थात् द्रोह करने वाले क्रुद्ध पुरुष की दुष्टबुद्धि हमारा अनिष्ट न करने पावे, यानी हमको त्याग दे, अर्थात् हमसे दूर रहे। हे मीढ्वः! मेहति वर्षति कामानिति मीढ्वान्, तत्सम्बुद्धौ हे मीढ्वः, कामनाओं (फलों) की वर्षा करने वाले! अर्थात् कामाभिवर्षक! स्थिरा स्थिराणि दृढानि, अर्थात् धनूंषि, त्वम् अवतनुष्व अवतारय मौर्वीरहितानि कुर्वित्यर्थः, अर्थात् अपने सुदृढ धनुषों को प्रत्यञ्चारहित कर दो। किमर्थमिति चेत् किसलिये धनुषों को प्रत्यञ्चारहित करें? तो 'मघवद्भ्यः' मघं हविर्लक्षणं धनं विद्यते येषां ते मघवन्तो यजमानाः, तेभ्यः। हविर्लक्षण धन को अपने पास सुरक्षित रखने वाले यजमानों के भय का निवारण करने के लिये। 'मघमिति धननाम'। किञ्च, तोकाय पुत्राय तनयाय पौत्राय च मृड। अर्थात् हमारे पुत्र-पौत्रों को सुखी कर दो। दोनों चतुर्थी विभक्तियां कर्म के अर्थ में हैं। तौतीति पूरयति कुलमिति तोकम्, जो कुल को पूर्ण बनाता है, उसे 'तोक' कहते है। 'तुः सौत्रो धातुः' तनोतीति तनयः॥ ५०॥

मीढु॑ष्टम॒ शिव॑तम शि॒वो नः॑ सु॒मना॑ भव। प॒र॒मे वृ॒क्ष आयु॑धं नि॒धाय॒ कृत्ति॒ वसा॑न॒ आच॑र॒ पिना॑कं॒ बिभ्र॒दाग॑हि ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—अभीष्ट फल और कल्याणों की अत्यधिक वृष्टि करनेवाले, हे रुद्र! तुम हम पर प्रसन्न रहो, अपने त्रिशूल आदि आयुधों को कहीं दूर स्थित वृक्षों पर रख दो, गजचर्म का परिधान करके तप करो और केवल शोभा के लिये धनुष मात्र लेकर आओ ॥ ५१ ॥

इयमेकोना यवमध्या त्रिष्टुप्। तृतीय एकादशार्णः। चत्वारोऽन्येऽष्टार्णाः। पञ्चपादा। हे मीढुष्टम, अतिशयेन मीढ्वान् मीढुष्टमः, अतिशयेन अभीष्टकामवर्षुकः, तत्सम्बुद्धौ। शिवतम अतिशयेन शिवः कल्याणकर्ता शिवतमः, तत्सम्बुद्धौ, परमकल्याणमय। नोऽस्मान् प्रति शिवः शान्तः सुमना हृष्टचित्तश्च भव। किञ्च, परमे दूरस्थे उन्नते वा वृक्षे वटादौ आयुधं त्रिशूलादिकं निधाय संस्थाप्य कृत्तिं चर्म वसानः परिदधानः, आचर आगच्छ, तपश्चरणं कुर्विति वा। आगच्छन्नपि पिनाकं स्वीयमजगवं धनुः, बिभ्रद् धारयन्, आगहि आगच्छ। ज्याशरहीनं धनुर्मात्रं शोभार्थं धारयन्नागच्छेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

विकि॑रिद्र॒ विलो॑हित॒ नम॑स्ते अस्तु भगवः।
यास्ते॑ स॒हस्र॑ꣳ हे॒तयो॒ऽन्यम॒स्मन्निव॑पन्तु॒ ताः ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—विविध प्रकार के उपद्रवों का विनाश करने वाले तथा शुद्ध स्वरूप वाले हे भगवन् रुद्र! तुम्हें हमारा प्रणाम है, तुम्हारे जो असंख्य आयुध हैं, वे हमसे अतिरिक्त दूसरों पर जाकर गिरें ॥ ५२ ॥

द्वे अनुष्टुभौ। हे विकिरिद्र, विविधं यथा स्यात्तथा किरीन् उपद्रवान् द्रावयति नाशयतीति विकिरिद्रः, तत्सम्बुद्धौ, हे सर्वोपद्रवनाशक, किरति विक्षिपति वैकल्यमापादयति शरीरे मनसि वेति किरिः, उपद्रवः। 'कॄगॄशॄपॄकुटिभिदिछिदिभ्यश्च' (उ० ४।१४४) इति इप्रत्यये साधुः। बहुवचने किरयः। अथवा विविधं किरन् बाणान् द्रावयति शत्रूनिति विकिरिद्रः, तत्सम्बुद्धौ। हे विलोहित, विगतं विनष्टं लोहितं रजोमयं कल्मषं यस्मादसौ

यह कण्डिका एकोना यवमध्या त्रिष्टुप् है। तृतीय पाद एकादश अक्षर का है, अन्य चार आठ अक्षर के हैं। पाँच पाद हैं। हे मीढुष्टम! अतिशयेन मीढ्वान् मीढुष्टमः। अत्यधिक अभीष्ट फलों की वर्षा करने वाला मीढुष्टतम कहलाता है, उसका संबोधन में रूप 'मीढुष्टतम' है। 'शिवतम' अतिशयेन शिवः कल्याणकर्ता शिवतमः, इसका संबोधन में रूप 'शिवतम' है। अत्यन्त कल्याणकर्तः! 'नः' हम लोगों के प्रति 'शिवः' शान्त और 'सुमनाः' प्रसन्नचित्त 'भव' हो जाओ। किञ्च 'परमे' दूर स्थित अथवा ऊँचे वट आदि वृक्ष पर 'आयुधं' अपने त्रिशूलादि आयुध को 'निधाय' रखकर 'कृत्तिम्' चर्म को 'वसानः' धारण किये हुए 'आचर' आओ, अथवा तपश्चरण करो। आते हुए भी 'पिनाकम्' अपने अजगव धनुष को धारण करते हुए 'आगहि' आओ। अर्थात् प्रत्यञ्चा = शर से रहित केवल धनुष को शोभार्थ धारण करके आओ ॥ ५१ ॥

इस कण्डिका में दो अनुष्टुप् हैं। हे विकिरिद्र! विविधं यथा स्यात्तथा किरिं घाताद्युपद्रवं द्रावयति नाशयति विकिरिद्रः, तत्सम्बुद्धौ हे विकिरिद्र! हे सर्व उपद्रवों के विनाशक! किरति विक्षिपति वैकल्यमापादयति शरीरे मनसि वेति किरिः उपद्रवः। शरीर में अथवा मन में विकलता जिससे प्राप्त होती है, उसे 'किरि' कहते हैं। अथवा विविधं किरन् बाणान् द्रावयति शत्रूनिति विकिरिद्रः, तत्सम्बुद्धौ हे विकिरिद्र! विविध बाणों को छोड़ते हुए जो शत्रुओं को नष्ट करता है, उसे 'विकिरिद्र' कहते हैं। उसके संबोधन में 'विकिरिद्र' रूप बनता है। हे विलोहित! विगतं विनष्टं लोहितं रजोमयं

विलोहित:, तत्सम्बुद्धौ, शुद्धसच्चिदानन्द । हे भगव:, भगवन् 'मतुवसोरुः सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इति नस्य रेफस्तस्य विसर्गः । ते तुभ्यं नमः प्रह्वीभावः, अस्तु भवतु । एवमभिष्टुत्य आशिषं प्रार्थयते—हे रुद्र, तव याः सहस्रं हेतयोऽसंख्यातान्यायुधानि, ता हेतयोऽस्मदन्यमस्मद्व्यतिरिक्तं निवपन्तु घ्नन्तु ॥ ५२ ॥

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः ।
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—जगत् के स्वामी हे रुद्र ! तुम्हारे हाथों में हजारों प्रकार के जो असंख्य आयुध हैं, उनके अग्र भागों (मुखों) को हमारी विरुद्ध दिशाओं की ओर कर दो, अर्थात् हम पर आयुधों का प्रयोग मत करो ॥ ५३ ॥

हे भगवः, हे भगवन्, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न, तव बाह्वोर्भुजयोर्याः सहस्राणि सहस्रशोऽसंख्यातानि सहस्राणि, 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (पा०सू० ५।४।४३) इति शस् अनन्तत्वप्रतिपादनार्थम्, हेतयः सन्ति, तासां हेतीनां सहस्रसंख्याकानि धनुःशूलखड्गादिभेदेन सहस्रसंख्याकत्वम् । तासां हेतीनां मुखा मुखानि शल्यानि पराचीना अस्मत्तः पराङ्मुखानि त्वं कृधि कुरु, यतो भवानीशानः सर्वं कर्तुमीष्टे, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् ।
तेषाᳩं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—पृथ्वी पर जो असंख्य रुद्र हजारों रीति से निवास करते हैं, उनके असंख्य आयुधों को हम लोग हजारों कोसों के पार जो मार्ग है, उस पर ले जाकर डाल देते हैं ॥ ५४ ॥

बहुरुद्रदेवत्या दशानुष्टुभोऽवतानसंज्ञाः । पृथिवीस्थानां तेषां रुद्राणां नमस्कारः । असंख्याता असंख्यातानि सहस्राणि अनन्ता ये रुद्रा भूम्यां पृथिव्या उपरि स्थिताः, तेषां रुद्राणां सहस्रयोजने सहस्रं योजनानि यस्मिन् स सहस्रयोजनस्तस्मिन् अध्वन्यवस्थितानाम्, हविषा धन्वानि धनूंषि, अवतन्मसि अवतन्मः, अवतारयामः, अपज्यानि

कल्मषं यस्माद् असौ विलोहितः । तत्सम्बुद्धौ 'हे विलोहित' । नष्ट हो गया है लोहित, यानी रजोमय कल्मष जिससे, उसे 'विलोहित' कहते हैं, उसके संबोधन में 'हे विलोहित' रूप बना है । अर्थात् शुद्ध सच्चिदानन्द ! हे भगवः ! हे भगवन् ! तुम्हें हमारा प्रणाम हो । इस प्रकार भगवान् की स्तुति करके आशीर्वाद प्राप्ति की अभ्यर्थना की है । हे रुद्र ! तुम्हारी जो हजारों हेतियाँ यानी 'आयुध' हैं, वे हमसे भिन्न जो तुम्हारे अभक्त हों, उन पर गिरें, अर्थात् उनका नाश करें ॥ ५२ ॥

हे भगवः ! हे भगवन् षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न ! तुम्हारे हाथों में हजारों जो हेतियां यानी आयुध हैं, उन आयुधों के जो शल्य हैं, उन्हें हमसे पराङ्मुख करो, क्योंकि तुम कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ हो । यहां पर 'सहस्र' शब्द अनन्तत्व के प्रतिपादनार्थ है ॥ ५३ ॥

यह कण्डिका बहुरुद्रदेवत्या है । अनुष्टुप् छन्द की इन दस कण्डिकाओं की अवतान संज्ञा है । पृथिवी पर स्थित उन रुद्रों को प्रणाम है । असंख्याताः, असंख्यातानि सहस्राणि, अनन्ता ये रुद्रा भूम्यां पृथिव्या उपरि स्थिताः, तेषां रुद्राणां सहस्रयोजने सहस्रं योजनानि यस्मिन् सहस्रयोजनः, तस्मिन् अध्वनि स्थितानां हविषा धन्वानि धनूंषि, अवतन्मसि अवतन्मः अवतारयामः, अपज्यानि कृत्वा अस्मत्तो दूरं क्षिपाम इत्यर्थः । जिनका अन्त नहीं हैं, ऐसे हजारों जो रुद्र हैं, वे भूमि पर स्थित हैं, उन रुद्रों के लिये जो सहस्र योजन के मार्ग पर स्थित हैं, हवि देकर उनके धनुषों को हम उतार रहे हैं, अर्थात् धनुषों को

कृत्वा अस्मत्तो दूरं क्षिपाम इत्यर्थः। भक्त्या परमेश्वरमनुकूल्य तद्द्वारैवं तेषां धनूंष्यपज्यानि कुर्म इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अस्मिन् मह॒त्यर्ण॒वेऽन्तरि॑क्षे भ॒वा अधि॑ ।
तेषा॑ᳯ स॒हस्रयोज॒नेऽव॒ धन्वा॑नि तन्म॑सि ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—महान् मेघमण्डल से भरे हुए आकाश में जो रुद्र रहते हैं, उनके असंख्य धनुषों को हम लोग हजारों कोसों के पार जो मार्ग है, उस पर ले जाकर डाल देते हैं ॥ ५५ ॥

अन्तरिक्षस्थानां तेषां रुद्राणां नमस्कारः। अस्मिन् अन्तरिक्षरूपे महति विशाले अर्णवे अर्णांसि जलानि विद्यन्ते यत्र तद् अर्णवम्, मेघाधारत्वादन्तरिक्षमर्णव उच्यते। 'अर्णसो लोपश्च' (पा० सू० ५।२।१०९, वा० २) इति वप्रत्ययेऽन्त्यलोपे च रूपसिद्धिः। तस्मिन् अधिश्रित्य ये भवा रुद्राः स्थिताः, तेषां धन्वानि धनूंषि, अवतन्मसि अवतारयामः ॥ ५५ ॥

नील॑ग्रीवाः शिति॒कण्ठा॒ दिव॑ᳯ रु॒द्रा उप॑श्रिताः ।
तेषा॑ᳯ स॒हस्रयोजने॒ऽव॒ धन्वा॑नि तन्म॑सि ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—जिनका कण्ठ कुछ हिस्से में नील वर्ण है और कुछ हिस्से में श्वेत वर्ण है, द्युलोक में निवास करने वाले उन रुद्रों के असंख्य धनुषों को हम लोग हजारों कोस दूर के मार्ग पर ले जाकर डाल देते हैं ॥ ५६ ॥

द्युस्थानां तेषां रुद्राणां नमस्कारः। ये रुद्रा दिवं द्युलोकमुपश्रिताः स्वर्गस्थाः। कीदृशाः? नीलग्रीवाः। कृष्णवचनो नीलशब्दः। शितिशब्दः श्वेतवचनः। नीला ग्रीवा येषां ते। शितिः कण्ठो येषां ते। विषग्रासात् कियान् कण्ठभागः कृष्णः कियानपि श्वेत इत्यर्थः। तेषामित्यादीनां व्याख्यानं पूर्ववत् ॥ ५६ ॥

नील॑ग्रीवाः शिति॒कण्ठा॑ः श॒र्वा अ॒धः क्ष॑माच॒राः ।
तेषा॑ᳯ स॒हस्रयोज॒नेऽव॒ धन्वा॑नि तन्म॑सि ॥ ५७ ॥

प्रत्यंचारहित करके अपने से दूर फिकवा देते हैं। अभिप्राय यह है कि उन रुद्रों की भक्तिपूर्वक उपासना करके उस भक्ति के द्वारा ही उनके धनुषों को हम प्रत्यंचारहित कर देते हैं ॥ ५४ ॥

अन्तरिक्ष में स्थित रहनेवाले उन रुद्रों को प्रणाम है। अस्मिन् अन्तरिक्षे महति विशाले अर्णवे अर्णांसि जलानि विद्यन्ते यत्र तद् अर्णवम्, मेघाधारत्वाद्-अन्तरिक्षमर्णव उच्यते। इस विशाल अन्तरिक्ष रूप अर्णव में उसके आश्रित होकर जो रुद्र स्थित रहते हैं, उनके धनुषों को हम उतरवा देते हैं। मेघों का आधार होने से उस अन्तरिक्ष में जल रहता है, इसलिये अन्तरिक्ष को अर्णव शब्द से कहा जाता है ॥ ५५ ॥

द्युलोक में स्थित रहने वाले उन रुद्रों को प्रणाम है। जो रुद्र स्वर्ग में स्थित हैं, उनकी ग्रीवा नील है और उनका कण्ठ श्वेत है, क्योंकि विषपान करने से कण्ठ का भाग कृष्ण है और उसी का कुछ भाग श्वेत है। अग्रिम अंश की व्याख्या पूर्ववत् ही है। 'नील' शब्द कृष्ण वर्ण का वाचक है और 'शिति' शब्द श्वेत वर्ण का वाचक है ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—कुछ भाग में नील वर्ण और कुछ भाग में शुक्ल वर्ण के कण्ठ वाले भूमि के अधोभाग में स्थित पाताल लोक में निवास करने वाले रुद्रों के असंख्य धनुषों को हम लोग हजारों कोस दूर मार्ग पर ले जाकर डाल देते हैं ॥ ५७ ॥

पातालस्थानां तेषां रुद्राणां नमस्कारः। अधः अधोभागे ये शर्वा रुद्राः क्षमाचराः क्षमाया भुवोऽधोभागे चरन्ति गच्छन्तीति, पाताले वर्तमाना इति यावत्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ५७ ॥

ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः।
तेषाᳬं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—बाल तृण के समान हरित वर्ण के तथा कुछ भाग में नील वर्ण एवं कुछ भाग में शुक्ल वर्ण के कण्ठ वाले, जो रुधिररहित रुद्र (तेजोमय शरीर रहने से उन शरीरों में रक्त और मांस नहीं रहता) हैं, वे अश्वत्थ आदि के वृक्षों पर रहते हैं। उन रुद्रों के धनुषों को हम लोग हजारों कोसों के पार किसी मार्ग पर ले जाकर डाल देते हैं ॥ ५८ ॥

ये रुद्रा वटाश्वत्थादिवृक्षेषु स्थिताः। कीदृशाः ? शष्पिञ्जराः शष्पं बालतृणं तद्वत् पिञ्जरा हरितवर्णाः। पकारलोपश्छान्दसः। नीलग्रीवाः केचन कण्ठे नीलवर्णाः, तथा केचन विरोहिता विशेषेण रक्तवर्णाः। यद्वा विगतं लोहितं रक्तं रक्तोपलक्षितं मांसमज्जास्थ्यादि भौतिकं येषां ते, अप्राकृतचिन्मयदिव्यविग्रहा इति यावत्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ५८ ॥

यो भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः।
तेषाᳬं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—जिनके शिर पर केश नहीं हैं जो जटाजूट धारण किये हैं और पिशाचों के जो अधिपति हैं, उन रुद्रों के धनुषों को हम लोग हजारों कोसों के पार किसी मार्ग पर लें जाकर डाल देते हैं ॥ ५९ ॥

ये भूतानां प्राणिनामधिपतयः स्वामिनः पालका रुद्राः, यद्वा भूतानां भूतप्रेतपिशाचादीनाम् अन्तर्धानादि-शक्तिमतां देवविशेषाणामधिपतयः पालका रुद्राः, तेषु केचिद् विशिखासः शिखाकेशादिहीनाः, मुण्डितमुण्डा इति यावत्। केचिच्च कपर्दिनो जटाजूटधारिणः, तेषां धन्वानि धनूंषि अवतारयाम इति पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ५९ ॥

पाताल लोक में रहने वाले उन रुद्रों को प्रणाम है। अधो भाग में जो शर्व (रुद्र) हैं, वे 'क्षमाचराः' अर्थात् क्षमाया भुवोऽधोभागे चरन्ति गच्छन्तीति ते 'क्षमाचराः', पृथिवी के निचले भाग में जो चलते हैं, उन्हें क्षमाचर कहते हैं, यानी पाताल में विद्यमान रहने वाले। शेष भाग की व्याख्या पूर्ववत् ही समझनी चाहिये ॥ ५७ ॥

जो रुद्र वट, अश्वत्थ आदि वृक्षों पर स्थित रहते हैं। वे कैसे हैं ? 'शष्पिञ्जराः' बाल तृण के समान हरित वर्ण के हैं। 'नीलग्रीवाः' कुछ तो नीलवर्ण के कण्ठ वाले हैं तथा कुछ 'विलोहिताः' विशेष रूप से रक्त वर्ण के हैं। यद्वा विगतं लोहितं रक्तं रक्तोपलक्षितं मांसमज्जाऽस्थ्यादि भौतिकं येषां ते विलोहिताः, अर्थात् रक्त और मांस-मज्जा-अस्थि आदि भौतिक पदार्थों से रहित हैं, यानी लोहितादि धातुओं से रहित हैं, अर्थात् तेजोमय शरीर वाले हैं। चिन्मय दिव्य शरीर वाले हैं, प्राकृत नहीं हैं। शेष भाग की व्याख्या पूर्ववत् ही है ॥ ५८ ॥

जो प्राणियों के अधिपति यानी स्वामी, अर्थात् पालक रुद्र हैं, यद्वा 'भूतानां' अन्तर्धान हो जाने की शक्ति वाले भूत-प्रेत-पिशाच आदि हैं, ऐसे देवविशेषों के पालक जो रुद्र हैं, उनमें से कुछ तो 'विशिखासः' शिखा-केश आदि से हीन हैं, यानी मुण्डित शिर वाले हैं और कुछ 'कपर्दिनः' जटा-जूटधारी हैं, उनके धनुषों को हम उनसे दूर करवाते हैं। ऐसी पूर्ववत् ही व्याख्या है ॥ ५९ ॥

ये प॒थां प॑थि॒रक्ष॑य ऐलबृ॒दा आ॑यु॒र्युध॑:। तेषा॑ᳪ सहस्रयोज॒नेऽव॒ धन्वा॑नि तन्मसि ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—अन्न देकर प्राणियों का पोषण करने वाले, आजीवन युद्ध करने वाले, लौकिक-वैदिक मार्ग का रक्षण करने वाले तथा अधिपति कहलाने वाले रुद्रों के धनुषों को हम लोग हजारों कोसों के पार किसी मार्ग पर ले जाकर डाल देते हैं ॥ ६० ॥

ये रुद्राः पथां लौकिकवैदिकमार्गाणाम् अधिपतयो रक्षकाः, पथामधिपतय इति पूर्वचेनानुषङ्गः, ये च पथि रक्षयः पथो मार्गांस्तानेवान्यानपि वा रक्षन्ति पालयन्ति ते पथिरक्षयः, ये च ऐलवृदा इलानाम् अन्नानां समूह ऐलम्। यद्वा इला पृथ्वी, तस्या इदमैलम् अन्नम्, तद् बिभ्रतीत्यैलभृतः, ऐलभृतः सन्तः परोक्षवृत्त्या ऐलवृदा उच्यन्ते, अन्नैर्जन्तूनां पोषका इत्यर्थः। आयुर्युध आयुषा जीवनेन युद्धयन्ते इत्यायुर्युधः, यावज्जीवं युद्धकर्तार इति यावत्। अथवा आयुर्वा पणीकृत्य ये युध्यन्ते ते आयुर्युधः, तेषां धनूंषि सहस्रयोजने अवतारयाम इति पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ६० ॥

ये ती॒र्थानि॑ प्र॒चर॑न्ति सृ॒काह॑स्ता निष॒ङ्गिण॑:। तेषा॑ᳪ सहस्रयोज॒नेऽव॒ धन्वा॑नि तन्मसि ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—आयुधों को हाथ में लेकर और खड्गों को धारण कर जो रुद्र तीर्थों पर जाते हैं, उनके धनुषों को हम लोग हजारों कोसों के पार किसी मार्ग पर ले जाकर डाल आते हैं ॥ ६१ ॥

ये रुद्रास्तीर्थानि काशी-प्रयाग-कुरुक्षेत्र-पुष्कर-प्रभृतीनि प्रचरन्ति गच्छन्ति। कीदृशाः? सृकाहस्ताः सृका आयुधानि हस्ते येषां ते तथोक्ताः। 'सृकेत्यायुधनामसु' (निघ० २।२०।६)। 'सृवृभूसुषिमुषिभ्यः कक्'। सरतीति सृकः। वज्रं तद्वदायुधमिति यावत्। निषङ्गिणो निषङ्गाः खड्गा विद्यन्ते येषां ते तथोक्ताः। उभाभ्यां हस्ताभ्यां वज्रखड्गधारयितारः। युगपद् उभयपार्श्वतः पुरतश्च युद्धकरणसमर्थाः। तेषां धनूंषीत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ६१ ॥

जो रुद्र लौकिक और वैदिक मार्गों के रक्षक हैं, जो 'पथिरक्षयः' मार्गों का अथवा अन्यों का भी पालन (रक्षण) करते हैं, जो 'ऐलबृदाः' इलानाम् अन्नानां समूह ऐलम्, अर्थात् अन्नसमूहः। यद्वा—इला पृथिवी तस्या इदम् ऐलम् अन्नम्, तद् बिभ्रतीत्यैलभृतः, ऐलभृतः सन्तः परोक्षवृत्त्या ऐलबृदा उच्यन्ते। अर्थात् अन्न के द्वारा प्राणियों के जो पोषक हैं। 'आयुर्युधः' आयुषा जीवनेन युध्यन्त इति आयुर्युधः, अर्थात् जीवन भर युद्ध करने वाले। अथवा 'आयुः' जीवनं पणीकृत्य युध्यन्ते त आयुयुधः, अर्थात् जीवन की बाजी लगाकर जो युद्ध करते हैं, उन्हें 'आयुर्युध' कहते हैं। उन रुद्रों के धनुषों को हम अपने से हजार योजन दूर उतरवा देते हैं। ऐसी पूर्ववत् ही व्याख्या करनी चाहिये ॥ ६० ॥

ये रुद्रास्तीर्थानि काशीप्रयागकुरुक्षेत्रपुष्करप्रभृतीनि प्रचरन्ति गच्छन्ति। कीदृशाः? सृकाहस्ताः सृका आयुधानि हस्ते येषां ते सृकाहस्ताः। सरतीति सृको वज्रम्, तद्वदायुधमिति यावत्। 'सृकेत्यायुधनामसु' (निघ० २।२०।६)। जो रुद्र काशी, प्रयाग, कुरुक्षेत्र, पुष्कर प्रभृति तीर्थों में चलते रहते हैं, वे सृक नाम के आयुधों को हाथ में लिये रहते हैं। जो सरण करता है, उसे सृक कहते हैं, यानी वज्र के समान आयुधविशेष। 'निषङ्गिणः' निषङ्गाः खड्गा विद्यन्ते तेषां ते निषङ्गिणः। उभाभ्यां हस्ताभ्यां वज्रखड्गधारयितारः। युगपद् उभयपार्श्वतः पुरतश्च युद्धकरणसमर्थाः। जिनके पास खड्ग है, वे निषंङ्गी कहलाते हैं, अर्थात् दोनों हाथों में वज्र, खड्ग धारण किये रहते हैं। यानी युगपत् दोनों ओर से और सामने से भी युद्ध करने में समर्थ रहते हैं। उनके धनुष आदि आयुधों को हम उनके पास से दूर करवा देते हैं, इत्यादि पूर्ववत् ही व्याख्या समझनी चाहिये ॥ ६१ ॥

येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्। तेषाᳫं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—अन्नभक्षण और जलपान करने पर उनमें स्थित जो रुद्र हैं, वे अन्नभक्षण तथा जलपान करने वाले प्राणियों को पीड़ा देते हैं। उन रुद्रों के धनुषों को हम लोग हजारों कोसों के पार किसी मार्ग पर डाल देते हैं॥६२॥

ये रुद्रा अन्नेषु भुज्यमानेषु स्थिताः सन्तो जनान् विविध्यन्ति विशेषेण ताडयन्ति, धातुवैषम्यं कृत्वा रोगानुत्पादयन्तीत्यर्थः। तथा पात्रेषु पात्रस्थक्षीरोदकादिषु स्थिताः सन्तः पिबतः क्षीरादिपानं कुर्वतो जनान् विविध्यन्ति अन्नपानादिभोजनपानपरायणान् स्वधर्मविमुखान् ये विविधं ताडयन्ति, तेषां धनूंषीत्यादि पूर्ववत् ॥ ६२ ॥

य एतावन्तश्च भूयाᳫंसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे। तेषाᳫं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—दसों दिशाओं में व्याप्त रहने वाले जो अत्यधिक रुद्र हैं, उनके धनुषों को हम लोग हजारों कोसों के पार किसी मार्ग पर ले जाकर डाल देते हैं ॥ ६३ ॥

ये रुद्रा एतावन्त एतत्प्रमाणं येषां ते तथोक्ता उक्तप्रमाणाः। भूयांसश्च अतिशयेन बहव इति भूयांसः। उक्तप्रमाणेभ्योऽपि बहुतरा इत्यर्थः। दिशो दशदिशो वितस्थिरे विष्टभ्य स्थिताः, तेषां धनूंषीत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ६३ ॥

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवस्तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वास्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ६४ ॥

ये रुद्रा अन्नेषु भुज्यमानेषु स्थिताः सन्तो जनान् विविध्यन्ति विशेषेण ताडयन्ति, धातुवैषम्यं कृत्वा रोगानुत्पादयन्तीत्यर्थः, जो रुद्र भोज्य अन्न में स्थित होकर लोगों को विशेष रूप से ताडित करते हैं, अर्थात् धातुवैषम्य को उत्पन्न कर रोगों को पैदा करते हैं, तथा पात्रेषु पात्रस्थक्षीरोदकादिषु स्थिताः सन्तः, पिबतः क्षीरादिपानं कुर्वतो जनान् विविध्यन्ति अन्नपानादिभोजनपानपरायणान् स्वधर्मविमुखान् ये विविधं ताडयन्ति। उसी प्रकार पात्रस्थित क्षीर, उदक आदि में स्थित होकर क्षीर, उदक पान करने वाले लोगों को, अर्थात् खान-पान में ही तत्पर (परायण) रह कर स्वधर्म से विमुख रहने वाले लोगों को जो विविध प्रकार से प्रताडित करते हैं, उन रुद्रों के धनुरादि आयुधों को हम उनसे दूर करवा देते हैं, अर्थात् हम लोगों की भक्ति-उपासना आदि से प्रसन्न होकर वे अपने आयुधों का प्रयोग हम पर न करके उन्हें दूर रख देते हैं ॥ ६२ ॥

ये रुद्रा एतावन्त एतत्प्रमाणं येषां ते तथोक्ता उक्तप्रमाणाः। भूयांसश्च अतिशयेन बहव इति भूयांसः। उक्तप्रमाणेभ्योऽपि बहुतरा इत्यर्थः। अर्थात् पूर्वोक्त प्रमाण वाले ये रुद्र बहुत अधिक हैं, यानी उक्त प्रमाणों से भी बहुत अधिक हैं। दिशो दशदिशो वितस्थिरे विष्टभ्य स्थिताः। दसों दिशाओं में वे स्थित हैं। उनके धनुरादि आयुधों को हम उनकी भक्तिपूर्वक उपासना के द्वारा उनसे दूर करवा देते हैं। ऐसी पूर्ववत् ही व्याख्या कर लेनी चाहिये ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—द्युलोक में रहने वाले जो रुद्र हैं और जिनके बाण वृष्टिरूप हैं, उनको हम लोग सभी दिशाओं की ओर हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं। वे रुद्र हम लोगों की रक्षा करें, हमें सुख दें। जो हमारा द्वेष करता है तथा हम जिससे द्वेष करते हैं, उन शत्रुओं को हम रुद्र की दाढ में रख देते हैं, अर्थात् उन शत्रुओं का नाश हो ॥ ६४ ॥

इत उत्तरं त्रीणि यजूंषि कण्डिकात्रयात्मकानि प्रत्यवरोहसंज्ञानि धृतिछन्दस्कानि बहुरुद्रदेवत्यानि। एषु त्रिस्थानास्त्रिलोकीस्था रुद्राः स्तूयन्ते। दिवि द्युलोके ये रुद्रा वर्तन्ते। येषां च रुद्राणां वर्षं वृष्टिरेव इषवो बाणाः, एषामायुधस्थानीया वृष्टिः, अतिवृष्ट्यादीतिभिः प्राणिनो घ्नन्ति, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः। तेभ्यो रुद्रेभ्यो दश दशसंख्याकाः प्राचीः प्रागभिमुखा दशाङ्गुलीः कृत्वा नमस्करोमि। प्राङ्मुखाञ्जलिबन्धेन प्राच्यो दशाङ्गुलयो भवन्ति। तथैव दक्षिणा दक्षिणाभिमुखा दशाङ्गुलीः कृत्वा नमस्करोमि। तथैव प्रतीचीः प्रत्यङ्मुखा दशाङ्गुलीः कृत्वा नमस्करोमि। तथैव उदीचीर् उदङ्मुखा दशाङ्गुलीः कृत्वा नमस्करोमि। तथैव ऊर्ध्वा उपरि दशाङ्गुलीः कृत्वा नमस्करोमि। तेभ्यः साञ्जलिबन्धं नमोऽस्तु नमस्करोमि, 'दश वा अञ्जलेरङ्गुलयो दिशि दिश्येवैभ्य एतदञ्जलिं करोति' (श० ९।१।१।३९) इति श्रुतेः। ते रुद्रा नोऽस्मानवन्तु रक्षन्तु। ते रुद्रा नोऽस्मान् मृडयन्तु सुखयन्तु। किञ्च, ते रुद्रा अस्मान् प्रति सन्तुष्टाः सन्तः, यं पुरुषं द्विषन्तीति शेषः। वयं च यं द्विष्मो यस्य द्वेषं कुर्मः, पुनर्यो नरो नोऽस्मान् द्वेष्टि तं सर्वमपि पुरुषं पूर्वोक्तानामेषां रुद्राणां जम्भे दंष्ट्राकराले मुखे दध्मः स्थापयामः। अस्मद्द्विषम् अस्मद्द्वेष्यं च नरं पूर्वोक्ता रुद्रा भक्षयन्तु. अस्मांश्चावन्तु ॥ ६४ ॥

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वात इषवस्तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वास्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ६५ ॥

मन्त्रार्थ—आकाश में जो रुद्र रहते हैं और जिनके बाण वायुरूप हैं, उनको हम लोग हाथ जोड़कर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा ऊर्ध्व दिशाओं की ओर दस अंगुलियों को करते हैं, अर्थात् सभी दिशाओं को हम हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं। वे रुद्र हम लोगों की रक्षा करें, हमें सुख दें। जो हमसे द्वेष करते हैं तथा हम जिनसे द्वेष करते हैं, उन शत्रुओं को हम लोग रुद्र की दाढ़ में रख देते हैं, अर्थात् उस शत्रु का नाश हो ॥ ६५ ॥

इसके आगे तीन यजुः कण्डिकात्रयात्मक हैं, जो प्रत्यवरोहसंज्ञक हैं, धृति छन्दवाले हैं और बहुरुद्रदेवताक हैं। उनमें से त्रिलोकीस्थ रुद्रों की स्तुति की जा रही है। द्युलोक में जो रुद्र हैं और जिन रुद्रों के 'बाण' वर्षण (वृष्टि) ही हैं, अर्थात् उनकी आयुधस्थानापन्न 'वृष्टि' ही है, अतिवृष्टि आदि ईतियों से जो प्राणियों का हनन करते हैं, उन रुद्रों को प्रणाम है। उन रुद्रों के लिये दसों अंगुलियों को प्रागभिमुख करके मैं प्रणाम करता हूँ। प्राङ्मुख अंजलिबन्ध में दसों अंगुलियाँ प्राच्य नहीं होती हैं। तथैव दसों अंगुलियों को दक्षिणाभिमुख करके मैं प्रमाण करता हूँ। तथैव दसों अंगुलियों को प्रत्यङ्मुख करके मैं प्रमाण करता हूँ। तथैव दसों अंगुलियों को उदङ्मुख करके मैं प्रणाम करता हूँ। तथैव दसों अंगुलियों को ऊपर करके मैं प्रणाम करता हूँ। उन रुद्रों के लिये सांजलिबन्ध यानी अंजलि बाँध कर मैं प्रणाम करता हूँ। इसी अभिप्राय को शतपथश्रुति ने भी बताया है। वे रुद्र हमारी रक्षा करें। वे रुद्र हमें सुखी करें। किञ्च, वे रुद्र हमारे प्रति सन्तुष्ट होते हुए जिस पुरुष से वे द्वेष रखते हैं, हम जिस पुरुष से द्वेष करते हैं और जो पुरुष हमसे द्वेष करता है, उन सभी पुरुषों को पूर्वोक्त रुद्रों के दंष्ट्राकराल मुख में हम स्थापित करते हैं। हमारे द्वेष्यभूत मनुष्य को पूर्वोक्त रुद्र भक्षण कर ले और हमारी रक्षा करें ॥ ६४ ॥

येऽन्तरिक्षे रुद्रा वर्तन्ते, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमोऽस्तु। येषां रुद्राणां वात इषवो वायुरायुधस्थानीयः, कुवातेन अन्नं विनाश्य वातरोगं चोत्पाद्य जनान् घ्नन्ति, तेभ्योऽन्तरिक्षस्थेभ्यो रुद्रेभ्यो नमोऽस्तु। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ६५ ॥

नमो॑ऽस्तु रु॒द्रेभ्यो॒ ये पृ॑थि॒व्यां येषा॒मन्न॒मिष॑व॒स्तेभ्यो॒ दश॒ प्राची॒र्दश॑ दक्षि॒णा दश॑ प्र॒तीचो॒र्दश॒ोदी॑चो॒र्दशो॒र्ध्वास्तेभ्यो॒ नमो॑ अस्तु ते नो॑ऽवन्तु ते नो॑ मृडयन्तु ते यं द्वि॒ष्मो यश्च॑ नो॒ द्वेष्टि॒ तमे॑षां जम्भे॑ दध्मः ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ—जो रुद्र पृथिवी पर रहते हैं और जिनके बाण अन्नरूप हैं, उन रुद्रों को हम लोग हाथ जोड़कर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊर्ध्व दिशाओं की ओर दसों अंगुलियां करते हैं, अर्थात् सब दिशाओं को हाथ जोड़कर हम नमस्कार करते हैं। वे रुद्र हमारी रक्षा करें और हमें सुख दें। जो हमसे द्वेष रखते हैं और जिनसे हम द्वेष रखते हैं, उन शत्रुओं को हम रुद्र की वाढ़ में रख देते हैं, अर्थात् उस शत्रु का नाश हो ॥ ६६ ॥

॥ इति षोडशोऽध्यायः समाप्तः ॥

ये पृथिव्यां रुद्रा वर्तन्ते, येषामन्नमिषवः, अन्नमदनीयं वस्तु आयुधम्, अयथान्नभक्षणे कदन्नभक्षणे चौर्ये वा लोकान् प्रवर्त्य रोगमुत्पाद्य जनान् घ्नन्ति, तेभ्यः पृथिवीस्थानेभ्योऽन्नायुधेभ्यो रुद्रेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वास्तत्तद्दिगभिमुखा अङ्गुलीः कृत्वा साञ्जलिबन्धं नमस्करोमि। ते प्रसन्नाः सन्तो नोऽवन्तु, नः अस्मांश्च सुखयन्तु। ते यं द्विषन्ति, यं च वयं द्विष्मः, यश्च नो द्वेष्टि तं तान् सर्वानपि वयं रुद्राणां जम्भे दध्मः।

सामाजिकेन तु इतः पूर्वं प्राय उव्वटमहीधराद्यनुसार्येवार्थो लिखितः। आशवे, आजिराय, शीघ्र्याय, शीभ्यायेत्यादिषु स्वाच्छन्द्यमेवाश्रितम्। शीघ्रकार्यकरत्वम्, निरन्तरतया चिरकालमविश्रम्य कार्यकरत्वम्, शैघ्र्येण

ये अन्तरिक्षे रुद्रा वर्तन्ते, तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमोऽस्तु। जो अन्तरिक्ष में रुद्र हैं, उन रुद्रों के लिये हमारा प्रणाम हो। येषां रुद्राणां वात इषवो वायुरायुधस्थानीयः, कुवातेन अन्नं विनाश्य वातरोगं चोत्पाद्य जनान् घ्नन्ति, तेभ्योऽन्तरिक्षस्थेभ्यो रुद्रेभ्यो नमोऽस्तु। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्। अर्थात् जिन रुद्रों के 'वात' ही बाण हैं, 'वायु' ही आयुधस्थानापन्न है, कुवायु से अन्न का विनाश कर और वात रोग को उत्पन्न कर लोगों को मार दिया है, उन अन्तरिक्ष में स्थित रुद्रों को हमारा प्रणाम हो। शेष भाग की व्याख्या पूर्ववत् ही समझनी चाहिये ॥ ६५ ॥

जो पृथिवी पर रुद्र हैं, जिनके 'अन्न' ही इषु (बाण) हैं, अर्थात् अदनीय (भक्षणीय) वस्तु ही आयुध है, अभिप्राय यह है कि कदन्न भक्षण में अथवा चौर्य में लोगों को प्रेरित कर और रोग उत्पन्न कर जो लोगों का नाश करते हैं, उन पृथिवी स्थान में स्थित एवं अन्नात्मक आयुध लिये हुए रुद्रों के लिये 'दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशो-र्ध्वाः' अर्थात् तत्तद् दिशाओं के संमुख अंगुलियों को करके, अंजलि बाँधकर हम प्रणाम करते हैं। वे प्रसन्न होकर हमारी रक्षा करें और हमें सुखी करें। वे रुद्र जिससे द्वेष करते हैं, हम जिनसे द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेष करते हैं, उन सभी को हम रुद्रों की विकराल दंष्ट्रा में रख देते हैं।

आर्यसमाजी ने इसके पूर्व तो प्रायः उव्वट, महीधरादि के अनुसार ही अर्थ लिखा है, किन्तु 'आशवे, आजिराय, शीघ्र्याय, शीभ्याय इत्यादि पदों के अर्थों को अपनी स्वच्छन्द वृत्ति से ही बताया है। शीघ्रकार्यकरत्व, अर्थात् निरन्तर चिरकाल तक बिना विश्राम किये ही कार्य करना, यानी शीघ्रता से चातुर्य से कार्य करना, तरंग से और उत्साह से कार्य

चातुर्येण कार्यकरत्वम्, तरङ्गेण उत्साहेन च कार्यकरत्वमित्यादिकं कथमर्थ इति दर्शनीयमासीत्। उव्वटमहीधरादिभिः प्रदर्शितरीत्या व्युत्पत्तिस्तु पूर्वव्याख्याने स्पष्टैव। एवमेव उर्वर्याय, कक्ष्याय, दुन्दुभ्याय, अहन्त्यायेत्यादिषु स्वाच्छन्द्येन तत्तत्पालकत्वाद्यर्थः प्रमाणशून्य एव। सिकत्यायेति वालुकाविज्ञानवान्, जलधाराविज्ञानवान्, बहुभारवदुत्थापकयन्त्रनिर्मातेत्यादिकोऽर्थः कथं कैः शब्दैर्ज्ञातुं शक्य इति विषये व्याख्यातुः स्वाच्छन्द्यमेव शरणम्। पर्णशब्दस्य पर्णप्रतिभूरिति कथमर्थः ?

४७ तमे मन्त्रे—'हे राजन्, प्रजापशूनां मध्ये कञ्चनापि रोगैर्मा पीडयस्व' इति व्याख्यानम्। एतद्रीत्या राजैव स्वराष्ट्रे रोगानप्युत्पादयतीत्यायातम्। तच्च प्रत्यक्षविरुद्धमेव। ४९ तमे मन्त्रे तनूरित्यस्य राजशक्तिरर्थः कुतोऽनेन व्याख्यात्रा। तदपि प्रमाणशून्यमेव। ५२ तमे मन्त्रे विकिरिद्रपदस्य व्याख्याने उव्वटमहीधरदयानन्दानां व्याख्याभेदा लिखिताः। विकिरीनिषून् द्रावयतीति विकिरिद्र इत्युव्वटः। तदेतदुद्धरणमपि भ्रान्तिमूलकमेव, यत उव्वटभाष्ये विकिरन्निषून् द्रावयतीति विकिरिद्र इत्युट्टङ्कितम्।

वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा इत्यादिष्वपि तत्तच्चिह्नधारका वृक्षमारोहन्तीत्यर्थोऽपि स्वाच्छन्द्यमूलकः। 'येऽन्नेषु' इति ६२ तमे मन्त्रे लिखितम्—'ये दुष्टा अन्नादिभोजनानां जलदुग्धादीनां च पात्रेषु पिबत्सु जनेषु प्रहरन्ति, तेषां दूरीकरणाय सहस्रयोजने धनूंषि विस्तृतानि कुर्मः' इति, तत्रेदं विचारणीयं यद् यत्तदोः सम्बन्धः स्वाभाविकः। तथा च ये विविध्यन्ति तेषां धन्वानीत्येव सम्बन्धो युक्तः। तमपहाय तेषां दूरीकरणाय धनुषां विस्तार इत्यर्थः सर्वथा विरुद्ध एव। किञ्च, पूर्वं समष्टिकार्यकरणाय राजा सेनापतिर्वा प्रार्थ्यते स्म। इदानीं तु सहस्रयोजने धनुर्विस्तारस्य स्वकर्तृकत्वमेवोच्यते। वस्तुतस्तु राज्ञापि सहस्रयोजनेषु धनूंषि विस्तारयितुं न

करना इत्यादि अर्थ कैसे होगा, यह प्रदर्शित करना चाहिये था। उव्वट, महीधर आदि के द्वारा प्रदर्शित रीति के अनुसार जो व्युत्पत्ति होती है, उसे पूर्वव्याख्यान में स्पष्ट कर ही चुके हैं। इसी तरह 'उर्वर्याय, दुन्दुभ्याय, अहन्त्याय' इत्यादि पदों में भी अपनी स्वच्छन्द वृत्ति के अनुसार 'तत्तत्पालकत्व' आदि अर्थ किया है, जो प्रमाणशून्य है। 'सिकत्याय' इस पद का 'वालुकाविज्ञानवान्, जलधाराविज्ञानवान्, बहुभारवदुत्थापकयन्त्रनिर्माता' इत्यादि अर्थ कैसे किन शब्दों से जाना जा सकता है, इस विषय में व्याख्याता ने स्वच्छन्दता की ही शरण ली है। 'पर्ण' शब्द का 'पर्णप्रतिभू' यह अर्थ कैसे कर डाला है ?

४७वें मन्त्र में—'हे राजन् ! प्रजा-पशुओं में से किसी को भी रोगों से पीड़ित मत करो' ऐसी व्याख्या की है। इस व्याख्या के अनुसार यह अर्थ सूचित होता है कि 'राजा ही अपने राष्ट्र में रोगों को भी उत्पन्न करता है'। किन्तु यह तो प्रत्यक्ष से विरुद्ध ही है। ४९ वें मन्त्र में 'तनूः' का अर्थ 'राजशक्ति' किया है, किन्तु वह भी प्रमाणशून्य ही है। ५२ वें मन्त्र में—'विकिरिद्र' पद के व्याख्यान में उव्वट, महीधर, दयानन्द आदि के व्याख्या-भेदों को लिखा है। 'विकिरीनिषून् द्रावयतीति विकिरिद्र' इत्युव्वटः, किन्तु यह उद्धरण भी भ्रान्तिमूलक ही है। जब कि उव्वट भाष्य में 'विकिरन्निषून् द्रावयतीति विकिरिद्रः' यह उल्लिखित है। 'वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवाः' इनका अर्थ 'तत्तच्चिह्नधारका वृक्षमारोहन्ति' किया है, किन्तु यह अर्थ भी स्वाच्छन्द्यमूलक ही है। 'येऽन्नेषु' इस ६२वें मन्त्र में लिखा है—'ये दुष्टा अन्नादिभोजनानां जलदुग्धादीनां च पात्रेषु पिबत्सु जनेषु प्रहरन्ति, तेषां दूरीकरणाय सहस्रयोजने धनूंषि विस्तृतानि कुर्मः'। अर्थात् जो दुष्ट लोग अन्नादि-भोजन तथा जल-दुग्धादि को पात्रों से पीने वाले जनों पर प्रहार करते हैं, उनको दूर करने के लिये सहस्रयोजन पर धनुषों को हम विस्तृत करते हैं, किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि 'यत् और तत्' दो शब्दों का स्वाभाविक सम्बन्ध रहता है। तथा च—'ये विविध्यन्ति तेषां धन्वानि' यही सम्बन्ध करना उचित है। किन्तु इस औचित्यपूर्ण सम्बन्ध को त्यागकर 'उनको दूर करने के लिये धनुषों का विस्तार' यह अर्थ करना सर्वथा विरुद्ध ही है। किंच, पहले समष्टि कार्य करने के

शक्यन्ते। सिद्धान्ते तु हविषा हविर्दानेन स्तुतिनमस्कारादिभिः परमेश्वरमनुकूलयित्वा तद्द्वारैव धनूंष्यपज्यानि कुर्म इत्यर्थः।

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि ६४-६६ इत्यादिमन्त्रेष्वप्यस्य स्वाच्छन्द्यम्। तथाहि—'द्युलोकस्थसूर्यादिसमाना रुद्रा राजाश्रिता राजगणाः, येषां शस्त्रवर्षणमेव कार्यम्, तेभ्यः समादरोऽस्तु। अन्तरिक्षस्थवायुमेघादितुल्या ये सन्ति, वायुवत्तीव्रवेगवन्तो ये बाणाः सन्ति, तेभ्यो नमः' इत्यर्थो विहितः। मूलमन्त्रेषु सूर्य-वायु-मेघादिबोधका शब्दा न सन्त्येव। तत्र तु ये रुद्रा दिवि सन्ति, येषां वर्षमिषवः, तेभ्यो नमस्कारः। किं राजाश्रितगणानां दिवि स्थितिः सम्भाव्यते? किञ्च, वर्षमिषव इति सामानाधिकरण्यमुक्तम्। तेन वर्षस्य वर्षणस्यैव इषुरूपत्वमुक्तम्। शरवर्षणमेव येषां कर्मेति समानीतम्। तथात्वे च इषूणां वर्षणं येषां कार्यमित्युच्येत? एवमन्नं बाणवद्वशकारीत्यर्थोऽपि चिन्त्यः। पोषकत्वघातकत्वाभ्यामन्नस्य इषूणां चातुल्यत्वं स्पष्टमेव। किञ्च, यदि तेऽन्नरूपेण बाणेनैव वशीकुर्वन्ति, तदा तेभ्यो भयाशङ्कैव नास्ति, पुनः कथं तेभ्यो रक्षणं प्रार्थ्यते। द्युलोकस्थानामन्तरिक्षस्थानां शरवर्षणं वातवेगाश्च बाणास्त्वद्रीत्याप्यनिष्टकराण्येव। तत एव तेभ्यो रक्षणं काम्यते। ततः पृथिवीस्थानामन्नरूपा इषवोऽप्यनिष्टकरा एव मन्तव्याः। अन्यथा पौर्वापर्यवैरूप्यापत्तिः। तस्मात् सनातनसिद्धान्तानुसारिण्येव मन्त्राणां व्याख्या शुद्धा ॥६६॥

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदवाजसनेयिसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां षोडशोऽध्यायः समाप्तः ॥

लिये राजा अथवा सेनापति की प्रार्थना की गई थी, किन्तु अब सहस्रयोजन तक धनुर्विस्तार करने में स्व-कर्तृकत्व हो बता रहे हैं। वास्तविकता तो यह है कि राजा भी सहस्र योजन तक धनुषों का विस्तार नहीं कर सकता। सिद्धान्त की दृष्टि से तो यह अर्थ होता है कि हविर्दान और स्तुति-नमस्कार आदि से परमेश्वर को अपने अनुकूल करके उसके द्वारा ही धनुषों को प्रत्यंचारहित हम करवा देते हैं।

'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि' (६४-६६) इत्यादि मन्त्रों में भी इस व्याख्याकार की स्वच्छन्दता दृष्टिगोचर हो रही है। तथाहि—द्युलोकस्थसूर्यादिसमाना रुद्रा राजाश्रिता राजगणाः, येषां शस्त्रवर्षणमेव कार्यम्, तेभ्यः समादरोऽस्तु। अन्तरिक्षस्थ-वायुमेघादितुल्या ये सन्ति, वायुवत् तीव्र वेगवन्तो ये बाणाः सन्ति तेभ्यो नमः'—द्युलोकस्थ सूर्य आदि के समान राजाश्रित राजगण रुद्र हैं, जिनका शस्त्रवर्षण करना हो कार्य है, उनके लिये हमारा समादर रहे। अन्तरिक्षस्थित वायु, मेघ आदि के तुल्य जो हैं, वायु के समान तीव्र वेगवाले जो बाण हैं, उनको नमस्कार है', यह अर्थ इस व्याख्याता ने किया है। किन्तु मूलभूत मन्त्रों में सूर्य, वायु, मेघ आदि के बोधक शब्द तो कोई है ही नहीं। मूलभूत मन्त्र में तो 'जो रुद्र द्युलोक में हैं, जिनका वर्षण ही इषु(बाण) रूप है, उन रुद्रों को नमस्कार कहा गया है। क्या राजाश्रित गणों की द्युलोक में स्थिति संभव है? किंच, 'वर्षमिषवः' ऐसा सामानाधिकरण्य मन्त्र में उक्त है। अतः वर्षण ही इषुरूप है। अर्थात् 'शरवर्षण ही जिनका कर्म है' यह फलित होता है। तब 'इषुओं की वर्षा करना जिनका कार्य है' यह कहा जायगा। अन्न की बाण से तुलना का जो अर्थ किया है, वह भी चिन्तनीय है, क्योंकि एक पोषक है और दूसरा घातक है। अतः इषुओं की अन्न से तुलना नहीं हो सकती। दोनों को अतुल्यता (असमानता) स्पष्ट है। किंच, यदि वे अन्नरूप बाण से ही वश में कर लेते हैं, तो उनको भय की आशंका ही नहीं होनी चाहिये, तब वे उनसे रक्षण को प्रार्थना क्यों करते हैं? द्युलोक स्थितों और अन्तरिक्ष स्थितों के द्वारा किया जाने वाला शरवर्षण और वातवेग बाण तुम्हारी रीति से भी अनिष्टकारी ही हैं। इसलिये उनसे रक्षा की इच्छा की जाती है। अतः पृथिवी पर स्थिर रहने वालों के अन्नरूप इषु भी अनिष्टकर ही समझने चाहिये। अन्यथा पौर्वापर्यवैरूप्य होगा। तस्मात् सनातन सिद्धान्तानुसारिणी मन्त्रव्याख्या ही शुद्ध है ॥ ६६ ॥

षोडश अध्याय समाप्त ॥

सप्तदशोऽध्यायः

अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणामद्भ्य ओषधीभ्यो वनस्पतिभ्यो अधि सम्भृतं पयः। तां न इषमूर्जं धत्त मरुतः सꣳरराणा अश्मँस्ते क्षुन्मयि त ऊर्क् यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे प्रसिद्धिदाता मरुद्गण ! आप विन्ध्याचल, हिमालय आदि पर्वतों में आश्रित सारभूत बल के कारण जल, औषधि, अश्वत्थ आदि से अधिक सिद्ध तथा मेघजनित जल और गौ से उत्पन्न हुए दुग्ध रूप प्रसिद्ध अन्न और रस को हमारे लिये स्थापित कीजिये, अर्थात् हमें दीजिये। हे प्रस्तररूप सर्वभक्षक अग्निदेव, आपको हवि निरन्तर प्राप्त होती रहे। हे प्रस्तर, तुम्हारा सारभाग मेरी रक्षा करे। हे अग्निदेव, तुम्हारा क्रोध उस मनुष्य को प्राप्त हो, जिससे हम द्वेष करते हैं, अर्थात् जो कोई हमारा शत्रु हो, उसको तुम भस्म कर दो ॥ १ ॥

षोडशेऽध्याये शतरुद्रियहोम उक्तः। सप्तदशे चित्यपरिषेकादिमन्त्रा उच्यन्ते। 'चित्यं परिषिञ्चत्यग्नीद् दक्षिणे निकक्षेऽद्रिं कृत्वाश्मन्नूर्जमित्यद्रेरधि' (का० श्रौ० १८।२।१)। पक्षस्य अपरसन्धिः कक्षः, तस्य समीपं निकक्षम्। अग्नीद् दक्षिणपक्षस्य अपरसन्धिसमीपवर्तिन्यात्मभागे पाषाणं निधाय उदकुम्भमादाय तस्मादद्रेरारभ्य अश्मन्नूर्जमिति मन्त्रेण सपक्षपुच्छमग्निं प्रदक्षिणं जलधारया समन्तात् सिञ्चतीति सूत्रार्थः। यजुर्मरुद्देवत्यम्, आर्षी त्रिष्टुप्।

हे मरुतः ! तां प्रसिद्धाम् इषमन्नम् ऊर्जं रसं च नोऽस्मभ्यं धत्त दत्त, यूयमिति शेषः। किंभूता यूयम् ? संरराणाः सम्यग् रान्ति ददति ये ते संरराणाः, सम्यग् दातारः। 'रा दाने' इत्यस्माद् 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इत्यादादिकस्यापि रातेर्बहुलं श्लुः। श्लौ च द्वित्वम्, शानचि रूपम्। कीदृशीमिषमूर्जं रसरूपाम्। अश्मन् अश्मनि पाषाणे पाषाणमये पर्वते विन्ध्यहिमालयादौ शिश्रियाणाम्, श्रयत इति शिश्रियाणा, ताम्। पूर्ववदेव श्लुर्द्वित्वं कानच्च। अथवा सारभूतां बलहेतुभूताम्। विन्ध्यहिमालयादिपाषाणसन्धिनिर्झरोद्भूताम् इषम् इष्यमाणाम् ऊर्जम्।

यद्वा या अश्मन् अश्नातीत्यश्मा तस्मिन् अशनवति मेघे, पर्वते पर्वाणि सन्ति यस्मिन्नसौ पर्वतः। 'तत्पर्वमरुद्भ्याम्' (पा० सू० ५।२।१२१, वा० ९) इति तप्। तस्मिन् मेघे शिश्रियाणा आश्रिता ऊर्ग् उदकलक्षणा ताम्, वृष्टिसम्पाद्यामित्यर्थः। तथा अद्भ्यो जलेभ्यः, अधि सकाशात्, ओषधीभ्य ओषः प्लोषो दीप्तिर्वा धीयतेऽस्यां सा ओषधी, 'कर्मण्यधिकरणे च' (पा० सू० ३।३।९३) इति किः, 'कृदिकारादक्तिनः' (पा० सू०, ग० सू० ४।१४५) इति ङीषि रूपम्। यद्वा 'ओषं धयतीत्योषधी फलपाकान्ता जातिः' इति क्षीरस्वामी। बहुवचने ओषध्यः, ताभ्यो यवादिभ्यः सकाशात्। वनस्पतिभ्यः अश्वत्थादिभ्यः सकाशात्। अधि सम्भृतम् अधिकं सम्पादितम्, गोद्वारेण पयो दुग्धं च शिश्रियाणाम्। गौः पयः पीत्वा ओषधीः वनस्पतींश्च भक्षयित्वा पयो जनयति। तामुभयरूपां मेघसम्भवां गोसमुत्थां पयोरूपां च इषमूर्जमस्मभ्यं धत्त सम्यग् दत्त, 'मरुतो वै वर्षस्येशते' (श० ९।१।२।५) इति श्रुतेः।

'अश्मंस्ते क्षुदित्यद्री कुम्भं कृत्वा मयि त ऊर्गित्यादायैवं द्विरपरम्' (का० श्रौ० १८।२।२-३)। परिषेकानन्तरमग्नीद् अश्मंस्ते क्षुदिति मन्त्रेण तस्मिन् पाषाणे कुम्भं निधाय 'मयि त ऊर्क्' इति मन्त्रेण पाषाणात् कुम्भमादाय पुनः 'अश्मंस्ते क्षुद्' इति मन्त्रेण कुम्भस्य पाषाणे निधानम्, पुनरपि 'मयि ते' इति कुम्भादानम् 'अश्मन्' इति परिषेकः। एवं पुनर्द्विरपरं परिषिञ्चेदिति सूत्रार्थः। अश्मा देवता, देवीबृहती छन्दः। अश्मन् अश्नातीत्यश्मा तत्सम्बुद्धौ। हे सर्वभक्षक अग्ने, ते तव क्षुत् क्षुधा अस्तु, बहुहविषां भोज्यत्वात्। कुम्भमादत्ते। आशीर्देवता। दैवीबृहती। हे अश्मन्! ते तव ऊर्क् सारभागो मय्यस्तु इति शेषः। 'कुम्भेऽद्रिं कृत्वा दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणास्यति यं द्विष्म इति' (का० श्रौ० १८।२।४)। अध्वर्युस्तस्मिन् कुम्भे तमेव पाषाणं निधाय दक्षिणस्यां श्रोणौ प्राङ्मुखस्तिष्ठन् दक्षिणस्यां दिशि अदूरे तमश्मगर्भं कुम्भं यं द्विष्म इति निरस्येदिति सूत्रार्थः। यं द्विष्म इति निरस्यति साश्मानं घटमिति। यजुर्बृहती शुक् देवता। हे अग्ने, ते तव शुक् शोकः, तं नरमृच्छतु। तं कम्? यं नरं वयं द्विष्मः, अस्मद्द्वेषविषयं तव शोको गच्छतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'अग्नीत् परिषिञ्चति। अग्निरेष यदाग्नीध्रो नो वा आत्मात्मानꣳ हिनस्त्यहिꣳसाया अश्मनोऽध्यश्मनो ह्यापः प्रभवन्ति निकक्षान्निकक्षाद्ध्यापः प्रभवन्ति दक्षिणान्निकक्षाद्दक्षिणाद्धि निकक्षादापः प्रभवन्ति' (श० ९।१।२।४)। पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे शतरुद्रियहोमोऽभिहितः। अथास्मिन्नग्नौ परिषेकधेनूकरणावकर्षणादिकं कर्म अभिधास्यते। आग्नीध्रो दक्षिणकक्षप्रदेशे पाषाणं निधाय 'अश्मन्नूर्जम्' इति मन्त्रेण पाषाणस्योपरि आरभ्य अग्निं चित्यं परिषिञ्चति। यतः संचितोऽग्नी रुद्ररूपत्वादशान्तः, अत एनं शान्त्यर्थमभिषिञ्चेत्। न चात्र संचितस्याग्ने रुद्ररूपत्वेन अशान्तस्य शमनार्थमेव शतरुद्रियहोमो विहितः, तथापि भूयोऽस्य शमनार्थम् 'अथैनमतः परिषिञ्चति' (श० ९।१।२।१) इति श्रुतेः परिषेकः। 'भूय एव शमयति' (श० ९।१।२।१), 'त्रिष्कृत्वः परिषिञ्चति' (श० ९।१।२।२) इति श्रुतिभ्यां च। यद्यपि समाख्यावशाद् अध्वर्योः परिषेकप्राप्तिः, तथापि परिषिक्तस्याग्नेः शमनेऽक्षमत्वादध्वर्यौ परिषेक्तरि हिंसा सम्भाविता स्यात्। आग्नीध्रस्य पुनरग्न्यात्मकत्वेन आत्मनैवात्मनो हिंसाया असम्भवाद् आग्नीध्रकर्तृक एव परिषेकः।

'अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणमिति। अश्मनि वा एषोर्क् पर्वतेषु श्रिता यदापोऽद्भ्य ओषधीभ्यो वनस्पतिभ्यो अधि सम्भृतं पय इत्येतस्माद्ध्येतत् सर्वस्मादधिसम्भृतं''''पयस्तान्न इषमूर्जं धत्त मरुतः सꣳरराणा इति मरुतो वै वर्षस्येशतेऽश्मंस्ते क्षुदिति निदधाति तदश्मनि क्षुधं दधाति तस्मादश्मा नाद्योऽथो स्थिरो वा अश्मा स्थिरा क्षुत्स्थिर एव तत्स्थिरं दधाति मयि त ऊर्गित्यपादत्ते तदात्मन्नूर्जं धत्ते तथा द्वितीयं तथा तृतीयम्' (श० ९।१।२।५)। इत्थं सप्रकारं परिषेकं विधाय तत्र मन्त्रं विधाय व्याचष्टे—आप इति। एषा पर्वतेषु अश्मनि स्थिता ऊर्ग् रसः, पर्वतेषु पाषाणसन्धिभ्योऽपामुत्पत्तेः। अतश्च अश्मन्नूर्जमित्येष भागोऽप एवाभिधत्ते। शिश्रियाणामिति कानचि इयङादेशे रूपम्। 'रराणाः' इत्येतदपि कानजन्तम्। पर्वते अश्मनि शिश्रियाणामाश्रिताम्। ऊर्जं रसमप इत्यर्थः। अशनवति पर्ववति मेघे वा शिश्रियाणां श्रितामूर्जं रसं जलम्। अद्भ्यो वनस्पतिभ्यः पयः क्षीरं गोद्वारा सम्पाद्यते। सम्पादितं च रसं पयो व्याहरन्ति, तद्रसरूपत्वात्। एवं पर्वतोत्थमेघोत्थजलरूपां गोसमुत्थामद्भ्यो वनस्पतिभ्य ओषधीभ्यो जातां पयोरूपामिषमूर्जं हे मरुतः संरराणाः सम्यग्ददाना यूयमस्मभ्यं धत्त। अश्मनि कुम्भस्य निधाने परिषेकेण शान्तस्य रुद्रस्य क्षुधं पाषाणे निहितवान् भवति। यतोऽश्मनि क्षुन्निहिता, तस्मादश्मा नाद्यो न भक्षणीयः, तस्य अग्निक्षुदाधारत्वेन घस्मरत्वात्। ननु तत्रैव किमिति क्षुन्निधीयते? तत्राह—अथो इति। अश्मा कठिनत्वात् स्थिरः, क्षुदपि स्थिरा, इदानीमुपशान्ताया अपि कालान्तरेऽनुवर्तनात्। अश्मनि क्षुधो निधाने स्थिर एव स्थिरं दधाति। अश्मनि निहितस्य कुम्भस्य पुनर्मन्त्रेण स्वीकारं विधत्ते—मयि त इति। तत् तेन स्वीकारेण पुनरात्मनि ऊर्जम् अबात्मिकां धत्ते।

क्षुधोऽपगमनार्थं पूर्वमश्मनि कुम्भो निहितः। आत्मन्यूर्जोधारणार्थं पुनस्तस्य स्वीकारः। परिषेकादि अश्मनिधानान्तं कर्म पुनर्द्विवारं कर्तव्यमित्याह—तथा द्वितीयं तथा तृतीयमिति।

'अथ तमश्मानमुदहरणेऽवधाय। एता दिशꣳ हरन्त्येषा वै नैर्ऋती दिङ् नैर्ऋत्यामेव तद्दिशि शुचं दधाति' (श० ९।१।२।९)। त्रिः पर्येत्य पश्चात् साश्मानं कुम्भं नैर्ऋत्यां दिशि प्रक्षिपेदित्याह—अथेति। 'स वेदेर्दक्षिणायाꣳ श्रोणौ। प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा निरस्यति यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्विति यमेव द्वेष्टि तमस्य शुगृच्छति' (श० ९।१।२।१२)। उक्तप्रकारेण साश्मानं कुम्भं कृत्वा वेदेर्दक्षिणस्यां श्रोणौ प्राङ्मुखस्तिष्ठन् 'यं द्विष्मः' इत्यनेन मन्त्रेण दक्षिणतो निरस्यतीत्याह—स वेदेरित्यादिना।

अध्यात्मपक्षे—हे मरुतः! मरुदुपलक्षिता भगवदंशा देवाः सम्यग्दानशीलाः, तां प्रसिद्धामिषमन्नम् ऊर्जं रसं च यूयं नः अस्मभ्यं धत्तम्। हे अश्मन् सर्वभक्षक अग्ने परमेश्वर, ते तव क्षुद् अशनाया अस्तु भक्तसमर्पितानां हविषां भोज्यत्वात्। हे अश्मन्, ते तव ऊर्क् पराक्रमः, मय्यस्त्विति शेषः। हे अग्ने, ते तव शुक् शोकः क्रोधः, तमृच्छतु यं वयं द्विष्म इति।

दयानन्दस्तु—'हे सम्यग्दानशीला वायुवत् क्रियाकुशला मनुष्याः! यूयं पर्वताकारमेघावयवेषु स्थितां विद्युतं पराक्रममन्नं च नोऽस्मभ्यमाधिक्येन धत्त। जलाशयेभ्यो यवाद्योषधीभ्योऽश्वत्थादिवनस्पतिभ्यः सम्भृतं पयोरसयुतं जलमिषमन्नमूर्जं पराक्रमं विद्युतं धारयत। हे मनुष्य, यत्ते रसः पराक्रमोऽस्ति सोऽपि मय्यस्तु। या ते क्षुत् सा मय्यस्तु। समानसुखदुःखा भूत्वा वयं परस्परसहाया भूत्वा यं दुष्टं द्विष्मः, तं ते तत्र शोको गच्छतु' इति. तदपि न समञ्जसम्, विसङ्गतत्वात्। मुख्यार्थत्यागे गौणार्थाश्रयणे च मानाभावेन वायुवत्क्रियाकुशला मनुष्या इत्यर्थासङ्गतेः। त्वद्रीत्या जडो वायुः। न तत्र क्रियाकौशलमपि विद्यते, कौशलस्य चेतनधर्मत्वात्। अन्नपराक्रमादिकं च स्वबलेनोपार्जनीयं भवति, नान्येभ्यस्तद्याच्ञा युक्तेति कुतः परमेश्वरस्तदुपदिशेत्? अबोषधिवनस्पतीनाम् ऊर्जा कः सम्बन्धः, कथं च ततस्तत्प्राप्तिरित्यनुक्तेश्च। किञ्च, बहूनां द्वेषास्पदमेकस्यैव शोकः कथमृच्छेत्? सिद्धान्ते तु अग्निं सम्बोध्य सर्वे वयं यं द्विष्मः, तं प्रति ते तव शोको गच्छत्वित्येवार्थः। कोऽयं यस्य शोकः सर्वद्वेषास्पदं गच्छत्विति प्रार्थ्यते? नहि कस्यचिद्वचनेनैव अन्यस्य शोकोऽन्यत्र गच्छति, तादृशसामर्थ्यादर्शनात्, अन्यसम्बवेलधर्मस्य अन्यत्र संक्रमणस्याप्रामाणिकत्वात्॥ १॥

इ॒मा मे॑ अग्न॒ इष्ट॑का धे॒नवः॑ स॒न्त्वेका॑ च॒ दश॑ च॒ दश॑ च श॒तं च॑ श॒तं च॑ स॒हस्रं॑ च स॒हस्रं॑ चा॒युतं॑ चा॒युतं॑ च नि॒युतं॑ च नि॒युतं॑ च प्र॒युतं॒ चार्बु॑दं च॒ न्य॑र्बुदं च समु॒द्रश्च॒ मध्यं॒ चान्त॑श्च परा॒र्धश्चै॒ता मे॑ अग्न॒ इष्ट॑का धे॒नवः॑ सन्त्व॒मुत्रा॒मुष्मिँ॑ल्लो॒के॥ २॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, ये पाँच चितियों में स्थापित इष्टकाएँ तुम्हारे प्रसाद से इस लोक में मुझे अभिमत फल देनेवाली गोरूप हों, उनकी संख्या निरन्तर दस गुनी होती जाय। एक को दस से गुणा करने पर दस, दस से दस को गुणा करने पर सौ, सौ को दस से गुणा करने से हजार, हजार को दस गुना करने से दस हजार, दस हजार को दस से गुणा करने पर लाख, लाख से दस लाख, दस लाख से एक करोड़, एक करोड़ से दस करोड़, दस करोड़ से एक अरब, दस अरब, खरब, दस खरब, निखर्व, महापद्म, शंख, समुद्र, मध्य, अन्त और परार्ध संख्या हो जाती हैं। हे अग्निदेव, ये इष्टकाएँ दूसरे जन्म में, दूसरे लोक में मेरी कामनाओं को पूर्ण करें॥ २॥

'अनपेक्षमेत्योदङ् प्राङ् तिष्ठन्नात्मन उपरि प्राँपणान्ते जपतीमा म इति' (का० श्रौ० १८।२।१०)। कुम्भनिरसनानन्तरं पृष्ठतोऽनवलोकयन् यजमानोऽग्निं प्रत्यागत्य दक्षिणवेदिश्रोणिसमीपे ईशानदिगभिमुखस्तिष्ठन् आत्मन

उपरि हस्तौ प्रसार्य चयनप्रदेशं यावत् स्प्रष्टुं शक्नोति तावत् स्पृष्ट्वा 'इमा मे' इति कण्डिकाद्वयं सस्वरं जपेदिति सूत्रार्थः। विकृतिरग्निदेवत्या। तत्र प्रथमा यजुः, द्वितीया बृहती वा पङ्क्तिर्वेत्युव्वटाचार्यः।

हे अग्ने, या इष्टकाः पञ्चसु चितिषूपहिताः, ता इमा मे मह्यं धेनवोऽभिमतफलदोग्ध्र्यः सन्तु, अस्मिँल्लोके, त्वत्प्रसादादिति शेषः। तासां संख्यामाह—एकेत्यादिना। अत्र एकादिपरार्धपर्यन्तैः शब्दैरुत्तरोत्तरं दशदशगुणिता संख्योच्यते। एका एकत्वसंख्याविशिष्टा सा दशगुणिता सती दशसंख्यामापद्यते। सा दशगुणिता शतं सम्पद्यते। पूर्वसंख्यासहितोत्तरसंख्याग्रहणमाधिक्याय। शतं दशगुणितं सहस्रं भवति। सहस्रं दशगुणितमयुतं भवति। अयुतं दशगुणितं नियुतं भवति। नियुतं लक्षम्। नियुतं दशगुणितं प्रयुतं लक्षदशकम्। प्रयुतग्रहणं कोटरुपलक्षकम्। प्रयुतं दशगुणं दशकोटिः। दशकोटिर्दशगुणिता अर्बुदम्। अर्बुदं दशगुणं न्यर्बुदम्। न्यर्बुदशब्देन शङ्कुसंख्या ज्ञेया। एतेषां ग्रहणमब्जसमुद्रान्तर्वर्तिनीनां खर्वपद्मशङ्क्वादिसंख्यानामुपलक्षकमिति काण्वभाष्ये सायणः। न्यर्बुदशब्देनाब्जसंख्या ज्ञेया। अब्जं दशगुणं खर्वम्। खर्वं दशगुणं निखर्वम्। निखर्वं दशगुणं महापद्मम्। महापद्मं दशगुणं शङ्कुः। शङ्कुर्दशगुणः समुद्रः। समुद्रो दशगुणो मध्यम्। मध्यं दशगुणमन्तः। अन्तो दशगुणः परार्धम्। चकारा इतरेतरसमुच्चयार्थाः। एवमेकाद्यष्टादशसंख्यासंज्ञासम्मिता इष्टका एताः, हे अग्ने मे धेनवः, धेनव इवोपजीवनीया इति पूर्वोक्तस्य निगमनम्। एताः संख्या विस्तरशः क्रमरूपेण श्रीमद्वाल्मीकीये रामायणे युद्धकाण्डे अष्टाविंशे सर्गे उपनिबद्धाः। तथाहि—

शतं शतसहस्राणां कोटिमाहुर्मनीषिणः। शतं कोटिसहस्राणां शङ्कुरित्यभिधीयते ॥ ३३ ॥
शतं शङ्कुसहस्राणां महाशङ्कुरिति स्मृतः। महाशङ्कुसहस्राणां शतं वृन्दमिहोच्यते ॥ ३४ ॥
शतं वृन्दसहस्राणां महावृन्दमिति स्मृतम्। महावृन्दसहस्राणां शतं पद्ममिहोच्यते ॥ ३५ ॥
शतं पद्मसहस्राणां महापद्ममिति स्मृतम्। महापद्मसहस्राणां शतं खर्वमिहोच्यते ॥ ३६ ॥
शतं खर्वसहस्राणां समुद्रमभिधीयते। शतं समुद्रसाहस्रं महौघमिति विश्रुतम् ॥ ३७ ॥ इति।

एतद्धेनुभवनं कुत्र प्रार्थ्यते ? तदाह—अमुत्र जन्मान्तरे तथा अमुष्मिन् स्वर्गे लोके। सर्वत्र इष्टदाः सन्त्वित्यर्थः। यद्यपि नियतसंख्याका एवेष्टकाश्चीयन्ते, तथापि मन्त्रसामर्थ्याद् वर्धमाना एकादिपरार्धान्तसंख्या भवन्तीति भाव इति सायणाचार्यः।

इमा म इति द्वाभ्यां कण्डिकाभ्यामग्निमभिमृश्येष्टका धेनूः कुरुते। अग्निस्त्वासां धेनुकरणस्येष्टे इत्यग्निरुच्यते। हे अग्ने, इमा इष्टका मे धेनव इवोपजीवनीयाः सन्तु। अस्मिल्लोक इति शेषः। किंसंख्याकाः ? एकाप्रभृति दशसंख्यागुणिताः परार्धपर्यन्ताः। पूर्वोत्तरसंख्याविशेषसमुच्चितं वर्धमानसंख्येयनिष्ठं संख्याजातमभिधाय अग्निमाह—हे अग्ने, एता मे मम इष्टका धेनवः सन्तु। अमुत्रेति जन्मान्तरनिर्देशः। अमुष्मिल्लोक इति इष्टलोकनिर्देश इत्युव्वटाचार्यः।

अत्र ब्राह्मणम्—'प्रत्येत्येष्टका धेनूः कुरुते। एतद्वा एनं देवाः शतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुचमस्य पाप्मानमपहत्य प्रत्येत्येष्टका धेनूरकुर्वत तथैवैनमयमेतच्छतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुचमस्य पाप्मानमपहत्य प्रत्येत्येष्टका धेनूः कुरुते' (श० ९।१।२।१३)। साश्मानं कुम्भं निरस्य प्रत्येत्येष्टका धेनूः कुर्यादित्याह—प्रत्येत्येति। धेनुकरणं नाम वक्ष्यमाणमन्त्रजपपूर्वकं धेनुरूपेणानुसन्धानम्। शतरुद्रियादिकुम्भनिरसनान्तं कर्म कृत्वा प्रत्येत्य देवैर्धेनुकरणाद् यजमानोऽप्येतेन तथैव कृतवान् भवति। स्पष्टमन्यत्। 'उदङ् प्राङ् तिष्ठन्। पुरस्ताद्वा एषा प्रतीची यजमानं धेनुरुपतिष्ठते दक्षिणतो वै प्रतीचीं धेनुं तिष्ठन्तीमुपसीदन्ति' (श० ९।१।२।१५)। उदङ् प्राङिति ऐशानी दिगुच्यते, तदभिमुखस्तिष्ठन्नित्यर्थः। लोके हि यजमानपूर्वभागे धेनोः प्रत्यङ्मुखतयाऽवस्थानात्, दोग्धॄणां च

प्रत्यङ्मुखाया धेनोर्दक्षिणतो दोहनात् स्वाभिलषितदोहनार्थे इष्टकानां धेनुकरणे तथा करणमुचितमित्याह—पुरस्ताद्वा इति।

'स यत्राभ्याप्नोति। तदभिमृश्यैतद्यजुर्जपतीमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वित्यग्निर्हैतासां धेनुकरणस्येष्टे तस्मादेतावतीनां देवतानामग्निमेवामन्त्रयत एका च दश चान्तश्च····परार्धश्चावरार्धतश्चैवैना एतत्परार्धतश्च परिगृह्य देवा धेनूरकुर्वत तथैवैना अयमेतदवरार्धतश्चैव परार्धतश्च परिगृह्य धेनूः कुरुते तस्मादपि नाद्रियेत बह्वीः कर्तुममुत्र वा एष एता ब्रह्मणा यजुषा बह्वीः कुरुतेऽथ यत्सन्तनोति कामानेव तत्सन्तनोति' (श० ९।१।२।१६)। धेनुकरणे स्थानविशेषस्पर्शपूर्वकं मन्त्रं विधत्ते—स यत्रेति। अग्नेरात्मभागस्योपरि यत्र स्प्रष्टुमाप्नोति, तत्स्थानमभिमृश्य 'इमा मे अग्ने' इति मन्त्रं जपेत्। सतीष्वपि बह्वीषु देवतास्वग्नेः प्राधान्येन सम्बोधने कारणमाह—अग्निर्हैतासामिति। य एष अवराध्यों भूमा अवकृष्टं बहुत्वम् अवरसंख्याचरमसीमा, एकत्वमिति यावत्, ततोऽर्वाचीनायाः संख्याया अभावात्। परार्ध्यो भूमा उत्कृष्टं बहुत्वम् अधिकसंख्याचरमसीमा, परार्ध इति यावत्। तत उत्कृष्टसंख्याया अभावात्। नन्वेवं सति मन्त्रे यत्संख्याकानामिष्टकानां धेनुरूपता सम्पाद्यते, तत्संख्याका इष्टका धेनवः क्रियन्ते, किन्तु उक्तसंख्यातिक्रमाद् बह्वीः कर्तुं नाद्रियेत। कथं तथेष्टकास्तत्संख्याका धेनवः सम्पाद्यन्ते? इत्यत आह—अमुत्र वा इति। अमुष्मिन् लोके। उपलक्षणमेतत्, इह लोकेऽपि ब्रह्मणा बृहता वीर्यवतेत्यर्थः। यजुषा यजुर्मन्त्रेण बह्वीः कुरुते। मन्त्रसामर्थ्याद् अल्पस्य बहुभवनं तैत्तिरीयक आम्नातम्—'धान्यमसि धिनुहि देवानित्याह। एतस्य यजुषो वीर्येण। यावदेका देवता कामयते तावदाहुतिः प्रथते। नहि तदस्ति यत्तावदेव स्याद् यावज्जुहोति' (तै० ब्रा० ३।२।६।३)।

'यद्वेवेष्टका धेनूः कुरुते। वाग्वा अयमग्निर्वाचा हि चितः स यदाहैका च दश चान्तश्च परार्धश्चेति वाग्वा एका वाग् दश वागन्तो वाक् परार्धो वाचमेव तद्देवा धेनुमकुर्वत तथैवैतद्यजमानो वाचमेव धेनुं कुरुतेऽथ यत्सन्तनोति वाचमेव तत्सन्तनोत्येता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिल्लोक इत्येतद्वा एना अस्मिल्लोके धेनूः कुरुतेऽथैना एतदमुष्मिल्लोके धेनूः कुरुते तथो हैनमेता उभयोर्लोकयोर्भुञ्जन्त्यस्मिश्चामुष्मिश्च' (श० ९।१।२।१७)। तदेवेष्टकाधेनुकरणं वाग्धेनुकरणात्मना प्रशंसति—यद्वेवेति। मन्त्ररूपया वाचा चितत्वादग्निर्वागात्मकः। एकत्वादिकाः संख्या अपि वाचा प्रकाश्यमानत्वाद् वागात्मिकाः। एवं च सत्यग्न्यवयवीभूतानामिष्टकानाम् 'एका च दश च' इत्यादिसंख्याप्रकाशकेन मन्त्रेण देवा वाचमेव धेनुमकुर्वन्। अत एव यजमानोऽपि तथैव करोति। एकत्वादिसंख्यानां वागात्मकत्वाद् उत्तरोत्तराधिकसंख्यासन्तानेन वाचमेव भूयसीमविच्छिन्नां सम्पादितवान् भवतीत्याह—अथेति। ननु 'इमा मे अग्न इष्टका धेनवः' इत्यनेन धेनुरूपत्वसम्पादनाद् 'एता मे अग्ने' इत्यादिना पुनरपि तदेव सम्पाद्यत इति पौनरुक्त्याशङ्कां निवारयति—एतद्वा इति। 'इमा मे अग्ने' इत्यनेनैता इष्टका अस्मिन् लोके धेनूः करोति, 'एता मे अग्ने' इत्यनेन स्वर्गे धेनूः करोति। अतः पृथगर्थत्वान्न पुनरुक्तिः।

अध्यात्मपक्षे—चयनादेरपि परमेश्वराराधनरूपत्वात् चित्याग्न्यवयवभूताः पूर्वोक्ता इष्टकाः पूर्वोक्तरीत्या स्पृष्ट्वा अग्निं परमेश्वरं पूर्ववत् सम्बोध्य प्रार्थ्यते। यद्वा कश्चिद् भक्तः पाण्डुरङ्गाय भगवते सशक्तिकाय आसनत्वेन एकैकामिष्टकां दत्त्वा भगवतो मन्दिरादिनिर्माणाय शेषा इष्टकाः प्रयोजयति। तासामिष्टकानामिदं धेनूकरणम्। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'इष्टसुखसाधकत्वाद् यज्ञसामग्र्य इष्टकाः। ता एव गोतुल्या भवन्तु। वेदिगता वा इष्टका एव धेनुतुल्या भवन्त्विति वा। अग्निपदेन तु विद्वान् सम्बोध्यते' इति, सर्वोऽप्ययमर्थ उपेक्षणीयः,

अपर्याप्तत्वात्। तथाहि—एकादिपरार्धान्तानां संख्यानामत्र क उपयोग इति तु नोक्तत्वात्। विदुषः सम्बोधनस्यापि नोपयोगमुक्तवान्। न चात्र मन्त्रबलेन इष्टकानां धेनूकरणम्, न वा बह्वीकरणमत्रोक्तम्। एवं सत्यपर्याप्त एवार्थः ॥ २ ॥

ऋतवः स्थ ऋतावृधं ऋतुष्ठाः स्थ ऋतावृधः।
घृतश्चुतो मधुश्चुतो विराजो नाम कामदुघा अक्षीयमाणाः ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—हे इष्टके, तुम सत्य या यज्ञ को बढ़ाने वाली वसन्त आदि ऋतुरूप हो, यज्ञ की वृद्धि करने वाली वसन्त आदि ऋतुओं में स्थित हो। घृत और मधु का क्षरण करने वाली हो, विराज नाम से प्रसिद्ध हो, तुम सबकी कामना पूरी करने वाली हो। हमारी कामनाएं अक्षय रूप से पूरी करो ॥ ३ ॥

बृहती पङ्क्तिर्वा, अष्टात्रिंशदक्षरत्वाद्विकल्पः। अग्निदेवत्या इष्टकादेवत्या वा। हे इष्टकाः! या यूयम् एवंविधाः स्थ भवथ, ता मे धेनवः सन्त्विति पूर्वेण सम्बन्धः। कीदृश्यः? ऋतवो वसन्तादिरूपाः। पुनः कीदृश्यः? ऋतावध ऋतं सत्यं यज्ञं वा वर्धयन्तीति ऋतावृधः। संहितायामित्यधिकारे दीर्घः पूर्वपदस्य। ऋतुष्ठा ऋतुषु वसन्तादिषु तिष्ठन्तीति। स्थशब्दस्य पुनरुक्तिः पादपूरणाय। ऋतावृध इति पुनर्वचनमादरार्थम्। घृतश्चुतो घृतं श्च्योतन्तीति घृतश्च्युतो घृतस्राविण्यः। छान्दसे यकारलोपे घृतश्चुतः। मधुश्चुतो मधुश्च्योतन्तीति मधुश्च्युतो मधुस्राविण्यः। छान्दसे यकारलोपे मधुश्चुत इति। नामेति प्रसिद्धौ। विराजो विशेषेण राजन्ते दीप्यन्ते इति विराजः। दशलोकम्पृणाभिप्रायमेतत्। अथवा नाम्ना विराज इति ख्याताः। कामदुघाः कामान् दुहन्तीति तथोक्ताः। यत्काम्यं तस्य दोग्ध्र्यः पूरयित्र्यः। 'दुहः कब्घश्च' (पा० सू० ३।२।७०) इति कप्, हकारस्य च घकारः। अक्षीयमाणा न क्षीयन्ते इत्यक्षीयमाणाः क्षयरहिताः। एवंविशेषणविशिष्टा भवथेत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'ऋतवः स्थेति। ऋतवो ह्येता ऋतावृध इति सत्यवृध इत्येतदृतुष्ठाः स्थ ऋतावृध इत्यहोरात्राणि वा इष्टका ऋतुषु वा अहोरात्राणि तिष्ठन्ति घृतश्चुतो मधुश्चुत इति तदेना घृतश्चुतश्च मधुश्चुतश्च कुरुते' (श० ९।१।२।१८)। तत्रैव मन्त्रान्तरं प्रदर्शयन् व्याचष्टे—ऋतवः स्थेति। एता इष्टका ऋतवः खलु, संवत्सरात्मकस्य अग्नेरवयवत्वात्। अहोरात्राणि वा इष्टकाः, तथात्वादेव। 'विराजो नामेति। एतद्वै देवा एता इष्टका नामभिरुपाह्वयन्त यथायथैना एतदाचक्षते ता एनानभ्युपावर्तन्ताथ लोकम्पृणा एव पराच्यस्तस्थुरविहित-नाम्न्यो निमेमिहत्यस्ता विराजो नामाकुर्वत ता एनानभ्युपावर्तन्त तस्माद्दशदशेष्टका उपधाय लोकम्पृणयाऽभि-मन्त्रयते तदेना विराजः कुरुते दशाक्षरा हि विराट् कामदुघा अक्षीयमाणा इति तदेनाः कामदुघा अक्षीयमाणाः कुरुते' (श० १।२।१९)। एतस्मिन् काले खलु देवा यथायथा एता इष्टका आचक्षाणा यैर्नामभिरेना इष्टका आचक्षते जनास्तैरेव नामभिः स्वयमप्युपाह्वयन्त। ततश्चैता इष्टका एनान् देवान् अभ्युपावर्तन्त समीपमगमन्। अथ लोकम्पृणा इत्येता अविहितनाम्न्यो धेनुरूपतया निमेमिहत्यो नितरां मेहनं कुर्वन्त्यः, अत्यर्थं मूत्रं विसृजन्त्यः पराङ्मुख्य एव तस्थुः। अन्यासामिष्टकानां स्वयमातृण्णा-रेतःसिग्विश्वज्योतिरपस्या-प्राणभृदित्यादिकानि नामानि विद्यन्ते। लोकम्पृणानां तु तथा प्रातिस्विकनामधेयाभावादितरेष्टकावत् स्वसमानाह्वानेन विमुखीभूता अवस्थिता इत्यर्थः। पश्चाद् देवास्ता इष्टका विराड्नाम्नीरकुर्वत, अतः स्वयमपि तत्समीपमगमन्। अत एव तदुपधाना-वसरेऽपि लोकम्पृणा दश दशोपधाय मन्त्रेण अभिमन्त्रयते। एवं च सति विराजो दशाक्षरत्वादेता विराजः कृतवान् भवतीति मन्त्रे लोकम्पृणा उद्दिश्य विराजो नामेति प्रयुक्तम्। स्पष्टमन्यद् ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे ता इष्टकाः प्रत्याह—हे इष्टकाः, या यूयम् ऋतवः स्थ, संवत्सरात्मकस्याग्नेरवयवत्व-सामान्यात् तत्तदृतुसुखदत्वाद्वा। ऋतावृधः सत्यस्य वर्धयित्र्यश्च या यूयम् ऋतुष्ठा ऋतुषु वसन्तादिषु तिष्ठन्तीति तथोक्ता अहोरात्ररूपाः। आदरार्थं पुनर्वचनम्। ता यूयं घृतश्चुतश्च मधुश्चुतश्च। अग्निसम्बन्धान्मन्त्रप्रभावाच्च घृतमधूपलक्षितामृतादिरसस्राविण्यो भवथ। विराजो विशेषेण राजमानाः कामदुघा यत्काम्यं तस्य पूरयित्र्यः अक्षीयमाणाः परिपूर्यमाणाश्च भवथ, भगवत्सम्बन्धान्मन्त्रप्रभावाच्च जडानामपि तथात्वात्। अधिष्ठातॄन् देवांस्तु व्रीहियवकुशसमिदादिष्वप्यभ्युपगच्छन्त्येव वैदिकाः। अध्यात्मरीत्या तु 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छा० ३।१४।१) इति सर्वस्यैव ब्रह्मचैतन्यात्मकत्वाद् व्यक्ताग्निसम्बन्धेन काष्ठादिष्वग्नेरभिव्यक्तिवद् व्यक्तब्रह्मसम्बन्धेन तत्सम्बन्धिनीष्विष्टकास्वपि तादृशैश्वर्यं नानुपपन्नम्।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रियः, या यूयम् ऋतव ऋतुतुल्याः स्थ ऋतावृधं उदकेन नद्य इव सत्येन वर्धन-शीलाः, ऋतुष्ठा वसन्तादिषु ऋतुषु स्थिता वा सत्यवर्धयित्र्यो घृतश्चुतो घृतस्राविण्यो मधुश्चुतो मधुररसेनोपेता अक्षीयमाणा रक्षितुं योग्या विविधगुणैः प्रकाशमानाः कामपूरिका धेनव इवास्मान् सुखयन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, स्त्रीषु वसन्तादिकर्तुरूपत्वासम्भवेन गौणार्थाश्रयणस्य निष्प्रमाण-त्वाच्च। 'धेनवः' इति पदस्य मन्त्रेऽभावात्, इवकारसहितस्य तस्याध्याहारे प्रमाणाभावाच्च। अक्षीयमाणा इत्यस्य रक्षितुं योग्या इति व्याख्यानं चिन्त्यमेव॥ ३॥

समुद्रस्य त्वावकयाग्ने परि व्ययामसि। पावको अस्मभ्यं शिवो भव॥ ४॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! समुद्र, तालाब आदि के जल में फैलने वाले शैवाल द्वारा तुमको चारों तरफ से वेष्टित करता हूँ। हे अग्निदेव, हमारे लिये आप शैवाल के समान शोधक और कल्याणकारी बनो, अर्थात् शैवाल जैसे जल को स्वच्छ रखता है, उसी प्रकार आप हमारे मन को पवित्र रखो॥ ४॥

सप्तभिर्ऋग्भिर्विकर्षति आग्नेयीभिः। 'मण्डूकावकावेतसशाखा वेणौ बद्ध्वाऽवकर्षति मन्त्रकृष्टवत् समु-द्रस्य त्वेति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १८।२।११)। मण्डूक-शैवाल-वेतसशाखा वंशे बध्वा तं हस्तेनादाय तेन अग्निक्षेत्रं प्रत्यृचं कृषेदिति सूत्रार्थः। आद्यया दक्षिणश्रोणेरारभ्य दक्षिणांसं यावत् कर्षति। द्वे गायत्र्यौ अग्निदेवत्ये। हे अग्ने, समुद्रस्य सम्यग् उन्दति क्लिन्नं करोतीति समुद्रो जलम्। तस्य अवकया शैवालेन त्वा त्वां परिव्ययामसि परितो वेष्टयामः। 'इदन्तो मसि' (पा० सू० ७।१।४६) इति निपातः। उपरिभागे सर्वत्र विकर्षाम इत्यर्थः। त्वं च अस्मभ्यं पावकः शोधकः शिवः शान्तश्च भव।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं विकर्षति। मण्डूकेनावकया वेतसशाखयैतद्वा एनं देवाः शतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुचमस्य पाप्मानमपहत्याथैनमेतद् भूय एवाशमयंस्तथैवैनमयमेतच्छतरुद्रियेण चाद्भिश्च शमयित्वा शुच-मस्य पाप्मानमपहत्याथैनमेतद् भूय एव शमयति सर्वतो विकर्षति सर्वत एवैनमेतच्छमयति' (श० ९।१।२।२०)। प्रसन्ना कण्डिका। 'यद्वेवैनं विकर्षति। एतद्वै यत्रैतं प्राणा ऋषयोऽग्रेऽग्निं समस्कुर्वंस्तमद्भिरवोक्षंस्ता आपः समस्कन्दंस्ते मण्डूका अभवन्' (श० ९।१।२।२१)। एनमग्निं मण्डूकादिभिर्विकर्षतीति यत् तत्र एतत् कारणं खल्विति कारणाभिधानं प्रतिज्ञाय यत्रैतमित्यादिना तत्प्रदर्श्यते—अग्रे पूर्वं यत्र यस्मिन् प्रस्तावे ऋषिशब्दाभिधेयाः प्राणा एतमग्निं समस्कुर्वन्, तदा ते प्राणास्तमग्निमद्भिरवोक्षितवन्तः। ता आपः समस्कन्दन्। ते मण्डूका अभवन्। 'ताः प्रजापतिमब्रुवन्। यद्वै नः कमभूदवाक्तदगादिति सोऽब्रवीदेष व एतस्य वनस्पतिर्वेत्त्विति वेत्तु स वेत्तु सो ह वै तं वेतस इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवा अथ यदब्रुवन्नवाङ् नः कमगादिति ता अवाक्का

अभवन्नवाक्का ह वै ता अवका इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवास्ता हैतास्त्रय्य आपो यन्मण्डूकोऽवका वेतस-शाखैताभिरेवैनमेतत्त्रयीभिरद्भिः शमयति' (श० ९।१।२।२८)। ततः प्रजापतिं प्रति नोऽस्माकं कं रसोऽवाग् अगात् किञ्चिदनुक्त्वैव मूकं सद् गतमित्यद्भिरुक्ते स प्रजापतिः वः एतस्य रसस्य एष वनस्पतिर्वेत्तु इत्यब्रवीत्। एष इति प्रत्यक्षेण निर्दिष्टः, तं वनस्पतिर्वेतु स इति परोक्षेणाप्याह। यत एवमुक्तं तेन वेत्तुसोऽभूत्। तं देवाः परोक्षकामत्वाद् वेतस इत्याचक्षते। अथ आपो यदब्रुवन् अवाक् तदगादिति तस्मात् स रसोऽवाक्का अभवन्। विधेयप्राधान्येन बहुत्वम्। ताश्च देवाः परोक्षकामत्वादवका इत्याचक्षते।

'यद्वेवैनं विकर्षति। जायत एष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्मा अन्नाय जायते सर्वं वेतदन्नं यन्मण्डूकोऽवका वेतसशाखा पशवश्च ह्येता आपश्च वनस्पतयश्च सर्वेणैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति' (श० ९।१।२।२३)। उक्तप्रकारेण मण्डूकाः साक्षादेवापः, वेतसोऽपि तद्रसवेदनात्, अवकास्तु रसात्मकत्वादिति सर्वेऽप्येते मण्डूकादयः अबात्मकाः। त्रिविधा अपि आपः खलु। तस्मात्तैराकर्षणे एताभिरेनमग्निं शमितवान् भवति। पूर्वं प्रजासृष्टि-निबन्धनेन परासुः प्रजापतिः, इदानीं चयनलक्षणान्नसंस्कारेण प्राणादीनां निधानात् पुनरुत्पद्यते। जायमानस्य च सर्वान्नभोगार्थमेवोत्पत्तिः। तदुक्तं सर्वस्मा अन्नाय जायत इति। मण्डूकादयश्च कृत्स्नमन्नं तदाह—पशवश्च ह्येता इति। यद्यप्येते मण्डूकादयः सर्वेऽप्यबात्मकाः, तथाप्यवकानां जलैकायतनत्वाद् वेतसानामप्प्ररूढ-वनस्पतिरूपत्वाच्च ता आप इत्युक्तम्। एवं सति मण्डूकादिभिर्विकर्षणेन एनमग्निं सर्वेणैवान्नेन प्रीणाति। 'मण्डूकः पशूनामनुपजीवनीयतमो····अवका अपामनुपजीवनीयतमा····वेतसो वनस्पतीनामनुपजीवनीयतमः' (श० ९।१।२।२४)। विकर्षणेन वान्तरसा मण्डूकादयोऽनुपजीवनीया आसन्नित्याह श्रुतिः। पशूनां मध्ये मण्डूकेन विकर्षणाद् गतसारत्वात् स पश्वन्तरवदुपकारको न भवति। गतसारत्वादेव अवका अपि भक्ष्याः पेया वा न भवन्ति। वेतसोऽपि वनस्पत्यन्तरवत् पुष्पफलादिनोपकारको न भवति। 'तानि वंꣳशे प्रबध्य। दक्षिणार्धनाग्नेरन्तरेण परिश्रितः प्रागग्रे विकर्षति समुद्रस्य त्वावकयाग्ने परिव्ययामसि। पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भवेति समुद्रियाभिस्त्वाद्भिः शमयाम इत्येतत्' (श० ९।१।२।२५)। हे अग्ने, त्वां समुद्रसम्बन्धिन्या अवकया परिव्ययामसि परितः संवृणुमः। तेन संवरणेन शान्तस्त्वमस्मदर्थं पावयति शोधयतीति पावकः सन् शिव आनुकूल्यवान् भवेति मन्त्रार्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, समुद्रस्य समुद्रतुल्यस्य संसारस्य सम्बन्धिन्या अवकया अवति पालयतीति अवका प्रीतिः, तया पशुपुत्रादिसम्बन्धिन्या प्रीत्या त्वां परिवेष्टयामः। संसारात् प्रीतिमपनीय रागानुगया त्वां भजाम इत्यर्थः। संसारसम्बन्धादशुद्धान् अस्मान् पावकः पावयिता सन् अस्मभ्यं शिवः सुखकरो भव।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने सभापते, यथा वयं समुद्रस्य आकाशस्य मध्ये अवकया रक्षणक्रियया वर्तमानाः परिव्ययामसि प्राप्नुमः, तथैव पावकः पवित्रकारकस्त्वमस्मभ्यं शिवो मङ्गलकरो भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। कथं च स आकाशमध्ये स्यात्? कथं च रक्षणक्रियया के वा कथं प्राप्नुवन्तीत्याद्यनुक्तेः ॥ ४ ॥

हिमस्य॑ त्वा ज॒रायु॑णाग्ने॒ परि॑व्ययामसि । पा॒व॒को अ॒स्मभ्य॑ꣳ शि॒वो भ॑व ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, मैं आपको हिम के जरायु के समान उत्पत्तिस्थान शैवाल से सब ओर से वेष्टित करता हूँ। आप हमारे लिये पूर्व मन्त्र में उपदिष्ट विधि से हमारे मन के शोधक और कल्याणकारी बनो ॥ ५ ॥

दक्षिणश्रोण्याद्युत्तरश्रोण्यन्तं कर्षति अनया ऋचा। हे अग्ने, हिमस्य शैत्यस्य जरायुणा जरायुवदुत्पत्ति-स्थानीयेन शैवालेन त्वां परिव्ययामसि तव संवरणं कुर्मः। त्वमस्मभ्यं पावकः शोधकः सन् शिवो भव। यद्वा हे अग्ने,

हिमस्य शीतस्य जरायुणा प्रशीतेन प्रकृष्टेन शीतेन त्वां परिवेष्टयामः । शेषमुक्तप्रायम् । अयमभिप्रायः—यत्खलु शीतस्यापि प्रशीतं तद्धिमस्य जरायुः । जरायुशब्दो गर्भवेष्टनवचनः । जरायुर्यथा गर्भमाच्छादयति तद्वदधिकं शीतमप्यल्पशीतं वेष्टयति । तद्धिमस्य जरायुणेति शीतादप्यधिकं प्रशीतमुच्यते । अत्रात्मका मण्डूकादय एव हिमस्य जरायुणेत्येतेन विवक्ष्यन्ते । तेन शब्देन तेषामभिधानं प्रकृष्टशमनसमर्थत्वसूचनार्थमिति । तदेव ब्राह्मणं वक्ति—'यद्वै शीतस्य प्रशीतं तद्धिमस्य जरायु शीतस्य त्वा प्रशीतेन शमयाम इत्येतत्' (श० ९।१।२।२६) ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, हिमस्य हिमतुल्यस्य प्रशस्यस्य जरायुणा जरायुवत्तस्यापि रक्षकेण भक्तियोगेन त्वां परिवेष्टयामः । स त्वं तेन पावकः सन् अस्मभ्यं शिवः परमकल्याणरूपो भव ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, वयं हिमस्य जरायुणा जरयित्रा वस्त्रेण अग्निना वा त्वामाच्छादयामः' इति, तदपि विसङ्गतमेव, सभापतेर्वस्त्राद्यभावकल्पनानुपपत्तेः, रूढेर्योगापहारकत्वेनापि तथानुपपत्तेश्च ॥ ५ ॥

उप॒ ज्मन्नुप॑ वेत॒सेऽव॑तर न॒दीष्वा । अग्ने॑ पि॒त्तम॒पाम॑सि॒ मण्डू॑कि॒ ताभि॒राग॑हि॒ सेमं नो॑ य॒ज्ञं पा॑व॒कव॑र्णꣳ शि॒वं कृ॑धि ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, आप पृथ्वी के ऊपर आओ और वेतस शाखा का सहारा लो, नदियों में स्थित शैवाल का सहारा लो । हे अग्निदेव, आप जल को निर्मल करने वाले हो । हे मण्डूकि, तुम भी जल की पित्तस्वरूप हो, अर्थात् उसको निर्मल करती हो, अतः जल के साथ तुम भी अग्नि की शान्ति के निमित्त यहाँ आओ । तुम हमारे इस चयन यज्ञ को अग्नि के समान तेजस्वी बनाओ ॥ ६ ॥

उत्तरश्रोणेरुत्तरांसपर्यन्तं कर्षति । परिनिष्ठितकण्डिका तु त्रिष्टुबेव, चतुश्चत्वारिंशदक्षरत्वात् । 'नदीषु + आ, सा + इमम्' इति व्यूहद्वयेन द्व्यधिका त्रिष्टुप्, द्व्यूना जगती वा । हे अग्ने, त्वम् ज्मन् ज्मा पृथिवी । सप्तम्या लुक् । ज्मनि पृथिव्याम् उपावतर आगच्छ । 'ज्मा' (निघ० १।१।३) इति पृथ्वीनामसु । तथा वेतसे वेतसशाखायाम् उपावतर । नदीषु आ । आ उपसर्गोऽप्यर्थे । नदीषु आ अवकासु उपावतर । नदीशब्देन तत्प्रभवा अवका लक्षणया बोध्यन्ते । यद्वा अधिशब्देन लक्षणया नद्या अधिवर्तमाना अवका बोध्यन्ते । मण्डूकावकावेतसशाखाः कर्षणार्थं वेणौ बद्धाः सन्ति । तमेवार्थं मन्त्रो वदति । हे अग्ने, त्वम् अपां पित्तं तेजोऽसि । यो यस्यावयवः, स तं न हिनस्ति तद्धर्मा च भवति । तस्मात्त्वां वच्मि ज्मनि नदीष्ववतरेति । एवमग्निं सम्बोध्य मण्डूकीमाह—हे मण्डूकि ! मण्डूकपत्नि, ताभिः पूर्वोक्ताभिरद्भिः सह आगहि आगच्छ । छान्दसे शपि लुप्ते 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (पा० सू० ६।४।३७) इति मकारलोपः । हे मण्डूकि, मण्डूकस्य स्त्री मण्डूकी, तत्सम्बुद्धौ, यासामग्निः पित्तम्, यत्र त्वमुत्पन्ना वा, या त्वमग्नेः शान्त्यै इतस्ततो नीयसे सा त्वमस्माभिः क्रियमाणमिमं चयनलक्षणं यज्ञं पावकवर्णमग्निसमानतेजस्कम्, शिवं फलप्रदत्वेन शान्तं च कुरु कृधि सम्पादय ।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरार्धेन प्राक् । उप ज्मन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकि ताभिरागहि सेयं नो यज्ञं पावकवर्णꣳ शिवं कृधीति यथैव यजुस्तथा बन्धुः' (श० ९।१।२।२७) । पश्चाद्भागे विकर्षणानन्तरमुत्तरभागं प्रागपवर्गं विकर्षेदित्याह—अथोत्तरार्धेनेति । विकर्षणे मन्त्रमाह—उप ज्मन्निति ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं ज्मनि पृथिव्यामुपावतर रामकृष्णादिरूपेण आविर्भव । तथा वेतसे वेतसाद्युपलक्षितेऽरण्ये वराहनृसिंहादिरूपेण आविर्भव, तत्तत्कार्यसिद्ध्यर्थमिति शेषः । हे अग्ने, त्वमपां

जलानां पित्तं तेजोऽसि, वाडवाग्निरूपेण। यद्वा अपां कर्माङ्गसमवेतानां सोमाज्यपयआदीनाम्, पित्तं कर्मरूपं तेजोऽसि। अपां लोकानां पित्तं दीपकं तेजोऽसि। हे मण्डूकि ! दिव्यैश्वर्यमाधुर्यादिमण्डनैर्मण्डितेऽलङ्कृते महाशक्ते, ताभिः सीता-राधा-रुक्मिणीरूपाभिः सहागत्य नोऽस्माकमिममाराधनलक्षणं यज्ञं पावकवर्णं तेजस्विनं शिवं सुखप्रदं कृधि कुरु।

दयानन्दस्तु—'हे अग्नितुल्ये तेजस्विनि विदुषि मण्डूकि अलङ्कृते, त्वं पृथिव्यां नदीषु तथा वेतसे पदार्थविस्तारेऽवतर पारगा भव। यथा अग्निरपां पित्तं तेजोरूपमस्ति, तथैव त्वं ताभिर्जलैः प्राणैश्च न उप आगहि। सा त्वमिमं गृहाश्रमलक्षणं यज्ञं पावकवर्णं शिवं कृधि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदस्य तादृशार्थत्वे मानाभावात्। मण्डूकीपदस्य अलङ्कृतार्थतापि चिन्त्यैव। उपावतरेत्यस्य पारगमनार्थत्वे सप्तम्याः कथं सङ्गतिः ? अग्नेः सम्बन्धनं च न तत्रानुकूलमस्तीति क्रियापि विसङ्गतैव स्यात्। यज्ञपदस्य गृहार्थतापि गौण्या वृत्त्यैव वक्तव्या। न च अग्निवर्णतापि तत्र समञ्जसा ॥ ६ ॥

अपामिदं न्ययनꣳ समुद्रस्य निवेशनम्। अन्यांस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भव ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—इस चिति में स्थित अग्नि का यह स्थान, जल की प्राप्ति का साधन, अग्नि के गृहरूप समुद्र में स्थित है। हे अग्निदेव, आपकी ज्वाला हमारे विरोधियों को तपावे, उनको क्लेश दे। इसके विपरीत आपकी वही ज्वाला हमारे लिये शोधक, अर्थात् कल्याणकारी हो ॥ ७ ॥

उत्तरांसाद्दक्षिणांसं कृषति। आग्नेयी बृहती। इदं चित्याग्निस्थानं मण्डूक्यवकावेतसलक्षणं वा अपां न्ययनम्, नितरामीयते प्राप्यते येन तन्न्ययनम्, नियमत उदकप्राप्तिसाधनम्, यज्ञद्वारा अपां प्राप्तिसम्भवात्, तन्मध्ये लीनत्वेन तदयनत्वं सम्भवतीति तत्राह—समुद्रस्य जलस्य निवेशनम्। निविशतेऽस्मिन्निति निवेशनं गृहस्थानीयम्, अपां बाहुल्यात्। नह्यमहीयसीनामपामयनमेतत्, अपि तु समुद्रस्य जलनिधेरिव निवेशनम्। तथाविधेन मण्डूकादिना विक्रुष्यसे, अतो ब्रवीमि—हे तादृशाग्ने, ते तव हेतयोऽस्त्राणि अर्चींषि अस्मद् अस्मत्तोऽन्यान् विरोधिनः, तपन्तु दहन्तु। अस्मभ्यम् अस्मदर्थं त्वं पावकः शोधकः सन् शिवो भव।

तथेवात्र ब्राह्मणम्—'अथ पूर्वार्धेन दक्षिणा। अपामिदं न्ययनꣳ ....शिवो भवेति यथैव यजुस्तथा बन्धुः.... (श० ९।१।२।२८)। निगदव्याख्यातमेतत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, इदं जगद् अपां अबुपलक्षितकर्मणां नितरामयनं कर्म कार्यत्वात् कर्मक्षेत्रत्वाच्च। अपां कर्मणां निवेशनं गृहस्थानीयम्। हे अग्ने परमेश्वर, ते तव अस्त्राणि चक्रपिनाकधनुरादीनि, अस्मत्तोऽन्यान् तपन्तु, बाह्यान् आन्तरांश्च शत्रून् क्लेशयन्त्वित्यर्थः। त्वमस्मभ्यं पावकः शोधकः सन् शिवो भव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् पुरुष, इदमाकाशमपां प्राणानां वा न्ययनं निश्चितं स्थानम्। तस्य आकाशस्य निवेशनं स्थितितुल्यं गृहाश्रमं प्राप्य पावकः पवित्रं कर्म कुर्वन् त्वमस्मभ्यं शिवो भव' इति, तदपि निर्गलम्, इदंपदेन आकाशग्रहणे मानाभावात्, निवेशनपदेन निश्चितस्थितितुल्यगृहाश्रमग्रहणस्य निर्मूलत्वात् ॥ ७ ॥

अग्ने॑ पावक रो॒चिषा॑ म॒न्द्रया॑ देवजि॒ह्वया॑ । आ दे॒वान् व॑क्षि॒ यक्षि॑ च ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—हे शोधक अग्निदेव, तुम्हारी ये ज्वालाएं आहवनीयरूप और आनन्दरूप होकर होता की वाणी में विराजमान हों, सब देवताओं का आह्वान करें, उनको आहुति दें ॥ ८ ॥

'पक्षपुच्छानि चाभ्यात्ममग्ने पावक रोचिषेति' (का० श्रौ० १८।२।११)। पक्षपुच्छानि प्रान्तादारभ्य अभ्यात्मम् आत्मसम्मुखं सन्धिपर्यन्तं कर्षति प्रत्यृचमग्ने इति दक्षिणं पक्षं स न इति पुच्छं पावकयेत्युत्तरं पक्षमिति सूत्रार्थः। आग्नेयी गायत्री वसूयुदृष्टा। हे अग्ने पावक! शोधक देव द्योतनात्मक, रोचिषा दीप्तिमत्या मन्द्रया गम्भीरया जिह्वया वाचा देवान् वक्षि आह्वय, धातूनामनेकार्थत्वात्। यक्षि च यज च। यद्वा हे अग्ने पावक पावयितः, रोचिषा रोचनेन ज्वालासमूहेन आहवनीयात्मना स्थित इति शेषः। मन्द्रया मदनीयया च देवजिह्वया होतृवाग्रूपेण स्थित इति शेषः। आवक्षि आवह, यक्षि च यज च। द्वौ ह्यग्नेरधिकारौ—हौत्रं चाहवनीयरूपेण हविर्ग्रहणं च। अत एवाग्निरुभयथा स्तूयते। वहतेर्यजेश्च लोटि मध्यमैकवचने शपि लुप्ते 'हो ढः' (पा०सू० ८।२।३१) इति ढत्वे, 'षढोः कः सि' (पा० सू० ८।२।४१) इति कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' (पा० सू० ८।३।५९) इति मूर्धन्यादेशे वक्षीति, 'व्रश्चभ्रस्ज......' (पा० सू० ८।२।३६) इति षत्वे, 'षढोः कः सि' (पा० सू० ८।२।४१) इति कत्वे मूर्धन्यादेशे च यक्षीति रूपम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'आत्मानमग्रे विकर्षति। आत्मा ह्येवाग्रे सम्भवतः सम्भवत्यथ दक्षिणं पक्षमथ पुच्छमथोत्तरं तद्दक्षिणावृत् तद्धि देवत्रा' (श० ९।१।२।२९)। आत्मभागविकर्षणस्य प्राथमिकत्वमुपपादयति—आत्मानमिति। दक्षिणार्धेनेत्यादिना विहितं विकर्षणमग्नेरात्मभाग एव क्रियते। अतश्चाग्रे आत्मानं विकर्षतीत्येतदुपपन्नम्। यतः सम्भवतो जायमानस्य करचरणाद्यवयवजातस्य मध्ये पूर्वमात्मभाग एव सम्भवति। तत्सकाशात् करचरणादीनामुत्पत्तिरिति। अथ दक्षिणपक्षादीनां विकर्षणं विधाय पूर्ववत् प्रशंसति—अथेति। 'अभ्यात्मं पक्षपुच्छानि विकर्षति। अभ्यात्ममेव तच्छान्तिं धत्ते परस्तादर्वाक् परस्तादेव तदर्वाचोꣳ शान्तिं धत्तेऽग्ने पावक रोचिषेति दक्षिणं पक्षꣳ स नः पावक दीदिव इति पुच्छं पावकया यश्चितयन्त्या कृपेत्युत्तरं पावकं पावकमिति यद्वै शिवꣳ शान्तं तत्पावकꣳ शमयत्येवैनमेतत्' (श० ९।१।२।३०)। पक्षादीनां विकर्षणमात्मभागमभिलक्ष्य कुर्यादित्याह—अभ्यात्ममिति। अग्निरूपमात्मानं प्रतीत्यभ्यात्मम्। विकर्षणानुसारेण शान्तिं निहितवान् भवतीत्याह—अभ्यात्ममेवेति। दक्षिणपक्षादीनां विकर्षणेषु मन्त्रान् विधत्ते—अग्ने पावक रोचिषेत्यादिना। मन्त्रेषु पावकशब्दप्रयोगस्याभिप्रायमाह—पावकं पावकमिति। यद्वै वस्तु शिवं तस्यैवार्थप्रदर्शनम्—शान्तमिति तत्पावकं भवतीति। शान्तं शान्तेः शुद्धिसम्पादकत्वात्। अतश्चाग्नेः शान्ततासिद्धये तेन शब्देन सम्बोधनमिति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीराम परमेश्वर हे पावक शोधयितः, रावणादित्रिलोकीकण्टकशोधकत्वात्, परमेश्वरस्यैव सर्वशुद्धिहेतुत्वात्। हे देव द्योतनात्मक स्वप्रकाश, रोचिषा दीप्तिमत्या ज्ञानोत्पत्तिहेतुभूतया मन्द्रया सुखदायिन्या गम्भीरया जिह्वया वेदलक्षणया वाचा देवानाहूय देवान् यज च। 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः' (भा० पु० ५।१९।५) इति श्रीमद्भागवतमहापुराणवचनात्।

दयानन्दस्तु—'हे पावक, जनानां हृदयशोधक देव सुन्दर अग्ने विद्याप्रकाशक, मन्द्रया आनन्दसाधयित्र्या जिह्वया सत्यप्रियवाण्या रोचिषा प्रकाशेन देवान् विदुषो दिव्यगुणान् वा आवक्षि उपदिशसि यक्षि समागमं करोषि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणतरार्थश्रयणान्निरर्थकत्वाच्च। नहि व्यवहारानुवादाय आम्नायः प्रवर्तते, अप्राप्तकार्यार्थित्वेनैव तत्सार्थक्यात्, 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (मी० सू० १।२।१) इति न्यायात् ॥ ८ ॥

स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ२॥ इहावह । उप यज्ञꣳ हविश्च नः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे शोधक दीप्तिमान् अग्निदेव, तुम हमारे इस यज्ञ में देवताओं को बुलाओ, हमारी यज्ञ में दी हुई आहुति के समीप देवताओं को लाओ ॥ ९ ॥

गायत्री आग्नेयी मेधातिथिदृष्टा। हे पावक पावयितः, हे दीदिवः, दिदेवेति दीदिवान्, तत्सम्बुद्धौ हे दीप्तिमन्। 'दिवु क्रीडादिषु' छन्दसि भूतसामान्ये लिट्, 'क्वसुश्च' (पा० सू० ३।२।१०७) इति क्वसुः, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।८) इति द्वित्वम्, 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इत्याभ्यासदीर्घः, 'लोपो व्योर्वलि' (पा० सू० ६।१।६६) इति वलोपः। हे अग्ने, इह नोऽस्माकं यज्ञे देवान् आवह आनय। उप यज्ञं यज्ञस्य समीपं नोऽस्माकं हविश्च देवान् आवह प्रापय।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, पावक पावयितः, हे दीदिवः, देवान् आवह देवान् यज।

दयानन्दस्तु—'हे पावक दीदिवः, तेजस्विन् शत्रुदाहक! इह संसारे यज्ञं गृहाश्रमं देवान् विदुषो दिव्यगुणान् वा नोऽस्मभ्यमुपावह' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणस्य निर्मूलत्वात् ॥ ९ ॥

पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन्रुरुच उषसो न भानुना। तूर्वन्न यामन्नेतशस्य नू रण आ यो घृणे न ततृषाणो अजरः ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—ये अग्निदेव, पवित्र करने वाले, दृढ़ चयन करने वाले सामर्थ्य से पृथ्वी पर उसी प्रकार शोभा को प्राप्त करते हैं, जैसे उषाकाल अपने प्रकाश से शोभायमान होता है। ये अग्निदेव पूर्णाहुति के पान की इच्छा करने वाले, जरारहित, गगन में कुशल घोड़ों से युद्ध में सहायता लेने वाले, शत्रुओं का नाश करते हुए प्रकाशमान होते हैं। इस अग्निदेव को हम बुलाते हैं ॥ १० ॥

जगती आग्नेयी भरद्वाजदृष्टा। पावकया पावयित्र्या चितयन्त्या चितं करोति चितयति, चितयतीति चितयन्ती, तया परिदृढचयकारिण्या कृपासमर्थया दीप्त्या वा। 'कृपू सामर्थ्ये' क्विपि तृतीया। क्षामन् पृथिव्याम्। क्षामेति पृथिवीनाम। योऽग्निः, रुरुचे दीप्यते। उषसो न भानुना उषसो ज्योतिषा इवेति शोभने रोचने दृष्टान्तः। यथा प्रातःकालाः शोभनेन भानुना रोचन्ते, तद्वत्। किञ्च, यश्चाग्निः घृणिः। घृणिरिति दीप्तिनाम। जिघर्तीति घृणिः। 'घृ क्षरणदीप्त्योः' 'घृणिपृश्नि........' (उ० ४।५२) इत्यादिना निपातितः। विभक्तेः 'सुपां सुलुक्........' (पा० सू० ७।१।३९) इति शे आदेशः। घृणिना दीप्त्या आसमन्ताद् नु निश्चितं रुरुचे इत्यनुषङ्गः। नकारश्चार्थः। एतशस्य एतीत्येतशो गमनकुशलोऽश्वः, तस्य यामन् यामनि नियामके रणे युद्धे तूर्वन् परबलानि हिंसन्। न इवार्थे। शत्रून् हिंसन्निव रोचते। यद्वा यामन्शब्दः कर्मवाचकः। नु अनर्थकं पादपूरणार्थम्। यामनि कर्मणि तूर्वन्न त्वरमाण इव एतशस्य अश्वस्य रणे रमणीये पदे आहितोऽध्वर्युणा। तथा ततृषाणः 'ञितृषा पिपासायाम्'। 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) बाहुलकात् शानचि श्लौ द्वित्वे रूपम्। पूर्णाहुतिं पिपासुरित्यर्थः। अजरो जरारहितः। य ईदृशोऽग्निस्तं कृषाम इत्यर्थः। यद्वा यश्च यामन् आधानकर्मणि तूर्वन्न त्वरमाण इव एतशस्य आज्यस्य रणे रमणीये पदे आधीयतेऽध्वर्युणा; आहितश्च यो घृणेन घृणे दीप्तः। विभक्तेः शे। नेत्यनर्थकः। ततृषाणः, तृष्यन् पिपासुः पूर्णाहुतिम्। पूर्णाहुत्या तं तत्र शमयन्ति। पीत्वा च अजरः सम्पाद्यते, तमवकादिभिः शमयाम इति शेषः।

योऽग्निः पावकया पावयित्र्या चितयन्त्या चेतयित्र्या चितं दृढं चयनं कुर्वाणया वा कृपाकल्पनया सामर्थ्येन युक्तः सन् क्षामन् क्षाम्णि पृथिव्यां रुरुचे दीप्तवान्, शोभते वा। तत्र दृष्टान्तः—उषसो न यथा उषसः प्रातःकाला भानुना प्रकाशेन दीप्यन्ते, तद्वत्। किञ्च, योऽग्निः, एतशस्य गमनकुशलस्य अश्वस्य यामन् यामनि नियामके रणे युद्धे तूर्वन्न परबलानि हिंसन्निव आघृणे सर्वतो दीप्यते खलु। यथा लोके शीघ्रगमनस्वभावमश्वं वामहस्तगतेन खलीनेन दृढं नियम्य रणे प्रवर्तमानः पुरुषः परबलं हिंसन्नत्यन्तं त्वरते, एवमयमग्निः प्रज्वलति। न कदाचिज्जीर्यति, नाप्यसौ तृष्णायुक्तो भवति, किन्तु तृप्त इति काण्वभाष्ये सायणाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—योऽग्निः श्रीरामः परमेश्वरः पावकया पावयित्र्या चितयन्त्या चेतयित्र्या कृपा कृपया कल्पनया सामर्थ्येन दीप्त्या वा युक्तः सन् क्षामन् पृथिव्यां रुरुचे रोचते। क इव ? भानुना सूर्येण उषसः प्रातःकाला इव। यश्चाग्निः श्रीरामो घृणे न घृणे घृणिना दीप्त्या आसमन्तात्, नु निश्चितं रुरुचे। नकारश्चार्थः। किं कुर्वन् ? एतशस्य युद्धकुशलस्य रावणादेर्यामनि नियामके रणे तूर्वन् तद्बलानि हिंसन्। नेत्यनर्थकः। यद्वा हिंसन्निव वस्तुतो हतेभ्यस्तेभ्यः स्वर्गतिं प्रयच्छन्। ततृषाणो न तृष्यन्निव परकीयसैन्यार्णवं पिबतीति शेषः। अजरो जरादि-रहितः। तं भगवन्तं वयमाश्रयाम इत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'यः पावकया चेतनताकारिण्या कृपाशक्त्या वर्तमानः सेनापतिर्भानुना दीप्त्या प्रभात इव क्षामन् राज्यभूमौ रुरुचे रोचते, यश्च यामन् मार्गे प्रहरे वा एतशस्य अश्वस्य बलानि नु शीघ्रं तूर्वन् मारयति, न तथैव घृणे प्रदीप्ते रणे युद्धे ततृषाणो न तृष्यन्निव अजरोऽजेयो युवा आसमन्ताद् भवति स राज्यार्हो भवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सेनापतेः पावयित्र्या शक्तेः साधनीयत्वासम्भवात्। बलानीति पदं तु मन्त्रे नास्त्येव। स राज्यं कर्तुं योग्य इत्यपि मन्त्रे नास्ति। ततृषाणःपदस्यापि विसङ्गतिरेव॥ १०॥

नम॑स्ते॒ हर॑से शो॒चिषे॒ नम॑स्ते अस्त्व॒र्चिषे॑। अ॒न्याँस्ते॑ अ॒स्मत्त॑पन्तु हे॒तय॑ः पाव॒को अ॒स्मभ्य॑ꣳ शि॒वो भ॑व॥ ११॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, तुम्हारी सब रसों का आकर्षण करने वाली तेजस्विनी ज्वाला को हम प्रणाम करते हैं। तुम्हारे पदार्थप्रकाशक तेज को हमारा प्रणाम। आपकी यह ज्वाला हमको छोड़कर दूसरों के लिये तापदायक हो, हमारे लिये तो चित्त की शोधक और कल्याणकारक हो॥ ११॥

'दधि मधु घृतं पात्र्याꣳ समासिच्य स्थाल्यां वा महामुख्यां कुशमुष्टिं चोपर्युभयमादाय चित्यारोहणं नमस्त इति' (का०श्रौ० १८।३।१०)। वारण्यां पात्र्यां महामुख्यां स्थाल्यां वा दध्यादीन् कृत्वा तदुपरि दर्भमुष्टिं निदध्यात्। हिरण्यशकलसहितं स्रुक्स्थमाज्यं दधिमधुघृतकुशमुष्टियुता पात्री चैतद्द्वयमादाय नमस्त इति मन्त्रेण अध्वर्युश्चित्या-ग्निमारोहति। ब्रह्मयजमानौ तु अग्नेर्दक्षिणत उपविशत इति सूत्रार्थः। 'आग्नेयी बृहती लोपामुद्रादृष्टा। हे अग्ने, ते तव शोचिषे शोचनहेतवे शोषणहेतवे वा तेजसे नमोऽस्तु। कीदृशाय शो॒चिषे ? तत्राह—हरस इति। हरति सर्वरसानिति हरस्तस्मै, 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इति हरतेरसुन्। ते तव अर्चिषे पदार्थप्रकाशकाय तेजसे नमोऽस्तु। ते तव हेतयोऽस्त्राणि अस्मत्तोऽन्यान् विरोधिनस्तपन्तु। त्वं चास्मभ्यं पावकः सन् शिवो भव।

अत्र ब्राह्मणम्—'उपवसथीयेऽहन् प्रातरुदित आदित्ये। वाचं विसृजते वाचं विसृज्य पञ्चगृहीतमाज्यं गृह्णीते तत्र पञ्च हिरण्यशकलान् प्रास्यत्यथैतत्त्रयꣳ समासिक्तं भवति दधि मधु घृतं पात्र्यां वा स्थाल्यां वोरुबिल्यां

तदुपरिष्टाद्दर्भमुष्टिं निदधाति' (श० ९।२।१।११)। औपवसथ्यदिवसात् प्राचीने दिवसे कर्तव्यं प्रयोगमभिधाय उपवसथीयेऽहनि कर्तव्यमभिधत्ते—उपवसथीय इत्यादिना। प्रातरुदित आदित्ये वाचं विसृजते, यजमान इति शेषः। वाचं विसृज्य इत्यत्र पूर्वकालमात्रे क्त्वा। नहि तत्र पूर्वोत्तरक्रिययोः समानकर्तृत्वम्। यजमानस्य वाग्विसर्जनादध्वर्योराज्यग्रहणादिति। पात्री शरावाकारा, स्थाली पिठराकारा, उरुबिली महामुखी। अन्यत् स्पष्टम्। 'अथाग्निमारोहति। नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिष इत्यत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र तस्या अलं यद्धिᳲ्स्याद्यं जिहिᳲ्सिषेद्यमु वा एष हिनस्ति हरसा वैनᳲ् शोचिषा वार्ऽचिषा वा हिनस्ति तथो हैनमेष एतैर्न हिनस्त्यन्यांस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यᳲ् शिवो भव इति' (श० ९।२।१।१२)। दर्भमुष्टिनिधानानन्तरं तदाज्यं दध्यादि चादाय नमस्त इति मन्त्रेण अग्निमारोहेत्। आरोहणे 'नमस्ते' इत्यस्य मन्त्रस्य पूर्वार्धस्य पाठे प्रयोजनमाह—अत्रैष सर्वोऽग्निरिति। अत्र अस्मिन्नवसरे एषोऽग्निः सर्वः संस्कृतः साकल्येन कृतसंस्कारः, यद्वस्तु हिंस्यात् यं वा जिहिंसिषेत्, तस्मै अलं समर्थः। हननेच्छाया हननस्य चेत्युभयस्यापि समर्थः। स च यं हिनस्ति, एनं हरसा शोचिषा अर्चिषा वा हिनस्ति। अतश्चास्य मन्त्रभागस्य पाठेन एनमध्वर्युमेतैर्हरःप्रभृतिभिर्न हिनस्ति। हर इति हरणसमर्थं तेजः, शोचिरिति शोचनसमर्थम्, अर्चिरिति तदहतं प्रशस्तं तेजः। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीराम, ते तव हरसे सर्वसंहर्त्रे शोचिषे पापसिन्धुशोषणकर्त्रे अहताय तेजसे नमोऽस्तु। तव हेतयोऽस्त्राणि, अस्मत्तोऽन्यान् अस्मच्छत्रून् तपन्तु। अस्मभ्यं तु शिवो भव।

दयानन्दस्तु—हे सभापते दुःखहर्त्रे, ते तुभ्यं नमः सत्कारोऽस्तु। शोचिषे पवित्राय अर्चिषे सत्कारयोग्याय ते तुभ्यं नमोऽस्तु। ते हेतयः शस्त्रोपेतायै सेनायै अस्मत्तोऽन्यान् शत्रून् तपन्तु। पावकः शोधकस्त्वमस्मभ्यं शिवो न्यायकारी भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। नमः, हेतयः, शिवः—इत्यादिशब्दानां व्याख्यानस्य निर्मूलत्वाच्च ॥ ११ ॥

नृषदे वेडप्सुषदे वेड् बर्हिषदे वेड् वनसदे वेट् स्वर्विदे वेट् ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—यह अग्नि मनुष्यों में जठराग्नि के रूप में स्थित प्राणरूप है, उसकी प्रीति के निमित्त यह आहुति दी जाती है, यह सम्यक् रूप से गृहीत हो। जो अग्नि समुद्र आदि के जल के बीच वाडवाग्नि के रूप में स्थित है, जो अग्नि यज्ञीय कुशा आदि के ऊपर निवास करती है, वृक्षसमूह में दावाग्नि के रूप में स्थित है और जो अग्नि स्वर्गलोक में प्रधान सूर्य के नाम से प्रसिद्ध है, इन सबके निमित्त हम यह आहुति देते हैं। यह भली प्रकार गृहीत हो ॥ १२ ॥

'स्वयमातृण्णायां पञ्चगृहीतं जुहोति नाभिवद्धिरण्यादर्शनं च नृषदे वेडिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १८।३।११)। अध्वर्युश्चित्याग्निमारुह्य स्वयमातृण्णाया इष्टकाया उपरि नाभिव्याघारणवत् पञ्चगृहीतमाज्यं नृषदे इत्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रं हिरण्यदर्शनं वर्जयित्वा जुहुयादिति सूत्रार्थः। आदौ नाभेर्दक्षिणेंऽसे तत उत्तरश्रोण्यां ततो दक्षिणश्रोण्यां तत उत्तरेंऽसे ततो मध्ये जुहुयात्। अयं क्रमः 'नाभ्याः श्रोण्यंसेषु.........' (का० श्रौ० ५।४।१२) इत्यत्र निर्दिष्टः। तत्र हिरण्यं पश्यन्नित्यप्युक्तम्। तदेवात्र हिरण्यादर्शनशब्देन निषेधति। पञ्चाग्नेयानि यजूंषि। आद्या दैवीबृहती। ततस्तिस्रो दैव्यः पङ्क्तयः। अन्त्या दैवीबृहती। नृषदे नृषु मनुष्येषु जाठराग्निरूपेण तिष्ठतीति नृषत् प्राणः, तस्मै। वेट् हविर्दत्तमस्तु। वेडिति परोक्षं वषट्कारः। इत्येकं यजुः। अप्सुषदे अप्सु उदकेषु और्वरूपेण सीदतीति अप्सुषत्, तस्मै वेट् हविर्दत्तमस्तु। इति द्वितीयम्। बर्हिषदे बर्हिषि यज्ञे आहवनीयादिरूपेण सीदतीति बर्हिषत्, यद्वा बर्हिषु ओषधीषु सीदतीति बर्हिषत्, तस्मै वेट् हविर्दत्तमस्तु। इति

तृतीयम् । वनसदे वने वृक्षसमूहे दावाग्निरूपेण सीदतीति वनसत्तस्मै वेट् हविर्दत्तमस्तु। इति चतुर्थम् । स्वर्विदे स्वः स्वर्गे आदित्यरूपेण विद्यते सीदतीति स्वर्वित्, यद्वा स्वरादित्यं विन्दते योऽग्निः स स्वर्वित् । स्वर्शब्दोऽव्ययमत्रादित्यवचनः। यद्वा स्व आदित्ये विद्यते स स्वर्वित्, तस्मै वेट् हविर्दत्तमस्तु। इति पञ्चमम् । तानीमानि पञ्च यजूंषि ।

अत्र ब्राह्मणम्—'आरुह्याग्निꣳ स्वयमातृण्णां व्याघारयति । आज्येन पञ्चगृहीतेन तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।२।१।३) । प्रथममध्यमोत्तमासु चितिषु तिस्रः स्वयमातृण्णा उपधीयन्ते । तत्र तृतीयायां स्वयमातृण्णायां व्याघारणक्रियाया ईप्सिततमत्वात् तत्र द्वितीया । व्याघारणं नाम एकस्मात् कोणात् कोणान्तरं प्रति आज्यधाराक्षारणम् । तच्च व्याघारणं पञ्चगृहीतेनाज्येन क्रियत इति तस्य उभयस्य ब्राह्मणं प्रागुक्तमित्याह—आज्येनेति । 'स्वयमातृण्णां व्याघारयति । प्राणः स्वयमातृण्णा प्राणे तदन्नं दधाति' (श० ९।२।१।४) । व्याघारणस्य स्वयमातृण्णाधारकत्वं प्रशंसति—स्वयमातृण्णामिति । स्वयमातृण्णा प्राणः । तत्र आघारणेन आज्यरूपमन्नमग्निसम्बन्धिनि प्राणे निहितवान् भवति । स्वयमातृण्णायाः प्राणत्वम् 'प्राणो वै स्वयमातृण्णा प्राणो ह्येवैतत् स्वयमात्मानमातृन्ते' (श० ७।४।२।२) इति श्रुतौ व्याख्यातम् । 'यद्वेव स्वयमातृण्णां व्याघारयति । उत्तरवेदिर्हैषाग्नेरथ याममूं पूर्वां व्याघारयत्यध्वरस्य साथ हैषाग्नेस्तामेतद् व्याघारयति' (श० ९।२।१।५) प्रकारान्तरेणापि स्वयमातृण्णायां व्याघारणमुपपादयति—यद्वेवेति । एषा स्वयमातृण्णा अग्नेरुत्तरवेदिः खलु । 'याममूं' बुद्धौ परामर्शः । पूर्वामुत्तरवेदिं व्याघारयति । सा पुनः सोमयागस्य । अतोऽस्यां स्वयमातृण्णायां व्याघारणेन अग्नेस्तामुत्तरवेदिं व्याघारयति । 'पश्यंस्तत्र हिरण्यं व्याघारयति । प्रत्यक्षं वै तद्यत् पश्यति प्रत्यक्षꣳ सोत्तरवेदिः प्रास्ता एवेह भवन्ति परोक्षं वै तद्यत् प्रास्ताः परोक्षमियमुत्तरवेदिः' (श० ९।२।१।६) । ननु यद्येषा स्वयमातृण्णा अग्नेरुत्तरवेदिस्तर्हि तद्व्याघारणं पूर्वोत्तरवेदिवद् हिरण्यदर्शनादिपूर्वकं भवितव्यमित्यत आह—पश्यंस्तत्रेति । प्रत्यक्षं सा उत्तरवेदिः । उत्तरवेदिसंयुक्तमन्त्रादिनिर्मितत्वाभावेन औपचारिकोत्तरवेदित्वाद् व्याघारणमित्यर्थः ।

'स्वाहाकारेण तां व्याघारयति । प्रत्यक्षं वै तद्यत् स्वाहाकारः प्रत्यक्षꣳ सोत्तरवेदिर्वेट्कारेणेमां परोक्षं वै तद्यद्वेट्कारः परोक्षमियमुत्तरवेदिराज्येनाज्येन ह्युत्तरवेदिमाघारयन्ति पञ्चगृहीतेन पञ्चगृहीतेन ह्युत्तरवेदिं व्याघारयन्ति व्यतिहारं व्यतिहारꣳ ह्युत्तरवेदिं व्याघारयन्ति' (श० ९।२।१।७) । स्वाहाकारस्य सर्वत्र हविःप्रदानार्थसाधनत्वेन प्रत्यक्षत्वम्, वेट्कारस्य तु तथात्वाभावेन परोक्षत्वम् । आज्येन पञ्चगृहीतेन व्यतिहारमुत्तरवेदेर्व्याघारणात्, तथैवास्याप्युत्तरवेदित्वेन व्याघारणमुपपन्नमित्याह—आज्येनेत्यादिना व्यतिहारमित्यन्तेन । पूर्वं दक्षिणांसे व्याघारणम्, तत उत्तरश्रोणौ, पश्चाद्दक्षिणश्रोणौ, तत उत्तरांसे, ततो मध्ये—इत्ययं क्रमो विवक्षितः । 'नृषदे वेडिति । प्राणो वै नृषन्मनुष्या नरस्तद्योऽयं प्राणोऽग्निस्तमेतत्प्रीणात्यप्सुषदे वेडिति योऽप्स्वग्निस्तमेतत्प्रीणाति बर्हिषदे वेडिति य ओषधिष्वग्निस्तमेतत्प्रीणाति वनसदे वेडिति यो वनस्पतिष्वग्निस्तमेतत् प्रीणाति स्वर्विदे वेडित्ययमग्निः स्वर्विदिममेवैतदग्निं प्रीणाति' (श० ९।२।१।८) । व्याघारणमन्त्रान् प्रदर्शयन् व्याचष्टे—नृषदे वेडिति । वेडिति सम्प्रदानार्थीयो निपातः । तथा च मनुष्येषु वर्तमानाय प्राणरूपायाग्नये वेट्, इदमाज्यरूपं हविर्दत्तमित्यर्थः। अयमग्निः स्वर्वित् स्वः स्वर्गं विन्दते लम्भयतीत्यन्तर्भावितण्यर्थः, स्वर्वित् । स्पष्टार्थमन्यत् । 'यद्वेवाह नृषदे वेडप्सुषदे वेडित्यस्यैवैतान्यग्नेर्नामानि तान्येतत्प्रीणाति तानि हविषा देवतां करोति यस्यै वै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता न सा यस्यै न गृह्यतेऽथो एतानेवैतदग्नीनस्मिन्नग्नौ दधाति' (श० ९।२।१।९) । प्रकारान्तरेण मन्त्राणामभिधानं प्रशंसति—यद्वेवाहेति । एतानि नृषदित्यादीन्यस्यैव सञ्चितस्याग्नेर्नामानि, अस्य सर्वात्मकत्वेन मनुष्यादिस्थिताग्न्यात्मकत्वात् । अत एतेन तान्येव नामानि प्रीणितवान् भवति । न केवलं तेषां

प्रीणनमपि तु देवतात्वसम्पत्तिरपीत्याह—तानीति। तदर्थहविर्ग्रहणात् तानि नामानि देवताः कृतवान् भवति। किञ्चैतेन नृषदादिशब्दाभिधेयानग्नीन् नामग्राहमस्मिन् सञ्चितेऽग्नौ निदधाति।

अध्यात्मपक्षे—नृषदे मनुष्येषु प्राणरूपेण आत्मरूपेण च स्थिताय परमात्मने, वेट् अस्मत्समर्पितहविः पत्रपुष्पफलादिकं वा दत्तमस्तु। अप्सुषदे वरुणरूपेण अन्तर्यामिरूपेण च स्थिताय, बर्हिषदे यज्ञेषु आहवनीयादिरूपेण स्थिताय वेडस्तु। वनसदे वनाधिष्ठातृदेवतारूपेण तदन्तर्यामिरूपेण श्रीरामरूपेण वा स्थिताय भगवते वेडस्तु। स्वर्विदे मोक्षादिप्रापकाय परमात्मने वेडस्तु। उपलक्षणमात्रमेतत्। सर्वरूपेण सर्वत्र तस्यैव स्थितत्वात् तस्य सार्वात्म्यमुच्यते मन्त्रेणानेनेति।

दयानन्दस्तु—'हे सभापते, त्वं नायकस्यपुरुषभवनाय, वेट् न्यायासनस्थो भव, जलस्थनौकादिस्थितये न्यायासनस्थो भव, प्रजावृद्धिहेतुव्यवहारस्थितये वेट् अधिष्ठाता भव, वनस्थेभ्य वेट् न्यायाविष्टो भव, स्वर्विदे सुखाभिज्ञाय उत्साहविसिष्टो भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, वेट्पदानां विविधार्थतायाश्चिन्त्यत्वाच्च ॥ १२ ॥

ये दे॒वा दे॒वानां॑ य॒ज्ञिया॑ य॒ज्ञिया॑नाᳬं संवत्स॒रीण॒मुप॑ भा॒गमास॑ते। अ॒हु॒ता॒दो॑ ह॒विषो॑ य॒ज्ञे अ॒स्मिन् स्व॒यं पि॑बन्तु॒ मधु॑नो घृ॒तस्य॑ ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—जो देवता बिना स्वाहाकार किये अन्न का भक्षण करते हैं, वे प्राणरूप देवता इस चयनरूप यज्ञ में मधु और घृत का, अर्थात् मधु, घृत, दधिरूप हवि का भाग स्वयं ही स्वाहाकार के बिना पान करें। जो देवता यजन करने योग्य देवताओं के मध्य में दीप्तिमान् हैं, वे संवत्सर में होने वाले यज्ञ के भाग का सेवन करें ॥ १३ ॥

'समासिक्तान् कुशैः प्रोक्षति सपरिश्रित्कं बाह्येन च ये देवा इति' (का० श्रौ० १८।३।१२)। पात्र्यां सिक्तान् दधिमधुघृतान् कुशैः गृहीत्वा परिश्रित्सहितं सपक्षपुच्छाग्निं मध्ये बहिश्च प्रोक्षति ऋग्द्वयेनेति सूत्रार्थः। एतच्च ब्राह्मणे स्पष्टम्। ब्राह्मणं च मन्त्रव्याख्यानानन्तरमुद्धरिष्यते। द्वे ऋचौ जगत्यौ प्राणदेवत्ये। ये देवाः प्राणा देवानाम्, उत्कृष्टा इति शेषः। यज्ञियानां यज्ञार्हाणां देवानां मध्ये यज्ञिया अतिशयेन यज्ञार्हाः। संवत्सरीणं संवत्सरेण प्राप्यत इति संवत्सरीणः, 'संपरिपूर्वात् ख च' (पा० सू० ५।१।९२) इति खः। संवत्सरं हि भृत्वाग्निश्चीयते। तं संवत्सरनिर्वृत्तं भागमुपासते। कथंभूताः प्राणाः? अहुतादः, अन्ये हि देवा अग्निप्राप्तामाहुतिमदन्ति। प्राणास्तु साक्षादन्नमदन्ति। ते प्राणा हविषो मधुनो घृतस्य दध्नश्च स्वमंशमस्मिन् यज्ञे स्वयं पिबन्तु, स्वाहाकारं विनैवेति शेषः। द्विविधाः खलु देवाः—हविर्भुज इन्द्रवरुणादयः, शरीरनिर्वाहकाः प्राणादयश्च। दीव्यन्तीति व्युत्पत्त्या उभयत्र देवशब्दप्रवृत्तिः। उभयेऽप्येते यज्ञियाः। तत्र इन्द्रादयो यज्ञपूज्यत्वाद् यज्ञियाः। प्राणादयस्तु यज्ञेन तेषां पूजकत्वाद् यज्ञियाः। यज्ञियानां यज्ञार्हाणां देवानां मध्येऽतिशयेन यज्ञिया यज्ञयोग्या देवा दीव्यमानाः प्राणाः। अहुतादो हुतं स्वाहाकारेण समर्पितं हविरदन्ति ये ते हुताद इन्द्रादयः, तद्भिन्ना ये साक्षाददन्ति तेऽहुतादः प्राणा देवाः। ये संवत्सरेण साध्यं संवत्सरेण निर्वृत्तं वा संवत्सरीणं भागमुपासते, तेऽस्मिन् चयनाख्ये यज्ञे हविषो हवीरूपस्य मधुनो घृतस्य दध्नस्तं भागं स्वयं पिबन्तु। मदीयेन स्वाहाकारार्पणेन विनैव स्वयमेव दधिमधुघृतांशं स्वीकुर्वन्त्वित्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'पञ्चैता आहुतीर्जुहोति। पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति' (श० ९।२।१।१०)। 'अथैनᳬं समुक्षति। दध्ना मधुना घृतेन

जायत एष एतद्यच्चीयते स एष सर्वस्मा अन्नाय जायते सर्वं वेतदन्नं यद्दधि मधु घृतᳬं सर्वेणैवेनमेतदन्नेन प्रीणाति सर्वतः समुक्षति सर्वत एवैनमेतत्सर्वेणान्नेन प्रीणाति' (श० ९।२।१।११)। 'यद्वेवैनᳬं समुक्षति। अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतस्तस्मिन् देवा एतद्रूपमुत्तममदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्रूपमुत्तमं दधात्यन्नं वै रूपमेतदु परममन्नं यद्दधि मधु घृतं तद्यदेव परमᳬं रूपं तदस्मिन्नेतदुत्तमं दधाति सर्वतः समुक्षत्यपि बाह्येन परिश्रितः सर्वत एवास्मिन्नेतद्रूपमुत्तमं दधाति दर्भैस्ते हि शुद्धा मेध्या अग्रैरग्रᳬं हि देवानाम्' (श० ९।२।१।१२)। आहुतीनां पञ्चत्वसंख्या अग्नेः कार्त्स्न्येन प्रीतिहेतुर्भवतीत्याह—पञ्चैता इति। पञ्चगृहीतमाज्यं दध्यादिकं चेत्युभयमपि सञ्चितस्याग्नेरुपर्यानीतं तत्राज्यस्य विनियोगोऽभिहितः। अवशिष्टस्य विनियोगमाहैकादश्या कण्डिकया—अथैनमिति। दध्यादीनां बहुत्वात् सर्वान्नत्वं विहितम्। तत्समुक्षणं परिश्रिद्भ्यो बहिरपि कर्तव्यमित्याह—सर्वत इति। 'उपरिष्टाद्दर्भमुष्टिं निदधाति' (श० ९।२।१।१) इत्युक्तान् दर्भान् समुक्षणे विनियुज्य प्रशंसति—दर्भैरिति। दध्यादिभिः समुक्षणेन अस्मिन् संस्कृतेऽग्नौ उत्तमरूपनिधानं भवतीत्याह—यद्वेवेति। अन्नं वै रूपमित्यादिना परमरूपत्वमुपपाद्यते। अन्नं तावद्रूपकारणत्वाद्रूपम्, रसातिशयवत्त्वाद् दध्यादीनि परमं रूपमित्यर्थः। 'ये देवा देवानाम्। यज्ञिया यज्ञियानामिति देवा ह्येते देवानां यज्ञिया उ यज्ञियानाᳬं संवत्सरीणमुप भागमासत इति संवत्सरीणᳬं ह्येत एतं भागमुपासतेऽहुतादो हविषो यज्ञे अस्मिन्नित्यहुतादो हि प्राणाः स्वयं पिबन्तु मधुनो घृतस्येति स्वयमस्य पिबन्तु मधुनश्च घृतस्य चेत्येतत्' (श० ९।२।१।१४)। अथ समुक्षणे मन्त्रं प्रदर्शयन् व्याचष्टे—ये देवा देवानामिति। देवानामपि देवा यज्ञियानां यज्ञार्हाणामपि तत्पूर्वकत्वकथनेन सर्वेषां यज्ञार्हत्वमित्यर्थः। यज्ञियास्ते प्राणा इति यावत्। संवत्सरीणमुप भागमासते संवत्सरसम्बन्धिनं भागमुपासत इति यावत्। अस्मिन् यज्ञे एतस्य समुक्षणस्य संवत्सरक्रियमाणत्वात् संवत्सरीणे भागे प्राणा दध्यादीनहुतानेवादन्ति, अतोऽहुतादो हविष इत्युक्तम्। चतुर्थपादे मधुनो घृतस्येति कर्मणि षष्ठी मधु घृतम्। उपलक्षणमेतत्, दध्यपि पिबन्त्विति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—ये देवानां प्रसिद्धानामिन्द्रादीनामपि देवाः, यज्ञियानां यज्ञार्हाणामपि यज्ञिया यजनार्हा ईश्वरावतारभूताः श्रीरामादयः संवत्सरीणं संवत्सरेण प्राप्तव्यं भागमुपासते, तेऽहुतादो होममन्तरेव सर्वात्मत्वेन सर्वान्तरात्मानः सन्तोऽदन्ति। तेऽस्मिन् अस्माभिः क्रियमाणे यज्ञे मधुनो घृतस्य हविषो मधुदधिघृतानि स्वयं पिबन्तु, तेषां देवानामपि देवत्वात्। पूजायां वा बहुवचनम्। तथा च देवानां यज्ञार्हाणामपि यज्ञार्हः परमेश्वरः संवत्सरीणं संवत्सरोपलक्षितं तत्तत्कालप्राप्यभागं भजनीयं भक्तसमर्पितं भागमुपासते सेवन्ते, ते घृतस्य मधुनो घृतमधुतुल्यं प्रेमपरिप्लुतं भक्तसमर्पितं वस्तु पिबन्तु, स्वयमेव स्वातन्त्र्येणेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'ये देवानां विदुषामहुतादोऽकृतहोमानां पदार्थानां भोक्तारो देवा विद्वांसः, यज्ञियानां यज्ञकुशलानां मध्ये यज्ञिया योगाभ्यासादियज्ञयोग्या विद्वांसः संवत्सरं यावत्पुष्टं भागं भजनीयं परमात्मानमुपासते, तेऽस्मिन् यज्ञे समागमे मधुनो घृतस्य मधुनो जलस्य हवनार्हं पदार्थानां भागं पिबन्तु' इति, तदपि विसङ्गतम्, मनुष्यभिन्नानां विशिष्टयोनीनां देवानां भूमिकायां साधितत्वात्। न च विद्वांसो मनुष्या हुतादो भवन्ति, येषां व्यावृत्त्यर्थमहुताद इति विशेष्येत। परमात्मा कथं संवत्सरं यावत् पुष्यति ? तस्य नित्यपुष्टत्वात्॥ १३॥

ये दे॒वा दे॒वेष्वधि॑ दे॒व॒त्वमाय॒न् ये ब्रह्म॑णः पुर ए॒तारो॑ अ॒स्य। येभ्यो॒ न ऋ॒ते पव॑ते॒ धाम॒ किञ्च॒न न ते दि॒वो न पृ॑थि॒व्या अधि॒ स्नुषु॑॥ १४॥

मन्त्रार्थ—प्राण आदि देवताओं ने इन्द्र आदि देवताओं के बीच अधिष्ठातृत्व प्राप्त किया है, अर्थात् देवगणों में प्रधान देवत्व पाया है। जो प्राण इस जीव के आगे गमन करते हैं, जिन प्राणों के बिना कोई भी शरीर चेष्टा नहीं कर सकता, वे प्राण न तो द्युलोक में हैं और न पृथ्वी पर ही। वे तो प्रत्येक इन्द्रिय में वर्तमान हैं॥ १४॥

ये देवाः प्राणाः, देवेष्विन्द्रादिषु देवत्वमायन् अधिष्ठातृत्वेन देवभावं प्राप्ताः, प्राणैरधिष्ठिता एव इन्द्रादि-विग्रहा व्यवहरन्तीत्यर्थः । किञ्चास्य भ्राम्यमाणस्य अग्नेर्ब्रह्मणः परिवृढस्य पुर एतारः पुरतो गन्तारः, निर्वाहका इति यावत् । न खलु प्राणैर्विना चीयमानोऽग्निर्निर्वोढुं शक्यते । यद्वा ब्रह्मणो जीवस्य वा पुर एतारः पुरोऽग्रे यन्तीति तथा । 'इण् गतौ' इत्यस्मात् तृच्प्रत्ययः । 'प्राणा हि प्राणिनां पुरःसराः' (श० ९।२।१।१५) इति श्रुतेः । येभ्य ऋते यान् प्राणान् विना किञ्चन धाम स्थानं शरीरं जन्म वा न पवते न चेष्टते, 'पूङ् गतौ' भौवादिकस्य । अथवा 'पूञ् पवने' विकरणव्यत्ययः, न पवते शुद्धं न भवतीत्यर्थः । इत्थंभूता ये प्राणा देवास्ते पुनः क्वासते ? तत्राह—ते प्राणरूपा देवा न दिवो न दिवि स्वर्गे न सन्ति । सप्तम्यर्थे षष्ठी । न पृथिव्याः पृथिव्यामपि नैव सन्ति । यद्वा दिवः प्रदेशेषु पृथिव्याः प्रदेशेषु च न सन्ति । क्व तर्हि सन्तीति ? तत्राह—स्नुषु अधि स्नुवन्ति क्षरन्ति यानि तानि स्नूनि स्रोतांसि चक्षुरादीनि प्राणायतनानि, तेषु अधि अधिश्रित्य वर्तन्ते तेषूपलभ्यन्ते । स हि तेषां विशिष्टः प्रदेशः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'ये देवा देवेषु । अधिदेवत्वमायन्निति देवा ह्येते देवेष्वधिदेवत्वमायन् ये ब्रह्मणः पुर एतारो अस्येत्ययमग्निर्ब्रह्म तस्यैते पुर एतारो येभ्यो न ऋते पवते धाम किञ्चनेति नहि प्राणेभ्य ऋते पवते धाम किञ्चन न ते दिवो न पृथिव्या अधि स्नुष्विति नैव ते दिवि न पृथिव्यां यदेव प्राणभृत्तस्मिंस्त इत्येतत्' (श० ९।२।१।१५) । अथ द्वितीयमन्त्रं व्याचष्टे—ये देवा इति । ये देवा देवेष्वप्यधिदेवत्वं प्राप्नुयुः, एते देवाः प्राणाः । अधिका देवा अधिदेवास्तेषां भावस्तत्त्वम्, आयन् आप्नुवन्, तान् प्रति स्वेषामुपजीव्यत्वात् । अत उक्तम्—ये देवा देवेष्विति । द्वितीयपादे सर्वात्मकत्वं प्राणस्याह—ये ब्रह्मण इति । अत्र बृहत्त्वाद् ब्रह्मशब्देनाग्निरुक्तः । ये ब्रह्मणोऽग्नेः पुर एतारोऽग्रे गन्तारः । येभ्यो विना किञ्चिदपि धाम शरीरं न प्रवर्तते, ते देवाः प्राणा दिव्यपि न सन्ति, पृथिव्यामपि न सन्ति, किन्तु यदेव प्राणभृद्वस्तु तस्मिन् सन्ति ।

अध्यात्मपक्षे—ये देवाः प्राणा वागादयो मुख्यस्य प्राणस्य सूत्रात्महिरण्यगर्भरूपस्य अङ्गरूपा देवेष्व-ग्न्यादिष्वप्यधिदेवत्वमायन् । शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'ये देवाः पूर्णविद्वांसो देवेषु विद्वत्स्वधिदेवत्वं सर्वोत्तमकक्षासु विराजमानं स्वगुणकर्म-स्वभावमायन् प्राप्नुवन्ति, ये चास्य ब्रह्मणः परमेश्वरस्य पुरं एतारः प्रथमप्रापकाः, यानन्तरा किञ्चन सुखस्थानं न पवते पवित्रं न भवति, ते दिवः सूर्यलोकस्य प्रदेशेषु पृथिव्या अधि स्नुषु कस्मिंश्चिद् भागे नाधिकं वसन्ति, किन्त्वीश्वरे स्थिरा भूत्वा अव्याहतगत्या सर्वत्र विचरन्ति' इति, तदपि सर्वं कल्पनामात्रम्, निर्मूलत्वात् । विद्वांसो विद्वत्स्वधिदेवत्वँ सर्वोत्तमकक्षासु स्वगुणकर्मस्वभावमायन्नित्यस्य निर्मूलत्वात्, तद्बोधकपदानां मन्त्रेऽभावात् । 'ब्रह्मणस्तानन्तरा न किञ्चन स्थानं पूयते' इत्यप्यसाम्प्रतम्, मनुष्याणां परिच्छिन्नत्वेन सर्वधामपावकत्वानुपपत्तेः । न च विद्वांसो मनुष्या दिवि पृथिव्यां न तिष्ठन्ति, मर्त्यलोक एव मनुष्याणां स्थितिदर्शनात् । परमात्मनि स्थिराश्चेत् कथमन्यत्र सर्वत्र अव्याहतगत्या विचरन्ति, स्थिरस्य तदनुपपत्तेः ॥ १४ ॥

प्राणदा अपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः । अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यँ शिवो भव ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव, तुम प्राण को देने वाले, अपान को देने वाले, सारे शरीर में स्थित व्यान वायु को देने वाले, बल और धन के दाता बनो । हमारे लिये चित्त के शोधक कल्याणकारी बनो, तुम्हारा ज्वालारूप आयुध हमसे दूर रह कर दूसरों को तापित करे ॥ १५ ॥

'प्राणदा इत्यवरोहति' (का० श्रौ० १८।३।१३)। प्रोक्षणानन्तरमग्नेरवतरतीति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्या द्व्यधिका बृहती द्व्यूना पङ्क्तिर्वा। अष्टात्रिंशदक्षरत्वाद् विकल्पः। हे अग्ने, तव हेतयो ज्वाला अस्मदन्यान् तपन्तु। त्वमस्माकं पावकः शिवश्च भव। कीदृशस्त्वम्? प्राणदाः प्राणान् यजमानाय ददातीति प्राणदाः, प्राणं सुस्थिरं करोतीत्यर्थः। अपानदा अपानं ददातीति तथोक्तः। व्यानदा व्यानं सर्वशरीरसंचारिणं वायुं ददातीति तथोक्तः। वर्चोदा वर्चो बलं तेजोरूपं ददातीति तथोक्तः, 'तेजःपुरीषयोर्वर्चः' (अ० को० ३।३।२३१) इति कोषात्। अन्नस्य दाता वा। 'वर्च इति अन्ननामसु' (निघ० २।७।२६)। वरिवोदा वरिवो धनं ददातीति तथोक्तः। 'वरिव इति धननामसु' (निघ० २।१०।५)।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ प्रत्यवरोहति। प्राणदा अपानदा इति सर्वे हैते प्राणा योऽयमग्निश्चितः स यदेता-मत्रात्मनः परिदां न वदेतात्र हैवास्यैष प्राणान् वृञ्जीताथ यदेतामत्रात्मनः परिदां वदते तथो हास्यैष प्राणान्न वृङ्क्ते प्राणदा अपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदा इत्येतद्धा मेऽसीत्येवैतदाहान्यांस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भवेति' (श० ९।२।१।१७)। योऽयमग्निश्चयनेन संस्कृतः, एष सर्वे प्राणाः, प्रजापत्यात्मकत्वात् सर्वेषां प्राणा इत्यर्थः। अतः स अध्वर्युरत्रावसरे यदि प्राणदा इत्येतन्मन्त्ररूपामात्मनः परिदां प्राणरक्षां न वदेत्, तर्हि एषोऽग्निरस्याध्वर्योः प्राणान् वृञ्जीत वर्जयेदपगमयेदित्यर्थः। प्राणदा इत्यादिमन्त्ररूपपरिदाभिधाने तु तथा न कुर्यात्। इत्थं मन्त्रस्योपयोगमभिधाय मन्त्रं व्याचष्टे—प्राणदा इति। एतद्धा मेऽसीति। एतेन मदर्थमेषां प्राणादीनां दातासीत्येतदेवोक्तं भवति, न पुनरन्यार्थमित्यर्थः। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं प्राणादीनां दातासि, तेन तव हेतयोऽस्त्राणि रोगादिरूपाणि अस्मत्तोऽन्यान् तपन्तु। 'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥' (केनो० २।२।५) इति श्रुत्या कर्मफलदातृत्वाच्च परमेश्वरादेव भोगायतनभोगसाधनादिप्राप्तिसम्भवात्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् हे राजन्, ते त्वदीया उन्नतयोऽस्त्राणि च नोऽस्मभ्यं प्राणदा जीवनदाः, अपानदा दुःखापनोदिन्यः, व्यानदा व्याप्तिविज्ञानदाः, वर्चोदा अध्ययनहेतुदाः, वरिवोदाः सत्यधर्मदा... इत्यादि-कम्' तदपि विसङ्गतम्, व्युत्क्रमान्वयानुपपत्तेः, नह्युन्नतीनामस्त्राणां प्राणादिदातृत्वं सम्भवति। पदार्था अपि प्रमाणशून्या एव॥ १५॥

अ॒ग्निस्ति॒ग्मेन॑ शो॒चिषा॒ यास॒द्विश्वं॒ न्य॑त्रिण॑म्। अ॒ग्निर्नो॑ वनते र॒यिम्॥ १६॥

मन्त्रार्थ—यह अग्निदेवता अपने तीक्ष्ण तेज से यज्ञविघ्नकारी राक्षस आदि को दूर भगा दे। यह अग्नि हमारे लिये धन का दाता हो॥ १६॥

'पञ्चगृहीतं जुहोत्यग्निस्तिग्मेनेत्यृचा' (का० श्रौ० १८।३।१७)। प्रवर्ग्योत्सादनानन्तरं शालायामागत्य पञ्चगृहीतमाज्यं शालाद्वार्ये जुहुयादिति सूत्रार्थः। आग्नेयी गायत्री भरद्वाजदृष्टा। अयं चीयमानोऽग्निः, तिग्मेन तीक्ष्णेनोत्साहवता वा। 'तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः' (निरु० १०।६)। शोचिषा तेजसा विश्वं सर्वम् अत्रिणम् अत्तीति अत्री, 'अदेस्त्रिनिश्च' (उ० ४।६९) इति त्रिन्प्रत्ययः, तं भक्षकं राक्षसादिकम्। नियासद् नितरां क्षीणं करोतु। धातूनामनेकार्थत्वाद् दैवादिकस्य यसेरुपक्षयार्थे वृत्तिः, लेट्। 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपः, धातोरामागमश्चार्षः। अथवा नितरां प्रयतताम्, विनाशयितुमिति शेषः। किञ्च, अग्निर्नोऽस्मभ्यं रयिं धनं वनते ददातु। अत्र वनतिर्दानार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'स वै पञ्चगृहीतं गृह्णीते। पञ्चधाविहितो वा अयꣳ शीर्षन् प्राणो मनो वाक् प्राणश्चक्षुःश्रोत्रमेतमेवास्मिन्नेतत् पञ्चधाविहितꣳ शीर्षन् प्राणं दधात्यग्निस्तिग्मेन शोचिषेति तिग्मवत्या शिर एवास्यैतया सꣳश्यति तिग्मतायै' (श० ९।२।२।५)। प्रथमाहुत्यर्थं पञ्चवारग्रहणमग्नेः शीर्षण्यप्राणपञ्चकोपधानरूपेण प्रशंसति, स वै पञ्चगृहीतमिति। वागिति मुखम्, प्राण इति घ्राणम्, चक्षुर्द्वयं श्रोत्रद्वयं च द्वौ प्राणौ। मनःसहिता वागादयः शिरसि पञ्चधाविहितः प्राणः। अतश्च पञ्चवारग्रहणेन अस्मिन्नग्नौ शिरसि मनःप्रभृति प्राणपञ्चकं निदधाति। होममन्त्रस्य तिग्मपदसम्बन्धं प्रशंसति—अग्निस्तिग्मेनेति। तिग्मशब्दस्य तीक्ष्णवाचकत्वात् तद्वत्या ऋचा होमेन तैक्ष्ण्यसिद्ध्येऽग्नेः शिरस्तीक्ष्णं करोति। संश्यति—'शो तनूकरणे' इत्यस्य लटि श्यनि 'ओतः श्यनि' (पा० सू० ७।३।७१) इत्योकारलोपः।

अध्यात्मपक्षे—अयं वेदादिप्रमाणसिद्धोऽग्निः परमेश्वरः, तिग्मेनोत्साहवता उत्साहप्रदेन शोचिषा स्वरूपभूतप्रकाशेन विश्वं सर्वं न्यत्रिणं नितरां ज्ञानविज्ञानादिभक्षकं बाधकमज्ञानविपर्ययादिकं यासत् उपक्षयतु। यद्वा महावाक्यजन्यब्रह्माकारवृत्त्यभिव्यक्तेन तिग्मेन तीक्ष्णेन सर्वदाहकेन शोचिषा स्वरूपभूतप्रकाशेन विश्वं न्यत्रिणं यासद् उपक्षीणं करोतु। अग्निः स एव नोऽस्मभ्यं रयिं ज्ञानविज्ञानलक्षणं धनं वनते ददाति, व्यत्ययेन ददात्वित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथाग्निस्तिग्मेन शोचिषा अत्रिणं भोगयोग्यं विश्वं यासत् प्राप्नोति, यथाग्निर्विद्युद् नोऽस्मभ्यं रयिं धनं निरन्तरं विभजति, तथास्माकं भूयाः। यथाग्निः शुष्कमार्द्रं विश्वं सर्वं तृणादि दहति, तथास्माकं दोषान् दग्ध्वा गुणान् प्रापयतु। यथा विद्युत् सर्वपदार्थान् सेवते, तथास्मान् सर्वा विद्याः सेवयतु' इति, तदेतत् सर्वमविचारितरमणीयम्, मन्त्रे तादृशपदानामभावात्, मुख्यार्थं परित्यज्य गौणार्थाश्रयणे मानाभावाच्च ॥ १६ ॥

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ२॥ आविवेश ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—जो अतीन्द्रिय द्रष्टा सर्वज्ञ, संहार रूप, होम का कर्ता, हम सारे प्राणियों का पालन करने वाला है, जो इन सम्पूर्ण लोकों का संहार कर स्वयं अपने में स्थित है, वह परमेश्वर 'प्रथम एक अद्वितीय रूप को छादन कर मैं अनेक रूपों में प्रकट होऊं' इस अभिलाषा से जगत् रूप धन की इच्छा करता हुआ प्रकट होता है, उपाधि वाले माया के विकार रूप जीवों में प्रवेश करता है ॥ १७ ॥

'षोडशगृहीतार्धमनुवाकशेषेण' (का० श्रौ० १८।३।१७)। षोडशगृहीतमाज्यं जुह्वां गृहीत्वा तस्यार्धमनुवाकशेषेण, अर्थाद् य इमेत्यष्टभिर्मन्त्रैः शालाद्वार्येऽग्नौ जुहुयात्। य इमा विश्वेत्यारभ्य विहव्यो यथासदित्यन्तोऽष्टर्चं इति। भुवनपुत्रविश्वकर्मदृष्टा विश्वकर्मदेवत्याः षोडश त्रिष्टुभः। जन्मान्तरीयविशिष्टकर्मोपासनादिप्रभावेणाभिव्यज्यमानविशिष्टदर्शनो मन्त्रद्रष्टा ऋषिः संहरन्तं सृजन्तं विश्वकर्माणं पश्यन् कथयति—य इमेति। यो विश्वकर्मा परमेश्वरः, इमा इमानि विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि जुह्वन् संहरन् सन् प्रलयकाले पृथिव्यादीन् सर्वान् लोकान् भूतजातानि च स्वात्मन्याहुतिप्रक्षेपवत् संहरन् सन् न्यसीदत् निषण्णः स्वयं स्थितवान्। कीदृशः स ऋषिः ? अतीन्द्रियद्रष्टा सर्वज्ञः। होता संहाररूपस्य होमस्य कर्ता। नोऽस्माकं प्राणिनां पिता जनकः। प्रलयकाले सर्वलोकान् संहृत्य यः परमेश्वरः स्वयमेक एव आसीत्, 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत्' (ऐ० उ० १।१।१), 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० उ० ६।२।१) इत्यादिश्रुतेः।

इदं सर्वं नामरूपक्रियात्मकं जगद् अग्रे सृष्टेः प्राग् आत्मा वै आत्मैव सच्चिदानन्दरूपः परमेश्वर एवासीत्, नान्यत् किञ्चन मिषद् व्यापारवत् स्वतन्त्रसत्ताकमित्यर्थः। प्रकृतिपुरुषादिकं तु तस्मिन्नेव कल्पितत्वात् सदपि तत्समानसत्ताकं पारमार्थिकं नासीदित्यर्थः। नहि कल्पितेन द्वितीयेन परमार्थसतः सद्वितीयत्वं सम्भवति, समानसत्ताकयोरेव भावाभावयोर्विरोधात्। इदं सर्वमग्रे सदेवासीत्, तदतिरिक्तं किमपि नासीदित्यर्थः। तच्च सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यमासीत्। कल्पितैर्मिथ्याभूतैः सजातीयादिभिस्तस्य परमार्थसतस्तादृशभेदासम्भवाद् इत्यादिकं तदर्थः। स तादृशः परमेश्वरः, आशिषा 'बहु स्यां प्रजायेय' (छा० उ० ६।२।३) इत्येवंरूपया कामनया प्रपञ्चसिसृक्षया द्रविणं द्रविणोपलक्षितं जगद्भोगमिच्छमानोऽपेक्षमाणः, अवरान् अभिव्यक्तोपाधीन् स्थूल-सूक्ष्म-देहरूपान् आविवेश जीवरूपेण प्राविशत्,'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपस्तप्त्वा। इदꣳ सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' (तै० उ० २।६) इत्यादिश्रुतिभ्यः। कीदृशः स परमेश्वरो यस्तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति ? तत्राह—प्रथमच्छत् प्रथमं स्वकीयमेकमेवाद्वितीयमुत्कृष्टं रूपं छादयति आवृणोतीति तथोक्तः, छादयतेः क्विपि ह्रस्वः।

उव्वटाचार्यरीत्या तु ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायी कल्पान्तरीणो यजमानो हिरण्यगर्भमात्मत्वेन ध्यायन् तदुपास्तिक्षपितकल्मषस्तद्भावमुपगतः सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन कल्पादावभिव्यक्तं धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्ययुक्तं प्रजाः सृजमानं हिरण्यगर्भात्मानं पश्यन्नाचष्टे—य इमानि भूतजातान्यात्मनि जुह्वद् आत्मत्वेन पश्यन् ऋषिः साक्षात्कृतधर्मा होता आह्वाता देवानां कल्पादौ न्यसीदत् निषण्णः। पिता पाता नोऽस्मत्प्रभृतीनामेव ऋषिर्मनुष्यादिभावमुपगतः सन् यज्ञसम्बन्धिन्या आशिषा द्रविणं यज्ञफलमिच्छमानः प्रथमच्छत् प्रथमच्छादको मूर्तशरीरग्राही अवरान् द्विपदचतुष्पदस्थावरादीन् आविवेश आविष्टस्तत्तद्रूपैराविर्बभूवेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षेऽप्युक्त एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! य ऋषिर्ज्ञानस्वरूपो होता सर्वपदार्थानां दाता ग्रहीता च नोऽस्माकं पिता पालयिता परमेश्वरो विश्वानि भुवनानि व्याप्य न्यसीदद् निरन्तरं स्थितः, यश्च सर्वलोकानां जुह्वद् धारयिता स आशिषा आशीर्वादेन नोऽस्मभ्यं द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छत् विस्तृतपदार्थान् छादयति अवरान् पूर्णादीन् आविवेश सम्यग् व्यासवान्निति जानत' इति, तदपि यत्किञ्चित्; सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। व्याप्येति पदाध्याहारोऽपि निर्मूलः। जुह्वदित्यस्य धारयितेत्यप्यनर्थः, धात्वर्थविपरीतत्वात्। प्रथमशब्दस्य विस्तृतार्थत्वमपि निर्मूलम्। न च परमेश्वरो विस्तृतान् परिच्छिन्नान् वा छादयति, सर्वप्रकाशकत्वात्। अवरपदस्य पूर्णार्थतापि चिन्त्यैव ॥१७॥

किꣳ स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—प्रश्न उठता है कि द्यावाभूमी का निर्माण करते समय इस परमात्मा का आधार क्या था ? घट को बनाने में मृत्तिका के समान जगत् के निर्माण में इसको सामग्री कहाँ से प्राप्त हुई थी ? इसको जगत् के निर्माण की विधि किसने बताई थी ? जिसके आधार पर अतीत, अनागत, वर्तमान काल को एक साथ देखने वाले विश्वकर्ता परमात्मा ने इस विस्तृत भूलोक और द्युलोक की सृष्टि करके अपनी महती सामर्थ्य से इसको ढक दिया, वह सर्वदर्शी विश्वकर्ता सर्वत्र विराजमान है ॥ १८ ॥

अथेश्वरो यथा जगत्सृजति तत्प्रश्नोत्तराभ्यामाह—किंस्विदिति। लोके हि घटादिचिकीर्षुः कुलालादिर्गृहादिकं स्थानमधिष्ठाय मृदादिरूपेण आरम्भकद्रव्येण च चक्राद्युपकरणैर्घटादि निष्पादयति। ईश्वरस्य

सृष्टिरचनायां सर्वनिरपेक्षत्वात् तत्सर्वमाक्षिप्यते। स्विदिति वितर्के। द्यावापृथिव्योरुत्पादनवेलायामीश्वरस्य अधिष्ठानमधितिष्ठत्यस्मिन्नित्यधिष्ठानं निवाससंस्थानं किंस्विदासीत्? न किञ्चिदासीदित्यर्थः, द्यावापृथिव्य-तिरिक्तस्य अधिष्ठानत्वासम्भवात्। तथा आरम्भणम् आरभ्यतेऽनेनेत्यारम्भणम् उपादानं कारणं प्रपञ्चस्य कतमत् स्विदासीत्? मृदिव घटानाम्। नहि द्यावापृथिव्यौ जनयितुं किञ्चिदुपादानं सम्भवति। कथा किम्प्रकारकं निमित्तकारणमप्यासीद्दण्डादिवद् घटादीनामिति शेषः। 'था हेतौ च छन्दसि' (पा० सू० ५।३।२६) इति किंशब्दात् थाप्रत्ययः। यद्वा कथा क्रिया किम्प्रकारा क्रियासीत्। विश्वचक्षा विश्वं चष्ट इति विश्वचक्षाः सर्वद्रष्टा अतीतानागतवर्तमानकालानां युगपद् द्रष्टा, अनन्यशक्तिरित्यर्थः। विश्वकर्मा विश्वं कर्म यस्य सः।' यतो यस्मिन् काले भूमिं द्यां स्वर्गं च जनयन् सन् वर्तते, तस्मिन् काले महिना महिम्ना स्वमहाभाग्येन स्वसामर्थ्येन साधनान्तरं विनैव वि विशेषेण और्णोत् सृष्टे द्यावापृथिव्यौ आच्छादितवान्, व्याप्तवानिति यावत्। नहीद-माच्छादनमावरकम्। 'ऊर्णुञ् आच्छादने' इत्यस्य लङि रूपम्, 'व्यवहिताश्च' (पा० सू० १।४।८२) इत्युपसर्गस्य व्यवधानेन प्रयोगः।

अध्यात्मपक्षेऽप्युक्त एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् पुरुष, अस्य जगतोऽधिष्ठानमाधारः किंस्वित् आश्चर्यरूपमासीत्। तथारम्भणं कारणं कतमत्। वह्व्योदनेषु कतमत्। कथा केन प्रकारेण यतो विश्वकर्मा विश्वचक्षा भूमिं द्यां सूर्यलोकं च जनयन् महिना स्वमहिम्ना व्यौर्णोद् विविधमाच्छादितवान्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अपव्याख्यानात्। विश्व-कर्मेत्यस्य सर्वसत्कर्मेति व्याख्यानमपव्याख्यानम्, परमेश्वरस्य विधिनिषेधातीतत्वात्, सत्कर्मदुष्कर्मादिव्यवस्था-योगात्॥ १८॥

वि॒श्वत॑श्चक्षुरु॒त वि॒श्वतो॑मुखो वि॒श्वतो॑बाहुरु॒त वि॒श्वत॑स्पात्।
सं बा॒हुभ्यां॒ धम॑ति॒ सं पत॑त्रै॒र्द्यावा॒भूमी॑ ज॒नय॑न् दे॒व एकः॑॥ १९॥

मन्त्रार्थ—सब ओर नेत्र वाले, सब ओर मुख वाले, सब ओर भुजा वाले और सब ओर चरण से युक्त एक अद्वितीय परमात्मा द्युलोक और भूलोक को बिना किसी आधार के प्रकट करते हुए अपनी भुजाओं में उन्हें समेट लेते हैं॥ १९॥

पूर्वोक्ताक्षेपाणां समाधानमुच्यते मन्त्रेणानेन। द्यावापृथिव्योरुत्पत्तेरूर्ध्वं विश्वरूपः परमेश्वर एव भासते। कथमिति चेत्तत्रोच्यते—विश्वतश्चक्षुः विश्वतः सर्वतः चक्षुरस्येति तथोक्तः। यस्य यस्य प्राणिनो ये चक्षुषी तदुपाधिकस्य परमेश्वरस्यैव तानि तानि चक्षूंषि सम्पद्यन्ते। एवं विश्वतोमुखः विश्वतो मुखानि यस्य सः। विश्वतोबाहुः विश्वतो बाहवो भुजा यस्य सः। उतापि विश्वतस्पाद् विश्वतः पादा यस्य सः, तथोक्तः। 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' (पा० सू० ५।४।१३८) इत्यन्त्यलोपेन साधुः। परमेश्वरस्य सर्वात्मकत्वात् सर्वेषां प्राणिनां चक्षुरादयस्तस्यैव चक्षुरादयः सम्पद्यन्ते। तेन तत्तदुपाधिकस्य परमेश्वरस्य विश्वतश्चक्षुष्ट्वादिकमुपपद्यते। तादृश एको देवः सहायशून्यो द्यावाभूमी जनयन् बाहुभ्यां बाहुस्थानीयाभ्यां निमित्तकारणाभ्यां धर्माधर्माभ्यां सन्धमति जगत्सर्वं सम्यग्ज्ञातं प्राप्तं स्वाधीनं करोति। तथा पतत्रैः पतनशीलैरनित्यैः पञ्चभूतैरुपादान-कारणैर्जगत् स्वाधीनं करोति। यद्वा 'धमतिर्गत्यर्थः' (नि० २।१४।५०)। धर्माधर्माभ्यां सन्धमति सङ्गच्छते, संयोगं प्राप्नोतीति यावत्। पतत्रैः पतनशीलैरनित्यैः पञ्चभूतैश्च धर्माधर्मरूपैर्निमित्तैरुपादानैश्च सङ्गच्छते। साधनान्तरं विनैव सृजतीत्यर्थः। यद्वा धर्माधर्माभ्यां भूतैश्च सन्धमति सङ्गमयति जीवान्। अन्तर्भावितण्यर्थः।

ऐश्वर्ययोगात् साधनमन्तराप्येको देवो विश्वतश्चक्षुर्विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुर्विश्वतःपाच्च भूत्वा बाहुभ्यां बाहुस्थानीयाभ्यां धर्माधर्माभ्यामुपादानस्थानीयैः पतत्रैश्च पञ्चभूतैः सन्धमति सर्वं सृजति। तस्य लोकोत्तरैश्वर्यमेव तादृग् येन स्वे महिम्नि स्थितो दिव्यया मायाख्यशक्त्या सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मानुरोधेन पञ्चभूतानि विरच्य तैः सर्वं सृजति। 'किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च' इत्याक्षिप्य 'अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः। कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः॥' इति समाहितुं बद्धपरिकरस्य सतः—'अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि जगतामधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति। अनीशो वा कुर्याद् भुवनजनने कः परिकरो यतो मन्दास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे॥' पुष्पदन्तस्योक्तेः।

अध्यात्मपक्षेऽप्येष एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं सर्वतश्चक्षुः सर्वसंसारदर्शनः सर्वोपदेशकः सर्वप्रकारेण अनन्तबलपराक्रम उत विश्वतस्पात् सर्वव्याप्तियुत एकोऽसहायो देवः स्वयंप्रकाशः पतत्रैः क्रियाशीलैः परमाणुभिर्द्यावाभूमी जनयन् बाहुभ्यां बलपराक्रमाभ्यां सर्वं जगत् सम्यक् प्राप्नोति। तादृशं परमेश्वरं जानत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परमाणुभिराकाशोत्पत्त्यसम्भवात्, सृष्टिप्रकरणे 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० उ० २।१) इति श्रुतौ तदुत्पत्तिश्रवणाच्च। न च चक्षुःशब्दो दर्शनार्थः, न वा मुखशब्द उपदेशार्थकः। बाहुशब्दस्य बलपराक्रमार्थतापि चिन्त्यैव। पादशब्दोऽपि न व्याप्त्यर्थकः, प्रमाणशून्यत्वात्। लक्षणापि न युक्ता, अन्वयाद्यनुपपत्तेः। शक्यार्थसम्बन्धाभावादपि न लक्षणा। यथाकथञ्चित् सम्बन्धेन लक्षणाभ्युपगमे तु पृथिवीशब्दे घ्राणेन रूपमपि लक्ष्येत, समानशेषत्वसम्बन्धस्य सौलभ्यात्॥ १९॥

कि॑ꣳस्विद्वनं॒ क उ॒ स वृ॒क्ष आ॑स॒ यतो॒ द्यावा॑पृथि॒वी नि॑ष्टत॒क्षुः।
मनी॑षिणो॒ मन॑सा पृ॒च्छतेदु॒ तद्यद॒ध्यति॑ष्ठ॒द् भुव॑नानि धा॒रय॑न्॥ २०॥

मन्त्रार्थ—प्रश्न उठता है कि वह कारणरूप वन किस प्रकार का था। वह कार्यरूप वृक्ष कौन सा था? जिसके सहारे कि विश्वकर्मा ने स्वर्ग और पृथ्वी को अलंकृत किया। हे मन का निग्रह करने वाले मनीषियों! सब भुवनों को धारण करते हुए विश्वकर्मा ने जिस स्थान को अधिष्ठित किया, उसको अपने मन से समझ कर उसके बारे में प्रश्न करो॥ २०॥

लोके हि प्रौढप्रासादनिर्माणकुशलः कस्मिंश्चित् प्रौढे वने कञ्चन महान्तं वृक्षं छित्त्वा तक्षणादिना स्तम्भादिकं सम्पाद्य प्रासादं रचयति। इह तु परमेश्वरप्रेरिता जगत्स्रष्टारः, यतो यस्माद् वनाद् वृक्षमादाय द्यावापृथिवी निष्टतक्षुस्तक्षणेन द्यावापृथिव्यौ निष्पादितवन्तः, तद्वनं किंस्वित् किन्नाम स्यात्। स्विदिति वितर्के। न किञ्चित् तादृशं सम्भवतीत्यर्थः। तथा कः स वृक्षस्तादृशः प्रौढो वृक्षः क आस? न कश्चित् तादृशो वृक्षः सम्भवति। हे मनीषिणः, मनसा स्वकीयेन विचार्य तद् इद् उ तदपि पृच्छत इदं सर्वं पृच्छत। किञ्च, ईश्वरो भुवनानि धारयन् यदध्यतिष्ठत् यत्स्थानमधिष्ठितवान्, तदपि स्थानं सर्वतः पृच्छत। एतस्य सर्वस्यापि प्रश्नस्योत्तरं श्रुत्यन्तेषु 'ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत्' इत्यत्राम्नातम्। स्वरूपव्यतिरिक्तवनादिनिरपेक्ष एव परमेश्वरः सर्वं स्वयोगमायया रचयतीत्येव तदुत्तराभिप्रायः। अतोऽत्रापि किंस्विद्वनमित्याक्षेपपरत्वेन याजिनं पृच्छतेत्यस्यापि महद्भिः पृष्टा अभिज्ञास्तस्य स्रष्टुर्वनादिसर्वनिरपेक्षत्वमेव वदिष्यन्ति। ऊर्णनाभवदयमात्मारम्भण इति भावः।

अध्यात्मपक्षे—यतो वनाद् वृक्षाद्वा द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः करोति, 'तक्षतिः करोतिकर्मा'। बहुवचनं पूजार्थम्। विश्वकर्मा तद्वनं स उ वृक्षश्च क आस। यदि तादृशं वनं वृक्षो वा सम्भवेत्, तदा किं द्यावापृथिव्यौ भुवनानि धारयद् यत्स्थानमध्यतिष्ठद् उपरिष्टादास्ते, तदपि किम्? हे मनोषिणः, मनसा पर्यालोच्य पृच्छत। अभिन्ननिमित्तोपादानकत्वमेव परमात्मनोऽत्र प्रश्नमुत्थाप्य बुबोधयिषितम्, 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' (तै० उ० २।७।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

दयानन्दस्तु—'हे मनीषिणः, यूयं मनसा विज्ञानेन किंस्विद् वनं सेवनयोग्यं कारणरूपं वनम्, तथा कः स वृक्षश्छिद्यमानोऽनित्यकार्यरूपः संसारोऽस्तीति पृच्छत। 'यतो द्यावापृथिव्यादिलोकान् को निर्मितवान्? तत्रोत्तरम्—यद् यो भुवनानि धारयन् अध्यतिष्ठद् अधिष्ठाता तद् उ तदेव प्रसिद्धं ब्रह्म सर्वस्यास्य कारणं जानीत' इति, तदपि विसङ्गतमेव, वनवृक्षशब्दयोः प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावात्। न च वननीयं कारणमेव भवति, कार्यस्यापि तथात्वात्। कारणकार्ययोः प्रतिपित्सितत्वे तदनुरूपेणोत्तरेणापि भाव्यम्। इदं कार्यमिदं कारणमिति। तदनुरूपमुत्तरमिदम्। यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुरित्यस्य द्युलोकादीन् को निर्मितवानिति प्रश्नरूपोऽर्थोऽपि नोपपद्यते। तथात्वे यत इत्यस्य स्थाने क इति स्यात्। उत्तरमपि निर्मूलम्, ब्रह्मैव तदिति मन्त्रेऽनुक्तेः॥ २०॥

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥ २१॥

मन्त्रार्थ—स्वधावान् ढेर सारे अन्न से युक्त सारे जगत् के कर्ता ईश्वर के उत्कृष्ट, निकृष्ट और मध्यम श्रेणी के जो स्थान हैं, इन ऊपर, नीचे और मध्य में स्थित लोकों को भक्त यजमानों को आप दीजिये तथा यजमान की दी हुई हवि के उपस्थित होने पर अपने शरीर को समृद्ध करते हुए आप ही यजन कीजिये। हम यजन करते हैं, यह हम कैसे कह सकते हैं? आपके यजन में कौन मनुष्य समर्थ है? इसीलिये हमारा कहना है कि यजन करने वाले स्वयं आप भगवान् ही हैं॥ २१॥

हे विश्वकर्मन्, ते तव या यानि परमाणि उत्कृष्टानि धामानि स्थानानि, या यानि च अवमानि कनीयांसि, उत अपि च या यानि इमानि मध्यमा मध्यमानि, इमा इमानि त्रिविधानि धामानि, सखिभ्यः समानख्यानेभ्यो यजमानेभ्यः शिक्षा शिक्ष उपदिश, देहि वा। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति संहितायां दीर्घः। हे स्वधावः, स्वधा अन्नम् अस्यास्तीति स्वधावान्, तत्सम्बुद्धौ हे स्वधावः! 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इति रुः। हे हविर्लक्षणान्नवन्! त्वं तन्वं यजमानशरीरं वृधानो वर्धयन् सन्, वर्धतेः शानचि व्यत्ययेन शपो लुक्। तन्वमित्यत्र 'वा छन्दसि' (पा० सू० ६।१।१०६) इति पूर्वरूपाभावे यणादेशः। स्वयं यजस्व, त्वदनुग्रहमन्तरेण अन्यस्य कस्यचिद् यष्टुमसामर्थ्यात्। यद्वा हविषि यजमानसम्बन्धिन्युपस्थिते सति तन्वं स्वशरीरं वृधानो वर्धयन् सन् स्वयं यजस्व। स्वस्यासामर्थ्येन वयं यजामह इति कथं वक्तुं शक्यम्? अथवा हे विश्वकर्मन्, यानि धामानि परमाणि, यानि च अवमानि, यानि च मध्यमानि, अपि च इमानि यानि प्रत्यक्षत उपलभ्यन्ते, तेभ्यो द्रव्यमादाय सखिभ्यः समानख्यानेभ्यो यजमानेभ्यो हविषि हविर्निमित्तं शिक्ष देहीति। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—हे विश्वकर्मन् विश्वस्रष्टः, हे स्वधावः सर्वाभीष्टान्नादिमन् परमेश्वर, ते त्वदीयानि यानि स्थानानि उत्तम-मध्यम-कनिष्ठानि, उत इमानि प्रत्यक्षत उपलब्धानि, तानि सखिभ्यो जीवेभ्यो यथायोग्यं शिक्ष देहि 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति जीवेशयोः सख्यश्रवणात्। तवोपकारं कर्तुं यद्यपि

नास्ति सामर्थ्यम्, तव सर्वज्ञसर्वशक्तित्वान्, तेषामल्पज्ञाल्पशक्तित्वात्, तथापि तेषां तन्वं तनूः स्वरूपभूता वृधानः वर्धयन्, अर्थात् तत्सामर्थ्यं जनयन् स्वयं यजस्व स्वयं सामर्थ्यप्रदानेन तैरात्मानं याजयस्व। त्वदनुग्रहेणैव जनास्त्वां भजन्ति यजन्ति च, 'सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्ये। पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥' (भा० पु० १०।४०।२८) इति श्रीमद्भागवतोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे बह्वन्नयुक्त विश्वकर्मन्, ते तव सृष्टौ यानि परमाणि उत्तमानि, यानि अवमानि निकृष्टानि, यानि मध्यमानि धामानि सर्वपदार्थानामाधारभूतानि स्थानानि जन्मस्थानानि नामानि च इमानि सर्वाणि हविषि दातुमादातुं योग्ये व्यवहारे स्वयं यजस्व संगतं कुरु। उत अस्माकं तन्वं शरीरमुन्नतं कुर्वन् आज्ञापालकेभ्यः सखिभ्यः शुभगुणान् शिक्ष उपदिश' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थत्यागात्, गौणार्थाश्रयणाच्च, पदार्थानामित्यध्याहारस्य निर्मूलत्वात्। तथात्वेऽपि वस्तूनां नामानि जन्मानि स्थानानि च व्यवहारे सङ्गतान्येवेति। नोऽस्माकं तन्वमित्यपि निर्मूलम्, मन्त्रे तद्बोधकपदाभावात्, यजस्वेत्यस्याव्याख्यानाच्च ॥ २१ ॥

विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम्।
मुह्यन्त्वन्ये अभितः सपत्ना इहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमात्मन्! मेरे दिए हुए हविरूप अन्न से प्रसन्न हुए आप मेरे यज्ञ में पृथ्वी और द्युलोक के आश्रित जीवों को मेरे ऊपर अनुग्रह कर स्वयं ही यजन करें। आपके प्रसाद से सब ओर से हमारे शत्रु काम, मोह आदि को प्राप्त हों। इस यज्ञ में इन्द्र और यज्ञद्रष्टा ब्रह्मा हमको आत्मज्ञान का उपदेश करें ॥ २२ ॥

हे विश्वकर्मन्, हविषा मया समर्पितेन चरुपुरोडाशादिना वावृधानो वर्धमानो भृशमुपसञ्जातहर्षः सन् मदीये यज्ञे स्वयं यजस्व मदनुग्रहाय स्वयमात्मानमस्माभिर्याजयस्व। किञ्च, पृथिवीं पृथिव्याश्रितानि भूतानि, उतापि च द्यां द्युलोकाश्रितानि भूतानि याजयस्व। अन्ये अभितः स्थिताः सपत्ना अस्माकं शत्रवः, ते मुह्यन्तु मोहिताः सन्तोऽस्मद्वशगा भवन्तु। किञ्च, मघवान् धनवानिन्द्रः, इह अस्माकं सूरिः पण्डित आत्मज्ञानोपदेशकोऽस्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे विश्वकर्मन्, मदीयेन हविषा पत्रपुष्पादिना वावृधानो हर्षोल्लसितो मदनुग्रहाय स्वयं यजस्व मां याजय। पृथिवीं द्याम् इमम् अमुं च लोकं यजस्व अस्मभ्यं देहि। ये चाभितः सपत्नास्तेऽस्माकं प्रभावे रूपे च मुह्यन्तु मोहमाप्नुवन्तु। त्वं चास्माकमिह इहैव जन्मनि सूरिः पण्डितो गुरुर्भूत्वाऽज्ञानोपनोदनज्ञानदानाभ्यामपवर्गं च प्रयच्छ।

दयानन्दस्तु—हे विश्वकर्मन् सभापते, हविषा उत्तमगुणानां ग्रहणेन वावृधान उन्नतिं प्राप्नुवन् यथेश्वरः पृथिवीमुत सूर्यलोकं यजस्व संगतं करोति, तथैव त्वं स्वयं यजस्व सर्वैः समागमं कुरु। इह जगति मघवा प्रशस्तो धनवान् सूरिर्विद्वानस्तु। येनास्माकमन्ये सपत्ना अभितो मुह्यन्तु मोहं प्राप्नुवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वाभ्यूहमूलकव्याख्यानात्। तथाहि—हविषेत्यस्य ग्रहणार्थता, यथातथापदयोर्मन्त्रेऽभावाद् अध्याहारः, यथेश्वरः पृथिवीं द्यां च सङ्गमयति, तथा त्वं सर्वैः समागमं कुर्वित्यादि सर्वमपि व्याख्यानं तथाविधमेव ॥ २२ ॥

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—आज हम महाव्रतीय अन्न के लिये वाणियों के पालक, मन के समान वेग वाले सृष्टिकर्ता ईश्वर को रक्षा के लिये पुकारते हैं । वह संसार का कल्याण करने वाला, सुन्दर कर्म करने वाला हमारी समस्त आहुतियों की रक्षा करे ॥ २३ ॥

इयं व्याख्याताऽष्टमे पञ्चचत्वारिंश्यां कण्डिकायाम् ॥ २३ ॥

विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम् ।
तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत् ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—हे विश्वकर्मन् परमात्मन् ! वर्धमान हविष्प्रदान द्वारा वर्धन के वाक्यों से प्रीति करने वालें इन्द्र को आपने जगत् का रक्षक बनाया है । इसको कोई मार नहीं सकता । इस प्रकार के इन्द्र के लिये पूर्व काल की प्रजा, महर्षिगण आदि प्रणाम करते हैं, जिससे कि शत्रुओं के नाश के लिये यह इन्द्र अपना वज्र उठावे । यह इन्द्र अनेक शुभ कार्यों में आह्वान के योग्य है, अतः हम इसको प्रणाम करते हैं ॥ २४ ॥

इयं व्याख्याताऽष्टमे षट्चत्वारिंश्यां कण्डिकायाम् ॥ २४ ॥

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने ।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद् द्यावापृथिवी अप्रथेताम् ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—जिस समय पूर्व महर्षियों ने पृथ्वी और आकाश की अन्तर्दिशाओं को दृढ़ किया, उसके बाद ही इनका विस्तार हुआ । तब सम्पूर्ण ज्योति को पालन करने वालें, मन से धीर परमात्मा ने नममान द्यावापृथिवी में घृत और जल को उत्पन्न किया ॥ २५ ॥

'चक्षुषः पितेत्यपरमनुवाकेन' (का० श्रौ० १८।३।१८) । षोडशगृहीतस्य अपरमर्धमष्टर्चेन एकामाहुतिं जुहुयादिति सूत्रार्थः । चक्षुषश् चक्षुरादेः प्राणसमुदायस्य पितोत्पादको धीरो धैर्यवान् विश्वकर्मा परमेश्वरो मनसा स्वेच्छया घृतं घृतवत्त्वात् प्राणिनामुपभोगसाधनभूते एने द्यावापृथिव्यौ नम्नमाने परस्परानुकूल्येन नमनोपेते अजनद् अजनयद् उत्पादितवान् । यदा इद् यदैव पूर्वे प्रथमोत्पन्ना वशिष्ठादयः, अन्ता अन्तान्, विभक्तिव्यत्ययः, द्यावापृथिव्योरन्तप्रदेशान् अददृहन्त । आत् इत् । आदनन्तरवाची, इदेवार्थे । अनन्तरमेव युक्तचेष्टावन्तश्चक्षुरादयः प्राणा दृढा अभवन्निति । अथवा द्यावापृथिव्योर्द्रढिमानन्तरमेव द्यावापृथिव्यौ अप्रथेतां विस्तृते अभूताम् । महीधराचार्यस्तु सायणरीत्या चक्षुरादीन्द्रियाणां पालक इति व्याख्यातवान् । उव्वटाचार्यरीत्या तु चक्षुर्नाम ऋषिः, तस्य पिता प्राणः प्रजया स्तूयते । मनसा हि धीरो हि निश्चितं यथा स्यात्तथा मनसा धीमान्, एने द्यावापृथिव्यौ प्रति घृतम् उदकम् अजनत् जगदनुग्रहाय अजनयत् । रोदस्योर्दार्ढ्ये वृष्टिं कुरुत इत्यर्थः । किं कुर्वन् ? नम्नमाने नममाने रोदसी स्तम्भयन् घृतमुदकमजनयदित्यनुषङ्गः ।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे प्रजापुरुषाः ! यूयं यश्चक्षुषो न्यायदर्शकस्य उपदेशकस्य पिता रक्षकः, मनसा योगाभ्यासशान्तेनान्तःकरणेन धीरो घृतमजनयत्, तस्मै अधिकारं दत्त्वा एने राजप्रजयोर्दले नम्नमाने नम्रव्यवहारयुक्ते पूर्वे प्रथमतो वर्तमाने द्यावापृथिव्यौ प्रकाशपृथिवीवत् सम्मिलिते अप्रथेतां प्रख्यातौ भवेताम्, तथैव यदा अन्ता अन्त्यावयवा इव अददृहन्त वृद्धिं प्राप्तौ भवेताम्, तदा आत् पश्चात्, हिं एव, स्थिरराज्ये भवेताम्' इति, तत्तु सर्वथा विश्रृङ्खलमेव, पदार्थासम्बन्धात्। चक्षुष इत्यस्य कथमुपदेशकोऽर्थः ? कश्च तदीयः पिता ? स कथं घृतमजनयत् ? तस्मै केनाधिकारो दत्तः ? तस्य किं जातम् ? कथमुत्तरवाक्येन तत्सम्बन्धः ? इत्यादिकं सर्वमव्यापारेषु व्यापारतुल्यमेव ॥ २५ ॥

वि॒श्वक॑र्मा॒ विम॑ना॒ आद्विहा॑या धा॒ता वि॑धा॒ता प॑र॒मोत स॒न्दृक्।

तेषा॑मि॒ष्टानि॒ समि॒षा म॑दन्ति॒ यत्रा॑ स॒प्त ऋ॒षीन् प॒र एक॑मा॒हुः ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—जिस लोक में सात ऋषियों को विश्वकर्मा के साथ एक कहते हैं, जिनका जगन्निर्माता श्रेष्ठ मन सम्पूर्ण कर्म का ज्ञाता, आकाश में व्यापक, धारण-पोषण-स्थिति करने वाला, सबका उत्पादक और सबसे उत्कृष्ट परमात्मा सम्यक् देखने वाला है, वह उस लोक में उन पुरुषों को अभिलषित वस्तुओं को आहुति के रसभूत अन्न के साथ आनन्द से मोदयुक्त होकर पुष्ट करता है ॥ २६ ॥

विश्वकर्मा विश्वमस्ति विषयत्वेन येषां तानि विश्वानि, अजन्तः। विश्वानि सृष्टिस्थितिप्रलयरूपाणि कर्माणि यस्यासौ तथोक्तः परमेश्वरः। विमनाः विश्वभूतमनाः, विशिष्टं वा मनो यस्य सः, सर्वकर्मज्ञ इत्यर्थः। आत् अपि च विहाया आकाश इव महान्, व्यापक इत्यर्थः। यद्वा विशेषेण जहाति त्यजति सर्वं प्रविलापयतीति विहाया संहर्ता। धाता धारयिता। पोष्टा पालयिता। विधाता विदधाति कर्मफलेन योजयति जनानिति, उत्पादको वा। उत अपि। परमा परमः सर्वोत्कृष्टः, विभक्तेराकारः। सन्दृक् सम्यग् द्रष्टा। यद्वा समीचीनया अनुग्रहदृष्ट्या आनुकूल्येन भक्तान् पश्यतीति तथोक्तः। येषां भूतानामेतादृशो विश्वकर्मा परमेश्वरो द्रष्टा, तेषां भूतानां प्राणिनां मध्ये यानि इष्टानि दम-दान-दयादिभिर्युक्तानि तानि इषा अन्नेन आहुतिरसभूतेन सम्मदन्ति सम्मोदन्ते, यद्वा तेषां भूतानां प्राणिनां मध्ये यानि इष्टानि अभिलषितवस्तूनि तानि इषा आहुतिरसभूतेन सह सम्मदन्ति मोदयुक्तानि पुष्टानि भवन्तीत्यर्थः। यत्र यस्मिन् प्रदेशे सप्त ऋषीन् सप्त च ते ऋषयः सप्त ऋषयः, तान् प्राणभूतान् मरीचिप्रभृतीन्, 'ऋत्यकः' (पा० सू० ६।१।१२८) इति ह्रस्वविधानसामर्थ्याद् गुणाभावः। परः परेण सर्वोत्कृष्टेन विश्वकर्मणा सह। एकमाहुर् एकीभूतान् विद्वांसो वदन्ति। स हि साध्यानां लोकः। तेऽपि विश्वकर्मत्वं प्रार्थयन्त इति शेषः। विभक्तेः सुः। यद्वा परस्मिन् एकम् एकीभूतानाहुः। य एते मरीच्यत्रिप्रमुखाः सप्त ऋषयो विविधा दृश्यन्ते, सर्वे ते सृष्टेः प्राक् परस्मिन्नेकीभूता इति वेदान्तविद आहुः। स च परमेश्वरस्तेषां सप्तर्षिप्रभृतीनामिष्टानि अपेक्षितानि स्थानादीनि इषा स्वेच्छामात्रेण सम्पादयति। तेन ते महर्षयो नन्दन्ति। यद्वा यत्र यस्मिल्लोके सप्तर्षीन् परेण विश्वकर्मणा सह एकीभूतान् परस्मिन् ब्रह्मणि विश्वकर्मरूपे एकीभूतान् आहुर्वेदविदो वदन्ति, तत्र तेषां भूतानां पुंसामिष्टान्यभिलषितानि वस्तूनि इषा अन्नेन आहुतिरसभूतेन सह सम्मदन्ति। अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—उक्त एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, विश्वकर्मा विमना विविधविज्ञानोपेतः, विहाया विविधपदार्थेषु व्याप्तः, धाता सर्वस्य धारकः, पोषकश्च। विधाता सन्दृक् परः सर्वोत्तमः। यमेकमद्वितीयमाहुः, आत् अपि च। यत्र सप्त

ऋषीन् पञ्च प्राणान् वा सूत्रात्मानं धनं जयं च प्राप्य इषा इच्छामात्रेण जीवं मदन्ति, उतापि तेषां जीवानां परमा उत्तमानि इष्टान्यभिलषितानि सुखसाधकानि कार्याणि साधयति, तं यूयमुपाश्रयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रे यमिति पदाभावात्। 'सप्त ऋषीन्' इत्यस्यापि पञ्च प्राणादय इति कल्पित एवार्थः। मरीचिप्रभृतीनां तु सप्तर्षित्वं प्रसिद्धमेव। सप्तर्षीन् प्राप्येति वाक्ये प्राप्येत्यस्य निर्मूलोऽध्याहारः। जीवं मदन्तीत्यपि निर्मूलमेव, मूले मन्त्रे जीवपदाभावात्। अन्यदपि तथैवोह्यम् ॥ २६ ॥

यो नः॑ पि॒ता ज॑नि॒ता यो वि॑धा॒ता धामा॑नि॒ वेद॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
यो दे॒वानां॑ नाम॒धा एक॑ ए॒व तꣳ स॑म्प्र॒श्नं भुव॑ना यन्त्य॒न्या ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—जो विश्वकर्मा परमेश्वर हमारा पालक और उत्पादक है, जो विशेष कर धारण करने वाला है, सम्पूर्ण स्थान और प्राणियों को जानता है, जो एक होकर भी देवताओं के अनेक नामों को धारण करता है, उस परमात्मा में भक्तजन प्रश्नोत्तर करते हुए प्रवेश करते हैं ॥ २७ ॥

यः पूर्वोक्तो विश्वकर्मा नः अस्माकं पिता पाता जनिता जनयिता उत्पादकः। 'जनिता मन्त्रे' (पा० सू० ६।४।५३) इति निपातितः। यो विधाता विशेषेण धारकः। यश्च विश्वा विश्वानि सर्वाणि धामानि स्थानानि भुवनानि चतुर्दश भुवनानि भूतजातानि वा वेद जानाति। यश्च एक एव अद्वितीय एव सन् देवानां बहूनां नामधा नामान्यग्निमित्रादीनि दधाति धारयति करोतीति वा स नामधाः। नाम च पितैव करोति। तस्मादन्या अन्यानि भुवनानि भूतजातानि सम्प्रश्नं सम्यक् प्रश्नो यस्यां क्रियायां सा सम्प्रश्ना। क्रियाविशेषणे क्लीबत्वैकत्वम्। सम्प्रश्नमिति। तं विश्वकर्माणं यन्ति गच्छन्ति प्रलयकाले एकत्वं प्राप्नुवन्ति। यद्वा सम्प्रश्नं सम्यक् प्रश्नं कर्तुं स्वाधिकारविषयं प्रश्नं कर्तुं भुवनानि यं यन्ति, स विश्वकर्मैव सर्वान् प्रजापत्यादीन् स्वाधिकारेषु नियुङ्क्त इति भावः। यद्वा—'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति रीत्या यो बहूनां देवानां नामानि धारयन्नपि स्वयमेक एव भवति, तं विश्वकर्माणं परमेश्वरमन्या अन्यानि सृष्टानि सर्वाणि भुवनानि संप्रश्नो यथा भवति, तथा यन्ति प्रलयकाले एकत्वं प्राप्नुवन्ति। एकीभावयुक्ते प्रलये एक ईश्वरः, कानि भुवनानि इत्येवं प्रश्नः समवधारणं प्रवर्तते, विभागाभावेन श्रुत्यनभिज्ञैर्ज्ञातुमशक्यत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—उक्त एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यो नः पिता जनिता पदार्थानामुत्पादकः, यो विधाता कर्मानुसारेण फलदाता, विश्वानि भुवनानि लोकान् धामानि जन्मस्थानानि वेद जानाति, यो देवानां विदुषां पृथिव्यादिपदार्थानां च स्वविद्यया नामानि धारयति, एकोऽसहाय एवास्ते, यमन्या भुवना लोकस्थाः पदार्था यन्ति प्राप्नुवन्ति, यन्निमित्तं सम्यक् प्रश्नाः प्रष्टव्याः, तं जानत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विदुषामेव नामधारयितृत्वे विशेषानुपपत्तेः। सिद्धान्ते तु देवा महाभाग्या देवविशेषाः। तेषामपि तस्य नामधारकत्वेन तेषामपि पितृत्वेन माहात्म्यातिशयो व्यज्यते। पृथिव्यादिपदार्थानां नामधारयितृत्वं तु मन्त्रबाह्यमेव। यं भुवना यन्ति यन्निमित्ताः सम्प्रश्नास्तं जानतेत्यपि निर्मूलम्, तथार्थावबोधकपदाभावात् ॥ २७ ॥

त आयंजन्त द्रविण्ँ समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना ।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—स्तुति करने वाले विश्वकर्मा के रचे हुए वे पूर्वकालीन ऋषि इस भूतसमूह को जलरूप धन भली प्रकार से देते हुए सबकी कामनाओं को पूरा करते हुए सत्रह अवयव वाले लिंगशरीर से भली प्रकार प्रेरित अन्तरिक्ष लोक में स्थित हो इन प्राणियों की रक्षा करते हैं ॥ २८ ॥

ते पूर्वे ऋषयो विश्वकर्मसृष्टा मरीच्यत्र्यादयः, अस्मै भूतग्रामाय द्रविणं जललक्षणं धनं भोगजातं वा समायजन्त सम्यग् आभिमुख्येन दत्तवन्तः । यजतिरत्र दानार्थः । कथं ददुः ? न भूना न भूम्ना न बाहुल्येन, किन्तु युक्त्या यथाकामयथाकर्मवर्षित्वेनेत्यर्थः । मलोपश्छान्दसः । कथम्भूता ऋषयः ? जरितारः स्तोतारः । 'जरिता इति स्तोतृनामसु' (निघ० ३।१६।२) । कथम्भूताश्च ते ? इत्यत्राह—ये ऋषयः, इमानि भूतानि समकृण्वन् । सौवादिकस्य करोतेर्लङि रूपम् । ये तानि सृजन्ति त एवोदकदानेन जीवयन्तीत्यर्थः । अनेकार्थत्वादत्र उत्पत्तौ वृत्तिः । पुनः कीदृशाः ? असूर्ते असूर्ताः । असुभिः सप्तदशावयवैर्लिङ्गशरीरैर् ईरिता असूर्ताः । असुपूर्वस्य 'ईर गतौ कम्पने च' इत्यस्य निष्ठायां छान्दस इडभावः । ईकारस्य च पूर्वसवर्णदीर्घः । जस एकारः । तथा रजसि अन्तरिक्षलोके । 'लोका रजांस्युच्यन्ते' (निरु० ४।१९) इति यास्कः । निषत्ते निषत्ता निषण्णाः । जस एकारः । कीदृशे रजसि ? सूर्ते सुष्ठु ईरिते प्रेरिते विस्तीर्णे । सुपूर्वस्य ईरधातोर्निष्ठायां रूपम् । 'नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्तसूर्तगूर्तानि छन्दसि' (पा० सू० ८।२।६१) इति निपातेन सदेर्निषत्ते इति रूपम् ।

उव्वटाचार्यरीत्या तु—असूर्ते असुसमीरिते । असुः प्राणः सप्तदशकलिङ्गदेहयुक्तात्मानः सूर्ते सुष्ठु समीरिते रजस्यन्तरिक्षलोके निषत्ते निर्गतसत्ताके निरालम्बने यत्र स्थिताः सन्तो ये भूतानि समकृण्वन् कृतवन्तः, ते इमानि भूतानि आयजन्त आभिमुख्येन दत्तवन्तः । किं दत्तवन्तः ? उदकलक्षणं धनमेभ्यो भूतेभ्यो जीवनाय दत्तवन्त इति सम्बन्धः । समस्मै सङ्गत्य अस्मै भूतग्रामाय । शेषमुपर्युक्तवत् । प्राणरूपाः प्रजापतय एवात्र ऋषयः, स्रष्टृत्वात्, जीवननिमित्तभोग्यद्रविणदानेन पालकत्वाच्च ।

अध्यात्मपक्षे—असुः प्राणः परमेश्वरः, 'प्राणस्य प्राणः' (केनो० १।२) इति श्रुतेः 'प्राणस्तथानुगमात्' (ब्र० सू० १।१।२८), 'अत एव प्राणः' (ब्र० सू० १।१।२३) इति सूत्रनिदर्शनाच्च । तेन परमात्मना ईरिताः प्रेरिताः, असूर्ते तादृशा ऋषयः पूर्वे प्राणरूपाः, अस्मै जरितारः स्तोतारः सूर्ते सुशोभनेन अन्तर्यामिणा ईरिते नियन्त्रिते रजसि अन्तरिक्षे लोके निषत्ते निरालम्बने इमानि इदङ्कारास्पदानि भूतानि समकृण्वन् कृतवन्तः, तत्प्रेरणमन्तरा निरालम्बनेऽन्तरिक्षे भूतनिर्माणासम्भवात् । न केवलं भूतान्येव निर्मितवन्तः, किन्त्वस्मै स्वरचितभूतप्राणिसमुदायाय द्रविणं धनमुदकादिलक्षणं भोगजातं समायजन्त दत्तवन्तः । कथं दत्तवन्तः ? न भूना न भूम्ना बाहुल्येन, किन्तु यथाकामयथाकर्मवर्षित्वेन ।

दयानन्दस्तु—'ये पूर्वविधया सर्वपुष्टिकर्तारः स्तोतारश्च इव ऋषयो वेदार्थज्ञा भूना बहवः, असूर्ते परोक्षा अप्राप्ताः, सूर्ते प्रत्यक्षाः प्राप्ताः, निषत्ते स्थापिताः, रजसि इमानि भूतानि प्राणिनः समाकृण्वन् शिक्षयन्ति, ते अस्मै अस्य परमेश्वरस्य आज्ञापालनाय द्रविणं धनं समायजन्त सङ्गमयन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित् । समकृण्वन्-भूना-असूर्ते-सूर्ते—इत्यादिपदानां तत्तदुक्तेष्वर्थेष्वशक्तेः । 'अस्मै' इत्यस्य 'ईश्वराज्ञापालनाय' इत्यपि काल्पनिक एवार्थः, निर्मूलत्वात् ॥ २८ ॥

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति ।
कऀ स्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे ।। २९ ।।

मन्त्रार्थ—जो ईश्वर का तत्त्व हृदय-कमल में विद्यमान है, वह द्युलोक से भी दूर, अर्थात् दुर्ज्ञेय है। वह इस पृथ्वी से भी दूर है। जल ने पहले किसके गर्भ को धारण किया ? यह तो देखो कि उसने पहले जल को उत्पन्न किया। जिस समय जल को प्रथम गर्भ में धारण किया, वह गर्भ कैसा आश्चर्य रूप है ? जहाँ पूर्वकाल के देवता और महर्षियों ने जगत् को देखा ।। २९ ।।

ब्रह्मविषयकप्रश्नप्रतिवचनरूपा मन्त्राः। अत्र मन्त्रे विभक्तिव्यत्ययबाहुल्यम्। यत् परब्रह्मतत्त्वमस्ति, हृदीति शेषः। हृदयपुण्डरीके यद् ब्रह्मतत्त्वमस्ति, तद् दिवा परो द्युलोकादपि दूरे तिष्ठति, दिवो दुर्ज्ञेयत्वात्। परस्शब्दः सान्तो दूरवाची। एना अस्याः पृथिव्या भूमेरपि परो दूरे। दूरत्वं नाम विलक्षणत्वम्, सर्वजगद्विलक्षणत्वात्, शास्त्राचार्योपदेशसंस्कारशून्यैर्वर्षकोटिभिर्लब्धुमशक्यत्वात्। देवेभिः देवेभ्यः, असुरेभिः असुरेभ्यश्च दूरे, तैरपि लब्धुमशक्यत्वादेव। इन्द्रविरोचनाभ्यां द्वात्रिंशद्वर्षब्रह्मचर्यपालनेनापि विपरीतमेव प्रतिपन्नम्, महतायासेनैव ज्ञातत्वात्। किञ्च, स्विदिति वितर्के। आपः प्रथमं कं गर्भं दध्रे दधिरे अधारयन्। धाञो लिटि तङि प्रथमपुरुषबहुवचनस्य 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' (पा० सू० ३।४।८१) इतीरेचि कृते 'इरयोरे' (पा० सू० ६।४।७६) इति रे आदेशे तस्य स्थानिवत्त्वात् 'आतो लोप इटि च' (पा० सू० ६।४।६४) इत्याकारलोपे 'दध्रे' इति रूपम्। पूर्वे देवाः प्रथमोत्पन्नाः सर्वे देवा वशिष्ठादयः, यत्र गर्भे समपश्यन्त सम्यग् दृष्टवन्तः, जगदिति शेषः। तस्मिन् गर्भे देवमनुष्यादयः सर्वे प्राणिनः सन्तीति शास्त्रप्रसिद्धिः। सोऽपि गर्भः क इति न ज्ञायते। यदा स्थूलोऽप्ययं जगदाधारो न विज्ञायते, तदा अत्यन्तं सूक्ष्मं ब्रह्म आत्मतत्त्वं न विज्ञायत इति किमु वक्तव्यमिति तात्पर्यम्। यच्च सर्वदा सर्वदेशेषु सर्वकालेषु चास्ति, तद् ब्रह्मेति शेषः। यद्वा कं गर्भं दध्रे धारितवत्य आपः, यत्र गर्भे पूर्वे पूर्वजाता देवाः प्रजापतिना सङ्गताः समपश्यन्त इदं जगत् सम्यग् दृष्टवन्तः।

अध्यात्मपक्षे—उक्त एवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य एना सूर्यादिलोकेभ्यः परः अत्युत्तमः। पृथिव्याः पृथिव्यादिलोकेभ्योऽपि परः। देवेभिः विद्वद्भ्यो दिव्यप्रजाभ्यो वा। असुरैः असुरेभ्यः अपण्डितेभ्यः कालरूपप्रजाभ्यश्च परोऽस्ति। यत्र आपः प्राणाः कंस्विद् कञ्चित् प्रथमं विस्तृतं गर्भं ग्रहणयोग्यं पदार्थम्, दध्रे धारणमाणाः, यत् पूर्वं पूर्णविद्याया अध्येतारो देवा विद्वांसः समपश्यन्त ज्ञानचक्षुषा पश्यन्ति, तं जानत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सूर्यलोकादिभ्य परस्य तद्धेतूनां प्रकृतिमहदहङ्कारादीनामपि सम्भवात्। प्रथमगर्भशब्दयोर्व्याख्यानमपि निर्मूलमेव ।। २९ ।।

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ।। ३० ।।

मन्त्रार्थ—जल ने पहले उसे ही गर्भ में धारण किया, क्योंकि गर्भ में सम्पूर्ण देवता एकत्र होकर रहते हैं। उस गर्भ का आधार क्या है ? जन्मरहित परमेश्वर के नाभिस्थानीय मध्य भाग में एक अविभक्त अनन्यभूत किंचित् वस्तु को बीज (गर्भरूप) में स्थापित किया, जिसमें सम्पूर्ण भूतसमूह विद्यमान थे, अर्थात् वह परमात्मा ही सबका आश्रय है, उसका कोई आश्रय नहीं है ।। ३० ।।

तमिदिति प्रत्युत्तररूपो मन्त्रः। आपः प्रथमं तमित् तमेव आश्चर्यभूतं गर्भं दध्रे दधिरे। इच्छब्दो निपात आश्चर्यवचनः। यत्र गर्भे विश्वे सर्वे देवाः समगच्छन्त सङ्गताः। नन्वद्भिः सहितस्य तस्य गर्भस्य अण्डरूपस्य क आधार इति चेत्, तत्रोच्यते—अजस्य न जायत इत्यजः, तस्य जन्मरहितस्य परमात्मनो नाभावधि नाभिस्थानीयस्य स्वरूपस्य मध्ये एकमविभक्तमनन्यभूतमर्पितं समर्पितं किंचिद्बीजं गर्भरूपं स्थापितम्। 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्। तदण्डमभवद्धैमं सूर्यकोटिसमप्रभम्॥' (म० १।८-९) इति मनुनाऽप्ययमर्थः समर्थ्यते। स एव सर्वाग्रयो न तस्यान्य आश्रयः, सर्वमूलस्यापि मूलान्तरकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गात्, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० उ० ७।२४।१) इति श्रुतेः।

काण्वभाष्यरीत्या तु—इदानीं गुरुशास्त्रानुशासनोपेतेषु विद्यमानस्तत्त्वनिर्णयोऽभिधीयते—यत्र यस्मिन् ब्रह्माण्डगर्भे विश्वे सर्वेऽपि देवाः समगच्छन्त सङ्गताः सम्भूय वर्तन्ते, तमिममेव गर्भमापः प्रथमं दधिरे। तत्प्रकार एव स्पष्टीक्रियते—अजस्य जन्मरहितस्य परमेश्वरस्य नाभौ नाभिस्थानीयस्वरूपमध्ये एकं किञ्चिद्बीजमध्यर्पितम् अधिकत्वेन स्थापितम्। अस्मिन् बीजे विश्वानि सर्वाण्यपि भुवनानि भूतजातानि तस्थुः, तद्बीजमर्पितमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यत्र ब्रह्मणि, आपः कारणं प्राणा जीवो वा प्रथमं विस्तारयुक्तं गर्भं सर्वलोकोत्पत्तिस्थानं प्रकृतिं दध्रे धारयन् भवति, यत्र विश्वे देवा दिव्यात्मानो योगिजनाः समगच्छन्त प्राप्नुवन्ति, अजस्य अनुत्पन्नस्य अनादिजीवस्य अव्यक्तकारणसमूहस्य वा नाभौ मध्ये अधि अधिष्ठातृत्वेन सर्वस्योपरि विराजमानम् एकं स्वतः सिद्धम् अर्पितं स्थितम्, यस्मिन् विश्वानि भुवनानि लोकोत्पन्नद्रव्याणि तस्थुः, यूयं तमेव जानत' इति, तदपि विसङ्गतमेव, ब्रह्मणि निर्विकारे गर्भाधानस्य निष्प्रमाणकत्वात्। ब्रह्मण्यापो गर्भं धारयन्तीति सर्वथा प्रमाणशून्यमेव। आप इत्यस्य जीवार्थकत्वं कारणसमूहार्थत्वं च निर्मूलमेव। 'प्रथमं विस्तारयुक्तं गर्भं प्रकृतिं दध्रे' इत्यपि विचित्रम्। प्रकृतिः शक्तिर्वा कारणत्वेनोक्ता न तु गर्भत्वेन, 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० उ० ४।१०) इति श्रुतेः। 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि' (भ० गी० १३।१९) इति भगवद्वचनाच्च॥ ३०॥

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥ ३१॥

मन्त्रार्थ—जिस परमात्मा ने इस सारे जगत् को उत्पन्न किया है और जो अहंकार आदि से युक्त जीवों के अन्तर में भी विद्यमान है, उसको तुम नहीं जान सकते, क्योंकि अन्धकारसदृश अज्ञान से मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, यह मेरा गृहक्षेत्र है, इत्यादि असत् बातों से आच्छादित हुआ जिस किसी प्रकार से प्राण के पोषण की चिन्ता में लगा ईश्वर के वास्तविक तत्त्व को न विचार कर परलोक के भोगों को पाने के लिये सकाम यज्ञों में स्तुति करता हुआ वह प्राणी विचरता है। वास्तव में ईश्वर तत्त्व का ज्ञान सब प्रकार के अहंकार को छोड़ने पर ही होता है॥ ३१॥

वेदपुरुष उपदिशति—न तमिति। यो विश्वकर्मा इमा इमानि भूतजातानि जजान उत्पादितवान् पालयति संहरति च, जनेरुपलक्षणत्वात्, तं विश्वकर्माणं न विदाथ हे जीवाः! यूयं न जानीथ। 'लेटोऽडाटौ' (पा०

सू० ३।४।९४) इत्याद्यागमः। ननु चैत्रोऽहम्, मैत्रोऽहम्, विष्णुमित्रोऽहमिति रूपेण सर्वोऽप्यात्मानं जानात्येव, आत्मैव च परमेश्वरः 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यादिश्रुतिभ्यः, इति चेत्, तदसत्, परमेश्वरस्य अहंप्रत्ययगम्येभ्यो जीवरूपेभ्योऽन्यत्वात्। तदेवाह—युष्माकमिति। युष्माकमहं प्रत्ययगम्यानां जीवानामन्तरमाभ्यन्तरं वास्तवं रूपमन्यद् अहंप्रत्ययगम्यादतिरिक्तं सर्ववेदान्तमहातात्पर्यगोचरं पारमेश्वरं तत्त्वं बभूव भवति विद्यते। ननु जीवरूपवत् तदपि कुतो न विद्म इति चेत्, नीहारेण प्रावृता नीहारसदृशेन अज्ञानेन आवृतत्वान्न जानीथेति। नीहारो यथा दृष्टेरावरकत्वान्नात्यन्तमसन्, पाषाणादिवदवरोधकत्वाभावाच्च नात्यन्तं सन्, एवमज्ञानमपि नात्यन्तमसत्; ब्रह्मात्मतत्त्वावरकत्वात्; नापि सत्, बोधमात्रनिवर्त्यत्वात्। तादृशेन अज्ञानेन सर्वे जीवाः प्रावृताः। जल्प्या च जल्पनं जल्पिस्तया देवोऽहं मनुष्योऽहं ममेदं गृहक्षेत्रादिकम् इत्यनृतजल्पनेन व्याप्ताश्च। किञ्च, असुतृपः असुषु प्राणेषु प्राणोपलक्षितेष्वनात्मसु तृप्यन्तीत्यसुतृपो ब्रह्मात्मतत्त्वविचारपराङ्मुखाः, न केवलं लौकिकभोगपरायणाः, किन्तु उक्थशासः परलोकभोगान् सम्पादयितुं यज्ञेषु उक्थानि शंसन्तीति उक्थशास उक्थादिशस्त्रस्तोतारः। शसेः क्विपि रूपम्। ऐहिकामुष्मिकभोगप्रवृत्तानामज्ञानमिथ्याज्ञानपराधीनानां तत्त्वज्ञानं नास्तीत्यर्थः। यद्वा न तं विदाथ य इमा जजान। कुतो न विद्म इति चेत्तत्राह—युष्माकमिति। युष्माकं तस्य च अन्यद् महद् अन्तरं भेदो बभूव स परमेश्वरो जनको यूयं जन्याः, स भ्रामको यूयं भ्राम्याः। यदि तु ज्ञात्वा आत्मत्वेनोपाध्वं तदा संसृतेरुन्मूलनं भवति। एवं प्रत्यक्षज्ञानुक्त्वा परोक्षज्ञानां भियं दर्शयन्नाह—नीहारेणेति। ये चैते नीहारेण अविद्यया प्रावृता अवगुण्ठिताः, ये च जल्प्याः पक्षहेतुदृष्टान्तैरात्मज्ञानं जल्पन्तीति जल्प्याः, कुतार्किकाभिप्रायमेतत्। ये चासुतृपः असून् प्राणान् तर्पयन्तीत्यसुतृपः अलङ्करिष्णवः, तैरपि सह तस्य पुरुषस्य महदेवान्तरं बभूव। ये उक्थशास उक्थानां शसितारः। उक्थानि च यज्ञेषु शस्यन्ते, अत उक्थशासःपदेन यज्वानो गृह्यन्ते। ये यज्ञशीलास्ते पुरुषं प्रतिविचरन्ति, ये तु पुरुषविदस्ते तु पुरुषा एव भवन्ति, नीहारप्रावृतास्तु नरकयायिनो भवन्तीत्युव्वटाचार्याभिप्रायः।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा ब्रह्मानभिज्ञा नीहारेण धूमसदृशेन मिहिकया तुलितेन अज्ञानेन अन्धकारेण प्रावृता जल्प्या सत्यासत्यवादानुवादनिरता असुतृपः प्राणपोषका उक्थशासो योगाभ्यासमपहाय खण्डनमण्डनादौ रममाणाश्चरन्ति, तं परमात्मानं न जानन्ति जानीथ य इमा इमानि यद् ब्रह्म युष्माकमधर्मिणामज्ञानिनां च सकाशाद् अन्यत् सर्वेषु स्थितोऽपि दूरस्थो बभूव, तमतिसूक्ष्मं परमात्मानं न विदाथ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अज्ञानिनोऽज्ञानेनावृता इत्युक्तेर्निरर्थकत्वादशब्दार्थत्वाच्च, अज्ञानिन इत्यनेनैवाज्ञानावृतत्वसिद्धेः। नीहारपदस्य धूमो नार्थः, मिहिकार्थत्वात्। जल्प्या इत्यस्यापि व्याख्यानं चिन्त्यम्, 'जल्प व्यक्तायां वाचि' इति धात्वर्थविरोधात्। उक्थशास इत्यस्य खण्डनमण्डनाद्यर्थता निर्मूलैव, उक्थादिशस्त्रानभिज्ञानात्। दूरस्थपदमपि मूले नास्त्येव ॥ ३१ ॥

वि॒श्वक॑र्मा॒ ह्यज॑निष्ट दे॒व आदिद्ग॑न्ध॒र्वो अ॑भवद् द्वि॒तीयः॑।
तृ॒तीयः॑ पि॒ता ज॑नि॒तौष॑धीना॒मपां गर्भं॒ व्य॑दधात् पुरु॒त्रा ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—इस ब्रह्माण्ड के बीच सर्वप्रथम देव, तिर्यक् आदि जगत् का भेद करने वाले सत्यलोकवासी चतुर्मुख देव प्रादुर्भूत हुए, अर्थात् आदित्य के अन्तर में पुरुष रूप से प्रकट हुए। अनन्तर दूसरी सृष्टि में गन्धर्व, पृथ्वी को धारण करने वाले अग्नि अथवा गानविद्या में चतुर देवयोनिविशेष प्रकट हुए। तीसरी सृष्टि ओषधियों के उत्पादक और पालक पर्जन्य (वृष्टि) की हुई। वह पर्जन्य उत्पन्न होते ही आहुति के परिणामभूत जल को अनेक प्रकार से गर्भ में धारण करता रहा ॥ ३२ ॥

ब्रह्माण्डगतानामुत्पत्तिरुच्यते। हि यस्माद् विश्वकर्मा ब्रह्माण्डमध्ये प्रथमं देवतिर्यगादिजगद्भेदकर्ता ब्रह्मलोकस्थश्चतुर्मुखो देवो दीव्यमानः प्रथमम् अजनिष्ट उत्पन्नः। आत् इद् अनन्तरमेव तदपेक्षया द्वितीयो गन्धर्वः। गोर्वाचो धारयिता, गोः पृथिव्या वा धारयिताग्निः, 'अग्निर्ह गन्धर्वः' (श० ९।४।१।७) इति श्रुतेः। गानाद्वा गन्धर्वः, अभवत्। पिता पालयिता ओषधीनां जनिता उत्पादकः पर्जन्य उत्पन्नः, स पूर्वोक्तद्वयापेक्षया तृतीयोऽभवत्। स उत्पन्नः सन् अपामाहुतिपरिणामभूतानाम् अपां गर्भं व्यदधात् करोति धारयति वा। कथंभूतं गर्भम्? पुरुत्रा पुरून् बहून् त्रायते रक्षतीति पुरुत्रा, बहूनां रक्षकं बहुप्रकारं वा, विभक्तेराकारः। यद्वा विश्वकर्मा आदित्यमण्डलान्तर्गतः पुरुषः। हि यस्मात्, अजनिष्ट जातः। स च देवो दानादिगुणकः, तस्मात् प्रथममजनिष्ट। आदिद् अनन्तरमेव गन्धर्वो गोः पृथिव्याः धारयिताग्निः, गानाद्वा गन्धर्वोऽग्निः, द्वितीयः सहायाय अजनिष्ट, 'अथो आहुरग्निरेवास्यै पृष्ठे सर्वः कृत्स्नो मन्यमानोऽगायद् यदगायत् तस्मादग्निः' (श० ६।१।१।१५) इति श्रुतेः। ओषधीनां पिता पालयिता जनयिता पूर्वद्वयापेक्षया तृतीयः पर्जन्योऽभवत्। स चोत्पन्नः सन्नपामाहुतिपरिणाम-भूतानां गर्भं व्यदधात्। कीदृशः पर्जन्यः? पुरुत्रा बहूनां त्राता। यद्वा—अपां गर्भं व्यदधात् पुरुत्रा बहुप्रकारं पृथिव्यां धारयति।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, जगत्यस्मिन् विश्वकर्मा समस्तशुभकर्मयुक्तो देवो दिव्यस्वरूपो वायुः प्रथमम् इद् एव आद् अनन्तरं गन्धर्वः, यः पृथिव्या धारकः सूर्यः सूत्रात्मा वायुर्वा अजनिष्ट। ओषधीनामपां जलानां प्राणानां वा पिता पालको हि द्वितीयो धनञ्जयः, अपां प्राणानां गर्भं धारकं व्यदधात्। पुरुत्रा बहूनां रक्षको जनिता जलानां धारको मेघस्तृतीय उत्पन्नस्तज्जानीथ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वायोरेवाशुभस्यापि कर्मणः कर्तृत्वेन तद-योगात्, अन्यस्य आदित्यस्य वायोरनिरूपणात्। न च तस्य प्रथमोत्पत्तिः, आकाशस्य तत्पूर्वभावित्वात्। न च सूर्यः पृथिव्या धारकः, एतादृशमतस्य आधुनिकत्वात्। कोऽयं धनञ्जयो यः प्राणानां पिता? उपप्राणश्चेत्, कथं तस्य मुख्यप्राणपालकत्वम्? अन्यदप्येतादृगेव व्याख्यानम्॥ ३२॥

आ॒शुः शिशा॑नो वृष॒भो न भी॒मो घ॑नाघ॒नः क्षोभ॑णश्चर्षणी॒नाम्।
सं॒क्रन्द॑नोऽनिमि॒ष ए॑कवी॒रः श॒तꣳ सेना॑ अजयत् सा॒कमिन्द्रः॑॥ ३३॥

मन्त्रार्थ—शीघ्रगामी, वज्र के समान तीक्ष्ण, वर्षा के स्वभाव की उपमा वाला, भयकारी शत्रुओं का अतिशय घातक, मनुष्यों के क्षोभ का हेतु, बार-बार गर्जन करने वाला देवता होने से पलक न झपकाने वाला, अत्यन्त सावधान अद्वितीय वीर इन्द्र एक साथ ही शत्रुओं की सैकड़ों सेनाओं को जीत लेता है॥ ३३॥

'आहवनीये प्रणीयमानेऽप्रतिरथस्य द्वादश ब्रुवन्नग्नौ, सर्वत्रैके' (का० श्रौ० ११।१।९-१०)। अग्निचयने चित्याग्निं प्रति आहवनीये प्रणीयमाने अध्वर्युणा सम्प्रेषितो ब्रह्मा दक्षिणतोऽनुव्रजन् आशुः शिशान इत्येतस्य अप्रतिरथसूक्तस्य द्वादशर्चो जपेत्। एके शाखिनः सर्वत्र अनग्निके साग्निके च क्रतौ अग्निप्रणयनेऽप्रतिरथस्य द्वादश ऋचो ब्रुवन् ब्रह्मानुगच्छेदित्याहुरिति सूत्रद्वयार्थः। अप्रतिरथदृष्टा इन्द्रदेवत्या द्वादश त्रिष्टुभः। इन्द्रः शतं सेनाः शतसंख्याकाः परकीयसेनाः साकं सहैव एकप्रयत्नेनैव अजयद् जयति। कीदृशः इन्द्रः? आशुः अश्नुते व्याप्नोतीत्याशुः शीघ्रगामी। शिशानः 'शो तनूकरणे' इत्यस्य बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति जुहो-त्यादित्वात् शानचि द्वित्वे रूपम्। श्यति वज्रं तीक्ष्णीकरोतीति शिशानः। वृषभो न वृषभ इव भीमो भयङ्करः,

अत्युग्र इत्यर्थः। घनाघनः शत्रूणामतिशयेन घातकः, हनहनेति वक्ता वा, वृष्टिकर्तृमेघरूपो वा। 'शक्रो घातुकमत्तेभो वर्षुकाब्दो घनाघनः' (अ० को० ३।३।१०) इति कोषात्। चर्षणीनां परसेनागतानां मनुष्याणां क्षोभणः क्षोभहेतुः। संक्रन्दनः समीचीनं क्रन्दनं परभयहेतुध्वनिविशेषो यस्यासौ संग्रामकारिणां समाह्वाता वा। अनिमिषो न निमिषतीत्यनिमिषः, अत्यन्तं सावधानः। अथवा देवोऽनिमिषस्तस्य निमेषाभावात्। एकवीर एकः प्रधानश्चासौ वीरः, स तथोक्तः। परनैरपेक्ष्येण स्वयमेव अनन्तशत्रुसेना जेतुं शक्तः। तादृश इन्द्रः शतं सेना अजयद् इति सम्बन्धः

अत्र ब्राह्मणम्—'अथातः सम्प्रेष्यति। उद्यच्छेध्ममुपयच्छोपयमनीरग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूह्यग्नीदेकस्फ्याऽनूदेहि ब्रह्मन्नप्रतिरथं जयेति' (श० ९।२।३।१)। इत्थमग्निप्रणयनार्थं यथोक्तं होमं विधाय तत्प्रणयनौपयिकीः क्रियाः कर्तुं तदुचितं सम्प्रैषमाह—अथातः सम्प्रेष्यतीति। प्रणेष्यमाणाग्निसिद्धचर्थं गार्हपत्ये प्रक्षिप्तं काष्ठमिध्मं तद् उद्यच्छ। अग्निधारणार्थमधस्तात्क्रियमाणाः सिकता उपयमन्यः, ताश्च उपयच्छ। ताः कुरु। तदेतदुभयं प्रतिप्रस्थातारं प्रत्युच्यते। हे होतः, प्रह्रियमाणायाग्नये अनुब्रूहि, अग्निप्रणयनीया ऋचोऽनुब्रूहीति यावत्। हे अग्नीत्, त्वमेकया स्फ्यरेखयाऽनुगच्छ। हे ब्रह्मन्, 'आशुः शिशानः' इत्याद्यप्रतिरथाख्यं सूक्तं जप। एवं तत्र तत्र व्यापारे तं तं विनियुञ्ज्यादित्यर्थः। 'एतद्वै देवानुपप्रैष्यतः। एतं यज्ञं तꣳस्यमानान् दक्षिणतोऽसुरा रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अजिघाꣳसन्न यक्ष्यध्वे न यज्ञं तꣳस्यध्व इति' (श० ९।२।३।२)। अप्रतिरथजपोपयोगं पुराकल्पेनाह—एतद्वा इति। चयनाख्यं यज्ञं करिष्यमाणान्, कर्तुमग्निविहारसमीपे गच्छतो देवान् दक्षिणभागेन एत्य असुरा रक्षांसि च न यक्ष्यध्वे न यजध्वम्। व्यत्ययेन लोडर्थे लृट्। न यज्ञं तंस्यध्वे विस्तारयध्वमित्यजिघांसन् देवानां यज्ञं विहन्तुमैच्छन्।

'ते देवा इन्द्रमब्रुवन्। त्वं वै नः श्रेष्ठो बलिष्ठो वीर्यवत्तमोऽसि त्वमिमानि रक्षाꣳसि प्रतियतस्वेति। तस्य वै मे ब्रह्म द्वितीयमस्त्विति तथेति तस्मै वै बृहस्पतिं द्वितीयमकुर्वन् ब्रह्म वै बृहस्पतिस्त इन्द्रेण चैव बृहस्पतिना च दक्षिणतोऽसुरान् रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याभयेनाष्ट्र एतं यज्ञमतन्वत' (श० ९।२।३।३)। देवा इन्द्रमब्रुवन् नोऽस्माकं मध्ये त्वमेव श्रेष्ठो बलिष्ठश्च। त्वमिमानि रक्षांसि प्रतियतस्व प्रतियत्नं कुरुष्व। इन्द्रेण मे ब्राह्मणो द्वितीयोऽस्त्वियुक्तम्। तथैव कुर्म इत्युक्त्वा देवा बृहस्पतिं द्वितीयमकुर्वन्। तथा कृत्वा ते देवा इन्द्रेण बृहस्पतिना च दक्षिणभागे नाशकान् असुरान् रक्षांसि चापहत्य अनाष्ट्रे अभये प्रदेशे प्रकृतं यज्ञमकुर्वत। 'तद्वा एतत्क्रियते। यद्देवा अकुर्वन्निदं नु तानि रक्षाꣳसि देवैरेवापहतानि यत्त्वेतत् करोति यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणीत्यथो इन्द्रेण चैवैतद् बृहस्पतिना च दक्षिणतोऽसुरान् रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याऽभयेऽनाष्ट्र एतं यज्ञं तनुते' (श० ९।२।३।४)। देवाः पूर्वं यत्कर्म अकुर्वन्, इदानीन्तनेऽपि यज्ञे याज्ञिकास्तथैव कुर्वन्ति। यद्यप्यस्य रक्षसामपहननकर्मणः पूर्वं देवैरेव सम्पादितत्वात् चरितार्थत्वादेतत्कर्म न करणीयम्, तथापि देवैः कृतमतोऽस्माभिरपि करणीयमिति धियैव एतत्कर्मानुष्ठानम्। शेषं सुगमम्। 'स यः स इन्द्रः। एष सोऽप्रतिरथोऽथ यः स बृहस्पतिरेष स ब्रह्मा तद्यद् ब्रह्माप्रतिरथं जपतीन्द्रेण चैवैतद् बृहस्पतिना च दक्षिणतोऽसुरान् रक्षाꣳसि नाष्ट्रा अपहत्याऽभयेऽनाष्ट्र एतं यज्ञं तनुते तस्माद् ब्रह्माऽप्रतिरथं जपति' (श० ९।२।३।५)। ननु देवाः पूर्वमिन्द्रबृहस्पतिभ्यां रक्षांस्यपाघ्नन्नित्येतदस्तु, प्रकृते क इन्द्रः? को वा बृहस्पतिः? कथं वा ताभ्यां रक्षसामपहननं कर्तुं युक्तमुपपद्यते? इत्याह—स यः स इति। प्रथमतच्छब्देन पूर्वं दक्षिणभागे रक्षसामपहन्ता इन्द्रः परामृश्यते। स य इन्द्रोऽस्ति, एष सोऽप्रतिरथ इत्यादि स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रो निरङ्कुशपरमैश्वर्यो भगवान् श्रीरामः शतं सेना रावणादीनामेकप्रयत्नेनैव अजयत्। कीदृश इन्द्रः? आशुः शीघ्रगामी गरुडादिभ्यो मरुद्भ्यो मनसोऽपि वेगवत्तमो भूत्वा भक्तरक्षार्थं गच्छति। गजेन्द्र-

रक्षार्थं गरुडमपि त्यक्त्वाऽधावत्। 'छन्दोमयेन गरुडेन समूह्यमानश्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः' (भा० पु० ८।३।३१)। तत्र भगवान् वेद एव गरुडः संवृत्तः। चक्रेण नक्रवदनं विनिपाट्य तस्माद् हस्ते प्रगृह्य गजेन्द्रमुद्धृत्य सुखासीनं भगवन्तं पश्चादेव महता वेगेन धावन्नपि गरुडस्तत्रोपगतः, 'मनसो जवीयः'(वा० सं० ४०।४), 'तद्धावतोऽन्यानत्येति' (वा० सं० ४०।४) इति मन्त्रवर्णात्। शिशानो वज्रवत्तीक्ष्ण उग्रश्च, 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (कठो० २।६।२) इति श्रुतेः। वृषभो न भीमो वृषभ इव भयङ्करः। यद्वा वर्षति कामान् भरति च यः स वृषभो धर्मराजः। धर्मराज एव दण्डधरो यमराज उच्यते। तद्वद् भीमः। घनाघनः शत्रूणामतिशयेन घातकः, वृष्टिकर्तृमेघरूपो वा। चर्षणीनां शत्रुसेनागतानां मनुष्याणां क्षोभणः क्षोभहेतुः। अन्यत् सर्वं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः! यूयं तमेव वीरं सेनापतिं कुरुत, यश्चर्षणीनां मनुष्याणां सेनासु वा शीघ्रकारी शिशानः पदार्थानां सूक्ष्मत्वापादकः, वृषभ इव भीमः शत्रूणामतिशयेन घातकः, रिपूणां प्रकम्पनहेतुः, संक्रन्दनः शत्रूणां रोदनकारकः, अनिमिषः अहर्निशं प्रयतमानः, एकवीरो मुख्यो वीरः, इन्द्रः शत्रुविदारकः सेनाधिपतिरस्माभिः साकं शतं सेना अजयद् जयेत्' इति, तदपि महीधराद्यनुकरणमात्रम्। सम्बोधनं तु निर्मूलमेव। प्रकृते शिशानः सूक्ष्मत्वापादक इत्यपि विसङ्गतम्, तनूकरणस्य तीक्ष्णीकरणार्थत्वात्। अनिमिष इत्यस्य अहर्निशं नार्थः, प्रमाणशून्यत्वात् ॥ ३३ ॥

संक्रन्दनेनाऽनिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हे युद्ध करने वाले मनुष्यों! प्रगल्भ भयरहित शब्द करने वाले, अनेक युद्धों को जीतने वाले, युद्ध करने वाले, एक चित्त होकर हाथ में बाण धारण करने वाले, जयशील स्वयं अजेय, कामनाओं की वर्षा करने वाले इन्द्र के प्रभाव से उस शत्रुसेना को जीतो और शत्रुसेना को अपने वश में करके उसे विनष्ट कर दो ॥ ३४ ॥

हे युधः, युध्यन्ते ते युधः, नरो योद्धारो मनुष्याः! इन्द्रेण कृत्वा यूयं तत्परबलं जयत वशीकुरुत। इन्द्रेण सह वा इन्द्रेणानुगृहीता वा। वशीकृत्य च तत्सहध्वम् अभिभवत, विनाशयतेति यावत्। विना कारणं द्वेष्टॄणि रक्षांसि प्रतीयमुक्तिः। अतः परमिन्द्रशब्दविशेषणानि व्याख्यायन्ते। कथम्भूतेन इन्द्रेण? संक्रन्दनेन सम्यक् क्रन्दयति शत्रूनिति संक्रन्दनः, तेन शत्रुभयावहशब्दकारिणा। पुनः कीदृशेन? अनिमिषेण एकचित्तेन, अप्रमादिनेति यावत्। पुनः कीदृशेन? जिष्णुना जयनशीलेन। पुनः कीदृशेन? युत्कारेण युध्यत इति युत्, भावे प्रत्ययः, तत्करोतीति युत्कारः, कर्मण्यण्, तेन युद्धकारिणा। दुश्च्यवनेन दुःखेन च्यावयितुं शक्यो दुश्च्यवनः, अजय्य इयि तावत्, तेन अप्रच्युतस्वभावेन। धृष्णुना धृष्णोतीति धृष्णुः प्रगल्भः, 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' (पा० सू० ३।२।१४०) इति रूपसिद्धिः, तेन निर्भीकेणेति यावत्। पुनः कीदृशेन? इषुहस्तेन, इषवो हस्ते यस्य स इषुहस्तस्तेन वज्राद्यायुधहस्तेन। वृष्णा वर्षति कामानिति वृषा, 'कनिन् युवृषि' (उ० १।१५६) इति रूपसिद्धिः, तेन कामानां वर्षुकेण।

अध्यात्मपक्षे—हे युधो योद्धारो वानरभल्लूकादिभटाः, हे नरो मनुष्यादिभटाश्च, यूयमिन्द्रेण पूर्वोक्तेन श्रीरामेण सार्धं परबलं जयत वशीकुरुत। वशीकृत्य च सहध्वमभिभवतेति देवा भक्ताश्च प्रार्थयन्ते। कीदृशेन श्रीरामेण? इषुहस्तेन इषवो बाणा हस्ते यस्यासौ इषुहस्तस्तेन। वृष्णा अभीष्टवर्षिणा। संक्रन्दनेन शत्रुभयावहशब्दकारिणा, इत्यादि पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे योद्धारो नराः, यूयमनिमिषेण निरन्तरप्रयत्नवता दुश्च्यवनेन शत्रूणां कष्टकारकेण धृष्णुना दृढोत्साहवता युत्कारेण विविधरचनाभिर्योद्धॄणां मिश्रणामिश्रणकारिणा इन्द्रेण सेनापतिना शत्रून् जयत सहध्वं च' इति, तदपि यत्किञ्चित्, इन्द्रशब्दस्य सेनापत्यर्थतायां मानाभावात्। दुश्च्यवनेनेत्यस्य कष्टकारित्वं कथमर्थः? अनिमिषेणेत्यस्य निरन्तरप्रयत्नकारित्वार्थोऽपि चिन्त्य एव ॥३४॥

स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी सꣳस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन।
सꣳसृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—वह जितेन्द्रिय हाथ में बाण लिये हुए धनुषधारियों को युद्ध के लिये ललकारने वाला इन्द्र शत्रु-समूहों को एक साथ युद्ध में जीत सकता है। यजमानों के यज्ञ में सोमपान करने वाला बाहुबली उत्कृष्ट धनुष वाला वह इन्द्र अपने धनुष से छोड़े हुए बाणों से शत्रुओं का नाश कर देता है। वह इन्द्र हमारी रक्षा करे ॥ ३५ ॥

इन्द्र एव विशेष्यते—स इन्द्रः, अस्मानवत्विति शेषः। स च इन्द्रः, इषहस्तैर् इषवो बाणा हस्तेषु येषां ते इषुहस्ता बाणधारणकर्तारः, तैः। निषङ्गिभिर् निषङ्गाः खड्गाः सन्ति येषां ते निषङ्गिणः, तैस्तादृशैः सैनिकैः सह, स्वप्रभावात् सदा वर्तमानः। वशी वशयति रिपूनिति वशी, यद्वा वशयति इन्द्रियाणीति वशी आत्मतन्त्रो निगृहीतकामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यारिषड्वर्ग ईश्वरो वा। यद्वा उश्यते काम्यते जनैरिति वशी 'वश कान्तौ' जनप्रियः। यद्वा स्वकीयैर्धानुष्कैः खड्गहस्तैश्च परकीयं बलं स्ववशं नयतीति वशी, यद्वा परसैन्यगतैर्धानुष्कैः खड्गहस्तैश्च सहितान् परकीयान् सर्वान् वशीकरोतीति वशी स इन्द्रः। गणेन रिपुसमूहेनापि सह युधः, युध्यत इति युधः, 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययः, एकाकी युद्धकर्ता। अथवा गणेन परकीयभटसमूहेन संस्रष्टा समीचीनतया मिश्रितो भवति। यद्वा संस्रष्टा युद्धाय परैः संसर्गं करोति। संसृष्टजित् स्वेन संसृष्टान् सर्वान जयतीति तथोक्तः। सोमपा यज्ञेषु सोमं पिबतीति सोमपाः। बाहुशर्धी शर्धं बलमस्त्यस्येति शर्धी। 'शर्धमिति बलनामसु' (निघ० २।९।७)। बाह्वोः शर्धी बाहुशर्धी बाहुबलोपेतः। उग्रधन्वा उग्रमुत्कृष्टं धनुर्यस्यासौ उग्रधन्वा, उद्यतधनुष्कः 'धनुश्च' (पा० सू० ५।४।१३१) इत्यनङ्ङादेशः। प्रतिहिताभिस्तेन धनुषा प्रेषिताभिः, इषुभिर् अस्ता क्षेप्ता, शत्रूणां विनाशयितेति यावत्। सशब्दावृत्तिः पादपूरणार्था।

उव्वटाचार्यरीत्या तु स इन्द्र इषुहस्तैर्योद्धृभिः संसृजति इषुहस्तानेव योद्धॄन् संसृजति। तथैव स इन्द्रो निषङ्गिभिरेव खड्गिभिरेव संसृजति। निषङ्गिण एव योद्धॄन् संसृजति युद्धाय संसर्गं करोति, न शस्त्रास्त्रहीनैः पलायनपरायणैर्वा युद्ध्यत इत्यर्थः। स एवेन्द्रो युधः स्वान् योद्धॄन् शत्रुगणेन संस्रष्टा युद्धाय संयोजयति। संसृष्टजित् संसृष्टान् युद्धाय सङ्गतान् जयतीति संसृष्टजित्, प्रतिहिताभिः शत्रुशरीरेषु प्रतिनिहिताभिरिषुभिरेव इन्द्र अस्तेत्यनुमीयते। न स शरान् क्षिपन् दृश्यते। लघुसन्दधानो लक्षपाती चेत्यभिप्रायः। 'नाददानं शरान् घोरान् विमुञ्चन्तं महाबलम् ॥ न कार्मुकं विकर्षन्तं रामं पश्यामि संयुगे। हन्यमानं तु तत्सैन्यं पश्यामि शरवृष्टिभिः ॥' (वा० रा० अ० ३४।७-८) शेषं पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—श्रीरामपक्षेऽपि सुसङ्गतानि पूर्वोक्तानि व्याख्यानानि, देवराजेन्द्रापेक्षयापि तस्य युद्धकौशलप्रसिद्धेः। तत एवेन्द्रादिदैवतविजेतॄन् रावणमेघनादादीन् निहतवान् श्रीराम इति वाल्मीकीये रामायणे प्रसिद्धिः। तथाहि—

ततः शरसहस्राणि निर्ययुश्चापमण्डलात् । सर्वा दश दिशो बाणैरापूर्यन्त समागतैः ॥
नाददानं शरान् घोरान् विमुञ्चन्तं शरोत्तमान् । विकर्षमाणं पश्यन्ति राक्षसास्ते शरार्दिताः ॥
शरान्धकारमाकाशमावृणोत् स दिवाकरम् । बभूवावस्थितो रामः प्रक्षिपन्निव तान् शरान् ॥
युगपत्पतमानैश्च युगपच्च हतैर्भृशम् । युगपत्पतितैश्चैव विकीर्णा वसुधाऽभवत् ॥
(वा० रा० अ० २४।३८-४१)

दयानन्दस्तु—'स सेनापतिः, इषुहस्तैर् निषङ्गिभिः शिक्षितैर्भुशुण्डीशतघ्न्याग्न्येयादिशस्त्रास्त्रहस्तैर्भृत्यैः सह वर्तमानः संस्रष्टा श्रेष्ठमनुष्यैः शस्त्रास्त्रैश्च संसर्गकर्ता वशी जितेन्द्रियान्तःकरणः प्राप्तशत्रुविजेता, सोमपा बलिष्ठौषधिरसपाता बाहुशर्धी बलोपेतबाहुस्तीक्ष्णधन्वा युद्धशीलः, अस्ता शस्त्रास्त्रप्रक्षेप्ता इन्द्रः शत्रुविदारको गणेन शिक्षितवीरैः प्रत्यक्षतया स्वीकृतसेनाभिर्वर्तमानो जयति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्रे भुशुण्डीशतघ्न्यादिबोधकपदाभावात्, संस्रष्टा श्रेष्ठमनुष्यैः शस्त्रादिभिः संसर्गवानिति व्याख्यानस्य प्रकृतेऽसङ्गतेः । सोमपदस्यापि बलिष्ठौषध्यर्थकत्वे मानाभावः । गणेन प्रतिहिताभिरिति पदयोः सम्यक् शिक्षा, प्रत्यक्षतया स्वीकृता सेना चेति व्याख्यानं निर्मूलमेव ॥३५॥

बृह॑स्पते॒ परि॑ दीया॒ रथे॑न रक्षो॒हामित्राँ॑ अप॒बाध॑मानः ।
प्र॒भ॒ञ्जन् सेनाः॑ प्रमृ॒णो यु॒धा जय॑न्न॒स्माक॑मेध्यवि॒ता रथा॑नाम् ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—वाणी का पति, अर्थात् व्याकरण का बनाने वाला होने से इन्द्र बृहस्पति कहलाता है, अथवा बृहस्पति उसके पुरोहित का संबोधन है । हे बृहस्पते ! तुम राक्षसों का नाश करने वाले हो, रथ के द्वारा सब ओर विचरण करते हुए शत्रुओं को और उनकी सेनाओं को अतिशय हानि पहुंचाते हो । तुम युद्ध में हिंसाकारियों को जीत कर हमारी रक्षा करो ॥ ३६ ॥

हे बृहस्पते हे इन्द्र, वाग्वै बृहती तस्या एष पतिः, व्याकरणकर्तृत्वादिन्द्रस्य बृहस्पतित्वं युक्तमेव । तथा च तैत्तिरीया आमनन्ति—'ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति' (तै० सं० ६।४।७।३) इति । यद्वा पूर्वोक्तार्थवादेन इन्द्रस्य बृहस्पतिब्राह्मणद्वितीयत्वेनैव शत्रुहन्तृत्वात् तत्सहकारी पुरोहितश्च बृहस्पतिरेव सम्बोध्यते । हे बृहस्पते, त्वं रथेन परिदीया सर्वतो गच्छ । 'दीयतिर्गतिकर्मा' (निघ० २।१४।६९) । गत्वा च अस्माकं रथानामविता रक्षक एधि भव । कीदृशस्त्वम् ? रक्षोहा रक्षसां हन्ता । अमित्रान् शत्रून् अपबाधमानः पीडयन् । सेनाः परकीयाः प्रभञ्जन् प्रकर्षेण मर्दयन् युधा युद्धेन प्रमृणो हिंसकान् शत्रून् जयन् पराभवन् । 'मृणातिर्हिंसाकर्मा', तस्य क्विपि द्वितीयाबहुवचनम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे बृहस्पते, बृहत्या वेदलक्षणाया वाचः पतिर्महातात्पर्यगोचरः परमेश्वरो बृहस्पतिस्तत्सम्बुद्धौ । हे श्रीराम, त्वं रथेन परिदीया सर्वतो याहि विचर । श्रीरामाय दिव्यं रथं समर्पयन् इन्द्रः प्रार्थयते । गत्वा च शत्रून् हत्वा अस्माकं देवानां सम्बन्धिनां रथानाम् अविता रक्षक एधि भव । कीदृशस्त्वम् ? रक्षोहा रक्षसां रावणादीनां हन्ता । अमित्रान् देवशत्रून् अपबाधमानो नाशयन् शत्रुसेनाः प्रकर्षेण मर्दयन् प्रमृणो हिंसकान् युधा संग्रामेण जयन् । 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च' (पा० सू० ६।१।१५७, वा० १) इति बृहस्पतिशब्दसिद्धिः ।

दयानन्दस्तु—'हे बृहस्पते ! बृहतां धार्मिकाणां वृद्धानां सेनानां वा रक्षक' इत्याह, तन्न, 'तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च'(पा० सू० ६।१।१५७, वा० १) इति देवतार्थ एव सुट्तलोपाभ्यां बृहस्पतिपदसिद्धेः। रथेनेत्यस्य रथसमूहेनेत्यप्यसङ्गतम्, बहुवचनव्यत्यये हेत्वभावात्। 'युधा युद्धे' इत्यप्यसङ्गतम्, व्यत्यये हेत्वभावादेव ॥३६॥

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।
अभिवीरो अभिसत्त्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमातिष्ठ गोवित् ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र ! तुम दूसरों के बल को जानने वाले, स्वयं अति बलवान्, अत्यन्त पुरातन, सबका अनुशासन करने वाले, अतिशय शूर, महाबलिष्ठ, अन्नवान्, युद्ध में क्रूर, चारों तरफ से वीर योद्धाओं से घिरे हुए और परिचारकों से युक्त हो। तुम स्तुति करने वालों को जानते हो, शत्रुओं के तिरस्कारक हो। तुम अपने जयशील रथ में आरोहण करो ॥ ३७ ॥

हे इन्द्र, त्वं जैत्रं जयनशीलं रथम् आतिष्ठ आरोह। जयति तच्छील इति जैत्रः, 'तृन्' (पा० सू० ३।२।१३५) इति तृन्प्रत्यये 'प्रज्ञादिभ्यश्च' (पा० सू० ५।४।३८) इत्यणि रूपसिद्धिः। कीदृशस्त्वम् ? बलविज्ञायः, बलं परकीयं सामर्थ्यं विशेषेण जानातीति बलविज्ञायः, कर्मण्यणि 'आतो युक् चिण्कृतोः'(पा० सू० ७।३।३३) इति युगागमे रूपम्। यद्वा बलेन कृत्वा विज्ञायत इति बलविज्ञायः, करणे घञ्। स्थविरः पुरातनः सर्वेषामनुशास्ता सर्वमान्यो वा, 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' (पा० सू० ८।३।३६, वा० १) इति विसर्गलोपः। प्रवीरः शूरेष्वतिशूरः। सहस्वान् सहो बलमस्यास्तीति सहस्वान् प्रभूतप्रशस्तबलयुक्तः। वाजी वाजोऽन्नमस्यास्तीति प्रशस्तप्रभूतान्नवान्। सहमानः परेषामभिभविता। उग्रो युद्धेषु क्रूरः। अभिवीरः, अभितो वीराः शूरा यस्य स तथोक्तः। अभिसत्त्वा अभितः सत्त्वानः परिचारका यस्य सः। सहोजाः सहसो बलादिव जातः। नह्यन्यस्माज्जात ईदृग्बलः स्यात्। गोविद् गाम् अस्माभिः कृतां स्तुतिरूपां गां वेत्तीति गोवित्, यद्वा गां भूमिं विन्दतीति गोवित्। यद्वा बलविज्ञायो बलमाविष्कुर्वन् विज्ञायसेऽयममिन्द्र इति बलविज्ञायः, वीरं वीरमभीति अभिवीरः, सत्त्वानि सत्त्वान्यभीति अभिसत्त्वा सर्वान् वीरान् सर्वांश्च प्राणिनोऽभिवर्तमानः, व्यापकत्वाद् लाघवाच्चेति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र, हे श्रीराम, त्वं जैत्रं रथमातिष्ठ आरोह। कीदृशस्त्वम् ? बलविज्ञायो बलमाविष्कुर्वन् विज्ञायसे। स्थविरो युवापि पुरातनः, ईश्वरत्वात्। प्रवीरः प्रकृष्टो वीरः। सहस्वान् प्रभूतबलोपेतः। वाजी प्रभूतभोग्यपदार्थोपेतः, ईश्वरत्वादेव। सहमानो रावणादीनामभिभविता। उग्रो युद्धेषु क्रूरः। अभिवीरो यमभितो बहवो हनुमदादयो वीरा भवन्ति। अभिसत्त्वा परिचारकाश्च बहवोऽभितो भवन्ति। सहोजा सहसो बलादिव जातः, अन्यजातस्य ईदृक्प्रभावासम्भवात्। गोविद् गां स्तुतिलक्षणां वाचं वेत्तीति गोवित्।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, युद्धोत्तमसामग्रीयुक्त सेनापते, यः स्वीयां सेनां बलवतीं कर्तुं जानाति स बलविज्ञायः। वाजी प्रशस्तशास्त्रबोधः। अभिवीरो यस्याभीष्टसाधका वीरा अभितो भवन्ति। अभिसत्त्वा युद्धविद्याकुशला यस्य सर्वतो भवन्ति। गोः वेदवाण्याः पृथिव्याश्च प्राप्त्या त्वं रथमुदन्वदाकाशमहीधरेष्वव्याहतगतिं रथमारोह' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्, बलविज्ञायशब्दस्य तादृशार्थत्वे मानाभावात्। इन्द्रपदस्यापि गौण एवार्थोऽत्र स्वीकृतः, न च तद् युक्तम्, मुख्यार्थत्यागे मानाभावात् ॥३७॥

गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ।
इमꣳ सजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रꣳ सखायो अनु सꣳरभध्वम् ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—हे समान जन्म वाले देवताओं ! असुर कुल के नाशक, वेदवाणी के ज्ञाता, महान् विद्वान्, हाथ में वज्र धारण करने वाले, संग्राम को जीतने वाले, बल से शत्रुओं को मार डालने वाले इस इन्द्र को पराक्रम दिखाने के लिये उत्साह दिलाओ और इसको उत्साहित करके आप लोग स्वयं भी उत्साह से भर जाओ ॥ ३८ ॥

हे सजाताः समानं जातं जन्म येषां ते सजाताः समानजन्मानोऽस्मदीया ज्ञातयः सखायो देवाः। 'समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु' (पा० सू० ६।३।८४) इति सादेशः, समानार्थकेन शब्देन वा समासः। यूयमिन्द्रमनु अनुगम्य वीरयध्वं वीरकर्म कुर्वाणं प्रोत्साहयत। 'वीर विक्रान्तौ' अदन्तश्चुरादिः, लोट्। अनु संरभध्वं संरम्भं वेगं कुर्वाणमनु संरम्भं कुरुत। कीदृशमिन्द्रम्? गोत्रभिदं गोत्रमसुरकुलं भिनत्तीति गोत्रभित्, तम्। यद्वा 'गोत्र इति मेघनाम' (निघ० १।१०।३), गा अपस्त्रायते धारयतीति गोत्रो मेघः, तस्य भेत्तारं वृष्ट्यर्थम्। गोविदं गां वाचं वेत्तीति गोविद् यजमानादिकृतस्तुतिवेत्ता, तं पण्डितम्। वज्रं बाहौ यस्य तम्। अज्म संग्रामं जयन्तम्। 'अज्मेति संग्रामनामसु' (निघ० २।१७।४३)। ओजसा बलेन प्रमृणन्तं शत्रून् हिंसन्तम्। 'मृण हिंसायाम्' इति तौदादिकस्य रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—तत्रभवान् हनूमान् देवरूपवानरर्क्षभटान् प्रोत्साहयति—हे सजाता अस्मत्सजातीयाः सखायः अङ्गदादयः, यूयमिन्द्रं परमात्मानं रामचन्द्रमनुवीरयध्वम् अनुसंरभध्वम् इत्यादि पूर्ववत्। कीदृशम्? राक्षसकुलभेत्तारं गोविदं भूपतिं वज्रवेगमिषुं हस्ते धारयन्तं संग्रामं जयन्तम् ओजसा शत्रून् हिंसन्तम्।

दयानन्दस्तु—'हे सजाता एकदेशोत्पन्नाः सखायो मित्राणि, यूयमोजसा शरीरबुद्धिबलैः सैनिकैश्च शत्रुसमुदायं कर्तयन्तं शत्रुभूमिप्रापकं वज्रबाहुम् अज्म संग्रामं जयन्तम् इन्द्रं सेनापतिं प्रोत्साहयत सम्यग् युद्धमारभध्वम्' इति, तदपि न चारु, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। इन्द्रपदस्य सेनापतिरर्थोऽपि निर्मूलः ॥ ३८ ॥

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः ।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्योऽस्माकꣳ सेना अवतु प्र युत्सु ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—शत्रुओं पर कभी दया न दिखाने वाले, पराक्रम सम्पन्न, क्रोध से भरे हुए, संग्राम से कभी पलायित न होकर शत्रुसेना का संहार करने वाले इन्द्र के साथ युद्ध करने में कोई भी समर्थ नहीं है, अतः इन्द्र संग्राम में असुर-कुलों को एक साथ ही नाश करते हुए हमारी सेना की रक्षा करें ॥ ३९ ॥

इन्द्रः स एवाग्निर्देवराजो वा प्रयुत्सु प्रकृष्टेषु युद्धेषु सेना अस्मदीया अवतु, यद्वा प्रावतु प्रकर्षेण रक्षतु। 'छन्दसि परेऽपि' (पा० सू० १।४।८१) इति प्रोपसर्गस्य क्रियापदात् परप्रयोगः। कथंभूत इन्द्रः? गोत्राण्यसुरकुलानि मेघवृन्दानि वाऽभिगाहमानो विलोडयन्, अभि सर्वतोऽवस्थितानि युद्धक्षेत्राणि सहसा गाहमानः प्रविशन् वा। पुनः कथम्भूतः? अदयो दयारहितः परमनिष्ठुरः। वीरः शूरः शतमन्युर्बहुधा क्रोधयुक्तः शतयज्ञो वा। दुश्च्यवनः अप्रच्याव्यः। पृतनाषाट् पृतनां परकीयसेनां सहतेऽभिभवतीति तथोक्तः। अयुध्यो योद्धुमशक्यः। अथवा युध्यत इति युध्यः, अविद्यमानो युध्यः प्रतियोद्धाऽस्येति तथोक्तः।

अध्यात्मपक्षे—स इन्द्रः श्रीरामः प्रयुत्सु प्रकृष्टयुद्धेषु गोत्राणि शत्रुकुलानि सहसा गाहमानो विलोडयन् अस्माकं सेनाम् अवतु। अदयः, अन्यदा परमसदयोऽपि संग्रामे परमनिर्दयः। वीरः शतमन्युः। इत्यादिकं पूर्ववद् व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—हे विद्वांसः, युत्सु यत्र पदार्थानां मिश्रणान्यमिश्रणानि च भवन्ति, तेषु युद्धेषु सहसा शत्रुकुलानि गाहमान इन्द्रोऽस्माकं सेनापतिरिति यूयमाज्ञापयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। 'युत्सु' इत्यस्य व्याख्यानमसाम्प्रतम्, 'युध सम्प्रहारे' इति धातोरर्थाननुगमात् ॥ ३९ ॥

इन्द्र॑ आसां ने॒ता बृह॒स्पति॒र्दक्षि॑णा य॒ज्ञः पु॒र ए॑तु॒ सोम॑ः।
दे॒वसे॒नाना॑मभिभञ्ज॒ती॒नां जय॑न्तीनां म॒रुतो॑ य॒न्त्वग्र॑म् ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—बृहस्पति इन्द्र सभी प्रकार की शत्रु सेनाओं का मर्दन करने वाली विजयशील देवसेनाओं के शिक्षक हैं। यज्ञपुरुष विष्णु, सोम और दक्षिणा इसके आगे-आगे चलें। सभी गणदेवता सेना के आगे आगे चलें ॥ ४० ॥

इन्द्र आसां देवसेनानां व्यूहरचनान्नेता नायको भवतु, बृहस्पतिश्च मन्त्रीति शेषः, तेनैव प्रधानकार्याणां सम्पादनात्। यज्ञो यज्ञपुरुषो विष्णुर्दक्षिणा दक्षिणत एतु गच्छतु। 'दक्षिणादाच्' (पा० सू० ५।३।३६) इत्याच् प्रत्ययः। पुरः पुरस्तात् सोम एतु आगच्छतु। मरुतो देवगणा अग्रं सेनाग्रभागं यन्तु गच्छन्तु। कीदृशीनां सेनानाम्? अभिभञ्जतीनां शत्रून् मर्दयन्तीनाम्। 'भञ्जो आमर्दने'। तथा जयन्तीनां विजयमानानाम्। यद्वा या देवसेना अस्मदनुग्रहार्थं शत्रुषु गच्छन्ति, आसां सेनानामिन्द्रो नेता भवतु। यो बृहस्पतिर्या च दक्षिणा देवी यश्च यज्ञो यश्च सोमः, एतेषामेकैकः पुरः पुरत एतु गच्छतु। शत्रुबलं भञ्जयन्तीनां मर्दयन्तीनां जयन्तीनां जयमानानामासां सेनानां मरुत एकोनपञ्चाशत्संख्याका वायवः, अग्रं पुरतो यन्तु गच्छन्तु।

अध्यात्मपक्षे—अहङ्काररूपस्य रावणस्य सबलस्य विध्वंसनाय गच्छन्तीनां देवसेनानां वानरभल्लूकसेनानामिन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तः श्रीरामो नेता प्रणेतास्तु। बृहस्पतिः बृहस्पतितुल्यो लक्ष्मणः, मन्त्रीति शेषः। यज्ञो विष्णववतारः सुग्रीवो दक्षिणत एतु। सोम उमया सहितो रुद्रो हनूमान् पुरः पुरत एतु गच्छतु। अभिभञ्जतीनां शत्रुबलं मर्दयन्तीनां जयन्तीनां विजयं कुर्वन्तीनामासां सेनानां मरुतो मरुत्तुल्यवेगा अङ्गद-नल-नील-द्विविद-मन्दादयः, अग्रं यन्तु गच्छन्तु।

दयानन्दस्तु—'देवसेनानां विदुषां सेनानामिन्द्रः परमैश्वर्यः शिक्षकः सेनापतिः पश्चाद् यज्ञः सर्वसङ्गतिकारकः प्रथमो बृहस्पतिः सर्वाधिकारिणामधिपतिर्दक्षिणतः सोम उत्साहदाता वामन एतु मरुत्तुल्यवेगवन्तः शूरा अग्रं यन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदबाह्यत्वात्, पश्चाद्वामादिपदानां मूलेऽभावात्, इन्द्रबृहस्पत्यादिपदानां सम्भवति मुख्यार्थत्वे गौणार्थाश्रयणायोगात् ॥ ४० ॥

इन्द्र॑स्य॒ वृष्णो॒ वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ आदि॒त्याना॑ं म॒रुता॒ᳬ शर्ध॑ उ॒ग्रम्।
म॒हाम॑नसां भुवनच्य॒वाना॒ं घोषो॑ दे॒वाना॒ं जय॑तामु॒दस्था॑त् ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—महानुभाव, सारे लोकों को नाश करने की सामर्थ्य वाले, विजय पाने वाले देवताओं की, आदित्य, मरुत्, कामना की वर्षा करने वाले इन्द्र और राजा वरुण की सभा से जयजयकार का शब्द उठ रहा है ॥ ४१ ॥

वृष्णः, वर्षति कामानिति वृषा, 'कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उ० १।१५५) इति कनिन्-प्रत्यये रूपसिद्धिः। तस्य इन्द्रस्य राज्ञो राज्यं कुर्वतो वरुणस्य तन्नामकस्य देवविशेषस्य, आदित्यानामदितिपुत्राणाम्, मरुतां च उग्रम् उत्कृष्टम् उद्गूर्णायुधं वा शर्धो बलं गजतुरगरथपत्त्यात्मकं सैन्यं युद्धेषु अमितः, प्रभवत्विति शेषः। महामनसाम्, महन्मनो येषां ते महामनसो युद्धेषु स्थिरचित्तास्तेषाम्। तथा भुवनच्यवानां भुवनं लोकं च्यावयन्ति ये ते भुवनच्यवास्तेषां भुवनेभ्यः शत्रूंश्च्यावयितुं समर्थानाम्। जयतां विजयमानानां देवानामिन्द्रादीनां घोषो निनादो जय जयेति ध्वनिर्वा उदस्थात् सर्वत उत्थितोऽभूत्।

अध्यात्मपक्षे—वृष्णः अभीष्टवर्षणशीलस्य इन्द्रस्य पूर्वोक्तस्य श्रीरामस्य। कीदृशस्य ? वरुणस्य, व्रियते सर्वैरिति वरुणस्तस्य वरणीयस्य शरण्यस्य, 'कॄवृदारिभ्य उनन्' (उ० ४।५३) इत्युनन्प्रत्यये रूपसिद्धिः। राज्ञो राजमानस्य ईदृशस्य श्रीरामस्य आदित्यानां सुग्रीवसम्बन्धिनां वानराणां मरुतां हनुमत्प्रमुखानामुग्रं तीक्ष्ण-मुदायुधं शर्धो बलमुदस्थाद् उत्थितमभूत्, युद्धेषु प्रभविष्णु जातमिति शेषः। तदेव महामनसाम् अत्युत्साहवतां भुवनच्यवानां भुवनं लोकं च्यावयितुं समर्थानां जयतां जयमानानां घोषस्तुमुलो निनाद उदस्थात्।

दयानन्दस्तु—'वृष्णो वीर्यवत इन्द्रस्य सेनापतेर्वरुणस्य सर्वोत्तमस्य राज्ञो न्यायविनयादिगुणे राजमानस्य सर्वाधिपतेः, भुवनच्यवानामुत्तमगृहं प्राप्तवतां महामनसामादित्यानाम् अनुष्ठिताष्टाचत्वारिंशद्वर्षब्रह्मचर्याणां मरुतां पूर्णविद्याबलयुक्तानां देवानामुग्रमसह्यं शर्धो बलं घोष उत्साहवर्धकस्वरालापो युद्धारम्भे उदस्थात्' इति, तदपि न किञ्चित्, तत्तत्पदानां तेषु तेष्वर्थेषु शक्तत्वात्, भाक्तप्रयोगस्यागतिकगतित्वात्, गत्यर्थस्यापि च्यवतेः पतनरूपायामेव गतौ प्रयोगबाहुल्यात्। अत एवोभयलोकच्युता अर्धनास्तिका एत इत्येतदुक्तेर्नानुकूल्यमनु-भवन्ति ॥ ४१ ॥

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्त्वनां मामकानां मनांसि।
उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र ! आप अपने शस्त्रों को भली प्रकार सुसज्जित कीजिये, मेरे वीर सैनिकों के मन को हर्षित कीजिये। हे वृत्रनाशक इन्द्र ! अपने घोड़ों की गति को तेज कीजिये। विजयशील रथों से जयघोष का उच्चारण हो ॥ ४२ ॥

हे मघवन्, मघं धनमस्त्यस्येति मघवान्, 'मघमिति धननामसु' (२।१०।१), तत्सम्बुद्धौ हे इन्द्र, आयुधानि शस्त्रास्त्राणि उद्धर्षय उद्गतहर्षाणि कुरु। मामकानामस्मदीयानां सत्त्वनां प्राणिनां मनुष्यादीनां मनांसि उद्धर्षय प्रहृष्टानि कुरु। हे वृत्रहन्, वृत्रं हतवानिति वृत्रहा, तत्सम्बुद्धौ हे वृत्रासुरघातक, वाजिनामश्वानां वाजिनानि वेगवद्गमनानि उद्धर्षय उत्कृष्टानि कुरु। किञ्च, जयतां विजयमासादयतां रथानां घोषाः शब्दा उदयन्तु उच्चैः प्रसरन्तु। यद्वा हे मघवन्, आयुधान्यस्मदीयानि, उद्धर्षय परकीयेभ्य उत्कृष्टानि कृत्वा अस्मान् हर्षय। मामकानां सत्त्वनां प्राणिनां मनांस्युत्कृष्टानि कृत्वा हर्षय। अन्यत् पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—हे मघवन्, आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकविविधधनवन्, आयुधानि बाह्याभ्यन्तर-शत्रुविनाशसाधनानि उच्चैर्हर्षय, दिव्यशक्तिप्रदानेनेति शेषः। मामकानां प्राणिनां मनांसि उद्धर्षय, महोत्साह-प्रदानेनेति यावत्। वाजिनामिन्द्रियाश्वानां वाजिनानि वेगवद्गमनानि उद्धर्षय ऊर्ध्वस्रोतःप्रवर्तनेन प्रहृष्टान् कुरु। रथानां लौकिकानां शरीरात्मकानां वा घोषा निनादा यशांसि वा, उद्यन्तु दिग्दिगन्तव्यापिनो भवन्तु।

दयानन्दस्तु—सेनापुरुषाः स्वामिनमेवं वदेयुरित्युक्त्वा पूर्ववदेव पदार्थान् योजयति—'हे मघवन्, वाजिनां वाजिनानि शीघ्रगमनान्युत्कर्षय' इति, तच्चासङ्गतम्, गतिवर्धनस्य राजानधीनत्वात्। उपर्युक्तवाक्यकल्पनापि निर्मूलैव ॥ ४२ ॥

अ॒स्माक॒मिन्द्र॒: समृ॑तेषु ध्व॒जेष्व॒स्माकं॒ या इष॑व॒स्ता ज॑यन्तु ।
अ॒स्माकं॑ वी॒रा उत्त॑रे भवन्त्व॒स्माँ२॥ उ॑ दे॒वा अ॑वता॒ हवे॑षु ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—शत्रु की पताकाओं से हमारी पताकाओं के मिलने पर इन्द्र हमारी रक्षा करें, हमारे बाण शत्रुओं को नष्ट कर उन पर विजय प्राप्त करें, हमारे वीर सैनिक शत्रुओं के सैनिकों से श्रेष्ठता प्राप्त करें, सभी देवता संग्राम में हमारी रक्षा करें ॥ ४३ ॥

इन्द्रो ध्वजेषु समृतेषु परसैन्यं सम्यक्प्राप्तेषु, 'ऋ गतौ' सत्सु. अस्माकं रक्षितेति शेषः। तदानीमस्माकं या इषवोऽस्मदीयैर्मुक्तास्ता जयन्तु। अस्माकं ये वीरास्ते उत्तरे भवन्तु परकीयेभ्यो भटेभ्य उत्कृष्टा भवन्तु। उ अपि च हे देवाः, आहवेषु युद्धेषु, अस्मान् उ एव यूयमवता रक्षत, 'अन्येषामपि दृश्यते (६।३।१३७) इति दीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, अस्माकं तावत् समृतेषु सङ्गतेषु ध्वजेषु शत्रुबलध्वजलोलीभूतेषु रक्षिता भवतु। इन्द्रप्रसादादेवास्माकं या इषवस्ता जयन्तु विजयिन्यो भवन्तु। अस्माकं वीरा उत्तरे संग्रामपारगामिनो भवन्तु, विजयन्तामिति यावत्। हे देवाः, हवेषु आह्वानेषु, अस्मानेव अवत रक्षत। विनिग्रहार्थीय उकारः, स च परेण संयुज्यते।

दयानन्दस्तु—'हे देवा विजिगीषवः, अस्माकं समृतेषु सत्यन्यायप्रकाशकचिह्नयुक्तेषु ध्वजेषु स्वीयान् निश्चेतुं रथादिषु स्थापितेषु तेषामधस्ताद् वर्तमानमिन्द्रं सेनापतिमस्माकं या इषवः प्राप्ताः सेनाश्च हवेषु संग्रामेषु जयन्तु। अस्माकं वीरा उत्तरे विजयानन्तरं जीवनयुक्ता भवन्तु। अस्मानवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ध्वजानामधस्ताद् वर्तमान इन्द्र इत्यसङ्गतेः, अपदार्थत्वस्त्। उत्तरे युद्धोत्तरजीविन इत्यप्यनर्थः, उत्पूर्वस्य तरतेरुत्तरणार्थत्वात् ॥ ४३ ॥

अ॒मीषां॑ चि॒त्तं प्र॑तिलो॒भय॑न्ती गृहा॒णाङ्गा॑न्यप्वे॒ परे॑हि ।
अ॒भि प्रेहि॒ निर्द॑ह हृ॒त्सु शोकै॑र॒न्धेना॒मित्रा॒स्तम॑सा सचन्ताम् ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—शत्रुओं के प्राणों को कष्ट देने वाली व्याधि इन वैरियों के चित्त को मोहित करती हुई, शरीरों का नाश करती हुई चली जाय, सब ओर से शत्रुओं को पकड़ कर चली जाय, उनके हृदय को शोक से भर दे, हमारे वैरी गाढ़ अन्धकार में डूब जाँय ॥ ४४ ॥

हे अप्वे देवते, अपवाति अपगमयति सुखं प्राणान् वेत्यप्वा, सा च व्याधिर्वा भयं वा। यस्मादेतया देवतया विद्धो व्याप्तोऽपचीयते, अनया भक्ष्यमाणो वाऽपक्षीयते तस्मादप्वा। अन्तर्भूतणिजर्थाद् वातेरपपूर्वकाद् डप्रत्यये उपसर्गस्य अन्त्याकारलोपे टापि च रूपसिद्धिः। 'ऐन्द्रयोऽभिरूपा द्वादश भवन्ति' (श० ९।२।३।६) इति श्रुतिरीत्या इयमपि इन्द्रसेनासम्बन्धिनी। तथा च हे अप्वे, अमीषां रिपूणां चित्तं मनांसि प्रतिलोभयन्ती मोहयन्ती 'लुभ विमोहने' अङ्गानि तेषां गात्राणि गृहाण, गृहीत्वा च शत्रूणामङ्गानि ततः परेहि परागच्छ।

पुनरन्यान् रिपून् ग्रहीतुम् अभि शत्रुसंघं प्रेहि गच्छ। तेषां हृत्सु हृदयानि, विभक्तिव्यत्ययः, शोकैर्धनपुत्रनाशादिनिमित्तैर्निर्दह। किञ्च, अमित्रा रिपवः, अन्धेन तमसा गाढान्धकारेण सचन्तां सङ्गच्छन्ताम्। 'षच् समवाये'।

अध्यात्मपक्षे—हे अप्वे! विमुखानां नास्तिकानाममीषां सुखस्य प्राणानां चापगमयित्रि भगवति सीते, यद्वा आप्नोति व्याप्नोति सर्वं तच्छीलेति अप्वा, 'शेवयह्वजिह्वाग्रीवाप्वामीवाः' (उ० १।१५४) इति निपातनाद् धातोर्ह्रस्वत्वम्। उज्ज्वलदत्तादय आचार्या 'आप्वा' इत्येव निपातनमाहुः। अन्ये चाचार्याः 'अप्वा' इत्येव निपातनमिच्छन्ति। संहितायास्तूभयथापि तुल्यत्वम्। अमीषां शत्रूणां चित्तं चित्तानि प्रतिलोभयन्ती विमोहयमाना त्वं शत्रूणां हृत्सु हृदयानि शोकैर्निर्दह, तेषामङ्गानि हृदयादीनि गृहाण, गृहीत्वा च परेहि दूरं गच्छ। यथा भगवान् हनूमान् सिंहिकाया हृदयं गृहीत्वा दूरमाकाशं गतस्तद्वत्। तथाहि रामायणे—'ततोऽहं विपुलं रूपं संक्षिप्य निमिषान्तरात्। तस्या हृदयमादाय प्रपतामि नभःस्थलम्॥' (वा० सु० ५८।४३) इति। पुनश्चान्येषां शत्रूणां हृदयादिग्रहणाय स्वशक्त्या अभिप्रेहि। यद्यपि च सर्वान्तरात्मभूतायाः पराम्बायास्तस्या सर्वहिताभिलाष एव स्वाभाविकः, तथा च सप्तशत्याम्—'चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा त्वय्येव देवि वरदे भुवनत्रयेऽपि' इति, तथापि भक्तानुग्रहाय शिष्टपरिपालनाय तत्परिपन्थिभूतदुर्वृत्तप्रशमनाय तन्निग्रहादिकमुपपद्यत एव, निग्रहानन्तरभाविनोऽनुग्रहस्य सर्वतो बलवत्त्वात्। तथा चाहुः शिष्टाः—'अनुग्रहात् केवलतो बलीयाननुग्रहो निग्रहपूर्वको यः' इति। ये अमित्राः शून्ये मारणाद्युद्देश्येन गच्छन्ति, मिथ्या वा दोषारोपणार्थं सदस्यन्यत्र वा शब्दायन्ते, रचयन्ति वा पराभवार्थं कपटतया जालम्, आमयन्ति वा अभिचारादिनेत्यमित्राः, 'अमेर्द्विषति चित्' (उ० ४।१७५) इति रूपसिद्धिः। 'अम गत्यादिषु' इति भौवादिकस्य, 'अम रोगे' इति चौरादिकस्य वा। गत्यादिष्वित्यत्रादिशब्देन गतेरनन्तरं पठितयोः शब्दसम्भक्त्योर्ग्रहः। सम्भक्ती रचनाविशेष इति गुरुचरणाः। ते अन्धेन तमसा सचन्तां समवयन्तु, अर्थात् तेषां चेतसि तव चरणतामसानुरागनिबिडता समुदेतु, यथा तेऽपि परमानन्दस्वरूपात्मलाभात् स्वस्वरूपेऽवस्थिता भवेयुः। श्रीमद्वल्लभाचार्यमहाराजानां सिद्धान्तेनैषोक्तिः।

दयानन्दस्तु—'हे अप्वे! शत्रुप्राणापनेत्रि क्षत्रिये, अमीषां परकीयसैनिकानां चित्तं प्रत्यक्षं प्रतिलोभयन्ती या स्वीया सेना, तस्या अङ्गानि त्वं गृहाण। अधर्मात् परेहि स्वसेना अभिप्रेहि स्वाभिप्रायं प्रकटय शत्रून्निर्दह, येन ते अमित्रा हृत्सु शोकैरन्धेनावृता रात्रितमसा सचन्तां संयुक्ता भवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदविरुद्धत्वात्। वेदस्तु निर्ऋतिं प्राणापनेत्रीमाह न क्षत्रियाम्। तथा हि—'सा त इत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु' (वा० सं० १२।६२) इति। सा दुष्टशिक्षा ते तव इत्या गतिश्चर्या। हे निर्ऋते देवि, तुभ्यं नमोऽस्तु। एवमेव विशृङ्खला खल्वस्य महात्मनो व्याख्या, या स्वोक्तिं तन्मूलं च विरुणद्धीति॥ ४४॥

अव॑सृष्टा॒ परा॑पत॒ शर॑व्ये॒ ब्रह्म॑सꣳशिते।
गच्छा॒मित्रा॒न् प्र प॑द्यस्व॒ मामीषां॒ कञ्च॒नोच्छि॑षः॥ ४५॥

मन्त्रार्थ—वेद-मन्त्रों से तीक्ष्ण किये हुए हे बाणरूप ब्रह्मास्त्र! हमारे छोड़े हुए तुम शत्रु की सेना पर गिरो, शत्रु के पास पहुँचो और उनके शरीर में प्रवेश करो। इनमें से किसी को भी जीवित न छोड़ो॥ ४५॥

इत ऋक्चतुष्टयस्य विनियोगः कात्यायनेनोक्तः। इयमिषुदेवत्याऽनुष्टुप्। हे शरव्ये, शृणाति हिनस्ति येनासौ शरुः, 'शृस्वृस्निहि' (उ० १।१०) इत्यादिना उप्रत्यये साधुः, तस्मै हिता शरव्या, 'उगवादिभ्यो यत्' (पा० सू० ५।१।२) इति यति साधुः, तत्सम्बुद्धौ। यद्वा शरान् व्ययतीति शरव्या, शरोपपदात् 'व्येञ् संवरणे'

इति धातोः 'आदेच उपदेशेऽशिति' (पा० सू० ६।१।४५) इत्यात्वे, 'कविधौ सर्वत्र सम्प्रसारणिभ्यो डः' (पा० सू० ३।२।३, वा० १) इति डप्रत्यये, 'वचिस्वपियजादीनां किति' (पा० सू० ६।१।१५) इति सम्प्रसारणे, 'सम्प्रसारणाच्च' (पा० सू० ६।१।१०८) इति पूर्वरूपे यणि स्त्रीत्वविवक्षायां टापि रूपसिद्धिः। हिंसिका शरमयी हेतिः शरव्या, तत्सम्बुद्धौ। हे ब्रह्मशंसिते ब्रह्मणा मन्त्रेण अभिमन्त्रिता सती या संशिता अत्यन्तं तीक्ष्णीकृता सा ब्रह्मसंशिता, तत्सम्बुद्धौ। त्वमवसृष्टा अस्माभिर्मुक्ता प्रयुक्ता सती परापत परसैन्ये सहसा पतिता भव। पतित्वा च अमित्रान् शत्रून् गच्छ प्राप्नुहि। प्राप्य च शत्रुशरीरेषु प्रविश, प्रविश्य च अमीषां शत्रूणां मध्ये कञ्चनापि पुरुषं मा उच्छिषः अवशिष्टं मा कुरु, सर्वान् जहीत्यर्थः। 'शिष्लृ विशेषणे' माङ्योगे लुङ्, लृदित्वाच्च्लेरङि रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे शरव्ये, शरमयीषीकेव शत्रुघातिके चण्डि, ब्रह्मशंसिते ब्रह्मणा मन्त्रेण तीक्ष्णीकृतेवोग्रे, त्वं शत्रुवधाय अवसृष्टा प्रार्थनादिपूर्वकमस्माभिः प्रेषिता सती परापत शत्रुसैन्ये सहसा पतिता भव। अमित्रान् बाह्यानान्तरांश्च शत्रून् प्रति गच्छ, गत्वा च प्रपद्यस्व, अमीषां शरीरेषु प्रविश, प्रविश्य च मा कञ्चन उच्छिषः।

दयानन्दस्तु—हे शरव्ये, बाणविद्याकुशले ब्रह्मणा ब्रह्मविदा शंसिते प्रशंसिते सेनापतिपत्नि, त्वमवसृष्टा प्रेरिता परापत दूरं गच्छ अमित्रान् गच्छ तन्मारणेन विजयं प्रपद्यस्व। अमीषामदूरनिवासिनां शत्रूणां मध्ये विघातमन्तरा कञ्चन मोच्छिषः' इति, तदपि न युक्तम्, तादृशसम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, पुरुषेषु वीरेषु जीवत्सु संग्रामे स्त्रियाः प्रेषणानर्हत्वात्, सम्पूर्वकशितेः तीक्ष्णार्थकत्वस्यैव प्रसिद्धत्वात्, अमित्रान् प्रति दूरं च स्त्रियाः प्रेषणस्य आर्यमर्यादाविरुद्धत्वाच्च ॥ ४५ ॥

प्रेता जय॑ता नर॒ इन्द्रो॑ वः॒ शर्म॑ यच्छतु।
उ॒ग्रा वः॑ सन्तु बा॒हवो॑ऽनाधृ॒ष्या यथास॑थ ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—हे हमारे वीरपुरुषों ! शत्रु की सेना पर शीघ्र आक्रमण करो और उस पर विजय पाओ। इन्द्र तुम्हारा कल्याण करें, तुम्हारे भुजदण्ड शस्त्र उठाने में समर्थ हों, किसी भी प्रकार तुमको पराजय का तिरस्कार न झेलना पड़े ॥ ४६ ॥

योद्धृदेवत्याऽनुष्टुप्। योद्धॄन् स्तौति—हे नरः, अस्मदीया योद्धारो मनुष्याः, प्रेता प्रकर्षेण शत्रून् प्रति गच्छत। 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा० सू० ६।३।१३५) इति दीर्घः। गत्वा च जयता शत्रून् जयत, विजयं प्राप्नुतेत्यर्थः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। इन्द्रो देवराजोऽग्निर्वा, वो युष्मभ्यं शर्म जयोत्थं सुखहितहार्दसन्तोषं यच्छतु ददातु। दाणेः 'पाघ्राध्मा' (पा० सू० ७।३।७८) इत्यादिना यच्छादेशः। किञ्च, यथा यूयमनाधृष्याः केनाप्यतिरस्कार्या असथ भवथ, असेर्लेटोऽडाटावित्यडागमः, तथा वो युष्माकं बाहवो भुजदण्डा उग्रा उद्गूर्णायुधाः सन्तु।

अध्यात्मपक्षे—हे नरः, नेतारो 'नृ नये' इत्यस्मात् 'नयतेर्डिच्च' (उ० २।१०२) इति ऋन्प्रत्यये साधुः। यूयं शत्रुसैन्यं नास्तिकगणान् कामादिगणांश्च प्रकर्षेण गच्छत। ततस्तान् जयत। अयमिन्द्रः परमेश्वरो वो युष्मभ्यं शर्म जयप्रयुक्तं सुखं शान्तिं वा यच्छतु। यथा यूयं भागवतत्वादनाधृष्या अप्रधृष्याः, केनाप्यतिरस्कार्या भवथ, तथा वो युष्माकं बाहवो भुजदण्डाः क्रियाशक्तयो वा उग्राः शक्तिशालिनो भवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे व्यवहारिणो नराः, यथा यूयं शत्रुजनान् प्रेत जयत तथा इन्द्रः सेनापतिर्वो युष्मभ्यं शर्म गृहं प्रयच्छतु। वो बाहव उग्रा दृढाः सन्तु। अनाधृष्याः शत्रुभिरप्रधृष्या यथा स्यात् तथा असथ प्रयत्नं कुरुत'

इति, तदपि यत्किञ्चित्, समभिव्याहृतपदान्वयमुपेक्ष्य दूरस्थपदान्वयस्य शाब्दिकमर्यादाविरुद्धत्वात्, युद्धप्रसङ्गे गृहदानस्य असङ्गतेश्च ॥ ४६ ॥

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति न ओजसा स्पर्धमाना ।
तां गूहत तमसाऽपव्रतेन यथामी अन्यो अन्यं न जानन् ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—हे मरुत् देवताओं ! शत्रुओं की यह सेना अपने बल पर इठलाती हुई हमारे सामने आ रही है, उसको अकर्मण्यता के अन्धकार में डुबो दो, जिससे कि उस शत्रुसेना के सैनिक एक दूसरे को न पहचान पावें और परस्पर शस्त्र चलाकर नष्ट हो जांय ॥ ४७ ॥

मरुद्देवत्या त्रिष्टुप् । हे मरुतः, यूयं परेषां शत्रूणां या प्रसिद्धा असौ सेना नः अस्मान् अभ्येति अस्मानभिलक्ष्य आगच्छति । कीदृशी सेना ? ओजसा बलेन स्पर्धमाना प्रस्पर्धां कुर्वाणा । तां सेनाम् अपव्रतेन अपगतं व्रतं कर्म यस्मात् तदपव्रतम्, येन व्याप्तानां कर्माणि नश्यन्ति तादृशम्, तेन तमसा सूचीभेद्येनान्धकारेण गूहतं संवृतामाच्छादितां कुरुत । तथा गूहत यथा अमी सैनिका अन्योन्यं परस्परं न जानीयुः कः किं करोतीति ।

अध्यात्मपक्षे—हे मरुतो मरुद्विकाराः प्राणाः, असौ या प्रसिद्धा शत्रूणां सेना कामक्रोधादिभटसमूहरूपेण ओजसा बलेन सहिता अत एव स्पर्धमाना, नः अस्मान् अभिलक्ष्य, एति आगच्छति, तां सेनां गूहत व्याप्नुत । केन ? अपव्रतेन व्रतलोपकेन अज्ञानेन तथा गूहत यथा अमी अन्योन्यं न जानीयुः । श्रीरामसेनागता वानरा वा मरुत्पुत्रं हनूमन्तं प्रार्थयन्ते । पूजायां बहुवचनम् । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे मरुतः ! ऋतुमृतुं प्रति यजनशीला विद्वांसः, असौ या परेषां सेना स्पर्धमाना ओजसा अस्मानभ्येति सम्मुखे सर्वतो वा एति, ताम् अपव्रतेन छेदनरूपेण कठोरकर्मणा तमसा शतघ्न्यादिसमुत्थितेन धूमेन गूहत । अन्यत् पूर्ववत्' इति, तदप्यमनीषितम्, अपव्रतशब्देन कठोरछेदनकर्मग्रहणस्य निर्मूलत्वात्, तमःशब्देन धूमग्रहणस्यापि निर्मूलत्वाच्च ॥ ४७ ॥

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव ।
तन्न इन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ—जिस युद्ध में वैरी के चलाये हुए बाण फैली हुई शिखा वाले बालकों की तरह गिरते हैं, उस युद्ध में अदिति, बृहस्पति और इन्द्र हमें विजय दिलावें । ये सब देवता सारे शत्रुओं का नाश कर हमारा कल्याण करें ॥४८॥

इन्द्रबृहस्पत्यदितिदेवत्या पङ्क्तिरष्टाक्षरपञ्चपादा । यत्र युद्धे बाणा नरैर्मुक्ता इषवः सम्पतन्ति इतश्चेतश्चानिर्मर्यादं निपतन्ति । तत्र दृष्टान्तः—कुमारा विशिखा इवेति । कुमाराः शिशवो विशिखा विखण्डिताः शिखा येषां ते तथोक्ताः, फलमबुध्वैव यस्मिन् कस्मिन् कर्मणि प्रवर्तमाना मुण्डितमुण्डा अकृतचूडा इति यावत् । ते यथा चापलेनाविचार्यैव किञ्चिद् इतस्ततो गच्छन्ति, तद्वत् । तत् तत्र युद्धे इन्द्रः, नः अस्मभ्यं शर्म विजयोत्थं सुखं हार्दीं तुष्टिं च यच्छतु । कथम्भूत इन्द्रः ? बृहस्पतिः, बृहतां मन्त्राणां पतिः पालकः । पुनः कथम्भूतः ?

अदितिः, अविद्यमाना दितिः खण्डनं यस्यासौ तथोक्तः, अखण्डनीयशक्तिरिति यावत्। पुनः कथम्भूत इन्द्रः? विश्वाहा विश्वान् सर्वान् शत्रून् आसमन्ताद् हन्तीति विश्वाहा। नः शर्म यच्छतु। पुनरुक्तिरादरार्था। यद्वा इन्द्रः परमैश्वर्यवान् देवराजः, बृहस्पतिर् इन्द्रगुरुर्विजयोचितमन्त्रज्ञः, अदितिर् इन्द्रमाता च विश्वाहा विश्वानि च तानि अहानि विश्वाहा, विभक्तेराकारः, सर्वदेत्यर्थः। शर्म यच्छतु। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० सू० २।३।५) इत्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया।

अध्यात्मपक्षे—यत्र संसारसंग्रामे विशिखा मुण्डितमुण्डा इव बाणा बाणवद् घातका लौकिकालौकिका आघाताः सम्पतन्ति सम्भूय पतन्ति, तत्र इन्द्रः परमैश्वर्यवान् परमात्मा, बृहस्पतिर्बृहत्या वेदलक्षणाया वाचः पतिः पालकः, अदितिर् अच्छेद्यः, विश्वाहा सर्वधर्मप्रतीपघातकः, नोऽस्मभ्यं शर्म शरणमाश्रयं विजयोल्लाससुखं वा यच्छतु।

दयानन्दस्तु—'इन्द्रः सेनापतिर्बृहत्याः सभायाः पतिः, अदितिः नित्यं सभासद्भिः शोभिता सभा' इति, तदपि निर्मूलम्, प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावात्॥ ४८॥

मर्मा॑णि ते॒ वर्म॑णा च्छादयामि॒ सोम॑स्त्वा॒ राजा॒ऽमृते॒नानु॑वस्ताम्।
उ॒रोर्वरी॑यो॒ वरु॑णस्ते कृणोतु॒ जय॑न्तं॒ त्वानु॑ दे॒वा म॑दन्तु॥ ४९॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान! मैं तुम्हारे मर्मस्थानों को कवच से ढकता हूं, ब्राह्मणों के राजा सोम तुमको मृत्यु के मुख से बचाने वाले कवच से आच्छादित करें, वरुण तुम्हारे कवच को विस्तृत और मजबूत बनावें, अन्य सभी देवता विजय की ओर अग्रसर हुए तुम्हारा उत्साहवर्धन करें॥ ४९॥

'मर्माणि त इति कवचं प्रयच्छति' (का० श्रौ० १३।३।११)। महाव्रतयागेऽध्वर्युः क्षत्रियाय परिधानार्थं कवचं प्रयच्छेदिति सूत्रार्थः। सोमवरुणदेवत्या त्रिष्टुप्। हे यजमान, ते तव मर्माणि जीवस्थानानि वर्मणा कवचेन अहं छादयामि आवृणोमि। राजा ब्राह्मणादीनां राजा सोमः, 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा' (वा० सं० ९।४०) इति मन्त्रवर्णान्तरात्। एतन्नामा देवः। अमृतेन मरणनिवारकेण केनापि कवचविशेषेण त्वा त्वाम् अनुवस्ताम् अन्वाच्छादयतु। 'वस आच्छादने' इत्यादादिकस्य लोटि रूपम्। तथा वरुणस्तन्नामको देवः, ते तुभ्यम् उरोर्वरीयः, ऊर्णोतीति उरु महत्, 'ऊर्णोतेर्णुलोपश्च, महति ह्रस्वश्च' (उ० १।३०-३१) इति महत्यर्थे साधुः। महत् तस्मादपि वरीयो बृहत्तमम् अतिशयेन उरु इति वरीयः। उरुशब्दादीयसुनि 'प्रियस्थिरस्फिरोरु' (पा० सू० ६।४।१५७) इति वरादेशः। उरुतरं परमश्रेष्ठम्। अन्यदीयादधिकादप्युरुतरं परमश्रेष्ठं वर्म कृणोतु करोतु। धातूनामनेकार्थत्वात् करोत्यर्थेऽत्र वृत्तिः। किञ्च, जयन्तं विजयं प्राप्नुवन्तं त्वा त्वां देवा अनु मदन्तु अनुकूला भूत्वा हृष्यन्तु उत्साहयन्तु वा।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, अहमाचार्यस्ते तव मर्माणि मर्मस्थानानि वर्मणा न्यासजालरूपेण कवचेन आच्छादयामि। सोम उमया सहितो रुद्रो देवः सर्वभूतानां राजा सर्वभूतेषु राजमानः परमेश्वरः, अमृतेन अमरणसाधकेन ज्ञानकवचेन त्वामाच्छादयतु। वरुणः सर्वजनवरणीयो भगवान् शिवः, ते तव उरोर्वरीयः पृथोरपि पृथुतरं भक्तिरूपं वर्म कृणोतु सम्पादयतु। एवं सर्वतः संसारं जयन्तं त्वां देवा इन्द्रियाण्यन्ये साधका वा अनुमदन्तु अनुकूलाः सन्तः प्रहृष्यन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे योद्धः, ते मर्माणि वर्मणा च्छादयामि। सोमः शान्त्यादिगुणो विद्या-नय-विनयैः प्रकाशमानो राजा अमृतेन रोगनिवारकेण अमृतरसौषधेन त्वामनु वस्ताम्। वरुणः सर्वोत्तमगुणो राजा उरोर्बहोरपि गुणैश्वर्याद्यत्यन्तैश्वर्यैः कृणोतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यार्थं विहाय गौणार्थाश्रयणस्य निर्मूलत्वात्॥ ४९॥

उदे॑नमुत्त॒रां न॑याग्ने॑ घृ॒तेना॑हुत ।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ सᳪ सृ॑ज प्र॒जया॑ च ब॒हुं कृ॑धि ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—यजमान को होम करते समय अग्नि से प्रार्थना करनी चाहिये कि घृत से तृप्त अग्निदेव इस यजमान को ऐश्वर्य की पराकाष्ठा तक पहुंचावें, इसके मन को अत्यन्त निर्मल कर दें, इसे धन की पुष्टि से युक्त करें और पुत्र-पौत्र आदि सन्तान से इसके कुटुम्ब का विस्तार करें ॥ ५० ॥

'आर्द्रौदुम्बरीर्घृतोषितास्तिस्र उदेनमित्यादधाति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १८।३।१९)। अशुष्का उदुम्बरतरूत्थाः सकलां रात्रिं घृते कृतनिवासाः प्रादेशमात्रास्तिस्रः समिध ऋक्त्रयेण शालाद्वार्ये जुहोति। ततोऽग्निप्रणयनमिति सूत्रार्थः। तिस्रोऽनुष्टुभः। प्रथमाग्निदेवत्या, द्वितीया इन्द्रदेवत्या, तृतीया लिङ्गोक्तदेवत्या। हे घृतेनाहुत आज्येन सर्वतो हूयमान हे अग्ने, एनं यजमानम् उत्तराम् अतिशयेन उद् उत्तराम्। तरबन्ताद् उत्शब्दात् 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' (पा० सू० ५।४।११) इत्यामुप्रत्ययः। अत्युत्कृष्टमैश्वर्यं प्रति उन्नय उत्कर्षेण प्रापय। उत्कृष्टैश्वर्यमेवाह—रायस्पोषेण धनसमृद्ध्या संसृज संयोजय। किञ्च, प्रजया सन्तत्या पुत्रपौत्रादिकया च बहुं कृधि भूयांसं कुरु। बहुकुटुम्बं कुर्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, घृतेन नवनीतेन आहुत नित्यमर्च्यमान परमेश्वर, एनं साधकम् उत्तराम् उत्कृष्टैश्वर्यत्वं प्रापय। ऐश्वर्यमेवोच्यते—रायस्पोषेण ज्ञानविज्ञानरूपधनपुष्ट्या संसृज। प्रजया च बहुं पुत्रपौत्रादिसंकुलं कुरु।

दयानन्दस्तु—'हे घृतेनाप्लुत तृप्तिमापन्न अग्ने सेनापते, एनं विजयिनम् उत्तरां येन उत्तमतया संग्रामं तरन्ति तां सेनाम् उन्नय उत्तमाधिकारं प्रापय। शेषं पूर्ववत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, धात्वर्थातिक्रमात्, संग्रामादिपदायोगेन उत्तरामित्यस्य सेनार्थत्वे मानाभावात् ॥ ५० ॥

इन्द्रे॒मं प्र॑त॒रां न॑य सजा॒ताना॑मसद्व॒शी ।
समे॑नं॒ वर्च॑सा सृज दे॒वानां॑ भाग॒दा अ॑सत् ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र ! तुम इस यजमान को पूर्ण ऐश्वर्य प्रदान करो, जिससे कि ज्ञाति वाले सब इसके वश में हो जांय। इसको तेज से संयुक्त करो, जिससे कि यह देवताओं को आहुति रूप उनका भाग देने में समर्थ हो ॥ ५१ ॥

हे इन्द्र महेन्द्र, इमं यजमानं प्रतरां नय प्रकृष्टैश्वर्यं प्रापय। प्रकर्षवाचकः प्रशब्दः, ततोऽप्यतिशये तरप्। तत्रापि प्रकर्षे आम्। सम्भूय प्रकृष्टैश्वर्यमित्यर्थः। प्रकृष्टत्वमेव प्रपञ्च्यते—सजातानां समानजातीयानां सहोत्पन्नानां ज्ञातीनां वशी वशयतीति तथोक्तो नियमनसमर्थः, असद् भवतु। किञ्च, एनं यजमानं वर्चसा बलेन संसृज, तेजस्विनं कुर्विति यावत्। किञ्च, अयं यजमानो देवानां भागदा भागं ददातीति भागदा यज्ञेषु देवानां भागप्रदाता असद् भवतु।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, इमं साधकं प्रतराम् अतिप्रकर्षं ब्रह्मात्मभावं वा नय प्रापय। सजातानां समानजन्मनां ज्ञातीनां मध्ये वशी कान्त ईश्वरः, नियमनसमर्थो वा अयं साधको भवतु। किञ्चैनं वर्चसा ब्रह्मज्ञानजनितेन तेजसा संसृज संसृष्टं कुरु। वर्चसा स्वेन कर्मणा भजनरूपेण वा संसृष्टं कुरु। वर्णानामुत्कर्षो वर्च

इत्युव्वटाचार्यः। अयं साधको देवानां भागदा असद् भागम् अभीष्टं भजनीयं ददातीति भागदा असद् भवतु। भागदाः प्रथमैकवचनम्। परमेश्वरानुग्रहादेव स्वधर्मनिष्ठा देवयजनं सर्वैश्वर्यं ब्रह्मात्मनावस्थानं च सम्पद्यते।

दयानन्दस्तु—'हे सुखानां धारक सेनापते, सजातानां समानावस्थानां देवानां विदुषां योद्धॄणां मध्ये इमं विजयिनं वीरजनं प्रतरां यया शत्रुबलादपसार्यते तां नीतिं नय। यया वशी जितेन्द्रियोऽसद् भवेत्। एनं वर्चसा विद्याप्रकाशेन संसृज। अयं यथायोग्यं भागदा असत्' इति, तदेतत्सर्वं विशृङ्खलमेव, स्वाच्छन्द्यात्। सजातानामित्यस्य समानावस्थानां योद्धॄणामिति व्याख्यानं प्रमाणशून्यमेव, धात्वर्थवैपरीत्यात्। देवानामित्यस्य भागदा इत्यनेन सन्निधानमूलकः सम्बन्धः श्लिष्टतरः॥ ५१॥

यस्यं कुर्मो गृहे हविस्तमंग्ने वर्धया त्वम्।
तस्मैं देवा अधिब्रुवन्नयं च ब्रह्मणस्पतिः॥ ५२॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! जिसके घर में पुरोडाश की हवि दी जाती है, उस यजमान को तुम ऐश्वर्य से सम्पन्न करो, जिससे कि देवता उस यजमान की प्रशंसा करें, यह यजमान वैदिक कर्मों का स्वामी हो॥ ५२॥

वयम् ऋत्विजो यस्य यजमानस्य गृहे हविः पुरोडाशप्रधानं कर्म कुर्मः, हे अग्ने, त्वं तं यजमानं प्रजया पशुभिश्च वर्धय। तस्मै देवा अधिब्रुवन् उपरिभावेन यत्प्रशस्तं कल्याणं तद् ब्रुवन्तु। अयं च यजमानो ब्रह्मणस्पतिर्वैदिककर्मणः पालकोऽस्तु। यद्वा देवा अयं ब्रह्मणस्पतिरग्निश्च इमं यजमानम् अधिब्रुवन्तु। अस्मै यजमानाय अधिकं प्रशस्तं कल्याणं ब्रुवन्तु। अत्र चतुर्थ्यर्थे द्वितीया।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, यस्य अर्चकस्य गृहे साधनास्थाने हविर्निवेदनीयचरुपुरोडाशादिकं कुर्मः, तं त्वं ज्ञानविज्ञानवैराग्यादिभिर्वर्धय। देवा ब्रह्मणस्पतिरयमग्निश्च तस्मै अस्मै साधकाय यत्प्रशस्तं कल्याणतमं ब्रह्मतत्त्वं तद् ब्रुवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन् पुरोहित, यस्य राज्ञो गृहे वयं हविर्होमं कुर्मः, तं त्वं वर्धय उत्साहयतु। देवा ऋत्विजस्तमधिब्रुवन्तु अधिकमुपदिशन्तु, ब्रह्मणस्पतिर्वेदपालकोऽयं यजमानस्तं शिक्षयतु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'अधिब्रुवन्तु अधिकमुपदेशं कुर्वन्तु' इत्यस्य निर्मूलत्वात्। 'ब्रह्मणस्पतिर्यजमानः शिक्षयतु' इत्यपि निर्मूलम्, तादृशपदस्य मूलेऽभावात्॥ ५२॥

उदु त्वा विश्वे देवा अग्ने भरन्तु चित्तिभिः।
स नो भव शिवस्त्वᳪं सुप्रतीको विभावसुः॥ ५३॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! तुम सम्पूर्ण प्राणरूप देवता हो, उद्यम में प्रवीण बुद्धि की वृत्तियों के द्वारा तुम ऊँची धारणा वाले बनो। उच्च विचार, सुन्दर मुख वाले, दीप्तिरूप धन वाले तुम हमारे लिये कल्याणकारक बनो॥ ५३॥

'त्रिरुक्तायामुद्यम्योदु त्वेति' (का० श्रौ० १८।३।२३)। होत्रा प्रथमायामृचि त्रिःपठितायामध्वर्युः प्रदीप्तमिध्मं शालाद्वार्यादूर्ध्वमुत्पादयेदिति सूत्रार्थः। इयं कण्डिका द्वादशे एकत्रिंशी। तत्रैव व्याख्याता॥ ५३॥

पञ्च॒ दिशो॒ दैवी॑र्य॒ज्ञम॑वन्तु दे॒वीरपाम॑तिं दुर्म॒तिं बाध॑मानाः ।
राय॒स्पोषे॑ य॒ज्ञप॑तिमा॒भज॑न्ती रा॒यस्पोषे॒ अधि॑ य॒ज्ञो अ॑स्थात् ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—इन्द्र, यम, वरुण, सोम और ब्रह्मा से सम्बन्ध रखने वाली पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और मध्य में स्थित पांच दिशाएँ हमारी बुद्धि की मन्दता का और पापबुद्धि का विनाश करें, धन की पुष्टि में यजमान को भागीदार बनावें और हमारे यज्ञ की रक्षा करें। हमारा यज्ञ धन की वृष्टि से अधिक सम्पन्न हो ॥ ५४ ॥

'चित्यं गच्छन्ति पञ्च दिश इति' (का०श्रौ० १८।३।२४)। ततो ब्रह्महोत्रध्वर्युप्रतिप्रस्थातृयजमानाः पञ्च दिश इत्याद्यृक्पञ्चकेन (अर्थाद् ऋक्पञ्चकं पठन्तः) चित्यं प्रति गच्छन्तीति सूत्रार्थः। तत्र सर्वेषां मन्त्रपाठ इति कर्कः। अध्वर्योरेवेति हरिस्वामिनः। यज्ञाग्निसाधनवादिन्यः पञ्च ऋचः। आद्ये द्वे त्रिष्टुभौ। तृतीया बृहती पङ्क्तिर्वा, अष्टात्रिंशदक्षरत्वात्। चतुर्थी बृहती। पञ्चमी त्रिष्टुप्। प्रथमा दिग्देवत्या। द्वितीयतृतीये आग्नेय्यौ। चतुर्थी हविर्यज्ञदेवत्या। पञ्चमी आग्नेयी। या इमाः पञ्च दिशः प्राची-दक्षिणा-प्रतीच्युदीची-मध्यमारूपास्ताः सर्वा इमं यज्ञमवन्तु। कीदृश्यस्ता दिशः? देवीर् देव्यः। स्वयं देवीरूपा इत्यर्थः। पुनः कीदृश्यः? दैवीर् दैव्यः। देवानाम् इन्द्र-यम-वरुण-सोम-ब्रह्मणामिमाः सम्बन्धिन्यो दैव्यः, पुनः कीदृश्यः? अमतिम् अस्मदीयप्रज्ञामान्द्यम्, अमननमज्ञानं वा दुर्मतिं दुष्टां मतिं पापविषयां बुद्धिम्, अपबाधमाना विनाशयन्त्यः। रायस्पोषे धनपुष्टौ यज्ञपतिं यजमानम् आभजन्तीर् आभजन्त्यः, भागिनं कुर्वन्त्य इत्यर्थः। किञ्चास्मदीयो यज्ञो रायो धनस्य पोषे पुष्टौ अधि अस्थाद् अधिकं तिष्ठतु समृद्धोऽस्तु, यद्वा ताभिर्दिग्भिरेव स्थापितोऽभिहुतो यज्ञः समृद्धोऽस्त्वित्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमुद्यच्छति। उदु त्वा विश्वे देवा अग्ने भरन्तु चित्तिभिरिति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।२।३।७)। 'उदु त्वा विश्वेदेवा अग्ने भरन्तु चित्तिभिः' इत्यादिना मन्त्रेणाग्नेरुद्यमनं विधत्ते—अथैनमिति। एतस्य ज्ञापकं ब्राह्मणं (श० ६।८।१।७) इत्यत्रोक्तम्। तदाह—तस्योक्तो बन्धुरिति। 'अथाभिप्रयन्ति। पञ्च दिशो दैवीर्यज्ञमवन्तु देवीरिति देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या दिक्ष्वस्पर्धन्त ते देवा असुराणां दिशोऽवृञ्जत तथैवैतद्यजमानो द्विषतो भ्रातृव्यस्य दिशो वृङ्क्ते दैवीरिति तदेना दैवीः कुरुते यज्ञमवन्तु देवीरिति यज्ञमिममवन्तु देवीरित्येतदपामतिं दुर्मतिं बाधमाना इत्यशनाया वा अमतिरशनायामपबाधमाना इत्येतद्रायस्पोषे यज्ञपतिमाभजन्तीरिति रय्यां च पोषे च यज्ञपतिमाभजन्तीरित्येतद्रायस्पोषे अधि यज्ञोऽस्थादिति रय्यां च पोषे चाधि यज्ञोऽस्थादित्येतत्' (श० ९।२।३।८) उद्यमनानन्तरमध्वर्युप्रभृतीनां चित्यं प्रति गमनं विधत्ते—अथेति। अत्र पञ्च दिशो दैवीरित्यादिभिः पञ्चभिर्ऋग्भिराग्नीध्रपर्यन्तं गच्छन्ति। तथा चाह परमर्षिर्भगवान् कात्यायनः—'चित्यं गच्छन्ति पञ्च दिश इति' (का० श्रौ० १८।३।२४) इति। प्रजापत्यपत्यभूता देवाश्चासुराश्च दिग्विषये स्पर्धां कृतवन्तः। पश्चाद् देवा असुराणां दिश उपगमय्य स्वाधीनीकृतवन्तः। तथैव यजमानोऽपि द्वेषं कुर्वतो भ्रातृव्यस्य दिशः स्वाधीनाः करोति। देवसम्बन्धिन्यः पञ्च दिशोऽमतिमशनेच्छां दुर्मतिमशास्त्रीयां मतिं च अपबाधमाना एनं प्रणीयमानाग्निलक्षणं यज्ञमवन्तु। इति प्रसन्ना कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—पञ्च दिशस्तत्तद्दिगधिष्ठात्र्यो देव्यो देवानामिन्द्रादीनां सम्बन्धिन्यो यज्ञं परमात्मयजनरूपमाराधनम् अवन्तु। तत्तद्विघ्नापनोदनेन रक्षन्तु। अमतिम् अज्ञानं दुर्मतिं संशयविपर्ययाद्याक्रान्तां मतिम् अपबाधमाना रायस्पोषे ज्ञानविज्ञानधनपुष्टौ यज्ञपतिम् उपासकम् आभजन्तीर्भागिनं कुर्वन्त्यस्तत्तद्विघ्नापनोदनेन रक्षन्तु। किञ्च, यज्ञोऽस्मदीय उपासनालक्षणो रायो धनस्य पूर्वोक्तस्य पोषे पुष्टौ अधि अस्थाद् अधिकं तिष्ठतु, ज्ञानविज्ञाननिमित्तत्वेन अतिप्रशस्तो भवत्वित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'अमतिमज्ञानं दुर्मतिं दुष्टबुद्धिम् अपबाधमाना देवानां विदुषां सम्बन्धिन्यो दिव्यगुणोपेता वा ब्रह्मचारिण्यः पञ्च दिशः पञ्चदिक्तुल्या विविधकर्मसु कौशलमधिगता धनपुष्टिनिमित्तं यज्ञपतिं गृहकृत्यराज्यादिपालकं स्वस्वस्वामिनम् आभजन्ती सम्यक् सेवमाना, यज्ञं संगतिकरणयोग्यं गृहाश्रमम् अवन्तु कामयन्तु, येन यज्ञो गृहाश्रमो रायस्पोषे अधि अस्थाद् आधिक्येन स्थिरोऽस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यज्ञशब्दस्य गृहाश्रमतार्थतायां नानाभावात्। पञ्चदिक्तुल्या ब्रह्मचारिण्य इत्यपि न श्लिष्टम्, सादृश्यनियामकधर्मानुक्तेः। देवा विद्वांस इत्यपि न युक्तम्, भूमिकायां देवताविचारप्रसङ्गे बहुधा निरस्तत्वात्। न च स्त्रीणां प्रार्थनामात्रेण अमतिदुर्मतिबाधनं सम्भवति, तस्याध्ययनादिसाधनायत्तत्वात्। उद्धृतब्राह्मणसूत्रादिविरोधस्त्वस्य क्षेत्रियो व्याधिः ॥ ५४ ॥

समि॑द्धे अ॒ग्नावधि॑ मामहा॒न उ॒क्थप॑त्र॒ ईड्यो॑ गृभी॒तः ।

त॒प्तं घ॒र्मं प॑रि॒गृह्या॑यजन्तो॒र्जा यद्य॒ज्ञमय॑जन्त दे॒वाः ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—ब्रह्मा आदि के स्थान में वरण किये गये अध्वर्यु आदि ऋत्विक् गण प्रज्वलित प्रवर्ग्य को ग्रहण करके यज्ञपुरुष का पूजन करते हैं। वे जब हवि रूप अन्न से यजन करते हैं, तब स्तुतियोग्य उक्थ और शस्त्र से यज्ञ सम्पन्नता को प्राप्त होता है। देवताओं का परमपूजक यजमान अग्नि के प्रज्वलित होने पर अतितेजस्वी प्रतीत होने लगता है ॥ ५५ ॥

असम्बद्धानि वाक्यानि यच्छब्दयोगात् तच्छब्दयोगाच्च सम्बद्धानि भवन्ति। अतस्तदध्याहारपूर्वकं व्याख्यायते। यः समिद्धे प्रदीप्तेऽग्नौ प्रणीयमाने अधि मामहान उपरिभावेन देवानामत्यर्थं पूजको यजमानः, 'यजमानो वै मामहानः' (श० ९।२।३।९) इति श्रुतेः। आत्मानं वा कृतकृत्यं मन्यमानो यजमानः प्रणीयमानमग्निमनुगच्छति। यस्य च उक्थपत्रोऽग्निः, उक्थानि शस्त्राणि पत्रं वाहनं यस्य स उक्थपत्रः प्रणीयमानोऽग्निः, अग्निष्टोमे उक्थानि शस्त्राणि पत्राणीवाङ्गानि भवन्ति, तस्मादग्निरुक्थपत्रः। ईड्यो यज्ञियः। गृभीतो धारितोऽध्वर्युणा, 'गृभीत इति धारित इत्येतत्' (श० ९।२।३।९) इति श्रुतेः। यस्य च मामहानस्य यजमानस्य तप्तं रुचितं घर्मं परिगृह्य परीशासाभ्याम् ऋत्विजोऽयजन्त यजन्ते, यस्य च ऊर्जा अन्नेन हविर्लक्षणेन यज्ञं देवा ऋत्विजोऽयजन्त सङ्गतं वा कृतवन्तः, सोऽयमग्निः, कृतकृत्य इति शेषः।

सायणरीत्या तु समिद्धे सम्यक् प्रज्वलितेऽग्नौ प्रणीयमाने सत्यधि मामहानोऽधिकं पुनः पुनः पूज्यमान उक्थपत्र उक्थानि शस्त्राणि पत्रं वाहनं यस्य स उक्थपत्रः। ईड्यः स्तुत्यः। यज्ञ एव गृभीतोऽध्वर्युणा परिगृहीतो भवति। देवा दीव्यन्ति व्यवहरन्ति प्रचरन्ति ब्रह्मत्वहौत्राध्वर्यवादिकर्मभिरिति देवा ऋत्विजः, यद् यदा तप्तं घर्मं ज्वलितं प्रवर्ग्यं परिगृह्य परितः परिशासाभ्यामादाय अयजन्त यजन्ते, यदा चोर्जा हविर्लक्षणेनान्नेन अयजन्त यजन्ते। यदोग्रहणात्तदोऽध्याहारः, नित्यसम्बन्धात्तयोः। तदा समिद्धेऽग्नौ प्रणीयमाने यज्ञोऽध्वर्युणा गृहीतो भवति।

अत्र ब्राह्मणम्—'समिद्धे अग्नावधि मामहान इति। यजमानो वै मामहान उक्थपत्र इत्युक्थानि ह्येतस्य पत्राणीड्य इति यज्ञिय इत्येतद् गृभीत इति धारित इत्येतत्तप्तं घर्मं परिगृह्यायजन्तेति तप्तꣳ ह्येतं घर्मं परिगृह्याऽयजन्तोर्जा यद्यज्ञमयजन्त देवा इत्यूर्जा ह्येतं यज्ञमयजन्त देवाः' (श० ९।२।३।९)। मामहानशब्दो यजमानपर इत्याह—यजमानो वा इति। अग्नेरुक्थानि स्तोत्रशस्त्राणि पत्राण्यङ्गानि भवन्ति, तदाह—उक्थानि ह्येतस्येति। यद्वा उक्थान्येव पत्रं वाहनं यस्य सः। गृभीत इति पदेनाध्वर्युणा धारित इत्येतदुक्तं भवति, तदाह—गृभीत इति।

तथा च ब्राह्मणानुसारेणायमर्थः—सम्यग्दीप्तेऽग्नौ प्रणीयमाने मामहानोऽत्यर्थं पूजको यजमानोऽधिकारभावेन तमनुगच्छति। उक्थान्येवाङ्गानि यस्य स उक्थपत्रः, ईड्यः स्तुत्यो यज्ञियो वा सोऽग्निरध्वर्युणा धारितः। किञ्च, देवास्तसं घर्मात्मकं तमग्निं परिगृह्यायजन्त। तप्तत्वादेव यज्ञरूपं तमाज्यादिहविर्लक्षणेन अन्नेन अशमयन्तेति द्वितीयस्यायजन्तेत्यस्यार्थः।

अध्यात्मपक्षे—देवा ऋत्विजः समिद्धे सन्दीप्तेऽग्नौ तप्तं घर्मं यज्ञशिरोरूपमपवर्ग्यं महावीरं परिशासाभ्यां परिगृह्य अयजन्त यजन्ते। ऊर्जा अन्नादिलक्षणेन हविषा यद् यं यज्ञं यजनीयं परमेश्वरं यजन्ते, सोऽधिमामहानोऽधिकं पुनः पुनः पूज्यमानः, उक्थपत्रः स्तोत्रशस्त्रादिरूपः, छन्दोमयो गरुडः पत्रं वाहनं यस्य सः, ईड्यः स्तुत्यः, गृभीतः सर्वैरप्यास्तिकैराधुनिकैः प्राचीनैश्चर्षिमुन्यादिभिर्गृहीतः स्वात्मत्वेनोपास्यते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्या देवा विद्वांसः, यथा समिद्धेऽग्नौ यद्यज्ञमग्निहोत्रमयजन्त कुर्वन्ति, तथैव यो मामहानोऽत्यन्तसत्कारयोग्यः, यस्य वक्तुं योग्यं विद्यायुक्तं वेदस्तोत्रं यश्च स्तुत्यः, यः सज्जनैर्गृहीतं तापयुक्तं घर्ममग्निहोत्रमूर्जा बलेन परिगृह्य यूयमयजन्त यजध्वम्' इति, तदपि विसङ्गतमेव, उक्थादिपदानामर्थानवबोधात्, पत्रपदार्थानुक्तेश्च। घर्मपदस्याग्निहोत्रार्थता च निर्मूलैव, यतो हि घर्मपदं महावीरेऽपवर्ग्येऽर्थे प्रसिद्धम् ॥ ५५ ॥

दैव्या॑य ध॒र्त्रे जोष्ट्रे॑ देव॒श्रीः श्रीम॑नाः श॒तप॑याः ।
प॒रि॒गृह्य॑ दे॒वा य॒ज्ञमा॑यन् दे॒वा दे॒वेभ्यो॑ अध्व॒र्यन्तो॑ अस्थुः ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—हवि प्रदान कर देवताओं की सेवा करने वाला, यजमान में मन रखने वाला, भक्तों को धन देने का मन बनाने वाला, दूध आदि सैकड़ों प्रकार की सामग्री वाला यज्ञ, देवताओं के हितकारी वर्षण आदि के द्वारा अथवा यज्ञ के द्वारा जगत् का रक्षक हमारी दी हुई प्रीतियुक्त हवि को स्वीकार करने वाले अग्नि के निमित्त होता है, ऋत्विक्गण उस अग्नि को पाकर उस यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। दीप्तिमान् ऋत्विक्गण देवताओं के निमित्त यज्ञ करने का मन बनाते हैं ॥ ५६ ॥

द्व्यधिका बृहती वा द्व्यूना पङ्क्तिर्वा, अष्टात्रिंशदक्षरत्वात्। आग्नेयी। दैव्याय देवानामयं हितो वा दैव्यः, 'देवाद्यञञौ' (पा० सू० ४।१।८५, वा० २) इति रूपसिद्धिः, तस्मै। धर्त्रे धरतीति धर्ता तस्मै, यागद्वारा जगतो धारयित्रे। जोष्ट्रे जुषते अस्मद्दत्तहविः सेवत इति जोष्टा, तस्मै। एवंविधाय अग्नये यज्ञो भवतीति शेषः। कथम्भूतो यज्ञः? देवश्रीः। देवान् श्रयति हविर्दानेनेति देवश्रीः। पुनः कथम्भूतो यज्ञः? श्रीमनाः श्रयते सेवत इन्द्रादीन् देवानिति श्रीर्यजमानः, तस्मिन् मनोऽनुग्रहपरायणं यस्य सः। यद्वा श्रीर्मनसि यस्य स श्रीमनाः। अथवा भक्तेभ्यः श्रियं दातुं मनो यस्य स श्रीमनाः। शतपयाः शतं शतसंख्याकानि पयःप्रभृतीनि हवींषि यस्य सः। एतादृशयज्ञस्याग्निं परिगृह्य देवा ऋत्विजो यज्ञं प्रति आयन् यज्ञं कर्तुमागच्छन्ति। किञ्च, देवा दीप्यमाना ऋत्विजो देवेभ्योऽर्थाय अध्वर्यन्तः, आत्मनोऽध्वरं कर्तुमिच्छति अध्वर्यति, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि नामधातुः, 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (पा० सू० ७।४।३९) इत्यन्तलोपेऽध्वर्यतीति रूपम्, तस्माद् बहुत्वे शतर्यध्वर्यन्तोऽध्वरं कर्तुमिच्छन्तः, अस्थुः परिवार्य स्थिताः। अथवा पूर्वार्धर्चे पयो दानार्थं नीयत इति वाक्यशेषः। तथा च एवंभूतायाग्नये देवा ऋत्विजो यज्ञमायन् यज्ञं कर्तुमागच्छन्ति। सोऽयमीदृशोऽग्निरस्मदभीष्टदो भवत्विति शेषः। कीदृशोऽग्निः? देवश्रीः श्रीमनाः शतपयाः। तादृशमग्निं परिगृह्य देवा ऋत्विग्यजमाना यज्ञमायन् अनुतिष्ठन्ति। किञ्च, देवा ऋत्विगादयो देवेभ्यो हविःस्वीकर्तृभ्योऽध्वर्यन्तोऽध्वरं कर्तुमिच्छन्तः, अस्थुः तिष्ठन्ति।

अध्यात्मपक्षे—देवेभ्यो हिताय हितकारिणे तेषामेवार्थे श्रीरामकृष्णादिरूपेण अवतारधारिणे धर्त्रेऽसुरराक्षसादिवधद्वारा जगतो धारयित्रे, जोष्ट्रे भक्तसमर्पितपत्रपुष्पफलादिवस्तूनां प्रीत्या सेवित्रे भगवते श्रीरामाय नमः। स भगवान् कीदृशः ? तत्रोच्यते—देवश्रीः मर्यादापुरुषोत्तमत्वाद् यज्ञादिना देवान् इन्द्राग्न्यादीन् श्रयते सेवते स देवश्रीः। श्रीमनाः श्रियि सीतायामनुरक्तं मनो यस्य सः। यद्वा श्रयते भगवन्तमिति श्रीर्भक्तः, तस्मिन् सानुग्रहं मनो यस्य सः। अथवा श्रियमैश्वर्यं मोक्षलक्ष्मीं वा दातुं मनो यस्य सः। शतपयाः शतान्यनन्तानि दधिदुग्धाज्यादिहवींषि यस्य सः शतपयाः। यं फलदानप्रतिभुवं परिगृह्य ऋत्विग्यजमाना इन्द्रादयो वा यज्ञमायन् यज्ञमनुतिष्ठन्ति, 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' (भ० गी० १८।४६), 'क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते। अतस्त्वां सम्प्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं श्रुतौ श्रद्धां बध्वा कृतपरिकरः कर्मसु जनः॥' (म० स्त० २०) इत्यादिप्रमाणेभ्यः। देवेभ्यो हविर्भोक्तृभ्योऽध्वर्यन्तोऽध्वरं यज्ञं कर्तुमिच्छन्तो देवास्तमेवादर्शं मत्वा परिवार्य अस्थुस्तिष्ठन्ति, तस्यैव यज्ञाद्याचरणेन धर्मशिक्षकत्वात्, 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः' (भा० पु० ५।१९।५) इति स्मृतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्र इति। दैवो ह्येष धर्ता जोषयितृतमो देवश्रीः श्रीमनाः शतपया इति देवश्रीर्ह्येष श्रीमनाः शतपयाः परिगृह्य देवा यज्ञमायन्निति परिगृह्य ह्येतं देवा यज्ञमायन् देवा देवेभ्यो अध्वर्यन्तो अस्थुरित्यध्वरो वै यज्ञो देवा देवेभ्यो यज्ञियन्तोऽस्थुरित्येतत्' (श० ९।२।३।१०)। अत्राग्निरेव धारयितृत्वाज्जोषयितृतमत्वाच्च दैव्यादिशब्देनोच्यत इत्याह—दैव्यायेति। एतद्रीत्या मन्त्रार्थस्तु—देवसम्बन्धिने धारयित्रे जोषयितृतमाय अग्नये हविर्दानार्थं तत्प्रणयनं क्रियत इति वाक्यशेषः। किञ्च, यो देवश्रीः श्रयन्ते सेवन्त इति श्रियः, देवाः श्रियः सेवका यस्येति देवश्रीः। श्रीमनाः श्रियं दातुं मनो यस्य स श्रीमनाः। शतपयाश्च तमग्निं परिगृह्य देवा यज्ञं देवयजनप्रदेशमायन् गतवन्तः। गत्वा च देवा ऋत्विगादयो देवेभ्यो हविर्भोक्तृभ्योऽध्वर्यन्तो यज्ञमिच्छन्तः, अस्थुः स्थितवन्तः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा अध्वर्यन्तो यज्ञमिच्छन्तो विद्यादातारो वा विद्वांसो देवेभ्यो विदुषां प्रसन्नतार्थं गृहाश्रममग्निहोत्रादियज्ञं वा अस्थुः, यथा दैव्याय शुभगुणेषु प्रसिद्धाय धर्त्रे जोष्ट्रे होत्रे देवश्रीर्या सेव्यते सा विद्या लक्ष्मीः। श्रीमना यस्य लक्ष्म्यां मनः सः। शतपया यो दुग्धादिवस्तुशतयुक्तः, तं तादृशं यजमानं देवा विद्यादातारो यूयं परिगृह्य यज्ञं प्रति योऽयं गृहाश्रममग्निहोत्रादियज्ञं वा आयन् प्राप्ता भवथ' इति तदपि यत्किञ्चित्, सन्निधानादिनोपस्थितं योग्यपदं परित्यज्यानुपस्थितस्य दूरस्थपदस्य सम्बन्धयोजनस्य असाम्प्रतिकत्वात्। नहि विदुषां मनुष्याणामेव प्रसन्नतार्थं यज्ञानुष्ठानं भवति, तेषां प्रसादस्यान्यथापि सम्भवात्। न वा जगद्धारकत्वादिकं मनुष्येषु सम्भवति, तेषामल्पशक्तिमत्त्वात्। न चात्र यस्य कस्यचिद् धारणं विवक्षितम्, यस्य कस्य धारकत्वस्य सर्वत्रैव सौलभ्यात्॥ ५६॥

वीतꣳ हविः शमितꣳ शमिता यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति।
ततो वाका आशिषो नो जुषन्ताम्॥ ५७॥

मन्त्रार्थ—चौथा यज्ञ वह कहलाता है, जिसमें हवि पाने योग्य देवताओं के प्रिय और परम शान्त स्वभाव वाले अध्वर्यु के द्वारा हवन करने के निमित्त संस्कृत हवि प्राप्त होती है। इस यज्ञ में अभीष्ट अर्थ को कहने वाले तीनों वेदों के उच्चरित मन्त्र हमारे लिये फलीभूत हों॥ ५७॥

हविर्यज्ञदेवत्या बृहती। यत्र यस्मिन् काले यज्ञो हव्यं होतुं योग्यं हविरेति प्राप्नोति, ततो यज्ञादुत्थिता वाका वाक्यानि, वचेर्घञि रूपम्, ऋग्यजुःसामलक्षणानि, आशिषोऽभीष्टार्थशंसनानि च नोऽस्मान् जुषन्तां सेवन्ताम्। यज्ञफलान्यस्मानालिङ्गन्त्वित्यर्थः। कीदृशं हविः? वीतं देवानामिष्टम्, 'इष्टꣳ स्विष्टमित्येतत्' (श० ९।२।३।११) इति श्रुतेः। पुनः कीदृशम्? शमिता शमित्रा, तृतीयैकवचनस्य 'सुपां सुलुक्.....' (पा० सू० ७।१।३९) इति सु आदेशः। यजध्यै यष्टुम्, 'तुमर्थे सेसेनसे' (पा० सू० ३।४।९) इत्यादिना शध्यैप्रत्ययः। शमितं मन्त्रैः संस्कृतम्। कथंभूतो यज्ञस्तुरीयश्चतुर्थः। कथं चतुर्थस्तत्राह—'अध्वर्युः पुरस्ताद्यजूꣳषि जपति होता पश्चादृचोऽन्वाह ब्रह्मा दक्षिणतोऽप्रतिरथं जपत्येष एव तुरीयो यज्ञः' (श० ९।२।३।११) इति श्रुतेः। यद्वा आदौ अध्वर्युणा 'ओ श्रावय' इत्याश्रावणम्। तत आग्नीध्रेण 'अस्तु श्रौषट्' इति प्रत्याश्रावणम्। ततोऽध्वर्योर्यजेति प्रैषः। ततो होतुर्वषट्कार इति यज्ञश्चतुर्धा कल्प्यते।

अत्र ब्राह्मणं व्याख्यान एवोद्धृतम्। अतः सम्पूर्णा कण्डिका नोद्ध्रियते। एतदनुसारी मन्त्रार्थस्तु—शमित्रा अग्न्यर्थयागीयं हविर्वीतम् इष्टं यत्र यस्मिन् प्रणयनदेशे हव्यं हवनार्हमग्निं तुरीयो यज्ञो गच्छति, तथाविधादस्मादग्नेरध्वर्य्वादीनाम् अप्रतिरथादयो मन्त्रा वाका ऋग्यजुःसामलक्षणानि वाक्यानि, आशिषश्च नः अस्माकं जुषन्तामिति।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, यत्र यन्निमित्तं यज्ञे यजने यजध्यै, तं भवन्तं यष्टुं हव्यं हवनयोग्यं वीतं कामितमभीष्टं शमिता शमित्रा शमनिष्ठेन साधकेन शमितं मन्त्रसंस्कृतं हविः, एति आगच्छति। तत्र पूर्वमध्वर्युर्जपति। पश्चाद्धोता ऋचः पठति। ब्रह्मा अप्रतिरथं जपति। तदपेक्षया तुरीयो यागो भवदीययजनं सम्पद्यते। ततस्तस्माद् यज्ञाद् वाकाः स्तुतिलक्षणानि ऋग्यजुःसामरूपाणि वचनान्याशिषोऽभीष्टशंसनानि, नोऽस्मान् जुषन्तां सेवन्ताम्। भवत्प्रसादात् तादृशा वाका आशिषश्च अस्मान् प्राप्नुवन्त्वित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः शमिता शान्तो गृहाश्रमी यजध्यै यागं कर्तुं वीतं गमनशीलं शमितं दुर्गुणप्रशमनं होतुं योग्यं हविरग्नौ प्रक्षिपति, यस्तुरीयो यज्ञः प्राप्तुं योग्योऽस्ति, तथा यत्र हव्यं होतुं योग्यं वस्तु एति ततस्तेभ्यः सर्वेभ्यो वाका या उच्यन्ते, ता वाच आशिष इच्छासिद्धयश्च नो जुषन्तामिवीच्छत' इति, तदपि न, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्। शमिता शान्तो गृहाश्रमीत्यपि निर्मूलमेव, अग्नौ प्रक्षिपतीति पदं तु मन्त्रबाह्यमेव। यज्ञस्य तुरीयत्वं कथमित्यनुक्तिश्च बलादारूढा शिरसि ॥ ५७ ॥

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् सविता ज्योतिरुदयाँ२॥ अजस्रम्।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान् सम्पश्यन् विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—सूर्य जिसकी किरणें हैं, वह कनकवर्ण ज्वालारूप केशवाला, प्राणियों को अपने अपने व्यापार में लगाने वाला, ज्योतीरूप सविता देव पूर्व दिशा से प्रकट होता है। धर्मरक्षक विद्वान् उस ब्रह्मज्योति की आज्ञा में रह कर सकल भुवनों को देखता हुआ निरन्तर चलता रहता है ॥ ५८ ॥

आग्नेयी त्रिष्टुप्। हरिकेशः, हरति दारिद्र्यमिति हरिः, हिरण्यम्, 'अच इः' (उ० ४।१४०) इति रूपसिद्धिः, हरयो हिरण्यवर्णाः केशाः केशस्थानीया ज्वाला यस्य स अग्निः। सूर्यरश्मिः सूर्यस्येव रश्मयो यस्य सः। अथवा सूर्यश्चासौ रश्मिश्चेति सूर्यरश्मिः, सूर्यरूपस्तद्रश्मिरूपश्च। सविता सौति तत्तद्व्यापारेषु प्राणिनः प्रेरयतीति सविता। ज्योतिः ज्योतीरूपोऽग्निः, अजस्रं निरन्तरं प्रत्यहमिति यावत्, पुरस्तात् पूर्वस्यां दिश्याहव-

नीयरूपेण होमार्थम् उदयाद् उद्गच्छति। उत्पूर्वस्य यातेर्लङि प्रथमपुरुषबहुवचने शाकटायनभिन्नवैयाकरणमतेन रूपम्। एकवचनस्यापि कर्तु: क्रियायां बहुवचने वचनव्यत्ययः। तस्य अग्नेः प्रसवे प्रेरणे सति पूषा पोषकः सूर्यो याति उदयास्तमयद्वारेणाटति। कथम्भूतः पूषा ? विद्वान् स्वाधिकारम् अहोरात्रवर्तनात्मकं जानानः। पुनः कथम्भूतः ? विश्वा भूतानि सर्वलोकं सम्पश्यन् सम्यग् अवलोकयन्। पुनः कथम्भूतः ? गोपाः गोपायतीति गोपा रक्षकः, धर्मस्येति शेषः।

तथा चाह ब्राह्मणम्—'सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्। सविता ज्योतिरुदयाँ२॥ अजस्रमित्यसौ वा आदित्य एषोऽग्निः स एष सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् सवितैतज्ज्योतिरुद्यच्छत्यजस्रं तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वानिति पशवो वै पूषा त एतस्य प्रसवे प्रेरते सम्पश्यन् विश्वा भुवनानि गोपा इत्येष वा इदꣳ सर्वꣳ सम्पश्यत्येष उ एवास्य सर्वस्य भुवनस्य गोप्ता' (श० ९।२।३।१२)। एतस्य प्रणीयमानस्याग्नेरादित्यात्मकत्वात् स एष प्रणीयमानाग्निलक्षणः सूर्यस्य च रश्मिभिर्युक्तो हरितवर्णकेशस्तेजोरूपः सविता अनवच्छिन्नं पुरस्तादुदयाद् यद् उद्यच्छति, अतो मन्त्र इममेवार्थमाचष्ट इत्याह—सूर्यरश्मिरिति। पूष्णः पशुजनकत्वात् पूषा इति पशव उच्यन्ते। त एतस्याग्नेरनुज्ञायां प्रवर्तन्त इत्ययमर्थो मन्त्रभागेन विवक्षित इत्याह—पशवो वा इति। तथा चायं मन्त्रार्थः—सूर्यस्य रश्मिभिर्युक्तो हरितकेशस्तेजोरूपः प्रणीयमानाग्निः पुरस्तादुद्यच्छति। तस्य प्रसवे विद्वान् पूषा याति। अग्नेः प्रजापत्यात्मकत्वेन विश्वा भुवनानि सम्पश्यन् सर्वस्यापि भुवनस्य द्रष्टृत्वाद् द्रष्टा। गोपाः रक्षितृत्वाद् भुवनस्य गोप्ता गोपायितेति। स तादृशः सविता यस्य प्रसवे जगत् प्रकाशयन् अहोरात्रं व्यवस्थापयन्नटति, सोऽग्निर्महान् प्रशस्त इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सूर्यरश्मिः सूर्य एव रश्मिर्यस्य सोऽयं सूर्यरश्मिः, कोटिसूर्यसमप्रभ इत्यर्थः। स च भगवान् श्रीरामचन्द्रः। हरिकेशो हिरण्यकेशो ज्योतिर्मयः सर्वस्य पुरस्तादग्रे दानवदर्पदलनाय उदयान् उद्गच्छति। तस्य भगवतः प्रसवे प्रेरणे पूषा सर्वस्य पोषको विद्वान् तस्य माहात्म्यातिशयं जानन् विश्वा विश्वानि भुवनानि सम्पश्यन् गोपा विश्वस्य भुवनानां धर्मस्य गोब्राह्मणादीनां च गोप्ता रक्षकोऽजस्रं प्रत्यहं दिवारात्रं व्यवस्थापयन् पर्यटति, स धर्मरक्षकः श्रीराम उदयान् उद्यच्छतु मत्समक्षमाविर्भवत्वित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, पुरस्तात् पूर्वं सविता सूर्यलोको ज्योतिः प्रकाशं ददाति। हरिकेशो हरितरश्मिर्यस्मिन् हरितवर्णाः सूर्यरश्मयो विद्यन्ते, यश्च प्रसवे उत्पन्ने जगत्यजस्रं निरन्तरं पूषा पोषकः, यं विद्वान् विद्यायुक्तः पुरुषः सम्पश्यन् तस्य विद्यां याति प्राप्नोति, तस्य सकाशाद् गोपाः संसाररक्षकाः पृथिव्यादिलोकास्तारागणाश्च समस्तभुवनानि उदयान् प्रकाशयन्ति, तं सूर्यलोकं यूयं जानत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ज्योतिर्ददातीति व्याख्याने ददातिपदस्य मूलेऽभावादसङ्गतेः, केशशब्दार्थानिरूपणाच्च। विद्वान् विद्यां यातीत्यप्यसङ्गतम्, विद्यापदस्य मूलेऽभावात्। गोपा रक्षकाः पृथिव्यादयस्तारागणाश्चेत्यपि निर्मूलम्, स्वाभ्यूहमात्रशरीरत्वात् ॥ ५८॥

वि॒मान॑ ए॒ष दि॒वो मध्य॑ आस्त आप॒प्रिवान् रोद॑सी अ॒न्तरि॑क्षम्।
स वि॒श्वाची॑र॒भिच॑ष्टे घृ॒ताची॑रन्त॒रा पूर्व॒मप॑रं च के॒तुम् ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—जगत् की रचना करने की शक्तिवाला यह सूर्यदेव स्वर्ग के मध्य में स्थित है। यह पृथ्वी, स्वर्ग, अन्तरिक्ष को सब ओर से तेज से परिपूर्ण करता हुआ वेदि और स्रुवा को देखता है। यह सूर्यदेव इस लोक और अन्य लोकों में स्थित मनुष्यों के चित्त को भी जानता है ॥ ६० ॥

'आग्नीध्रदेशाद्दक्षिणं पृष्ठ्या सहितं पृश्न्यश्मानमुपदधाति विमान इति' (का० श्रौ० १८।३।२५)। अध्वर्युराग्नीध्रगृहाद् दक्षिणदिशि पृष्ठ्या संलग्नं पृश्नि तनुं वृत्तं चित्रवर्णं वा अश्मानं पाषाणं विमान इत्यादि द्वयर्चेन उपदध्यादिति सूत्रार्थः। विश्वावसुदृष्टा आदित्यदेवत्या त्रिष्टुप्। आदित्याध्यासेनाश्मा स्तूयते। एषोऽश्मा आदित्यरूपेण दिवोऽन्तरिक्षस्य मध्ये आस्ते तिष्ठति, 'असौ वा आदित्योऽश्मा पृश्निरमुमेवैतदादित्यमुपदधाति' (श० ९।२।३।१४) इति श्रुतेः। आहवनीयो द्युलोकः, गार्हपत्यो भूलोकः, तयोर्मध्ये आग्नीध्रमन्तरिक्षस्थानीयम्। तत्र स्थितत्वाद् दिवो मध्य आस्ते। कीदृश एषोऽश्मा ? विमानः, विविधं मिमीत इति विमानः, जगन्निर्माणसमर्थः। पुनः कीदृशः ? रोदसी द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं च आपप्रिवान् तेजसा सर्वतः पूरितवान्। 'प्रा प्रपूरणे' इत्यस्माल्लिटि क्वसौ 'वस्वेकाचाद् घसाम्' (पा० सू० ७।२।६७) इतीडागमे, 'आतो लोप इटि च' (पा० सू० ६।४।६४) इत्याकारलोपे रूपम्। यद्यप्ययमिमे रोदसी जगच्च न किञ्चिदपि निर्मिमीते, नापि लोकं न वा यज्ञमापूर्य तिष्ठति, तथापि परमेश्वरगुणैरस्य स्तूयमानत्वान्न विरोधः। स तथा स्तूयमान आदित्यरूपोऽश्मा विश्वाचीः विश्वव्यापिनीः दिशः, अभिचष्टे सर्वतः प्रकाशयति। यथा घृताचीः घृतप्राप्तिहेतुभूता धेनूश्चाभिचष्टे, तथा अन्तरा ब्रह्माण्डमध्ये पूर्वमपरं च केतुमुदयास्तमयाभ्यां पूर्वापरदिशाऽनवच्छिन्नभूतं सूर्यमभिचष्टे। एष आदित्यो विमानो भूतग्रामस्य निर्माता दिवो मध्य आस्ते। ब्रह्माण्डमध्ये पूर्वमपरं च केतुमुदयास्तमयमध्य आदित्यरूपोऽश्मा तिष्ठति। यद्वा विश्वाचीः यज्ञकर्तॄननुग्रहीतुं विश्वं हविरञ्चितं स्थापितं यस्यां सा विश्वाची वेदिः। घृतमञ्चितं यस्यामिति घृताची स्रुक्। तथा पूर्वमिमं लोकमपरममुं लोकं च अन्तरा मध्ये स्थितानां जनानां केतुं चित्तं च बोधं च अभिचष्टे, सर्वजनानामभिप्रायज्ञ इत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाश्मानं पृश्निमुपदधाति। असौ वा आदित्योऽश्मा पृश्निरमुमेवैतदादित्यमुपदधाति पृश्निर्भवति रश्मिभिर्हि मण्डलं पृश्नि तमन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं चोपदधात्ययं वै लोको गार्हपत्यो द्यौराहवनीय एतं तदिमा लोकावन्तरेण दधाति तस्मादेष इमौ लोकावन्तरेण तपति' (श० ९।२।३।१४)। उक्तैर्मन्त्रैराग्नीध्रपर्यन्तं गत्वा तत्रैकस्य पृश्निवर्णस्याश्मन उपधानं विधत्ते—अथेति। पृश्निशब्देन श्वैत्यमुच्यते। पृश्नेरश्मन उपधानेन आदित्यस्यैवोपधानं भवतीत्याह—असौ वा आदित्य इति। आदित्यमण्डलसादृश्यप्रदर्शनेनोक्तमश्मनः पृश्नित्वमुपपादयति—पृश्निर्भवतीति। रश्मिभिर्हि मण्डलं पृश्नि भवति। तस्य चाश्मन उपधानं गार्हपत्याहवनीययोर्मध्ये कर्तव्यमित्याह—तमन्तरेणेति। गार्हपत्याहवनीययोरधस्तनोपरितनलोकद्वयात्मकत्वाल्लोकद्वयस्य च मध्ये सूर्यस्य तपनात् सूर्यात्मकस्याश्मनस्तत्रोपधानमुपपन्नमित्याह—अयं वै लोक इति। 'आग्नीध्रवेलायाम्। अन्तरिक्षं वा आग्नीध्रमेतं तदन्तरिक्षे दधाति तस्मादेषोऽन्तरिक्षायतनो व्यध्वे व्यध्वे ह्येष इतः' (श० ९।२।३।१५)। वेलाशब्दोऽवकाशमाचष्टे। गार्हपत्याहवनीययोरधस्तनोपरितनलोकात्मकयोर्मध्यवर्तित्वेन आग्नीध्रस्य अन्तरिक्षत्वम्। व्यध्वशब्देन अर्धमार्ग उच्यते। तत्रैतस्याश्मन उपधानं क्रियते। तस्मादितः प्रदेशाद् व्यध्वे अर्धमार्गे एष सूर्यस्तपतीत्यर्थः। 'स एष प्राणः। प्राणमेवैतदात्मन् धत्ते तदेतदायुरायुरेवैतदात्मन् धत्ते तदेतदन्नमायुर्ह्येतदन्नमु वा आयुरश्मा भवति स्थिरो वा अश्मा स्थिरं तदायुः कुरुते पृश्निर्भवति पृश्नीव ह्यन्नम्' (श० ९।२।३।१६)। तस्याश्मन आदित्यात्मकत्वादादित्यस्य च प्राणाद्यात्मकत्वात् तदुपधानेनात्मनि प्राणादिधारणं सम्पाद्यत इत्याह—स एष इति। स आदित्यात्मकः, एषोऽश्मा प्राणः, प्राणात्मकादित्यरूपत्वात्। आदित्यस्य च प्राणत्वं तदुदये प्राणिनश्चेष्टन्ते, तदस्तमये तु न चेष्टन्त इति। अत एव श्रूयते—'योऽसौ तपन्नुदेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायोदेति, असौ योऽस्तमेति स सर्वेषां भूतानां प्राणानादायास्तमेति' (तै० आ० १।१४।१) इति। प्राणत्वादेवायूरूपत्वम्, प्राणिनामेव जीवनकालसम्बन्धात्। आयुर्ह्येतदिति। एष अश्मा यतः कारणाद् आयुरेव, एतदिति नपुंसकलिङ्गप्रयोग आयुरित्येतदपेक्षः। तद् आयुरन्नम्, तद्वतामेव भोक्तृत्वात्। यत एतदन्नम्, तस्मात्तदुपधानेन स्वकीय आत्मनि प्राणादीन् धारितवान् भवति। अश्मा यस्मात् स्थिरो भवति, तस्मादेव

तदुपधानेन यजमानस्यायुरपि स्थिरं भवतीति । 'स उपदधाति । विमान एष दिवो मध्य आस्त इति विमानो ह्येष दिवो मध्य आस्त आपप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षमित्युद्यन् वा एष इमांल्लोकानापूरयति स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरिति स्रुचश्चैतद्वेदीश्चाहान्तरा पूर्वमपरं च केतुमित्यन्तरेमं च लोकममुं चेत्येतदथो यच्चेदमेतर्हि चीयते यच्चाद. पूर्वमचीयतेति' (श० ९।२।३।१७) । तस्योपधाने मन्त्रद्वयं प्रदर्शयन् व्याचष्टे—स उपदधातीति । हि यस्मात् कारणात्, एष सूर्यो भूतग्रामस्य निर्माता द्युलोकस्य मध्य आस्ते, अत उक्तं विमान इति । उदयमानः सूर्यः पृथिव्यादीन् स्वप्रकाशेनापूरयतीति तमर्थमाहेति व्याचष्टे—आपप्रिवानिति । 'प्रा प्रपूरणे' इत्यस्माद् वर्तमानार्थक- लिटः क्वसुः । विश्वाचीघृताचीपदाभ्यां विश्वेषां हविषां घृतानां च स्थापनाद् वेदयः स्रुचश्च विवक्ष्यन्त इत्याह— स विश्वाचीरिति । पूर्वमपरमिति शब्दाभ्यां पृथिवीद्युलोकौ विवक्षितौ । पूर्वमिति पूर्वचितो गार्हपत्यः, अपरमिति तदानीं चीयमान आहवनीय उच्यते । भूतग्रामस्य निर्माता द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं चा समन्तात् पूरयन् एष सूर्यो द्युलोकस्य मध्ये तिष्ठति । किञ्च, यः सूर्यः पूर्वमपरं च केतुं लोकमन्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्ये गार्हपत्याहवनीययोर्वा मध्ये सन् विश्वाचीर्वेदीर्घृताचीः स्रुचश्च अभिचष्टे पश्यति ।

अध्यात्मपक्षे—एषोऽपरोक्षचैतन्याभिन्न आदित्य आदित्यमण्डलान्तर्गतः पुरुषः, विमानः सर्वस्येव प्रपञ्चस्य निर्माता, दिवो द्युलोकस्य मध्ये सूर्यरूपेणास्ते । रोदसी द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं च आपप्रिवान् आपूरित- वान् । स च विश्वाचीः सर्वा दिशः, घृताचीः सर्वतः प्रकाशयति । अनुग्रहदृष्ट्या कामधेनूश्चाभिपश्यति । पूर्वमिमं परममुं च अन्तरा मध्ये स्थितानां केतुं चित्तमभिचष्टे ।

दयानन्दस्तु—'विद्वान् य एष सूर्यः, दिवः प्रकाशस्य मध्ये विमानो विमानमिव स्थित आस्ते तिष्ठति, रोदसी प्रकाशभूमो अन्तरिक्षमवकाशमापप्रिवान् स्वतेजसा व्याप्तवान् सन् आस्ते, स विश्वाचीर्या विश्व- मञ्चन्ति प्राप्नुवन्ति स्वोदयेन प्रकाशयन्ति, घृताचीर्जलं प्रापयन्ति, ता द्यूतीर्विस्तारयति । पूर्वमग्रे, अपरं पश्चात्, अन्तरा तयोर्मध्ये, केतुमभिचष्टे प्रकाशकं तेजोऽभिपश्यति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अभिचष्टेशब्दस्य विस्तारयतीति व्याख्यानस्य धात्वर्थविरुद्धत्वात् । विमानमिव स्थित इत्यप्यशुद्धम्, सवितुर्गमनस्य साधितत्वात्, 'देवो याति भुवनानि पश्यन्' इति मन्त्रवर्णाच्च ॥५९॥

उ॒क्षा स॑मु॒द्रो अ॑रु॒णः सु॑प॒र्णः पूर्व॑स्य॒ योनिं॑ पि॒तुरावि॑वेश ।
मध्ये॑ दि॒वो निहि॑तः॒ पृश्नि॑रश्मा॒ विच॑क्रमे॒ रज॑सस्पा॒त्यन्तौ॑ ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—वर्षा से पृथ्वी को सींचने वाले, ओस के कणों से उसको गीली करने वाले, आकाश में व्याप्त श्रेष्ठ गति वाले, द्युलोक में स्थित विचित्र वर्ण, अनेक प्रकार की किरणों से व्याप्त, उदय के समय अरुण वर्ण सूर्य ने पूर्व दिशा रूप स्वर्गस्थान में प्रवेश किया है। वहाँ से विचरण करते हुए सूर्य देव ब्रह्माण्ड की सब ओर से रक्षा करते हैं ॥ ६१ ॥

अप्रतिरथदृष्टा आदित्यदेवत्या त्रिष्टुप् । य आदित्यः पूर्वस्य पूर्वदिशि स्थितस्य पितुर्द्युलोकस्य योनिं स्थानमाविवेश आविशति, 'खात्पितोच्चतरस्तथा' (म० भा० ३।३१३।६०) इत्युक्तेः पितुःशब्देन द्युलोक उच्यते । उदयसमये सूर्यो द्युलोकाज्जायमान उपलभ्यते । तस्माद् द्युलोकपूर्वभागः सूर्यस्य पितृभूत उच्यते । कीदृशः सः ? उक्षा वृष्टिद्वारा सेक्ता । पुनः कीदृशः ? समुद्रः समुनत्ति क्लेदयति उदयकालेऽवश्यायपतनेनेति समुद्रः । अरुण उदयकालेऽरुणवर्णः । सुपर्णः सु सुष्ठु पर्णं पतनं गमनं यस्य सः । यश्च दिवो मध्ये निहितोऽवस्थितः । यश्च पृश्निर्विचित्रवर्णो नानारश्मिसङ्कुलः । यश्च अश्मा अश्नुते व्याप्नोति नभ इत्यश्मा । एवंविधः सन् विचक्रमे

विक्रमते नभः। यश्च विक्रममाणो रजसो रञ्जनस्य लोकत्रयस्य अन्तौ अन्तान् पर्यन्तभागान्, वचनव्यत्ययः, पाति रक्षति। यो ह्यन्तान् पाति स मध्यं पात्येवेत्यर्थः। यद्वा अयमश्मा उक्षा सेक्ता। यागद्वारेणाभीष्टफलाभिषेचकः। समुद्रो बहुफलप्रदत्वात् समुद्रसदृशः। अरुणः पूर्वमन्त्रे सर्वप्रकाशकत्वेनोपचरितत्वाद् उदयकालिकारुणसूर्यसदृशः। सुपर्णः स्वर्गं प्रति गमनहेतुत्वाद् गरुडपक्षिसदृशः। तथाविधोऽश्मा पितुः कर्मपालकस्य पूर्वस्य पूर्वदिग्वर्तिनः, आहवनीयस्य योनिं कारणभूतमाग्नीध्रमाविवेश प्रविष्टवान्। 'यदाहवनीयमुद्धपेदाग्नीध्राद्धरेत्' इत्याहवनीययोनित्वमाग्नीध्रस्याम्नातम्। अयं पृश्निः श्वेतवर्णोऽश्मा दिवो मध्ये आग्नीध्रस्थानीयस्य आकाशस्य मध्ये निहितः स्थापितः सन् रजसो रञ्जनीयस्य जगतोऽन्तौ उत्पत्तिप्रलयेतिकोटिद्वयं विचक्रमे गतवान्। तथा गतः सन् पाति परमेश्वररूपेण पालयति।

अत्र ब्राह्मणम्—'उक्षा समुद्रो अरुणः सुपर्ण इति। उक्षा ह्येष समुद्रोऽरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेशेति पूर्वस्य ह्येष एतं योनिं पितुराविशति मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मेति मध्ये ह्येष दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्ताविति विक्रममाणो वा एष एषां लोकानामन्तान् पाति' (श० ९।८।३।१८)। अत्र रजःशब्देनैते लोका विवक्षिताः। अन्यत् पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—एष आदित्यमण्डलस्थः परमेश्वरः, उक्षा अभीष्टकामनावर्षुकः, समुद्रवद् दुर्विगाह्यः, अरुणो भक्तानुरागरञ्जितः, सुपर्णः शोभनपर्णः, जीवरूपस्य सुपर्णस्य सखा, पूर्वस्य अनादिसिद्धजीवस्य योनिं स्थानं हृदयप्रदेशमाविवेश प्रविष्टवान्। तत्र दिवो हार्दाकाशस्य मध्ये निहितः पृश्निः स्वभावस्वच्छोऽपि पृश्निर्बुद्ध्यादिभिः किर्मीरितश्चित्रवर्ण इव अश्मा व्यापकः, रजसो जगतोऽन्तौ पर्यन्तान् विचक्रमे विक्रममाणः पाति रक्षति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य ईश्वरेण दिवः प्रकाशस्य मध्ये निहितः स्थापितः, यश्च उक्षा वृष्ट्या सेचकः, समुद्रः सम्यग् द्रवन्त्यापो यस्मात् सः, अरुण आरक्तः, सुपर्णः शोभनानि पर्णानि पालनानि यस्मात् सः, पृश्निः विचित्रवर्णः, सूर्यरूपः प्रकाशः, अश्मा मेघः, रजसो लोकान् अन्तौ बन्धने विचक्रमे विविधतया क्रमते पाति रक्षति। पूर्वस्य पूर्णस्य पितुरुत्पादिकाया विद्युतो योनिं कारणमाविवेश प्रविशति, स सम्यगुपयोक्तव्यः' इति, तदपि शब्दमर्यादामुपेक्ष्य स्वैरित्वमेव व्यनक्ति। 'पूर्वस्य पूर्णस्य पितुरुत्पादिकाया विद्युतः' इत्यादिव्याख्यानस्य तथाविधत्वात्, अत एव निर्मूलत्वाच्च। अन्तिशब्दस्य, अन्तुशब्दस्य वा बन्धनार्थतापि चिन्त्यैव ॥६०॥

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन् समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳ सत्पतिं पतिम् ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—ऋक्, यजु और साम रूप सभी स्तुतियाँ समुद्र के समान व्यापक, सभी रथियों के मध्य में अत्यन्त बलवान्, धनधान्य के पति, निज धर्म में रहने वालों के पालक इन्द्र देव का वर्धापन करती हैं ॥ ६१ ॥

'निधायैनमतिक्रामन्तीन्द्रं विश्वा इति' (का० श्रौ० १८।३।२७)। एनं पृश्न्यश्मानं क्वचिद् गुप्ते देशे स्थापयित्वा सर्वे चयनं प्रति गच्छन्ति 'इन्द्रं विश्वा' इत्याद्यृक्चतुष्टयेनेति सूत्रार्थः। व्याख्यातपूर्वेयमृक् (१२।५६) इति स्थाने ॥ ६१ ॥

दे॒व॒हूर्य॒ज्ञ आ च॑ वक्षत् सु॒म्न॒हूर्य॒ज्ञ आ च॑ वक्षत् ।
यक्ष॑द॒ग्निर्दे॒वो दे॒वाँ२॥ आ च॑ वक्षत् ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं को बुलाने वाला यज्ञ के देवताओं को बुलाकर यजन करें। धन-पुत्र आदि सकल सुखों को देनेवाला यज्ञ देवताओं को बुलावे। अग्नि देवता देवताओं का आह्वान करें और यजन करे ॥ ६२ ॥

तिस्रोऽनुष्टुभः, आद्ये द्वे द्व्यधिके उष्णिहौ वेत्युव्वटाचार्यः। विधृतिदृष्टा यज्ञदेवत्या। देवहूः देवान् आह्वयतीति देवहूर्यज्ञो देवान् आवक्षद् आवहतु, चकारात् यजतु। यश्च सुम्नहूः सुम्नं सुखमाह्वयतीति सुम्नहूः, धनपुत्रकलत्राद्युत्थसुखानामाह्वाता यज्ञो देवान् आवक्षद् आवहतु, चकाराद् यजतु च। अग्निर्देवश्च देवान् आवक्षद् यक्षद् आवहतु यजतु च। वहतेर्यजेश्च 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति सिपि, अनुदात्तत्वादिड-प्रवृत्तौ, 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमे, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इति तिप इकारलोपे वक्षद् यक्षद् इति रूपसिद्धिः।

अत्र ब्राह्मणम्—'तं निधाय यथा न नश्येत्' (श० ९।२।३।१९)। तस्योपहितस्याश्मनो रक्षां विधाय आवहनीयप्रदेशं प्रति गच्छेयुरिति विधत्ते—तं निधायेति। 'अथोपायन्ति। इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्निति तस्योक्तो बन्धुर्देवहूर्यज्ञ आ च वक्षत् सुम्नहूर्यज्ञ आ च वक्षदिति देवहूश्चैव यज्ञः सुम्नहूश्च यक्षदग्निर्देवो देवाँ२॥ आ च वक्षदिति यक्षच्चैवाग्निर्देवो देवाना च वहत्वित्येतत्' (श० ९।२।३।२०)। तस्योक्तो बन्धुरिति 'इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्नितीन्द्रं हि सर्वाणि भूतानि वर्धयन्ति' इत्यादिना अस्य ब्राह्मणं (श० ८।७।३।७) अष्टमकाण्डेऽभिहितम्। शेषं स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—यतो यज्ञो विष्णुर्देवहूर्देवैराहूयते स्वात्मरक्षार्थमिति देवहूः, देवैर्हूयते इज्यत इति वा देवहूर्विष्णुः। रावणादिभ्यो भीता देवा विष्णुमेवाश्रयन्ति, 'स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः। अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः॥' (वा० रा० अ० १।७) इति रामायणवचनात्। विष्णुर्यज्ञो भूत्वा देवान् आवक्षद् आवहतु, चकाराद् यजतु च। सुम्नहूः सुम्नाय विविधसुखाय मोक्षसुखाय च यो सर्वैर्हूयते आकार्यत इज्यते च स सुम्नहूः, श्रीरामरूपेण यज्ञे देवानामाह्वाता भूत्वा मर्त्यशिक्षणार्थं देवान् आवक्षद् आवहतु यक्षद् यजतु च। अग्निरग्रणीर्देवानां सोऽग्निर्देवो देवान् आवहतु यजतु च। लोकसंग्रहार्थं मर्त्यशिक्षणार्थं सर्वमेतत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यो देवहूर्यज्ञ ईश्वरोऽस्मान् सत्यमावक्षत्, चादसत्यादुद्धरेत्। यः सुम्नहूर्यज्ञोऽस्मभ्यं सुखान्यावक्षद् दुःखानि च नाशयेत्, योऽग्निर्देवोऽस्मान् देवान् यक्षद् आवक्षच्च तं भवन्तः सततं सेवन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सत्यपदस्य मूलेऽभावात्, अध्याहारस्य पुरुषेच्छाधीनत्वात्, तस्याश्च निरङ्कुशत्वेन नियन्त्रयितुमशक्यत्वात्। तथा चास्य मन्त्रस्यैवमप्यर्थो गदितुं शक्यो यत् सनातनधर्ममावक्षत् सामाजिक-स्वीकृतादुच्छृङ्खलान्मार्गादुद्धरेदिति। देवहूः परमेश्वरः कथं किमर्थं विदुष आह्वयति? ईश्वरः सुखं कथमाह्वयति? स तु स्वयं पूर्णकामः सुखरूप इति कथं तस्य सुखापेक्षा सम्भवति। 'देवान्' इत्यस्य 'दिव्यान् गुणान् दिव्यान् भोगान्' इत्यप्यर्थो निर्मूल एव॥ ६२ ॥

वाज॑स्य मा प्रस॒व उ॑द्ग्रा॒भेणोद॑ग्रभीत् ।
अधा॑ स॒पत्ना॒निन्द्रो॑ मे निग्रा॒भेणाध॑राँ२॥ अकः ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—इन्द्र देवता अन्न की उत्पत्ति और दान के द्वारा मुझे अनुगृहीत करें और मेरे शत्रुओं को भिक्षा माँगने की तरफ ढकेल कर उन्हें नीचा दिखावें ॥ ६३ ॥

ऐन्द्री। वाजस्य अन्नस्य प्रसवः प्रसूतिः प्रसवभूमिः, अभ्यनुज्ञाता वा इन्द्र उद्ग्राभेण उद्ग्राहेण उद् ऊर्ध्वं विगृह्य दीयत इत्युद्ग्राभ उद्ग्रहणम्, घञ्। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य' (पा० सू० ८।२।३२, वा० १) इति हस्य भः, दानमित्यर्थः। तेन मा माम् उदग्रभीद् उदग्रहीद् उद्गृह्णातु। अधा अथ 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३। १३६) इति दीर्घः। समनन्तरमेव इन्द्रः परमेश्वरो निग्राभेण निग्रहणसामर्थ्येन नीचैर्ग्रहणेन नीचैर्हस्तं कृत्वा भिक्षादिः प्रार्थ्यते। याचिष्णुतया अन्नाद्यभावेन भिक्षाटनं वा क्रियतेऽनेनेति निग्रहणम्, तेन मम सपत्नान् शत्रून् अधरान् अधमान् तिरस्कृतान् अकः करोतु। मां दानसामर्थ्योपेतं दातारं सपत्नांश्च निग्रहणसामर्थ्येन भिक्षून् करोत्वित्यर्थः। करोतेर्धात्वर्थसम्बन्धे 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति लङि 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लोपे गुणे तिपो लोपे विसर्गे च अक इति रूपम्। यद्वा उद्ग्रहणेनोन्नायकेनानुग्रहण-सामर्थ्येन मामनुगृहीतमुन्नतं करोतु, मम सपत्नांश्च निग्राभेण निग्रहसामर्थ्येन निगृहीतान् करोत्वित्यर्थः।

तथा च ब्राह्मणम्—'वाजस्य मा प्रसवः। उद्ग्राभेणोदग्रभीत्। अधा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधराँ२॥ अकरिति' (श० ९।२।३।२१)। मन्त्रः स्पष्टार्थ इत्याह—वाजस्येति।

अध्यात्मपक्षे—वाजस्य अन्नस्य लौकिकस्य भोग्यस्य ज्ञानवैराग्यलक्षणस्य आध्यात्मिकभोज्यस्य वा प्रसवभूमिरिन्द्रः परमेश्वर उद्ग्राभेण ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपेणानुग्रहेण मामुद्गृह्णातु। अधा अथ मम सपत्नान् बाह्यान् द्वेष्टॄन् आन्तरांश्च अज्ञानाहङ्कारादीन् निग्राभेण निग्रहणसामर्थ्येन अधरान् अधमान् निगृहीतान् बाधितान् अकः करोतु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथेन्द्रः पालको वाजस्य विशेषज्ञानस्य प्रसव उत्पादक ईश्वरो मां उद्ग्राहेण सम्यग्ग्रहणसाधनेन गृह्णाति, तथैव अधा अनन्तरमेव पालकस्य विशेषज्ञानशिक्षयितुर्मम सपत्नान् निग्राभेण परा-जयेन अधरान् अकः अधःपतितान् कुर्यात्, तं सेनापतिं कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, दृष्टान्तस्य शास्त्रैक-गम्यस्य लौकिके दार्ष्टान्तिकेऽसङ्गतेः, दार्ष्टान्तिस्य सेनापतिपदार्थस्य मन्त्रशब्दैरनवगमाच्च ॥ ६३ ॥

उ॒द्ग्रा॒भं च॑ नि॒ग्रा॒भं च॒ ब्रह्म॑ दे॒वा अ॑वीवृधन्।
अधा॑ स॒पत्ना॒निन्द्रा॒ग्नी मे॑ विषू॒चीना॒न् व्य॑स्यताम् ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ—देवता हमें यश की तरफ और हमारे शत्रुओं को निन्दा की तरफ बढ़ावें, हमारे यज्ञसाधक वेदों को समृद्ध बनावें। इन्द्र तथा अग्नि देवता हमारे शत्रुओं को इधर-उधर भटकाकर विनष्ट कर दें ॥ ६४ ॥

इन्द्राग्निदेवत्या। देवा उद्ग्राभं च अस्मद्विषयमुत्कर्षं निग्राभं च शत्रुविषयमपकर्षं च ब्रह्मत्रयीलक्षणं यज्ञविषयं च अवीवृधन् वर्धयन्तु। अधा अथ अनन्तरं मे सपत्नान् विष्वगञ्चनान् नानागतीन् कृत्वा विशेषतो द्वौ देवाविन्द्राग्नी व्यस्यतां विक्षिपतांम् अपुनरागमनाय, विनाशयतामिति यावत्। अत्र ब्राह्मणम्—'उद्ग्राभं च निग्राभं च। ब्रह्म देवा अवीवृधन् अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान् व्यस्यतामिति' (श० ९।२।३।२२)। प्रसन्ना कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—देवाः सर्वेऽपि अस्मद्विषयमुद्ग्राभम् उत्कर्षं सपत्नादिविषयं निग्राभम् अपकर्षं च, ब्रह्म त्रयीलक्षणं च, वेदविषयो यज्ञो ब्रह्म च, तथा च यज्ञविषयं वेदविषयं च ज्ञानमिति यावत्। अवीवृधन् वर्धयन्तु। अत्र विषयेण विषय्युपलक्ष्यते, वेदलक्षणस्य यज्ञस्य ब्रह्मणो वा नित्यत्वेन वर्धनासम्भवात्। इन्द्राग्नी प्रसिद्धौ परमेश्वरांशभूतौ दिव्यौ देवौ, इन्द्रः परमेश्वरः, अग्नी रुद्रश्चोभौ मम सपत्नान् शत्रून् कामादीन् विषूचीनान् नानागतीन्, अर्थाद् विघटितान् कृत्वा व्यस्यतां विनाशयताम्।

दयानन्दस्तु—देवा विद्वांसः, उद्ग्राभम् अत्यन्तोत्साहेन ग्रहणम्, निग्राभं त्यागं च कृत्वा ब्रह्म धनं वर्धयेरन्। अथ अनन्तरं विद्युदग्नी तत्तुल्यौ सेनापती मम सपत्नान् विषूचीनान् विरुद्धमाचरतो व्यस्यताम् उत्क्षिपताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, धनवर्धने विदुषामविदुषां च उभयेषामपि रागानुगायाः प्रवृत्तेः सिद्धत्वे तत्रोपदेशानपेक्षणात्। सेनापतीत्यत्र द्विवचनं किंमूलकम्? इन्द्राग्नीति विभिन्नवाच्यत्वे को हेतुः? कथं च सेनापतिवाचकोऽयं शब्दः॥ ६४॥

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यꣳ हस्तेषु बिभ्रतः।
दिवस्पृष्ठꣳ स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम्॥ ६५॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजों! उखा पात्र में स्थित संस्कारशुद्ध अग्नि को हाथों में धारण करते हुए चित्य अग्नि के साथ स्वर्ग लोक में जाओ। स्वर्गलोक से भी ऊपर ब्रह्मलोक में जाकर देवताओं के साथ मिल कर आनन्द का उपभोग करो॥ ६५॥

'क्रमध्वमग्निनेति चित्यमारोहन्ति' (का० श्रौ० सू० १८।४।१)। ऋत्विजः क्रमध्वमित्यादिभिः पञ्चभिर्ऋग्भिस्तीर्थेन चित्याग्निमारोहन्तीति सूत्रार्थः। आग्नेयी अनुष्टुप्। हे ऋत्विग्यजमानाः, यूयमग्निना चित्येन कृत्वा नाकं स्वर्गलोकं क्रमध्वं लोककालाग्न्यादिवपुषा क्रमत। कीदृशा यूयम्? उख्यम् उखायां संस्कृतम् अग्निं हस्तेषु बिभ्रतो धारयन्तः। यद्वा उख्यमग्निं हस्तेषु बिभ्रतः सन्तो अग्निना अनेन चित्याग्निना सह क्रमध्वम् आक्रमत, चित्युपरि पादान् कुरुत, आरोहध्वमित्यर्थः। ततो दिवोऽन्तरिक्षस्य पृष्ठं स्वः स्वर्गं गत्वा देवेभिर्देवैर्मिश्राः संयुताः सन्त आध्वम् आसनं कुरुत। उपवेशनार्थकस्य आदादिकस्य आसेर्लोटि मध्यमपुरुषबहुवचने शपो लोपे 'धि च' (पा० सू० ८।२।२५) इति सकारलोपे रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे साधकाः, यूयमग्निना परमात्मना तदीयानुग्रहेणोखायां बुद्धौ समाविर्भूतं ब्रह्मात्मसाक्षात्कारं हस्तेषु विचाररूपेषु धारयन्तो दिवो द्युलोकस्य पृष्ठम् उपरि नाकं सर्वदुःखविवर्जितं स्वः स्वर्गं देवेभिर्देवैर्मिश्रा विद्वद्भिरेकीभूता आध्वम् उपविशत, परब्रह्मात्मस्वरूपेणावस्थिता भवत।

दयानन्दस्तु—'हे वीराः, यूयमग्निना विद्युता नाकमविद्यमानदुःखम्, उख्यं पात्रे परिपक्वं सूपौदनादिकं हस्तेषु बिभ्रतो धारयन्तः क्रमध्वं पराक्रमध्वम्। देवेभिर्विद्वद्भिर्दिवो न्यायविनयादिप्रकाशजातस्य पृष्ठं ज्ञीप्सितं स्वः सुखं गत्वा प्राप्य आध्वमुपविशत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। अद्यत्वे विद्युता सर्वेऽपि भोजनादिकं पाचयन्ति। दिवःपदस्यापि विनयादिप्रकाशाद्यर्थता चिन्त्यैव॥ ६५॥

प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानग्नेरग्ने पुरो अग्निर्भवेह।
विश्वा आशा दीद्यानो वि भाह्यूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥ ६६॥

मन्त्रार्थ—हे उखापात्र में स्थित अग्निदेव ! अपने अधिकारों को जानते हुए आप श्रेष्ठ दिशा की ओर ध्यान देकर जाओ। यहां अग्नि के अग्रगामी बनो, सकल दिशाओं को प्रकाशित करते हुए विशेष रूप से प्रदीप्त होकर हमारे पुत्र आदि परिवार और गो आदि पशुओं को अन्न दो ॥ ६६ ॥

आग्नेयी त्रिष्टुप्। हे अग्ने, इदानीमानीत उख्याग्ने, प्राचीं प्रदिशं प्रागाख्यां प्रकृष्टां दिशमनुलक्ष्य त्वं प्रेहि प्रकर्षेण गच्छ। यद्वा अनुक्रमेण प्रकर्षो यथा स्यात्तथा गच्छ। कीदृशस्त्वमिति जिज्ञासायामग्निं विशिनष्टि—विद्वानिति, स्वाधिकारं जानन्नित्यर्थः। गत्वा च हे अग्ने प्रणीयमानोख्याग्ने, इह अस्मिन् प्रदेशे, अग्नेरिष्टका-निष्पादितस्य चितिरूपस्याग्नेः पुरो अग्निर्भव, पुरोऽग्रे अङ्गति विविधरूपतया कुटिलं गच्छतीति पुरोऽग्निः पुरो गन्ता, मुख्य इति यावत्, भव। 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इति सन्ध्यभावः, प्रकृतिभाव इति यावत्। ततो विश्वाः सर्वा आशा दिशो दीद्यानोऽवभासयन् विभाहि विविधं दीप्यस्व। ततो नोऽस्माकं द्विपदे पुत्रमित्रकलत्रादिकाय, चतुष्पदे गवाश्वादिकाय ऊर्जमन्नं धेहि सम्पादय।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर तत्पदार्थभूतपरमात्मन्, त्वं प्राचीं प्रकर्षेण पूज्यां प्राचीं दिशमिव पूर्ण-प्रज्ञानप्राकट्यक्षमां विशुद्धां बुद्धिमनुलक्ष्य प्रेहि प्रगच्छ तत्र प्रत्यक्चैतन्याभिन्नपरमात्मस्वरूपेण आविर्भव। गत्वा चेह बुद्धौ पुरोऽग्निर्भव अपरोक्षापरब्रह्मरूपो भव। प्रत्यक्चैतन्यात्मनाऽभेदाभावे तत्पदार्थस्य परोक्षतैव भवति। अन्यथा परमात्मनि वादिविप्रतिपत्त्यनापत्तिः। एतदेव स्पष्टयति—विश्वाः सर्वा आशा दिशो दीद्यानो विभाहीति। प्रत्यगात्मरूपे परमात्मरूपेण सर्वा दिशस्तत्रत्यानि वस्तूनि च प्रकाशयन् विभाहि, स्वयं च विशेषेण प्रत्यगभिन्न-ब्रह्मरूपेणाभिव्यक्तो भव, 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मु० २।२।१०) इति श्रुतेः। यः सर्वकर्ता सर्वेश्वरः सर्वान्नप्रदाता, स एव प्रत्यगभिन्नपरमात्मरूपेण मोक्षरूपश्च भवतीति तात्पर्यम्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने सभेश, त्वं प्राचीं प्रदिशमनुप्रेहि। इह राज्यकर्मण्यग्नेराग्नेयास्त्रादिप्रयोगात् पुरोऽग्निरग्निवत् पुरोगामी भव। विद्वान् कार्यविशेषज्ञः सन् सर्वा दिशो दीद्यानो नो द्विपदे चतुष्पदे ऊर्जमन्नादिकं धेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सभेशस्य प्राचीदिग्गमनस्य प्रयोजनासङ्गतेः। सिद्धान्ते तु आहवनीयस्य प्राच्यामेव सत्त्वात् तत्र गमनं सुश्लिष्टमेव। अग्नेरित्यस्य आग्नेयास्त्रादिप्रयोगार्थता गौण्यैव वृत्त्या सम्भवति, न तु शक्त्या। शक्तिभक्त्योर्मध्ये शक्तेरेव प्राधान्यम्, भाक्तस्य प्रयोगस्य त्वप्राधान्यमेव। न च सभापतेरेव सर्वाः प्रजा द्विपाद्भ्यश्चतुष्पाद्भ्यश्च अन्नादिकं कामयन्ते, तथात्वे त्वदभिमतस्य प्रजातन्त्रस्यासङ्गतित्वापत्तेः ॥ ६६ ॥

पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥ ६७ ॥

मन्त्रार्थ—मैं यजमान पृथ्वी से ऊपर उठता हुआ अन्तरिक्ष पर चढ़ गया हूँ, अन्तरिक्ष से ऊपर चढ़ कर स्वर्ग लोक में पहुँच गया हूँ। मैं स्वर्ग के दुःखरहित स्थान से ऊपर सूर्यमण्डल को प्राप्त हुआ हूँ ॥ ६७ ॥

आग्नेयी पिपीलिकमध्या बृहती। आद्यतृतीयौ त्रयोदशार्णौ द्वितीयोऽष्टको यस्यां सा पिपीलिकमध्या बृहती, 'त्रयोदशिनोर्मध्येऽष्टकः पिपीलिकमध्या' इति वचनात्। अत्राद्यस्त्रयोदशः, द्वितीयो नवकः, तृतीयश्चतुर्दशक इति षट्त्रिंशदक्षरत्वाद् बृहती, 'त्रिपादणिष्ठमध्या पिपीलिकमध्या' इति वचनाच्चेति महीधराचार्यः। यजमान आह—अहं यजमानः पृथिव्या उद् उद्गतः सन् अन्तरिक्षमारुहम् आरूढोऽस्मि। तस्मादन्तरिक्षाद् उद्गतो दिवमारुहम् आरूढोऽस्मि। दिवो द्युलोकस्य यो नाको दुःखरहितः प्रदेशः, तस्य पृष्ठादुपरिभागात् स्वर्ज्योतिः

स्वर्गलोकस्य ज्योतिरादित्यमण्डलमहमगां गतोऽस्मि, प्राप्स्यामीत्यर्थः। इणेर्लुङि 'इणो गा लुङि' (पा० सू० २।४।४५) इति गादेशः, 'गातिस्था' (पा० सू० २।४।७७) इति सिचो लुक्। यद्वा—अहं यजमानः पृथिव्याः सकाशाद् उदन्तरिक्षमूर्ध्वंक्रमेण अन्तरिक्षमारुहमारूढः, अन्तरिक्षाच्च दिवमारुहं द्युलोकमारूढः, दिवः सकाशान्नाकस्य पृष्ठमारूढः, नाकस्य पृष्ठाच्च स्वरादित्याख्यं ज्योतिरहमगां गतः प्राप्तः।

अत्र ब्राह्मणम्—'पृथिव्या अहम्। उदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहमिति गार्हपत्याद्ध्याग्नीध्रीयमागच्छन्त्याग्नीध्रीयादाहवनीयं दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहमिति दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्गं लोकमगामहमित्येतत्' (श० ९।२।३।२६)। गार्हपत्याग्नीध्रीयाहवनीयानां पृथिव्यादिलोकत्रयात्मकत्वात् क्रमेण तत्र गमनात् पृथिव्यादिलोकत्रयं क्रमेणारूढवानस्मीत्यर्थः। नाकस्य सुखहेतुभूतस्य द्युलोकस्य पृष्ठाज्ज्योतिर्विशिष्टं प्रकाशमानं स्वर्गलोकमहमगामित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अहमुपासको भगवतः प्रसादात् पृथिव्याः सकाशात् 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्' (भ० गी० ८।२४) इति क्रमेण पृथिव्याः सकाशादूर्ध्वमन्तरिक्षमारुहम्। अन्तरिक्षादूर्ध्वं दिवमारुहम्, दिवः सकाशान्नाकस्य दुःखरहितप्रदेशस्य पृष्ठमारुहम्, तस्मान्नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरादित्यमध्यगाम्, ततश्च अमानवपुरुषद्वारा साक्षाद् भगवन्तमेवाहं प्राप्स्यामि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा कृतयोगाङ्गानुष्ठानसंयमसिद्धोऽहं पृथिव्या अन्तरिक्षमारुहम्, अन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्, नाकस्य दिवः पृष्ठात् स्वर्ज्योतिश्चाहमगाम्, तथा यूयमप्याचरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सशरीरस्य अन्तरिक्षादिलोकारोहणासम्भवात्, अशरीरस्य तथा यूयमाचरतेति वक्तुमशक्यत्वाच्च। किञ्च, सर्वत्रैव प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरसिद्धमेव वेदार्थं वर्णयतोऽस्य व्याख्यातुः कथमात्मनोऽन्तरिक्षारोहणम्? कथं च द्युलोकारोहणम्? किञ्च तत्र विद्यते? किमर्थं तत्रारोहणम्? किञ्च तत्र प्रमाणम्? यदि वेदादिशास्त्रस्याज्ञातज्ञापकत्वमुपेयते, तदा स्वर्गपितृलोकान्तरं कुतो नोपेयते? ॥ ६७ ॥

स्व॒र्यन्तो॒ नापे॑क्षन्त॒ आ द्याꣳ रो॑हन्ति॒ रोद॑सी।
य॒ज्ञं ये वि॒श्वतो॑धारꣳ॒ सुवि॑द्वाꣳसो॒ विते॑नि॒रे ॥ ६८ ॥

मन्त्रार्थ—भक्ति-ज्ञान से सम्पन्न जो विद्वद्गण सारे जगत् को धारण करने वाले यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, वे जरा, मृत्यु, शोक आदि से वर्जित स्वर्ग में निवास करते हैं। वे स्वर्ग की तरफ जाते समय कृतकृत्य होने से, सब प्रकार से संतुष्ट होने से पुत्र-पौत्र आदि की अपेक्षा नहीं करते ॥ ६८ ॥

आग्नेयी अनुष्टुप्। अत्र यच्छब्दयोगाद् द्वितीयोऽर्धर्चः प्रथमं व्याख्यायते। ये यजमानाः, सुविद्वांसः सुष्ठु कर्मानुष्ठानप्रकारं विदन्ति जानन्तीति तथोक्ताः, कर्मोपासनासमुच्चयकारिणो विश्वतोधारं सर्वस्य जगतो धारणहेतुं यज्ञं वितेनिरे वितन्वन्ति, विस्तारेण अनुतिष्ठन्ति, ते यजमानाः स्वः स्वर्गं लोकं यन्तो गच्छन्तो नापेक्षन्ते पुत्रपश्वाद्यपेक्षां न कुर्वते, कृतकृत्यत्वात्। द्यां स्वर्गं च आरोहन्ति। यद्वा—रोदसी द्यावापृथिव्यौ आरोहन्ति। ततः स्वर्गनिवासमादित्यमण्डलं प्राप्नुवन्तोऽन्यत् किमपि स्थानं नापेक्षन्ते। कथम्भूतां द्याम्? रोदसी रुणद्धि जरामृत्युशोकरोगादीन् या सा रोदसी ताम्, रोदसी विभक्तेर्लुक्, पूर्वसवर्णदीर्घो वा, रोदसीत्यव्ययं वा। धकारस्य दकारश्छान्दसः। इदं पदं द्यामित्यस्य विशेषणम्। नात्र रोदसीपदेन द्यावापृथिव्योर्ग्रहणम्, द्यामित्यस्य पृथगुपादानात्। अथवा ये सुविद्वांसः कर्मोपासनसमुच्चयकारिणः, हिरण्यगर्भोपासनेन सार्धं

यज्ञं वितेनिरे ते स्वर्यन्तो न किञ्चित् पशुपुत्रादिकमपेक्षन्ते। कीदृशं यज्ञम्? विश्वतोधारं विश्वतो धारा यस्मिन्, आहुतिदक्षिणान्नानि यज्ञस्य धाराः, ताभिर्ह्येष वर्धति। अथवा वैश्वानर-मारुत-पूर्णाहुति-वसोर्धारा-वाजप्रसवीयानि यज्ञस्य धाराः। यद्वा विश्वतोधारं विश्वस्य धारयितारं द्यां स्वर्गं चारोहन्ति।

अत्र ब्राह्मणम्—'स्वर्यन्तो नापेक्षन्ते। आ द्याꣳ रोहन्ति रोदसी इति न हैव तेऽपेक्षन्ते ये स्वर्गं लोकं यन्ति यज्ञं ये विश्वतोधारꣳ सुविद्वाꣳसो वितेनिर इत्येष एव यज्ञो विश्वतोधार एत उ एव सुविद्वाꣳसो य एतं वितन्वते' (श० ९।२।३।२७)। ये स्वर्गं यन्ति ते फलान्तरं नापेक्षन्ते खलु। एष एव सर्वेण प्रकारेण जगद् धारयति। एष एव यज्ञो विश्वतोधारः। ये एतं वितन्वते, एत एव सुविद्वांसः खलु, विदुषामेव यज्ञनिष्पादकत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—ये सुष्ठु विदन्ति—'यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥' (भ० गी० २।४६), ये निष्कामा भगवदाराधनबुद्ध्यैवोपासनसमुच्चितं कर्म अनुतिष्ठन्ति, ते स्वः परमसुखस्वरूपं परं ब्रह्म यन्तः प्राप्नुवाना नापेक्षन्ते किञ्चिदपि। ते विश्वतोधारं यज्ञं वितेनिरे विश्वपोषकं यज्ञं विस्तारयन्ति। ते द्यां स्वप्रकाशब्रह्मात्मिकां द्यामारोहन्ति। कीदृशीं द्याम्? रोदसी जरामरणाद्यविच्छेदलक्षणायाः संसृते रोध्रीम्। विभक्तिव्यत्ययः, पूर्वसवर्णादिर्वा, अव्ययपदं वा।

दयानन्दस्तु—'ये सुविद्वांसः स्वः सुखं यन्तो न इव स्वरात्यन्तिकं सुखमपेक्षन्ते, रोदसी द्यावापृथिव्यौ आरोहन्ति, द्यां प्रकाशमयीं योगविद्यां विश्वतोधारं सर्वतः सुशिक्षायुक्तवाणीयुक्तं यज्ञं वितेनिरे, तेऽविनाशिसुखं प्राप्नुवन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तेऽविनाशिसुखं प्राप्नुवन्तीत्यंशस्य वेदबाह्यत्वात्। द्यावापृथिव्योर्मध्ये सोपाधिकस्यैव सुखस्य प्राप्तिर्नात्यन्तिकस्य सुखस्य, 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥' (भ० गी० ८।१६) इति भगवदुक्तेः॥ ६८॥

अग्ने॒ प्रेहि॑ प्रथ॒मो दे॑वय॒तां चक्षु॑र्दे॒वाना॑मु॒त मर्त्या॑नाम्।
इय॑क्षमाणा॒ भृगु॑भिः स॒जोषाः॒ स्व॑र्यन्तु॒ यज॑मानाः स्व॒स्ति॥ ६९॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! आप देवताओं को चाहने वाले यजमानों में मुख्य हो तथा देवता और मनुष्यों के चक्षु रूप हो। इसलिये आप यहाँ आओ, आपकी कृपा से यज्ञ करने की इच्छा वाले और महात्मा ब्राह्मणों के साथ प्रीति करने वाले यजमान कल्याणपूर्वक स्वर्गलोक में जाँय॥ ६९॥

आग्नेयी त्रिष्टुप्। हे अग्ने, त्वं देवयतां देवान् आत्मन इच्छन्तीति देवयन्ति, देवयन्तीति देवयन्तस्तेषां यजमानानामुपकाराय त्वं प्रथमं प्रेहि पुरतो गच्छ। 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि, 'क्यचि च' (पा०सू० ७।४।३३) इतीत्वे प्राप्ते, 'न छन्दस्यपुत्रस्य' (पा० सू० ७।४।३५) इतीत्वनिषेधे शतरि च रूपम्। कथं मयाऽग्रतो गन्तव्यम्? तत्राह—यतस्त्वं देवानामुतापि मर्त्यानां च चक्षुः चक्षुःस्थानीयः। लोकेऽपि हि गच्छतः पुरुषस्य दृष्टिः पुरतो याति। किञ्च, इयक्षमाणा यष्टुमिच्छन्ति यियक्षन्ते, यियक्षन्त इति इयक्षमाणाः, छान्दसोऽभ्यासयकारलोपः, यजमानाः। भृगुभिः सजोषा भृगुगोत्रनायकैरनुष्ठानपरायणैर्मुनिभिः समानो जोषः प्रीतिरभिप्रायो वा येषां ते तथोक्ताः। स्वस्ति क्षेमो यथा स्यात्तथा स्वः स्वर्गं यन्तु प्राप्नुवन्तु। अत्र मन्त्रे भृगुग्रहणमार्षेयानूचानब्राह्मणोपलक्षणार्थम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतामिति। इममेतदग्निमाह त्वमेषां प्रेहि प्रथमो देवयतामिति चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानामित्युभयेषाॅं हैतद्देवमनुष्याणां चक्षुरियक्षमाणा भृगुभिः सजोषा इति यजमानो भृगुभिः सजोषा इत्येतत् स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्तीति स्वर्गं लोकं यन्तु यजमानाः स्वस्तीत्येतत्' (श० ९।२।३।२८)। अग्नेश्चक्षुष्ट्वं च बहूपकारकत्वात्। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, देवयतां दीव्यति जगदुत्पत्तिस्थितिलयक्रीडयेति देवः परमात्मा, तमिच्छतां ब्रह्मात्मभावमधिजिगमिषूणां प्रथमः पुरतः प्रेहि प्रगच्छ, तेषां साक्षात्कारगोचरो भव। यतस्त्वमेव देवानां हविर्भुजामन्येषां च कर्मदेवानां मर्त्यानां मनुष्याणां च त्वमेव चक्षुरिव चक्षुर्मार्गदर्शकः, चक्षुरादीनामपि त्वदधीनप्रकाशत्वात्। इयक्षमाणा मनसा वाचा कर्मणा भवन्तमर्चन्तो भृगुभिर्भृगुवंशीयैर्ब्राह्मणैः सजोषाः समानप्रीतिमन्तो यजमानाः स्वस्ति निर्विघ्नं स्वरनन्तसुखात्मस्वरूपं त्वां यन्तु प्राप्नुवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, देवयतां कामयमानानां मध्ये प्रथम आदिमः पूर्वं प्रेहि प्राप्नुहि। यतो देवानां विदुषामुत मर्त्यानामविदुषां त्वं च चक्षुरसि दर्शकमसि। यथा इयक्षमाणा यज्ञं चिकीर्षमाणा भृगुभिः परिपक्वविज्ञानैर्विपश्चिद्भिः सह सजोषाः समानप्रीतिसेवना यजमानाः सर्वेभ्य सुखदातारः स्वस्ति कल्याणं स्वः सुखं यन्तु, तथा त्वमपि भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भृगुयजमानादिपदानां प्रसिद्धार्थमपहायाप्रसिद्धार्थकल्पनाया निर्मूलत्वात्, गौरवावहत्वाच्च, रूढिर्योगमपहरतीति न्यायाच्च ॥ ६९ ॥

नक्तो॒षासा॒ सम॑नसा॒ विरू॑पे धा॒पये॑ते॒ शिशु॒मेक॑ᳪं स॒मी॒ची॑।
द्यावा॒क्षामा॑ रु॒क्मो अ॒न्तर्वि॑भाति दे॒वा अ॒ग्निं धा॑रयन् द्रविणो॒दाः ॥ ७० ॥

मन्त्रार्थ—हे उखापात्र! समान मन वाले, कृष्ण-शुक्ल आदि के भेद से विलक्षण रूप वाले, परस्पर मिले हुए रात और दिन इस बालक अग्नि को सायंप्रातः अग्निहोत्र आदि कर्म से तृप्त करते हैं। ऊपर द्युलोक और नीचे भूलोक के मध्य में जो प्रकाशमान अग्नि विशेषरूप से शोभित है, उसे मैं उठाता हूँ। यज्ञों के अनुष्ठान के द्वारा धनरूप फल को देने वाले देवगणों ने अग्नि को धारण किया है ॥ ७० ॥

'स्वयमातृण्णामध्यग्निं धारयन् शुक्लवत्सापयसाऽभिजुहोति कृष्णाया दोहनेन स्वयमातृण्णामवसिञ्च-न्नक्तोषासेति' (का० श्रौ० १८।४।२)। अध्वर्युः स्वयमातृण्णाया उपरि समीपे प्रतिप्रस्थात्रा तमग्निं धारयन् कृष्ण-वर्णायाः शुक्लवत्साया गोः पयसा दोहनेन मृण्मयदोहनपात्रेण जुहूस्थानीयेन स्वयमातृण्णामवसिञ्चन् इध्मस्थेऽग्नौ 'नक्तोषासा' इत्यादि ऋग्द्वयेन जुहुयात्। अस्य जुहोतित्वान्मन्त्रवर्जं सान्नाय्यधर्माणां प्रवृत्तिः। दोहनपात्रे दोहन-धर्माः कार्याः, जुहूकार्यापन्नत्वादिति सूत्रार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनमभिजुहोति। एतद्वा एनं देवा ईयिवाॅं समुपरिष्टादन्नेनाप्रीणन्नेतयाऽऽहुत्या तथैवैनमयमेतदीयिवाॅं समुपरिष्टादन्नेन प्रीणात्येतयाऽऽहुत्या कृष्णायै शुक्लवत्सायै पयसा रात्रिर्वै कृष्णा शुक्लवत्सा तस्या असावादित्यो वत्सः स्वेनैवैनमेतद्भागेन स्वेन रसेन प्रीणात्युपरि धार्यमाण उपरि हि स यमेतत्प्रीणाति दोहनेन हि पयः प्रदीयते' (श० ९।२।३।३०)। चित्याग्निसमारोहणानन्तरमस्मिन्नुख्याग्नौ होमं विधत्ते—अथेति। विहिताहुतिश्चित्यं प्राप्तस्याग्नेरुपरिष्टादन्नं सम्पाद्यत इत्याह—एतद्वा इति। विहिते होमे द्रव्यं विधत्ते—कृष्णायै शुक्लवत्सायै पयसेति। एतादृश्या गोः पयस उपादाने कारणमाह—रात्रिर्वा इति। रात्रिः खलु कृष्णा शुक्लवत्सा। अस्या रात्रेरसावादित्यो वत्सः, यथा वत्सो गोसमीपे वर्तते तद्वदस्य रात्रिसमीपे वर्तमानत्वात्। अयमेवार्थ-

स्तैत्तिरीयकेऽपि श्रूयते—'अग्निश्चादित्यश्च रात्रेर्वत्सः'(तै० आ० १।१०।५) इति। एवं चास्याग्नेरादित्यात्मकत्वात् तथाविधाया गोः पयसा होमे स्वकीयभागेन स्वेन रसेनैतत्प्रीणाति। तदेव स्पष्टयति—स्वेन रसेनेति। प्रीणयितव्यस्य आदित्यात्मकस्याग्नेरुपर्येव वर्तमानत्वेन उपरि धार्यमाण एव उख्याग्नौ जुहुयादित्याह—उपरीति। प्रकृतहोमे होमसाधारणं जौहवं प्राप्नोतीति तदपवादेन दोहनं विधत्ते—दोहनेनेति। दोहनेन हि पयः प्रदीयत इति दोहनानन्तरं पात्रान्तरे दोहनेन खलु पयः प्रदीयत इत्यर्थः। 'शिर एतद्यज्ञस्य यदग्निः प्राणः पयः शीर्षंस्तत्प्राणं दधाति यथा स्वयमातृण्णामभिप्रक्षरेदेवमभिजुहुयात् प्राणः स्वयमातृण्णा रस एष शिरश्च तत्प्राणं च रसेन सन्तनोति सन्दधाति नक्तोषासा समनसा विरूपे इति' (श० ९।२।३।३१)। स्वयमातृण्णायाः प्राणत्वादग्नेस्तु शिरस्त्वात् प्राणं च शिरश्चेत्युभे अपि पयोलक्षणेन रसेन सन्तनोति। एतदेव विवृणोति—सन्दधातीति। परस्परसम्बद्धं करोतीत्यर्थः।

द्वादशो द्वितीयकण्डिकास्थले व्याख्यातपूर्वेयम् ॥ ७० ॥

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्धञ्छतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः।
त्वꣳ साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ—हे सहस्र नेत्रों वाले और सहस्र मूर्धा वाले अग्निदेव! आपके सैकड़ों प्राण हैं, सहस्रों व्यान हैं, आप अनन्त धन के स्वामी हैं, ऐसे यज्ञस्वरूप आपको हम यह हवि देते हैं। यह भली प्रकार गृहीत हो ॥ ७१ ॥

आग्नेयी विराट् पङ्क्तिर्वा दशाक्षरचतुःपादा। हे अग्ने, सहस्राक्ष सहस्रमक्षीणि यस्यासौ सहस्राक्षः, तत्सम्बुद्धौ। शतसहस्रशब्दौ अपरिमिताभिप्रायौ। विश्वतश्चक्षुरित्यादिमन्त्रोक्तमूर्तिरूपत्वेनायमग्निः स्तूयते। अथवा हिरण्यशकलान्येवात्र नेत्राणि। तथा च श्रुतिः—'हिरण्यशकलैर्वा एष सहस्राक्षः' (श० ९।२।३।३२)। हे शतमूर्धन्, शतं मूर्धानो यस्यासौ शतमूर्धा, तत्सम्बुद्धौ। यस्य ते शतं प्राणाः सहस्रं व्यानाः, तथा त्वं साहस्रस्य सहस्रपरिमितस्य, बहुसहस्रसमूहपरिमितस्य रायो धनस्य ईशिषे प्रभुरसि। तस्मै ते तादृशाय तुभ्यं वाजाय अन्नसिद्ध्यर्थं हविषा विधेम परिचरेम। यतो हि ते शतमनन्ताः प्राणाः। सहस्रमनन्ता व्यानाः। सर्वप्राणिनामक्षिमूर्धप्राणव्यानादय एव विराडग्नेरक्ष्यादयः। तेन सहस्राक्षत्वादिकं नानुपपन्नमिति। परिचरणं चात्र दानमेव। विधृतिरत्र दानकर्मा। तथा च वाजाय वाजं हविः, विभक्तिव्यत्ययः, स्वाहा अस्मद्दत्तं हविः सुहुतमस्त्वित्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अग्ने सहस्राक्षेति। हिरण्यशकलैर्वा एष सहस्राक्षः शतमूर्धन्निति यददः शतशीर्षा रुद्रोऽसृज्यत शतं ते प्राणाः सहस्रं व्याना इति शतꣳ हैव तस्य प्राणाः सहस्रं व्याना यः शतशीर्षा त्वꣳ साहस्रस्य राय ईशिष इति त्वꣳ सर्वस्यै रय्या ईशिष इत्येतत्तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहेत्येष वै वाजस्तमेतत्प्रीणाति' (श० ९।२।३।३२)। एषोऽग्निः प्रोक्षणे विनियुक्तैः सहस्रसंख्याकैर्हिरण्यशकलैः सहस्राक्षः खलु। प्रकाशकत्वसाधारण्येन हिरण्यशकलानामक्षित्वोपचारः। यददः शतशीर्षेति। प्रजापतिरोदनेन उदितेषु अश्रुषु अन्तर्वर्तमाने मन्यौ प्रतिष्ठितेषु स एव शतशीर्षा रुद्रः समभूत्। तथा चाह श्रुतिः—'प्रजापतेर्विस्रस्ताद्देवता उदक्रामंस्तमेक एव देवो नाजहान्मन्युरेव सोऽस्मिन्नन्तर्विततोऽतिष्ठत् सोऽरोदीत्तस्य यान्यश्रूणि प्रास्कन्दंस्तान्यस्मिन् मन्यौ प्रत्यतिष्ठन् स एव शतशीर्षा रुद्रः' (श० ९।१।१।६) इति। अतोऽत्र अदःशब्देन स कालः परामृश्यते। हे सहस्राक्ष शतमूर्धन्नग्ने, ते शतसंख्याकाः प्राणाः सहस्रसंख्याका व्यानाश्च भवन्ति। त्वं सर्वस्य धनस्य ईशिषे ईश्वरो भवति। तस्मै वाजाय अन्नहेतुकत्वेन तदात्मकाय ते वयं विधेम परिचरेम। इदं हविस्ते स्वाहा सुहुतमस्त्विति मन्त्रार्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन् सहस्राक्ष अनन्तनेत्र शतमूर्धन् ! अन्यदपि पूर्ववद् व्याख्येयम् ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने पावक इव प्रकाशमय सहस्राक्ष, सहस्रेष्वसंख्यातेषु व्यवहारेषु अक्षिविज्ञानं यस्य तत्सम्बुद्धौ । शतेष्वसंख्यातेषु मूर्धा मस्तकं यस्य तत्सम्बुद्धौ । शतमसंख्यातास्ते प्राणा जीवनसाधनाः शतं व्यानाश्चेष्टानिमित्ताः सर्वशरीरस्था वायवः । साहस्रस्य सहस्रम् असंख्यातानामिदमधिकरणं जगद् यस्य तस्य रायो धनस्य त्वमीशिषे ईशोऽसि । ते तुभ्यं वाजाय विज्ञानवते स्वाहा सत्यया वाचा विधेम परिचरेम'-इति, तदपि यत्किञ्चित्, मुख्यमर्थं परित्यज्य गौणार्थग्रहणे मानाभावात् । सहस्रपदस्य असंख्यातार्थत्वेऽपि व्यवहादार्थता कुतस्त्या ? अक्षिपदस्य चक्षुरर्थत्वेऽपि विज्ञानमिति लक्षणामन्तरा कुतोऽर्थः । अन्वयानुपपत्तिमन्तरा तात्पर्यानुपपत्तिमन्तरा वा लक्षणा कुतः ? न चात्र काचिदनुपपत्तिः प्रदर्शितेति । तथैव शतमनन्तसंख्यातेषु मूर्धा मस्तकं यस्येत्यप्यनुपपन्नम् । अन्यप्राणिनां मूर्धानो अन्यस्य कथं सम्भवन्ति । तथैव प्राणव्यानादयोऽपि नान्यसम्बन्धिनोऽन्यस्य सम्भवन्ति । शतपदार्थाधारस्य जगतो जाड्यं चैतन्यं वा ? नाद्यः, तस्य धनाकाङ्क्षाऽसम्भवात् । नान्त्यः, तस्य असङ्गत्वेन पदार्थाधारत्वानुपपत्तेः । न च योगिराजस्यापि सहस्राक्षत्वादिसम्भवः, भोगायतनानां कर्मजन्यत्वेन क्षीणकर्मणो योगिराजस्य तदनुपपत्तेः । अक्षीणकर्मणस्तु क्लेशकर्मविपाकाशयपरामृष्टत्वेन लोकोत्तरसामर्थ्यायोगात् ॥ ७१ ॥

सु॒प॒र्णो॑ऽसि ग॒रुत्मा॑न् पृ॒ष्ठे पृ॑थि॒व्याः सी॑द । भा॒सान्तरि॑क्ष॒मापृ॑ण॒ ज्योति॑षा॒ दिव॒मुत्त॑भान॒ तेज॑सा॒ दिश॒ उद्दृ॑ꣳह ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप श्रेष्ठ पंखों वाले पक्षी रूप हैं, आप पृथ्वी पर विराजमान होइये, अपनी कान्ति से अन्तरिक्ष को भर दीजिये, अपनी ज्योति से द्युलोक को ऊँचा उठाइये, अपने तेज से सभी दिशाओं को आलोकित कर दीजिये ॥ ७२ ॥

'तस्यामग्निं निदधाति सुपर्णोऽसीति वषट्कारेण' (का० श्रौ० १८।४।४) । स्वयमातृण्णायां सुपर्णोऽसीति ऋग्द्वयेन वषट्कारान्तेनाग्निं स्थापयेदिति सूत्रार्थः । आग्नेयी पङ्क्तिः । हे अग्ने, त्वं सुपर्णोऽसि सुपर्णपक्ष्याकारो गरुडसमानोऽसि । गरुत्मान्, गरुद् गरणं निगरणं भक्षणमस्यास्तीति गरुत्मान्, अशनायावानसीत्यर्थः । अतः पृथिव्याः पृष्ठे उपरि सीद उपविश । भासा स्वप्रकाशेन अन्तरिक्षमापृण सर्वतः पूरय । ज्योतिषा स्वकीयेन सामर्थ्येन दिवं द्युलोकमुत्तभान ऊर्ध्वं स्तम्भितं कुरु । उत्पूर्वस्य स्तम्भेर्लोटि मध्यमैकवचने 'हलः श्नः शानज्झौ' (पा० सू० ३।१।८३) इति श्नाप्रत्ययस्य शानजादेशे, 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' (पा० सू० ८।४।६१) इति पूर्वसवर्णे उत्तभान इति रूपम् । तथा तेजसा स्वकीयेन सामर्थ्येन दिशः प्राच्यादिकाः, उदृंह उत्कर्षेण दृढीकुरु दीपय वा ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं निदधाति । सुपर्णोऽसि गरुत्मानित्येतद्वा एनमदो विकृत्या सुपर्णं गरुत्मन्तं विकरोति तꣳ सुपर्णं गरुत्मन्तं''''कृत्वान्ततो निदधाति पृष्ठे पृथिव्याः सीद भासान्तरिक्षमापृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान तेजसा दिश उदृꣳहेत्येवꣳ ह्येष एतत्सर्वं करोति' (श० ९।२।३।३४) । अभिहोमानन्तरमुख्याग्नेश्चितीनामुपरि निधानं विधत्ते—अथैनमिति । निधानमन्त्रे सुपर्णोऽसि गरुत्मानित्यस्योपयोगमाह—एतद्वा इत्यादिना । लोके हि योनौ सिक्तं प्रजननसमर्थं रेतो विक्रियतेऽवयवविभागवत्क्रियते, अतोऽत्रापि योनिरूपायामुखायामाहितस्याग्नेरितरस्य अन्नस्यापि विकृत्या भवितव्यमिति पूर्वं विकृत्या विकृतिसाधनभूतेन सुपर्णोऽसि गरुत्मानित्यादिकेन मन्त्रेण सुपर्णं गरुत्मन्तं कृत्वा चितवान् । तथा चयनकालेऽपि सुपर्णं गरुत्मन्तमेव कृत्वा चितवान् । साम्प्रतं सुपर्णोऽसि

गरुत्मानित्यादिकेन सुपर्णं गरुत्मन्तं कृत्वा निहितवान् भवति। चीयमानस्याग्नेः सुपर्णश्येनादिपक्ष्याकारेण चयनात् सुपर्णोऽसि गरुत्मानित्युक्तम्। पर्णशब्देन पतनमुच्यते, शोभनपतनविशिष्ट इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने हे परमात्मन् विष्णो, त्वं सुपर्णो गरुडो गरुत्मान् शोभनपक्षोऽसि, गरुडस्यापि विष्णववतारत्वात्। नहि परमात्मानं विष्णुमन्यो धारयितुं शक्नोति। मूले मूलाभावादमूलं मूलमिति न्यायेन सर्वाधारस्य आधारान्तराभावादनाधारं तत्। तस्माद् भगवान् स्वात्मन्येव प्रतिष्ठितो भवति, 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इति श्रुतेः। स त्वं पृथिव्याः पृष्ठे उपरि सीद। भासा स्वीयेन प्रकाशेन अन्तरिक्षमापृण। ज्योतिषा स्वीयेन सामर्थ्येन दिवमुत्तभान। तेजसा स्वीयेन दिशो दीपय। नहि सामान्यपक्षिणं विषयीकृत्य एवं वक्तुं युज्यते। अत एव—'अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्' (ऋ०सं० १।१६४।४६)। इति मन्त्रवर्णः। अत्र यथा अग्निः, यथा मित्रः, यथा वरुणः, यथा वा इन्द्रः परमात्मैवास्ति, तथैव गरुत्मान् सुपर्णोऽपि परमात्मैव, 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० १।१।२२) इति न्यायात्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् योगिन्, त्वं भासा प्रकाशेन सुपर्णो गरुत्मानसि। शोभनानि पर्णानि पूर्णानि शुभलक्षणानि यस्य स गरुत्मान् गुर्वात्मा असि। यथा सविता अन्तरिक्षस्य मध्ये वर्तते, तथा पृथिव्याः पृष्ठे सीद। वायुरिव प्रजा आपृण। सविता ज्योतिषा दिवमन्तरिक्षमिव राज्यमुत्तभान। तेजसा तीक्ष्णीकरणेन दिश इव प्रजा उद्दृंह उद्वर्धय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। पर्णशब्दस्य पूर्णार्थतापि चिन्त्यैव। गरुत्मान् गुर्वात्मा इत्यपि प्रमाणापेक्षमेव। मन्त्रे विद्यमानपदैरेव सिद्धान्तरीत्या अन्वयोपपत्तौ प्रक्षेपाध्याहारादिमूलकं व्याख्यानमपव्याख्यानमेव। एवमेव सविता राज्यमित्यादीनामध्याहारोऽपि निर्मूल एव ॥ ७२ ॥

आजुह्वा॑नः सु॒प्रती॑कः पु॒रस्ता॒दग्ने॒ स्वं योनि॒मासी॑द साधु॒या ।
अ॒स्मिन् स॒धस्थे॒ अध्युत्त॑रस्मि॒न् विश्वे॑ देवा॒ यज॑मानश्च सीदत ॥ ७३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! बुलाये जाने पर आप प्रसन्नचित्त होकर पूर्व दिशा में निश्चित अपने श्रेष्ठ स्थान पर बैठिये। हे विश्वेदेवों, आप लोग और यजमान इस परम श्रेष्ठ अग्नि के साथ उत्तम स्थान यज्ञशाला में पधारिये ॥ ७३ ॥

आग्नेयी त्रिष्टुप्। हे अग्ने ! त्वम् आजुह्वानः अभिहूयमानः सन् सुप्रतीकः शोभनं प्रतीकं सुखं यस्य स सुसुखः सन् पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि साधुया साधु समीचीनं यथा स्यात्तथा, विभक्तेर्यादेशः, स्वं योनिं चित्याग्नेः स्थानम्। आसीद अधितिष्ठ। हे विश्वे देवाः, यूयं सम्प्रदानत्वेन यजमानश्चाधिकारित्वेन अस्मिन् पुरोवर्तिनि अध्युत्तरस्मिन् अधिकमुत्कृष्टे यज्ञाख्ये सधस्थे सह स्थातुं योग्ये यज्ञाख्ये स्वर्गे, 'स्वर्गो वै लोकः सधस्थः' इति श्रुतिमुज्जहारोव्वटाचार्यः, सीदत उपविशत, 'द्यौर्वा उत्तरं सधस्थम्' (श० ९।२।३।३५) इति वक्ष्यमाणश्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादिति। आजुह्वानो नः सुप्रतीकः पुरस्तादित्येतदग्ने स्वं योनिमासीद साधुयेत्येष वा अस्य स्वो योनिस्तॅं साध्वासीदेत्येतदस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्निति द्यौर्वा उत्तरॅं सधस्थं विश्वे देवा यजमानश्च सीदतेति तद्विश्वैर्देवैः सह यजमानॅं सादयति द्वाभ्यां निदधाति' (श० ९।२।३।३५)। द्वितीयं मन्त्रं व्याचष्टे—आजुह्वान इति। सुप्रतीकः शोभनावयवः। तत्त्वमितरान् प्रति न, अपि त्वस्मान् प्रतीति व्याचष्टे—आजुह्वानो नः सुप्रतीक इति। अस्य उख्याग्नेः, एष चित्याग्निः, स्वो योनिः

स्वसम्बन्धि स्थानम्। अतोऽग्ने स्वं योनिमित्यादिना चित्याग्निं साध्वधितिष्ठेत्येतदुक्तं भवतीति व्याचष्टे—अग्ने स्वमिति। अस्मिन्निति पृथिव्यन्तरिक्षाभ्यामुपरि वर्तमानत्वेन द्युलोकात्मकत्वादस्मिन् चित्याग्निलक्षणे द्युलोकेऽध्यासीदेत्यर्थः। विश्वे देवा इत्यनेन विश्वैर्देवैः सह स्वं यजमानमत्रासादितवान् भवति। हे अग्ने, त्वं पूर्वस्यां दिश्याहूयमानोऽस्माकं शोभनावयवो भूयाः। अतः स्वं योनिं चित्याग्निं साधुया क्रियया अधितिष्ठ। अस्मिन् चित्याग्निरूपे उत्तरस्मिन् सधस्थे द्युलोकेऽध्यासीद। हे विश्वे देवाः, यूयं यजमानश्च अत्र सीदत, यूयं सम्प्रदानत्वेन यजमानोऽधिकारित्वेन सीदन्त्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वम् आजुह्वान 'आहूयमानो भक्तैः प्रेम्णा सुप्रतीकः सुमुखो भूत्वा पुरस्ताद् भक्तैः परिकल्पिते सिंहासने स्वं योनिं स्थानं साधुया समीचीनं यथा स्यात्तथा अधितिष्ठ। हे विश्वे देवाः, भगवतोंऽशभूता यूयं यजमानः साधकश्च, अस्मिन् साधकमनःप्रत्यक्षे, अध्युत्तरस्मिन् लोकोत्तरेऽत्युत्कृष्टे सधःस्थे स्वेष्टदेवेन सह स्थातुं योग्ये सीदत।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, योगाभ्यासेन प्रकाशितात्मन्, पुरस्तात् प्रथमत आजुह्वानः सत्कारेणाहूतः सुप्रतीकः प्राप्तशुभगुणो यजमानस्त्वं साधुया श्रेष्ठैः कर्मभिरस्मिन् सधस्थे सहस्थाने स्वं योनिं परमात्माख्यं गृहमासीद। हे विश्वे देवाः, सर्वे दिव्यात्मानो योगिनो यजमानो योगप्रद आचार्यश्च यूयं साधुयोत्तरस्मिन् सधस्थे सह स्थाने सीदत' इति, तत्सर्वं प्रमत्तप्रलापमात्रम्, अग्निपदस्य योगाभ्यासेन प्रकाशितात्मार्थस्य स्वाभ्यूहितमात्रत्वम्। तथैव सुप्रतीकशब्दस्यापि तत्कल्पित एवार्थः। योनिं परमात्माख्यं गृहमित्यपि काल्पनिकमेव। विश्वे देवा इत्यस्य दिव्यात्मानो योगिन इत्यपि न सम्प्रतिपन्नं व्याख्यानम्। शाब्दनये स्वातन्त्र्यस्याश्रयणेऽराजकतैव स्यात्, तस्याव्याहतप्रसरत्वात्॥ ७३॥

ताꣳ स॑वि॒तुर्वरे॑ण्यस्य चि॒त्रामाहं वृ॑णे सुम॒तिं वि॒श्वज॑न्याम्।
याम॑स्य॒ कण्वो॒ अदु॑हत्प्रपी॑नाꣳ स॒हस्र॑धारां॒ पय॑सा म॒हीं गाम्॥ ७४॥

मन्त्रार्थ—सभी प्राणियों के प्रेरक ईश्वर की प्रार्थनीय, अनेक प्रकार के फल देने में समर्थ, सर्वहितकारिणी श्रेष्ठ बुद्धि का मैं वरण करता हूं। ज्ञानी कण्व ऋषि ने प्रेरक परमात्मा की इस अतिपुष्ट, अनन्त धारा वाली, अमृत द्वारा सबको सींचने वाली, सब प्रकार की सिद्धियों को देने वाली इस बुद्धि का दोहन किया था॥ ७४॥

'समिदाधानꣳ शामीलीवैकङ्कत्यौदुम्बर्यस्ताꣳ सवितुरिति प्रत्यृचमुत्तमा सकर्णका' (का० श्रौ० १८।४।६)। चित्याग्नौ उख्याग्निनिधानानन्तरमध्वर्युस्तत्राग्नौ समित्त्रयमादध्यात्। तां सवितुरिति मन्त्रेण शामीलीं शमीमयीं, विधेमेति वैकङ्कतीम्, प्रेद्धो अग्ने दीदहीत्यौदुम्बरीम्। तत्र तृतीया औदुम्बरी समित् सकर्णका आधेया। कर्णको दारुस्फोटो रोगस्तद्वतीति सूत्रार्थः। कण्वदृष्टा सावित्री त्रिष्टुप्। पुरा कदाचित् कण्वाख्यो महर्षिरस्याग्नेर्यां सुमतिमनुग्रहकारिणीं बुद्धिं तद्रूपां वा गां धेनुमदुहत् दुग्धवान्, व्यत्ययेन शः, अन्यथा अधोगिति स्यात्, तामहं वृणे। तत्र दृष्टान्तः—प्रपीनां प्रभूतः पीनः स्तनसङ्घो यस्याः सा प्रपीना ताम्। यद्वा प्रकर्षेण पीनां पयसा पूरिताम्। सहस्रधारां सहस्रं धारा यस्याः सा सहस्रधारा, तां बहुक्षीरधारायुक्ताम्। पयसा महीं क्षीरेण सम्पूर्णाम्। अथवा बहुदुग्धयुक्तां गां धेनुं यथा लौकिका दुहन्ति, तद्वदयमग्निः सुमतिं दुग्ध्वा स्वाभीष्टं फलं प्राप्तवान्। वरेण्यस्य सर्ववरणीयस्य सर्वतः प्रेरकस्याग्नेः सम्बन्धिनी कण्वेन दुग्धां तां सुमतिमहमावृणे सर्वतः प्रार्थये। कीदृशीं सुमतिम्? चित्राम् अपेक्षितबहुविधफलप्रदानसमर्थाम्। पुनः कीदृशीम्? विश्वजन्यां विश्वं

जन्यमुत्पाद्यं यस्याः सा विश्वजन्या, तां जगदुत्पादनसमर्थाम्, अहमावृण इति सम्बन्धः। यद्वा अनया सावित्र्या त्रिष्टुभा कण्वः पुरस्तात् कामदोहनीं धेनुं पयो ययाचे। तां सवितुः सम्बन्धिनीं वरेण्यस्य सर्ववरणीयस्य चित्रां चायनीयां सुमतिं शोभनबुद्धिमहमावृणे वृणोमि स्वीकरोमि। कीदृशीं ताम्? विश्वजन्यां सर्वजनेभ्यो हिताम्। याम् अस्य सवितुः सम्बन्धिनीं यां सुमतिमेव गां धेनुं कण्वोऽदुहद् दुग्धवान्। प्रपीनां पयसा पूरितां सहस्रधारां बहुकुटुम्बस्य धारयित्रीं सर्वसिद्धिदात्रीं वा। तामहं वृण इत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथास्मिन् समिध आदधाति। एतद्वा एनं देवा ईयिवाᳬंसमुपरिष्टादन्नेनाप्रीणन् समिद्भिश्चाहुतिभिश्च तथैवैनमयमेतदीयिवाᳬंसमुपरिष्टादन्नेन प्रीणाति समिद्भिश्चाहुतिभिश्च' (श० ९।२।३।३६)। उत्तरवाक्यद्वये निधानानन्तरमस्मिन्नग्नौ समिधामाधानं विधाय ताः समिधश्चित्याग्निं प्राप्तस्याग्नेरुपरितनान्नरूपेण स्तौति—अथास्मिन्निति। 'स वै शमीमयीं प्रथमामादधाति। एतद्वा एष एतस्यामाहुत्याᳬं हुतायां प्रादीप्यतोदज्वलत्तस्माद्देवा अबिभयुर्यद्वै नोऽयं न हिᳬंस्यादिति त एताᳬं शमीमपश्यंस्तयैनमशमयंस्तद्यदेतᳬं शम्याऽशमयंस्तस्माच्छमी तथैवैनमयमेतच्छम्या शमयति शान्त्या एव न जग्ध्यै' (श० ९।२।३।३७)। तत्र शमीमयीं समिधं प्रथममादध्यादित्याह—स वा इति। शमीमय्याः प्रथमाधाने हेतुमाह—एतद्वा इति। अथैनमभिजुहोतीति विहितायामाहुत्यां हुतायामयमग्निः प्रदीप्तः सन्नुदज्वलत्। पश्चादुद्दीप्तमग्निं दृष्ट्वा येनोपायेन नोऽयं न हिंस्यादिति भीता देवा विचारयामासुः। पश्चादहिंसोपायत्वेन ते एतां शमीमयीं समिधमपश्यन्, दृष्ट्वा च तया एनमशमयन्। यत्त एतमनयाऽशमयन्, तस्मादसौ शमीनामधेयाऽभूत्। अतः प्रथमं शमीमय्याः समिध आधानेन तथैवायमपि यजमानः शान्त्यै एनं शमयति। न जग्ध्यै, जग्धिर्भक्षणम्, भक्षणाभावाय, अहिंसायै इत्यर्थः। 'ताᳬं सवितुर्वरेण्यस्य। चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्यां यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनाᳬं सहस्रधारां पयसा महीं गामिति कण्वो हैनां ददर्श सा हास्मै सहस्रधारा सर्वान् कामान् दुदुहे तथैवैतद्यजमानाय सहस्रधारा सर्वान् कामान् दुहे' (श० ९।२।३।३८)। अथास्याः शमीसमिध आधाने मन्त्रं दर्शयति—तां सवितुरिति। कण्वो महर्षिरेनां शमीरूपां गां ददर्श खलु। अतश्च सा सहस्रधारा भूत्वा अस्मै कण्वाय सर्वान् कामान् दुदुहे। तस्मादाहिता सती शमी तथैव यजमानाय सर्वान् कामान् दुहे, दुग्धे इत्यर्थः। 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० सू० ७।१।४१) इति तकारलोपः। अस्याग्नेरुत्पादकत्वेन सम्बन्धेन शमीमदुहत्, 'शमीगर्भादग्निं मन्थति' (तै० ब्रा० १।९।१) इति श्रुतेः। प्रपीनां प्रकर्षेण पीवरीम्। महीं महतीम्, टिलोपश्छान्दसः। विश्वजन्यां विश्वं जन्यं जनहितं यस्यां सा विश्वजन्या, ताम्। सर्वस्योत्पादयित्रीं वा तामहमावृण इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—वरेण्यस्य सर्वसंभजनीयस्य सवितुर्जगदुत्पादकस्य परमात्मनः सम्बन्धिनीं तां चित्रां चायनीयां बहुधान्यपश्वादिफलप्रदां वा सुमतिं शोभनबुद्धिरूपामहम् आ आभिमुख्येन वृणे स्वीकरोमि। कीदृशीं सुमतिम्? विश्वजन्यां जगदुत्पादनसमर्थाम्, तत्सङ्कल्पेनैव प्रपञ्चोत्पत्तेः। कण्वो मुनिरस्य सवितुर्यां सुमतिमेव गां धेनुमदुहद् अनुग्रहकारिणीं बुद्धिं दुग्धवान्। कीदृशी गाम्? प्रपीनां प्रकर्षेण पीवरीम्। पयसा पूरितां सहस्रधारां सहस्रक्षीरधारायुक्ताम्। पयसा दुग्धेन महीं महतीं बहुदुग्धां सर्वसिद्धिदात्रीं तां कण्वेन दुग्धां सवितुर्मतिमहं वृणे।

दयानन्दस्तु—'यथा कण्वोऽस्य वरेण्यस्य सवितुरीश्वरस्य यां चित्रां विश्वजन्यां प्रपीनां सुमतिं पयसा महीं गां च अदुहत्, तथा तामहं वृणे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कण्वपदस्य प्रसिद्धमर्थमपहाय मेधाव्यर्थकत्वार्थग्रहणे मानाभावात्, यथा-तथा-पदयोरपि मूलेऽभावाच्च ॥७४॥

विधेम॑ ते पर॒मे जन्म॑न्नग्ने वि॒धेम॒ स्तोमै॑रव॑रे स॒धस्थे॑ ।
यस्मा॒द्योने॑रु॒दारि॑था॒ यजे॒ तं प्र त्वे ह॒वींषि॑ जुहु॒रे समि॑द्धे ॥ ७५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! उत्तम जन्म वाले पुण्यात्मा स्वर्ग में आपके निमित्त हवि देते हैं, स्वर्ग के नीचे अन्तरिक्ष लोक में विद्युत् रूप में स्थित आपकी स्तुति करते हुए हवि देते हैं। आप इष्टका-चित्ति रूप स्थान से प्रकट हुए हैं, अतः मैं आपकी पूजा करता हूं और इसीलिये भली प्रकार से प्रज्वलित आपके निमित्त ऋत्विक्गण यज्ञ में आहुतियां देते हैं ॥ ७५ ॥

गृत्समदद्दृष्टा त्रिस्थानाग्निदेवत्या त्रिष्टुप्। हे अग्ने, ते तुभ्यं विधेम हविर्दद्मः। विदधातिर्दानकर्मा परिचरणकर्मा च। कथम्भूताय ते ? परमे उत्कृष्टे जन्मन् जन्मनि, दिवीत्यर्थः, आदित्यात्मना स्थिताय, 'द्यौर्वा अस्य परमं जन्म' (श० ९।२।३।३९) इति श्रुतेः। पुनः कथम्भूताय ? अवरे सधस्थे दिवोऽर्वाचीने सहस्थानेऽन्तरिक्षे स्थिताय विद्युद्रूपाय स्तोमैः स्तोत्रैर्वयं विधेम परिचरेम, 'अन्तरिक्षं वा अवरꣳ सधस्थम्' (श० ९।२।३।३९) इति श्रुतेः। हे अग्ने, यस्माद् योनेरिष्टकाचितिरूपात् स्थानात् त्वम् उदारिथा उद्गतोऽसि। उत्पूर्वकात् 'ऋ गतौ' इत्यस्माल्लिटि मध्यमैकवचने रूपम्, संहितायां छान्दसो दीर्घः, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घो वा, तं योनिमहं यजे पूजयामि। ततः समिद्धे सम्यक् प्रज्वलिते त्वे त्वयि चित्येऽग्नौ हवींषि प्रजुहुविरे प्रजुह्वति, ऋत्विज इति शेषः। 'इरयो रे' (पा० सू० ६।४।७६) इति 'इरे' इत्यस्य 'रे' आदेशः, 'एष वा अस्य स्वो योनिः' (श० ९।२।३।३९) इति श्रुतेः। एष चित्योऽग्निः। यद्वा हे अग्ने, ते त्वदीये, परमे उत्कृष्टे जन्मन्युत्पत्तिस्थाने गार्हपत्ये सवितृमण्डले वा विधेम परिचरेम, समिधेति शेषः। अस्माभिः सह स्थातुं योग्ये सधस्थेऽवरे निकृष्टे भूलोकवर्तिजन्मनि स्तोमैः स्तोत्रैः परिचरेम। यस्माद् योनेश्चितिस्थानादुदारिथ स्वयमुद्गतोऽसि, तं योनिं यजे। समिद्धे त्वे त्वयि जुहुरे, इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वैकङ्कतीमादधाति। तस्या उक्तो बन्धुर्विधेम ते परमे जन्मन्नग्न इति द्यौर्वा अस्य परमं जन्म विधेम स्तोमैरवरे सधस्थ इत्यन्तरिक्षं वा अवरꣳ सधस्थं यस्माद्योनेरुदारिथा यजे तमित्येष वा अस्य स्वो योनिस्तं यज इत्येतत् प्र त्वे हवीꣳषि जुहुरे समिद्ध इति यदा वा एष समिध्यतेऽथैतस्मिन् हवीꣳषि प्रजुह्वति' (श० ९।२।३।३९)। शमीसमिदाधानानन्तरं वैकङ्कतसमिदाधानं विधाय तत्स्तावकं होमब्राह्मणं प्रागेव (श० ६।६।३।१) षष्ठकाण्डेऽभिहितमित्याह—अथेति। आधानमन्त्रं व्याचष्टे—विधेमेति। प्रथमपादे परमे जन्मन्नित्यनेन द्युलोको विवक्षित इत्याह—द्यौर्वा इति। द्वितीयपादेऽवरे सधस्थ इत्यनेनान्तरिक्षं विवक्षितमित्याह—अन्तरिक्षं वा इति। यस्माद्योनेरित्यत्र योनिशब्देनैष भूलोको विवक्षित इत्याह—एष वा इति। 'प्र त्वे हवीꣳषि' इति तुरीयपादः प्रसिद्धार्थक इत्याह—यदा वा एष इति। हे अग्ने, ते त्वां परमे जन्मन् उत्पत्तिस्थाने द्युलोके विधेम परिचरेम। न केवलं द्युलोक एव, किन्तु स्तोमैः स्तुतिभिरुपलक्षिता वयमवरे सधस्थे द्युलोकादधःस्थानेऽन्तरिक्षेऽपि विधेम। किञ्च, यस्माद्योनेस्त्वम् उदारिथ उद्गतवानसि, तमेतं लोकमनया समिधा यज्ञेषु द्युलोकादीनामग्निकारणत्वेनाग्नेः कारणादेकहोम उक्तः। अथ प्रत्येत्य हवींषीत्यनेन कार्याकारेऽग्नौ होमो विधीयते—समिद्ध इति। समिद्धे त्वे त्वयि हवींषि प्रजुहुरे जुहविरे, विपश्चित इति शेषः। अतो वयमपि समिद्धे त्वय्येतां समिधमादध्महे इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, ते त्वदीये परमे उत्कृष्टे जन्मनि श्रीरामजन्मनि श्रीकृष्णजन्मनि वा प्रादुर्भूतं श्रीरामं श्रीकृष्णं वा विधेम। अवरे तस्मादर्वाचीने काले कल्किरूपेण वा परिचरेम। यस्माद्योने-

मूलकारणात् परब्रह्मस्वरूपाद् उदारिथा आविर्भूतोऽसि, तं योनिं परमकारणं त्वां यजे पूजयामि। त्वे त्वयि त्वन्निमित्तं समिद्धेऽग्नौ पूर्वे महर्षयो हवींषि प्रजुहुरे हवींषि प्रजुह्वति स्म।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने योगिन्, ते तव परमे जन्मनि योगसंस्कारजे जन्मनि, त्वे वर्तमानजन्मनि, अवरे अर्वाचीने सधस्थे वर्तमाना वयं स्तोमैः स्तुतिभिः, विधेम सेवेमहि। त्वमस्मान् यस्माद्योनेः स्थानाद् उदारिथा उत्कृष्टैः साधनैः प्राप्नुहि, तं योनिमहं प्रयजे। यथा होतारः समिद्धेऽग्नौ हवींषि जुहुरे, तथा योगाग्नौ दुःखसमूहस्य होमं विधेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तात्पर्यानुपपत्तिमन्तरा अन्वयानुपपत्तिमन्तरा वा अग्निपदस्य योगिनि लक्षणानुपपत्तेः। तथैव परमजन्मपदस्य 'परमोत्कृष्टे योगसंस्कारजे जन्मनि' इत्यर्थोऽपि न सङ्गतः, निर्मूलत्वात्। 'त्वे' इत्यस्य त्वदीये वर्तमानजन्मनीत्यर्थोऽप्यसङ्गत एव, तस्मिन्नर्थे तस्य शब्दस्य शक्तिग्रहाभावात्। योगाग्नौ लोकस्य दुःखहोमोऽपि निर्युक्तिक एव, 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति परमर्षिः पतञ्जलिराह, एतेन यस्य चित्तनिरोधस्तस्य दुःखादिनाशसम्भवेऽपि तदन्यस्य दुःखनाशे मानाभावात्। चार्वाकप्रायेण त्वया सिद्धयोऽप्यनङ्गीकृता एव। अतः सङ्कल्पसिद्धया तत्सर्वं भवतीत्यपि निर्मूलमेव ॥७५॥

प्रेद्धो॑ अग्ने दीदिहि पु॒रो नोऽज॑स्रया सू॒र्म्या॑ यविष्ठ। त्वाꣳ॒ शश्व॑न्त॒ उप॑यन्ति॒ वाजा॑ः ॥ ७६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अतितरुण अग्निदेव ! निरन्तर उठती हुई लपटों से आप अत्यन्त प्रकाशमान हैं। आप हमारे इस यज्ञ में भी अपनी इन लपटों के साथ प्रदीप्त होइये। निरन्तर पैदा होने वाले नये नये अन्नों की हवि देकर हम आपको तर्पित करते हैं ॥ ७६ ॥

वसिष्ठदृष्टा अग्निदेवत्या विराट्, 'दशाक्षरास्त्रयो विराट्' (ऋ० प्राति० १६।४२) इत्युक्तेः। हे अग्ने, त्वं प्रेद्धः सन् भूयोऽपि नोऽस्माकं पुरोऽग्रतो दीदिहि दीप्यस्व। कीदृशस्त्वम्? एतया अजस्रया अनुपक्षीणया सूर्म्या समित्काष्ठिकया प्रेद्धः प्रदीप्तः। सूर्मीशब्दः काष्ठवचनः, 'सूर्मीं ज्वलन्तीं वा श्लिष्येत्' (म० स्मृ० ११।१०३) इति स्मृतेः। केचित्तु लोहमयीं ज्वलन्तीं स्थूणां सूर्मीमाहुः। तथा सूर्मीसमानया ज्वालया दीदिहि दीप्यस्व। दीव्यतेर्विकरणव्यत्ययेन शपः श्लौ द्वित्वे 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इत्यभ्यासदीर्घे रूपम्। अत्र सूर्मीशब्दो ज्वालोपलक्षकः। हे यविष्ठ, अतिशयेन युवा यविष्ठस्तत्सम्बुद्धौ, हे युवतम अग्ने! यतस्त्वामेव शश्वन्तः शाश्वतिका निरन्तरभाविनो वाजा अन्नानि, हवींषीति यावत्, त्वामुपयन्ति प्राप्नुवन्ति, तस्माद् दीदिहि दीप्यस्वेति सम्बन्धः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथौदुम्बरीमादधाति। ऊर्ग्वै रस उदुम्बर ऊर्जैवैनमेतद्रसेन प्रीणाति कर्णकवती भवति पशवो वै कर्णकाः पशुभिरेवैनमेतदन्नेन प्रीणाति यदि कर्णकवतीं न विन्देद् दधिद्रप्समुपहत्यादध्यात्तद्यद्दधिद्रप्स उपतिष्ठते तदेव पशुरूपं प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो न इति विराजा दधात्यन्नं विराडन्नेनैवैनमेतत्प्रीणाति तिस्रः समिध आदधाति त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति' (श० ९।८।३।४०)। वैकङ्कतसमिद्धोमानन्तरमौदुम्बरसमिधो होमं विधत्ते—अथौदुम्बरीमिति। आधातव्याया उदुम्बरसमिधो गुणानाह—कर्णकवती भवतीति। कर्णकशब्देनात्र पत्रशाखादिकं विवक्षितम्, पत्रादीनां पशुपुष्टिसाधनत्वेन पशुत्वात् तथाविधायाः समिधो होमेन पशुरूपेणैवान्नेन एनं प्रीणाति। कर्णकशब्देन दारुस्फोटो रागो

विवक्षित इति केचनाचार्या आहुः। तथाविधायाः समिधोऽलाभे किं कुर्यात्तत्राह—यदि कर्णकवतीं समिधं न विन्देत्, तदा दधिद्रप्सं दधिबिन्दुम् उपहृत्य समिधि संश्लिष्य आदध्यात्। तत्र समिधि द्रप्स उपतिष्ठत इति यत् तदेव पशुरूपं भवति। अतस्तथाविधायाः समिध आधान एनमग्निं पशुरूपेणान्नेन प्रीणाति। अन्यत् स्पष्टम्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर श्रीराम, प्रेद्धः प्रकर्षेण दीप्तस्त्वं नोऽस्माकं पुरः पुरतो हृदये वा दीदिहि दीप्यस्व। हे यविष्ठ युवतम, यतश्च त्वामेव शश्वन्तो निरन्तरा वाजा योग्यान्यन्नानि, उपयन्ति उपगच्छन्ति, अतो दीदिहि दीप्यस्व। एतया अजस्रया अनुपक्षीणया सूर्म्या सूर्मीतुल्यया ज्वालया प्रेद्धो दुष्टानां दर्पदलने भक्तानां रक्षणे च सन्नद्धो भवेति शेषः। शिवपरत्वेनाप्ययं मन्त्रो व्याख्येयः। तस्य शिवमहिम्नस्तोत्रादौ यविष्ठत्वस्मरणात्।

दयानन्दस्तु—हे यविष्ठ योगिन्, त्वं पुरः प्रथमं प्रेद्धः सन् अजस्रया सूर्म्या ऐश्वर्येण नोऽस्मान् दीदिहि कामयस्व। शश्वन्तो निरन्तरं वर्तमाना वाजा विज्ञानवन्तो जनास्त्वामुपयन्ति' इति, तदपि विसङ्गतमेव, आप्तकामानां योगिनां कामयितृत्वायोगात्। किञ्च, योगिभिन्नानामपि यविष्ठत्वं सम्भवतीति तेन योगिन एव कथं गृह्येरन्? सूर्मिपदस्य ऐश्वर्यमर्थः कुतो लब्धः? एवमेव अग्निवाजादिशब्दानामपि तादृशेऽर्थे सङ्गतिग्रहाभावादेव तादृशार्थासङ्गतेः ॥७६॥

अग्ने तम॒द्याश्वं॒ न स्तोमैः॒ क्रतुं॒ न भ॒द्रꣳ हृ॑दि॒स्पृश॑म् । ऋ॒ध्यामा॑ त॒ ओहैः॑ ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! आज हम आपके उस यज्ञ को आपके नाम, रूप और कर्मों का बखान करते हुए फलप्रापक साम मन्त्रों से सब प्रकार से उसी प्रकार समृद्ध करते हैं, जैसे कि अश्वमेध यज्ञ के घोड़ों को ब्राह्मण स्तुति करते हैं और जिस प्रकार यजमान अतिप्रिय चिर काल से मन में स्थित कल्याणकारी यज्ञ के संकल्प को समृद्ध करते हैं॥ ७७ ॥

'स्रुवाहुती जुहोत्यग्ने तमद्येति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १८।४।८)। समिध आधाय 'अग्ने तम्' इति ऋग्द्वयेन स्रुवेण द्वे घृताहुती तत्राग्नौ जुहुयादित्यर्थः। इयं पञ्चदशे ४४ कण्डिकास्थले व्याख्याता।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाहुतीर्जुहोति। यथा परिविष्यानुपाययेत्तादृक्तत् स्रुवेण पूर्वे स्रुचोत्तरामग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रꣳ हृदिस्पृशम् ऋद्ध्यामा त ओहैरिति यस्ते हृदिस्पृक् स्तोमस्तं त ऋद्ध्यासमित्येतत् पङ्क्त्या जुहोति पञ्चपदा पङ्क्तिः पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति' (श० ९।२।३।४१)। समिद्धोमानन्तरमाज्याहुतीर्विधत्ते—अथाहुतीरिति। लोके भुञ्जानस्य पुरुषस्य यथा शाकसूपौदनादिकं परिविष्य पश्चाज्जलादिकं पेयं पाययेत्, तथा आज्याहुतिकरणं भवति, प्रथमसमिद्धोमस्य परिवेषणवत्कृतत्वात्। तत्र साधारण्येन स्रुचैव सर्वासामेव होमप्राप्तौ आह—स्रुवेणेति। अग्ने तमद्याश्वमित्याहुतिमन्त्रस्य तादृशं तात्पर्यमाह—यस्ते हृदिस्पृगिति। हे अग्ने, ते हृदिस्पृग् यः स्तोमोऽस्ति, ते तं स्तोमम् ऋद्ध्यासं समृद्धं क्रियासमित्युक्तं भवत्यनेन मन्त्रेणेत्यर्थः। अथास्य मन्त्रस्य छन्दः प्रशंसति—पङ्क्त्या जुहोतीति। शेषं सुगमम् ॥७७॥

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवा इहागमन् वीतिहोत्रा ऋतावृधः ।
पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मणे विश्वाहादाभ्यꣳ हविः ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ—मैं एकाग्रचित्त से इस चिति में स्थित अग्नि को घृत की आहुति देकर अत्यन्त प्रसन्न हो रहा हूं। मेरी अभिलाषा है कि इस यज्ञ में आहुति के अधिकारी सत्य और यज्ञ के वृद्धिकर्ता देवगण प्रकट हों। महान् जगत्पति स्वयं ही जगत् की उत्पत्ति के निमित्त स्वादयुक्त हवि देते हैं, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूं ॥ ७८ ॥

विश्वकर्मदेवत्या जगती अतिजगती वा। यथा येन प्रकारेण देवा हविर्भाजो देवा इह अस्मिन् कर्मणि आगमन् आगच्छेयुः, तथाहं मनसा भक्तियुक्तेन मनसा घृतेन बाह्यद्रव्येण च चित्तिं जुहोमि देवानां चित्तमुपाददे, प्रसादयामीत्यर्थः। कीदृशा देवाः ? वीतिहोत्राः, हूयतेऽस्मिन् हविरिति होत्रा यज्ञः, वीतिरभिलाषविषयो होत्रा येषां ते, 'होत्रा इति यज्ञनामसु' (निघ० ३।१७।८), कामितयज्ञाः, कमनीययज्ञा वा। पुनः कीदृशाः ? ऋतावृधः, ऋतं यज्ञं सत्यं वा वर्धयन्तीति ऋतावृधः, सत्यवर्धयितारो यज्ञवर्धयितारो वा। 'संहितायाम्' (पा० सू० ६।३।११४) इत्यधिकारे, 'अन्येषामपि दृश्यते'(पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। तत ऊर्ध्वं भूमनो भूम्नो महतो विश्वस्य जगतः पत्ये स्वामिने विश्वकर्मणे प्रजापतये विश्वाहा सर्वेष्वहःसु, अदाभ्यम् अनुपहास्यं स्वादुभूतं हविर्जुहोमि। यद्वा मनसा श्रद्धावता घृतेन च चित्तिम् ऋत्विजां यजमानानां च चित्तं जुहोम्यग्निसम्बद्धं करोमि, अग्नितत्त्वपरिज्ञानार्थं चिन्तनसन्तानं करोमीत्यर्थः। निश्चयात्मकं चित्तं तथा जुहोमि यथेह यज्ञे देवा आगच्छेयुः। आगमन् इति 'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।१।५५) इति गमेर्लेङि च्लेरङि रूपम्। विश्वाहा विश्वानि च तान्यहानीति विश्वाहा सर्वेष्वहस्सु अदाभ्यमनुपहतं स्वादु हविर्विश्वकर्मणे प्रजापतये जुहोमि। कीदृशाय विश्वकर्मणे ? भूमनो भूम्नो महतो विश्वस्य जगतः पत्ये स्वामिने। अत्र अलोपाभाव आर्षः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वैश्वकर्मणीं जुहोति। विश्वकर्माऽयमग्निस्तमेवैतत् प्रीणाति चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेनेति चित्तमेषां जुहोमि मनसा च घृतेन चेत्येतद्यथा देवा इहागमन्निति यथा देवा इहागच्छानित्येतद्वीतिहोत्रा ऋतावृध इति सत्यवृध इत्येतन् पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मण इति योऽस्य सर्वस्य भूतस्य पतिस्तस्मै जुहोमि विश्वकर्मण इत्येतद्विश्वाहादाभ्यꣳ हविरिति सर्वदैवाक्षितꣳ हविरित्येतत्' (श० ९।२।३।४२)। विश्वकर्मा देवता अस्या इति विश्वकर्मणी, तामाहुतिं जुहोति कुर्यादित्यर्थः। नन्वस्य होमस्य अग्न्यर्थत्वादत्र विश्वकर्मदेवताकत्वाच्च वैयधिकरण्ये प्रकृतसमवेतार्थता न स्यादित्यत उक्तम्—विश्वकर्माऽयमग्निरिति। मन्त्रं व्याचष्टे—चित्तिं जुहोमीत्यादिना। अत्र चित्तिशब्दार्थं दर्शयन् तस्य चात्र सम्बन्धिविशेषोपादानाभावेन साधारण्यात् सम्बन्ध्यन्तरप्रसक्तिनिवारणेनोत्तरवाक्योपात्तादेव सम्बन्धित्वं दर्शयति—चित्तमेषां जुहोमीति। यथा देवा इहागमन्नित्यत्रागमन्नित्येतत्पदं व्याचष्टे—यथा देवा इहागच्छानिति। आगच्छेयुरित्यर्थः। गमर्लिङर्थे लेटि 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपः। 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमः। ऋतावृध इत्यत्र ऋतशब्दस्य सत्यमर्थ इत्याह—सत्यवृध इति।

अध्यात्मपक्षे—वीतिहोत्राः कामितयज्ञाः, ऋतावृधः सत्यस्य यज्ञस्य वा वर्धयितारो देवा भगवतोंऽशभूता यथा इह अस्मिन् आराधनलक्षणे ज्ञानलक्षणे वा यज्ञे आगमन् आगच्छेयुः, तथा एषां चित्तिं चित्तं जुहोमि उपाददे प्रसादयामि। केन साधनेन ? तत्राह— मनसेति। मनसा श्रद्धालुना चेतसा, बाह्येन घृतेन च।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं मनसा विज्ञानेन घृतेन आज्येन चित्तिं चिन्वन्ति यया सा चित्तिः, तां जुहोमि। यथेह वीतिहोत्राः सर्वतः प्रकाशितयज्ञा ऋतावृधो ये ऋतेन सत्येन वर्धन्ते देवाः कामयमाना विद्वांसो

भूमनो बहुरूपस्य विश्वस्य समग्रस्य जगतो विश्वकर्मणे पत्ये पालकाय जगदीश्वराय अदाभ्यमहिंसनीयं हविर्होतव्यं शुद्धं सुखकरं द्रव्यं विश्वाहा सर्वाणि दिनानि होतुमागमन्नागच्छन्ति, अहं हविर्जुहोमि, यूयमप्याचरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहाराणां निर्मूलत्वात्। चित्तिपदेन सञ्चयकारिणी क्रिया जिघृक्षिता, न चित्तमित्यत्र विनिगमनाविरहात्। जुहोमीति क्रियापदमपि होमार्थकं स्वाभाविकम्. आदानार्थता तु प्रकरणवशादेव। का च सञ्चयकारिणी क्रिया ? कथं वा तस्या आदानमित्यादिकं सर्वमपि प्रमाणसापेक्षमेव ॥ ७८ ॥

सप्त ते॑ अग्ने स॒मिध॑: स॒प्त जि॒ह्वाः स॒प्त ऋष॑यः स॒प्त धाम॑ प्रि॒याणि॑।
स॒प्त होत्राः॑ सप्त॒धा त्वा॑ यजन्ति स॒प्त योनी॒राप॑णस्वा घृ॒तेन॒ स्वाहा॑ ॥ ७९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आपकी शमी आदि सात समिधायें हैं, अर्थात् इनमें से आप प्रकट होते हैं। आपकी सात प्रकार की ज्वालारूप जिह्वायें हैं, सात ऋषि और सात गायत्री आदि छन्द आपको अत्यन्त प्रिय हैं। सात प्रकार के होता आपकी अग्निष्टोम आदि सात प्रकार के यज्ञों में पूजा करते हैं। आप हमारी सात चितियों को घृत से पूर्ण करें, ताकि यह श्रेष्ठ यज्ञ सम्पन्न हो सके ॥ ७९ ॥

'पूर्णाहुतिं च सप्त त इति' (का० श्रौ० १८।४।९) स्रुचा पूर्णाहुतिं जुहोतीति सूत्रार्थः। घृतपूर्णया स्रुचा आहुतिः पूर्णाहुतिरित्यर्थः। सप्तर्षिदृष्टा आग्नेयी द्व्यधिका त्रिष्टुप्। हे अग्ने, ते तव सप्त समिधः समिन्धनाः प्राणाः शीर्षण्याः सन्ति, 'प्राणा वै समिधः प्राणा ह्येतꣳ समिन्धते' (श० ९।२।३।४४) इति वक्ष्यमाणश्रुतेः। किञ्च ते तव सप्त जिह्वाः सन्ति ज्वालारूपा हिरण्याङ्गणाद्या आगमोक्ताः। यद्वा आथर्वणिकोक्ता—'काली कराली च मनोजवा च विलोहिता चापि सधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥' (मुण्डको० १।२)। तथा सप्त ऋषयो मरीच्यादयस्तव द्रष्टारः सन्ति। तथा सप्त प्रियाणि धाम धामानि छन्दांसि गायत्र्यादीनि तव सन्ति, 'छन्दाꣳसि वा अस्य सप्त धाम प्रियाणि' (श० ९।२।३।४४) इति श्रुतेः। यद्वा धामानि स्थानानि आहवनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि-सभ्यावसथ्य-प्राजाहिताग्नीध्रीयाणि सोमयागे वह्निधारकाणि सन्ति। किञ्च, हे अग्ने सप्तहोत्रा होत्रादय ऋत्विजः। होता, प्रशास्ता, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, आग्नीध्रः, अच्छावाकश्चेति सप्त होत्राः। सप्तधा सप्तप्रकारैरग्निष्टोमादिभिः सप्तभिः संस्थाभिः। अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः, षोडशी, अतिरात्रः, आप्तोर्यामो वाजपेयश्चेति सप्त संस्थाः सप्त प्रकाराः। त्वा त्वां यजन्ति। हे अग्ने, स त्वं सप्तयोनीश्चितीर्घृतेन आपृणस्व आतृप्यस्व, 'सप्तयोनीरिति चितीरेतदाह सप्तचितिकोऽग्निः' (श० ९।२।३।४४) इति श्रुतेः। स्वाहा सुहुतमस्तु। यद्वा स्वाहा यज्ञरूपस्त्वम्, 'यज्ञो वै स्वाहाकारः' (श० ९।२।३।४४) इति श्रुतेः। सप्तयोनीर्घृतेन आपृणस्व आतृप्यस्वेति काण्वभाष्ये सायणाचार्याः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ पूर्णाहुतिं जुहोति। सर्वमेतद्यत्पूर्णꣳ सर्वेणैवैनमेतत्प्रीणाति' (श० ९।२।३।४३)। उक्तहोमानन्तरं पूर्णाहुतिं विधत्ते—अथेति। पूर्णा चासावाहुतिश्चेति पूर्णाहुतिः, आज्यपूर्णया स्रुचा सम्पाद्यमाना आहुतिरित्यर्थः। यत् पूर्णं तत् सर्वम्, अपरिमितत्वात्। अत एनं तेन सर्वेणैवान्नेन प्रीणाति। 'सप्त ते अग्ने समिध इति। प्राणा ह्येतꣳसमिन्धते सप्त जिह्वा इति यानमून् सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वंस्तेषामेतदाह सप्त ऋषय इति सप्त हि त ऋषय आसन् सप्त धाम प्रियाणीति छन्दाꣳस्येतदाह छन्दाꣳसि वा अस्य सप्त धाम प्रियाणि सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्तीति सप्त ह्येतꣳ होत्राः सप्तधा यजन्ति सप्त योनीरिति चितीरेतदाहापृणस्वेत्या प्रजायस्वेत्येतद् घृतेनेति रेतो वै घृतꣳ रेत एवैतदेषु लोकेषु दधाति स्वाहेति यज्ञो वै स्वाहाकारो यज्ञियमेवैतदिदꣳ सकृत् सर्वं करोति' (श० ९।२।३।४४)। मन्त्रं व्याचष्टे—सप्त ते अग्न इत्यादिना। समिध इत्यनेन समिन्धनहेतुत्वात् प्राणा विवक्षिता

इत्याह—प्राणा वै समिध इति। प्रजापतेर्विस्रंसनेन एते निर्मिता ऋषयः पृथगेव यानमून् सप्त देहानसृजन्, ततश्च तान् व्यवहारासमर्थान् दृष्ट्वा पश्चात्तान् एकमेव पुरुषमकुर्वन्, एतत्सर्वं सप्रपञ्चं षष्ठकाण्डस्यादावभिहितम्। तत्र सप्त शीर्षण्याः प्राणा एव ऋषिशब्देनाभिहिताः। स प्रजापतिः प्रणीयमानोऽग्निः। अत्र जिह्वाशब्देन सप्त पुरुषा विवक्षिता इत्याह—यानमूनिति। तेषामेतदाहेति तेषामेतदभिधानं करोति. तान् आहेत्यर्थः। अत्र प्राणशब्देन शरीरस्थानीन्द्रियाण्युच्यन्ते, जिह्वाशब्देन सप्तपुरुषात्मकानीन्द्रियाणि। ऋषिशब्देन निर्गतानि इष्टकास्थानीयानीन्द्रियाण्युच्यन्ते। अतश्चैषां शब्दानामिन्द्रियवाचकत्वेऽपि न साङ्कर्यम्, भिन्नभिन्नार्थकत्वात्। सप्त धाम प्रियाणीत्यनेन छन्दांस्यभिधीयन्त इत्याह—छन्दांसीति। यत एतमग्निं होतृमैत्रावरुणादयः सप्त होत्रा अग्निष्टोमादिभेदेन सप्तधा यजन्ति, तत उच्यतेऽस्यार्थो मन्त्रेणेत्याह—सप्त होत्रा इति। स्थानवाचकत्वाद् योनिशब्देन चितय उच्यन्ते। अत आह—सप्त योनीरिति।

'सप्त सप्तेति। सप्तचितिकोऽग्निः सप्तर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत्प्रीणाति तिस्र आहुतीर्जुहोति त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति तिस्रः समिध आदधाति तत्षट्' (श० ९।२।३।४५)। मन्त्रे पौनःपुन्येन सप्तशब्दप्रयोगः कृत्स्नस्याग्नेस्तृप्तिहेतुर्भवतीत्याह—सप्त सप्तेति। प्रकृताहुतीनां त्रित्वमपि तथैव प्रशंसति—तिस्र आहुतीरिति। समिधामाहुतीनां च मिलिता षट् संख्या भवतीत्याह—तत् षडिति। 'तिष्ठन् समिध आदधाति। अस्थीनि वै समिधस्तिष्ठन्तीव वा अस्थीन्यासीन आहुतीर्जुहोति माꣳसानि वा आहुतय आसत इव वै माꣳसान्यन्तराः समिधो भवन्ति बाह्या आहुतयोऽन्तराणि ह्यस्थीनि बाह्यानि माꣳसानि' (श० ९।२।३।४६)। अथ समिदाहुतीनामस्थिमांसात्मकत्वात् तत्सन्निवेशानुसारेण तास्तिष्ठन् आसीनो वा जुहुयादित्याह—तिष्ठन्नित्यादिना। कठिनावयवसन्निवेशसाधारण्यात् समिधामस्थित्वम्। तानि ह्युच्छ्रितत्वात् तिष्ठन्तीव भवन्ति। मृद्ववयवसन्निवेशसामान्यादाज्यस्य मांसत्वम्। तानि च मांसान्यासीनानीव सन्ततानि भवन्ति। अस्थिमांसानुसारेण समिधोऽन्तराः, आज्याहुतयस्तु बाह्याः कर्तव्या इत्याह—अन्तरा इति।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मभावविवक्षया परमात्मन एव प्रसिद्धाग्निदेवतारूपेण स्तवनम्। तस्य सप्त समिधः सप्त जिह्वादय उच्यन्ते। उक्तमेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—हे अग्ने विद्वन्, यथाग्नेः सप्त समिधः सप्तजिह्वाः सप्त ऋषयः सप्त प्रियाणि धाम सप्त होत्राश्च सन्ति, तथा ते तव सन्तु। यथा विद्वांसस्तमग्निं सप्त यजन्ति, तथा त्वा यजन्तु। यथायमग्निर्घृते स्वाहा सप्त योनीरापृणते, तथा त्वमापृणस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्नेः सप्त समिधः का इत्यनुक्तेः। सप्त ऋषयः प्राणापानसमानोदानव्यानदेवदत्तधनञ्जया इत्यप्यसाम्प्रतम्, तेषां सप्तत्वस्याप्रसिद्धेः, अनुल्लेखाच्च, नागकूर्मकृकलादिभिर्दशत्वस्यापि सुवचत्वात्। सप्त धामानि नामानि जन्मानि कानीत्यपि न स्पष्टम्। जन्मनामस्थानानि धर्मार्थकाममोक्षाख्यानि धामानीत्यपि मूर्खजनप्रतारणमेव, तेषां परस्परमसम्बन्धात्, तथात्वे मानाभावाच्च। धामानि स्थानानि नामानि जन्मानीत्यस्य धामपदस्य शिष्टसम्मतार्थत्वेऽपि धर्मार्थादीनां धामार्थत्वे मानाभावात्। सप्त होत्रा सप्त ऋत्विजः के? इत्यस्यानुक्तेः। कथं सप्तधा यजनम्? घृतेन उत्तमवाण्या च सप्त चितयः कथं सम्पाद्यन्ते? योनिशब्देन च सप्त चितयः कथं गृह्यन्ते, इत्येतत्सर्वमव्यक्तमेव ॥ ७९ ॥

शुक्रज्यो॑तिश्च चि॒त्रज्यो॑तिश्च स॒त्यज्यो॑तिश्च॒ ज्योति॑ष्मांश्च। शु॒क्रश्च॑ ऋत॒पाश्चात्यꣳ॒॑हाः ॥ ८० ॥

मन्त्रार्थ—शुद्ध, तेजस्वी, विचित्र प्रकाशवाले सत्य की ज्योति से चमकते हुए, प्रकाशपुंज से दीप्तिमान् सत्य और यज्ञ की रक्षा करने वाले सभी प्रकार के पापों से रहित मरुद्गण हमारे इस यज्ञ में पधारें ॥ ८० ॥

'वैश्वानरेण प्रचर्य सर्वहुतेन हस्तेन मारुतान् जुहोत्युपविश्य वैश्वानरेण वा वैश्वानरं पृथुं कृत्वा शुक्रज्योतिरिति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १८।४।२३), 'विमुखेनारण्येऽनूच्यम्' (का० श्रौ० १८।४।२४)। वैश्वानरपुरोडाशेन यागं कृत्वा उपविश्य आहवनीये हस्तेन मारुतान् पुरोडाशान् सर्वहुतान् जुहोति शुक्रज्योतिरित्येकैकमन्त्रेण एकैकम्। अथवा वैश्वानरं पुरोडाशमतिविपुलं कृत्वा वैश्वानरपुरोडाशस्योपर्येव सर्वानपि मारुतान् जुहुयात्। अरण्येऽनूच्यं सप्तमं मारुतं पुरोडाशं विमुखसंज्ञकेन 'उग्रश्च' इति मन्त्रेण जुहुयादध्वर्युरिति सूत्रद्वयार्थः। अरण्येऽनूच्यो वक्तव्यः पठनीयो वा मन्त्रो यस्य सोऽरण्येऽनूच्यः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथातो वैश्वानरं जुहोति। अत्रैष सर्वोऽग्निः सꣳस्कृतः स एषोऽत्र वैश्वानरो देवता तस्मा एतद्धविर्जुहोति तदेनꣳ हविषा देवतां करोति यस्यै वै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता न सा यस्यै न गृह्यते द्वादशकपालो द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरो वैश्वानरः' (श० ९।३।१।१)। वैश्वानरशब्दस्तद्दैवत्यं हविराचष्टे। यतोऽस्मिन्नवसरेऽग्निर्वैश्वानरो देवता भवति, अतस्तत्प्रीणनार्थं तद्दैवत्यं हविर्जुहुयादित्यर्थः। न केवलमनेन अस्यै भागसम्पादनं क्रियते, अपि तु देवतात्वसम्पादनमपीत्याह—तदेनमिति। अत्रैव विस्तरेण वैश्वानरस्वरूपवर्णनम्। तथाहि—'स यः स वैश्वानरः। इमे स लोका इयमेव पृथिवी विश्वमग्निर्नरोऽन्तरिक्षमेव विश्वं वायुर्नरो द्यौरेव विश्वमादित्यो नरः' (श० ९।३।१।३)। स्पष्टार्थं ब्राह्मणम्।

तदेव अध्यात्ममाह—'इदं तच्छिर इदमेव पृथिव्योषधयः श्मश्रूणि तदेतद्विश्वं वागेवाग्निः स नरः सोपरिष्टादस्य भवत्युपरिष्टाद्धयस्याग्निः' (श० ९।३।१।४), 'इदमेवान्तरिक्षम्' (श० ९।३।१।५), 'शिर एव द्यौः' (श० ९।३।१।६), 'अथ मारुतान् जुहोति। प्राणा वै मारुताः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति वैश्वानरꣳ हुत्वा शिरो वै वैश्वानरः शीर्षंस्तत्प्राणान् दधाति' (श० ९।३।१।७)। वश्वानरयागानन्तरं मारुतानां होमं विधाय तान् प्राणात्मना प्रशंसति—अथेति। तद्धोमस्य वैश्वानरसम्बन्धादित्यर्थः।

एतानि ब्राह्मणानि व्याख्यानपूर्वाङ्गतयोद्धृतानि। अथ मन्त्रो व्याख्यायते। षड् मरुद्दैवत्या ऋचः। आद्या उष्णिक्। एकैकस्यामृचि सप्त सप्त मरुतः शुक्रज्योतिरित्याद्याः। एकोनपञ्चाशन्मरुतो यूयमद्यास्मिन्नोऽस्माकं यज्ञे एतन एत आगच्छतेति पञ्चमर्च्यन्वयः। एतनेति 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति तस्य तनादेशः। अथ मरुतां नामानि व्याख्यायन्ते—शुक्रज्योतिः शुक्रं शुद्धं ज्योतिस्तेजो यस्य सः, शुक्रस्येव वा ज्योतिस्तेजो यस्य सः। चित्रज्योतिः चित्रं कमनीयदर्शनीयं ज्योतिर्यस्य सः। सत्यज्योतिः सत्यमत्यन्ताबाध्यं ब्रह्मरूपं ज्योतिर्यस्य सः। ज्योतिष्मान् ज्योतिस्तेजोऽस्यास्तीति ज्योतिष्मान्। शुक्रः शुच्यते सर्वथा निष्कलमषो भवतीति शुक्रः शुक्लः, दीप्तो वा। शोचयति वा शत्रून् रोगान् दोषान् वेति शुक्रः। 'ऋज्रेन्द्र'(उ० २।२९) इति निपातितः। ऋतपा ऋतं सत्यं यज्ञं वा पातीति ऋतपाः। अत्यंहा अंहः पापम्, तदतिक्रम्य वर्तत इत्यत्यंहाः, सर्वतो महापुण्यमय इत्यर्थः। चकाराः समुच्चयार्थाः। सर्वे चैते स्वं स्वमंशं पुरोडाशं भक्षयन्तु।

अध्यात्मपक्षे—सर्वाणीमानि नामानि ब्रह्मबोधकानि। चित्रमाश्चर्यं ज्योतिः प्रकाशो यस्य सः। श्रीरामः श्रीकृष्णः श्रीशिवो वा। सत्यं ब्रह्मात्मकं बोधरूपं ज्योतिर्यस्य स सत्यज्योतिः। ज्योतिष्मान् ज्योतिरखण्डबोधात्मकं ज्योतिरस्यास्तीति ज्योतिष्मान्। शुक्रः शुच्यते पूतः सन् सदा स्वभावे तिष्ठतीति। ऋतपा ऋतं यज्ञं विश्वामित्रस्य पातीति ऋतपाः श्रीरामः। युधिष्ठिरस्य यज्ञं पाति राजसूयमिति ऋतपाः श्रीकृष्णः। अथवा ऋतं सुकृतफलं पाययतीति ऋतपाः, तत्रभवान् साम्बसदाशिवः। अत्यंहा अंहः पापं स्वभावतोऽतिक्रान्तवानित्यत्यंहाः, स मामवत्विति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ऋतपाश्च ईश्वरोऽस्ति, तथा यूयमवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अपसिद्धान्तापातात्। त्वद्रीत्या निराकारस्येश्वरस्य ज्योतिष्मत्त्वेन साकारत्वापत्तेः, चित्रमद्भुतं ज्योतिर्यस्येति त्वदुक्तेः, सत्यमविशो ज्योतिः प्रकाशो यस्य स इति त्वदुक्तेश्च ॥ ८० ॥

ई॒दृङ् चा॒न्या॒दृङ् च॑ स॒दृङ् च॒ प्रति॑सदृङ् च। मि॒तश्च॒ संमि॑तश्च॒ सभ॑राः ॥ ८१ ॥

मन्त्रार्थ—इस पुडोडाश को ग्रहण करने वाले और इस पुरोडाश को देखने वाले, समान दृष्टि, अर्थात् प्रत्येक को समान देखने वाले, सम्यक् एकीभाव से मान को प्राप्त और समान भाव को धारण करने वाले मरुद् देवता हमारे यज्ञ में आवें ॥ ८१ ॥

द्वे गायत्र्यौ। ईदृङ् इमं पुरोडाशं स्वयं गृहीत्वा पश्यतीति ईदृङ्, इममिव वा पश्यतीति ईदृङ्। यद्वा अनेन अनेन समानं पश्यतीति ईदृङ्। अथवा अनेन अनेन समानो दृश्यते स ईदृङ्। अन्यादृङ् अन्यमपि पुरोडाशं पश्यतीत्यन्यादृङ्, अन्यं बाधसाक्षिणमिव वा सर्वं पश्यतीति अन्यादृङ्। सदृङ् समानं पश्यतीति सदृङ्, सर्वमेव वा समानं निर्विशेषं पश्यतीति सदृङ्। प्रतिसदृङ् तं तं प्रत्युच्चावचं प्रति निर्दोषं हि समं ब्रह्म पश्यतीति प्रतिसदृङ्, यद्वा तं तं प्रति समानं पश्यति, 'सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥' (भ० गी० ६।९) इति गीतोक्तेः, तथाविधः प्रतिसदृङ्। मित उत्तमाधममध्यमैस्तुल्यो मितः, उत्तमैः सह उत्तमवत्, मध्यमैः सह मध्यमवत्, अधमैः सह अधमवद् व्यवहरतीति यावत्, 'यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः। मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥' (म० भा० उद्योग० ३७७)। यद्वा मितो मानं प्राप्तः। सम्मितः सम्यक् परितो मानं प्राप्तः, यद्वा एकीभावेन मितः सम्मितः। सभराः सह बिभर्तीति सभराः। एते स्वं स्वमंशं पुरोडाशस्य प्राश्नन्तु।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मत्वात् परमेश्वर ईदृङ्, इममाकाशमिव व्यापकत्वेन पश्यन्ति जना यं स ईदृङ्। अन्यादृङ् अन्यं सूर्यमिव स्वप्रकाशत्वेन पश्यन्ति जना यं सोऽन्यादृङ्। सदृङ् सर्वस्वरूपत्वात् सर्वैः सदृशत्वात्। प्रतिसदृङ् तं तं पदार्थं प्रति समानं पश्यन्ति यं सः। सर्वत्र मानं प्राप्त इति मितः। एकीभावेन मितः सम्मितः। सभराः सहैव सर्वं बिभर्तीति सभराः, सर्वकारणत्वात् सर्वधारकः। स तादृशो भगवान् अस्मानवत्विति शेषः।

दयानन्दस्तु—'ये पुरुषा ईदृङ् अनेन तुल्यम् अन्यादृङ् अन्येन समानं सदृङ् समानं पश्यन्ति तं तं प्रति सदृशं पश्यन्ति प्रतिसदृङ् मितश्च सम्मितश्च सभराश्च वर्तन्ते, ते व्यावहारिकीं कार्यसिद्धिं कर्तुं शक्नुवन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, संसारे सर्वत्रैव साधर्म्य-वैधर्म्य-वैचित्र्यदर्शनात् पुरुषा एव किमर्थं गृह्यन्ते ? किञ्च, अकिञ्चित्करा अपि पुरुषाः केनचित्तुल्या भवन्त्येव। न च ते व्यावहारिकीं कार्यसिद्धिं कर्तुं प्रभवन्ति ॥ ८१ ॥

ऋ॒तश्च॑ स॒त्यश्च॑ ध्रु॒वश्च॑ ध॒रुण॑श्च। ध॒र्ता च॑ विध॒र्ता च॑ विधा॒र॒यः ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ—सत्यस्वरूप सद् वस्तु में प्रकट और स्थिर, विशेष रूप से धारण करने वाले, विविध प्रकार से धारण करने वाले मरुद् देवता हमारे यज्ञ में आवें ॥ ८२ ॥

ऋतः सत्यरूपः स्वमंशं पुरोडाशस्य प्राश्नातु। एवमेव सत्यः सति वस्तुनि भवो ध्रुवः स्थिरः, धरुणो धारकः, धर्ता धारयतीति धर्ता, विशेषेण धारयतीति विधर्ता, विविधं धारयतीति विधारयः। एते सर्वे पुरोडाशस्य स्वं स्वमंशं प्राश्नन्तु।

अध्यात्मपक्षे—स भगवान् ऋतोऽत्यन्ताबाध्यः, सत्यः सत्सु सर्वत्राधिष्ठानरूपेण भवतीति सत्यः, ध्रुवः कूटस्थः, धरुण एकैकस्य वस्तुनो धारकः, धर्ता सर्वस्य धारकः, विशेषेण धारको विधर्ता, विधारयः कारणरूपेण कार्यरूपेण शक्तिरूपेण च धारयतीति विधारयः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः ! य ऋतः सत्यज्ञानः, सत्यः सत्सु साधुः, ध्रुवो दृढनिश्चयः, धरुण आधारः, धर्ता विधर्ता च विधारयः परमात्मास्ति, तमेव सर्वे उपासीरन्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, धरुण-धर्तृ-विधर्तृषु भेदानुक्तेः, ऋतः सत्यज्ञान इत्यर्थस्य लाक्षणिकत्वाच्च ॥ ८२ ॥

ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्च । अन्तिमित्रश्च दूरेअमित्रश्च गणः ॥८३॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ को जीतने वाले, सत्य को जीतने वाले, शत्रुसेना को जीतने वाले, श्रेष्ठ सेना वाले, मित्रों के समीप रहने वाले, शत्रुओं से दूर रहने वाले और सबको गिनने वाले मरुद् देवता हमारे यज्ञ में आवें ॥ ८३ ॥

उष्णिक्। ऋतजिद् ऋतं यज्ञं जयतीति तथोक्तः। सत्यजित् सत्यं याथातथ्यं जयतीति सत्यजित्। सेनजित् सेनां शत्रुसैन्यं जयतीति सेनजित्। 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (पा० सू० ६।३।६३) इति ह्रस्वः। सुषेणः सुष्ठु शोभना सेना यस्य सः। अन्तिमित्रः, अन्ति समीपे मित्राणि यस्य सः। दूरेअमित्रो दूरे अमित्राः शत्रवो यस्य सः। 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इति प्रकृतिभावः। 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।९) इति सप्तम्या अलुक्। गणो गणयति सर्वमिति गणः। एते सर्वे मरुतः स्वं स्वमंशं पुरोडाशस्य प्राश्नन्तु।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वर ऋतजिद् ऋतेन अनृतान् जयतीति तथोक्तः, श्रीरामशिवादिरूपेणेति यावत्। सत्यजित् सत्येन सत्यबलेन सर्वं जयतीति तथोक्तः। यद्वा ऋतेन सूनृता वाचा जयतीति तथोक्तः। सत्येन समदर्शनेन सर्वान् जयतीति तथोक्तः। 'ऋतं च सूनृता वाणी' (भा० पु० ११।१९।३८), 'सत्यं च समदर्शनम्' (भा० पु० ११।१९।३७) इति श्रीमद्भागवतोक्तेः। सेनजिद् रावणादिशत्रुसेनां जयतीति तथोक्तः। सु सुष्ठु शोभना सेना यस्य स तथोक्तः। सुषामादेराकृतिगणत्वात् षत्वम्। अन्तिमित्रो दूरेअमित्रश्च पूर्ववत् व्याख्येयौ। गणो गणयति सर्वं कलयतीति गणः कालः।

दयानन्दस्तु—'य ऋतचिच्च दूरेअमित्रश्च भवेत्, स गणो गणनीयो जायते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उद्देश्यविधेयभावस्य निर्मूलत्वात् ॥ ८३ ॥

ईदृक्षास एतादृक्षास ऊ षु णः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षास एतन ।
मितासश्च सम्मितासो नो अद्य सभरसो मरुतो यज्ञे अस्मिन् ॥ ८४ ॥

मन्त्रार्थ—इस तरह के लक्षणों को इस प्रकार देखने वाले, प्रत्येक को देखने वाले, समान रूप से देखने वाले, प्रमाण युक्त इकट्ठा होकर किसी वस्तु को प्रमाणित करने वाले और इस तरह से आदर पाने वाले मरुद् देवता आज हमारे इस यज्ञ में आवें ॥ ८४ ॥

हे मरुतः, यूयमेते कीदृशाः ? ईदृक्षास इदंदर्शनाः, एतादृक्षास एतद्दर्शनाः, ऊ षु ण इति पदत्रयं पादपूर्त्यर्थम्, सदृक्षासः समानदर्शनाः, प्रतिसदृक्षासः प्रत्येकं समानदर्शनाः, मितासः प्रमाणतो मिताः,

सम्मितासः सङ्गत्य मिताः, सभरसः समानमलङ्कारादिकं ये बिभ्रति ते, भरसा आदरेण सह वर्तमाना इति वा। मरुतोऽस्मिन् नोऽस्माकं यज्ञे एतन आगच्छत, आगत्य च स्वभागीयपुरोडाशग्रहणेन तृप्ता भवत।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मनो भगवत एव वाचका एते शब्दाः। बहुवचनं तु पूजायामादरातिशयार्थम्। हे भगवन्तो यूयमीदृक्षासः पुरोवर्तिपदार्थसदृशाः, सदृक्षासः समानदर्शनाः सर्वात्मत्वात् सर्वसदृशा वा, प्रतिसदृक्षासः प्रत्येकं समानदर्शनाः, मितासः प्रमाणतः, सम्मितासः सङ्गत्य मिताः, सभरसः समानमलङ्कारादिकं बिभ्रति ते, यूयं नोऽस्माकमस्मिन् यज्ञे आराधनलक्षणे एतन आगच्छत, आगत्य च अनुगृह्णीत।

दयानन्दस्तु—'हे मरुतो विद्वांसः, ईदृक्षा एतैः पूर्वोक्तैः सदृशा नोऽस्मान् सदृक्षासः पक्षपातं विहाय समानदृष्टयः, प्रतिसदृक्षास आप्तसदृशाः समन्तमेव प्राप्नुत। मितासः परिमितविज्ञानाः सम्मितासस्तुलावत्सत्यविवेचका मरुत ऋत्विजो विद्वांसः, यज्ञे सङ्गन्तव्ये व्यवहारे सभरसः स्वसमानपोषका भवत, अद्य नो रक्षत, वयमपि सततं सत्कुर्याम' इति, तदेतत् सर्वथापि निर्मूलम्, वेदाक्षरबाह्यत्वात्। सदृक्षास इत्यस्य पक्षपातं विहाय समानदृष्टय इति कथमर्थः? प्रतिसदृक्षास आप्तसदृशा इत्यर्थोऽपि निर्मूल एव। तथैव मितासः परिमितविज्ञानाः, सम्मितासस्तुलावत्सत्यविवेचका इत्यप्यर्थो शब्दबाह्य एव। सभरसः स्वसमानपोषका इत्यपि निर्मूलम्। अद्य नो रक्षत, वयमपि सततं सत्कुर्यामित्यादिकं सर्वमपि स्वाभ्यूहितमेव॥ ८४॥

स्वत॑वांश्च प्रघा॒सी च॑ सान्तप॒नश्च॑ गृहमे॒धी च॑। क्री॒डी च॑ शा॒की चो॑ज्जे॒षी॥८५॥

मन्त्रार्थ—स्वाधीन, बलयुक्त, पुरोडाश को भक्षण करने वाले, शत्रुओं को ताप देने वाले, गृहस्थ धर्म से युक्त, सदा क्रीड़ा करने वाले, सब प्रकार से समर्थ और सदा जयशील मरुद् देवता हमारे यज्ञ में आवें॥ ८५॥

द्व्यधिका गायत्री द्व्यूना उष्णिग् वा। षड्विंशदक्षरत्वाद् विकल्पः। आद्याः पञ्च चातुर्मास्यदेवताः। स्वतवान् स्वं स्वकीयं तवो बलं यस्य स स्वाधीनबलयुक्तः। प्रघासी प्रकर्षेण घसति अत्तीति प्रघासी प्रकर्षेण पुरोडाशभक्षणशीलः। सान्तपनः सम्यक् तपतीति सन्तपनः सूर्यः, 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (पा० सू० ३।१।१३४) इति ल्युः, 'सहितपिदमः संज्ञायाम्' इति हि गणसूत्रम्, तस्यायं सान्तपनः, सूर्यसम्बन्धीति यावत्। गृहमेधी गृहमेधोऽस्यास्तीति गृहिधर्मयुक्तः। क्रीडी क्रीडतीत्येवंशीलः, सदा क्रीडापरायण इत्यर्थः। शाकी शक्नोति सदेति तथोक्तः, सर्वदैव समर्थ इत्यर्थः। उज्जेषी उज्जयतीति तथोक्तः, बाहुलकाद् औणादिकः सप्रत्ययः, सोऽस्यास्तीति तथोक्तः। एते मरुतो यूयमत्र यज्ञे एतनेति पूर्वेण सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वमेतदत्र पक्षे परमात्मपरत्वेन योजनीयम्। परमात्मा निरुपचारेणैव स्वतवान् स्वाधीनबलयुक्तः, सर्वस्याप्यन्यस्य परतन्त्रत्वात्। स एव प्रघासी प्रघसनशीलः। 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥'(कठो० १।२।२४) इति श्रुतेः, 'अत्ता चराचरग्रहणात्' (वे०सू० १।२।९) इति न्यायाच्च। सान्तपनः सन्तपने सूर्ये सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन यो विद्यते सोऽधिष्ठानभूतः परः सान्तपनः। गृहमेधी श्रीरामश्रीकृष्णरूपेण स एव गृहमेधीयधर्मोपेतः। क्रीडी जगदुत्पत्तिस्थितिलयरूपक्रीडापरायणः परमेश्वर एव। स एव सर्वं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थत्वात् शाकी। स एव चोज्जेषी मायातत्कार्यप्रपञ्चोज्जयनशीलः। हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु-मधुकैटभादयः सर्वेऽपि मायिकाः, मायाकार्या इत्यर्थः, तान् जयतीत्येव न, किन्तु मायापि यस्येक्षापक्षे स्थातुं विलज्जते। 'विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया' (२।५।१३) इति श्रीमद्भागवोक्तेः, 'यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥' (१५।१२) इति गीतोक्तेश्च।

दयानन्दस्तु—'यः स्वान् तौति वर्धयति स स्वतवान्। बहवः प्रकृष्टा घासा भोज्यानि विद्यन्ते यस्य स प्रघासी। सम्यक् शत्रून् तापयति यस्तस्यायं सान्तपनः। प्रशस्तो गृहे मेधासङ्गमोऽस्यास्तीति सः। क्रीडी अवश्यं क्रीडितुं शीलश्च शाकी भवेद् अवश्यं शक्तुं शीलम्। उज्जेषी उत्कृष्टतया जेतुं शीलः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उद्देश्यविधेयभावे मानाभावात्। घटे कुलालपितुर्यथाऽन्यथासिद्धत्वम्, तथैव सन्तपनस्याप्यन्यथासिद्धत्वमेव। तथैव क्रीडाप्यन्यथासिद्धैव, तद्रहितानामपि विजयित्वदर्शनात् ॥ ८५ ॥

उ॒ग्रश्च॑ भी॒मश्च॒ ध्वान्तश्च॒ धुनि॑श्च। सा॒स॒ह्वाँश्चा॑भियु॒ग्वा च॑ वि॒क्षिपः॒ स्वाहा॑ ॥ इन्द्रं॒ दैवी॒र्विशो॑ म॒रुतो॒ऽनु॑वर्त्मानो॒ऽभव॒न् यथेन्द्रं॒ दैवी॒र्विशो॑ म॒रुतो॒ऽनु॑वर्त्मानो॒ऽभव॑न्। ए॒वमि॒मं यज॑मानं॒ दैवी॑श्च॒ विशो॑ मानु॒षीश्चानु॑वर्त्मानो भवन्तु ॥ ८६ ॥

मन्त्रार्थ—उत्कृष्ट और भयंकर, शत्रुओं को अन्धकार में डाल देने वाले और उनको कँपा देने वाले, उनको हरा देने वाले, भक्तों को सुख देने वाले और शत्रुओं का नाश करने वाले इन मरुद्गणों को यह श्रेष्ठ आहुति दी जा रही है। देवसम्बन्धी मरुद्रूप प्रजा इन्द्र की सदा अनुगामिनी रहती है। जिस प्रकार देवसम्बन्धी मरुद्रूप प्रजा इन्द्र की अनुगामिनी है, उसी प्रकार देवलोक और मनुष्यलोक की प्रजा इस यजमान की अनुगामिनी बने ॥ ८६ ॥

अयं मन्त्र एकोनचत्वारिंशेऽध्याये सप्तममन्त्रत्वेन पठितः। अत्र तु केवलं मरुतां प्रसङ्गादुद्धृतः। विमुखमन्त्र इति संज्ञास्य। सोऽयं प्रसङ्गाद् व्याख्यायते। उग्र उत्कृष्टः। भीमो बिभेत्यस्मादिति भीमः। 'भीमादयोऽपादाने' (पा० सू० ३।४।७४) इति निपातितः। ध्वान्तो ध्वान्तयत्यन्धीकरोति शत्रूनिति ध्वान्तः। 'तत्करोति तदाचष्टे' इति गणसूत्राण्णिच्, ततः पचाद्यच्। धुनिः धूनयति कम्पयति शत्रूनिति धुनिः। घृणिपृश्नि' (उ० ४।५३) इति बाहुलकान्निः। सासह्वान् सहतेऽभिभवति शत्रूनिति सासह्वान्, सहेः क्वसुः, अभ्यासदीर्घः। अभियुग्वा अभियुनक्ति सुखेन भक्तानिति तथोक्तः, 'अन्येभ्योऽपि' दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इत्यभिपूर्वाद्युजेः क्वनिप्, भक्तानां सुखाभियोजकः। विक्षिपो विक्षिपति प्रेरयति शत्रूनिति विक्षिपः शत्रुक्षेप्ता। स्वाहा एतेभ्यो मरुद्भ्यः सुकृताः पुरोडाशाः सन्तु। चकाराः समुच्चयार्थाः।

अध्यात्मपक्षे—अयमेवार्थः।

'इन्द्रं दैवीरिति जपति' (का० श्रौ० १८।४।२५)। कर्मापवर्गान्ते इन्द्रं दैवीरिति यजुरध्यायसमाप्ति यावज्जपेदिति सूत्रार्थः। मरुद्देवत्यं यजुः। शक्वरी, षट्पञ्चाशदक्षरत्वात्। दैवीः दैव्यो देवानामिमा देवसम्बन्धिन्यः, विभक्तेः पूर्वसवर्णः। विशः प्रजाः। मरुतो मरुद्रूपाः। इन्द्रम् अनुवर्त्मानः, अनु पश्चाद् वर्त्म वर्तनं यासां ताः, अनुगामिन्य इति यावत्, अभवन्। स्वरूपाख्यानमेतत्। दैवीर्विशो मरुतो यथा इन्द्रमनुसृत्य वर्तमाना अभवन्। उपमानमेतत्। एवं दैवीर्मानुषीश्च देवसम्बन्धिन्यो मनुष्यसम्बन्धिन्यश्च विश इमं यजमानमनुसृत्य वर्तमाना भवन्त्विति प्रार्थना।

अध्यात्मपक्षे—यथा दैव्यो विशो मरुतो देवराजमिन्द्रमनुवर्त्मानः, तथैवाश्वमेधादियाजिनं भगवन्तं श्रीरामचन्द्रं मानुष्यो दैव्यश्च सर्वा विशोऽनुवर्त्मानो भवन्त्विति भक्तानां तद्विजयमाशंसमानानामाशीः।

दयानन्दस्तु—'हे राजन्, त्वं वर्तस्व यथेमा दैवीर्विशो देवानां विदुषामिमाः प्रजा मरुतश्च ऋत्विजो विद्वांसोऽनुवर्त्मानोऽभवन्, अनुकूलो वर्त्मा मार्गो येषां ते। एवं दैवीश्च विशो मानुषीश्च विश इमं यजमानमनु-

वर्त्मानो भवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, राज्ञः सम्बोधने मानाभावात्। नहि विदुषां प्रजाः पृथग् मूर्खाणां च प्रजाः पृथग् भवन्ति। अत एवेन्द्रपदमपि न राजसामान्यपरम्, प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावात् ॥ ८६ ॥

इमꣳ स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन् समुद्रियꣳ सदनमाविशस्व ॥ ८७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! भूलोक के मध्य में वर्तमान तुम इस श्रेष्ठ रस वाले घृतधाराओं से परिपूर्ण स्रुक् रूप स्तन का पान करो। हे सब ओर गमनशील अग्निदेव ! मधुर स्वाद वाले घृत से युक्त स्रुक्रूप स्तन का तुम सेवन करो, चयन याग वाले घर में प्रवेश करो ॥ ८७ ॥

'इमꣳ स्तनमिति वाचयति वा' (का० श्रौ० १८।४।२६)। इमं स्तनमिति मन्त्रगणमध्यायसमाप्तिपर्यन्तं यजमानेनाध्वर्युर्वाचयति स्वयं जपति वेत्यर्थः। जपवाचनयोर्विकल्पः। त्रयोदशर्चोऽनुवाकस्त्रिष्टुप्छन्दस्क आग्नेयः। यज्ञस्तुतिर्वसोर्धाराभिवादिनी घृतस्तुतिर्वा। हे अग्ने, सरिरस्य सलिलस्य लोकस्य मध्ये वर्तमानस्त्वम् इमं स्रुग्लक्षणं स्तनं स्रुचः पतन्तीं घृतधारां वा धय पिब। 'धेट् पाने' लोटि रूपम्। सरिरशब्देन लोका उच्यन्ते, 'इमे वै लोकाः सरिरम्' (श० ७।५।२।३४) इति श्रुतेः। वसोर्धारा औदुम्बर्या स्रुचा हूयते। सा च स्रुगत्र रूपककल्पनया स्तन उच्यते। इमं स्रुग्लक्षणं स्तनं तत्पतितां घृतधारां धय पिब। कीदृशं स्तनम् ? ऊर्जस्वन्तम् ऊर्जो रसोऽस्यास्तीत्यूर्जस्वान्, तं विशिष्टरसवन्तम्। तथा अपां प्रपीनम् अद्भिर्घृतैः प्रपीनं पूर्णमन्तःपूरितम्। 'ओप्यायी वृद्धौ' इत्यस्य निष्ठायाम्, 'प्यायः पी' (पा० सू० ६।१।२८) इति प्यादेशे, 'ओदितश्च' (पा० सू० ८।२।४५) इति निष्ठानस्य नत्वे रूपम्। अप्शब्देन लक्षणया घृतमुच्यते। ऊर्जस्वन्तं विशिष्टरसवन्तमिमं स्तनं पिब। किञ्च, हे अर्वन्, इयर्तीत्यर्वा तत्सम्बुद्धौ सर्वयज्ञं प्रति गन्तः ! हे अग्ने, मधुमन्तं मधुरस्वादेन घृतेन युक्तमुत्सम् उत्स्रुवणयुक्तं कूपं स्रुग्लक्षणं स्तनं जुषस्व सेवस्व। 'उत्समेति कूपनामसु' (निघ० ३।२३।१०)। किञ्च, समुद्रियं समुद्रसम्बन्धि सदनं चयनयागसम्बन्धि गृहमाविशस्व। एवं तृप्तः सन् स्वंसदनं सेवस्वेत्यर्थः। 'त्रयो ह वै समुद्रा अग्निर्यजुषां महाव्रतꣳ साम्नां महदुक्थमृचाम्' (श० ९।५।२।१२) इति श्रुतिप्रसिद्धाभिप्रापकः समुद्रशब्दः। 'समुद्राभ्राद् घः' (पा० सू० ४।४।११८) इति समुद्रियशब्दसिद्धिः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन्, त्वमिमं स्रुग्लक्षणं स्तनं धय पिब। कीदृशं स्तनम् ? ऊर्जस्वन्तं विशिष्टाभीष्टरसयुक्तम्। पुनः कीदृशम् ? अपाम् अद्भिः पीनं पूरितम्। पुनः कीदृशम् ? उत्सम् उत्स्यन्दतीत्युत्सः, तं रसस्रोतःस्वरूपं स्वादिष्ठमधुस्वादयुक्तम्। कीदृशस्त्वम् ? सरिरस्य मध्ये लोकानां मध्ये वर्तमानः। हे अर्वन् सर्वतोगत, समुद्रियं यजुषां समुद्ररूपचित्याग्निसम्बन्धि सदनं जुषस्व सेवस्व, अन्तरिक्षसम्बन्धि सदनं वा जुषस्व। सर्वगतस्यापि लीलाविग्रहधारणेन सदनविशेषेऽवस्थानं न विरुद्ध्यते, शालग्रामे विष्णोरिव।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने पालक, त्वं प्रपीनं दुग्धधारं स्तनमिव इममूर्जस्वन्तमपां रसं धय। सरिरस्य बहूनां मध्ये। सरिरमिति बहुनामसु। मधुमन्तमुत्सम्। उन्दन्ति येन तम् उत्सं कूपम्। उत्समिति कूपनामसु। जुषस्व। हे अर्वन्, त्वं समुद्रियं सदनमाविशस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निष्प्रयोजनत्वात्। कस्यचित् प्रपीनस्तनवदपां रसपानेन इतरेषां किं प्रयोजनं तेन सिद्ध्यति ? 'बहूनां मध्ये' इत्यस्यापि फल्ग्वेव प्रयोजनम् ॥ ८७ ॥

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतम्वस्य धाम ।
अनुष्वधमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम् ॥ ८८ ॥

मन्त्रार्थ—मैं घृत को अग्नि के मुख में सींचना चाहता हूँ। घृत इस अग्नि का उत्पत्तिस्थान है, यह घृत पर आश्रित है, घृत ही इसके तेज को बढ़ाने वाला है। हे अध्वर्यु ! हवि का संस्कार करने के अनन्तर अग्नि का आवाहन कर उसे तृप्त करो और कहो कि हे कामनाओं को पूर्ण करने वाले अग्निदेव ! स्वाहा कह कर दी गई आहुति को आप देवताओं तक पहुँचा दो ॥ ८८ ॥

गृत्समददृष्टा। अहमस्य अग्नेर्मुखे घृतमुदकमाहुतिपरिणामभूतम्, मिमिक्षे मेढुं सेक्तुमिच्छति मिमिक्षते, उत्तमपुरुषैकवचने मिमिक्षे, सेक्तुमिच्छामीति यावत्। यतोऽस्याग्नेर्घृतं योनिरुत्पत्तिस्थानम्। घृतेन हि प्रवर्धतेऽग्निः, 'अग्निर्यस्यै योनेरसृज्यत तस्यै घृतमुल्बमासीत्' (श० ६।६।२।१३) इति श्रुतेः। गर्भाधारोदकमुल्बम्। योऽग्निर्घृते श्रितो घृतमाश्रितः, अस्याग्नेर्घृतमेव धाम स्थानं तेजस्करं वा। उ अवधारणे। अतो हे अध्वर्यो, अनुष्वधं स्वधामन्नमुपलक्ष्य तमग्निमावह पूर्वमन्नमुपकल्प्य पश्चादाहूय। 'स्वधेत्यन्ननामसु'(निघ०२।७।१७) आहूय च मादयस्व तर्पय। तर्पयित्वा चैवं ब्रूहि—हे वृषभ कामानामभिवर्षुक, स्वाहाकृतं स्वाहाकारेण हुतं हव्यं त्वं वक्षि वह देवान् प्रापय। वहतेः शपि तल्लोपे च 'हो ढः' (पा० सू० ८।२।३१) इति ढत्वे, 'षढोः कः सि' (पा० सू० ८।२।४१) इति कत्वे च वक्षीति रूपम्। यद्वा हे अग्ने, अनुष्वधं स्वधोत्पन्नं नाम चरोर्द्विरवधारणाद् अन्नस्योपर्यधश्च घृतं वर्तते, अनुगतान्नं घृतमावह, स्वात्मानं देवत्वं प्रापय। तेन मादयस्व हृष्टो भव। हे वृषभ उत्कृष्टाभिमतफलानां वर्षक अग्ने, स्वाहाकारेण हुतं हव्यं हविर्वक्षि। यं प्रत्यहं मिमिक्षे, यस्य घृतं योनिः, यो घृते श्रितः, यस्य च घृतं धाम, स त्वमनुष्वधं देवानावह मादय हव्यं च वक्षि। देवानामावाहनं हविर्वहनं च कर्मद्वयं वह्नेः प्रसिद्धमेव।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, अहमस्य प्रत्यक्चैतन्याभिन्नत्वेन अपरोक्षस्य तव तर्पणाय घृतं मिमिक्षे मेढुं सेक्तुमिच्छामि। यतो घृतमस्य योनिः स्थानम्, घृतोपलक्षितान्नमयदेहस्य हृदय उपलभ्यमानत्वात्। अत एव घृते श्रितः। तत्रोपलभ्यमानत्वादेव घृतमेवास्य धाम तेजस्करम्। साधकानाह—हे साधक, त्वमनुष्वधं स्वमात्मानं सर्वान्तर्यामिणं भगवन्तं नारायणं धारयतीति स्वधा, तथा च मनुः—'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥' (१।१०)। अथवा स्वं धनं धनधान्यादिकं ददातीति स्वधा, शस्योत्पत्तिहेतुत्वात्, यद्वा स्वेभ्यो दीयते, स्वस्मिन् धीयते वा, स्वेन धनेन धीयते वेति स्वधा। स्वशब्दे उपपदे दधातेः 'गेहे कः' (पा० सू० ३।१।१४४) इति योगविभागाद् बाहुलकाद्वा कप्रत्ययः। तां स्वधामन्नमुपकल्प्य भगवन्तमावह, आहूय च मादयस्व, भक्तिपरिप्लुतेन हविषा तर्पय, तर्पयित्वा चैवं प्रार्थयस्व—हे वृषभ सर्वाभिमतफलानामभिवर्षक भगवन्, स्वाहाकृतं स्वाहाकारेण सर्वात्मसमर्पणेन पूतं हव्यं हविर्नैवेद्यं वक्षि कृपया धारय स्वीकुरु। तथा चाहुर्याज्ञिकाः—'अग्ने त्वमैश्वरं तेजः पावनं परमं हि तत्। तस्मात् त्वदीयहृत्पद्मे श्रीरुद्रं तर्पयाम्यहम्॥' इति।

दयानन्दस्तु—'हे समुद्रयायिन्, त्वं घृतं मिमिक्षे उदकं सिञ्चितुमिच्छ। उद् यस्याग्नेर्घृतं योनिर्गृहमस्ति, यो घृते श्रितो घृतमस्य धाम अधिकरणम्, तमग्निमनुष्वधं स्वधान्नस्यानुकूलमावह प्रापय। हे वृषभ, त्वं यतः स्वाहाकृतं वेदवाणीनिष्पादितं हव्यं होतुमादातुमर्हं वक्षि कामयसे प्राप्नोषि वा, तेनास्मान् मादयस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निरर्थकत्वादेव। तथाहि—कोऽयं समुद्रयायी सम्बोध्यते ? किञ्च तत्र प्रमाणम् ? जलसिञ्चनेच्छया च को लाभः समाजस्य वेदाध्येतुर्वा ? अभ्युदयनिःश्रेयससाधनक्रियार्थत्वाद् वेदस्य अतदर्थानां नैरर्थक्यमेव,

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १।२।१) इति न्यायाच्च। समुद्रयायी कथमग्निमन्त्रानुकूलतां नयति ? समुद्रयायिनस्तेन कः सम्बन्धः ? न च वेदवाण्याः कश्चन सम्बन्धः ? वेदवाण्या किं निष्पाद्यते ? शब्दस्य ज्ञापकत्वेन कारकत्वायोगात् ॥ ८८ ॥

समु॒द्रादू॒र्मिर्मधु॑माँ२॥ उदा॑र॒दुपा॒ꣳशुना॒ सम॑मृत॒त्वमा॑नट् ।
घृ॒तस्य॒ नाम॒ गुह्यं॒ यदस्ति॑ जि॒ह्वा दे॒वाना॑मम॒ृत॑स्य॒ नाभिः॑ ॥ ८९ ॥

मन्त्रार्थ—मधुर रस वाली तरंग घृत के रूप में समुद्र से उठती है, फिर प्राणभूत अग्नि के साथ मिल कर अमृतत्व को प्राप्त करती है। घृत का जो गुप्त नाम वेदों में पढ़ा गया है, वह देवताओं की जिह्वा है, अमृत की नाभि है। इसका अभिप्राय यह है कि घृत का सेवन करने वाला दीर्घायु होता है ॥ ८९ ॥

वामदेवदृष्टा। अत्रान्नाध्यासेन घृतं स्तूयते, प्राणाध्यासेन चाग्निः। समुद्रात्, सम्मोदन्ते यजमाना अस्मादिति समुद्रोऽग्निः पार्थिवः, तस्माद् ऊर्मिर्महाराशिर्घृतकल्लोलो मधुमान् रसवान् उदारत्, उदगच्छन्त्यापोऽस्मादिति वा समुद्रो दैवो वैद्युतोऽग्निः, तस्मादूर्मिरुपर्युपर्यभूत्, अतो मधुमान् माधुर्योपेतफलसमूहः, उदारद् उद्गच्छति। अथवा वैद्युतादग्नेरूर्म्युत्पादको रससमूह उदारत्। अथवा समुद्रात् समुद्द्रवणसाधनाद् आदित्याद् घर्माद् रसमुदकलक्षणमुदारत्, 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' (म० स्मृ० ३।७६) इति वचनात्। यद्वा समुद्रादन्तरिक्षाद् ऊर्मिरुदकम् उदारत्। अथवा समुद्रादुक्तलक्षणादूधसः सकाशादूर्मिरुज्ज्वलक्षीररसः, उदारद् उद्गच्छति। एतद् घृतपक्षेऽपि समानम्। यद्यपि घृतं क्षीराज्जायते, तथापि तस्य ऊधस उत्पत्तेरयमुपचर्यते। शिष्टं वाक्यमग्न्यादिपञ्चपक्षेष्वपि समानम्। अंशुना दीप्त्यंशेन वा सममममृतत्वम् आनट् व्याप्नोति। उपेति पादपूरणार्थः, सामीप्येन वा व्याप्नोति। घृतस्य दीप्तस्य क्षरद्रसस्य रूपस्य गुह्यं नाम गोपनीयं नयनसाधनं यदस्ति तद् ब्रवीमि। तद्देवानां जिह्वास्थानीयो भवति। तदेव अमृतत्वस्य नाभिर्वर्धकं भवति। तदुभयं घृतस्य नाभिरित्यर्थः। एवं सर्वमन्त्रेषु तत्तत्पक्षानुसारेण योजनीयम्।

'उव्वटमहीधररीत्या अन्नाध्यासेन घृतमत्र स्तूयते, प्राणाध्यासेन चाग्निः। समुद्राद् घृतमयाद् मधुमान् रसवानूर्मिर्महाराशिर्घृतकल्लोल उदारद् उदगमत्। 'ऋ गतौ' इत्यस्माल्लुङि च्लौ 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च' (पा० सू० ३।१।५६) इति च्लेरङि, 'ऋदृशोऽङि गुणः' (पा० सू० ७।४।१६) इति गुणे, 'आटश्च' (पा० सू० ६।१।९०) इति वृद्धौ च आरदिति रूपम्। अक्षीणत्वाद् घृतस्य समुद्रेणोपमानम्, अन्नदेवताभिप्रायेण वा समुद्रेणोपमानम्, तस्या अप्यनुपक्षीणत्वात्। उद्गत्य च स ऊर्मिरंशुना प्राणेन जगत्प्राणभूतेनाग्निना सं सङ्गत्य एकीभूय अमृतत्वममरणधर्मित्वमुपानड् उपव्याप्नोतु। 'णश् अदर्शने' इत्यस्माल्लुङि 'मन्त्रे घसह्वरणश' (पा० सू० २।४।८०) इत्यादिना च्लेर्लुकि 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्' (पा० सू० ६।१।६८) इत्यादिना तिपो लोपे रूपम्। वि आङ् इत्युपसर्गयोर्बलाद् व्यावर्तकार्थो णशिः। प्राणश्चान्नं च एकीभूय अमृतत्वं प्राप्नुत इत्यर्थः। तस्य घृतस्य गुह्यं नाम गोपनीयमविज्ञातमविद्विद्भिः श्रुतिमन्त्रपरिपठितं यदस्ति, तदहं ब्रवीमीति शेषः। किं तदित्याह—देवानां जिह्वा अत्यभिलाषाद् देवानां जिह्वोत्थाननिमित्तम्, 'यदा वा एतदग्नौ जुह्वत्यथाग्नेर्जिह्वा इवोत्तिष्ठन्ति तस्मादाहाग्नेर्जिह्वासीति' (श० १।३।१।१९) इति श्रुतेः। अथ यत्सर्वप्रकाशं नाम तदप्यहं ब्रवीमि। किं तदित्याह—अमृतस्य नाभिरमरणधर्मत्वस्य नाभिर्नहनं बन्धनकारणम्, घृताशिनो दीर्घायुष्ट्वदर्शनात्। यद्वा प्रकृतार्धर्चेन मन्त्रः स्तूयते, अर्धर्चेन च घृतम्। समुद्राद् भाग्निकाद्यजुःसमुद्राद् य ऊर्मिः शब्दसङ्घातो नामाख्यातोपसर्गनिपातलक्षण उपमोत्प्रेक्षारूपकाद्यलङ्कारोपेतो मधुमान् रसवान् वाक्यगुणैर्युक्तः, उदारद् मुखत उदगात्, स एव आंशुना सवनेन क्रियमाणः

सन्नमृतत्वमाप्नोत्, 'तदेतद्यजुरूपाᳪं श्वनिरुक्तम्' (श० १०।३।५।१५) इति श्रुतेः। अतोऽग्निचिद्भिः स ऊर्मिः प्रकाशनीयः। घृतस्य गुह्यं नाम यदस्ति, तदपि देवानां जिह्वोत्थाननिमित्तम्। किं पुनर्होमः? 'अथास्य घृतकीर्ता- देवाग्निर्वैश्वानरो मुखादुज्जज्वाल' (श० १।४।१।१३) इति श्रुतेः। अमृतस्य नाभिर्निर्हनं यजमानानाममृतत्वप्रापकं घृतं यजनेनेत्यर्थः। अतोऽग्निचिद्भिर्हूयते स्तूयते च घृतमिति भावः।

अध्यात्मपक्षे—समुद्रात् सच्चिदानन्दलक्षणात्, मधुमान् मधुरप्रीतियुक्तः, ऊर्मिः सच्चिदानन्दकल्लोलरूपो जीव उदगमत्, उद्गत्य च अंशुना जगत्प्राणभूतेन परमात्मना सङ्गत्य एकीभूय अमृतत्वमुपानट् संव्याप्नोतु। देवानां घृतस्य दीप्तस्य स्वप्रकाशस्य तस्य यद् गुह्यं नामास्ति, तद् ब्रवीमि। किं तदित्याह—देवानां जिह्वेति। देवानां प्रसिद्धानां दिविषदां द्योतनात्मकानामिन्द्रियाणां च अत्यभिलाषास्पदत्वात्। जिह्वावद्रसास्वादमूलत्वाद् जिह्वेति गुह्यं नाम। अमृतस्य नाभिरमृतत्वस्य संहननकारणमित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, भवन्तः सत्समुद्रादन्तरिक्षाद् अंशुना किरणसमूहेन मधुमान् मधुररसगुण- युक्त उर्मिस्तरङ्ग उदारद् ऊर्ध्वमारद् आप्नोति। सममृतत्वमानट् समन्ताद् व्याप्नोति। यद् घृतस्य जलस्य गुह्यं रहस्यं नामास्ति, या देवानां विदुषां जिह्वा वाणी अमृतस्य मोक्षस्य नाभिः स्तम्भनं स्थिरीकरणं प्रबन्धनम्, तत्सर्वं सेवन्ताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ऊर्ध्वगामिनो मधुमतस्तरङ्गस्यानुपलम्भपराहतत्वात्॥ ८९॥

व॒यं नाम॒ प्र ब्र॑वामा घृ॒तस्या॒स्मिन् य॒ज्ञे धा॑रयामा॒ नमो॑भिः।

उप॑ ब्र॒ह्मा शृ॑णवच्छ॒स्यमा॑नं॒ चतुः॑शृङ्गोऽवमीद् गौ॒र ए॒तत्॥ ९०॥

मन्त्रार्थ—हम इस यज्ञ में घृत का नाम लेकर स्तुति करते हैं, क्योंकि घृत देवताओं को प्यारा है। अन्न के द्वारा यज्ञ को धारण करते हैं। ब्रह्मा नाम का ऋत्विक् स्तुति किये जाते हुए घृत के नाम को सुने। चार होता वाला गौर वर्ण यह घृत आहुति के परिणाम से यज्ञ-फल को प्रकट करता है॥ ९०॥

यतो घृतनामोच्चारणमपि प्रियं देवानाम्, अतो वयं यजमाना घृतस्य नाम प्रब्रवाम अस्मिन् यज्ञे घृतनाम स्तुमः। नमोभिरन्नैर्धारयाम यज्ञमिति शेषः। किञ्च, ब्रह्मा ऋत्विक् शस्यमानं होत्रा स्तूयमानमेतद् घृतनाम उपशृणवत् उपशृणोतु। 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमः। यथा गौरो गौरवर्णः शुद्धो यज्ञ एतद् घृतं यज्ञफलरूपम् अवमीत् उद्गिरति। यज्ञपरिणामाभिप्रायमेतत्। कीदृशो गौरः? चतुःशृङ्गश्चत्वार ऋत्विजः शृङ्गभूता यस्य सः। ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्युरिति चत्वार ऋत्विजः।

अध्यात्मपक्षे—यतो घृतस्य दीप्तस्य प्रकाशस्य घृतवत्स्नेहमयस्य परमात्मनो नामोच्चारणमपि देवानां प्रियमतो वयमस्मिन् यज्ञे तस्य घृतस्य परमात्मनो नाम प्रब्रवाम स्तुमः। नमोभिर्नमस्कारैर्धारयाम, यज्ञं विष्णुमिति शेषः। किञ्च, मन्त्रैः शस्यमानं स्तूयमानमेतन्नाम ब्रह्मा परमेश्वर आसमन्ताद् उपशृणवत् उपाशृणोतु। कीदृशो ब्रह्मा? गौरः शुद्धः। पुनः कीदृशः? चतुःशृङ्गः, चत्वारो विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयरूपा विराड्हिरण्यगर्भाव्याकृत- तुरीयरूपा वा शृङ्गा इव शृङ्गा यस्य स परमात्मा एतन्नाम अवमीद् उद्गिरति। अतः शुद्धपरमात्मोद्भूतत्वाद् परममाहात्म्योपेतमेतदित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'यश्चतुःशृङ्गश्चत्वारो वेदाः शृङ्गवदुत्तमा यस्य सः। गौरो यो वेदविद्यावाचि रमते स एव। गुरतीति वा गौरः। ब्रह्मा चतुर्वेदवित्, अवमीद् उपदिशेत्, उपशृणवद् उपशृणुयात्, तद् घृतस्य आज्यस्य

जलस्य वा शस्यमानं प्रशंसितं सद् गुह्यं नामास्त्येतद्द्वयमन्यान् प्रति प्रब्रवाम। अस्मिन् यज्ञे नमोभिर्धारयाम। मनुष्या मनुष्यदेहं प्राप्य सर्वेषां पदार्थानां नामान्यर्थांश्च अध्यापकेभ्यः श्रुत्वाऽन्येभ्यो ब्रूयुः। एतैः सृष्टिस्थैः पदार्थैः सर्वाणि कार्याणि साधयेयुरिति भावार्थः' इति, तदेतत् सर्वं मन्त्राक्षरबाह्यमेव, अक्षरार्थाननुगमात्। चतुःशब्देन चत्वारो वेदाश्चत्वार ऋत्विजश्चत्वारो नामाख्यातोपसर्गनिपाता इति ग्रहणे विनिगमनाविरहात्। गोरपदस्य कथञ्चित् तादृशार्थत्वेऽपि गौरपदस्य तथार्थत्वायोगात्। गोपदस्याप्यनेकेऽर्थाः सन्ति, गवां पशुविशेषाणां दातुरपि गोरशब्देन ग्रहीतुं शक्यत्वे विनिगमनाविरहाच्च। ब्रह्मपदमपि न चतुर्वेदवित्परम्, किन्तु ब्रह्मनामक ऋत्विक् चतुर्वेदविद् भवतीति प्रणाड्या तथार्थग्रहणेऽपि प्रथमभावित्वाद् ऋत्विगेव प्रथमोपस्थितिको भवति। अवमीद् उपदिशेदित्यप्यसङ्गतम्, धात्वर्थविरोधात्। तत्र घृतस्य कः प्रसङ्गः? गृहाश्रमो यज्ञ इत्यप्यसङ्गतम्, निर्मूलत्वात्, लक्षणायां बीजाभावात् ॥ ९० ॥

च॒त्वारि॒ शृङ्गा॒ त्रयो॑ अस्य॒ पादा॒ द्वे शी॒र्षे स॒प्त हस्ता॑सो अस्य ।
त्रिधा॑ ब॒द्धो वृ॑ष॒भो रो॑रवीति म॒हो दे॒वो मर्त्याँ॒२॥ आवि॑वेश ॥ ९१ ॥

मन्त्रार्थ—इस यज्ञ देवता के ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु ये चार शृंग हैं। ऋक्, यजुः और साम ये तीन वेद तीन चरण हैं। हविर्धान और प्रवर्ग्य दो सिर हैं। इस यज्ञपुरुष के छन्दोरूप अथवा होतारूप सात हाथ हैं। प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन इन तीन स्थानों में बँधा हुआ कामनाओं की वर्षा करने वाला यह यज्ञरूपी वृषभ मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प के द्वारा अतिशय शब्द करता है। यह अतिपूजनीय देव मनुष्य लोक में व्याप्त होकर स्थित है। मन्त्र का यह अर्थ निरुक्त (१३।७) के अनुसार है।

पतंजलि मुनि ने महाभाष्य (१।१।१) में इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की है—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार जिसके सींग हैं, प्रथम, मध्यम, उत्तम पुरुष रूप अथवा भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल रूप तीन चरण हैं। नित्य और कार्य रूप शब्द ही दो सिर हैं। सात विभक्तियां ही सात हाथ हैं। एकवचन, द्विवचन, बहुवचन रूप तीन स्थानों में बँधा हुआ, अनेकों अर्थों की वर्षा करने वाला, ऐसा यह व्याकरण शास्त्र अन्य शास्त्रों को दबा कर गरजता है, यह विशाल परिमाण का दिव्य शास्त्र मनुष्यों में फैला हुआ है।

इस मन्त्र का तीसरा अर्थ इस प्रकार हो सकता है—वेदरूप यज्ञपुरुष के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार शृंग हैं। कर्म, उपासना और ज्ञान रूप तीन चरण हैं। व्यष्टि और समष्टि रूप दो सिर हैं। स्वर अथवा छन्द रूप सात हाथ हैं। इस प्रकार चार पदार्थों की वर्षा करने वाला वेद बार बार उपदेश कर रहा है कि हे मनुष्यो! जागो, परमात्मा का भजन करने के निमित्त ही शरीर है, इसमें परमात्मा ने जीवात्मा के रूप में प्रवेश किया है ॥ ९१ ॥

यज्ञपुरुषदेवत्य ऋषभो मन्त्रः। चतुःशृङ्गोऽवमीदित्युक्तम्, तत्र कोऽयं चतुःशृङ्ग इति जिज्ञासायां चतुःशृङ्गशब्दो यज्ञवृषभपरत्वेन प्रतिपाद्यते। यस्य यज्ञस्य चत्वारि शृङ्गाणि ब्रह्मोद्गातृहोत्रध्वर्य्वाख्या ऋत्विजः शृङ्गाणीव प्रधानभूताः। त्रय ऋग्यजुःसामलक्षणाः पादाः, तैरेव यज्ञः प्रतितिष्ठति। द्वे शीर्षे शिरसी हविर्धान-प्रवर्ग्याख्ये। सप्तहस्तासः सप्तहोतारो हस्तासो हस्ता इव व्याप्रियन्ते। त्रिधा बद्धस्त्रिप्रकारं सम्बद्धः। प्रातःसवन-माध्यन्दिनसवन-सायंसवनाख्यैर्बद्धो वृषभः कामवर्षिता रोरवीति अत्यन्तं शब्दं करोति। सोऽयं महोदेवो महति पूजयति मह्यते वा जनैरिति महो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां प्राणिनामुपजीव्यः, ज्ञानकर्मसमुच्चयाधिकारिणां विदुषां शरीरभूतो मर्त्यान् मनुष्यान् आविवेश आविशति।

यद्वा—चत्वारो वेदाः शृङ्गाणीव, सवनानि त्रीणि पादाः, प्रायणीयोदयनीये इष्टिविशेषौ शीर्षे, सप्त छन्दांसि हस्ताः, त्रिधा मन्त्रब्राह्मणकल्पैर्बद्धो वृषभः कर्मफलानां वर्षणकर्ता रोरवीति, सोऽयं महो महता प्रकाशेन युक्तो देवो दीव्यतीति देवः, समस्तयज्ञाद्युपलक्ष्यो हिरण्यगर्भः, मर्त्यान् मरणधर्माणः प्राणिनः, आविवेश अपेक्षित-पुरुषार्थसाधनप्रकाशनाय आविशति।

यद्वा—व्याकरणशास्त्राभिमानी देवः शब्दग्रामोऽत्राभिधीयते। चत्वारि नामाख्यातोपसर्गनिपाताः शृङ्गाणि। प्रथममध्यमोत्तमपुरुषास्त्रयः पादाः, भूतभविष्यद्वर्तमानाः काला वा त्रयः पादाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्त विभक्तयो हस्ताः। त्रिधा बद्ध एकवचनद्विवचनबहुवचनैर्बद्धः, उरसि कण्ठे शिरसि वा व्यज्यमानो वृषभ इवायममर्षादिवान्यानि शास्त्राण्यधःपदीकृत्य रोरवीति, य उक्तगुणः सोऽयं महोदेवो मर्त्यान् आविवेश तत्तदर्थान् प्रतिपादयति, मनुष्याधिकारत्वात् शास्त्रस्य। 'रु शब्दे' इत्यस्य यङ्लुगन्ते रोरवीतीति रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—चत्वारि शृङ्गा चत्वारो विश्वतैजसप्राज्ञतुरीया विराड्ढिरण्यगर्भाव्याकृततुरीया वा शृङ्गाणीव यस्य। पादास्त्रयो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्या अस्य पादाः। सगुणनिर्गुणब्रह्मरूपे द्वे शीर्षे। सप्त महदहङ्कारपञ्चतन्मात्रा अस्य हस्तासो हस्ताः, हस्ता इव व्यापारशीलाः। त्रिधा बद्धः श्रुतिस्मृतिपुराणैः प्रतिपादितः। महोदेवो वृषभो वर्षति कर्मफलानीति वृषः, भाति सर्वोपरीति भः, वृषश्चासौ भश्चेति वृषभः। रोरवीति परा-पश्यन्ती-मध्यया-वैखरीभिर्बहुधा व्यवहरति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यस्यास्य त्रयस्त्रीणि सवनानि भूतभविष्यद्वर्तमानाः कालाः पादाः, चत्वारि शृङ्गा चत्वारो वेदा नामाख्यातोपसर्गनिपाता वा शृङ्गाणीव। द्वे प्रायणीयोदयनीये शीर्षे नित्यः कार्यश्च शब्दात्मानौ वा। सप्तसंख्याकानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि सप्तविभक्तयो वा हस्तासो हस्तेन्द्रियमिव। त्रिधा त्रिभिः प्रकारैर्मन्त्रब्राह्मणकल्पैरुरसि कण्ठे शिरसि वा बद्धो वृषभः सुखानामाविर्भावको रोरवीति ऋग्वेदादिना सवन-क्रमेण वा शब्दायते, महो महान् देवो गमनीयः प्रकाशको वा मर्त्यान् आविवेश तमनुष्ठायाभ्यस्य वा सुखिनो विद्वांसो भवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्। अध्याहाराणां निर्मूलत्वात्, अपसिद्धान्तापाताच्च। न च त्वया ब्राह्मणकल्पानु-सारेण यज्ञव्याख्यानं क्रियते, मन्त्राणामन्यथान्यथा नयनात्। यदि च ब्राह्मणानां कल्पानां चाश्रयणं कृतं स्यात् तदा सायणादिसम्मतमेव व्याख्यानं कुर्यात्। न च त्वया क्वचित् सवनत्रयोपेता यज्ञा उक्ताः, वायुशुद्ध्यादि-हेतुकत्वेन त्वदीये यज्ञे तदनुपयोगात्। न च क्वचित् प्रायणीयोदयनीयस्वरूपं त्वया निरूपितम्। कात्यायनादिसूत्राणि कल्पास्तु त्वया सर्वथोपेक्षिता एव। अकामेनापि निरुक्ताद्याश्रयेणात्र तथा व्याख्यातुं बाधितोऽभूदयम्।

तथा चाह यास्कः—'चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः। त्रयोऽस्य पादा इति सवनानि त्रीणि। द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये। सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि। त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैः। वृषभो रोरवीति रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिः। यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति। महोदेव इत्येष हि महान् देवो यद्यज्ञो मर्त्याँ आविवेशेत्येष हि मनुष्यानाविशति यजनाय' (नि० १३।७)। महाभाष्यकारः पतञ्जलिश्च—'चत्वारि शृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयोऽस्य पादास्त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः। द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्तहस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्, रोरवीति शब्दं करोति। कुत एतत्? रौतिः शब्दकर्मा। महोदेवो मर्त्याँ आविवेशेति महान् देवः शब्दो मर्त्यान् मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेश' इत्याह॥ ९१॥

त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन् ।
इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षुः ॥ ९२ ॥

मन्त्रार्थ—तीन प्रकार से लोकों में स्थापित, असुरों के द्वारा छिपाये हुये घृत को देवताओं ने क्रम से गायों में जाना । इसके एक भाग को इन्द्र ने प्रकट किया, दूसरे भाग को सूर्य ने प्रकट किया और यज्ञसाधनभूत तीसरे भाग को अग्नि से स्वधा के द्वारा ब्राह्मणों ने पाया ॥ ९२ ॥

यज्ञपरिणामभूतं यथा घृतं तथा त्रिधा निहितं स्थापितमेषु लोकेषु । पणिभिरसुरैर्गुह्यमानं गुप्यमानं सद् देवासो देवा गवि धेनौ अन्वविन्दन् आनुपूर्व्याल्लब्धवन्तः । यत्तस्य घृतस्य एको भागः, इन्द्रस्तमेकं भागं जजान जनयति, 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतस्ते अन्तरिक्षमाविशतस्ते' (श० ११।६।२।६) इत्यादिश्रुतिरिन्द्रस्य जनकत्वं दर्शयति । सूर्य एकं भागं जजान जनयति, 'तत उत्क्रामतः । ते दिवमाविशतः' (श० ११।६।२।६-७) इत्यादिश्रुतिः सूर्यस्य घृतभागजनकत्वं दर्शयति । वेनाद् यज्ञसाधनभूतादग्नेः, एकं भागं स्वधया अन्नेन आहुतिपरिणामभूतेन निष्टतक्षुर्निष्कर्षितवन्तो द्विजातयः । यस्ततः पुत्रो जायते स लोकप्रत्युत्थायीत्येतदुक्तं भवति, 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० उ० ५।३।३) इति श्रुतेः । यथा गवि दुग्धदधिनवनीतक्रमेण घृतमन्वविन्दन्, तथैव पणिभिर्गुह्यमानं यज्ञपरिणामभूतं त्रिधाहितं स्थापितमिन्द्र एकं सूर्य एकं जजान वेनादग्नेः स्वधयान्नेन एकं भागं निष्टतक्षुर्द्विजातयः ।

अध्यात्मपक्षे—देवा यथा गवि त्रिधा हितं स्थापितं घृतमन्वविन्दन्, तथैव लोकेषु त्रिधा स्थलसूक्ष्मकारणरूपेण हितं निहितं स्थितं ब्रह्म पणिभिर्मायामयैर्व्यवहारैर्गुह्यमानं देवासो दिव्याः साधका अनुविन्दन्ति । इन्द्रः कारणाभिमानी ईश्वर एकं भागं जनयति, सूक्ष्मप्रपञ्चाभिमानी हिरण्यगर्भः सूर्य एकं भागं जनयति, वेनादग्नेः स्थूलप्रपञ्चाभिमानिनोऽग्नेः स्वधयान्नेन सार्धमेकं भागं निष्टतक्षुर्विद्वांसः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा देवासः पणिभिर्व्यवहारज्ञैः स्तावकैर्वा त्रिधा त्रिभिः प्रकारैर्हितं स्थितं गवि वाचि गुह्यमानं रहसि स्थितं घृतं प्रदीप्तं विज्ञानमन्वविन्दन् लभन्ते, यदीन्द्रो विद्युद् एकं सूर्यः सविता एकं जजान जनयति, वेनाच्च कमनीयाद् मेधाविनः, 'वेन इति मेधाविनामसु' (नि० ३।१५।५), स्वधया स्वेन धारितया क्रियया एकं विज्ञानं निष्टतक्षुर्नितरां ततक्षुस्तनूकुर्युः, तथा यूयमप्याचरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, कस्यां वाचिकैस्त्रिभिः प्रकारैः कैः पणिभिर्विज्ञानं घृतमित्यस्याप्यस्पष्टत्वात् । किञ्च, देवा विद्वांसोऽभिप्रेयन्ते त्वया, विज्ञानमपि विद्यैव, तथा च विद्यावन्तो विद्या लभन्त इत्युक्तं भवति । तच्च समुद्रस्य जललाभवन्निरर्थकमेव । विज्ञानं चैतन्यं जडेषु न सम्भवति । त्वद्रीत्या विद्युतोऽग्नेः सूर्यस्य च जडत्वमर्वात कुतस्तेषां ज्ञानवत्त्वम् ? कुतस्तरां विज्ञानजनकत्वम् ? यदि विद्युदादिषु मेधावित्वं ततस्तेनैव तेषां चेतनत्वम् । मेधावित्वाभावे वा कथं विज्ञानजनकत्वम् ? स्वधापदस्य यदि स्वधारिता क्रियार्थः स्यात्, तदा गमिक्रियाकर्तृत्वेन देवदत्तादेरपि स्यादेव गोत्वम् ॥ ९२ ॥

एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे ।
घृतस्य धारा अभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम् ॥ ९३ ॥

मन्त्रार्थ—हृदय रूपी समुद्र से, अर्थात् श्रद्धा रूपी जल से अथवा देवताओं के यथावत् चिन्तन रूप समुद्र से अथवा निरुक्त आदि छः अंगों से पवित्र उस वेद रूपी सागर से अनेकों अर्थ वाली ये वाणियाँ निकलती हैं। घृत को

धाराओं के समान अविच्छिन्न रूप से उच्चारित ये वाणियां शत्रुरूप कुतार्किकों से खण्डित नहीं होतीं। इन वाणियों के मध्य में दीप्यमान अग्नियों को मैं सब ओर से देखता हूं ॥ ९३ ॥

या एता ऊर्मयो वाचः, अर्षन्ति उद्गच्छन्ति हृद्याद् हृदयरूपात् समुद्रात् श्रद्धोदकपरिप्लुताद् देवता-याथात्म्यचिन्तनसन्तानगर्भान्निगमनिरुक्तनिघण्टुव्याकरणशिक्षाच्छन्दोभिः पावनैः पूतादेता अर्षन्त्यः शतव्रजाः, व्रजनं व्रजो गतिः, शतं शतधा व्रजो यासां ता बहुगतयः, बह्वर्था इति यावत्। एता अर्षन्त्यः, रिपुणा कुतार्किक-शत्रुप्रसङ्गेन नावचक्षे नावचक्ष्यन्ते नापवदितुं खण्डयितुं शक्यन्ते। पुरुषवचनव्यत्ययः। ता घृतस्य धारा इव देवानां तृप्तिकराः। लुप्तोपमा। अहमभिचाकशीमि अहमिमाः पश्यामि अवगच्छामि वा। आसां वाचां मध्ये यो हिरण्ययो हिरण्मयो दीप्यमानो वेतसोऽग्निराहवनीयाख्यः, तं चाभिचाकशीमीति सम्बन्धः। अग्निर्हि वाचामधिष्ठात्री देवता। यद्वा घृतस्य धारा एवोच्यन्ते। या एता अर्षन्ति स्रवन्ति हृद्यात् समुद्राद् हृदयेन हि सङ्कल्प्य पश्चाद्यजन्ते, ता एवमुच्यन्ते शतव्रजा इति, बहुगतय इति यावत्। याश्चैता रिपुणा यज्ञपरिपन्थिना नावचक्षे नावद्रष्टुं शक्यन्ते, ता घृतस्य धाराः पश्यामि, यश्चायं हिरण्ययो वेतसोऽग्निराहवनीय आसां मध्ये स्थितस्तं च पश्यामि। याथात्म्येनाहं द्रव्यं देवतां च पश्यामि।

अध्यात्मपक्षे—एता वेदलक्षणाः स्तुतिलक्षणाश्च वाच ऊर्मय इव अर्षन्ति उद्गच्छन्ति, अग्नौ ब्रह्मण्येव पर्यवस्यन्तीत्यर्थः। कुतोऽर्षन्तीत्याह—हृद्याद् हृदि भवात् श्रद्धोदकसम्प्लुताद् ब्रह्मात्मयाथात्म्यचिन्तनसन्तानगर्भात् समुद्रान्निगमनिघण्टुनिरुक्तव्याकरणशिक्षाच्छन्दोभिरङ्गैः पावनैरुपबृंहितादर्षन्तीति सम्बन्धः। कीदृश्यो वाचः? शतव्रजा अनन्तगतयोऽनन्तार्था इति यावत्। याश्च रिपुणा कुतार्किकवृन्देन नावचक्षे नावचक्ष्यन्ते न खण्डयितुं शक्यन्ते, अपौरुषेयत्वेनापास्तसमस्तपुंदोषशङ्काकलङ्कपङ्कत्वात्। ता घृतस्य धारा इवाहमभिचाकशीमि। आसां वाचां मध्ये प्रतिपाद्यत्वेन स्थितो यो हिरण्ययो हिरणमयो दीप्यमानो वेतसोऽग्निर्ज्योतिर्मयः स्वप्रकाशप्रत्यक्-चैतन्याभिन्नः परमात्मा, तमप्यहं याथातथ्येन अभिचाकशीमि।

दयानन्दस्तु—'या रिपुणा नावचक्षेऽवख्यातव्या शतव्रजा शतं व्रजा मार्गा यासां ताः। एता वाचो हृद्याद् हृदये भवात् समुद्राद् अन्तरिक्षाद् अर्षन्ति निःसरन्ति, आसां वेदधर्मयुक्तवाणीनां मध्ये या अग्नौ घृतस्य धारा इव जनेषु पतिताः प्रकाशन्ते, ता हिरण्ययस्तेजःस्वरूपा वेतसः कमनीयोऽहमभिचाकशीमि सर्वतोऽनुशास्मि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारबाहुल्यात्, अग्नौ घृतस्य धारेव जनेषु पतिताः प्रकाशन्त इत्यस्य निर्मूलत्वाच्च, हिरण्ययः, वेतस इति प्रथमान्तपदयोरनुशासनकर्मत्वेनान्वयानुपपत्तेश्च ॥ ९३ ॥

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा इव क्षिपणोरीषमाणाः ॥ ९४ ॥

मन्त्रार्थ—शरीर के भीतर पावन स्थान मन के द्वारा पवित्र हुईं, शब्द दोष रहित ये वाणियां नदियों के प्रवाह के समान अविच्छिन्न रूप से भली प्रकार प्रकट होती हैं, ये अग्नि की ही स्तुति करती हैं। घृत की तरंगे स्रुक् से निकल कर जाती हुई अग्नि को तृप्त करती हैं, जैसे कि व्याध से डरकर मृग भागते हैं ॥ ९४ ॥

या धेना वाचः, 'धेना इति वाङ्नामसु' (निघ० १।११।३९), सरितो न नद्य इवानवच्छिन्नप्रवाहाः सम्यक् स्रवन्ति प्रसरन्ति। कीदृश्यो धेनाः? अन्तर्हृदा अन्तर्व्यवस्थितेन हृदयेन निगमनिरुक्तादिपावनस्थानीयेन शुद्धान्तःकरणेन च पूयमाना विविच्यमानाः शब्ददोषेभ्यः, ता अग्निमेव स्तुवन्तीति शेषः। ये चैतेऽर्षन्ति

द्रवन्त्यूर्मयो धाराः सञ्जाता घृतस्य स्रुक्परिभ्रष्टा गच्छन्ति, तेऽप्यग्निं तर्पयन्तीति शेषः। तत्र दृष्टान्तः—क्षिपणोः क्षिपति हिनस्तीति क्षिपणुर्व्याधः, तस्माद् ईषमाणाः पलायमाना मृगा इव व्याधाद् भीता मृगा इव ये घृतोर्मयो गच्छन्ति, तेऽग्निं तर्पयन्तीत्यर्थः। श्रुतिर्द्वयं च अग्न्यर्थमेवेत्युक्तं भवति।

अध्यात्मपक्षे—या धेना वाचः सरितो न अनवच्छिन्नोदकप्रवाहा नद्य इव सम्यक् स्रवन्ति प्रसरन्ति। कीदृश्यस्ताः ? अन्तर्हृदा शरीरान्तर्व्यवस्थितेन हृदा पावनमानसरोवरादिस्थानीयेन मनसा च पूयमानाः शब्दादिदोषेभ्यस्तितउनेव विविच्यमानास्तास्तमग्निरूपं परमात्मानमेव स्तुवन्तीति शेषः। ये चैते घृतस्य ऊर्मयः कल्लोलाः स्रुक्परिभ्रष्टा घृतस्य धारा अर्षन्ति, तेऽपि तमग्निं परमात्मानं तर्पयन्ति। तत्रैव दृष्टान्तः—क्षिपणोर्व्याधादीषमाणाः पलायमाना मृगा इव ये घृतोर्मयो गच्छन्ति, तेऽपि तमेव तर्पयन्तीत्यर्थः, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥' (कठो० १।२।१५) इति श्रुतेः। अत्र तपःपदं यज्ञादिपरम्। तपांसि यदर्थानीत्येतत्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, या अन्तर्हृदा शरीरान्तर्व्यवस्थितेन हृदा विषयहारकेण मनसा शुद्धान्तःकरणेन पूयमाना धेना वाचः सरितो न नद्य इव सम्यक् स्रवन्ति, ये चैते घृतस्योर्मयस्तरङ्गाः क्षिपणोर्हिंसकस्य भयाद् ईषमाणाः पलायमाना मृगा इव अर्षन्ति, तांश्च यूयं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनोपसंहारयोर्निर्मूलत्वात्, हृदेत्यस्य विषयहारकत्वार्थस्य चिन्त्यत्वात्, शुद्धान्तःकरणेनेति सम्बन्धानर्हत्वाच्च। नहि विषयाक्रान्तं मनः शुद्धं भवति। घृतस्य प्रकाशितस्य विज्ञानस्येत्यप्यपव्याख्यानमेव, ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वेन प्रकाशितत्वायोगात्॥ ९४॥

सिन्धो॑रिव प्राध्व॒ने शू॑घ॒नासो॒ वात॑प्रमियः पतयन्ति य॒ह्वाः।
घृ॒तस्य॒ धारा॑ अरु॒षो न वा॒जी काष्ठा॑ भि॒न्दन्नू॒र्मिभि॒ः पिन्व॑मानः॥ ९५॥

मन्त्रार्थ—घृत की बड़ी-बड़ी धाराएँ स्रुवे से वैसे ही गिरती हैं, जैसे कि नदी की शीघ्र गमन वाली, पवन से चलायमान तरंगे विषम स्थान में पड़ती हैं, जैसे कि संग्राम की दिशाओं को विदीर्ण करता हुआ, संग्रामभेदन के श्रम से निकले हुए पसीनों से पृथ्वी को सींचता हुआ क्रोधरहित उत्तम घोड़ा गमन करता है॥ ९५॥

या एताः सिन्धोर्नद्या इव प्राध्वने, प्रगतोऽध्वा प्राध्वा महोदकप्रपातः, तस्मिन् शूघनासः क्षिप्रं घनं गमनं येषां ते शूघनासः, निपातनाद् दीर्घः, 'मूर्तौ घनः' (पा० सू० ३।३।७७) इति निपातनाद् हनेर्घन इति रूपम्, 'शु इति क्षिप्रनामसु' (निघ० २।१५।१५), क्षिप्रगमनाः। वातप्रमियो वातेन प्रमीयन्त इति वातप्रमियस्तरङ्गाः, 'मीङ् हिंसायाम्' इति दैवादिकस्य। पतयन्ति स्वार्थे णिच् प्रपतन्ति। यह्वा महत्यः, 'यह्व इति महन्नामसु' (निघ० ३।३।१३)। स्रुङ्मुखात् परिभ्रष्टा घृतस्य धाराः पतन्तीरश्नात्यग्निः। क इवेत्याह—अरुषो न वाजी अक्रोधनो वाजी वेगवान् अश्व इव। पुनरप्यश्वं विशिनष्टि—काष्ठा भिन्दन् आज्यन्तान् संग्रामान्तप्रदेशान् विदारयन्, ऊर्मिभिः पिन्वमानः, आज्यन्ते विभेदनश्रमयोगाच्च स्वेदकोर्मिभिः पिन्वमानो भूमिं प्रसिञ्चन्। यथैतद्गुणविशिष्टोऽश्वोऽश्नाति, एवमग्निरप्यश्नाति। न तु हीनोपमानमग्नेरश्वो ज्यायांश्च। तत्र गुणोऽभिप्रेत इति परिष्कृतं यास्केन। स्रुक्परिभ्रष्टा घृतस्य धारा अग्निरश्नातीति शेषः। कथं घृतस्य धाराः स्रुङ्मुखात्पतन्तीति, तत्र दृष्टान्तः—सिन्धोरिवेत्यादि। यथा सिन्धोर्नद्याः प्राध्वने महोदकप्रपाते शूघनासः क्षिप्रगमनाः, यह्वा महत्यः, वातप्रमियस्तरङ्गाः पतन्ति, तद्वत्। क इवाश्नात्यग्निरित्याह—वाजी न वाजीव, यथा अक्रोधनो विशिष्ट-

गुणो वाजी संग्रामप्रदेशान् विदारयन् श्रमोत्थस्वेदोदकोर्मिभिर्भूमिं सिञ्चन्नन्नान्यश्नाति, तद्वदग्निर्घृतस्य स्रुङ्मुखात् पतन्तीर्धारा अश्नाति ।

महीधराचार्यरीत्या तु घृतस्य धाराः पतयन्ति स्रुङ्मुखात् पतन्ति, 'पत ऐश्वर्ये गतौ च' चुरादिरदन्तः । कीदृश्यो धाराः ? यह्वा महत्यः । तत्र दृष्टान्तद्वयम्—प्राध्वने सिन्धोर्वातप्रमिय इव । प्रगतोऽध्वनः प्राध्वनो विषमप्रदेशः । वातेन प्रमीयन्ते उत्थायोत्थाय विनश्यन्तीति वातप्रमियस्तरङ्गा विषमप्रदेशे यथा पतन्ति, तद्वद् घृतस्य धाराः स्रुङ्मुखात् पतन्ति । कीदृशाः ? वातप्रमियः शूघनासः शु क्षिप्रं घनं गमनं येषां ते शूघनासः, 'आज्जसेरसुक्' (पा० सू० ७।१।५०) । पुनः कीदृश्यो धाराः ? वाजी न वाजीव, यथा वाजी वेगवानश्वः पतति, तद्वत् । कीदृशो वाजी ? अरुषः 'रुष क्रोधे' अरुषोऽक्रोधनो जात्यादिभिरुत्कृष्टोऽश्वः काष्ठा आज्यान्तान् संग्रामान्तप्रदेशान् भिन्दन् विदारयन्, ऊर्मिभिः काष्ठाभेदनोत्थश्रमस्वेदोदकैः पिन्वमानो भूमिं सिञ्चन्, 'पिवि सेवने, सेचन इत्येके' । स वाजी यथा पतित्वा अन्नान्यश्नाति, एवं पतन्तीर्घृतधारा अग्निरश्नातीत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—भागवतानां यज्ञेऽग्निं भगवन्तमभिलक्ष्य घृतस्य यह्वा महत्यो धाराः स्रुङ्मुखात्पतयन्ति पतन्ति । कीदृश्यो धाराः पतन्ति, तत्राह—सिन्धोरिवेति । यथा सिन्धोर्नद्याः शूघनासः क्षिप्रगमना वातप्रमियस्तरङ्गाः प्राध्वने विषमप्रदेशे महोदकप्रपाते वा पतन्ति, तद्वत् । ताः पतन्तीर्महतीर्घृतस्य धारा अग्निः परमेश्वरोऽश्नाति । क इवेत्याह—वाजी न, न उपमार्थीयः, यथा वाजी अरुषोऽक्रोधनः काष्ठा भिन्दन्, 'काष्ठा इति संग्रामनामसु' (निघ० १।६।५), विदारयन् ऊर्मिभिः श्रमोत्थस्वेदोदकोर्मिभिर्भूमिं पिन्वमानः सिञ्चन् अन्नान्यश्नाति, तद्वत् । सर्वे भोगाः स्वसार्थक्याय भगवन्तमभिगच्छन्तीत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, प्राध्वने प्रकृष्टश्चासावध्वा च, तस्मिन् सिन्धोर्यथा शूघनासो वातप्रमियो वातेन प्रमातुं ज्ञातुं योग्या लहर्यः पतन्ति, यथा च काष्ठा भिन्दन् ऊर्मिभिः शत्रुभेदनोत्थश्रमस्वेदोदकैः पिन्वमानः, अरुषो य ऋच्छत्यध्वानं स वेगवानश्वः पतति, तथा यह्वा महत्यो घृतस्य विज्ञानस्य धारा वाचां प्रवाहा उपदेशकमुखात् श्रोतृश्रोत्रेषु पतन्ति वा, यूयं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वाते प्रमातुं योग्यमिति व्याख्यानासङ्गतेः, वातस्य प्रमातृत्वप्रमाणत्वानुपपत्तेः । नापि वातस्य लिङ्गत्वं सम्भवति, वाताभावेऽपि समुद्रोर्मिदर्शनात् । किञ्च, नहि प्रत्यक्षे लिङ्गापेक्षा सम्भवति, नहि प्रत्यक्षे करिणि चीत्कारेण हस्तिनमनुमिमतेऽनुमातारः, तथा चोर्मीनां प्रत्यक्षत्वेन तत्रानुमानानुत्थानम् । ऋच्छति यः सोऽरुष इत्यपि व्याख्यानं नोपपद्यते, वेगवानिति शब्देनैव गतिसिद्धेः । अन्यत्तु सायणाद्यनुकरणमेव ॥ ९५ ॥

अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम् ।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥ ९६ ॥

मन्त्रार्थ—घृत की धाराएँ समान मन वाली रूप यौवन सम्पन्न मुस्कुराती हुई स्त्रियों के समान अग्नि की ओर गमन करती हैं । वे धाराएँ अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये उसको व्याप्त कर लेती हैं । प्रज्ञासम्पन्न अग्निदेव प्रसन्न होकर उन धाराओं को स्वीकार करते हैं ॥ ९६ ॥

घृतस्य धाराः सङ्घाता अग्निं देवम् अभिप्रवन्त अग्निं प्रति आभिमुख्येन गच्छन्ति अभिनयन्ति प्रह्वीभवन्ति, 'प्रुङ् गतौ' इत्यस्माल्लङि अडभाव आर्षः । का इव ? समना समानं मनो यासां ताः, विभक्तेर्डादेशः, समानमनस्का अभिन्नहृदयाः, एकभर्तारं प्रति सङ्गतमनसो वा, कल्याण्यो रूपयौवनसम्पन्नाः स्मयमाना

ईषद्धसन्त्यो योषाः पत्न्यो यथा पतिं प्रति अभिप्रह्वा भवन्ति। ता धारास्तमेवाग्निं नसन्त हरन्ति, 'नस् कौटिल्ये' अत्र हरणे वृत्तिः। लङ् अडभाव आर्षः। यद्वा 'नसतिराप्नोतिकर्मा नमतिकर्मा वा', अग्निं व्याप्नुवन्ति, अभिनमन्ति वा। कथंभूता धाराः ? समिधः समिन्धते दीपयन्त्यग्निमिति तथोक्ताः। ता घृतस्य धारा जुषाणः प्रीत्या सेवमानो जातवेदा जातप्रज्ञानोऽग्निः, हर्यति प्राप्नोति, कामयते वा। 'हर्य गतिकान्त्योः' भौवादिकः। नास्य ग्रहणशक्तिपरिहरणमस्तीति भावः।

अध्यात्मपक्षे—'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च' (भ० गी० ९।२४), 'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्' (भ० गी० ५।२९) इति रीत्या घृतस्य धारा यज्ञियानि सर्वाणि हवींषि सर्वे च भोगास्तथैव भगवन्तमभिनमन्ति, यथा योषाः स्त्रियः समना अभिन्नहृदयाः कल्याण्यः स्मयमानाः पतिमभिनमन्ति, तथैव ता धारा अप्यग्निं परमात्मानं व्याप्नुवन्ति। कीदृश्यस्ताः ? समिधः समिन्धते तं दीपयन्ति शोभयन्ति। जातवेदाः सर्वज्ञः परमेश्वरो जुषाणः प्रीतियुक्तः सन् ता हर्यति कामयते, आप्तसमस्तकामोऽपि भक्तपराधीनत्वाद् भक्त्या समर्पितान् भक्तोपहारान् कामयते, अश्नाति च। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥' (भ० गी० ९।२६) इति वचनात्।

दयानन्दस्तु—'स्मयमानासः कल्याण्यः समनेव योषा याः समिधः शब्दार्थसम्बन्धैः सम्यग्दीपिता घृतस्य ज्ञानस्य धारा वाचोऽग्निमभिप्रवन्ते तेजस्विनं विद्वांसं नसन्त च, ता जुषाणो जातवेदा हर्यति कामयते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, घृतस्य ज्ञानस्य धारा वाच इत्यस्यासङ्गतेः॥ ९६॥

कन्या॑ इव वहतुमेत॒वा उ॑ अ॒ञ्ज्य॑ञ्जा॒ना अ॒भि चा॑कशीमि।
यत्र॒ सोमः॑ सू॒यते॒ यत्र॑ य॒ज्ञो घृ॒तस्य॒ धारा॑ अभि तत्प॑वन्ते॥ ९७॥

मन्त्रार्थ—जहां सोम का अभिषव होता है, जहां सौत्रामणी आदि यज्ञ होते हैं, वहीं घृत की धाराओं को जाते हुए मैं देखता हूं। ये घृत की धाराएँ उसी प्रकार अग्नि की तरफ बढ़ती हैं, जैसे कि सुन्दर रूप वाली ऋतुधर्म को प्रकट करती हुई कन्याएँ पति के समीप जाने को उद्यत होती हैं॥ ९७॥

या एताः कन्या इव नवपरिणीता इव। ता यथा वहतुं वहति परिणयतीति वहतुस्तं वोढारं भर्तारम् एतवै एतुम्, उ इति पादपूरणार्थः, 'इण् गतौ' तुमर्थे तवैप्रत्ययः, अभिपवन्ते अभिगच्छन्ति। कीदृश्यः कन्याः ? अञ्जि भगम् अञ्जाना व्यक्तं कुर्वाणाः। अज्यते व्यक्तीक्रियते स्त्रीपुंसव्यक्तिर्येन तद् अञ्जि। यथा नवपरिणीताः कन्याः पतिं गच्छन्ति, तथा घृतधारास्तत् तत्र गच्छन्ति। कुत्र गच्छन्तीति चेत्, यत्र स्थाने सोमो लताविशेषः सूयते अभिषूयते। यत्र च यज्ञः सौत्रामणिसंज्ञकः क्रियते, तत्रैव सङ्गच्छन्ति। यज्ञसहचरितास्ता घृतस्य धारा अभिचाकशीमि पश्यामीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—घृतस्य धारास्तत् तं भगवन्तमभिपवन्तेऽभिगच्छन्ति, यत्र यत्प्रसादनिमित्तं सोमो लताविशेषः सूयते। यत्र यदर्थं च तत्प्रसादनिमित्तं यज्ञस्तायते। का इव घृतधारास्तत्र गच्छन्ति ? तत्रोच्यते—कन्या इति। यथा कन्या नवपरिणीता वहतुं वोढारं भर्तारम् एतवै प्राप्तुं अञ्जि स्वव्यञ्जनमञ्जाना व्यक्तं कुर्वाणा गच्छन्ति, तद्वत्। अहं च यज्ञसहचरिता भोक्तृसहिता घृतधारा अभिचाकशीमि।

दयानन्दस्तु—'अञ्जि कमनीयं रूपं अञ्जाना ज्ञापयन्त्यो वहतुं भर्तारम् एतवै प्राप्तुम्, उ वितर्के, कन्या यत्र सोम ऐश्वर्यसमूहः सूयते उत्पद्यते, यत्र च यज्ञस्तद्यथा धारा अभिपवन्ते वा अहं अभिचाकशीमि' इति, तदपि

यत्किञ्चित्, सोमस्य ऐश्वर्यर्थकत्वे मानाभावात्। घृतस्य विज्ञानस्य धारा वाच इत्यपि निर्मूलम्, तथार्थस्याप्रसिद्धेः। अञ्जिपदं कमनीयरूपपरमित्यपि निर्मूलम्, प्रथमार्थत्यागे मानाभावात् ॥ ९७ ॥

अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त ।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ते ॥ ९८ ॥

मन्त्रार्थ—हे देवताओं! श्रेष्ठ स्तुतियों से सम्पन्न घृतयुक्त इस यज्ञ में आप लोग आवें। इस यज्ञ में मधुर स्वाद वाली घृत की धाराएं गिरती हैं। हमारे इस यज्ञ को आप लोग स्वर्ग में पहुंचावें और हमारे यहाँ कल्याण और धन की वर्षा करें॥ ९८ ॥

हे देवाः, यूयं सुष्टुतिं शोभनां स्तुतिं प्रति, आजिं यज्ञं च प्रति, अज्यते प्राप्यते स्वर्गो येन म आजिर्यज्ञः, अभ्यर्षत अभ्यागच्छत। एतां सुष्टुतिं शोभनां स्तुतिं प्रति आजिं यज्ञं च। अज्यते प्राप्यते स्वर्गोऽनेन स आजिर्यज्ञः। कीदृशमाजिम्? गव्यं गोविकारैर्घृतैर्जनितम्। यद्वा गव्यं घृतं विद्यते यस्मिन् तं घृतयुतं यज्ञम्, अर्शआद्यच्। अभ्यागत्य च अस्मासु भद्रा भद्राणि द्रविणानि धनानि धत्त स्थापयत, दत्त वा, 'डुधाञ् धारणपोषणयोः, दानेऽप्येके' इति वचनात्। हे देवाः, इमं यज्ञं तत्र नयत यत्रास्माकं देवता देवत्वम्, अर्थाद् अस्माभिर्यो देवलोको जितस्तत्र नयत। यद्वा नोऽस्माकमिमं यज्ञं सौत्रामणिं देवता देवतासु देवलोके नयत प्रापयत। देवताशब्दात् 'सुपां सुलुक्.....' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तिलोपः। याश्चैता घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते मधुररससंयुक्तं पवन्ते, ता अस्मज्जितं स्वर्गलोकं नयत, देवतासु वा प्रापयत। यज्ञे यज्ञद्रव्ये स्वर्गं गते यजमानोऽपि तत्र गमिष्यत्येवेति भावः।

अध्यात्मपक्षे—हे देवा भगवत्पार्षदाः, यूयम् एतां सुष्टुतिं शोभनां स्तुतिं भगवदाराधनलक्षणं गव्यम्, आजिं गोविकाराज्यनिष्पन्नमाजिं यज्ञमभिलक्ष्य आगच्छत। यद्वा अस्मासु भद्राणि द्रविणानि धनानि भगवदाराधनोपयोगीनि धत्त स्थापयत। इमं यज्ञं देवता परदेवतायां परमात्मनि नयत। याश्च घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते ताश्च देवतायां नयत।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रीपुरुषाः, यूयमुत्तमाचारेण सुष्टुतिं शोभनां प्रशंसामाजिं संग्रामं गव्यं वाचि भवं बोधं धेनौ वा भवं दुग्धादिकं च अभ्यवर्षत। देवता अस्मासु भद्राणि कल्याणकराणि द्रविणानि धत्त। इमं यज्ञं सङ्गन्तव्यं गृहाश्रमव्यवहारं नयत। या घृतस्य प्रदीप्तविज्ञानस्य धारा वाचो विदुषो मधुमत्पवन्ते, ता अस्मान्नयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, तादृशसम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। न च संग्रामप्राप्तिरभीष्टा भवति, प्रशंसाद्रविणादीनां रागप्राप्तत्वात्, तदुपदेशस्य निरर्थकत्वाच्च। न चाभिपूर्वस्यापि वर्षतेः प्राप्तिरर्थः सम्भवति, धात्वर्थविरोधात्। न च वेदेऽन्यमनुष्याधीना द्रविणप्राप्तिरुक्ता, तथाभिकाङ्क्षायाः पारतन्त्र्यावहत्वात्। स्वप्रयत्नेनैव धनान्युपार्जनीयानि, न तदर्थं मनुष्यान्तराणि प्रार्थनीयानि ॥ ९८ ॥

धामं ते विश्वं भुवनमधि श्रितमन्तः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि ।
अपामनीके समिथे य आभृतस्तमश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम् ॥ ९९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! आप समुद्र में, हृदय में तथा आयु में स्थित हैं, अर्थात् ब्रह्मा के जीवन पर्यन्त जितने प्राणीसमूह हैं, वे सब तुम्हारी विभूति का आश्रय लेकर स्थित हैं। जो घृत की तरंगे असुरों से युद्ध करके जल

के भीतर से लाई गई हैं, आपकी कृपा से उन रसयुक्त घृत-तरंगों को मैं भक्षण करूं, अर्थात् हमको देवभाव प्राप्त हो ।। ९९ ।।

आहुतिपरिणामभूतमिदं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगन्मन्यमानो मन्त्रद्रष्टा आह—हे अग्ने, ते धामन् तव विभूत्यां विश्वं सर्वं भुवनं भूतजातम् अधिश्रितं स्थितम्, यच्च अन्तःसमुद्रे समुद्रस्य मध्ये किञ्चिदस्ति, यच्च हृदि हृदयमध्ये किञ्चिदस्ति, यच्च आयुषि जीवने ब्रह्मणो जीवनपर्यन्तं यद्भूतजातमन्तः किञ्चिदपि धामनि तवाधिश्रितम्, यत एवमतस्त्वां ब्रवीमि मधुमन्तं रसवन्तं तमूर्मिं घृतकल्लोलं ते त्वदीयं वयमश्याम भक्षयामो व्याप्नुयामो वा, अश्नातेरश्नोतेर्वा विकरणव्यत्ययेन श्यनि लोटि रूपम् । तं कम् ? य ऊर्मिरपामनीके मुखे वर्तमान आभृत आहृतः समिथे संग्रामे च पणिभिः सह वर्तमानो य ऊर्मिराहृतः । तदुक्तम्—'त्रिधाहितं पणिभिर्गुह्यमानम्' इति मन्त्रवर्णे । हविःपरिणामिनो रसस्य भोक्तारो वयं भवेमेति भावः । वक्रोक्त्या देवत्वमेव प्रार्थ्यते । यद्वा हे अग्ने, इदं विश्वं भुवनं तव धाम धामनि अधिश्रितम् । तत्तं धाम कुत्र कुत्रेति तदुच्यते—अन्तःसमुद्रे अन्तरिक्षमध्ये सूर्यरूपेण, हृद्यन्तः सर्वप्राणिनां हृदये वैश्वनराग्निरूपेण, आयुषि अन्ने सर्वप्राणिनामाहारत्वेन, अपामनीके उदकानां संघाते वैद्युताग्निरूपेण, समिथे संग्रामे शौर्याग्निरूपेण । एवं सर्वेषु स्थानेषु, आभृतः स्थापितो यस्तव धामरूप ऊर्मिर्घृतरूप उदकरूपो वा, तं तव रसं मधुमन्तं माधुर्योपेतं वयमश्याम सर्वरसभोक्तारः स्यामेति महीधराचार्यः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, ते तव धाम्नि स्वरूपभूते तेजसि विश्वं सर्वं भुवनं भूतजातम् अधिश्रितम्, परमात्मन एव सर्वाधारत्वात् । यच्च अन्तःसमुद्रे समुद्रस्य मध्येऽन्तरिक्षे सूर्यरूपेण वा, यच्च हृदि प्रत्यक्चैतन्यरूपेण, यच्च अन्तरायुषि जीवने कृतं शुभाशुभं कर्म तत्सर्वं तव धाम्न्यधिश्रितम् । अपां कर्मणां तत्फलभूतानां लोकानां वा अनीके मुखे वर्तमानो य ऊर्मिरमृतकल्लोलः समिथे देवासुरसंग्रामाय आभृत आहृतः, तं ते त्वदीयं मधुमन्तमूर्मिं वयमश्याम । यद्वा अपां लोकानामनीके मुखे प्रमुखेऽधिष्ठाने समिथे सात्त्विकराजसवृत्तिसंघर्षे य ऊर्मिः परमानन्दरससंघात आभृतो विद्वद्भिरधिगतः, तं मधुमन्तं परमानन्दमयमूर्मिं वयं त्वत्कृपयाऽश्याम आस्वादयामः ।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश, यस्य ते धामन् अन्तः, विश्वं सर्वं भुवनं भवन्ति भूतानि यस्मिन् तत्, अधिश्रितम् । हे सभापते, ते अपां प्राणानाम् अन्तर्मध्ये हृदि हृदये आयुषि जीवहेतौ अपामनीके समिथे संग्रामे यः सम्भार आभृतः, तं मधुमन्तमिव वयमश्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्याप्यर्थस्य अस्पष्टत्वात् । नहि परमात्मनः स्वरूपस्य सर्वाधारत्वं सम्भवति, तस्य सच्चिदानन्दघनत्वेन निरवकाशत्वात् । सिद्धान्ते तु दर्पणे प्रतिबिम्बस्येव प्रपञ्चस्य तत्रैव स्थानम्, 'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतम्' इत्याप्तोक्तेः । नहि सभापतेः प्राणानां मध्ये कश्चित् सम्भारः सम्भृतः, निर्मूलत्वात् ।। ९९ ।।

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदवाजसनेयिसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां
सप्तदशोऽध्यायः समाप्तः ।।

अष्टादशोऽध्यायः

वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—सत्रहवें अध्याय में चिति आरोहण आदि के मन्त्र कहे गये हैं। अब अठारहवें अध्याय में वसोर्धारा आदि के मन्त्र कहे जायेंगे। प्रथम कण्डिका से उन्तीसवीं कण्डिका पर्यन्त मन्त्रों को पढ़ता हुआ यजमान बड़े स्रुवे में घृत लेकर निरन्तर धारापात से छोड़ता हुआ हवन करे, इसी को वसोर्धारा कहते हैं।

इस यज्ञ के फल से देवता मेरे निमित्त अन्न प्रदान करें और उसका भोजन बनाने की भी आज्ञा दें, मुझे अन्न-भक्षण की उत्कण्ठा भी प्रदान करें। मुझे श्रेष्ठ संकल्प, सुन्दर शब्द और स्तुति भी दें, मुझे वेद मन्त्रों के श्रवण की और ब्राह्मण भाग के श्रवण की शक्ति दें। मुझे प्रकाश और स्वर्ग भी प्रदान करें। मुझे ये सब वस्तुएँ यज्ञ के फल के रूप में प्राप्त हों ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन् सप्तदशेऽध्याये चित्यारोहणादिमन्त्रा उक्ताः, इदानीमत्राष्टादशेऽध्याये वसोर्धारिकाणि यजूंषि सप्तविंशतिकण्डिकाभिरुच्यन्ते। 'वसोर्धारां जुहोत्यौदुम्बर्या पञ्चगृहीतꣳ सन्ततं यजमानोऽरण्येऽन्यूच्येऽग्निप्राप्ते वाजश्च म इत्यष्टानुवाकेन' (का० श्रौ० १८।५।१)। ततो यजमान आज्यं संस्कृत्य अर्थपरिमाणया महत्यौदुम्बर्या स्रुचा महता स्रुवेण पञ्चवारं गृहीतमाज्यमरण्येऽनूच्ये पुराडाशेऽधिकरणं तदुपरि सन्ततमविच्छिन्नधारं यथा स्यात्तथा वसोर्धारासंज्ञामाहुतिं जुहोति। वृतेऽग्नि प्राप्ते सति वाजश्चेत्यादिहोममन्त्रारम्भः कार्योऽष्टाभिरनुवाकैर्वाजश्चेत्यादिवेट्स्वाहान्तैरेकोनत्रिंशत्कण्डिकात्मकैरिति सूत्रार्थः। अन्तिमकण्डिकाद्वयेन नामग्राहहोमः। वाजश्चेत्यादिचकाराः समुच्चयार्थाः। यज्ञेनानेन मया कृतेन वाजादयः पदार्थाः कल्पन्तां क्लृप्ताः सम्पन्ना भवन्तु। स यज्ञो वाजादीनां दाताऽस्मभ्यं भवत्वित्यर्थः, 'अथो इदं च मे देहीदं च मे' (श० ९।३।२।५) इति श्रुतेः। यद्वा वाजादयः पदार्था मे मम यज्ञेन कल्पन्ताम्। यज्ञेऽग्निं तर्पयन्तु, अभिषिञ्चन्तु वा, विभक्तिव्यत्ययः, 'अनेन च त्वा प्रीणामि, अनेन च त्वाभिषिञ्चामि' (श० ९।३।३।५) इत्यादिश्रुतेः। द्वौ द्वौ कामावनुपक्षयाय संयुञ्ज्याच्चकारेण कन्याकुमाराविव, तथा च श्रुतिः—'द्वौ द्वौ कामावभिरूपौ संयुनक्त्यव्यवच्छेदाय यथा व्योकसौ संयुञ्ज्यात्' (श० ९।३।२।६) इति। विगतमोको गृहं ययोः कुमारीकुमारयोः, तौ संयुञ्ज्यात् तयोर्विवाहं कारयेत्। एवं चकारेण समुच्चिनोति। यत एते सर्वे वाजादयः काम्यमानत्वात् कामाः, काम्यमानस्यैव वस्तुत्वात् तदेतत्सर्वं वाजादिकं वस्तुशब्देनोच्यते। तस्मात्तत्प्रतिपादकमन्त्रसाध्या एषा धारा वसुमयी भवति। लोके यथा क्षीरस्य सर्पिषो वा धारा क्रियते, तथैव प्रकृतेऽपि बोध्यम्। इदं च म इदं च म इति वाजश्च मे प्रसवश्च म इत्यनेन चानेन चेति वाजादयो निर्दिश्यन्ते। हे अग्ने, त्वामनेन प्रीणामि। त्वां वाजादिना अभिषिञ्चामि। इदं मे देहीदं मे देहीत्यर्थो मन्त्रैर्विवक्षितः।

अथ मन्त्रा व्याख्यायन्ते वाजश्चेत्यादीनां देवा ऋषयः, अग्निर्देवता, छन्दांसि पिङ्गलोक्तान्यक्षरसंख्यया प्रत्येतव्यानि। वाजोऽन्नम्। वक्ष्यमाणद्रव्यापेक्षया समुच्चयार्थाश्चकाराः। अन्नं च मे मह्यं देहि। प्रसवोऽन्नदानादिविषयाभ्यनुज्ञा दीयतां भुज्यतामिति। प्रसवं च मे मह्यं देहीति यजमानोऽग्नेः कामान् याचते। स च वाजो यज्ञेन

कल्पताम्, अनुष्ठीयमानेन यागेन कल्पन्तामिति समुदायापेक्षया बहुवचनम्। स्ववाक्यस्थेन कल्पतामित्यपि केचिद् वदन्ति। प्रयतिः शुद्धिः, प्रसितिः बन्धनम्, अन्नविषयमौत्सुक्यम्। यद्वा प्रयतनं प्रयतिराज्ञा प्रकृष्टगमनं वा। प्रसयनं प्रसितिः, 'षिञ् बन्धने' तन्तुर्जालं वा, तेनात्र बन्धनं स्नेह उच्यते। धीतिश्च मे क्रतुश्च मे। धीतिर्ध्यानम्, 'ध्यै चिन्तायाम्' सम्प्रसारणं छान्दसम्। क्रतुः सङ्कल्पो यज्ञो वा, संस्कारो वा। स्वरश्च मे श्लोकश्च मे। स्वरः साधुशब्दः, श्लोकः पद्यबन्धः, स्तुतिर्वा। श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे। श्रवो वेदमन्त्राः, श्रवणसामर्थ्यं वा। श्रुतिर्ब्राह्मणं श्रवणसामर्थ्यं वा। 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (नि० १०।४२) इति द्विरुक्तिः। ज्योतिश्च मे स्वश्च मे। ज्योतिः प्रकाशः, स्वः स्वर्गः। यद्वा स्वर उदात्तादिलक्षणः, श्लोकः श्लोक्यत इति श्लोकः कीर्तिः, प्रख्यास्यमानस्य आदरेण श्रवणं श्रुतिः, स्वरादित्यात्मकं ज्योतिः। एते मे मम यज्ञेन कल्पन्ताम्। मेपदानामावृत्तिः प्रत्येकं प्राप्त्यर्था।

अत्र एकाधिकानि चतुःशतानि यजूंषि, कामास्तु पञ्चदशोत्तरं शतम्। तद्यथा—'वाजश्च मे' इत्याद्यासु 'ज्यैष्ठ्यं च मे वसु च मे' इति चतुर्थीपञ्चदशीकण्डिकाद्वयवर्जितास्वेकोनविंशतिकण्डिकासु प्रतिकण्डिकं त्रयोदश यजूंषि। 'ज्यैष्ठ्यं च मे' इति चतुर्थ्यां कण्डिकायां पञ्चदश, 'वसु च मे' इति पञ्चदश्यां च नव यजूंषि। 'अग्निश्च मे घर्मश्च मे' इति द्वाविंश्यां कण्डिकायां द्वादश यजूंषि कामास्तु त्रयोदश। 'अङ्गुलयः शकरयो दिशश्च मे' इत्येकं यजुः कामाश्चात्र त्रयः। 'व्रतं च मे' इत्यस्यां त्रयोविंश्यां षड् यजूंषि कामास्तु दश। 'अहोरात्रे ऊर्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च मे' इत्येकं यजुः षट् कामाः। 'एका च' इत्यस्यां चतुर्विंश्यां त्रयस्त्रिंशद्यजूंषि। 'चतस्रश्च मे' इति पञ्चविंश्यां त्रयोविंशतिर्यजूंषि। 'त्र्यविश्च मे' इति षड्विंश्यामेकादश यजूंषि। 'पष्ठवाट् च मे' इति सप्तविंश्यां नव यजूंषि। 'वाजाय स्वाहा' इत्यष्टाविंश्यां चतुर्दश यजूंषि। 'आयुर्यज्ञेन' इत्येकोनत्रिंश्यां द्वाविंशतिर्यजूंषि। अत्र कल्पतामन्तानि १२, स्तोमश्चेति षट् ६, स्वर्देवा अगन्मा १, अमृता अभूम १, प्रजापतेः प्रजा अभूम १, वेट् स्वाहा १ इत्यस्यां कण्डिकायां द्वाविंशतिः। सम्भूय एकाधिकानि चतुःशतानि।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, वाजादयो मे यज्ञेन क्लृप्ता भवन्तु।

दयानन्दस्तु—'मे वाजश्च मे प्रसवश्च अन्नं विज्ञानादिकं प्रसवः ऐश्वर्यम् तत्साधनानि। प्रयतिः प्रयतते येन सः। प्रसितिः प्रबन्धश्च रक्षणम्। धीतिर्धारणा ध्यानम्। क्रतुः प्रज्ञा च उत्साहः। स्वरः स्वयं राजमानं स्वातन्त्र्यम्। श्लोकः प्रशंसिता शिक्षिता वाक् च वक्तृत्वम्। श्रवः श्रवणं च श्रावणं च। शृण्वन्ति सकला विद्या यया सा। सा च वेदाख्या च स्मृतिः। ज्योतिर्विद्याप्रकाशश्च अन्यस्मै विद्याप्रकाशनम्। स्वः सुखं च परमसुखम्। मे यज्ञेन पूजनीयेन परमेश्वरेण समर्था भवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, चकारार्थानां निर्मूलत्वात्। वाजपदेन विज्ञानादिग्रहणमपि निर्मूलमेव, उद्धृतशतपथश्रुतौ यज्ञापेक्षितानां पदार्थानामेव ग्रहणात्॥ १॥

प्राणश्च॑ मेऽपानश्च॑ मे व्यानश्च॒ मेऽसु॑श्च मे चि॒त्तं च॑ म॒ आधी॑तं च मे॒ वाक् च॑ मे॒ मन॑श्च मे॒ चक्षु॑श्च मे॒ श्रोत्रं॑ च मे॒ दक्ष॑श्च मे॒ बलं॑ च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम्॥ २॥

मन्त्रार्थ—देवगण मेरे निमित्त प्राणवायु, अपान वायु और सारे शरीर में विचरण करने वाले मनुष्यों को प्रवृत्त करने वाले वायु और मानस संकल्प को प्रदान करें। बाहरी ज्ञान और वाणी, शुद्ध मन, पवित्र दृष्टि और सुनने की सामर्थ्य प्रदान करें। ज्ञान की स्फूर्ति और बल ये सब यज्ञ के फल के रूप में मुझ प्राप्त हों॥ २॥

प्राण ऊर्ध्वसञ्चारी शरीरवायुः। अपानः अधोवृत्तिर्वायुः। व्यानः सर्वशरीरसञ्चरः। असुः प्रवृत्तिमान् वायुः। चित्तं मानसः सङ्कल्पः। आधीतं बाह्यविषयं ज्ञानम्। वाक् वागिन्द्रियम्। मनः सङ्कल्प-

विकल्पात्मकं प्रसिद्धम् । चक्षुः रूपदर्शनसाधनं करणम् । श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियम् । दक्षो ज्ञानेन्द्रियकौशलम् । बलं कर्मेन्द्रियकौशलम् । एतानि मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । यद्वा प्राणापानौ मम देहस्थितौ कल्पेताम् । असुर्जीवः, प्राणस्य जीवोपाधिकत्वात् । चित्तमन्तःकरणम् ॥ २ ॥

ओजश्च मे सहश्च म आत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मेऽङ्गानि च मेऽस्थीनि च मे परूᳬषि च मे शरीराणि च म आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥३॥

मन्त्रार्थ—बल का कारणभूत ओज धातु और देहबल, आत्मज्ञान, सुन्दर शरीर सुख और कवच, हृष्ट-पुष्ट अंग और मजबूत हड्डियाँ, मजबूत अंगुलियाँ, नीरोग शरीर, सुखमय और वृद्धावस्था पर्यन्त जीवन यह सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ ३ ॥

ओजो बलहेतुरष्टमो धातुः । सहः शारीरं बलम्, सपत्नाभिभवितृत्वं वा । आत्मा परमात्मा । सोऽपि प्राप्यतामित्यभिप्रायः । तनू रम्यं वपुः । शर्म सुखं शरणं वा । वर्म कवचम् । अङ्गानि हस्ताद्यवयवाः । अस्थीनि शरीरगतानि । परूंषि अङ्गुल्यादिपर्वाणि । शरीराणि पूर्वानुक्ताः शरीरावयवाः । आयुर्जीवनम् । जरा वार्धकान्तमायुः । एते यज्ञेन सम्पद्यन्ताम् । यद्वा—सहो वैरिविषयकोऽभिलाषः । तनूः सन्ध्यन्तर्गतानि शरीराणि । अस्थीनि शरीरेषु चत्वारि त्रिशतानि च । जरा वलीपलितत्वम् ॥ ३ ॥

ज्यैष्ठ्यं च म आधिपत्यं च मे मन्युश्च मे भामश्च मेऽमश्च मेऽम्भश्च मे जेमा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—यश और प्रभुता, दोषों पर कोप और अनुचित अपराध पर क्रोध, गंभीरता और पवित्र विचार, जीतने की शक्ति और प्रतिष्ठा, संतान की वृद्धि के साथ भवनों का विस्तार, दीर्घ जीवन और वंश परम्परा का विस्तार, धनधान्य और विद्या आदि गुणों की वृद्धि यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ ४ ॥

ज्येष्ठस्य भावो ज्यैष्ठ्यं प्रशस्तत्वम् । अधिपतेर्भाव आधिपत्यं स्वामित्वम् । मन्युः मानसः कोपः, 'नाराजी' इति लोके । भामः अधिक्षेपादिलिङ्गको बाह्यः कोपः । न मीयते इत्यमः, अपरिमेयत्वम्, अन्यैरियत्तया परिच्छेत्तुमशक्यत्वम् । अम्भः शीतलं मधुरं च जलम् । जेमा जयस्य भावो जयसामर्थ्यम् । महतो भावो महिमा । महत्त्वं च सम्पत्त्यादिना, स्वरूपेण, ऐश्वर्येण वा । उरोर्भावो वरिमा प्रजादिविशालता । पृथोर्भावः प्रथिमा गृहक्षेत्रादिविस्तारः । वृद्धस्य भावो वर्षिमा दीर्घजीवित्वम् । दीर्घस्य भावो द्राघिमा अविच्छिन्नवंशत्वम् । वृद्धं प्रभूतमन्नधनादि । वृद्धिः विद्यादिगुणैरुत्कर्षः । एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । यद्वा मन्युः प्रतापः । अमः अस्मच्छत्रूणां भङ्गो रोगो वा । वरिमा वरणीयत्वम् । द्राघिमा दीर्घकालभोगैश्वर्यं सम्पत्तिर्वा ॥ ४ ॥

सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—यथार्थ भाषण और परलोक पर विश्वास, गो आदि पशु तथा सुवर्ण आदि धन, स्थावर सम्पत्ति और कीर्ति, क्रीडा और उसका आनन्द, पुत्र, पौत्र, दौहित्र आदि सन्तान, शुभदायक ऋचाओं का समूह और उनका पाठ करने का सामर्थ्य—यह सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ ५ ॥

सत्यं यथार्थभाषित्वम्। श्रद्धा परलोकविश्वासः। जगद् जङ्गमं गवादि। धनं कनकादि। विश्वं स्थावरम्। महो दीप्तिः। क्रीडा अक्षद्यूतादिः। मोदः क्रीडादर्शनजो हर्षः। जातमुत्पन्नमपत्यादि। जनिष्यमाणं भविष्यदपत्यम्। सूक्तमृक्समूहः शोभनवचनं वा। सुकृतमृक्पाठजन्यं शुभादृष्टम्, शास्त्रीयकर्मजन्यमदृष्टं वा। एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

अध्यात्मपक्षे—श्रद्धा गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासः। धनं ज्ञानविज्ञानादिकम्। मोदः साधुदर्शनजन्यो हर्षः। जातं पूर्वसिद्धभगवद्दर्शनोपयोगि साधनम्। जनिष्यमाणं भविष्यत्तादृशं साधनम्। क्रीडा भगवत्क्रीडानुकरणम्, परस्परसंलापेन तत्समर्थनम्, भक्तजनेषु तत्ख्यापनम्, शास्त्राविरुद्धं मनोरञ्जनं वा।

दयानन्दस्तु—'सत्यधर्मोन्नतिकरणेन उपदेशाख्येन कल्पताम्' इत्याह। तच्च निर्मूलम्, श्रौतसूत्रब्राह्मणादिसमर्थितयज्ञविरुद्धत्वात् ॥ ५ ॥

ऋतं च॑ मे॒ऽमृतं॑ च मेऽयक्ष्मं च॒ मेऽना॑मयच्च मे जी॒वातु॑श्च मे दीर्घायु॒त्वं च॑ मेऽनमि॒त्रं च॒ मेऽभ॑यं च मे सु॒खं च॑ मे॒ शय॑नं च मे सू॒षाश्च॑ मे सु॒दिनं॑ च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ आदि कर्म और उनका स्वर्ग आदि फल, रोगों का नाश तथा व्याधियों का अभाव, आयु बढ़ाने वाले साधन और दीर्घायु, शत्रुओं का अभाव और निर्भयता, सुख और साज-सज्जा, संध्यावन्दन से युक्त सुप्रभात और यज्ञ-दान आदि से युक्त दिन—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ ६ ॥

ऋतं यज्ञादिकर्म। अमृतं तत्फलभूतं स्वर्गादि। यक्ष्मणो रोगराजस्याभावोऽयक्ष्मं धातुक्षयादिरोगाभावः। अनामयद् आमयति पीडयतीत्यामयत्, न आमयद् अनामयत्, सामान्यव्याध्यादिराहित्यम्। जीवयतीति जीवातुः, व्याधिनाशकमौषधम्। दीर्घायुषो भावो दीर्घायुत्वं बहुकालमायुः, पृषोदरादित्वात् सलोपः, आयुरुदन्तो वा। अमित्राणामभावोऽनमित्रं शत्रुराहित्यम्। भयाभावोऽभयं भीतिराहित्यम्। सुखमानन्दः। शयनं संस्कृता शय्या। सूषाः शोभन उषाः स्नानसन्ध्यादियुक्तः प्रातःकालः। सुदिनं यज्ञदानाध्ययनादियुक्तं सर्वं दिनम्। एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ६ ॥

य॒न्ता च॑ मे ध॒र्ता च॑ मे॒ क्षेम॑श्च मे॒ धृति॑श्च मे॒ विश्वं॑ च मे॒ मह॑श्च मे सं॒विच्च॑ मे ज्ञात्रं॑ च मे॒ सूश्च॑ मे प्र॒सूश्च॑ मे॒ सीरं॑ च मे॒ लय॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—गुरु आदि नियन्ता और प्रजापालन की शक्ति, वर्तमान धन की रक्षा तथा आपत्ति में चित्त की स्थिरता, सबकी अनुकूलता और पूजासत्कार, वेदशास्त्र आदि का ज्ञान और विज्ञान की शक्ति, आज्ञा देने की एवं पुत्र आदि उत्पन्न करने की सामर्थ्य, हल आदि के द्वारा अन्न की प्राप्ति और खेती के विघ्नों का नाश—यह सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ ७ ॥

यन्ताश्वादेर्नियन्ता । 'धर्ता पोषकः पित्रादिः । क्षेमो विद्यमानधनस्य रक्षणशक्तिः, प्राप्तस्य ज्ञान-भक्त्यादेर्वा रक्षणं क्षेमः । धृतिः धैर्यम्, आपत्स्वपि स्थिरचित्तत्वम् । विश्वं सर्वानुकूल्यम् । महः पूजा, ब्राह्मं तेजो वा । संविद् वेदशास्त्रादिज्ञानम्, ब्रह्मात्मकं ज्ञानं वा । ज्ञातुर्भावो ज्ञानं विज्ञानसामर्थ्यम् । सूः पुत्रादिप्रेरणसामर्थ्यम् । प्रसूः पुत्रोत्पत्त्यादिसामर्थ्यं माता वा । सीरं हलादिकृषिकृतधान्यनिष्पत्तिः । लयः कृषिप्रतिबन्धनिवृत्तिः । एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

अध्यात्मपक्षे—अत्र पक्षे पूर्वमेव दिक् प्रदर्शिता ।

दयानन्दरीत्या चकारेभ्यस्तत्तदभीष्टाः पदार्था गृह्यन्ते । यज्ञपदेनापि तत्तद्व्युत्पत्तिलभ्या अनेके पदार्थाः स्वेच्छया गृह्यन्ते । तत्रेदं वक्तव्यं यदिच्छाया अव्याहतप्रसरत्वाद् वैदिके व्याख्याने तस्यादरो नैव योग्यः, 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति शाबरभाष्यात् । क्वचिदयं महात्मा सुखमिति पदेन लौकिकं सुखं चकारेण च परमानन्दं गृह्णाति । अन्यत्र मय इत्यनेन ऐहिकसुखं गृह्णाति । क्वचिद् यत्र नान्योऽर्थः सम्भाव्यते, तत्र साधनं गृह्णाति । तत्सर्वं तस्य महात्मनोऽतिशाब्दन्यायं सर्वथा स्वातन्त्र्यमेव ॥ ७ ॥

शं च॑ मे॒ मय॑श्च मे प्रि॒यं च॑ मेऽनुका॒मश्च॑ मे॒ काम॑श्च मे सौमन॒सश्च॑ मे॒ भग॑श्च मे द्रवि॑णं च मे भ॒द्रं च॑ मे॒ श्रेय॑श्च मे॒ वसी॑यश्च मे॒ यश॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—शारीरिक सुख तथा परलोक का सुख, प्रीति-उत्पादक वस्तु तथा सहज यत्नसाध्य पदार्थ, विहित विषय भोग का सुख एवं मन को स्वस्थ करने वाले बान्धव, सौभाग्य तथा धन, इस लोक का और पर लोक का कल्याण, धन से भरा निवास योग्य गृह तथा यश—यह सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ ८ ॥

शम् ऐहिकं सुखम् । मय आमुष्मिकं सुखम् । अथवा शं मोक्षसुखम्, मयो यथोक्तमेव । लौकिकसुखं तु सुखशब्देनैवोक्तम् । प्रियं च प्रीतिकरं वस्तु । अनुकाम्यत इत्यनुकामः, अनुकूलयत्नसाध्यः पदार्थः । कामो विषयेन्द्रियसंयोगजन्यं सुखम् । सुमनसो भावः सौमनसः, मनःस्वास्थ्यकरो बन्धुवर्गः । भगः सौभाग्यम् । द्रविणं धनम् । भद्रम् ऐहिकं कल्याणम् । श्रेयः पारलौकिकं कल्याणम् । वसीयो वसतीति वस्तृ, अतिशयेन वस्तृ वसीयः, निवासयोग्यो धनधान्योपेतो गृहादिः, 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृचो लोपः । यशः कीर्तिः । एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । यद्वा अनुकामोऽनुकूलत्वनिमित्तं काम्यमानः पदार्थः । कामः शोभनेच्छा । सौमनसः स्वस्थान्तःकरणम् । भग ऐश्वर्यादि । एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ८ ॥

ऊर्क् च॑ मे सू॒नृता॑ च मे॒ पय॑श्च मे॒ रस॑श्च मे घृ॒तं च॑ मे॒ मधु॑ च मे॒ सग्धि॑श्च मे॒ सपी॑तिश्च मे कृ॒षिश्च॑ मे॒ वृष्टि॑श्च मे॒ जैत्रं॑ च म॒ औद्भि॑द्यं च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—अन्न, सच्ची और प्रिय वाणी, दूध तथा दूध का सार, घी और शहद, बान्धवों के साथ खान-पान, धान्य की सिद्धि एवं अन्न उत्पन्न होने के अनुकूल वर्षा, जय की शक्ति तथा आम आदि वृक्षों की उत्पत्ति—यह सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ ९ ॥

ऊर्क् अन्नम्, सूनृता प्रिया सत्या वाक् । पयो दुग्धम्, रसस्तत्रत्यः सारः । घृतमाज्यम्, मधु क्षौद्रम् । समाना ग्धिर्भोजनं सग्धिः, अदेः क्तिनि बाहुलकाद् घस्लादेशो 'घसिभसोर्हलि च' (पा० सू० ६।४।१००) इत्युपधा-

लोपे, 'झलो झलि' (पा० सू० ८।२।२६) इति सकारलोपे, 'झषस्तथोर्धोऽधः' (पा० सू० ८।२।४०) इति तकारस्य धकारे, 'झलां जश् झशि' (पा० सू० ८।४।५३) इति जश्त्वेन घकारस्य गकारे 'ग्धिः' इति रूपम्। सग्धिर्बन्धुभिः सह भोजनम्। सपीतिर्बन्धुभिः सह पानम्। कृषिस्तत्कृतधान्यादिसिद्धिः। वृष्टिर्धान्यनिष्पत्त्यनुकूला सन्तुलिता वृष्टिः, नातिवृष्टिर्न वा खण्डवृष्टिः। जेतुर्भावो जैत्रं जयसामर्थ्यम्। उद्भिदो भाव औद्भिद्यम् आम्रादितरूणामुत्पत्तिः। पृथिवीमुद्भिद्य जातानां भाव औद्भिद्यम्। यद्वा ऊर्क् रसो मधुरादयः षड्रसाः। कृषिर्व्यवसायः। जयसाधनं जैत्रम्। एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ९ ॥

र॒यिश्च॑ मे॒ राय॑श्च मे पु॒ष्टं च॑ मे॒ पुष्टि॑श्च मे वि॒भु च॑ मे प्र॒भु च॑ मे पू॒र्णं च॑ मे पू॒र्णत॑रं च मे॒ कुय॑वं च॒ मेऽक्षि॑तं च॒ मेऽन्नं॑ च॒ मेऽक्षु॑च्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—सुवर्ण तथा मौक्तिक आदि मणियाँ, धन की तथा शरीर की पुष्टि, व्यापकता की शक्ति एवं ऐश्वर्य, धन-पुत्र आदि की तथा हाथी-घोड़ा आदि की अधिकता, धान्य तथा अक्षय अन्न, भात आदि सिद्धान्न तथा भोजन पचाने की शक्ति भी यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हो ॥ १० ॥

रयिः सुवर्णादि। रायो मुक्तादिमणयः। पुष्टं धनपोषः। पुष्टिः शरीरपोषणम्। विभु व्याप्तिसामर्थ्यम्। प्रभु ऐश्वर्यम्। पूर्णं धनपुत्रादिबाहुल्यम्। अत्यन्तं पूर्णं पूर्णतरम्, गजतुरगादिबाहुल्यम्। कुयवं कुत्सितधान्यमपि। अक्षितं क्षयहीनं धान्यादि। अन्नमोदनादि। क्षुद् भुक्तान्नपरिपाक उद्दीप्तबुभुक्षा वा, तस्या अपि काम्यमानत्वात्, तामन्तरा भोजनबाहुल्यस्य नैरर्थक्यापातात्। यद्वा विभु समर्थम्। प्रभु प्रधानम्। पूर्णं सम्पूर्णम्। उत्तरोत्तराकाङ्क्षया पूर्णतरम्। अक्षुदिति पदच्छेदेन क्षुद्राहित्यम् ॥ १० ॥

वि॒त्तं च॑ मे॒ वेद्यं॑ च मे भू॒तं च॑ मे भवि॒ष्यच्च॑ मे सु॒गं च॑ मे सु॒पथ्यं॑ च॑ म ऋ॒द्धं च॑ म ऋ॒द्धिश्च मे क्लृ॒प्तं च॑ मे॒ क्लृप्ति॑श्च मे म॒तिश्च॑ मे सुम॒तिश्च॑ मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥११॥

मन्त्रार्थ—पूर्व प्राप्त धन की रक्षा तथा नूतन धन की प्राप्ति, पूर्व प्राप्त क्षेत्र आदि की रक्षा तथा भविष्य में भी क्षेत्र आदि की प्राप्ति, सुखगम्य देश और परम पथ्य पदार्थ, बड़े भारी यज्ञ का फल तथा यज्ञ आदि की समृद्धि, कार्यसाधक अपरिमित धन तथा कार्यसाधन की शक्ति, पदार्थ मात्र का तथा दुर्घट कार्यों का निर्णय करने की बुद्धि यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ ११ ॥

वित्तं पूर्वलब्धम्, 'विद्लृ लाभे'। वेद्यं लब्धव्यम्। भूतं पूर्वसिद्धं क्षेत्रादि, ज्ञानविज्ञानादिकं वा। भविष्यत् सम्पत्स्यमानं क्षेत्रादि ज्ञानादि वा। सुखेन गम्यते यत्र तत् सुगम्, सुखगम्यो देशः। 'सुदुरोरधिकरणे' (पा० सू० ३।२।४८, वा० ३) इति गमेर्डः। सुपथ्यं शोभनं हितम्। ऋद्धं समृद्धं यज्ञफलम्। ऋद्धिर्यज्ञादिसमृद्धिः। क्लृप्तं कार्यक्षमं द्रव्यादि। क्लृप्तिः स्वकार्यसामर्थ्यम्। मतिः पदार्थमात्रनिश्चयः। सुमतिर्दुर्घटकार्यादिषु निश्चयः। यद्वा सुपथ्यं जनयुक्तं ग्रामादियुक्तं चौरव्याघ्रकण्टकादिशून्यं मार्गं सुपथ्यम्। आरोग्यानुगुणभोजनादिकं पथ्यम्, सुष्ठु पथ्यं सुपथ्यम्, परमार्थभक्तिज्ञानवैराग्यादिसाधनानुगुणमाचरणं सुपथ्यम्। अनुष्ठितक्रतुफलमृद्धिः। अनुष्ठास्यमानसत्रफलं क्लृप्तम् ॥ ११ ॥

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—उत्कृष्ट कोटि के चावल और यव, उड़द और तिल, मूंग और चने, प्रियंगु और अणुधान्य, श्यामाक तथा नीवार, गेहूं और मसूर—ये सब भी यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ १२ ॥

व्रीहियवमाषतिलमुद्गगोधूममसूराः प्रसिद्धाः। व्रीहयः शाल्यादयः। खल्वाश्चणकाः। प्रियङ्गवः कङ्गवः प्रसिद्धाः। अणवश्चीनकाः। श्यामाकास्तृणधान्यानि ग्राम्याणि कोद्रवत्वेन प्रसिद्धानि। नीवारा आरण्यानि तृणधान्यानि। एते धान्यविशेषा मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १२ ॥

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १३॥

मन्त्रार्थ—सुन्दर पाषाण और श्रेष्ठ मृत्तिका, गोवर्धन आदि छोटे पर्वत तथा हिमालय आदि विशाल पहाड़, सुन्दर रेती तथा बिना फूल आये फलदायक वृक्ष, सुवर्ण तथा लोहा, तांबा, काँसा तथा फौलाद, शीशा तथा रांगा—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ १३ ॥

अश्मा पाषाणः। मृत्तिका प्रशस्ता मृत्, 'मृदस्तिकन्' (पा० सू० ५।४।३९) इति स्वार्थिकः कन्। गिरयः क्षुद्रपर्वता गोवर्धनार्बुदरैवतकादयः। पर्वता महान्तो विन्ध्य-मन्दर-हिमाचलादयः, सिकताः शर्कराः। वनस्पतयः पुष्पं विना फलवन्तः पनसोदुम्बरादयः। हिरण्यं सुवर्णं रजतं वा, 'स्यात् कोषश्च हिरण्यं च हेमरूप्ये कृताकृते' (अ० को० ३।९।९१) इति कोषात्। अयः कार्ष्णायसम्। श्यामं श्याममणिः कान्तिसारादि। लोहं ताम्रं रजतं कनकं वा, 'लोहोऽस्त्री शस्त्रके लौहे जोङ्गके सर्वतैजसे' (मेदिनी० १७५।८) इति कोषात्। सीसं प्रसिद्धम्। त्रपु रङ्गम्। एते यज्ञेन कार्यविशेषेषु मे कल्पन्ताम् ॥ १३ ॥

अग्निश्च म आपश्च मे वीरुधश्च म ओषधयश्च मे कृष्टपच्याश्च मेऽकृष्टपच्याश्च मे ग्राम्याश्च मे पशव आरण्याश्च मे वित्तं च मे वित्तिश्च मे भूतं च मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—पृथ्वी पर अग्नि की तथा अन्तरिक्ष में जल की अनुकूलता, छोटे-छोटे तृण तथा पकते ही सूखने वाली औषधियां, हल चलाकर उत्पन्न होने वाले तथा बिना हल जोते उत्पन्न होने वाले अन्न, गाय-भैंस आदि ग्राम्य पशु तथा हाथी आदि जंगली पशु, पूर्व लब्ध तथा भविष्य में प्राप्त होने वाला धन, विद्यमान पुत्र आदि तथा अपना उपार्जित किया हुआ धन यज्ञ के फल के रूप में मेरे पास सुरक्षित रहें ॥ १४ ॥

अग्निः पृथिवीच्छन्नोऽग्निः। आपो वर्षणोदकानि। वीरुधो गुल्माः। ओषधयः फलपाकान्ताः। कृष्टपच्याः हलादिना कृष्टे क्षेत्रे पच्यन्त इति कृष्टपच्याः, 'राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः' (पा० सू० ३।१।११४) इति क्यबन्तो निपातितः, भूमिकर्षणबीजवापादिकर्मनिष्पाद्या ओषधयो व्रीहियवाद्याः। तद्विपरीता अकृष्टपच्याः स्वयमेवोत्पद्यमाना नीवारगवेधुकादयः। ग्राम्या ग्रामे भवाः पशवो गोऽश्वमहिषाजाविगर्दभाश्वतरोष्ट्रादयः। आरण्या अरण्ये भवाः पशवो हस्तिसिंहशरभमृगगवयमर्कटादयः। वित्तं पूर्वलब्धम्। वित्तिर् भाविलाभः। भूतं जातपुत्रादिकम्, भूतिरैश्वर्यं स्वार्जितम्। एतानि मे यज्ञेन कल्पन्तां सम्पद्यन्ताम् ॥ १४ ॥

वसु॑ च मे वस॒तिश्च॑ मे॒ कर्म॑ च मे॒ शक्ति॑श्च॒ मेऽर्थ॑श्च म॒ एम॑श्च म इ॒त्या च॑ मे॒ गति॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—गो आदि धन तथा रहने के लिये सुन्दर घर, अग्निहोत्र आदि कर्म तथा उनके अनुष्ठान की शक्ति, इच्छित पदार्थ तथा प्राप्तियोग्य पदार्थ, इष्ट-प्राप्ति का उपाय एवं इष्ट-प्राप्ति—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ १५ ॥

वसु गवादिकं धनम्, निवाससाधनं वा। वसतिर्वासस्थानं गृहादिकम्। कर्म अग्निहोत्रादि। शक्तिस्तदनुष्ठानसामर्थ्यम्। अर्थोऽभिलषितः पदार्थः, मनुष्यवती भूमिर्वा, सर्वस्याप्यर्थ्यमानस्य व्रीहियवघृतदुग्धवस्त्रस्वर्णहीरकविविधमणिविविधपाषाणलोहेङ्गाल-पेट्रोल-डीजलादेस्तत्रैवान्तर्भावात्। एमः, ईयते इत्येमः प्राप्तव्योऽर्थः, एतेर्मन्प्रत्यय औणादिकः। इत्या अयनम् इष्टप्राप्त्युपायः, भावे क्यप्। गतिरिष्टप्राप्तिः परमा गतिर्वा। एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १५ ॥

अ॒ग्निश्च॑ म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ सोम॑श्च म॒ इन्द्र॑श्च मे सवि॒ता च॑ म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ सर॑स्वती च म इन्द्र॑श्च मे पू॒षा च॑ म॒ इन्द्र॑श्च मे॒ बृह॒स्पति॑श्च म॒ इन्द्र॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—अग्नि और इन्द्र, सोम तथा इन्द्र, सविता और इन्द्र, सरस्वती तथा इन्द्र, पूषा तथा इन्द्र, बृहस्पति और इन्द्र—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मेरे ऊपर प्रसन्न रहें ॥ १६ ॥

'अथार्धेन्द्राणि जुहोति' (श० ९।३।२।९)। अर्धस्य इन्द्रदेवत्यत्वादर्धस्य नानादेवत्यत्वादर्धेन्द्राणि यजूंषि। अग्नि-सोम-सवितृ-सरस्वती-पूष-बृहस्पतयः प्रसिद्धा देवताः, तैः समानभागित्वादिन्द्र एकैकया सह पठ्यते। तथा च ब्राह्मणम्—'अथार्धेन्द्राणि जुहोति। सर्वमेतद्यदर्धेन्द्राणि सर्वेणैवेनमेतत्प्रीणात्यथो सर्वेणैवेनमेतदभिषिञ्चति' (श० ९।३।२।९)। 'वाजश्च मे प्रसवश्च मे' (वा० सं० १८।१) इत्यारभ्य अष्टाभिरनुवाकैरेषा वसोर्धारा हूयते। तत्र एकस्मिन्ननुवाके 'अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे' इत्यादयो मन्त्राः समाम्नाताः। तत्र 'द्वौ द्वौ कामौ संयुनक्ति' (श० ९।३।२।६) इति वचनेन द्वयोर्द्वयोरवसानविधानात् प्रतिमन्त्रं 'इन्द्रश्च मे' इत्येतदर्धं भवति। अतस्ते मन्त्रा अर्धेन्द्रशब्देनोच्यन्ते। अतश्च 'अथार्धेन्द्राणि' (श० ९।३।२।९) इत्यनेन तन्मन्त्रसाध्यं होमं स्तोतुमनुवदति—अथार्धेन्द्राणीति। अर्धेन्द्राणीतिशब्दो मन्त्रवाक्यपरः। तद्वैशिष्ट्येन द्रव्यस्य होमादुपचारेणार्धेन्द्राणि जुहोतीत्युक्तम्। एवमुत्तरत्राप्यर्धेन्द्रमन्त्रकरणकान् होमान् कुर्यादित्यर्थः। सर्वाधिपतित्वेन सर्वस्येन्द्रसम्बन्धादर्धेन्द्राणामपि सर्वत्वात् तत्करणकहोमे कृते सर्वेणैवान्नेनेनमग्निं प्रीणात्यभिषिञ्चति चेत्याह—

सर्वमेतदिति। इन्द्रशब्दस्य यास्कोक्ता नानार्थाः कार्याः। एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। अथवा अग्निः सर्वज्ञोऽग्निः। इन्द्रः 'इदि परमैश्वर्ये' परमैश्वर्यवान्। सोमश्चन्द्रः, उमया सहितो रुद्रो वा सोमः। सविता प्राणिनां प्रसवकर्ता। सरस्वती वाणी। पुष्णातीति पूषा। बृहतां पतिर्बृहस्पतिर्देवगुरुः। तया तया देवतया युक्त इन्द्रो यज्ञेन कल्पताम् ॥ १६ ॥

मित्रश्चं म इन्द्रंश्च मे वरुणश्च म इन्द्रंश्च मे धाता चं म इन्द्रंश्च मे त्वष्टा च म इन्द्रंश्च मे मरुतंश्च म इन्द्रंश्च मे विश्वे च मे देवा इन्द्रंश्च मे यज्ञेनं कल्पन्ताम् ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—मित्र एवं इन्द्र देवता, वरुण तथा इन्द्र, धाता और इन्द्र, त्वष्टा तथा इन्द्र, मरुत् और इन्द्र, विश्वेदेव और इन्द्र—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मेरे ऊपर प्रसन्न रहें ॥ १७ ॥

मित्रः सूर्यः। वरुणः प्रचेताः। धाता जगद्धर्ता। त्वष्टा त्वक्षतीति त्वष्टा, 'त्वक्षू तनूकरणे', त्वष्टा नाम सूर्यः, शत्रुबलस्य तनूकरणात्। मरुत एकोनपञ्चाशत्संख्याकाः। विश्वे च मे देवा विश्वे देवगणाः। पूर्वोक्ता देवास्तैः सहिता इन्द्राश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १७ ॥

पृथिवी चं म इन्द्रंश्च मेऽन्तरिक्षं च म इन्द्रंश्च मे द्यौश्चं म इन्द्रंश्च मे समाश्च म इन्द्रंश्च मे नक्षत्राणि च म इन्द्रंश्च मे दिशश्च म इन्द्रंश्च मे यज्ञेनं कल्पन्ताम् ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—पृथ्वी और इन्द्र, अन्तरिक्ष एवं इन्द्र, स्वर्ग तथा इन्द्र, वर्ष की अधिष्ठात्री देवता तथा इन्द्र, नक्षत्र और इन्द्र, दिशाएं एवं इन्द्र—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मेरे ऊपर प्रसन्न रहें ॥ १८ ॥

प्रथनात् पृथिवी। अन्तरिक्षं भुवः स्थानम्। द्यौर्द्युलोकः। समाः संवत्सराः। नक्षत्राण्यश्विन्यादिसप्तविंशतिः। दिशः पूर्वादयः। एते मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। अत्र अष्टादशकृत्व इन्द्रशब्दः श्रुतः। इरां दृणातीति वा, इरामन्नं व्रीह्यादि दृणाति विदारयति वर्षक्लेदितमङ्कुरं बीजं भिनत्ति, तदिन्द्रकारितम्। सोऽयमिरादारिः सन् इन्द्र इति परोक्षेणोच्यते। इरां ददातीति वा, यो वर्षद्वारेण इरामन्नं ददाति सोऽयमिराद इन्द्रः। इरां दधातीति वा, रश्मिभिर्जलमाकृष्य मेघेषु धारयति सोऽयमिराध इन्द्रः। इरां दारयत इति वा मेघं विदार्य वर्षति सोऽयमिन्द्रः। इरां धारयत इति वा अवग्रहादिकारितान् दोषान् निरुध्य प्रजाभ्योऽन्नं धारयत इतीन्द्रः। इन्दवे द्रवतीति वा। इन्दुं सोमं पातुमसौ द्रवति झटित्यागच्छतीति इन्दुद्रव इन्द्रः। इन्दौ रमत इति वा, क्रीडत्ययं सोमे इतीन्द्रः। इन्धे भूतानीति वा। भूतानि ह्यसौ अन्नोत्पत्त्याधिदेवस्थोऽध्यात्मस्थो वा अभ्यवहारयन् विभजमानश्च दीपयति द्युतिमन्ति करोति, सोऽयमिन्ध इन्द्रः, 'तद्यदेनं प्राणैः समैन्धन् तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम्', समैन्धन् समदीपयन्नित्यर्थः। इन्द्र इदं सर्वमकरोदित्याग्रायणः, इदङ्कर इन्द्र इति यावत्। इदं दर्शनादित्यौपमन्यवः। इदं सर्वमसावद्राक्षीदित्यौपमन्यवः, इदंदर्शी इन्द्र इति यावत्। इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः। शत्रूणां दारयिता द्रावयिता वा। ईश्वरः सन् शत्रून् द्रावयति दारयति वा स इन्द्रः। आदरयिता वा यज्वनां स इन्द्र इति निरुक्त(१०।८)दिशा अन्येऽप्यर्था यथासम्भवमूहनीयाः ॥ १८ ॥

अंशुश्चं मे रश्मिश्च मेऽदाभ्यश्च मेऽधिपतिश्च म उपांशुश्चं मेऽन्तर्यामश्चं म ऐन्द्रवायवश्चं मे मैत्रावरुणश्चं म आश्विनश्चं मे प्रतिप्रस्थानंश्च मे शुक्रश्चं मे मन्थी चं मे यज्ञेनं कल्पन्ताम् ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—अंशु तथा रश्मि नामक ग्रह, अदाभ्य तथा निग्राह्य ग्रह, उपांशु तथा अन्तर्याम ग्रह, ऐन्द्रवायव तथा मैत्रावरुण ग्रह, आश्विन और प्रतिप्रस्थान ग्रह, शुक्र और मन्थि ग्रह—इन सबकी यज्ञ के फल के रूप में मुझे अनुकूलता प्राप्त हो ॥ १९ ॥

'अथ ग्रहान् जुहोति' (श० ९।३।२।१०) इतः कण्डिकात्रये ग्रहहोममन्त्राः। ग्रहाः सोमपात्राणि। अंश्वादयः सोमग्रहविशेषाः सोमप्रकरणे प्रसिद्धाः। अदाभ्यस्यैव गृह्यमाणत्वदशायां पृथक्कृत्य ग्रहणे रश्मिशब्देन निर्देशः, रश्मीनां तद्ग्रहणे साधनत्वात्, 'अह्नो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु' (वा० सं० ८।४८) इति मन्त्रलिङ्गात्। अधिपतिशब्देन निग्राह्यो विवक्षितः। तस्य ज्येष्ठत्वादाधिपत्यम्, 'ज्येष्ठो वा एष ग्रहाणाम्' इति श्रुतेः। प्रतिप्रस्थानशब्देनापि निग्राह्य एव विवक्षितः, द्विदेवत्यैः सह पाठात्। अन्ये प्रसिद्धाः। ऐन्द्रवायवादयो द्विदेवत्या ग्रहाः। शुक्रो मन्थी च। एते सर्वे मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १९ ॥

आग्रयणश्चं मे वैश्वदेवश्चं मे ध्रुवश्चं मे वैश्वानरश्चं म ऐन्द्राग्नश्चं मे महावैश्वदेवश्चं मे मरुत्वतीयाश्च मे निष्केवल्यश्च मे सावित्रश्चं मे सारस्वतश्चं मे पात्नीवतश्चं मे हारियोजनश्च मे यज्ञेनं कल्पन्ताम् ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—आग्रयण और वैश्वदेव, ध्रुव तथा वैश्वानर, ऐन्द्राग्नी तथा महावैश्वदेव, मरुत्वतीय और निष्केवल्य, सावित्र तथा सारस्वत, पात्नीवत एवं हारियोजन नामक ग्रहों की यज्ञ के फल के रूप में मुझे अनुकूलता प्राप्त हो ॥ २० ॥

आग्रयणो वैश्वदेवः प्रातःसवनगतः। महावैश्वदेवस्तु तृतीयसवनगतः। ध्रुवाख्यस्यैव ग्रहस्य श्रवणदशायां वैश्वानरसूक्तपाठात् तद्दशापन्नो ध्रुवो वैश्वानरशब्देनोच्यते। मरुत्वतीया इति बहुवचनं त्रित्वात्। मरुत्वतीयो महामरुत्वतीयः कुण्ठमरुत्वतीयश्चेति। अभिषेचनीये सारस्वतीनामपां ग्रहणमेव सारस्वतो ग्रहः, 'सारस्वतं ग्रहं गृह्णाति' इति तत्राम्नानात्। एते मे यज्ञेन निमित्तेन कल्पन्ताम् ॥ २० ॥

स्रुचश्च मे चमसाश्चं मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्चं मे ग्रावाणश्च मेऽधिषवणे च मे पूतभृच्चं म आधवनीयश्च मे वेदिश्च मे बर्हिश्चं मेऽवभृथश्चं मे स्वगाकारश्चं मे यज्ञेनं कल्पन्ताम् ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—जुहू तथा चमस, वायव्य पात्र एवं द्रोणकलश, ग्रावा और काष्ठफलक, सोमपात्र, पूतभृत् एवं आधवनीय, वेदी और कुशा, अवभृथ स्नान और संयुवाक् पात्र—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ २१ ॥

स्रुचो जुह्वादयः। चमसाश्चमसानि ग्रहपात्राणि। वायव्यानि पात्रविशेषाः। अधिषवणे काष्ठफलके। पूतभृदाधवनीयौ सोमपात्रविशेषौ। स्वगाकारः शम्युवाकः, तेन यथास्वं देवतानां हविरङ्गीकारात्। प्रसिद्धमन्यत्। एते मम यज्ञेन निमित्तेन कल्पन्ताम्। अत्र सोमधारका ग्रहास्त्रयस्त्रिंशत्, षट् च यथाकथञ्चनोपचारका इति विभागः। गृह्यन्ते सोमो येषु ते ग्रहाः, गृह्यन्ते वा सोमा एभिरिति ग्रहाः। अत्र ब्राह्मणम्—'अथ ग्रहान् जुहोति। यज्ञो वै ग्रहा यज्ञेनैवैनमेतदन्नेन प्रीणात्यथो यज्ञेनैवैनमेतदन्नेनाभिषिञ्चति' (श० ९।३।२।१०)। 'अंशुश्च मे रश्मिश्च मे' (वा० सं० १८।१९-२१) इत्यादयो मन्त्रा ग्रहप्रतिपादकत्वाद् ग्रहाः। तत्साध्यमपि होममनूद्य प्रशंसति—अथ ग्रहानिति। यज्ञो वै ग्रहा इति, यज्ञसाधनत्वाद् ग्रहाणां यज्ञत्वम्।

एतत्सर्वमविज्ञायैव स्वामिदयानन्दो यथेच्छं यत्किञ्चिज्जल्पितवान्। तद्यथा—अंशुर्व्याप्तिमान् सूर्यः। अदाभ्य उपक्षयरहितः। अन्तर्यामो योऽन्तर्मध्ये याति स वायुः। इन्द्रो विद्युद्वायुश्च। तयोरयं सम्बन्धी। एवमेव शुक्रो मन्थी। आग्रयणो मार्गशीर्षादिनिष्पन्नो यज्ञविशेषः। वैश्वदेवो विश्वेषां देवानां सम्बन्धी। ऐन्द्राग्न इन्द्रो वायुरग्निश्च विद्युत्, ताभ्यां निर्वृत्तः। मरुतां सम्बन्धिनो व्यवहारा मरुत्वतीयाः। निष्कैवल्यश्च नितरां केवलं सुखं यस्मिन्, तस्मिन् भवः। एवमादयो व्युत्पत्तिलभ्या अर्थास्तथैवोपस्थिता यथा व्याघ्रशब्दस्य केनचिच्छुष्क-वैयाकरणेन विशेषेण आसमन्ताज्जिघ्रतीति व्याघ्र इत्यर्थः कृतः। श्रुत्या स्पष्टमत्र ग्रहप्रतिपादकत्वादेषां मन्त्राणां ग्रहत्वमुक्तम्। ये ज्योतिष्टोमादिक्रतुवृत्तान्तानभिज्ञास्त एव तथाभूतमनर्गलं प्रलपन्ति। किमतोऽधिकं वच्मि ॥ २१ ॥

अ॒ग्निश्च॑ मे घ॒र्मश्च॑ मे॒ऽर्कश्च॑ मे॒ सूर्य॑श्च मे प्रा॒णश्च॑ मेऽश्वमे॒धश्च॑ मे पृथि॒वी च॒ मेऽदि॑तिश्च मे॒ दिति॑श्च मे॒ द्यौश्च॑ मे॒ऽङ्गुल॑यः शक्व॑रयो दिश॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—अग्निष्टोम और प्रवर्ग्य, पुरोडाश और सूर्य का चरु, प्राण और अश्वमेघ यज्ञ, पृथ्वी के साथ दिति और अदिति देवता, द्युलोक और विराट् पुरुष के अवयव, सब प्रकार की शक्ति और पूर्व आदि दिशाओं की अनुकूलता—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ २२ ॥

कण्डिकाद्वयेन यज्ञक्रतुहोमः, 'अथैतान् यज्ञक्रतून् जुहोत्यग्निश्च म इति' (श० ९।३।३।१) इति श्रुतेः। अग्निश्चीयमानो वह्निरग्निष्टोमो वा। घर्मः प्रवर्ग्यः। 'इन्द्रायार्कवते पुरोडाशम्' इति विहितो यागोऽर्कः। 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्' इति विहितः सूर्यः। प्राणो गवामयनं सत्रयागः। अश्वमेधः प्रसिद्धः। पृथिव्यदितिदितयो दिवो देवताविशेषाः। अङ्गुलयो विराट्पुरुषावयवाः। शकरयः शक्तयः। दिशः प्राच्याद्याः। एते यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २२ ॥

व्र॒तं च॑ म ऋ॒तव॑श्च मे॒ तप॑श्च मे संवत्स॒रश्च॑ मेऽहोरा॒त्रे ऊ॑र्वष्ठी॒वे बृ॑हद्रथन्त॒रे च॑ मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—व्रत तथा ऋतुएँ, तप तथा संवत्सर, दिन और रात, जंघा और जानु, बृहद् तथा रथन्तर साम—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥ २३ ॥

व्रतं नियमः। ऋतवो वसन्तादयः। तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि, अनशनं वा तपः, 'निवृत्त्या वर्तमानस्य तपो नानशनात् परम्' इत्युक्तेः, यद्वा 'मनसश्चेन्द्रियाणां च निग्रहः परमं तपः' इति स्मरणात्, अथवा

'ब्रह्मचर्यं जपो होमः काले शुद्धाल्पभोजनम्। अरागद्वेषलोभाश्च तप उक्तं स्वयम्भुवा ॥' (म० भा० ११।२४४।१) इति भारतवचनात्। संवत्सरः प्रभवादिः। अहोरात्रे अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रे दिवानिशे। ऊर्वष्ठीवे ऊरू च अष्ठीवन्तौ जानुनी च ऊर्वष्ठीवे अवयवविशेषौ, 'अचतुरविचतुरसुचतुर' (पा० सू० ५।४।७७) इत्यादिना निपातितः। बृहद्रथन्तरे एतन्नामके सामनी। एतानि मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैतान् यज्ञक्रतून् जुहोति। अग्निश्च मे घर्मश्च म इत्येतैरेवैनमेतद्यज्ञक्रतुभिः प्रीणात्यथो एतैरेवैनमेतद्यज्ञक्रतुभिरभिषिञ्चति' (श० ९।३।३।१)। पूर्ववद् यज्ञक्रतुमन्त्रसाध्यहोमं प्रशंसति—अथैतानिति। 'अग्निश्च मे घर्मश्च मे' (वा० सं० १८।२२-२३) इत्यादयो मन्त्रा यज्ञक्रतवः, तत्राग्न्यादिपदानां यज्ञक्रतुप्रतिपादकत्वात् ॥ २३ ॥

एका॑ च मे ति॒स्रश्च॑ मे ति॒स्रश्च॑ मे॒ पञ्च॑ च मे॒ पञ्च॑ च मे स॒प्त च॑ मे स॒प्त च॑ मे॒ नव॑ च मे॒ नव॑ च म॒ एका॑दश च म॒ एका॑दश च मे॒ त्रयो॑दश च मे॒ त्रयो॑दश च मे॒ पञ्च॑दश च मे॒ पञ्च॑दश च मे स॒प्तद॑श च मे स॒प्तद॑श च मे॒ नव॑दश च मे॒ नव॑दश च म॒ एक॑विꣳशतिश्च म॒ एक॑विꣳशतिश्च मे॒ त्रयो॑विꣳशतिश्च मे॒ त्रयो॑विꣳशतिश्च मे॒ पञ्च॑विꣳशतिश्च मे॒ पञ्च॑विꣳशतिश्च मे स॒प्तवि॑ꣳशतिश्च मे स॒प्तवि॑ꣳशतिश्च मे॒ नव॑विꣳशतिश्च मे॒ नव॑विꣳशतिश्च म॒ एक॑त्रिꣳशच्च म॒ एक॑त्रिꣳशच्च मे॒ त्रय॑स्त्रिꣳशच्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—मुझे एक और तीन, तीन तथा पांच, पांच एवं सात, सात तथा नौ, नौ और ग्यारह, ग्यारह और तेरह, तेरह और पन्द्रह, पन्द्रह एवं सत्रह, सत्रह तथा उन्नीस, उन्नीस और इक्कीस, इक्कीस तथा तेईस, तेईस एवं पच्चीस, पचीस तथा सत्ताईस, सत्ताईस तथा उन्तीस, उन्तीस और इकतीस, इकतीस एवं तेंतीस और फिर तेंतीस—इन सब संख्याओं से कहे जाने वाले संसार के सकल श्रेष्ठ पदार्थों को मुझे यज्ञ के फल के रूप में देवगण प्रदान करें ॥ २४ ॥

'अथायुजस्तोमान् जुहोति' (श० ९।३।३।२) इति श्रुतेरेकामादाय द्वितीयां विहाय तृतीयामादाय चतुर्थीं विहाय परित्यक्तसमसंख्याकेन आत्तविषमसंख्याकेन मन्त्रेण अयुग्मान् स्तोमान् जुहुयात्। आदरातिशयद्योतनाय सर्वत्र पुनरुक्तिः। अयुग्मस्तोमहोमैः सर्वकामावाप्तिः। 'एतद्वै देवाः सर्वान् कामानाप्त्वायुग्भिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमायंस्तथैवैतद् यजमानः सर्वान् कामानाप्त्वायुग्भिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमेति' (श० ९।३।३।२), 'तद्वै त्रयस्त्रिꣳशादिति। अन्तो वै त्रयस्त्रिꣳशोऽयुजाꣳस्तोमानामन्तत एव तद्देवाः स्वर्गं लोकमायंस्तथैवैतद्यजमानोऽन्तत एव स्वर्गं लोकमेति' (श० ९।३।३।३)। स्तोमाः सामविधानताण्ड्यादिनिर्दिष्टरीत्या मन्त्रविशेषाणां विन्यासविशेषा एव। ते च द्वेधा अयुजो युग्माश्च। 'स्तोमे डविधिः' (पा० सू० ५।१।५८, वा० १) इति त्रयस्त्रिंशच्छब्दाद् डप्रत्यये टिलोपे त्रयस्त्रिंश इति रूपम्। अयुजां स्तोमानां त्रयस्त्रिंशस्तोम एव अन्तिमो भवति, ततः परस्य अयुजस्तोमस्याभावात्। देवानामिव यजमानस्यापि त्रयस्त्रिंशपर्यन्तस्तोमहोमेन सर्वकामाप्तिपूर्वकमन्ततः स्वर्गलोकप्राप्तिः।

एतत्सर्वमविज्ञायैव दयानन्दोऽत्र संख्याविज्ञानं प्रतिपादयति। तच्चातीव तुच्छम्, आधुनिके प्रभूतप्रचलिते गणितशास्त्रे भागगुणादिनिरूपणस्य प्रारम्भिकरूपत्वात्। तत्र त्रयस्त्रिंशत्पर्यन्तमेवायुजाम्, अष्टाचत्वारिंशत्पर्यन्तमेव युग्मानां निर्देशो कारणानुक्तेश्च ॥ २४ ॥

चत॑स्रश्च मेऽष्टौ च॑ मेऽष्टौ च॑ मे द्वाद॑श च मे द्वाद॑श च मे षोड॑श च मे षोड॑श च मे विꣳ॒शतिश्च॑ मे विꣳ॒शतिश्च॑ मे चतु॑र्विꣳशतिश्च मे चतु॑र्विꣳ॒शतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मेऽष्टावि॑ꣳशतिश्च मे द्वात्रि॑ꣳशच्च मे द्वात्रि॑ꣳ॒शच्च मे षट्त्रि॑ꣳ॒शच्च मे षट्त्रि॑ꣳ॒शच्च मे चत्वारि॒ꣳ॒शच्च॑ मे चत्वारि॒ꣳ॒शच्च॑ मे चतु॑श्चत्वारिꣳ॒शच्च मे चतु॑श्चत्वारिꣳ॒शच्च मेऽष्टाच॑त्वारिꣳ॒शच्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—चार तथा आठ, आठ और बारह, बारह एवं सोलह, सोलह और बीस, बीस और चौबीस, चौबीस तथा अठाइस, अठाइस और बत्तीस, बत्तीस एवं छत्तीस, छत्तीस और चालीस, चालीस तथा चौवालीस, चौवालीस तथा अड़तालीस और फिर अड़तालीस—इन सब संख्याओं से कहे जाने वाले पदार्थ यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥२५॥

'अथ युग्मतो जुहोति। एतद्वै छन्दाꣳस्यब्रुवन् यातयामा वा अयुजस्तोमा युग्मभिर्वयꣳ स्तोमैः स्वर्गं लोकमयामेति तानि युग्मभिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमायंस्तथैवैतद्यजमानो युग्मभिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमेति' (श० ९।३।३।४)। 'चतस्रश्च मेऽष्टौ च मे' इत्यादयो मन्त्रा युग्मतः। तन्मन्त्रसाध्यं होमं प्रशंसति—अथेति। पूर्वं छन्दांसि अयुजः। 'स्तोमाः' इति सर्वत्र प्रयोगाद् यातयामाः, अतश्च युग्मभूतैः स्तोमैः स्वर्गं लोकं गमिष्याम इत्युक्त्वा तथैव अकुर्वन्। ततश्च युग्मतो होमेन तथैव यजमानोऽपि करोति। 'तद्वा अष्टाचत्वारिꣳशादिति' (श० ९।३।३।५) अत्रापि पूर्ववदवधि प्रशंसति—तद्वा अष्टाचत्वारिंशादिति। 'स आह। एका च मे तिस्रश्च मे चतस्रश्च मेऽष्टौ च म इति यथा वृक्षꣳ रोहन्नुत्तरामुत्तराꣳ शाखाꣳ समालम्भꣳ रोहेत्तादृक् तद् यद्वेव स्तोमान् जुहोत्यन्नं वै स्तोमा अन्नेनैवैनमेतदभिषिञ्चति' (श० ९।३।३।६)। उत्तरोत्तरस्तोमपरिग्रहे वृक्ष-शाखारोहणक्रमेण तानेव द्विविधान् स्तोमान् स्तौति—स आहेति। पुनस्तानेव स्तोमानन्नात्मना प्रशंसति—यद्वेव स्तोमानिति। अन्नसाधनत्वात् स्तोमानामन्नत्वम्। अत्रोक्ताः संख्याः संख्येयस्तोमनिष्ठाः। त एते यज्ञेन कल्पन्ता-मिति ॥२५॥

त्र्यवि॑श्च मे त्र्य॒वी च॑ मे दित्य॒वाट् च॑ मे दित्यौ॒ही च॑ मे पञ्चा॑विश्च॑ मे पञ्चा॒वी च॑ मे त्रिव॒त्सश्च॑ मे त्रिव॒त्सा च॑ मे तु॒र्य॒वाट् च॑ मे तु॒र्यौ॒ही च॑ मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—डेढ़ वर्ष का बछड़ा तथा डेढ़ वर्ष की ही बछिया, दो वर्ष का बछड़ा तथा दो वर्ष की ही बछिया, ढाई वर्ष का बैल तथा ढाई वर्ष की ही गाय, तीन वर्ष का बैल तथा तीन वर्ष की ही गाय—ये सब यज्ञ के फल के रूप में मुझे प्राप्त हों ॥२६॥

कण्डिकाद्वयं वयोहोमे विनियुक्तम्। 'अथ वयाꣳसि जुहोति। पशवो वै वयाꣳसि पशुभिरेवैनमेतदन्नेन प्रीणात्यथो पशुभिरेवैनमेतदन्नेनाभिषिञ्चति' (श० ९।३।३।७)। 'त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे' इत्यादयो मन्त्रा वयांसि। एकहायनप्रभृत्यापञ्चहायनात् पशवो वयांसीत्युच्यन्ते, तत्र तेषां प्रतिपादनात्। ततस्तन्मन्त्रसाध्यं होमं प्रशंसति—अथ वयांसीति। अविः षण्मासात्मकः कालः, षड्भिर्मासैस्तत्प्रसवात्। त्रयोऽवयवा यस्य स त्र्यविः सार्धसंवत्सरो

वृषः । तादृशी गौस्त्र्यवी । द्विसंवत्सरो वृषो दित्यवाट् । तादृशी गौर्दित्यौही । पञ्च अवयवा यस्य स पञ्चाविः सार्धद्विसंवत्सरो वृषः । तादृशी गौः पञ्चावी । त्रिवत्सः, वत्सो वत्सरः, त्रयो वत्सा यस्य स त्रिवत्सस्त्रिवर्षो वृषः । तादृशी गौस्त्रिवत्सा । तुर्यवाट्, तुर्यं चतुर्थं वर्षं वहतीति तुर्यवाट्, सार्धत्रिवर्षो वृषः । तादृशी गौस्तुर्यौही । एते यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २६ ॥

पृष्ठवाट् च मे पष्ठौही च म उक्षा च मे वशा च म ऋषभश्च मे वेहच्च मेऽनड्वांश्च मे धेनुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—चार वर्ष का बैल तथा चार वर्ष की गाय, सेचन में समर्थ वृषभ तथा वन्ध्या गाय, तरुण वृषभ तथा गर्भघातिनी गाय, बोझा उठाने में समर्थ बैल तथा नई ब्याई हुई गाय यज्ञ के फल के रूप में मुझे देवगण प्रदान करें । अर्थात् मैं सब प्रकार की गायों तथा बैलों का पालन करने वाला बनूँ ॥ २७ ॥

पष्ठवाट्, पष्ठं वर्षचतुष्कं वहतीति पष्ठवाट्, चतुर्वर्षवयस्को वृषः, तादृशी गौः पष्ठौही । उक्षा सेक्ता वृषः । वशा वन्ध्या गौः । अतियुवा वृष ऋषभः । वेहद् गर्भघातिनी गौः । अनड्वान्, अनः शकटं वहतीत्यनड्वान् शकटवहनक्षमो वृषः । अनसि वहेः 'क्विबनसो डश्च' इति प्रक्रियामाह श्रीस्वामी रामाश्रमः । अर्थाद् वहेः क्विपि सम्प्रसारणे उह् इति रूपम्, अनसः सकारस्य डकारः । अनड् उह् अनडुह् शब्दो निष्पन्नः । तस्य प्रथमैकवचनेऽनड्वानिति । धेनुः नवप्रसूता गौः । एते मम यज्ञेन निमित्तेन कल्पन्तां स्वव्यापारसमर्था भवन्तु । यद्वा एते मह्यमुपभोगक्षमा भवन्तु ॥ २७ ॥

वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाऽहर्पतये स्वाहाऽह्ने मुग्धाय स्वाहाऽमुग्धाय वैनꣳशिनाय स्वाहाविनꣳशिन आन्त्यायनाय स्वाहाऽन्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाऽधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा । इयं ते राण्मित्राय यन्ताऽसि यमन ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्याय ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—अधिक अन्न उत्पादक चैत्र मास के निमित्त यह श्रेष्ठ आहुति देता हूँ, वैशाख मास के निमित्त, जल क्रीड़ा में सुखदायक ज्येष्ठ मास के निमित्त, यागरूप आषाढ़ मास के निमित्त, चातुर्मास्य की यात्रा के निषेधक श्रावण के निमित्त, भाद्रपद मास के निमित्त, तुषार से मोहकारक आश्विन के निमित्त, थोड़ा घटने से विनाशी कार्तिक के निमित्त, विनाशरहित अन्त में स्थित विष्णुरूप मार्गशीर्ष के निमित्त, स्वरूप में होने वाले लोकों के पोषक पौष मास के निमित्त, सम्पूर्ण प्राणियों के पालक माघ मास के निमित्त, वर्षान्त के कारण अधिक पालक फाल्गुन मास के निमित्त, बारहों मासों के अधिष्ठात्री देवता प्रजापति के निमित्त यह श्रेष्ठ आहुति दी जाती है । हे प्रजापतिस्वरूप अग्निदेव ! यह यज्ञस्थान तुम्हारा राज्य है । अग्निष्टोम आदि कर्मों में सबके नियन्ता तुम मित्र के रूप में इस यजमान के प्रेरक हो, अधिक अन्न की प्राप्ति के लिये, वर्षा के लिये और प्रजाओं पर प्रभुता पाने के लिये मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूँ ॥ २८ ॥

'अथ नामग्राहं जुहोति । एतद्वै देवाः सर्वान् कामानाप्त्वाऽथैतमेव प्रत्यक्षमप्रीणंस्तथैवैतद्यजमानः सर्वान् कामानाप्त्वाऽथैतमेव प्रत्यक्षं प्रीणाति वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहेति नामान्यस्यैतानि नामग्राहमेवैनमेतत्प्रीणाति'

(श० ९।३।३।८)। 'त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे' इत्यादिमन्त्राणामवसाने केचन 'वाजाय स्वाहा' इत्यादयो मन्त्राः समाम्नाताः। तन्मन्त्रसाध्यं होमं प्रशंसति—अथेति। नामग्राहं जुहोति, नाम गृहीत्वा जुहुयादित्यर्थः। 'नाम्न्यादिशिग्रहोः' (पा० सू० ३।४।५८) इति नामशब्दे उपपदे ग्रहेर्णमुल्प्रत्ययः। वाजश्च मे प्रसवश्च म इत्यादिभिर्मन्त्रैः सर्वान् कामानाप्त्वा अथ तमेवाग्निं प्रत्यक्षमप्रीणन्, अतश्चैतेन तथैव यजमानोऽपि करोति। अत्र 'वाजाय स्वाहा' इत्यादिमन्त्रेषु चतुर्थ्या सम्प्रदानत्वप्रतीतेर्द्रव्यदेवतासम्बन्धः प्रत्यक्ष इति प्रत्यक्षमप्रीणन्नित्युक्तम्। न चैवं वाजश्च म इत्यादिषु द्रव्यदेवतासम्बन्धः प्रत्यक्षः, किन्तु प्रथमया निर्देशात् परोक्षः।

ननु कानि नामानि यानि गृहीत्वा होमः क्रियते ? तत्राह—वाजाय स्वाहेति। वाजोऽन्नं तस्मै स्वाहेति होममन्त्रः। वाजादीनि चैत्रादिमासानां नामानि। तन्नाम गृहीत्वा होतव्यमित्यर्थः। अन्नप्राचुर्याच्चैत्रोऽन्नरूपः। तस्मात् स वाजपदेनोच्यते। प्रसवाय अनुज्ञारूपाय। जलक्रीडादौ स्वच्छन्दमभ्यनुज्ञादानात् प्रसवो वैशाखः। अपिजाय, अप्सु जायत इत्यपिजः, शब्दस्वरूपप्राधान्यादेकवचनम्, छान्दसं वा। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (पा० सू० ६।३।१४) इति सप्तम्या अलुक्। जलक्रीडारतत्वादपिजो ज्येष्ठः। वैशाखे अभ्यनुज्ञामात्रम्, ज्येष्ठे तु तत्र रमणमिति विशेषः। क्रतवे यागरूपाय चातुर्मास्यादियागप्राचुर्यात् क्रतुराषाढः तस्मै। वसवे वासयतीति वसुः। चातुर्मास्ये यात्रानिषेधाद् वसुः श्रावणः, तस्मै। अहर्पतये अह्नां पतिरहर्पतिस्तस्मै दिनस्वामिने। 'रोऽसुपि' (पा० सू० ८।२।६९) इति सूत्रस्थेन 'अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः' इति वार्तिकेण रेफादेशः। तापकरत्वाद् भाद्रपदस्य अहर्पतित्वम्। मुग्धाय अह्ने मोहरूपाय दिवसाय। कन्यायां सवितरि हिमप्रादुर्भावाद् मुग्धमह आश्विनः, तस्मै। अमुग्धाय वैनंशिनाय, विनश्यतीति विनंशी, 'मस्जिनशोर्झलि' (पा० सू० ७।१।६०) इति बाहुलकादझल्यपि नशेर्नुमागमः, विनंशी एव वैनंशिनः, स्वार्थेऽण्। अल्पघटिकावत्त्वेन विनाशशीलाय कार्तिकाय अमुग्धाय स्नाननियमादिना पापनाशकत्वान्मोहनिवर्तकाय कार्तिकाय। अविनंशिने आन्त्यायनाय न विनश्यतीत्यविनंशी, तस्मै विनाशरहिताय, अन्ते सर्वेषां नाशे भवमन्त्यम्, अन्त्यं च तदयनं च इत्यन्त्यायनम्, तत्र भव आन्त्यायनः, तस्मै सर्वनाशेऽप्यवशिष्टाय, अत एवाविनंशिने विष्णुरूपाय मार्गशीर्षाय 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' (भ० गी० १०।३५) इति गीतोक्तेः। आन्त्याय भौवनाय। भुवनानामयं भौवनः, अन्ते स्वरूपे भव आन्त्यः, तस्मै। लोकस्वरूपपुष्टिकरत्वात् तत्र भवत्वम्। जाठराग्नेर्दीप्तिकरत्वात् पुष्टिकरत्वं पौषस्य। भुवनस्य पतये भुवनस्य भूतजातस्य पतये पालकाय माघाय स्वाहा। स्नानादिना पुण्यजनकत्वेन पालकत्वाद् माघस्य। अधिपतयेऽधिकपालकाय फाल्गुनाय, वर्षान्तत्वात्—इति काण्वसंहिताभाष्ये सायणः। तदुक्तिमनुसृत्य परिष्कृत्य च महीधराचार्यो वाजसनेयिसंहिताभाष्ये व्याख्यातवान्।

'नामान्यस्यैतानि नामग्राहमेवैनमेतत्प्रीणाति' (श० ९।३।३।८) इति श्रुत्या स्पष्टं विज्ञायते यत् संवत्सरात्मकस्याग्नेर्नामान्येव वाजादीनि। 'त्रयोदशैतानि नामानि भवन्ति। त्रयोदश मासाः संवत्सरस्त्रयोदशाग्नेश्चितिपुरीषाणि……' (श० ९।३।६।९) इति श्रुतेर्वाजादीनां चैत्रादिपरत्वव्याख्यानं युक्तमेव। प्रजापतये द्वादशमासाधिष्ठात्रे प्रजापतिनामकाय देवाय स्वाहेति होमार्थः सर्वत्र। हे अग्ने, इयं ते तव राड् इदं राज्यम्। यत्र यत्र यागाः क्रियन्ते, तत्र तत्र तवैव राज्यमित्यर्थः। किञ्च, हे अग्ने, त्वं मित्राय मित्रस्य सख्युर्यजमानस्य यन्ता नियामकोऽसि। षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। कीदृशस्त्वम् ? यमनः, यमयतीति यमनः, अग्निष्टोमादिकर्मसु सर्वान्नियमयन्। अत ऊर्जे विशिष्टान्नरसाय तथा वृष्ट्यै त्वा त्वामभिषिञ्चामीति शेषः। 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥' (म० ३।७६) इति स्मृतेः। ततः प्रजानामाधिपत्याय प्रजास्वामित्वाप्त्यै त्वामभिषिञ्चामि वसोर्धारया।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाह। इयं ते राण्मित्राय यन्तासि यमन ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्यायेत्यन्नं वा ऊर्गन्नं वृष्टिरन्नेनैवैनमेतत्प्रीणाति' (श० ९।३।३।१०)। 'इयं ते राट्' इति मन्त्रस्य प्रयोगं विधत्ते—

अथाहेति। मन्त्रे 'ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा' इति प्रयुज्यते। ऊर्क् इति साक्षादन्नमुच्यते। वृष्टिरन्नहेतुत्वादन्नम्, ऊर्जे वृष्ट्यै इत्यनेनान्नस्य प्रतीतेरन्नेनैव एनमग्निं प्रीणाति। 'यद्वेवाह। इयं ते राण्मित्राय यन्तासि यमन ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्यायेतीदं ते राज्यमभिषिक्तोऽसीत्येतन्मित्रस्य त्वं यन्तासि यमन ऊर्जे च नोऽसि वृष्ट्यै च नोऽसि प्रजानां च न आधिपत्यायासीत्युपब्रुवत एवैनमेतदस्मै नः सर्वस्मा अस्येतस्मै त्वा सर्वस्मा अभ्यषिञ्चामहीति तस्मादु हेदं मानुषꣳ राजानमभिषिक्तमुपब्रुवते' (श० ९।३।३।११)। मन्त्रं व्याख्यातुमनुवदति—यद्वेवेति। यतोऽभिषिक्तोऽसि, अत इदं राज्यं तवैवेत्युक्तं भवति। 'इयं ते' इत्यनेनाभिषिक्तत्वादेव त्वं मित्रस्य यन्तासि। किञ्च ? नोऽस्मत्सम्बन्धिनो यजमानस्य ऊर्जे नो यमनो नियन्ता। वृष्ट्यै च प्रजानामाधिपत्याय च नोऽसि, इत्येवप्रकारेण एनमुपब्रुवते स्तुत्या प्रोत्साहयन्ति।

तदयं मन्त्रस्यार्थः—हे अग्ने, त्वमभिषिक्तोऽसि, अतस्तवेदं राज्यं भवति। मित्राय मित्रस्य यजमानस्य यन्ता नियन्तासि। यजमानस्य ऊर्जे त्वामभ्यषिचामहि, वृष्ट्यै च त्वामभ्यषिचामहि, प्रजानामाधिपत्याय च त्वामभ्यषिचामहि। अतस्तस्य सर्वस्य यमनोऽसि। यत एवं देवानां राजानमग्निमुपब्रुवत इति।

एवमेवाध्यात्मपक्षेऽपीश्वरपरत्वेनायं मन्त्रो व्याख्यातव्यः। तस्यैव सर्वाग्रणीत्वेन सर्वपापदाहकत्वेन सर्वप्रकाशकत्वेन अग्नित्वम्। तन्निर्मितत्वात् तदायत्तत्वाच्च सर्वमिदं तस्यैव राज्यम्। स चोपासकं मित्रं सखायं मन्यते, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' (ऋ० सं० १।१६४।२०) इति मन्त्रवर्णात्।

दयानन्दस्तु—'यस्मिन् विदुषि वाजाय संग्रामाय स्वाहा सत्क्रियाप्रसवाय सन्तानोत्पत्तये परैश्वर्याय वा स्वाहा पुरुषार्थबलयुक्ता सत्या वाणी, अपिजाय ग्रहणकरणार्थाय स्वाहा उत्तमक्रिया' इत्यादिकं व्याख्यातवान्, तत्सर्वं यत्किञ्चित्प्रलापमात्रम्, श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वात्, निर्मूलत्वाच्च ॥ २८ ॥

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताꣳ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग् यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च। स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ के फल से मेरी आयु में वृद्धि हो, मेरे प्राण बलिष्ठ हों, नेत्रों की ज्योति बढ़े, श्रवण-शक्ति यथावत् बनी रहे, वाणी में मिठास भरा रहे, मन सदा स्वच्छ रहे, आत्मा बलवान् हो, सभी वेद मेरे ऊपर प्रसन्न रहें, परमात्मा की दिव्य ज्योति प्राप्त हो, स्वर्ग की प्राप्ति हो, संसार का सर्वश्रेष्ठ सुख प्राप्त हो, महायज्ञ करने की सामर्थ्य प्राप्त हो, बृहत्-पंचदश आदि स्तोम, यजुर्मन्त्र, ऋचाएँ, साम की गीतियाँ, बृहत्साम और रथन्तर साम ये सब यज्ञ के फल से मेरे ऊपर अनुग्रह करें। मैं इस यज्ञ के फल से देवभाव को प्राप्त कर स्वर्ग का लाभ करूँ, अमर हो जाऊँ। हिरण्यगर्भ की प्यारी सन्तान इन सब देवताओं को यह शुभ आहुति दी गई है। यह भली प्रकार गृहीत हो ॥ २९ ॥

आयुर्यज्ञेन कल्पतामित्यादिभिर्मन्त्रैः कल्पहोमः। तथा च ब्राह्मणम्—'अथ कल्पान् जुहोति। प्राणा वै कल्पाः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधात्यायुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतामित्येतानेवास्मिन्नेतत् क्लृप्तान् प्राणान्

दधाति'.(श० ९।३।३।१२)। क्लृपिधातुसाहित्येन मन्त्राणां कल्पशब्देनाभिधानम्। प्राणप्रतिपादकरूपत्वात् कल्पानां प्राणत्वमित्यभिप्रायेणोक्तम्—प्राणा वै कल्पा इति। एतानेवास्मिन्निति। एतानेव आयुरादीनेव कृत्स्नान् प्राणान् अस्मिन्नग्नौ निदधाति। 'द्वादश कल्पान् जुहोति। द्वादशमासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतत् क्लृप्तान् प्राणान् दधाति यद्वेव कल्पान् जुहोति प्राणा वै कल्पा अमृतमु वै प्राणा अमृतेनै-वैनमेतदभिषिञ्चति' (श० ९।३।३।१३)। कल्पहोमा द्वादश भवन्ति। अग्निश्च द्वादशमाससंवत्सरात्मकः, अतस्त-त्सम्मितेनैवाग्निं प्रीणातीत्याह—द्वादश कल्पानिति। प्राणसम्बन्धे मरणाभावात् प्राणा अमृतं खल्विति प्राणा-त्मकतायाः प्रशंसान्तरम्। यज्ञेन निमित्तेन आयुर्जीवनकालः कल्पतां साध्यताम्, प्राप्यतामिति यावत्। मम प्राणचक्षुःश्रोत्रवाङ्मनांसि यज्ञेन क्लृप्तानि भवन्तु, आत्मा देहः—'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठोप० १।३।४) इति श्रुतेः। ब्रह्मा वेदो यज्ञेन कल्पताम्। ज्योतिः स्वयंप्रकाशः परमात्मा यज्ञेन कल्पतां साध्यताम्, बुद्धिशुद्ध्यादिक्रमेण साक्षात्कृतो भवतु, यज्ञादिशुभकर्मणामनुष्ठानस्य ब्रह्मात्मसाक्षात्कार एव पर्यवसानात्, 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० उ० ४।४।२२) इति श्रुतेः, 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (भ० गी० ३।२०) इति स्मृतेश्च। स्वः स्वर्गो यज्ञेन कल्पताम्। पृष्ठं स्तोत्रं स्वर्गस्थानं वा यज्ञेन कल्पताम्। यज्ञोऽपि यज्ञेनैव कल्पतां यज्ञेनैव क्लृप्तो भवतु। नाहं यज्ञक्लृप्तौ समर्थः। तथा च मन्त्रवर्णः—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (वा० सं० ३१।१६) इति। स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च यज्ञेन क्लृप्तानि भवन्तु। स्तोमस्त्रिवृत्पञ्चदशादिः। यजुरनियतपादा मन्त्रः। ऋग् नियतपादा। साम गीतिप्रधानम्। बृहद्रथन्तरे सामविशेषौ। सर्वाण्येतानि यज्ञेन क्लृप्तानि सन्तु। वसोर्धारया एवमग्निमभिषिच्य स्वात्मानं यजमानः प्रशंसति—वयं यजमाना देवा भूत्वा स्वः स्वर्गम् अगन्म गतवन्तः, गत्वा च अमृता अभूम अमरधर्माणो जाताः। ततः प्रजापतेर्हिरण्यगर्भस्य प्रजा अभूमेति फलसम्पदुक्तिः। अनेन वसोर्धारायाः सर्वकामप्राप्तिहेतुत्वममृतत्वहेतुत्वं चोक्तं भवति। वेट् स्वाहेति वसोर्धाराहोमार्थो मन्त्रः।

तथा च ब्राह्मणम्—'अथाह। स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं चेति त्रयी हैषा विद्यान्नं वै त्रयी विद्यान्नेनैवैनमेतत्प्रीणात्यथो अन्नेनैवैनमेतदभिषिञ्चति स्वर्देवा अगन्माऽमृता अभूमेति स्वर्हि गच्छत्यमृतो हि भवति प्रजापतेः प्रजा अभूमेति प्रजापतेर्हि प्रजा भवति वेट् स्वाहेति वषट्कारो हैष परोक्षं यद्वेट्कारो वषट्कारेण वा वै स्वाहाकारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयते तदेनमेताभ्यामुभाभ्यां प्रीणाति वषट्कारेण च स्वाहाकारेण चाथो एताभ्यामेवैनमेतदुभाभ्यामभिषिञ्चत्यत्र ताꣳ स्रुचमनुप्रास्यति यदत्राज्यलिप्तं तन्नेद्बहिर्धाऽग्नेरसदिति (श० ९।३।३।१४)। त्रय्या विद्याया नानाविधफललक्षणस्यान्नस्य हेतोः कर्मणः प्रतिपादकत्वादन्नत्वम्। यतः सर्वा अपि प्रजाः प्रजापतिसम्बन्धिन्य इति व्याचष्टे—प्रजापतेरिति। स्पष्टमन्यत्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन्, मदीयायुरादीनि सर्वाणि यज्ञे आराधने त्वदीयाराधनोपयोगीनि भवन्तु। वयं भवत्प्रसादात् स्वो ब्रह्मात्मकं सुखमगन्म गतवन्तोऽमृताश्चाभूम, यतो वयं प्रजापतेः परमेश्वरस्य प्रजाः पुत्रा अभूम, 'अमृतस्य पुत्राः' (ऋ० सं० १०।१३।१) इति मन्त्रवर्णात्। सिंहशिशोः सिंहत्वमिव परमेश्वर-पुत्रस्य परमेश्वरत्वमेव ॥ २९ ॥

वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒वे मा॒तरं॑ म॒हीमदि॑तिं॒ नाम॒ वच॑सा करामहे।
यस्या॑मि॒दं विश्वं॒ भुव॑नमावि॒वेश॒ तस्यां॑ नो दे॒वः स॑वि॒ता धर्म॑ साविषत् ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—अन्न की अनुज्ञा में वर्तमान हम जगत् का निर्माण करने वाली, अदीन, पूजनीय, प्रसिद्ध जिस माता भूमि को वेदवाक्यों के द्वारा अनुकूल करते हैं, जिसमें यह सम्पूर्ण संसार प्रतिष्ठित है, उस भूमि में सबके प्रेरक प्रकाशात्मक परमात्मा हमारी धारणा को पुष्ट करें ॥ ३० ॥

'वाजप्रसवीयानि वप्रावत् सम्भृत्य चमसवत् स्रुवेण वाजपेयिकानि वाजस्येममिति' (का० श्रौ० १८।५।४), 'आग्निकानि च वाजस्य न्विति' (का० श्रौ० १८।५।५)। वप्रावद् अग्निक्षेत्रवपनवत् सर्वौषधमौदुम्बरे चमसे सम्भृत्य तस्मात् सर्वौषधात् चमसवत् स्रुवेणेत्यौदुम्बरेण चतुष्कोणपुष्करेण स्रुवेण 'वाजस्येमं प्रसव' इति सप्तभिर्मन्त्रैः (९।२३-२९) वाजपेयसम्बन्धीनि वाजप्रसवीयानि हुत्वा 'वाजस्य नु प्रसव' (९।३०-३६) इत्यादिभिः सप्तभिर्मन्त्रैः प्रतिमन्त्रमाग्निकानि तस्मादेव सर्वौषधात् तेनैव स्रुवेण जुहोतीति सूत्रार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथातो वाजप्रसवीयं जुहोति। अन्नं वै वाजोऽन्नप्रसवीयꣳ हास्यैतदन्नमेवास्मा एतेन प्रसौति' (श० ९।३।४।१)। वाजप्रसवीयहोमं विधाय तत्प्रयोजनकथनद्वारा तस्य पदस्य प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति—अथात इति। वाजप्रसवीयमिति कर्मनामधेयम्। वाजप्रसवीयं जुहोति वाजप्रसवीयाख्यं होमं कुर्यादित्यर्थः। वाजशब्देनान्नस्याभिधानादस्याग्नेरर्थे क्रियमाणमेतत्कर्म अन्नप्रसवीयम्। ततश्चैतेन कर्मणा अस्मा अग्नये सर्वमप्यन्नं प्रसौति, अनुजानाति। सर्वस्याप्यन्नस्य स्वामिनं करोतीत्यर्थः। 'सर्वौषधं भवति। सर्वमेतदन्नं यत्सर्वौषधꣳ सर्वेणैवैनमेतदन्नेन प्रीणात्यथो सर्वेणैवैनमेतदन्नेनाभिषिञ्चति तेषामेकमन्नमुद्धरेत्तस्य नाश्नीयाद्यावज्जीवमौदुम्बरेण चमसेनौदुम्बरेण स्रुवेण तयोरुक्तो बन्धुश्चतुःस्रक्ती भवतश्चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवैनमेतद्दिग्भ्योऽन्नेन प्रीणात्यथो सर्वाभ्य एवैनमेतद्दिग्भ्योऽन्नेनाभिषिञ्चति' (श० ९।३।४।४)। अत्र सर्वौषधय इति सप्त ग्राम्याः सप्तारण्याः परिगृह्यन्ते। ताश्चितिस्थले बीजवापावसरेऽभिहिताः। लोके यत्किञ्चिद्वस्तु तद् ग्राममारण्यं वा भवति। अतः सर्वमेतदन्नमित्युक्तम्। एतेन सर्वौषधसम्पादितेन होमेन एनमग्निं सर्वेणैवान्नेन प्रीणात्यभिषिञ्चति च। तेषां चतुर्दशानामन्नानां मध्ये किमप्येकमन्नं परित्यजेत्, तदन्नं यावज्जीवं नाश्नीयात्। तत्र पात्रविशेषं विधत्ते—औदुम्बरेण चमसेन औदुम्बरेण स्रुवेणेति। अत्र स्रुवेणैव वाजप्रसवीयो होमः क्रियते, न तु चमसेन। अथ पुनः सम्पातावनयनार्थमभिषेकार्थं च औदुम्बरचमसप्रयोगः।

नवमेऽध्याये पञ्चमकण्डिकायामियमृग् व्याख्याता। वाजस्य अन्नस्य विराड्रूपस्य प्रसवेऽनुज्ञायां वर्तमाना वयं यां महीं भूमिं नाम प्रसिद्धं यथा स्यात्तथा वचसा वेदवाक्येन एवंविधामनुकूलां करामहे कृतवन्तः। कीदृशीं भूमिम्? मातरं जगन्निर्मात्रीम्। महीं महतीं महनीयाम्। अदितिमखण्डिताम्। इदं विश्वं भुवनं सर्वं भूतजातं यस्यां भूमावाविवेश। सविता देवस्तस्यां भूमौ नोऽस्माकं धर्मधारणमवस्थानं साविषत् प्रसुवतां प्रेरयतु। शेषव्याख्यानं तत्रैव (९।५) स्थलेऽवलोकनीयम् ॥ ३० ॥

विश्वे॑ अ॒द्य म॒रुतो॒ विश्व॑ ऊ॒ती विश्वे॑ भवन्त्व॒ग्नयः॒ समि॑द्धाः।
विश्वे॑ नो दे॒वा अव॒साग॑मन्तु॒ विश्व॑मस्तु॒ द्रवि॑ण॒ं वाजो॑ अ॒स्मे ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—आज इस यज्ञ में सभी मरुद्गण देवता आवें, सम्पूर्ण रुद्र, आदित्य आदि गणदेवता यहां आवें। ये सभी देवता हमारी दी हुई हवि को प्रेमपूर्वक ग्रहण करें। गार्हपत्य आदि सब अग्नियाँ प्रदीप्त हों। गो, भू, सुवर्ण आदि सम्पूर्ण धन और अन्न हमें प्राप्त हों ॥ ३१ ॥

लुशोधानाकदृष्टा वैश्वदेवी त्रिष्टुप्। अद्य अस्मिन् दिवसे विश्वे सर्वे मरुतः सप्तसप्तका आगमन्तु, आगच्छन्तु। 'इषुगमियमां छः' (पा० सू० ७।३।७७) इति प्राप्तछत्वस्याभावे रूपम्। विश्वे अन्ये च सर्वे गणदेवा वसवो रुद्रा आदित्याश्च ऊती ऊत्या, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति पूर्वसवर्णः, अनेन तर्पणेन निमित्तभूतेन आगमन्तु। विश्वेदेवा गणदेवताश्च नोऽस्माकमवसा अन्नेन हविषा निमित्तेन हविर्ग्रहणाय आगमन्तु।

तदागमनेन च विश्वे सर्वेऽग्नयो गार्हपत्यादयः समिद्धाः सम्यग् दीप्ता भवन्तु, तदर्थं होमेनेति यावत्। तेषां देवानां तुष्ट्या विश्वं सर्वं द्रविणं धनं गोभूहिरण्यादिकं वाजोऽन्नं च अस्मे अस्माकम् अस्तु। विभक्तेः 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इत्यनेन शे आदेशः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मभूतो भगवानेवात्र मरुदादिरूपेणापि स्तूयते।

दयानन्दस्तु—'अस्यां पृथिव्यामद्य विश्वे मरुतो विश्वे प्राणिनः पदार्थाश्च विश्वे समिद्धा अग्नय इव ऊती ऊत्या रक्षणादिना सह भवन्तु। विश्वे देवा अवसा गमन्तु। यतोऽस्मे विश्वं द्रविणं वाजश्चास्तु' इति, तदेतत्सर्वमसङ्गतमेव, मनुष्येभ्यः प्रार्थनीयाभीष्टसिद्धेरसम्भवात्। नह्यल्पशक्तयो विद्वांसोऽपि मनुष्या सर्वमनुष्याणां वाञ्छाः पूरयितुं समर्थाः। गौणार्थाश्रयणं च निर्मूलमेव ॥ ३१ ॥

वाजो॑ नः स॒प्त प्र॒दिश॒श्चत॑स्रो वा परा॒वतः॑।

वाजो॑ नो॒ विश्वै॑र्दे॒वैर्धन॑साताविहाव॑तु ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ में हमारे द्वारा दिया गया अन्न सातों दिशाओं को, अर्थात् भू आदि तीन लोक और पूर्व आदि चार दिशाओं को तथा बहुत दूर स्थित महः आदि चार लोकों को परिपूर्ण कर दे। इस लोक में धन-विभाग का समय आने पर यह अन्न सम्पूर्ण देवताओं के साथ हमारी रक्षा करे ॥ ३२ ॥

तिस्रोऽन्नदेवत्याः। तत्र आद्यानुष्टुप्, द्वे त्रिष्टुभौ। नोऽस्माकं वाजोऽन्नं सप्त प्रदिशः—चतस्रो दिशः प्राच्याद्याः प्रकृष्टाश्च त्रयो भूरादयो लोका एते सप्त प्रदिश उक्ताः। चतस्रो वा परावतः। परावच्छब्दो दूरवचनः। महर्जनस्तपः सत्यमित्येते चत्वारो दूरस्था लोकाः। महरादयो हि लोकत्रयमतीत्य वर्तन्ते। तान् सर्वान् वाजः पूरयत्विति। किञ्च, वाजो नोऽस्मान् विश्वैर्देवैः सह धनसातौ धनसम्भजनकाले प्राप्ते। इह यज्ञे इह वा लोके। वाजोऽन्नं नोऽस्मान् विश्वैर्देवैः सह अवतु पालयतु। यद्वा नोऽस्माकं वाजोऽन्नं भूरादिलोकत्रयं प्राच्यादिचतुष्कं चेति सप्त प्रदिशः पूरयतु। परावतो दूरस्थाश्च पूरयतु। अर्थाद् महरादयः सत्यान्ताश्च प्रदिशः पूरयतु, अस्मद्दत्तेनान्नेन सप्त लोका दिक्चतुष्टयं च तृप्यन्त्वित्यर्थः।

किञ्च, धनसातौ धनस्य संभजनकाले प्राप्ते वाजोऽन्नं नोऽस्मान् विश्वैर्देवैः सहावतु। इह अस्मिन् लोके यज्ञे वा यदास्माकं धनेच्छा जायेत, तदा देवतर्पणक्षमं बह्वन्नमस्त्विति सामान्येन स्वकीयशुभकर्मार्जितमन्नोपलक्षितं भोग्यभूतमैश्वर्यमेवात्र वाजपदेनाभिधीयते। तच्च हिरण्यगर्भोपासनादिसमुच्चितोत्कृष्टचयनादियागार्जितं सर्वलोकपूरकं सर्वदेवतर्पणसमर्थं सम्भवति।

अध्यात्मपक्षे—भक्तानां भगवानेवान्नं भवति। स एव सर्वं पूरयति सर्वतर्पणक्षमं भवति, तस्यैवानन्तत्वात्, 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नमहमन्नादः' (तै० उ० ३।१०।६) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यथा विश्वैर्देवैः सह वर्तमानो वाजोऽन्नादिः, इह लोके धनसातौ धनानां संविभक्तौ नोऽवतु प्राप्नोतु। यद्वा नो वाजो ज्ञानादिः सप्त प्रदिशः परावतश्चतस्रो दिश उपदेशेन पालयतु। तथैता यूयं सततं रक्षत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वाजोऽन्नादिः कर्मणा प्राप्यते, न मनुष्यप्रार्थनयेति व्यर्थ एष प्रलापः। ज्ञानात्मको वाजोऽपि सप्त प्रदिशः पालयितुं समर्थः, तस्योपदेष्टृत्वायोगात्, उपदेशमात्रेण शत्रुकृतप्रहाराद् त्राणायोगाच्च ॥ ३२ ॥

वाजो॑ नो अ॒द्य प्र सु॑वाति दा॒नं वाजो॑ दे॒वाँ२॥ ऋ॒तुभिः॑ कल्पयाति ।
वाजो॒ हि मा॒ सर्व॑वीरं ज॒जान॒ विश्वा॒ आशा॒ वाज॑पतिर्जयेयम् ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—आज अन्न की अधिष्ठात्री देवता हमें दान के निमित्त प्रेरणा दे, अन्न ऋतुओं के साथ देवताओं की यथास्थान कल्पना करे, अन्न ही मुझे पुत्र-पौत्र आदि से युक्त करे, अन्न का स्वामी बनकर मैं सब दिशाओं को अपने वश में करने में समर्थ होऊँ ॥ ३३ ॥

अद्य अस्मिन् दिने वाजोऽन्नम्, अन्नाधिष्ठात्री देवतेति यावत्। नोऽस्मान् प्रसुवाति अभ्यनुजानातु, दानार्थमिति शेषः। अन्नदानेच्छास्माकं भवत्वित्यर्थः। वाज ऋतुभिः कालैः सह देवान् कल्पयाति यथास्थानं कल्पयतु, यथाकालं यथायोग्यं देवानां यजने प्रवर्तयतु। हि चकारार्थः। वाजो हि वाजश्च मा मां सर्ववीरं सर्वे वीराः पुत्रपौत्रादयो यस्य तं तादृशं मां जजान जनयतु, 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति काल-सामान्ये लिट्, पुत्रपौत्रादिसमन्वितं मां करोतु। ततो वाजपतिः समृद्धान्नः सन्नहं विश्वा आशाः सर्वा दिशो जयेयम्। अन्नदानेन यज्ञादिना शक्तिमान् भूत्वा सर्वा दिशो वशीकुर्यामित्यर्थः। अन्ने सत्येव दानं देवयजनं यथाकालं पुत्रपौत्रादिमत्त्वं सर्वदिग्विजयित्वं च सम्पद्यते।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वर एवात्र वाजः। स एव दान-याग-पुत्रादि-जयादिपूरको भवति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाद्य यद्वाजोऽन्नं नो दानं प्रसुवाति प्रेरयेत्। वाज ऋतुभिर्देवान् कल्पयाति समर्थयेत वसन्तादिभिः। यद्धि वाजः सर्ववीरं मां जजान, तेनाहं वाजपतिर्भूत्वा विश्वा आशा जयेयम्, तथा यूयमपि जयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जडस्य वाजस्य तथा प्रार्थनायोगात्, सम्बोधनस्य च निर्मूलत्वात्। वेगरूपो गुणो वसन्तादिभिर्ऋतुभिर्देवान् समीचीनान् गुणान् समर्थयेतेति केन किं श्लिष्यते? ॥ ३३ ॥

वाजः॑ पु॒रस्ता॑दु॒त म॑ध्य॒तो नो॒ वाजो॑ दे॒वान् ह॒विषा॑ वर्धयाति ।
वाजो॒ हि मा॒ सर्व॑वीरं च॒कार॒ सर्वा॒ आशा॒ वाज॑पतिर्भवेयम् ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—अन्न हमारे आगे और मध्य से स्थित हो, अन्न हवि के रूप में देवताओं को तृप्त करता है, अन्न ने ही मुझे पुत्र-पौत्र आदि से युक्त किया है. अन्न का स्वामी बनकर मैं सब दिशाओं को जीतने में समर्थ होऊँ ॥ ३४ ॥

वाजोऽन्नं नः पुरस्ताद् भवतु। उत अपि च, नोऽस्माकं मध्यतो मध्येगृहं वाजो भवतु। नोऽस्माकं वाजो हविषा देवान् वर्धयाति वर्धयतु पुष्णातु। हि चार्थे। वाजो हि वाजश्च मा मां सर्ववीरं पुत्रपौत्रादियुतं चकार करोतु। ततश्च वाजपतिर्वाजानां पतिः पालकः सन्नहं सर्वा आशा भवेयम्। अत्र दिग्रूपतया आत्मनो व्यापकता प्रार्थ्यते। यद्वा—सर्वा आशा भवेयं प्राप्नुयाम्, वशीकुर्यामित्यर्थः। भूप्राप्तावात्मनेपदीति धातुपाठसूत्रात् णिचा सहैवात्मनेपदं नान्यत्र। अत्र माधवीयायां धातुवृत्तौ बहूक्तम्। अधिकं जिज्ञासुभिस्तत्रैवालोचनीयम्।

अध्यात्मपक्षे—अवश्यमत्र वाजशब्देन वाजाधिष्ठात्री देवता भगवानेव वा विवक्षितौ, केवलस्य भोग्यस्यान्नादेर्भोक्तारं प्रति शेषत्वेन तादृङ्माहात्म्यानुपपत्तेः।

दयानन्दस्तु—'यद्वाजो हविषा पुरस्तादुत मध्यतो नो वर्धयाति, यद्वाजो देवांश्च वर्धयाति, यद्धि वाजो मा सर्ववीरं चकार, तेनाहं वाजपतिर्भवेयं सर्वा आशा जयेयम्' इति, तदपि विसङ्गतम्, मन्त्रे जयेयमिति पदाभावात्। यत्पदमपि मूले नास्ति ॥ ३४ ॥

सं मा॑ सृजामि॒ पय॑सा पृथि॒व्याः सं मा॑ सृजाम्य॒द्भिरोष॑धीभिः ।
सोऽहं वाज॑ᳪ᳖ सनेयमग्ने ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थं—हे अग्निदेव, मैं पृथ्वी के रस से अपने को संयुक्त करता हूँ, जल और औषधियों से अपने को संयुक्त करता हूँ। ऐसा करने के बाद मैं अन्न की उपासना करता हूँ। अथवा हे अग्ने! मैं औषधिजल से हवन द्वारा तुमको संयुक्त करता हूँ और इस प्रकार अन्न की उपासना करता हूँ ॥ ३५ ॥

द्वे विराजौ। 'दशकास्त्रयो विराडेकादशका वा' (ऋक्सर्वानुक्रमणी) इत्युक्तेरेकादशाक्षरत्रिपादा विराट्। द्वितीयस्तु दशकः। तृतीयोऽपि व्यूहेन दशकस्तेनैकोना। अत्र कण्डिकायां तृतीये पादे सोऽहमिति तच्छब्द-श्रवणाद् यदोऽध्याहारः। तथा च हे अग्ने, योऽहं पृथिव्याः पयसा भूमिसम्बन्धिरसेन मां स्वात्मानं संसृजामि संयोजयामि, अद्भिरुदकैः, ओषधीभिश्च यवादिभिः, मां संसृजामि, सोऽहं संसृष्टपयःप्रभृतिशरीरः सन् वाजमन्नं सनेयं सम्भजेयम्। यद्वा व्यत्ययेनास्मदः स्थाने युष्मदादेशं कृत्वाग्निरेवोच्यते। हे अग्ने, योऽहं त्वां पृथिव्याः पयसा त्वामद्भिस्त्वामोषधीभिः संसृजामि, होमाभिप्रायोऽयं संसर्गः, सोऽहं वाजं सनेयम्।

अध्यात्मपक्षे—अत्राप्यग्निः परमात्मैव प्रार्थ्यते, अग्निभावापन्नस्य परमात्मन एवाग्नित्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, रसविद्याविद् विद्वन्, योऽहं पृथिव्याः पयसा मां संसृजामि, अद्भिरोषधीभिः सह च संसृजामि, सोऽहं वाजं सनेयमेवं त्वमप्याचर' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भोक्तुः शुद्धस्यात्मनः पृथिव्याः पयसा अन्नौषधीभिश्च सम्मिश्रणासम्भवात्, मूले सहपदाभावाच्च ॥ ३५ ॥

पयः॑ पृथि॒व्यां पय॒ ओष॑धीषु॒ पयो॑ दि॒व्य᳕न्तरि॑क्षे॒ पयो॑ धाः ।
पय॑स्वतीः प्र॒दिशः॑ सन्तु॒ मह्य॑म् ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थं—हे अग्निदेव! पृथ्वी पर हमें देने के लिये रस को धारण करो, औषधियों में रस डालो, द्युलोक में रस को स्थापित करो, आहुति देने से सारी दिशाएँ और विदिशाएँ मेरे लिये रस से भर जांय ॥ ३६ ॥

हे अग्ने, त्वं पृथिव्यां पयो रसं धा धेहि, स्थापय। दधातेर्लुङि मध्यमैकवचने रूपम्, 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० सू० ६।४।७५) इत्यडभावः। ओषधीषु च पयो रसं धेहि। दिवि स्वर्गे च पयो धेहि। अन्तरिक्षे च पयो धेहि। किञ्च, मह्यं मदर्थे प्रदिशो दिशो विदिशश्च पयस्वती रसयुक्ताः सन्तु। आहुतिपरिणा-मेन पृथिव्यादयो ममाभीष्टदा भवन्त्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, पृथिव्यां पयो रसं धेहि, तत्र रसाधाने परमेश्वरस्यैव शक्तत्वात्। ओषधीषु च पयो रसं धेहि। तत्र दधिदुग्धघृतादिरूपं च पयो धेहि। किं बहुना, दिवि द्युलोकेऽन्तरिक्षे तत्रत्य-तर्पणोपयुक्तं पयो धेहि। तदीयाऽचिन्त्यशक्त्यैव आहुत्यादिपरिणामोऽपि तथाभूतः सम्पद्यते। त्वत्प्रसादाद् मह्यं पूर्वोक्तलोकत्रयं दिक्चतुष्टयं परावतश्चतस्रो महर्जनस्तपःसत्याख्याः प्रदिशः पयस्वत्यो रसवत्यो भवन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं पृथिव्यां यत्पय ओषधीषु यत्पयो दिव्यन्तरिक्षे यत्पयो धाः, तत्सर्वं पयोऽहमपि धरामि। याः प्रदिशः पयस्वतीस्तुभ्यं सन्तु ता मह्यमपि भवन्तु' इति, तदेतत्सर्वं वह्निना सिञ्चतीति-वद् बाधितार्थमेव, परमेश्वरकार्यस्य मनुष्येष्वसम्भवात् ॥ ३६ ॥

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वेऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ।

सर॑स्वत्यै वा॒चो य॒न्तुर्य॒न्त्रेणा॒ग्नेः साम्रा॑ज्येना॒भिषि॑ञ्चामि ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—सविता देवता की आज्ञा में रहता हुआ मैं अश्विनीकुमार की बाहुओं तथा पूषा देवता के हाथों से, सरस्वती की वाणी से, प्रजापति के नियम के अनुसार, अग्नि के चक्रवर्तीपने से, हे यजमान ! मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूँ ॥ ३७ ॥

'स्रुवं प्रास्य परिश्रित्स्पृक्कृष्णाजिनमास्तीर्य पुच्छादुत्तर ँ॒ शेषेऽपः कृत्वा, अभिषेकसामर्थ्यात्, क्षीरोदके वा वाजपेयिकानीति श्रुतेः (का० श्रौ० १८।५।६-८)। कर्मापवर्गे औदुम्बरं चतुष्कोणं स्रुवमाहवनीये प्रक्षिप्य अग्निपुच्छादुत्तरदिशि परिश्रित्संल्लग्नं प्राग्ग्रीवमुत्तरलोम कृष्णाजिनमास्तीर्य तत्र स्थितो ब्रह्मवर्चसकामो यजमानश्चयनं कृत्वान्वारब्धोऽध्वर्युणा सर्वौषधशेषेणाभिषिच्यते। किं कृत्वा ? सर्वौषधशेषेऽपो जलानि कृत्वा, अभिषेकस्यैव द्रवद्रव्यसाध्यत्वादिति पूर्वपक्षः। तत्र सिद्धान्तमाह—क्षीरोदके वेत्यादि। 'वा' इत्यनेन पूर्वपक्ष-निरासः। नैव शेषेऽपामासेकः कार्य इति, यतः शेषमध्ये क्षीरोदके विद्येते एव। कुत एतज्ज्ञायत इति चेत्, 'वाजपेयिकानि' इति श्रुतेः, अत्र वाजपेयिकानि 'वाजप्रसवीयानि जुहोति' (श० ५।२।२।४) इति श्रुतेः। तत्र च नामधेयात् क्षीरोदके स्त एवेति साम्प्रदायिकाः, 'औदुम्बरे पात्रेऽप आसिच्य पयश्च' (का० श्रौ० १४।५।२०) इत्युक्तेः। अतस्तन्मिश्रेणैवाभिषेको न जलसेक इत्यर्थ इति सूत्रत्रयार्थः। देवस्य त्वेति कण्डिकार्धं पूर्वं व्याख्यातम्।

सरस्वत्यै इति। लिङ्गोक्तदेवत्यं यजुः। सरस्वत्यै षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। सरस्वतीसम्बन्धिन्या वाचो वाण्या यन्तुर्नियन्तुः प्रजापतेर्यन्त्रेण नियमनेन अग्नेश्च साम्राज्येन चक्रवर्तित्वेन हे यजमान, त्वामभिषिञ्चामि। मत्कृता-भिषेकेण वाक्सिद्धिः, ऐश्वर्यम्, साम्राज्यं च तव सम्पद्यतामित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक ! सरस्वत्यै वागधिष्ठात्र्या देव्याः सम्बन्धिन्या वाचो नियन्तुः प्रजापतेः परमेश्वरस्य नियन्त्रणेनाग्नेः साम्राज्येन सम्यक् प्रकाशेन त्वामहमभिषिञ्चामि शोधयामि।

दयानन्दस्तु—हे विद्वन् राजन्, यथाहं त्वां सवितुर्देवस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां सरस्वत्यै वाचा यन्तुरग्नेर्यन्त्रेण साम्राज्येनाभिषिञ्चामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अधिकारदानस्य लौकिकत्वे-नाभिषेकस्यालौकिकत्वेन सम्बन्धायोगात्। न च कलाकौशलप्रदर्शनेन राज्यमुत्पाद्यते। अभिषेकेण किञ्चित् पुण्यमदृष्टं वानभ्युपगच्छतो वाक्सिद्धिरैश्वर्यं च कथमुपपद्यते ? ॥ ३७ ॥

ऋ॒ता॒षाडृ॒तधा॑मा॒ग्निर्ग॑न्ध॒र्वस्तस्यौष॑धयोऽप्स॒रसो॒ मुदो॒ नाम॑। स न॑ इ॒दं ब्रह्म॑ क्ष॒त्रं पा॑तु॒ तस्मै॒ स्वाहा॒ वाट् ताभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—सत्यवक्ता अविनाशी धाम वाला, पृथ्वी का धारक गन्धर्व नामक अग्नि हमारी इस ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति की रक्षा करे। हम उसके निमित्त यह आहुति देते हैं, यह भली प्रकार गृहीत हो। प्राणियों को प्रसन्न करनेवाली मुद नामक ओषधियाँ गन्धर्व नामक अग्नि की अप्सराएँ हैं, वे भी हमारी रक्षा करें। उन ओषधियों के निमित्त दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ३८ ॥

'द्वादशगृहीतं विग्राहं जुहोत्यृताषाडिति प्रतिस्वाहाकार ँ॒ राष्ट्रभृतो वाट्कारान्तः पूर्वः पूर्वो मन्त्रः' (का० श्रौ० १८।५।१६)। ततो द्वादशगृहीतमाज्यं गृहीत्वा तद् विग्राहं विगृह्य, विभज्येति यावत्।

द्वादशांशान् कृत्वा ऋताषाडिति द्वादशमन्त्रैः प्रतिस्वाहाकारं राष्ट्रभृत्संज्ञा आहुतीर्जुहोति। व्यतिषक्तेषु द्वादशमन्त्रेषु पूर्वो मन्त्रः स्वाहावाडित्यन्तः, उत्तरस्ताभ्यः स्वाहेत्यन्तः। ततो मन्त्रे यानि पुंलिङ्गानि स न इदं ब्रह्मेत्यादीनि, तानि व्यवहितपठितान्यपकृष्य पठित्वा पूर्वो मन्त्रः सम्पाद्यः। यानि च स्त्रीलिङ्गानि तस्यौषधयोऽप्सरस इत्यादीनि तान्युत्कृष्य पठित्वोत्तरो मन्त्रः सम्पाद्यः। तेन 'ऋताषाडृतधामाग्निर्गन्धर्वः स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्' इति पूर्वो मन्त्रः। 'तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम ताभ्यः स्वाहा' इत्युत्तरो मन्त्रः। पूर्वो गन्धर्वदेवत्यः, उत्तरोऽप्सरोदेवत्यः। एवमग्रे पञ्चस्वपि कण्डिकासु मन्त्रविभागो ज्ञेय इति सूत्रार्थः।

तथा चात्र ब्राह्मणम्—'अथातो राष्ट्रभृतो जुहोति। राजानो वै राष्ट्रभृतस्ते हि राष्ट्राणि बिभ्रत्येता ह देवताः सुता एतेन सवेन येनैतत्सोष्यमाणो भवति ता एवैतत्प्रीणाति ता अस्मा इष्टाः प्रीता एतꣳ सवनमनुमन्यन्ते ताभिरनुमतः सूयते यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै न तद्यद्राजानो राष्ट्राणि बिभ्रति राजान उ एते देवास्तस्मादेता राष्ट्रभृतः' (श० ९।४।१।१)। राष्ट्रभृतो जुहोति राष्ट्रभृदाख्यान् होमान् कुर्यात्। राष्ट्रभरणसाधारण्येन एतेषां राष्ट्रभृतां राजत्वमाह—राजानो वा इति। राष्ट्रभृतां होमप्रयोजनमाह—एता ह देवता इति। ननु चात्र सोष्यमाण इति भविष्यत्कालिकः प्रयोगः, अभिषेकश्च पूर्वमेव सम्पादितः, तत्कथमौचिती भविष्यत्प्रयोगस्येति चेत्, उच्यते—अभिषेकात् पूर्वो यः कालस्तदपेक्षायां भविष्यत्प्रयोगः। एवं ता एवैतत्प्रीणाति ताभिरनुमतः सूयत इत्येतन्नोपपद्यते। कुतः ? न खल्वभिषेकात् पूर्वमेतासां प्रीणनार्थं होमः क्रियते। अप्रीणिताश्च नानुमन्यन्त इति। नैष दोषः। अभिषेकात् पूर्वमेतद्देवतानुमत्यभावेऽपीदानीमनेन होमेन प्रीणिताः प्राक्सम्पादितमभिषेकमनुमन्यन्ते। ततः स यजमानस्ताभिरनुमत एवाभिषिक्तो भवति। अन्यथाऽभिषेकेऽप्येतद्देवतानुमतिविरहेणानभिषिक्तप्रायो भवतीत्यर्थः। अथवा 'एष वै स सवः' (श० ९।४।१।१३) इति परस्तादप्यभिषेको वक्ष्यते, तत्कालापेक्षश्चायं लृट्प्रत्ययः। अथैतेषां राष्ट्रभृत्संज्ञाप्राप्तिं दर्शयति—तद्यद्राजान इति। 'राजानो वै राष्ट्रभृतः' इति राजत्वस्योक्तत्वादेते देवा राजानः। राजानश्च राष्ट्राणि बिभ्रति। यत एवं तस्मादेता राष्ट्रभृतः। पूर्वं राष्ट्रभरणेन राजत्वमुक्तम्। इदानीं तु राजत्वमुपजीव्य राष्ट्रभृत्संज्ञकत्वमुच्यते।

अथ पूर्वमभिषेकसम्पादकानि ब्राह्मणानि—'अथैनं कृष्णाजिनेऽभिषिञ्चति' (श० ९।३।४।१०), 'आसीनं भूतमभिषिञ्चेत्' (श० ९।३।४।१४), 'आस्पृष्टं परिश्रितः' (श० ९।३।४।१५)। अत्र कृष्णाजिनस्य परिश्रितां स्पर्शो यजमानसम्बन्धिदैवात्माभिषेकहेतुर्भवति। 'गन्धर्वाप्सरोभ्यो जुहोति। गन्धर्वाप्सरसो हि भूत्वोदक्रामन्नथो गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति तस्माद्यः कश्च मिथुनमुपप्रैति गन्धं चैव स रूपं च कामयते' (श० ९।४।१।४)। 'गन्धेन वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति' इत्यनेन गन्धर्वशब्दस्य अप्सरःशब्दस्य च निरुक्तिः। गन्धेन विशन्तीति गन्धर्वाः। अप्शब्देन रूपमभिधीयते, तेन विशिष्टाः सरन्तीत्यप्सरसः, ते च ताश्च गन्धर्वाप्सरसः। पृषोदरादित्वात् सिद्धिः। मिथुनशब्देन मिथुनभावः स्त्री चाभिधीयते।

'मिथुनानि जुहोति। मिथुनाद्वा अधि प्रजातिर्यो वै प्रजायते स राष्ट्रं भवत्यराष्ट्रं वै स भवति यो न प्रजायते तद्यन्मिथुनानि राष्ट्रं बिभ्रति मिथुना उ एते देवास्तस्मादेता राष्ट्रभृत आज्येन द्वादशगृहीतेन ता उ द्वादशैवाहुतयो भवन्ति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।४।१।५)। प्रकारान्तरेण एतासां राष्ट्रभृत्संज्ञासम्बन्धं दर्शयति—मिथुनानि जुहोतीति। प्रजातिः प्रकर्षेण जननं पुत्रपौत्रादीनामुत्पत्तिः, सा मिथुनादेव भवति खलु। अतश्च यो वै पुरुषः प्रजायते पुत्रपौत्रादिपरम्परया विविधं जायते, स एव राष्ट्रं भवति, तस्य प्रजाबाहुल्येन राष्ट्रसाधनसामर्थ्यात्। यस्तु न प्रजायते, स राष्ट्रं न भवति, तस्य प्रजाभावेन राष्ट्रसाधनसामर्थ्याभावात्। एवं च मिथुनानां राष्ट्रभृत्त्वाद् मिथुनभूतानामेतेषां देवानामपि राष्ट्रभृत्त्वमित्यर्थः। प्रकृतहोमे द्रव्यं तत्परिमाणं च विधत्ते—आज्येन द्वादशगृहीतेनेति। ग्रहणसंख्यानुसारेण ता द्वादशैवाहुतयो भवन्ति। तस्य ब्राह्मणं 'द्वादशमासाः संवत्सरः' इत्यादिना प्रागुक्तम्।

'पुꣳसे पूर्वस्मै जुहोति। अथ स्त्रीभ्यः पुमाꣳसं तद्वीर्येणात्यादधात्येकस्मा इव पुꣳसे जुहोति बह्वीभ्य इव स्त्रीभ्यस्तस्मादप्येकस्य पुꣳसो बह्व्यो जाया भवन्त्युभाभ्यां वषट्कारेण च स्वाहाकारेण च पुꣳसे जुहोति स्वाहाकारेणैव स्त्रीभ्यः पुमाꣳसमेव तद्वीर्येणात्यादधाति' (श० ९।४।१।६)। मन्त्रे तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहेत्याम्नानात् तेनैव क्रमेण होमं प्रशंसति—पुंसे पूर्वस्मा इति। तत्तेन प्रथमं होमेन स्त्रीभ्यः पुमांसं वीर्येण अतिशयितं करोति। तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहेत्युक्तां स्त्रीपुंसयोः संख्यां प्रशंसति—एकस्मा इवेति। वषट्कारस्वाहाकाराभ्यां पुंसे हूयते। स्वाहाकारेणैव स्त्रीभ्यो हूयते। एवं च प्रधानशब्दाधिक्यात् स्त्रीपुंसयोः पुमांसं वीर्याधिकं कृतवान् भवति। वाड् इति परोक्षो वषट्कार इत्युक्तम्। इत्येवं श्रुत्या कात्यायनसूत्रार्थः समर्थितः। तथा च (१) ऋताषाट्, (२) सꣳहितः, (३) सुषुम्णः, (४) इषिरः, (५) भुज्युः, (६) प्रजापतिः—इति षण्णां पूर्वमन्त्राणामृताषाडित्यादिनामका गन्धर्वा देवताः, (१) तस्यौषधयः, (२) तस्य मरीचयः, (३) तस्य नक्षत्राणि, (४) तस्यापः, (५) तस्य दक्षिणाः, (६) तस्य ऋक्सामानीति षण्णामुत्तरमन्त्राणामोषध्यादिनामका अप्सरसो देवताः।

अत्र ब्राह्मणम्—'ऋताषाड् ऋतधामेति। सत्यसाट्सत्यधामेत्येदग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरस इत्यग्निर्ह गन्धर्व ओषधिभिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम मुदो नामेत्योषधयो वै मुद ओषधिभिर्हीदꣳ सर्वं मोदते स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहेति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।४।१।७)। यतोऽग्निरेव गन्धर्व ओषधिभिरेवाप्सरोभिः सह मिथुनभावेनोच्चक्राम, अत उच्यते मन्त्रे—'अग्निर्ह गन्धर्वः' इति। व्रीह्यादिभिरोषधिभिरिदं सर्वं जगन्मोदत इत्योषधयो मुदः। ततो मन्त्रे यानि पुंल्लिङ्गानि पदानि, तानि व्यवहितपठितान्यप्यपकृष्य पठित्वा पूर्वो मन्त्रः सम्पादनीयः। एवमेव यानि च स्त्रीलिङ्गानि तस्यौषधय इत्यादीनि, तान्युत्कृष्य उत्तरो मन्त्रः सम्पादनीयः। तथा च—'ऋताषाड् ऋताधामाग्निर्गन्धर्वः स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्यै स्वाहा वाट्' इति पूर्वो मन्त्रः। अत्र स्वाहा वाड् इति शब्दद्वयमपि सम्प्रदाने। 'तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम ताभ्यः स्वाहा' इत्युत्तरो मन्त्रः। तस्यौषधय इत्यत्र तस्येति सर्वनाम्नः पूर्वपरामर्शकत्वेन साकाङ्क्षत्वाद् ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्व इत्यनुवर्तते।

अथ मन्त्रार्थः—ऋताषाड् ऋतं सत्यं ब्रह्मलक्षणं महत्तेजो वा सहत इति ऋताषाट्, 'छन्दसि सहः' (पा० सू० ३।२।६३) इति ण्विप्रत्यये तस्य सर्वापहारिलोपे, 'अत उपधायाः, (पा० सू० ७।२।११६) इत्युपधावृद्धौ, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घे, 'सहेः साडः सः' (पा० सू० ८।३।५६) इति मूर्धन्यादेशे रूपम्। साहयतेः क्विप्यपि रूपमेतत् शक्यसमर्थनम्। तदा तु 'नहि वृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ' (पा० सू० ६।३।११६) इत्यनेन पूर्वपदस्य दीर्घः। सत्यं सहते, असत्ये कुप्यतीति यावत्। ऋतधामा ऋतं सत्यं धाम यस्य सः। सोऽग्निर्गन्धर्वः, नोऽस्माकं ब्रह्म क्षत्रं च पातु रक्षतु। य ईदृशोऽग्निस्तस्मै अग्नये गन्धर्वाय स्वाहा वाट् वषट्कारेण सुहुतमस्तु। तस्याग्नेर्गन्धर्वस्य ओषधयो व्रीह्याद्या नाम नाम्ना अप्सरसः स्त्रीत्वेन भोग्याः। कीदृश्य ओषधयः? तत्राह—मुदो मोदन्ते जना याभिस्ताः। ताभ्यः स्वाहा।

अध्यात्मपक्षे—अग्निः परमात्मैव ऋताषाट्। ऋतं सत्यं परं ब्रह्म, 'ऋतꣳसत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्। ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमः॥' (तै० आ० १०।१२।१) इति मन्त्रवर्णात्। स एव ऋतधामा दिव्यशक्तित्वात्। स एवाग्रणीत्वादग्निः। स न इदं ब्रह्म इदं क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाडिति। तस्य तादृशस्य गन्धर्वस्य मुदो नाम अप्सरसः सन्ति। ताभ्यः स्वाहेति। स्वाहाकारवषट्काराभ्यां पुंसे हूयते, स्वाहाकारेणैव स्त्रीभ्य इति। प्रधानशब्दाधिक्यात् स्त्रीपुंसेभ्यः पुमांसं वीर्याधिकं कृतवान् भवति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, य 'ऋताषाड् ऋतधामा गन्धर्वोऽग्निरिवास्ति, तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम सन्ति। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं च पातु तस्मै स्वाहा वाट्, ताभ्यः स्वाहाऽस्तु। यो जनोऽग्निवच्छत्रुदाहक ओषधिवदानन्दकारी, स एव सर्वं राज्यं रक्षितुं शक्नोतीति भावार्थः' इति, तदेतत् सर्वमुद्धृतश्रुतिविरोधादुपेक्ष्यमेव। किमर्थं तस्मै स्वाहा वाड् इति शब्दद्वयप्रयोगः? किमर्थं ताभ्यः स्वाहेति स्वाहाकारस्यैव प्रयोग इत्यभिप्रायानुक्तेश्च ॥ ३८ ॥

सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—जिसकी सारे साम मन्त्र स्तुति करते हैं, जो रात-दिन को मिलाने वाला सूर्यरूप गन्धर्व है, वह हमारी ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति की रक्षा करे। हम उसे आहुति देते हैं, यह भली प्रकार गृहीत हो। परस्पर मिलने के स्वभाव वाली आयुव नामक किरणें उसकी अप्सराएँ हैं, वे हमारी रक्षा करें। हम उनके निमित्त आहुति देते हैं ॥ ३९ ॥

यः सूर्यः संहितः सन्दधाति अहोरात्रे इति तथाभूतः, 'एष ह्यहोरात्रे सन्दधाति' (श० ९।४।१।८) इति श्रुतेः। यश्च विश्वसामा विश्वानि सर्वाणि सामानि प्रतिपादकत्वेन यस्य सः। सामानि सान्त्वप्रयोगा वा, 'एष ह्येव सर्वꣳ साम (श० ९।४।१।८) इति श्रुतेः। स सूर्यो गन्धर्वो नोऽस्माकमिदं ब्रह्म क्षत्रं च पातु। तस्याप्सरसो मरीचयस्त्रसरेणवः। कीदृश्यो मरीचयः? तत्राह—आयुव इति। आसमन्ताद् युवन्ति मिश्रीभवन्तीत्यायुवः, 'आयुवाना हि मरीचयः प्लवन्ते' (श० ९।४।१।८) इति श्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'सꣳहित इति। असौ वा आदित्यः सꣳहित एष ह्यहोरात्रे सन्दधाति विश्वसामेत्येष ह्येव सर्वꣳ साम सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस इति सूर्यो हि गन्धर्वो मरीचिभिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्रामायुवो नामेत्यायुवाना इव हि मरीचयः प्लवन्ते स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पात्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।४।१।८)। अहोरात्रयोः सम्बन्धाधायकत्वेन संहितशब्दोऽयमादित्यसमवेतार्थक इत्याह—असौ वा आदित्य इति, 'य एष एतस्मिन् मण्डलेऽर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतं तानि सामानि' (श० १४।८।६।४) इत्यादिश्रुतेः। एष एवादित्यः सर्वं साम खलु। तथा च 'संहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्' इति द्वितीयः पूर्वो मन्त्रः, 'तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम ताभ्यः स्वाहा' इति द्वितीय उत्तरो मन्त्रः। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—सर्वान्तरात्मा परमेश्वर एव सूर्यो भूत्वाऽहोरात्रे सन्दधाति। स एव मरीचयोऽप्सरसः, तस्मै स्वाहा वाट्, ताभ्यः स्वाहेति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, भवान् यः संहितः सूर्यो गन्धर्वोऽस्ति, तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम सन्ति, ताभ्यो विश्वसामभ्यः स्वाहा कथं कार्यसिद्धिं करोतु। यस्त्वं तस्मै स्वाहा प्रयुङ्क्षे स भवानिदं ब्रह्म क्षत्रं च वाट् पातु' इति, तदेतत् सर्वं श्रुतिविरुद्धत्वादव्यापारेषु व्यापार एव। नहि कश्चिद्विद्वान् सूर्यो भवति, न वा गां पृथिवीं धारयति। न च स सर्वैर्मिलितः, न च तत्सम्बन्धिन्यो मरीचयो भवन्ति। न च विश्वसामा कश्चित् सम्भवति, साम्प्रतं तदनुपलब्धेः। न च स्वाहाशब्दस्य उत्तमक्रियार्थः। न वा तया ब्रह्मक्षत्रादीनां रक्षणम् ॥ ३९ ॥

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ के द्वारा सुख देने वाली सूर्य की किरणों से प्रकाशित होने वाला चन्द्रमा भी भूमि का धारक होने से गन्धर्व है। वह हमारी इस ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति की रक्षा करे, उनके निमित्त हम आहुति देते हैं। कान्तियुक्त भेकुरी नामक नक्षत्र उसकी अप्सरा है, वह हमारी रक्षा करे, उसकी प्रीति के निमित्त हम आहुति देते हैं ॥ ४० ॥

यः सुषुम्णः, सु सुष्ठु शोभनं सुम्नं सुखं यस्मात् सः। सुयज्ञियः सुखस्य यज्ञसाध्यत्वाद् यज्ञार्हत्वात् 'यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ' (पा० सू० ५।१।७१) इति सूत्रेण यज्ञमर्हतीति घप्रत्ययाद् यज्ञिय इति रूपम्, शोभनश्चासौ यज्ञियश्च सुयज्ञियः, अथवा 'असमासे निष्कादिभ्यः' (पा०सू० ५।१।२०) इति ज्ञापकात् तदन्तविधिरिति। यज्ञद्वारा सुखप्रद इत्यर्थः, याज्ञिकानां चन्द्रलोकाप्तेः श्रुतत्वात्। सूर्यरश्मिः सूर्यस्येव रश्मयो यस्य सः। स तादृशश्चन्द्रमा गन्धर्वः, नोऽस्माकमिदं ब्रह्म क्षत्रं च पातु। तस्मै चन्द्रमसे स्वाहा वाट्। तस्य चन्द्रमसो नक्षत्राणि अप्सरसः। तासां भेकुरय इति नाम। भां कान्ति कुर्वन्तीति भेकुरयः, पृषोदरादित्वात् साधुः। ताभ्यो नक्षत्राप्सरोभ्यः स्वाहा। तथा च—'सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्' इति तृतीयः पूर्वो मन्त्रः, 'तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ताभ्यः स्वाहा' इति तृतीय उत्तरो मन्त्रः।

अत्र ब्राह्मणम्—'सुषुम्ण इति। सुयज्ञिय इत्येतत्सूर्यरश्मिरिति सूर्यस्येव हि चन्द्रमसो रश्मयश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरस इति चन्द्रमा ह गन्धर्वो नक्षत्रैरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम भेकुरयो नामेति भाकुरयो ह नामैते माꣳ हि नक्षत्राणि कुर्वन्ति स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पात्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।४।१।९)। प्रसन्ना कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मा भगवान् चन्द्रमा नक्षत्राणि च भूत्वा प्रजापतेर्विस्रस्तात् शरीराच्चन्द्रमा नक्षत्राप्सरोभिः सहोच्चक्राम। तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहेति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यः सूर्यरश्मिः सुषुम्णो गन्धर्वश्चन्द्रमा अस्ति, यास्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम सन्ति, स यथा इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु, तथाविधाय तस्मै वाट् स्वाहा ताभ्यः स्वाहा युष्माभिः सम्प्रयोज्या' इति, तदपि यत्किञ्चित्, 'वाट् कार्यनिर्वाहपूर्वकम्, स्वाहा उत्तमक्रिया' इति व्याख्यानस्य वैदिकमर्यादाविरुद्धत्वात्, देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागे तयोः प्रसिद्धत्वात् ॥ ४० ॥

इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—शीघ्रगामी, सर्वत्र व्याप्त, भूमि को धारण करने से वायु का नाम गन्धर्व है। वह हमारी इस ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति की रक्षा करे। उसके निमित्त यह आहुति दी जाती है। प्राणियों को जीवन देने वाला रस नामक जल उसकी अप्सराएं हैं। वे हमारी रक्षा करें। उनके निमित्त दी गई आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ४१ ॥

इषिरः, इष्यति गच्छतीति इषिरः, 'इषिमदिमुदि' (उ० १।५१) इति किरच्प्रत्ययः, क्षिप्रः शीघ्रगमनः। स न इदं विश्वव्यचा विश्वस्मिन् व्यचो गमनं यस्यासौ विश्वव्यचाः, सर्वतो गमनशीलो वातो वायुर्गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्। तस्य वातस्य आपोऽप्सरस ऊर्जो नाम, ऊर्जयन्ति जीवयन्ति धान्योत्पादने-नेत्यूर्जः, ऊर्जः 'भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विप्' (पा० सू० ३।२।१७७) इति क्विपि 'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्' इति परिभाषया णिलोपस्य स्थानिवत्त्वनिषेधात् पदान्तत्वेन 'चोः कुः' (पा० सू० ८।२।३०) इति कुत्वे, एकवचने 'ऊर्क्' इति रूपम्, रात्सस्येति नियमान्न संयोगान्तलोपः। ताभ्यः स्वाहा।

अत्र ब्राह्मणम्—'इषिर इति। क्षिप्र इत्येतद्विश्वव्यचा इत्येष हीदᳪं सर्वं व्यचः करोति वातो गन्धर्वस्तस्यापोऽप्सरस इति वातो ह गन्धर्वोऽद्भिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्रामोर्जो नामेत्यापो वा ऊर्जोऽद्भ्यो ह्यूर्ग्जायते स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पात्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।४।१।१०)। यतश्चैष वायुः सर्वं व्याप्तं करोति, तस्मात् स विश्वव्यचाः। अद्भ्यः सकाशात् सर्वमन्नादिकं जायते, तस्मादाह—ऊर्जो नामेति। 'इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्' इति चतुर्थः पूर्वो मन्त्रः, 'तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम ताभ्यः स्वाहा' इति चतुर्थ उत्तरो मन्त्रः।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यविवक्षया परमेश्वरस्यैव वातादिकत्वमिति।

दयानन्दस्तु—'येन इच्छन्ति स इषिरः' इति, तत्तुच्छम्, श्रुतिविरोधात्, 'इषिरः क्षिप्रः' इति श्रुत्या व्याख्यातत्वात्। न च वायुनेच्छन्ति जनाः, निष्प्रमाणत्वात्॥ ४१॥

भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसं स्तावा नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥ ४२॥

मन्त्रार्थ—प्राणियों का पालक, स्वर्ग में गमन करने वाला यज्ञ पृथ्वी को धारण करने से गन्धर्व कहलाता है। वह हमारी इस ब्राह्मण जाति तथा क्षत्रिय जाति की रक्षा करे। उसके निमित्त यह आहुति समर्पित की जाती है। यज्ञ और यजमान की स्तुति करने वाली स्तावा नामक दक्षिणाएं उस यज्ञ की अप्सराएँ हैं। उनके निमित्त यह आहुति दी जाती है॥ ४२॥

भुज्युः, भुनक्ति पालयति सर्वभूतानीति भुज्युः, 'भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ' (उ० ३।२१) इति युक्। सुपर्णः सुष्ठु शोभनं पर्णं पतनं स्वर्गगमनं यस्य सः। यज्ञे स्वर्गे गते यजमानो गच्छति। तथाविधो यज्ञो गन्धर्वः, इदं ब्रह्म क्षत्रं च पातु। तस्मै स्वाहा वाट्, इदं हविः सुहुतमस्तु। तस्य यज्ञस्य दक्षिणा नाम अप्सरसः। कीदृश्यस्ताः? स्तावा नाम। स्तूयते यज्ञो यजमानश्च याभिस्ताः स्तावाः, स्तावा इति नाम तासां संज्ञा, ताभ्यः स्वाहा। तथा च 'भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्' इति पञ्चमः पूर्वो मन्त्रः, 'तस्य दक्षिणा अप्सरसस्तावा नाम ताभ्यः स्वाहा' इति पञ्चम उत्तरो मन्त्रः।

अत्र ब्राह्मणम्—'भुज्युः सुपर्ण इति। यज्ञो वै भुज्युर्यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरस इति यज्ञो ह गन्धर्वो दक्षिणाभिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम स्तावा नामेति दक्षिणा वै स्तावा दक्षिणाभिर्हि यज्ञः स्तूयतेऽथो यो वै कश्च दक्षिणां ददाति स्तूयत एव स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पात्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।४।१।११)। यज्ञो हि वृष्ट्यादिसम्पादनेन सर्वाणि भूतानि भुनक्ति रक्षतीति भुज्युशब्दो यज्ञे समवेतार्थ

इत्याह—यज्ञो वा इति। यज्ञः खलु दक्षिणाभिः प्रशस्यते, साधु जातो यज्ञोऽयमिति स्वीकृतदक्षिणैर्ऋत्विग्भिः स्तूयमानत्वात्। किञ्च, यो वै कश्चन दक्षिणां ददाति, सोऽपि प्रग्रहीतृभिः स्तूयते। इत्थं स्तुतिहेतुत्वाद् दक्षिणाः स्तावा उच्यन्ते।

अध्यात्मपक्षे—अत्रापि यज्ञदक्षिणादिरूपेणापि परमेश्वरस्य सार्वात्म्यं प्रशस्यते।

दयानन्दस्तु—'भुज्यन्ते सुखानि यस्मात् स भुज्युः। शोभनानि पर्णानि पालनानि यस्मात् सः सुपर्णः। गन्धर्वो यो गां वाणीं धरति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शास्त्रीयस्य यज्ञदक्षिणादेस्तेनानङ्गीकृतत्वात्॥ ४२॥

प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा॥ ४३॥

मन्त्रार्थ—प्रजापालक सब कुछ करने वाला मन ही गन्धर्व है। वह हमारी ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति की रक्षा करे। उसको यह आहुति दी जाती है। अभीष्ट देने वाली एष्टी नाम वाली ऋचा और साम उसकी अप्सराएँ हैं। वे हमारी रक्षा करें। उनको हम यह आहुति देते हैं॥ ४३॥

यः प्रजापतिः प्रजानां पालकः, विश्वकर्मा विश्वं सर्वं करोतीति विश्वकर्मा, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा०सू० ३।२।७५) इति करोतेर्मनिन्। मनोरूपो गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं च पातु। तस्मै मनसे गन्धर्वाय स्वाहा वाट् हविर्दत्तमस्तु। तस्य मनसो गन्धर्वस्य ऋक्सामान्यप्सरसः। एष्टय इति तासां नाम प्रसिद्धम्। इष्यते काङ्क्ष्यतेऽभीष्टं याभिस्ता एष्टयः, ताभ्योऽप्सरोभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु। तथा च—'प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै वाट् स्वाहा' इति षष्ठः पूर्वो मन्त्रः। 'तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम ताभ्यः स्वाहा' इति षष्ठ उत्तरो मन्त्रः।

अत्र ब्राह्मणम्—'प्रजापतिर्विश्वकर्मेति। प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा स हीदꣳ सर्वमकरोन्मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस इति मनो ह गन्धर्व ऋक्सामैरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्रामेष्टयो नामेत्यृक्सामानि वा एष्टय ऋक्सामैर्ह्याशासत इति नोऽस्त्वित्थं नोऽस्त्विति स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पात्विति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।४।१।१२)। प्रजापतेर्मनःप्रधानसमष्टिलिङ्गशरीराभिमानित्वादिष्यमाणसाधनात्वादिष्टयः। आ इष्टय एष्टयः। 'ओमाङोश्च' (पा० सू० ६।१।९५) इति पररूपम्।

अध्यात्मपक्षे—भू-बीजाङ्कुर-वृक्षस्थानीया ब्रह्माव्याकृतहिरण्यगर्भविराजः, भूस्थानीये ब्रह्मण्येव सर्वेषामन्तर्भावात्। निस्तरङ्गमहासमुद्रस्य सतरङ्गमहासमुद्रत्ववद् ब्रह्मण एव मनस्त्वम्। तदुक्तं वाशिष्ठरामायणे—'स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितवपुर्महान्। स मनाङ् मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते॥' इति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं यो विश्वकर्मा प्रजापतिर्मनुष्योऽस्ति, तस्य मनो गन्धर्व ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम सन्ति, तथा स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा, वाणी वाट् धर्मप्रापणं ताभ्यः स्वाहा सत्यया क्रिययोपकारं कुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, श्रुतिविरुद्धत्वात्, तत्र तु मनस एव प्रजापतित्वेन व्याख्यातत्वात्, तस्येत्यस्य मनसा सम्बन्धे तस्य ऋक्सामानीति प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धस्य बाधाच्च, पूर्वत्र यथा तस्य तस्य गन्धर्वस्य तास्ता अप्सरस उक्तास्तथैव प्रकृतमन्त्रेऽपि युक्तत्वाच्च॥ ४३॥

स नो॑ भुव॑नस्य पते प्रजापते॒ यस्य॑ त उ॒परि॑ गृ॒हा यस्य॑ वे॒ह ।
अ॒स्मै ब्र॒ह्म॑णे॒ऽस्मै क्ष॒त्राय॑ म॒हि शर्म॑ यच्छ॒ स्वाहा॑ ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थं—हे संसार का पालन करने वाले प्रजापति ! जिनका स्वर्गलोक में घर है अथवा इस लोक में घर है, ऐसे आप हमारी इस ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति के निमित्त महान् सुखदाता बनिये । हमारी दी हुई इस आहुति को स्वीकार कीजिये ॥ ४४ ॥

'पञ्चगृहीतं च रथशिरस्यध्याहवनीयं ध्रियमाणे पञ्चकृत्वः स नो भुवनस्येति' (का०श्रौ० १८।५।१७) । राष्ट्रभृद्धोमानन्तरं पूर्वसंस्कृतादेवाज्यात् पञ्चगृहीतमाज्यं गृहीत्वा प्रतिप्रस्थात्रादिना रथशिरस्याहवनीयोपरि समीपे एव ध्रियमाणे तदाज्यं पञ्चधा विभज्य स नो भुवनस्येति मन्त्रावृत्त्या पञ्चकृत्वो जुहुयात् । ईषाग्रयोरुपरि यत्र युगस्य बन्धनं क्रियते, तत्स्थानं रथस्य शिर इति सूत्रार्थः । प्रजापतिदेवत्या प्रस्तारपङ्क्तिः । यत्र आद्यौ पादौ द्वादशकौ, अन्त्यौ चाष्टकौ सा प्रस्तारपङ्क्तिः । सा चैकाधिका । अतस्तृतीयः पादो नवकः, नवाक्षर इति यावत् । हे भुवनस्य पते पालक, हे प्रजापते, यस्य ते तवोपरि स्वर्गे गृहाः सन्ति, वा अथवा यस्य त इह भूलोके गृहाः सन्ति, स त्वं नोऽस्माकमस्मै ब्रह्मणे ब्राह्मणाय अस्मै क्षत्राय क्षत्रियाय च महि महत् शर्म सुखं यच्छ देहि । तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ रथशीर्षे जुहोति । एष वै स सव एतद्वै तत्सूयते यमस्मै तमेता देवताः सवमनुमन्यन्ते याभिरनुमतः सूयते यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै नाज्येन पञ्चगृहीतेन ता उ पञ्चैवाहुतयो हुता भवन्ति तस्योक्तो बन्धुः' (श० ९।४।१।१३) । राष्ट्रभृद्धोमानन्तरं रथशिरसि होमं विधत्ते—अथेति । प्रकृतहोमं यजमानाय सवात्मना प्रशंसति—एष वै सव इति । अस्मै यजमानाय यं सवं सम्पादयति, स सव एष खलु । शेषं सुगमम् । 'यद्वेव रथशीर्षे जुहोति । असौ वा आदित्य एष रथ एतद्वै तद्रूपं कृत्वा प्रजापतिरेतानि मिथुनानि परिगत्यात्मन्नधत्तात्मन्नकुरुत तथैवैनान्ययमेतत्परिगत्यात्मन् धत्त आत्मन् कुरुत उपरि धार्यमाण उपरि हि स य एतानि मिथुनानि परिगत्यात्मन्नधत्तात्मन्नकुरुत समानेन मन्त्रेण समानो हि स य एतानि मिथुनानि परिगत्यात्मन्नधत्तात्मन्नकुरुत सर्वतः परिहारꣳ सर्वतो हि स य एतानि मिथुनानि परिगत्यात्मन्नधत्तात्मन्नकुरुत' (श० ९।४।१।१५) । पुनस्तमेव होमं प्रकारान्तरेण प्रशंसति—यद्वेवेति । एष आहवनीयस्योपरि धार्यमाणो रथः, असावाकाशमध्ये वितायमानो य आदित्यस्तदात्मकः । आदित्यवन्मण्डलाकाररथाङ्गवत्त्वात् शीघ्रगामित्वाद्वा रथस्यादित्यात्मकत्वम् । अतः प्रजापतिरादित्यात्मकं रथरूपं कृत्वा एतानि पूर्वोक्तानि मिथुनानि परिगत्य आत्मनि धृत्वा स्वाधीनीकृतवान् । तस्माद्यजमानोऽपि रथशिरसि होमं तद्वदेव कुरुते । स्पष्टमन्यत् । 'स नो भुवनस्य पते प्रजापत इति । भुवनस्य ह्येष पतिः प्रजापतिर्यस्य त उपरि गृहा यस्य वेहेत्युपरि च ह्येतस्य गृहा इह चास्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायेत्ययं वा अग्निर्ब्रह्म च क्षत्रं च महि शर्म यच्छ स्वाहेति महच्छर्म यच्छ स्वाहेत्येतत्' (श० ९।४।१।१६) । एतस्य प्रजापतेः सर्वाधिपत्येन स्वर्लोके इहलोके च गृहा विद्यन्त इति यस्येत्यादिना स एवार्थोऽभिधीयते । तदेवाह—उपरि च ह्येतस्येति । अयमेव चीयमानोऽग्निः सर्वात्मकत्वेन ब्रह्मक्षत्रशब्दाभ्यामुच्यत इत्याह—अयं वा अग्निरिति । अन्यन्मन्त्रव्याख्यानेन गतार्थमेव ।

अध्यात्मपक्षे—हे भुवनस्य सर्वस्य पते, हे प्रजापालक, यस्य ते तव उपरि अमुष्मिँल्लोके साकेते गोलोके वैकुण्ठलोके कैलासे वा गृहाः, इह अस्मिँल्लोकेऽयोध्यायां वृन्दावने वाराणस्यादौ वा गृहाः, स त्वं नोऽस्माकं ब्रह्मक्षत्रादिभ्यो महि महत् शर्म शरणं यच्छ, तस्मै तुभ्यं स्वाहा सर्वं समर्पितमस्तु ।

दयानन्दस्तु—'हे भुवनस्य पते गृहस्य पते, यस्य ते तव उपरि उत्कृष्टे व्यवहारे गृहा गृह्णन्ति ये ते गृहस्थादयः, यस्य वा इह अस्मिन् संसारे सर्वाः शुभाः क्रियाः सन्ति, स त्वं नोऽस्मै ब्रह्मणे क्षत्राय महि शर्म यच्छ स्वाहा' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विप्रतिषिद्धत्वात्। संस्कृते 'उपरि व्यवहारे' इत्युक्तम्, भाषायां तु 'अत्युच्चत्वप्रदे उत्तमव्यवहारे' इत्युक्तम्। तदेतद् द्वयमप्यसङ्गतम्, तस्य तदर्थत्वे मानाभावात्, यथा इह अस्मिन् संसारे इत्यर्थस्तथैवोपरि अमुष्मिँल्लोक इत्यर्थस्यैव सङ्गतत्वम्, अर्थान्तरस्य क्लिष्टकल्पनामूलकत्वात्॥ ४४॥

स॒मु॒द्रो॑ऽसि॒ नभ॑स्वाना॒र्द्रदा॑नुः श॒म्भूर्म॑यो॒भूर॒भि मा॑ वाहि॒ स्वाहा॑। मा॒रु॒तो॑ऽसि म॒रुतां॑ ग॒णः श॒म्भूर्म॑यो॒भूर॒भि मा॑ वाहि॒ स्वाहा॑। अ॒व॒स्यूर॑सि॒ दुव॑स्वाञ्छ॒म्भूर्म॑यो॒भूर॒भि मा॑ वाहि॒ स्वाहा॑॥ ४५॥

मन्त्रार्थ—हे वायुदेवता! आप अगाध जल से आकाश को गीला करने वाली वर्षा से पृथ्वी को गीला कर इस लोक को सुख देने वाले तथा परलोक का कल्याण करने वाले बनिये, सदा मेरे अनुकूल रहिये। हे वायुदेव, आप अन्तरिक्षचारी और शुक्रज्योति आदि मरुद्गण से अभिन्न हैं, इस लोक और पर लोक में सुखदायक बनकर मुझे सही मार्ग दिखलाइये, मेरी दी हुई इस आहुति को स्वीकार कीजिये। हे वायुदेव! आप जगत् के रक्षक हैं, अन्न के उत्पादक हैं, मेरे सामने अपना वहनरूप प्रकाशित कर इस आहुति को स्वीकार कीजिये॥ ४५॥

'वातहोमान् जुहोत्यञ्जलिनाहृत्य पुरस्ताद्बहिर्वेदेरधो दक्षिणस्यां धुर्युत्तरत उत्तरस्यां दक्षिणतो दक्षिणाप्रष्टेः समुद्रोऽसीति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १८।६।१)। रथशिरसि पञ्चगृहीतहोमानन्तरमध्वर्युस्तमेव रथमग्नेरवतार्य उत्तरतो वेदिमध्ये प्राङ्मुखं युगयोक्त्रादिसहितमवस्थाप्य तस्य स्थानत्रये त्रीन् वायुहोमान् जुहुयात् प्रतिमन्त्रं समुद्रोऽसीत्यादिमन्त्रत्रयेण। रथयुगदक्षिणधुरोऽधः प्रथमम्, उत्तरधुरोऽधो द्वितीयम्, युगमध्याधस्तृतीयम्। किं कृत्वा? बहिर्वेदेरञ्जलिना वा तमानीयेति सूत्रार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ वातहोमान् जुहोति। इमे वै लोका एषोऽग्निर्वायुर्वातहोमा एषु तल्लोकेषु वायुं दधाति तस्मादयमेषु लोकेषु वायुः' (श० ९।४।२।१)। एतस्य चित्याग्नेः पृथिव्यादिलोकात्मकत्वाद् वातहोमानां वायुत्वात् तैर्होमैः पृथिव्यादिषु लोकेषु वायुं निहितवान् भवतीत्याह—इमे वै लोका इति। 'बाह्येनाग्निमाहरति। आप्तो वा अस्य स वायुर्य एषु लोकेष्वथ य इमाँल्लोकान् परेण वायुस्तस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ९।४।२।२)। होष्यमाणो वायुरग्नेर्बाह्यप्रदेशादाहरणीय इत्याह—बाह्येनाग्निमिति। एवं चाग्नेर्लोकत्रयात्मकत्वेन लोकत्रयावस्थितस्य वायोः प्रागेवाप्तत्वात् ततो बहिरवस्थितस्य वायोर्निधानमस्मिन्नग्नौ सम्पाद्यत इत्याह—आप्तो वा अस्येति। 'बहिर्वेदेरियं वै वेदिः। आप्तो वा अस्य स वायुर्योऽस्यामथ य इमां परेण वायुस्तस्मिन्नेतद्दधाति' (श० ९।४।२।३)। वेद्याः पृथिव्यात्मकत्वात् तत्रत्यस्यापि वायोः पूर्वमेवाप्तत्वाद् वेदेर्बहिराहरेदित्याह—बहिर्वेदेरिति। 'अञ्जलिना नह्येतस्येतीवाभिपत्तिरस्ति स्वाहाकारेण जुहोति ह्यधोऽधो धुरमसौ वा आदित्य एष रथोऽर्वाचीनं तदादित्याद्वायुं दधाति तस्यादेषोऽर्वाचीनमेवातः पवते' (श० ९।४।२।४)। तच्चाहरणमञ्जलिना कर्तव्यमित्याह—अञ्जलिनेति। ननु वायोर्होमद्रव्यत्वाद् जुह्वादिना कस्मान्नाहरेदित्यत आह—नह्येतस्येति। 'इतीव' इत्यभिनयेन दर्शयति। एतस्य वायोराज्यादिवत् स्कन्दनाद्यभिपत्तिर्नास्ति, तस्मादञ्जलिनाहरेत्। होमेषु सर्वत्र स्वाहाकारप्रयोगादस्यापि होमः स्वाहाकारेण कर्तव्य इत्याह—स्वाहाकारेण जुहोतीति। होमप्रदेशमाह—अधोऽधो धुरमिति। उपरि धार्यमाणस्य रथस्य धुरोऽधोऽधोभागे जुहुयात्। तच्च कात्यायनानुसारं पुरस्ताद्बहिर्वेदेर्वातमञ्जलिनाहृत्य दक्षिणस्यां

धुरि अधो जुहुयात्। अथोत्तरतो बहिर्वेदेरञ्जलिना वातमाहृत्य उत्तरस्यां धुरि अधो जुहुयात्। अथ दक्षिणत आहृत्य दक्षिणाप्रष्टेरधो जुहुयात्। रथस्य आदित्यात्मकत्वात् तस्याधोभागे वातहोमेन वायुमादित्यादर्वाचीनं निहितवान् भवतीत्यर्थः।

समुद्रोऽसीति वायव्यानि त्रीणि यजूंषि। त्रिलोकीस्थानो वायुर्लोकद्वारेण स्तूयते। हे वायो, यस्त्वं समुद्रोऽसि सम्यग् उनत्ति जलैः क्लिन्नो भवतीति समुद्रः। अथवा समुद्द्रवन्ति भूतानि यस्मात् स समुद्रः परमात्मा। तथा च श्रुतिः—'समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः' (श० १०।६।४।१)। इयं च व्युत्पत्तिः समुद्रशब्दस्य भीमादिगणे पाठादुन्नेया। तथा चाह तत्रभगवान् परमर्षिः पाणिनिः 'भीमादयोऽपादाने' (पा० सू० ३।४।७४) इति। अथवा सं समीचीना उद्रा जलचरविशेषा यत्रासौ समुद्रः। अथवा मुदं रातीति मुद्रा मर्यादा, तया सह वर्तत इति समुद्रः। समुद्रोऽसि स्वर्लोकोऽसि। 'उन्दी क्लेदने' इत्यस्मात् 'स्फायि-तञ्चि-वञ्चि' (उ० २।१३) इत्यादिना रक्। 'अनिदितां हल उपधायाः' (पा० सू० ६।४।२४) इति नलोपः। नभस्वान् नभांसीति नक्षत्राण्युच्यन्ते, तानि हि नितरां भान्ति, तानि विद्यन्ते यत्रासौ नभस्वान् वायुः। आर्द्रदानुः, आर्द्रं वृष्ट्यवश्यायादिकं ददातीत्यार्द्रदानुः, 'दाभाभ्यां नुः' (उ० ३।३२) इति नुः, तादृशं त्वां प्रार्थय इति शेषः। शम्भूः शमैहिकं सुखं भावयति प्रापयति सुखार्थिभ्यो भक्तेभ्य इति। मयोभूः, मयः पारलौकिकं सुखं भावयतीति मयोभूः। एवंभूतस्त्वं मा मामभि वाहि मदभिमुखमागच्छ। तस्मै स्वाहा इदं हविः सुहुतमस्तु। मारुतोऽसि मरुतां वातानां पुरोवातप्रभृतीनामयं मारुतोऽन्तरिक्षलोकोऽसि। मरुतां शुक्रज्योतिःप्रभृतीनां गणः, तन्निवासत्वात्। आधाराधेययोरभेदः। अत एवान्तरिक्षलोकोऽसि, तं त्वां ब्रवीमीति शेषः। शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि तुभ्यं स्वाहा। अवस्यूरसि। अवनमवो रक्षणम्, अवं सीव्यतीत्यवस्यूः, 'षिवु तन्तुसन्ताने' इत्यस्मात् क्विपि 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (पा० सू० ६।४।१९) इति वकारस्य ऊठि यणि च रूपसिद्धिः, भूलोकरूपोऽसि, 'अयं वै लोकोऽवस्यूः' (श० ९।४।२।७) इति श्रुतेः। दुवस्वान् दुवोऽन्नं हविर्लक्षणं विद्यते यस्य स दुवस्वान् असि। तं त्वां याचे, शम्भूर्मयोभूर्भूत्वा मामभि वाहीत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'समुद्रोऽसि नभस्वानिति। असौ वै लोकः समुद्रो नभस्वानार्द्रदानुरित्येष ह्यार्द्रं ददाति तद्योऽमुष्मिँल्लोके वायुस्तमस्मिन्नेतद्दधाति शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहेति शिवः स्योनोऽभि मा वाहीत्येतत्' (श० ९।४।२।५)। अथ प्रथमं मन्त्रं व्याचष्टे—समुद्रोऽसीति। असौ स्वर्लोकः सर्वदा वृष्टिप्रदानेन समुन्दनशीलत्वात् समुद्रः। नभ इति नक्षत्रनाम। नभस्वान् नक्षत्रविशिष्टश्च स एव भवति। एष ह्यार्द्रमिति। एष स्वर्लोक आर्द्रं वृष्टिं ददाति यतस्तस्मादार्द्रदानुः। तेन समुद्रोऽसीति मन्त्रप्रयोगेण अमुष्मिँल्लोके यो वायुर्बहिःप्रदेशादाहृतोऽस्ति, तमेवास्मिन्नग्नौ निदधाति। हे वायो, त्वं समुद्रो नभस्वानार्द्रदानुर्यः स्वर्लोकस्तत्र वर्तमानत्वात्तदात्मकोऽसीति मन्त्रेण प्रतिपादनाद् बाह्यप्रदेशादाहृतं वायुमेवास्मिन्नग्नौ निहितवान् भवति। शम्भूर्मयोभूरित्यनयोरेकार्थताशङ्कां निवारयितुमाह—शिवः स्योन इति। शिवः शोभनः स्योनः सुखकरः। हे वायो, यस्त्वं समुद्रो नभस्वान् आर्द्रदानुरसि, स त्वं शोभनः सुखकरो भूत्वा मामभिगच्छेत्यर्थः। 'मारुतोऽसि मरुतां गण इति। अन्तरिक्षलोको वै मारुतो मरुतां गणस्तद्योऽन्तरिक्षलोके वायुस्तस्मिन्नेतद्दधाति शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहेति शिवः स्योनोऽभि मा वाहीत्येतत्' (श० ९।४।२।६)। द्वितीयं मन्त्रं व्याचष्टे—मारुतोऽसीति। अन्तरिक्षलोको मरुद्भिर्विशिष्टत्वाद् मारुतः, अत एव मरुतां गणः। आधाराधेययोरभेदविवक्षया एषोक्तिः। 'अवस्यूरसि दुवस्वानिति। अयं वै लोकोऽवस्यूर्दुवस्वांस्तद्योऽस्मिँल्लोके वायुस्तमस्मिन्नेतद्दधाति शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहेति शिवः स्योनोऽभि मा वाहीत्येतत्' (श० ९।४।२।७)। तृतीयं मन्त्रं व्याचष्टे—अवस्यूरसीति। अयं लोको भूर्लोकोऽवस्यूः। अवस्यूरित्यन्नमुच्यते। तद्विशिष्टः, अत्रैव सर्वेषामन्नानामुत्पत्तेः। 'त्रिभिर्जुहोति। त्रय इमे लोका अथो त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तदेषु लोकेषु वायुं दधाति' (श० ९।४।२।८)।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वर एव हिरण्यगर्भसूत्रात्मना प्रपञ्चं शास्तीति स एव वायुरूपेणात्र प्रशस्यते। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वं नभस्वानार्द्रदानुः समुद्र इवासि, स स्वाहा शम्भूर्मयोभूः सन् मामभि वाहि। यस्त्वं मारुतो मरुतां गण इवासि स स्वाहा शम्भूर्मयोभूः सन् मामभि वाहि। यस्त्वं दुवस्वानवस्यूरिवासि स तस्मात् स्वाहा शम्भूर्मयोभूः सन् मामभि वाहि' इति, तत्सर्वं श्रुतिविरुद्धत्वादुपेक्ष्यमेव। यथाकथञ्चिद् गौणार्थकताकल्पनेऽपि निरर्थकमेव, मन्त्राक्षरासम्बद्धं च विभावनीयम् ॥ ४५ ॥

यास्ते॑ अग्ने॒ सूर्ये॒ रुचो॒ दिव॑मात॒न्वन्ति॑ र॒श्मिभिः॑।
ताभि॑र्नो अ॒द्य सर्वा॑भी रु॒चे जना॑य नस्कृधि ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आपकी जो दीप्ति सूर्यमण्डल में विद्यमान किरणों के द्वारा द्युलोक को प्रकाशित करती है, इस समय उन सम्पूर्ण कान्तियों से आप हमारी शोभा बढ़ाइये, हमारे पुत्र-पौत्र आदि को जगत् में प्रसिद्ध कीजिये ॥ ४६ ॥

'नव जुहोति या स्त इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १८।६।६)। पूर्वसंस्कृतादाज्यात् सकृत्सकृदादाय नवाहुतीर्जुहोति यास्ते अग्ने (१), या वो देवाः (२), रुचं नः (३), तत्त्वा यामि (४) एताश्चतस्रः, 'स्वर्ण घर्मः' (वा० सं० १८।५०) इति कण्डिकायां पञ्च यजूंषि, सम्भूय नव यजूंषि—इति सूत्रार्थः। तत्रेयं त्रयोदशे द्वाविंश्यां व्याख्याता ॥ ४६ ॥

या वो॑ देवाः॒ सूर्ये॒ रुचो॒ गोष्वश्वे॑षु॒ या रुचः॑।
इन्द्रा॑ग्नी॒ ताभिः॒ सर्वा॑भी॒ रुचं॑ नो धत्त बृहस्पते ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्राग्नी, हे बृहस्पते, हे देवसमूह ! आप सबकी जो दीप्ति सूर्यमण्डल में वर्तमान है, जो दीप्ति धेनुओं में और अश्वों में स्थित है, उन सम्पूर्ण दीप्तियों से देदीप्यमान आप सब हमारे लिये कान्ति और नीरोगता प्रदान कीजिये ॥ ४७ ॥

इयमपि त्रयोदशे त्रयोविंश्यां व्याख्याता ॥ ४७ ॥

रुचं॑ नो धेहि ब्राह्मणेषु॒ रुच॒ꣳ राज॑सु नस्कृधि।
रुचं॒ विश्ये॑षु शू॒द्रेषु॒ मयि॑ धेहि रु॒चा रुच॑म् ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप हम ब्राह्मणों में और क्षत्रियों में कान्ति स्थापित कीजिये। वैश्यों और शूद्रों में भी कान्ति स्थापित कीजिये, साथ ही मुझमें भी कान्ति के साथ अविच्छिन्न कान्ति को स्थापित कीजिये ॥ ४८ ॥

अग्निदेवत्याऽनुष्टुप्। प्रथमः पादो नवाक्षरः। हे अग्ने, नोऽस्माकं ब्राह्मणेषु, अस्मत्सम्बन्धिनो ये ब्राह्मणास्तेषु, रुचं दीप्तिं ब्राह्मं तेजो धेहि। नोऽस्माकं राजसु राजन्येषु क्षत्रियेषु रुचं क्षात्रं तेजः कृधि कुरु,

'श्रुश्रृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि' (पा० सू० ६।४।१०२) इति हेर्धित्वे, 'बहुलं छन्दसि (पा० सू० २।४।७३) इति शपो लुकि च रूपम्। विश्येषु वैश्येषु शूद्रेषु चास्माकीनेषु रुचं तदुपयोगिनीं रुचं दीप्तिं कुरु, यथा ते वसिष्ठ-मान्धातृ-नहुष-तुलाधार-विदुरादिवद् धर्मनिष्ठाः शक्तिशालिनः सिद्धा भवेयुः। किञ्च, मयि रुचा दीप्त्या सह रुचिं दीप्तिं धेहि, अविच्छिन्नां रुचं धेहीत्यर्थः। यथा वयं दीप्त्या ब्रह्मवर्चसेन अनुत्सन्नधर्माणो भवेम तथा कुर्वित्यभिप्रायः। यद्वा—ब्रह्मराजन्यप्रभृतिषु या रुक् तामस्माकं धेहि। किं बहुना, मय्येव रुचा ज्ञानेन सङ्गतां रुचं दीप्तिं धेहि।

तत्र ब्राह्मणम्—'अथ रुङ्मतीर्जुहोति। अत्रैष सर्वोऽग्निः संस्कृतः स एषोऽत्र रुचमैच्छत्तस्मिन् देवा एताभी रुङ्मतीभी रुचमदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति' (श० ९।४।२।१२)। वातहोमानन्तरं रुङ्मतीनां होमं विधत्ते—अथेति। रुक्शब्दसम्बन्धाद् होमसाधनभूता ऋचो रुङ्मत्यः। एवं च रुङ्मतीर्जुहोतीत्यस्य तत्साध्यान् होमान् कुर्यादित्यर्थः। पूर्वं देवाः संस्कृतेऽस्मिन्नग्नौ एताभी रुङ्मतीभी रुचमदधुरिति, तथैव यजमानोऽपि करोतीत्याह—अत्रैष इति। 'यास्ते अग्ने सूर्ये रुचः। या वो देवाः सूर्ये रुचो रुचं नो धेहि ब्राह्मणेष्विति रुच ँ् ँ् रुचमित्यमृतत्वं वै रुगमृतत्वमेवास्मिन्नेतद्दधाति तिस्र आहुतीर्जुहोति त्रिवृदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतद्रुचं दधाति' (श० ९।४।२।१४)। ताश्च रुङ्मतीर्ऋचो दर्शयति—यास्ते अग्न इति। मन्त्रेषु पौनःपुन्येन रुक्छब्द-प्रयोगादस्मिन्नग्नौ रुचं निदधातीत्याह—रुचं रुचमित्यमृतत्वमिति। आहुतीनां त्रित्वेन कृत्स्न एवाग्नौ रुचं निदधातीत्याह—तिस्र आहुतीरिति।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवन्नग्ने परमात्मन्, नोऽस्माकं सम्बन्धिषु ब्राह्मणेषु रुचं वेदादिज्ञानरूपाम्, नो राजसु राजन्येषु रुचं क्षात्रं तेजः कृधि। विश्येषु शूद्रेषु च रुचं धर्मबुद्धिं कृधि। मयि रुचा ब्रह्मात्मज्ञानेन युक्तां रुचं ब्रह्मवर्चसं धेहि।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर, ब्राह्मणादिषु रुचं धेहि रुचा रुचं प्रीत्या प्रीतिं मयि धेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ब्राह्मणादिषु रुचं मयि रुचा रुचमिति विशेषानुपपत्तेः ॥ ४८ ॥

तत्त्वा॑ यामि॒ ब्रह्म॑णा॒ वन्द॑मान॒स्तदा शा॑स्ते॒ यज॑मानो ह॒विर्भिः॑।
अहे॑ डमानो वरुणे॒ह बो॒ध्युरु॑शꣳ स॒ मा न॒ आयुः॒ प्रमो॑षीः ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—हे वरुणदेवता ! हम आपकी स्तुति करते हैं। यजमान हवि प्रदान कर जो कुछ याचना करता है, वह वेद के द्वारा स्तुति करता हुआ आपकी ही शरण में जाता है। मैं भी आपसे याचना करता हूं कि हे परम आराध्य-देव ! आप क्रोध न करते हुए हमारी प्रार्थना को सुनें, हमारी आयु का नाश न होने दें ॥ ४९ ॥

वरुणदेवत्या त्रिष्टुप् शुनःशेपदृष्टा। मन्त्रे वर्तमानयोर्द्वयोस्तच्छब्दयोरेकस्य परिणामो यच्छब्दत्वेन कार्यः। हे वरुण, यजमानो हविर्भिर्दत्तैर्यद्धनपुत्रादिकमाशास्ते कामयते, अर्थाद् यदिच्छया तुभ्यं हविर्ददाति, तद् यजमानेष्टं त्वा त्वामहं यामि याचामि, तत् त्वया यजमानाय दीयतामित्यर्थः। 'यामीति याच्ञाकर्मसु पठितः' (निघ० ३।१९।२)। केचित्तु—'अथापि वर्णलोपो भवति तत्त्वा यामीति' इति यास्कोक्तिमनुरुध्य याचेः प्रयोगमेवात्राहुः, किन्तु नैतत् स्कन्दस्वामिसम्मतम्। स प्राह—'एतदपव्याख्यानम्। याच्ञाकर्मसु यामीति पठ्यते—ईमहे, यामि, मन्महे इति। तस्मान्न याचामीति चकारलोपस्य प्रदर्शनार्थम्। किन्तर्हि ? 'या प्रापणे' इत्यस्यानेकार्थत्वाद् धातूनां याच्ञाकर्मप्रदर्शनार्थम्। ततश्च यामीत्येतन्न याचतेर्वर्णलोपेन रूपम्, किन्तर्हि यातेः। यदि च

स्यात्, द्वयोर्वर्णयोर्लोपोऽयं स्यात्, चकारस्याकारस्य च। ततश्च 'अथापि द्विवर्णलोपः' इत्यत्र उदाह्रियेत, न तु 'अथापि वर्णलोपः' इत्यत्र। लौकिकाश्चात्र शब्दाः प्रत्तमवत्तमित्यादय उदाहर्तुं प्रक्रान्ताः। तत्रैकस्यैवैतस्य वैदिकस्योदाहरणमबुद्धिपूर्वं स्यात्। तत एतदन्यथा व्याख्यायते। तत्वा इत्येतदत्रोदाहरणम्, न यामीति। न चैतत् 'तत्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानः' इत्यस्या ऋचः प्रतीकग्रहणम्, किन्तर्हि ? लौकिकमेतदुदाहरणम्, तत्वा यामीति लौकिकं वाक्यम्, तनित्वा गच्छामीत्यर्थः। पुनः 'तत्वा' इत्यत्र वर्णलोप उच्यते। तत्वा इत्येतत् 'तनु विस्तारे' इत्यस्य क्त्वाप्रत्ययेन रूपम्। तत्रैकः 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' (पा० सू० ६।४।३७) इत्यनुनासिकलोपः। स तु 'अथाप्यन्तलोपो भवति' इत्येतेन प्रदर्शितः। अपरः 'उदितो वा' (पा० सू० ७।२।५६) इतीटो वैकल्पिकत्वादिकाराभावः। सोऽत्र वर्णलोपः। तत्वा तनित्वेत्यर्थः' इति।

कामं बुद्धिवैशद्यार्थमेतद् भवेत्, किन्तु नास्माकं मनोरमम्। यतो हि व्याकरणशास्त्रेणासम्पाद्यमानस्य कार्यस्य प्रदर्शनार्थमेव नैरुक्ती व्याख्या। भगवतो वेदपुरुषस्य मुखं व्याकरणम्, श्रोत्रं च निरुक्तम्। मुखेनोच्चारितस्य यदार्थावगतिर्न भवेत्, तदर्थप्रतिपत्त्यर्थं प्रायो निरुक्तं प्रवर्तते। व्याकरणशास्त्रेऽपि वर्णागमवर्णविपर्ययाद्यर्थं भगवता पाणिनिना सूत्रितम्—'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा० सू० ६।३।१०९)। किन्तु नहि तावतैव कार्यं निर्वहति। अत एवाव्युत्पन्नशब्दा अपि स्वीक्रियन्ते वैयाकरणैः। शाकटायनस्त्वस्यापवादः। यच्चात्रोक्तम्—प्रत्तमवत्तमिति लौकिकोदाहरणे प्रक्रान्ते तत्र तत्त्वा यामीति वैदिकोदाहरणप्रदर्शनमबुद्धिपूर्वं स्यादिति, तत्राप्येवं वक्तव्यम्—'सर्वस्य हैवास्य तत्पशोरवत्तं भवति' (श० ३।८।३।१६), 'सर्वेषामेवाङ्गानामवत्तं भवति' (श० ४।५।२।६), 'अङ्गादङ्गादवत्तानाम्' (तै० ब्रा० ३।६।११।२) इत्यादिषु श्रुतिषु तथाविधानां शब्दानां बहुलमुपलम्भादिति सुधीभिर्विभावनीयम्।

कीदृशोऽहम् ? ब्रह्मणा वन्दमानः, त्रयीलक्षणेन वेदेन त्वां स्तुवानः। किञ्च, हे उरुशंस ! शंसनं शंसः स्तुतिः, उरुर्महान् शंसः स्तुतिर्यस्या सा उरुशंसस्तत्सम्बुद्धौ, हे बहुस्तुते ! इह अस्मिन् स्थानेऽहेडमानोऽक्रुध्यन् सन् बोधि बुद्धयस्व, त्वं मदभ्यर्थनां जानीहीत्यर्थः। किञ्च, नोऽस्माकमायुर्जीवनं मा प्रमोषीर्मा चोरय, पूर्णायुश्च देहीत्यर्थः। 'मुष स्तेये' इत्यस्माल्लुङि, 'न माङ्योगे' (पा० सू० ६।४।७४) इत्यडभावः। हे वरुण, यत्प्रयोजनमुद्दिश्य ब्रह्मणा वेदेन वन्दमानो नमस्कुर्वाणोऽहं त्वा त्वां यामि शरणं व्रजामि, यजमानश्चाभ्युद्यतैर्हविर्भिर्यदेव प्रयोजनमाशास्ते, इहास्मिन् कर्मणि यजमानकृतं देवापराधमहेडमानस्तदनादरं कुर्वाणस्तत्प्रयोजनं बोधि बुद्धयस्व। हे उरुशंस, न आयुर्मा प्रमोषीः। यजमानमनोरथं पूरयित्वा यज्ञसमाप्तिं कृत्वा मां रक्षेत्यर्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमान इति। तत्त्वा याचे ब्रह्मणा वन्दमान इत्येतत्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिरिति तदयमाशास्ते यजमानो हविर्भिरित्येतदहेडमानो वरुणेह बोधीत्यक्रुध्यन्नो वरुणेह बोधीत्येतदुरुशꣳस मा न आयुः प्रमोषीरित्यात्मनः परिदां वदते' (श० ९।४।२।१७)। यामीत्यस्य 'याचे' इत्यर्थः। मा प्रमोषीरित्यनेन वरुणादात्मनो रक्षणमुक्तवान् भवतीत्याह—आत्मनः परिदां वदत इति। आयुषोऽवखण्डनवर्जनं परिदा। हे वरुण ! यद् यज्ञसमाप्तिलक्षणं प्रयोजनमस्ति, तत्प्रयोजनं ब्रह्मणा वेदेन वन्दमानः स्तुतिं कुर्वाणस्तत्त्वा याचे। अयं यजमानो हविर्भिस्तदेव प्रयोजनमाशास्ते, तद्भवानस्मभ्यमहेडमानोऽक्रुध्यन् इहास्मद्विषये तत्प्रयोजनं प्रतिपादयितुं बोधि बुद्धयस्व, प्रदीयतामित्यर्थः। हे उरुशंस, बहुस्तुतिविशिष्ट ! नोऽस्माकमायुर्मा प्रमोषीर्माऽपहार्षीः।

अध्यात्मपक्षे—'हे वरुण परमेश्वर, 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्। ब्रह्मणा वन्दमानस्तत्प्रयोजनं त्वा यामि

याचे। 'अयं यजमानः साधको हविर्भिरभ्युद्यतैर्यदाशास्ते, अपराधे सत्यपि कृपयाऽहेडमानोऽक्रुध्यन् तत्प्रयोजनं भगवत्प्राप्तिलक्षणं बोधि दीयतामित्यर्थः। हे उरुशंस प्रभूतस्तुते, नोऽस्माकमायुर्मा प्रमोषीः स्वसाक्षात्कारप्राप्त्या सफलय।

दयानन्दस्तु—'हे उरुशंस वरुण श्रेष्ठविद्वन्, ब्रह्मणा वन्दमानो यजमानोऽहेडमानः सत्कृतः पुरुषो हविर्भिर्होमयोग्यैः पदार्थैर्य आशास्ते, तमहं यामि प्राप्नोमि। यदुत्तममायुः शतवर्षमायुस्तत्त्वामाश्रित्य प्राप्स्यामि तत् त्वमपि प्राप्नुहि। इह संसारे तदायुर्बोधि बुद्ध्यस्व न आयुर्मा प्रमोषीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यजमानेन यत् कामितं यजमानो यत् प्राप्नोति वक्ता तत्कथं प्राप्स्यति ? तत्कामनया च उरुशंसोऽपि श्रेष्ठोऽपि मनुष्यः कथमभ्यर्थनीयः ? तस्य अल्पशक्तित्वेनाभीष्टदातृत्वानुपपत्तेः। आयुःप्राप्त्याशंसनं मनुष्यात् सुतरामसङ्गतम्, तत्र तस्यासामर्थ्यात्। यदाश्रित्य वक्ता आयुः प्राप्नोति, स सुतरामायुष्मानेव भवतीति त्वमपि प्राप्नुहीत्युक्तिर्निरर्थिकैव। उरुशंसः कथमन्यस्यायुरपहर्ता स्यादिति सर्वमपि निरर्थकप्रलपनमेव ॥ ४९ ॥

स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा स्वर्ण सूर्यः स्वाहा ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—दिन के समान आदित्य देवता की प्रीति के लिये हम आहुति देते हैं, यह भली प्रकार गृहीत हो। सूर्य के समान अग्नि को आदित्य में स्थापित करते हैं, उनकी प्रीति के लिये दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। दिन के समान शुक्ल वर्ण आदित्य के लिये दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। मैं स्वर्गदाता अग्नि को अग्नि में स्थापित करता हूँ, उसकी प्रीति के लिये दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो। सम्पूर्ण देवताओं के रूप के समान सूर्य को उत्तम करता हूँ, अर्थात् भ्रान्ति से अनेकत्व की प्रतीति होती है, वास्तव में एक ही सूर्य नाना रूपों में भासित होता है ॥ ५० ॥

पञ्च यजूंष्यग्निदेवत्यानि। 'अर्काश्वमेधयोः सन्ततीर्जुहोति' (श० ९।४।२।१८) इति श्रुतिरीत्या अर्काश्वमेधसन्ततिसंज्ञाः पञ्चाहुतयो होतव्याः। अर्कोऽग्निः, अश्वमेधः सूर्यः, तयोः सन्ततयः सन्तन्वन्ति संयोजयन्तीति सन्ततयस्ताः, अग्न्यादित्यैक्यकारिका आहुतारित्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'अग्निरर्कोऽसावादित्योऽश्वमेधस्तौ सृष्टौ नानेवास्तां तौ देवा एताभिराहुतिभिः समतन्वन् समदधुः' (श० ९।४।२।१८) इति। सन्दर्भमिममनुसृत्य व्याख्यायते। न इवार्थे। स्वो न स्वरिव। स्वःशब्दोऽहरर्थः। अहरिव यो घर्मः सूर्यः, दिनकरत्वात् सूर्यस्य अहरुपमानम्। तमग्नौ स्वाहा, आदित्यमग्नौ स्थापयामीति यावत्। 'तमग्नौ' इति शब्दद्वयमध्याहृत्य व्याख्येयम्। स्वो न सूर्य इव योऽर्कोऽग्निः, तमादित्ये स्वाहा जुहोमि, प्रतिष्ठापयामीति यावत्। स्वःशब्दः सूर्यार्थः। स्वो न स्वःशब्दो देवार्थकः, नशब्दो निश्चयार्थकः। निश्चप्रचं देवो यः शुक्र आदित्यः, तं स्वाहा तमादित्य एव जुहोमि स्थापयामि। स्वो न स्वःशब्दः स्वगार्थकः। स्वर्ग इव ज्योतिरग्निः, स्वर्गप्रदत्वादग्नेः स्वर्गोपमानम्। तं स्वाहा तमिममग्निमग्नावेव जुहोमि स्थापयामि। एवमग्निं सूर्ये सूर्यमग्नौ सूर्ये च सूर्यमग्नावग्निं च सन्धाय किं बहुना, तयोः संयोगं कृत्वा सूर्यमुत्तमं करोति—स्वर्ण सूर्यः स्वाहेति। स्वो न स्वःशब्दः सर्वदेवार्थकः। सर्वदेवरूप इव यः सूर्यः, तं स्वाहा उत्तमं करोमि। अव्ययानामनेकार्थकत्वात् स्वाहाशब्द उत्तमार्थः। सर्वे देवा भ्रान्त्या भिन्ना भासन्ते, वस्तुतः सूर्य एव नानारूपोऽस्तीतीवशब्दार्थः। एवं पञ्चाहुतिभिरग्न्यश्वमेधयोरैक्यं विधाय सर्वदेवेष्वर्कस्योत्तमत्वं कृतमिति भावः।

यद्वा स्वरिवासावादित्यो घर्मोऽतस्तमादित्यमग्नौ स्वाहा जुहोमि प्रतिष्ठापयामि। स्वरिव योऽर्कोऽग्निस्तमादित्ये स्वाहा जुहोमि स्थापयामि। स्वरिवासावादित्यः शुक्रस्तं पुनरत्राग्नौ दधामि। स्वरिव योऽग्निर्ज्योतिः, तमग्निमादित्ये जुहोमि स्थापयामि। स्वरिवासावादित्यः, तमग्नौ जुहोमि। एवं पञ्चचितिकोऽयमग्निः स्तूयते। यद्वा स्वर्ण घर्मः स्वाहेत्येतानि अग्नेरेव पञ्च नामानि, 'अस्यैवैतान्यग्नेर्नामानि' (श० ९।४।२।२५) इति श्रुतेः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथार्काश्वमेधयोः सन्ततीर्जुहोति। अयं वा अग्निरर्कोऽसावादित्योऽश्वमेधस्तौ सृष्टौ नानेवास्तां तौ देवा एताभिराहुतिभिः समतन्वन् समदधुस्तथैवैनावयमेतदेताभिराहुतिभिः सन्तनोति सन्दधाति' (श० ९।४।२।१८)। अर्काश्वमेधसन्ततिसंज्ञान् होमान् विधत्ते—अथेति। ननु कावर्काश्वमेधौ ? किमर्थं वा तयोः सन्धानसम्पादनमित्याह—अयं वा अग्निरिति। अयमिदानीं संचितोऽग्निरेवार्कः। असाविति दूरदेशवर्ती सूर्यो निर्दिश्यते। तस्य चाश्वमेधत्वम्, अश्वमेधसम्बन्धिनोऽश्वस्य तदात्मनाऽनुसन्धातव्यत्वात्। तावर्काश्वमेधौ पूर्वं संसृष्टौ सन्तौ पश्चाद्विभिन्नावभूताम्। अतो देवा एताभिराहुतिभिः पुनरपि तौ संसृष्टावकुर्वन्। तथैव यजमानोऽप्येनौ संसृष्टौ करोतीत्यर्थः। 'स्वर्ण घर्मः स्वाहेति। असौ वा आदित्यो घर्मोऽमुं तदादित्यमस्मिन्नग्नौ प्रतिष्ठापयति' (श० ९।४।२।१९), 'स्वर्णार्कः स्वाहेति। अयमग्निरर्क इमं तदग्निममुष्मिन्नादित्ये प्रतिष्ठापयति' (श० ९।४।२।२०), 'स्वर्ण शुक्रः स्वाहेति। असौ वा आदित्यः शुक्रस्तं पुनरमुत्र दधाति' (श० ९।४।२।२१), 'स्वर्ण ज्योतिः स्वाहेति। अयमग्निर्ज्योतिस्तं पुनरिह दधाति' (श० ९।४।२।२२), 'स्वर्ण सूर्यः स्वाहेति। असौ वा आदित्यः सूर्योऽमुं तदादित्यमस्य सर्वस्योत्तमं दधाति तस्मादेषोऽस्य सर्वस्योत्तमः' (श० ९।४।२।२३)। होममन्त्रान् व्याचष्टे—स्वर्ण घर्मः स्वाहेति। ततश्चैतन्मन्त्रसाध्येन होमेनामुमादित्यमस्मिन्नग्नौ प्रतिष्ठापयति। स्वरिति स्वर्लोक उच्यते। नशब्द इवार्थे। सुखहेतुत्वेन स्वर्लोक इव यो घर्म आदित्यस्तं स्वाहा अस्मिन्नग्नौ जुहोमि, प्रतिष्ठापयामीति मन्त्रस्यार्थः। एवमुत्तरेष्वपि मन्त्रेषु योजनीयम्। 'तं पुनरमुत्र दधाति, तं पुनरिह दधाति' इति मन्त्रद्वयेनान्योन्यस्मिन्नन्योन्यस्य प्रतिष्ठापनादादित्य एवाग्निर्जातः, अग्निरेवादित्यो जातः। तस्मादग्निरमुत्रेति दूरदेशवर्ती परामृश्यते। आदित्यस्त्विहेति सन्निहितः परामृश्यते। अमुं तदादित्यमिति—स्वर्ण सूर्यः स्वाहेत्यनेनोपर्यादित्यस्य प्रतिष्ठापनादादित्यमस्य सर्वजगत उत्तममुपरि वर्तमानं निहितवान् भवति। यत एवं तस्मादिदानीमेष आदित्योऽस्य सर्वस्योत्तमो वर्तते। 'पञ्चैता आहुतीर्जुहोति। पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चर्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनावेतत्सन्तनोति सन्दधाति' (श० ९।४।२।२४)। आहुतीनां पञ्चत्वसंख्यामर्काश्वमेधयोः सन्धानसाकल्यहेतुर्भवतीति प्रशंसति—पञ्चैता आहुतीरिति।

अध्यात्मपक्षे—स्वः सुखं ब्रह्मात्मकं न निश्चप्रचं घर्म आदित्यः, ब्रह्मैवादित्य इत्यर्थः। तस्मै स्वाहा सर्वस्वनिवेदनमस्तु। स्वः सुखात्मकं ब्रह्मैवार्कोऽग्निः, तस्मै स्वाहा। स्वः सुखात्मकं ब्रह्मैव शुक्रः सर्वोऽपि दीप्तिमान् पदार्थः। तस्मै स्वाहा। स्वः सुखात्मकं ब्रह्मैव ज्योतिः, आन्तरं चक्षुरादि बाह्यमादित्यादि च। तस्मै स्वाहा।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा स्वाहा सत्यया क्रियया सुखमिव घर्मस्तापः स्यात्, यथा स्वाहा स्वरिव अर्कोऽग्निः स्यात्, स्वाहा यथा सत्यक्रियया सुखमिव शुक्रो वायुः स्यात्, स्वाहा सत्यक्रियया सुखमिव ज्योतिः स्यात्, स्वाहा सत्यक्रियया सुखमिव सूर्यो भवेत्, तथैव यूयमप्याचरत' इति तदपि यत्किञ्चित्, कस्य सत्यक्रियया कया विधया च घर्मादिः सुखतुल्यो भवतीत्यनुक्तेः। मनुष्याणां सत्यक्रिययेति चेत्, तेष्वसत्क्रियाया अपि सत्त्वेन तया दुःखतुल्यत्वस्याप्युपपत्तेः, तथात्वे च मनुष्यादिभ्यस्तेषु विशेषानुपपत्तेः। भावार्थस्तु सर्वथा मन्त्राक्षरासम्बद्ध एव॥ ५०॥

अ॒ग्निं यु॑नज्मि॒ शव॑सा घृ॒तेन॑ दि॒व्यꣳ सु॑प॒र्णं वय॑सा बृ॒हन्त॑म्।
तेन॑ व॒यं ग॑मेम ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टप॒ꣳ स्वो॒ रुहा॑णा॒ अधि॒ नाक॑मुत्त॒मम् ।। ५१ ।।

मन्त्रार्थ—स्वर्ग में वर्तमान सुन्दर गति वाले धुएँ से ढ़के हुए अग्निदेव को मैं बल और घृत से संयुक्त करता हूँ। इनकी सहायता से हम आदित्य लोक में जाकर उसके ऊपर स्वर्ग में जाते हुए उत्तम दुःखरहित लोक को प्राप्त करें ।। ५१ ।।

'अग्नियोजनं प्रातरनुवाकमुपाकरिष्यन् परिधीनालम्भ्य यथापूर्वमग्निं युनज्मीति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १८।६।१७)। प्रातरनुवाकोपाकरणात् प्राग् यथापूर्वमित्युपधानक्रमेण ऋक्त्रयेण प्रत्येकं परिधीनग्नियोजनं करोतीति सूत्रार्थः। अत्र ब्राह्मणम्—'अथ प्रातः प्रातरनुवाकमुपाकरिष्यन्। अग्निं युनक्ति युक्तेन समश्नवा इति तेन युक्तेन सर्वान् कामान् समश्नुते तं वै पुरस्तात् सर्वस्य कर्मणो युनक्ति तद्यत् किञ्चात ऊर्ध्वं क्रियते युक्ते तत्सर्वꣳ समाधीयते' (श० ९।४।४।१)। औपवसथ्यदिवसप्रयोगमभिधाय सुत्याहप्रयोगं विवक्षुः प्रथममग्नियोगं विधत्ते—अथ प्रातरिति। प्रातर्यावभ्यो देवेभ्योऽनुब्रूहीत्येवं सम्प्रैषः। प्रातरनुवाकस्योपाकरणम्, तत्करिष्यन् प्रातरनुवाकोपाकरणात् प्राग् युक्तेनाग्निना सर्वान् कामान् प्राप्नवानीत्यभिप्रायेणाग्निं युनक्ति। यथा लोके नियुक्ताश्वेन रथेन जिगमिषित-प्रदेशान् गच्छति, तद्वन्नियमितेनानेन सर्वान् कामानाप्नवानीति यजमानोऽध्वर्युमुखेनाग्निं नियच्छतीत्यर्थः। येनाभिप्रायेणैनं युनक्ति सोऽभिप्रायस्तथैव फलतीत्याह—युक्तेन सर्वान् कामानिति। तन्नियोजनस्य सर्वस्मादपि कर्मणः पूर्वत्वं प्रशंसति—तं वै पुरस्तादिति। तत् तस्मिन्नहनि। अत ऊर्ध्वं यत् किञ्च कर्म क्रियते, तत्सर्वं युक्त एवाग्नौ सम्यग् आधीयते। लोके हि नियुक्ते रथादौ निहितेन जिगमिषितप्रदेशस्य गमनात्, तद्वदेव युक्तेऽग्नौ समाहितं सर्वकामप्राप्तये समर्थं भवतीति युक्त एवाग्नौ समाहितं भवतीत्यर्थः। 'परिधिषु युनक्ति। अग्नय एते यत्परिधयोऽग्निभिरेव तदग्निं युनक्ति' (श० ९।४।४।२)। विहितोऽयमग्नियोगः कुत्र कर्तव्य इति तत्राह—परिधिष्विति। परिधीनामग्नित्वमग्निभ्रात्रात्मकत्वात्। तथा चाह तित्तिरिः—'अग्नेस्त्रयो ज्यायांसो भ्रातर आसन्' इत्युपक्रम्य 'अथो खल्वाहुरेते वावैनं ते भ्रातरः परिशेरे यत्पौतुद्रवाः परिधय इति' (तै० सं० ६।२।८।६) इति। 'स मध्यमं परिधिमुपस्पृश्य। एतद्यजुर्जपत्यग्निं युनज्मि शवसा घृतेनेति' (श० ९।४।४।३)। परिधिषु नियोजन-मपि कथं कुर्यादिति तत्राह—स मध्यममिति। सोऽध्वर्युर्मध्यमं परिधिमुपस्पृश्याग्निं युनज्मि शवसा घृतेनेति यजुर्जपेत्।

अथ मन्त्रव्याख्यानम्—अग्निदेवत्यास्तिस्र ऋचः। द्वे त्रिष्टुभौ तृतीया पङ्क्तिः। दिव्यं दिवि भवो दिव्यस्तम्। 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्' (पा० सू० ४।२।१०१) इति यत्। सुपर्णं सुष्ठु शोभनं पर्णं पतनं गमनं यस्य स सुपर्णस्तम्। वयसा धूमेन बृहन्तं महान्तम्। तमग्निं शवसा बलेन घृतेन युनज्मि युक्तं करोमि। वह्निर्धूमेन महान् भवति, 'अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिः' (श० ५।३।५।१७) इति श्रुतेः। किञ्च, तेन युक्तेनाग्निना वयं ब्रध्नस्य आदित्यस्य विष्टपं विगततापं लोकं गमेम गच्छेम। 'लिङ्याशिष्यङ्' (पा० सू० ३।१।८६) इति गमेराशीर्लिङि अङ्प्रत्यये उत्तमपुरुषबहुवचने रूपम्। सर्वद्वन्द्वापहं सर्वतापरहितं सौरं लोकं वयं गच्छेमेत्यर्थः। ततोऽप्यधि अधिकम् उपरि ब्रध्नविष्टपोपरिष्टात् स्वो रुहाणाः स्वर्गं लोकमारोहन्तः सन्त उत्तमं नाकं यत्र गताः कथमपि अकमसुखं दुःखं न लभन्ते तादृशं गमेम गच्छेम।

अत्र ब्राह्मणम्—'अग्निं युनज्मि शवसा घृतेनेति बलं वै शवोऽग्निं युनज्मि बलेन च घृतेन चेत्येतद्दिव्यꣳ सुपर्णं वयसा बृहन्तमिति दिव्यो वा एष सुपर्णो वयसा बृहन्धूमेन तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपꣳ स्वो रुहाणा अधिनाकमुत्तममिति स्वर्गो वै लोको नाकस्तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपꣳ स्वर्गं लोकꣳ रोहन्तोऽधि-

नाकमुत्तमम्' (श० ९।४।४।३) एतं मन्त्रं व्याचष्टे—बलं वै शव इति। वयसेत्यस्य व्याख्यानं धूमेनेति। तथा च दिवि भवं शोभनपतनं वयसा धूमेन बृहन्तमग्निं बलेन च घृतेन च युनज्मि। तेन युक्तेनाग्निना वयं नाकं सुखहेतुभूतमत एवोत्तमं स्वः स्वर्गं लोकमधिरुहाणाः सन्तस्तदर्थं ब्रध्नस्य सूर्यस्य विष्टपं गमेम गच्छेमेति।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथ दक्षिणे। इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्याᳮ रक्षाᳮस्यपहᳮस्यग्ने। ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणा इत्यमूनेतदृषीनाह' (श० ९।४।४।४)। परिधानक्रमेण प्रथमपरिधौ प्रथमं युक्त्वा, अथ दक्षिणपरिधौ इमौ ते पक्षा इत्यादिमन्त्रं जपति। मन्त्रे ऋषय इति ऋषिशब्देन षष्ठकाण्डस्य आदावभिहितान् ऋषीनाहेति व्याचष्टे—अमूनेतदिति।

अध्यात्मपक्षे—दिव्यं दिवि स्वप्रकाशस्वरूपे भवं सुपर्णं शोभनपतत्रोपेतसुपर्णोपलक्षितं परमात्मानम्, गरुत्मानपि परमेश्वर एवेति, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० सं० १।१६४।४६) इति मन्त्रवर्णात्। वयसाऽवस्थया बृहन्तं पुराणम्, अनादिमिति भावः। तथाविधमग्निमग्रे नेतारं युनज्मि मनसा चिन्तयामि। तेन चिन्तितेन वयं नाकं स्वर्गं गमेम। ततोऽधिरुहाणा ब्रध्नस्य सूर्यस्य विष्टपं सर्वदुःखातीतं मोक्षं गमेमेति।

दयानन्दस्तु—'अहं वयसा बृहन्तं दिव्यं सुपर्णमग्निं शवसा घृतेन युनज्मि। तेन स्वो रुहाणा वयं ब्रध्नस्य विष्टपमुत्तमं नाकमधिगमेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कोऽयं नियोक्तेत्यनिरुक्तेः। न स परमेश्वरो भवितुमर्हति, तस्योत्तमलोकप्रेप्सानुपपत्तेः। नापि जीवः, तस्याग्नेर्नियोक्तृत्वानुपपत्तेः। न च घृतादिहोम एव तन्नियोजकः, त्वद्रीत्या तेन स्वर्गादिलोकप्राप्त्यसम्भवात्, वायुशुद्धेरेव त्वया तत्फलत्वाभ्युपगमात्॥ ५१॥

इमौ ते॑ प॒क्षाव॒जरौ॑ पत॒त्रिणौ॒ याभ्या॒ᳮ रक्षा॒ᳮस्यप॒हᳮस्य॑ग्ने।
ताभ्यां॑ पतेम सु॒कृता॑मु लो॒कं यत्र॒ ऋष॑यो ज॒ग्मुः प्र॑थम॒जाः पु॑रा॒णाः॥ ५२॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! तुम्हारे ये दोनों दाहिने-बायें पंख जरारहित उड़ने वाले हैं। इनकी सहायता से ही तुम राक्षसों को नष्ट करते हो। हम उनकी सहायता से पुण्यात्माओं के लोकों में जाने में समर्थ हों, जहाँ कि प्रथम उत्पन्न पुरातन ऋषि गये हैं॥ ५२॥

हे अग्ने, यौ ते तव इमौ उत्तरदक्षिणौ पक्षौ अजरौ, नास्ति जरा ययोस्तौ, अजीर्णौ। सदा नवाविति यावत्। पतत्रिणौ पतति गच्छति येन तत् पतत्रम्, 'अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन्' (उ० ३।१०५) इत्यत्रन्-प्रत्ययेन साधुः। पतत्रमस्ति ययोस्तौ उत्पतनशीलौ। याभ्यां पक्षाभ्यां त्वं रक्षांसि श्रेयःपरिपन्थिनो राक्षसान् पाप्मनश्च हंसि विनाशयसि। उ एवार्थे। ताभ्यामेव पक्षाभ्यां वयं सुकृतां पुण्यकृतामेव लोकं पतेम उत्पतेम। यत्र प्रथमजाः प्रथमोत्पन्नाः पुराणा ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो जग्मुः। चित्याग्निरेवात्र सम्बोध्यते, सुपर्णचितिरूपेण चयनात्, तस्य पक्षपुच्छात्मादीनां चितत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने गरुत्मन् भगवन्, इमौ ते पक्षौ अभीष्टगमनसाधनौ, अजरौ जरारहितौ। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने अग्निवत्प्रतापशालिन्, ते तव इमौ पतत्रिणौ अजरौ कार्यकारणरूपौ याभ्यां रक्षांसि दुष्टान् दोषान् वा हंसि ताभ्यामु तं सुकृतां लोकं वयं पतेम, यत्र प्रथमजा ऋषयो जग्मुः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, एतस्यार्थस्य खपुष्पायितत्वात्। मनुष्यस्य कौ पक्षौ? काभ्यां स रक्षांसि हन्तीत्यादेरप्रसिद्धत्वात्। नहि कार्यकारणे पक्षौ भवतः, न च ते उत्पतनसाधने। सिद्धान्ते तु पक्षिरूपेण चयनयागेऽग्नेश्चितत्वात् प्रत्यक्षावेव तस्य पक्षौ, ताभ्यामेव दुष्टानां हननं सुकृतां स्वर्गगमनं च प्रसिद्धमेव॥ ५२॥

इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युः ।
महान् सधस्थे ध्रुव आ निषत्तो नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीः ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव । आप चन्द्रमा के समान आनन्द के दाता, उत्साहयुक्त, आकाश में बाज पक्षी के समान वेग से उड़ने वाले, सत्यसम्पन्न, सुवर्णमय पंख वाले, पक्षी के समान फैले पंखों वाले, जठराग्नि के रूप में सबके पोषक, बड़े प्रभाव वाले, सर्वदा स्थिर ब्रह्म के स्थान में स्थित हैं । आपको हम बारंबार प्रणाम करते हैं । आप हमें बिना किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाए हमारी रक्षा कीजिये ॥ ५३ ॥

हे अग्ने, यस्त्वमिन्दुः, इन्दति ईष्टे इति इन्दुरीश्वरः, चन्द्रवदाह्लादको वा, 'इदि परमैश्वर्ये', दक्ष उत्साहवान् । श्येनः, श्यायत इति श्येनः प्रशस्तगतिः, 'श्यैङ् गतौ' इत्यस्मात् 'श्यास्त्याहृञविभ्य इनच्' (उ० २।४७) इति रूपसिद्धिः । श्येनपक्षिवदाकाशचारित्वाद्वा श्येनः । ऋतावा ऋतावान् ऋतं सत्यं यज्ञ उदकं वा अस्यास्तीति ऋतवान्, 'संहितायाम्' (पा० सू० ६।३।११४) इत्यधिकारे 'शरादीनां च' (पा० सू० ६।३।१२०) इति दीर्घः, छान्दसत्वात् शरादीनामाकृतिगणत्वम्, ऋतावा । हिरण्यपक्षस्तत्र निहितैर्हिरण्यशकलैर्हिरण्यरूपौ पक्षौ यस्य सः । अथवा अमृतपक्षः । शकुनः पक्ष्याकारः । भुरण्युः बिभर्तीति भुरण्युः । 'कन्युच् क्षिपेश्च'(उ० ३।५१) इति कन्युच्प्रत्ययः, पोषक इत्यर्थः । महान् प्रभावतः श्रेष्ठः, सधस्थे सह तिष्ठन्ति यत्रेति सधस्थम् । 'सध मादस्थयोश्छन्दसि' (पा० सू० ६।३।९६) इति सहशब्दस्य सधादेशः । ब्रह्मणा सहाविभक्ते स्थाने ध्रुवः स्थिरः । आनिषत्त आसमन्ताद् निषण्णः । 'नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्तसूर्तगूर्तानि छन्दसि' (पा० सू० ८।२।६१) इति निपातितः । एवंविधो योऽग्निस्तस्मै ते तुभ्यं नमोऽस्तु । मा माम्, मा हिंसीः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथोत्तरे । इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युरित्यमृतं वै हिरण्यममृतपक्षः शकुनो भर्तेत्येतन्महान् सधस्थे ध्रुव आनिषत्तो नमस्ते अस्तु मा मा हिꣳसीरित्यात्मनः परिदां वदते' (श० ९।४।४।५) । अथोत्तरपरिधौ 'इन्दुर्दक्षः श्येनः' इत्यनेन मन्त्रेण युञ्ज्यादित्याह— अथेति । शेषं स्पष्टम् । परिदा उपयाचना, 'मनौती' इति भाषायाम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, यस्त्वमिन्दुः परमैश्वर्यसम्पन्न ईश्वरो गरुत्मानेवात्रापि स्तूयसे । पूर्ववदेव व्याख्यानम् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन् सभेश, यस्त्वमिन्दुश्चन्द्रवच्छीतलो दक्षश्चतुरः श्येनवत्पराक्रम ऋतावान् सत्यसम्बन्धो हिरण्यपक्षो हिरण्यलाभः शकुनः शक्तिमान् भुरण्युः सर्वभरणशीलः सर्वबृहत् सधस्थे आनिषत्तो ध्रुवो मा हिंसीः, तुभ्यं नमः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निष्प्रमाणकत्वात्, गौणार्थाश्रयणात् । लक्षणादिबीजाभावाच्च ॥ ५३ ॥

दिवो मूर्धासि पृथिव्या नाभिरूर्गपामोषधीनाम् ।
विश्वायुः शर्म सप्रथा नमस्पथे ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आप स्वर्ग के मस्तक रूप और पृथ्वी के नाभिरूप हैं, अर्थात् आपके कारण ही सारे जीव जीवित रहते हैं । आप जल तथा औषधियों के सार हैं, विश्व भर के जीवन हैं, सबके शरणदाता तथा सब मार्गों में वर्तमान हैं । आप प्राणियों को स्वर्ग का मार्ग दिखाते हैं । हम आपको प्रणाम करते हैं ॥ ५४ ॥

'आग्निमारुतस्तोत्रपुरस्ताद्विमोचनं परिधिषन्ध्योर्दिवो मूर्धेति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १८।६।१८)। आग्निमारुतस्तोत्रस्य यज्ञायज्ञियस्य प्राग् दिवो मूर्धेति ऋग्द्वयेन दक्षिणोत्तरयोः परिधिसन्ध्योरुपस्पर्शं कृत्वा अग्निविमोचनं कुर्यादिति सूत्रार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनं विमुञ्चति। आप्त्वा तं कामं यस्मै कामायैनं युङ्क्ते यज्ञायज्ञियꣳ स्तोत्रमुपाकरिष्यन् स्वर्गो वै लोको यज्ञायज्ञियमेतस्य वै गत्या एनं युङ्क्ते तदाप्त्वा तं कामं यस्मै कामायैनं युङ्क्ते' (श० ९।४।४।१०)। अग्नेर्विमोचनं विधत्ते—अथैनमिति। यस्यै कामाय एनं युङ्क्ते तं काममाप्त्वा एनं विमुञ्चेत्। एतस्य विमोचनस्य कालविशेषप्रदर्शनद्वारा तमेव क्रमं दर्शयति—यज्ञायज्ञियमिति। यज्ञायज्ञियं स्तोत्रमुपाकरिष्यन्नेनमग्निं विमुञ्चेत्। कुतः? यज्ञायज्ञियं स्तोत्रं स्वर्गो लोकः खलु। स्वर्गलोकस्य गत्यै एवैनमग्निं युङ्क्ते। अतश्च यज्ञायज्ञियलक्षणस्य स्वर्गस्य प्राप्तेर्यस्मै स्वर्गलोकप्राप्तिलक्षणाय कामाय एनं युङ्क्ते, तस्य कामस्याप्तत्वादस्मिन्नवसरे विमुञ्चेदित्यर्थः। 'तं वै पुरस्तात् स्तोत्रस्य विमुञ्चति। स यदुपरिष्टात् स्तोत्रस्य विमुञ्चेत् पराङ् हैतꣳ स्वर्गं लोकमतिप्रणश्येदथ यत्पुरस्तात् स्तोत्रस्य विमुञ्चति तत्सम्प्रति स्वर्गं लोकमाप्त्वा विमुञ्चति' (श० ९।४।४।११)। यदि स्तोत्रादुपरि विमुञ्चेत्, तदा एनं यज्ञायज्ञियलक्षणं स्वर्गं लोकमतिक्रम्य पराङेव भूत्वा प्रणश्येत्। अथ यदि स्तोत्रात् पूर्वं विमुञ्चेत्, तदा साम्प्रतमनतिक्रमणेन युक्तमेव स्वर्गं लोकमाप्त्वा विमुक्तवान् भवति। 'परिधिषु विमुञ्चति। परिधिषु ह्येनं युनक्ति यत्र वाव योग्यं युञ्जन्ति तदेव तद्विमुञ्चति' (श० ९।४।४।१२)। लोके यत्राश्वं युञ्जन्ति, तत्रैव तं विमुञ्चन्ति, अतोऽत्राप्यग्नेः परिधिषु योजनात् तत्रैवैनं विमुञ्चेदित्याह—परिधिष्विति।

'स सन्ध्योरुपस्पृश्य। एते यजुषी जपति तथा द्वे यजुषी त्रीन् परिधीननु विभवतो दिवो मूर्धासि पृथिव्या नाभिरिति दक्षिणे विश्वस्य मूर्धन्नधि तिष्ठसि श्रित इत्युत्तरे मूर्धवतीभ्यां मूर्धा ह्यस्यैषोऽप्सुमतीभ्यामग्नेरेतद्वैश्वानरस्य स्तोत्रं यद्यज्ञियायज्ञियꣳ शान्तिर्वा आपस्तस्यादप्सुमतीभ्याम्' (श० ९।४।४।१३)। तद्विमोचनप्रकारमाह—स सन्ध्योरिति। सोऽध्वर्युः परिधिसन्ध्योरुपस्पृश्य एते दिवो मूर्धासीत्यादिके यजुषी जपेत्। ननु विमोचनमपि योजनवत्परिधिमध्यमुपस्पृश्यैव कस्मान्न क्रियते? तत्राह—तथा द्वे यजुषी इति। पूर्वं त्रिभिर्मन्त्रैस्त्रिष्वपि परिधिष्वग्नेर्युक्तत्वात् तथैव विमोचनमपि कर्तव्यम्, तत्त्वत्र न सम्भवति, मन्त्रयोर्द्वित्वेनापर्याप्तत्वात्। ततश्च परिधिसन्ध्योः संस्पर्शे त्रयाणामपि परिधीनां संस्पर्शाद् द्वे एव यजुषी त्रीन् परिधीन् प्रति पर्याप्ते भवतः। कस्मिन् सन्धौ कं मन्त्रं जपेदित्याकाङ्क्षायामाह—दिवो मूर्धासीति। मन्त्रयोर्मूर्धशब्दसम्बन्धं प्रशंसति—मूर्धवतीभ्यामिति। अस्याग्नेरेष विमोचनलक्षणः प्रयोगो मूर्धा, अर्थाद् मूर्धवत् सर्वस्याप्युपरितनः। अतश्च मूर्धशब्दयुक्ताभ्यामृग्भ्यामस्य विमोचनमुपपन्नम्। तथैवाप्सुशब्दसम्बन्धमपि प्रशंसति—अप्सुमतीभ्यामिति। अत्रोत्तरमन्त्रेऽप्सुशब्दप्रयोगादुपचारेण प्रथममन्त्रस्य अप्सुमत्त्वमित्यप्सुमतीभ्यामित्युक्तम्। एतद्यज्ञायज्ञियं स्तोत्रं वैश्वानरस्याग्नेः सम्बन्धि, तद्देवत्यत्वात्। अनेनास्य शान्तत्वमुक्तम्। आपस्तु दहनादीनां शान्तिहेतुत्वात् शान्तिः खलु। तस्माद्यज्ञायज्ञिये स्तोत्रे कर्तव्यं विमोचनमप्सुमतीभ्यामृग्भ्यां क्रियते।

अथ मन्त्रव्याख्यानम्—आग्नेयी परोष्णिक्। आद्यावष्टकौ तृतीयो द्वादशको यस्यां सा त्रिपादा परोष्णिक्। अत्राद्यो दशकः, द्वितीयः सप्तकः, तृतीयो द्वादशकः, तेन एकाधिका। हे अग्ने, त्वं दिवो द्युलोकस्य मूर्धा उत्तमाङ्गस्थानीयः। पृथिव्या नाभिः पृथिवीलोकस्य नाभिर्नहनम्। नह्यति बध्नाति जोवनेनेति नाभिः, 'नहो भश्च' (उ० ४।१२७) इति इञ्प्रत्ययः, भान्तश्चादेशः, उपधावृद्धिः। पृथ्वीलोकगतजीवानामग्निनिबन्धनत्वादिति भावः। अपां जलानामोषधीनां व्रीह्यादीनां च ऊर्ग् रसः, अर्थात् साररूपोऽसि। विश्वायुः, विश्वं सर्वमायुर्यस्य सः, बहुजीवन इत्यर्थः। यद्वा विश्वेषां सर्वेषां प्राणिनामायुर्जीवनम्, तदधोनजीवनत्वात् तेषा-

मिति भावः। शर्म शरणभूतः सर्वेषाम्। सप्रथाः, प्रथनं प्रथः, प्रथसा सह वर्तमानः सप्रथाः, तिर्यगूर्ध्वमधश्चानवच्छिन्नप्रभावः। यस्त्वमीदृशोऽसि, तस्मै ते तुभ्यं पथे स्वर्गमार्गरूपाय नमो नमस्कारोऽस्तु। अग्निप्रमुखत्वाद्धि देवयानमार्गस्य।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वरस्य अग्निरूपेण स्तुतिः सर्वात्मकत्वात्। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वं दिवो मूर्धा पृथिव्या नाभिरपामोषधीनामूर्गिति विश्वायुः सप्रथा असि, स त्वं पथे नमः शर्म च प्राप्नुहि। प्रकाशस्य शिर इव वर्तमानः पृथिव्या बन्धनमिव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणस्यैव दूषणत्वात्। न च कश्चन मनुष्यस्तादृशः सम्भवति, चेतनाया विग्रहवत्या देवतायाश्च त्वयाऽनभ्युपगमादित्यव्यवस्था ॥ ५४ ॥

विश्वस्य मूर्धन्नधितिष्ठसि श्रितः समुद्रे ते हृदयमप्स्वायुरपो दत्तोदधिं भिन्त। दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात् पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्याव ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—हे सूर्यरूप अग्निदेव ! आप सुषुम्ना में व्याप्त होकर सबके सिर में स्थित हैं, आपका हृदय समुद्र के समान अगाध है, आप जल के जीवनदाता हैं। द्युलोक से, मेघ से, अन्तरिक्ष से, भूमि से, जहां भी जल हो, वहां से लाकर वर्षा के द्वारा हमारी रक्षा करें, मेघ को विदीर्ण कर हमें जल प्रदान करें ॥ ५५ ॥

आग्नेयी महापङ्क्तिर्जगती। आद्यः पञ्चाक्षरः, द्वितीयः सप्तकः, तृतीयो दशकः, चतुर्थोऽष्टकः, पञ्चमो नवकः, षष्ठो नवकः—एवमष्टाचत्वारिंशदर्णा महापङ्क्तिः। हे अग्ने, यस्त्वं विश्वस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य मूर्धन् मूर्ध्नि शिरसि, अधितिष्ठसि सर्वेषामुपरि सूर्यरूपेण दीप्यस इत्यर्थः। यस्त्वं श्रित आश्रितो बुद्धि सुषुम्नां नाडीं वा। यस्य ते हृदयं मध्यभागः, समुद्रे सम्यग् उनत्ति जलैः क्लिन्नो भवतीति समुद्रोऽन्तरिक्षम्, तस्मिन् त्रिलोकव्यापिनीत्यर्थः। यस्य तेऽप्सु जलेषु आयुर्जीवनं जलाधीनं तव जीवनमिति यावत्। जलाद् वृक्षा जायन्ते, ततोऽग्निरित्यग्नेर्जलाधीनजीवनत्वम्। तं त्वा याचे। अपो दत्त देहि। व्यत्ययाद् बहुवचनम्। उदधिं भिन्त, उदकानि धीयन्तेऽस्मिन्नित्युदधिः, उदकानि दधाति वेत्युदधिः, 'पेषंवासवाहनधिषु च' (पा० सू० ६।३।५८) इत्युदकशब्दस्य उदादेशः, मेघः, तं भिन्त भिन्धि विदारय। अत्रापि 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० सू० ३।१।८५) इति वचनव्यत्ययः। हे अग्ने, ततो मेघविदारणनिमित्ताद् दिवः सम्बन्धिनः पर्जन्याद् वृष्ट्यभिमानिनो देवात्, ततोऽन्तरिक्षाद् मेघस्थानविशेषात् पृथिव्याः पृथिव्यै वृष्टिं देहि। तथा वृष्ट्या नोऽस्मानव पालय। यद्वा दिवो द्युलोकात् पर्जन्याद् मेघाद् अन्तरिक्षाद् आकाशात् पृथिव्या वा सकाशाद् अन्यत्र वा यत्र जलं ततः प्रदेशात्तज्जलमादाय वृष्टिं कृत्वा नोऽस्मान् अव पालय।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं सर्वात्मत्वाद् विश्वस्य सर्वस्य मूर्धन् मूर्ध्नि अधितिष्ठसि, उत्तमाङ्गवत् सर्वोपरि वर्तसे। त्वं च श्रितः सर्वस्य बुद्धिमाश्रित्य साक्षिरूपेण स्थितः। यस्य ते तव विराड्रूपस्य समुद्रेऽन्तरिक्षे हृदयम्, अप्सु आयुर्जीवनम्, स त्वमिन्द्ररूपेण उदकं मेघं भिन्धि। दिवः पर्जन्यादन्तरिक्षात् पृथिव्याः पृथिव्यै नोऽस्मभ्यमपो जलानि देहि। तया वृष्ट्या नोऽव पालय।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वं विश्वस्य मूर्धन् सूर्य इव अधितिष्ठसि, यस्य ते समुद्रेऽन्तरिक्षवद् व्याप्ते परमेश्वरे हृदयं मनः, प्राणेषु आयुर्जीवनम्, स त्वमपः प्राणान् दत्त ददासि। उदधिम् उदकधारकं सागरं भिन्त। यतः सूर्यो दिवोऽन्तरिक्षात् पृथिव्या वृष्ट्या सर्वानवति ततो नोऽव' इति, तदपि विशृङ्खलमेव, मनुष्येषु तादृशसामर्थ्यादर्शनात्। उदधिभेदनेन अन्तरिक्षात् को वृष्टिं सम्पादयति ? सूर्यवत्सुखवर्षणं तु ततोऽपि दुष्करम्। यो जलनदीमपि न प्रवर्तयितुं शक्नोति, स घृतदुग्धनदीः प्रवर्तयिष्यतीति कः प्रतीयात् ॥ ५५ ॥

इ॒ष्टो य॒ज्ञो भृगु॑भिराशी॒र्दा वसु॑भिः । तस्य॑ न इ॒ष्टस्य॑ प्री॒तस्य॒ द्रवि॑णे॒हाग॑मेः ॥५६॥

मन्त्रार्थ—हे धन के देवता ! तुम हमारे मित्र और प्रेमी इस यजमान के यहाँ आओ। इच्छित वस्तु को देने वाला यह यज्ञ ब्राह्मण और देवताओं के द्वारा पूरा किया गया है ॥ ५६ ॥

'अध्वरसमिष्टयजुरन्त इष्टो यज्ञ इति प्रत्यृचमपरे' (का० श्रौ० १८।६।२०)। 'समिन्द्र णो मनसा' (वा० सं० ८।१५) इति प्रारभ्य 'माहिर्भूर्मा पृदाकुः। उरुꣳ हि राज' (वा० सं० ८।२३) इति यावन्नव अध्वरसमिष्टयजूंषि। समिष्टयजुःसंज्ञकहोमानन्तरमिष्टो यज्ञः, इष्टो अग्निरिति द्वाभ्यामपरे द्वे आग्निके समिष्टयजुषी जुहुयादिति सूत्रार्थः। यज्ञदेवत्या गालवदृष्टा उष्णिक्, अष्टाविंशत्यक्षरत्वात्। अध्वर्युर्यजमानविषयामाशिषं कुर्वन्नाह द्रव्यं प्रति—हे द्रविण द्रव्य, तस्य यजमानस्य इह गृहे त्वमागमेरागच्छेः। आङ्पूर्वाद् गमेर्लिङि मध्यमैकवचने छत्वाभावे रूपम्। कीदृशस्य यजमानस्य? नोऽस्माकमिष्टस्य प्रियस्य। पुनः कीदृशस्य? प्रीतस्य अस्मासु स्निग्धस्य। तस्य कस्य? तत्राह—यस्य यजमानस्य यज्ञो भृगुभिर्भृगुगोत्रैर्ब्राह्मणैः, वसुभिर्वस्वादिदेवैश्च इष्टः सम्पादितः। कीदृशो यज्ञः? आशीर्दाः, आशिषोऽभिलषितपदार्थान् ददातीत्याशीर्दाः। विप्रैर्देवैर्यस्य यज्ञः कृतः, तस्य गृहे त्वमागत्य सर्वदा तिष्ठेत्यर्थः।

यद्वा यस्यास्य यजमानस्य भृगुभिर्भृगुप्रमुखैर्वसुभिर्वस्वादिदेवैश्च यज्ञः क्रतुरिष्टः सम्पादितः, कीदृशो यज्ञः? आशिषामभिलषितपदार्थानां दाता पूरकः, तस्यास्य यजमानस्य नोऽस्माकमिष्टस्य अभिप्रेतस्य प्रियस्य प्रीतस्य अस्मासु स्निग्धस्य। याज्ययाजकयोः परस्परमनेन स्नेहः ख्याप्यते। इदानीं द्रविणमाह—हे द्रविण, इह यजमाने आगमेरागमनं कुर्याः। स्थानमिदं धनानामित्यभिप्रायः। यद्वा भृगुभिरार्षेयैर्ब्राह्मणैरिष्टो यज्ञः सम्पादितः। वसुभिराशीर्दाः, विभक्तिव्यत्ययेन वसवो देवा आशिषां प्रदातारः। सोऽस्माकमिष्टः प्रीतश्च सन् द्रविणमिहावर्तयस्व। परोऽर्धर्चो विभक्तिव्यत्ययप्रायः।

अध्यात्मपक्षे—गुरुराह हे द्रविणस्वरूपभगवन्, 'त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव' इति शिष्टोक्तेः। तस्य यजमानस्य इह अस्मिन् गृहे आगमेरागमनं कुर्याः। यस्य यज्ञो भृगुभिरिष्टो वसुभिश्चेष्टः। कीदृशो यज्ञः? आशीर्दा अभीष्टफलप्रदः। तस्य न इष्टस्य प्रियस्य प्रीतस्य स्निग्धस्य भक्तस्य इह गृहे। यद्वा हे यज्ञ विष्णो, त्वं भृगुभिर्वसुभिश्च इष्टः पूजितः, आशीर्दाः फलप्रदः, स त्वमिष्टः प्रीत इहास्मासु द्रविणम् आगमेरागमयतु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यो वसुभिः प्रथमकक्षास्थैर्विद्वद्भिः, भृगुभिः परिपूर्णविज्ञानैर्विद्वद्भिः, आशीर्दा यज्ञ इष्टः कृतः, तस्येष्टस्य कृतस्य प्रीतस्य मनोहरस्य यज्ञस्य सकाशाद् इह संसारे त्वं नोऽस्माकं द्रविणं समन्ताद् गच्छ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, एवं गौणार्थाश्रयणेऽपि विदुषां यज्ञमिष्ट्वा ततो धनाहरणासम्भवात्। धनं तु धनिका एव ददति विद्वद्भ्य इति ॥ ५६ ॥

इ॒ष्टो अ॒ग्निराहु॑तः पिपर्तु न इ॒ष्टꣳ ह॒विः। स्व॒गेदं दे॒वेभ्यो॒ नमः॑ ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ के द्वारा पूजित अग्निदेव हवि के द्वारा तृप्त होकर हमारे मनोरथों को पूरा करें। यह हवि सब देवताओं के निमित्त दिया गया है। वह स्वयं उनके पास पहुँचने वाला है ॥ ५७ ॥

अग्निदेवत्या गायत्री गालवदृष्टा एकोना, अग्निर्नोऽस्मा कमिष्टमभिलषितं पिपर्तु पूरयतु, ददात्वित्यर्थः। नोऽस्मान् पालयतु वा। 'पॄ पालनपूरणयोः' अस्य जुहोत्यादित्वात् शपः श्लौ द्वित्वे 'अर्तिपिपर्त्योश्च' (पा० सू० ७।४।७७) इत्यभ्यासस्येत्वे रूपम्। कीदृशोऽग्निः ? इष्टः कृतयागः। हविर्हविषा, विभक्तिव्यत्ययः, आहुतः समन्तात् तर्पितः। किञ्च, इदं नमो हविः समिष्टयजुर्लक्षणं देवेभ्योऽर्थायाऽस्तु। कीदृशं हविः ? स्वगा स्वयं गमनशीलम्, विभक्तेराकारः।

अध्यात्मपक्षे—अग्निरग्रणीर्मुक्तोपसृप्यो भगवान् अस्माकमभिलषितं भोगं मोक्षमुभयमपि ददातु। भोगमोक्षप्रदानेन पालयतु वा। कीदृशो भगवान् ? इष्टः श्रद्धया पूजितः। षोडशोपचारराजोपचारपूजादिषु च तत्तद्वस्तुसमर्पणेन समन्तात् तर्पितः। इदं च हविः समिष्टयजुर्लक्षणं तदङ्गभूतेभ्यो देवेभ्योऽर्थायाऽस्तु।

दयानन्दस्तु—'हविर्हविषा संस्कृतेन द्रव्येण इष्टोऽग्निः सभाध्यक्षो विद्वान् पालको वा न इष्टं पिपर्तु, नः पिपर्तु वा। इदं हविः स्वगा यः स्वान् गच्छति तत्। नमोऽन्नं तत्तद्देवेभ्यो विद्वद्भ्योऽस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणस्यैव दूषणत्वात्। नहि यदन्नं स्वान् गच्छति तद् देवेभ्यो भवति। यदि देवेभ्यो भवेत्, तर्हि तस्य स्वगात्वानुपपत्तिः॥ ५७॥

यदाकूतात् समसुस्रोद्धृदो वा मनसो वा संभृतं चक्षुषो वा।
तदनु प्रेत सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः॥ ५८॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विजों ! आप सब उस प्रजापति के किये हुए कर्म का सम्पादन कर पुण्यात्माओं के लोक को अवश्य प्राप्त करें। जो कर्म पूर्ण सामग्री से युक्त है तथा जो प्रजापति के अभिप्राय, हृदय या मन से अथवा चक्षु आदि इन्द्रियों से ब्रह्मा ने रचा है, उस कर्म को भली-भाँति सम्पादित कर उन पवित्र लोकों को प्राप्त करें, जिनमें प्रथम उत्पन्न पुरातन ऋषि गये हैं॥ ५८॥

'हृदयशूलान्ते स्रुवाहुतीर्जुहोति यदाकूतादिति प्रत्यृचमष्टौ' (का० श्रौ० १८।६।२३)। हृदयशूलान्ते यदाकूतादिति प्रत्यृचमष्टौ स्रुवाहुतीर्जुहोतीति सूत्रार्थः। अष्टौ ऋचोऽग्निदेवत्या विश्वकर्मदृष्टाः। तत्र आद्या जगती। त्रयः पादा एकादशार्णाः, चतुर्थश्चतुर्दशार्णः। हे ऋत्विजः, यत्कर्म प्रजापतेराकूतात्, आकूतो नाम प्राङ्मनःप्रवृत्तेरात्मनो धर्मो मनःप्रवृत्तिहेतुः, तस्मात्, अभिप्रायादिति यावत्। सम्भृतं सम्भारैः पुष्टम्, पूर्णसामग्रीकमित्यर्थः। सुकृतं सूक्ष्मरूपं सञ्चितं कर्म समसुस्रोत् समस्रवत्। स्रवतेर्लिङि 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।७६) इति जुहोत्यादित्वात् श्लौ द्वित्वे रूपम्। प्रजापतेर्हृदो बुद्धेश्च प्रजापतेर्मनसश्च सङ्कल्पात्मकाद् हृदयावच्छिन्नान्मनसः सकाशाच्चक्षुषः सौराद्युपासनाबलाद्वा चक्षुरुपलक्षितस्थानाद्वा यत्संभृतं समसुस्रोत् निःसृतं भवति, अर्थात् फलप्रारम्भार्थं यत्सूक्ष्मरूपं कर्म निःसृतम्, तत्प्रजापतिना कृतं कर्म अनुगच्छत। सुकृतां सत्कर्मचारिणां लोकमु लोकमेव स्थानं यत्र ऋषयो जग्मुः, यत्रान्येऽपि प्रथमजाः पुराणा जग्मुस्तं लोकं गच्छतेत्यर्थः।

महीधराचार्यरीत्या तु हे ऋत्विजः, यूयं तदनुप्रेत प्रजापतिकृतं कर्मानुगच्छत अनुसरत। प्रजापतिशरीरादुत्पन्नं यत्कर्म वैदिकं तत्कुरुतेत्यर्थः। तत्र कर्मणि कृते सति सुकृतां शुभकर्मकारिणां लोके, उ एवार्थे, स्वर्गमेव प्रेत गच्छत। प्रथमजाः पूर्वोत्पन्नाः पुरापि नवा अजरामरा ऋषयो यत्र लोके जग्मुस्तत्र गच्छतेति।

किं तत्कर्म ? यत्प्रजापतेराकूताद् अभिप्रायाद् हृदो बुद्धेर्मनसो वा सङ्कल्पकात्मकात्, चक्षुषः, चक्षुरुपलक्षणम्, चक्षुरादीन्द्रियेभ्यश्च समसुस्रोत् संस्रुतं प्रसृतम्, ब्रह्मणा यत्सृष्टं कर्म तत्कृत्वा स्वर्लोकं गच्छतेत्यर्थः। कीदृशं तत्कर्म ? संभृतं सम्भारैः पुष्टम्, पूर्णसामग्रीकमिति यावत्।

अध्यात्मपक्षे—हे साधकाः, विराड्रूपात् परमात्मन आकूतादभिप्रायात् तदीयाद् हृदो बुद्धेस्तदीयान्मनसस्तदीयाच्चक्षुषः, चक्षुरुपलक्षितेभ्यः सर्वेन्द्रियेभ्यः, यत्कर्म समसुस्रोत् समस्रुवत् प्रादुर्भूतम्, तदनुप्रेत तदनुसरत। सुकृतां पुण्यकृतामेव लोकं यत्र प्रथमजाः पुराणा ऋषयो जग्मुस्तं प्रेत गच्छत।

दयानन्दस्तु—'हे सत्यासत्यजिज्ञासवः, यूयं यदाकूतादुत्साहाद् हृद आत्मनो वा प्राणान्मनसः सङ्कल्पविकल्पात्मकात् संभृतं सम्यग् धृतं चक्षुषः प्रत्यक्षादेः, इन्द्रियोत्पन्नाद् वा श्रोत्रादिभ्यः समसुस्रोत् सम्यक् प्राप्नुयात्। अतः प्रथमजा अस्मदादो जाताः पुराणा अस्मदपेक्षया पुराणा ऋषयो वेदविद्यापुरःसराः परमयोगिनो जग्मुर्गतास्तं सुकृतामु लोकं दर्शनसुखसङ्घातं मोक्षपदं वा अनुप्रेत। यदा मनुष्याः सत्यासत्यनिर्णयं जिज्ञासेयुस्तदा यद्यदीश्वरगुणकर्मस्वभावात् सृष्टिक्रमात् प्रत्यक्षादिप्रमाणेभ्य आप्ताचाराद् आत्ममनोभ्यामनुकूलं स्यात्तत् सत्यमितरदसत्यमिति निश्चिनुयुः। य एवं धर्मं परीक्ष्याचरन्ति, तेऽतिसुखं प्राप्नुवन्तीति भावार्थः' इति, तदसङ्गतमेव, ईश्वरगुणकर्मस्वभावः कः ? कथं केन स ज्ञायत इत्यनुक्तेः। सृष्टिक्रमोऽपि नार्वाचीनैर्ज्ञातुं शक्यते। आकूताद् हृदो मनसश्चक्षुषोऽपि सर्वोऽपि जनः कर्म करोतीति कथं सत्यासत्यनिर्णयः ? तस्मादपौरुषेयत्वेन अपास्तपुंदोषशङ्काकलङ्कपङ्कत्वेन मन्त्रब्राह्मणात्मकानां वेदानामेव प्रामाण्यस्वतस्त्वबलाद् धर्माधर्मनिर्णयः कर्तुं पार्यते, तत्रैव च ब्राह्मणेषु मन्त्रेषु च तत्र तत्र यथा पुरा देवैः कृतं तथैव इदानीन्तनेन यजमानेनापि कर्तव्यमित्युच्यते। प्रजापतिश्च देवानां समष्टिविराडात्मा परमेश्वरः। तस्मात् तदाकूताद् हृदो मनसश्चक्षुषश्च निःसृतं यत्कर्म तद्वैदिकमेव। किञ्च, वेदस्य नित्यत्वात् तस्य घटनापूर्वकत्वं लौकिकेतिहाससाधारण्यं च न सम्भवति, घटनास्तत्पूर्विका भवन्त्यो न वार्यन्ते, सृष्टेः शब्दपूर्वकत्वात्, 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (ब्र० सू० १।३।२८) इति न्यायात्। तस्मात् सुखावबोधार्था आख्यायिका वेदे वर्ण्यन्ते। आख्यायिकाप्रसङ्गेन प्रजापतिदेवतादिबाह्यान्तरव्यापारवर्णनव्याजेन तत्तद्वर्णाश्रमाचारानुगुणानि श्रौतानि कर्माणि वर्ण्यन्ते। आख्यायिकाश्च क्वचिद्विधेः स्तावकार्थवादरूपेण वर्ण्यन्ते, क्वचिच्चार्थवादबलेन विधयः परिकल्प्यन्ते। यथा 'एता वै प्रतिष्ठिता षड्विꣳशती रात्रयः प्रतितिष्ठन्ति य एता उपयन्ति' (ताण्ड्यमहाब्राह्मणम्, २३।२२।७) इत्यर्थवादेन प्रतिष्ठाकामा एता रात्रीरुपेयुरिति विधिः।

तत्र ब्राह्मणम्—'यदाकूतात्। समसुस्रोद्धृदो वा मनसो वा सम्भृतं चक्षुषो वेत्येतस्माद्ध्येतत्सर्वस्मादग्रे कर्म समभवत् तदनु प्रेत सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणा इत्यमूनेतदृषीनाह' (श० ९।५।१।४५)। अथ तानष्टौ वैश्वकर्मणहोममन्त्रान् क्रमेण व्याख्यातुमनुवदति—यदाकूतादिति। अग्रे पूर्वमेतस्मात् खल्वाकूतादेः सर्वस्मात् कर्म समभवत्। अत उक्तम्—यदाकूतादिति। सर्वत्र वाशब्दः समुच्चयार्थः। समसुस्रोदिति समभवदित्यर्थः। आकूतमिति निश्चयावस्थं मन उच्यते। हृदिति मनोऽवस्थानप्रदेशः। मनो विमर्शात्मकम्। कृत्स्नमपि कर्म हृदयस्थेन विमर्शात्मना मनसा विचार्य निश्चयात्मना तेनैव निश्चित्य पश्चात् चक्षुषा तत्साधनं दृष्ट्वा क्रियते। अतश्च तस्मात् सम्भृतं 'समसुस्रोत्' इत्युक्तम्। प्रथमजाः पुराणा ऋषय इति शब्दा पुरस्तात् षष्ठेऽभिहितान् ऋषीनभिदधते। तदाह—अमूनेतदिति। हृदो हृदयप्रदेशेऽवस्थितादाकूतान्मनसश्च चक्षुषश्च यत्कर्म सम्भृतं सत् समभवत्, तदनुलक्ष्य तत्कर्म कृत्वा अनन्तरं हे यजमानाः ! आदरार्थं बहुवचनम्, शोभनकर्मकारिणां लोकं प्रगच्छत। यत्र यस्मिन् लोके प्रथमजाः पुराणा ऋषयोऽभिहितप्रकारं कर्म कृत्वा जग्मुस्तं लोकं गच्छतेत्यर्थः। अत्र तस्मात् प्रजापतेराकूताद् हृदो मनसो वा चक्षुषो वा यत्कर्म समस्रवत् तदनुसरणमेव विहितम्, न तु प्रातिस्विकादाकूताद् हृदयान्मनसो चक्षुषो वा यदेव कर्तव्यत्वेन निर्णयेत् तदेव कुर्यादिति, तथात्वेऽव्यवस्थापातात्॥ ५८॥

एतᳪ सधस्थ परि ते ददामि यमावहाच्छेवधिं जातवेदाः ।
अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो अत्र तᳪ स्म जानीत परमे व्योमन् ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—हे देवताओं के स्थानभूत स्वर्ग ! सर्वज्ञ अग्निदेव ने सुख के कोषरूप यज्ञ के फल को जिसे सौंपा है, उस यजमान को मैं तुम्हें समर्पित करता हूँ। हे देवताओं ! यज्ञ के समाप्त होने पर यह यजमान तुम्हारे पास आवेगा। उस उत्तम परम विस्तार वाले स्वर्ग में गये हुए इस यजमान को तुम जानों, अर्थात् स्वर्ग में पहुँचने पर उसका सत्कार करो ॥ ५९ ॥

हे सधस्थ ! सह तिष्ठन्ति देवा यत्रासौ सधस्थः स्वर्गः, तत्सम्बुद्धया स प्रार्थ्यते। एतं यजमानं ते तव परिददामि। जातवेदाः सर्वज्ञोऽग्निर्यं शेवधिं देवानां निधिं कोशस्थानीयम् आवहाद् आनयेत्, तं यजमानं तुभ्यं ददामि। यद्वा शेवधिं सुखनिधिमाहुतिपरिणामभूतमावहाद् आवहति प्रापयति, तं यज्ञफलभूतं च सुखनिधिं तव परिददामि, उभयमपि तुभ्यं रक्षणार्थं ददामीत्यर्थः। एवं यजमानं यज्ञं च स्वर्गे समर्प्य तत्रस्थान् देवानभ्यर्थयते—अन्विति। हे देवाः, यज्ञपतिर्यजमानो यज्ञस्वामी यज्ञनिर्वर्तकः, वो युष्मान् अन्वागन्ता प्रारब्धकर्मसमाप्तौ भवतः प्रत्यागमिष्यति। अत्र अस्मिन् परम उत्कृष्टे व्योमन् व्योम्नि स्वर्गाख्ये आकाशे आगतं तं यज्ञपतिं यूयं जानीत। स्मेति पादपूरणार्थम्। स्वर्गागतो यज्ञपतिर्भवद्भिरादरणीय इत्यर्थः। आवहादित्याङ्पूर्वकाद् वहतेर्लेटि तिपि 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इति तिप इकारलोपे 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमे रूपम्। 'शेव इति सुखनामसु' (निघ० ३।६।१७), शेवं धीयतेऽस्मिन्निति शेवधिः। यद्वा यज्ञपतिर्यज्ञफलदाता विष्णुः प्रकृतं यजमानमत्र वो युष्मान् अत्रस्थांश्च अन्वागन्ता। तं श्रीभगवन्तमन्वागन्तारं परमे उत्कृष्टे व्योमन् व्योम्नि परिपूर्णस्वरूपे एव स्थितं सर्वान्तर्यामित्वाद् हे देवा यूयं जानीत।

अत्र ब्राह्मणम्—'एतᳪ सधस्थ। परि ते ददामीति स्वर्गो वै लोकः सधस्थस्तदेनᳪ स्वर्गाय लोकाय परिददाति यमावहाच्छेवधिं जातवेदाः। अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो अत्र तᳪ स्म जानीत परमे व्योमन्निति' (श० ९।५।१।४६)। सधस्थशब्देन स्वर्ग उच्यत इत्याह—एतं सधस्थेत्यादिना। शेषं सुगमम्।

अध्यात्मपक्षे—एतं सधस्थं सह स्थितं साधकं यजमानं हे भगवन्, ते तुभ्यं यदि ददामि, तर्हि जातवेदाः सर्वज्ञो भवान् अस्मै शेवधिं कल्याणानामाकरमावहाद् आवहेत् प्रापयेत्। यद्वा यस्मै यजमानाय शेवधिं कल्याणानामाकरं भवान् आवहाद् आवहति प्रापयति, हे देवाः, तं सधस्थं साधकं वो युष्मांश्च यज्ञपतिः श्रीभगवान् विष्णुः कर्मफलदातृत्वेनान्वागन्ता आगमिष्यति। तमन्वागन्तारं यूयं सर्वान्तर्यामिणं जानीतेति।

दयानन्दस्तु—'हे ईश्वर ! जिज्ञासवो मनुष्याः, हे सधस्थ समानस्थान च जातवेदा वेदार्थविद् यज्ञपतिर्यज्ञस्य पालक इव वर्तमानो यं शेवधिं शेवं सुखं धीयते परमात्मानमावहादासमन्तात् प्राप्नुयात्, अत्र परमे व्योमन् प्रकृष्टे आकाशे व्याप्तं परमात्मानमहं ते यथा परिददामि, अन्वागन्ता धर्ममन्वागच्छति, अहं यं वो युष्मभ्यमुपदिशामि स्म, तं यूयं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रमाणविधुराध्याहारबाहुल्यात्, गौणार्थाश्रयणाच्च। अनया रीत्या कस्यापि मन्त्रस्य कोदृशोऽप्यर्थः कर्तुं शक्यते ॥ ५९ ॥

एतं जानाथ परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद रूपमस्य ।
यदागच्छात् पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणवाथाविरस्मै ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—हे उत्तम स्थान स्वर्ग में रहने वाले देवताओं ! इस यजमान को जानों, इसके रूप को पहचानों। जब यह देवयान मार्ग से स्वर्ग में पहुंचे, तब श्रौत-स्मार्त कर्म के फल इस यजमान के निमित्त प्रकाशित करो ॥ ६० ॥

परमे व्योमन् उत्कृष्टे स्वर्गभूते व्योम्नि सधस्थाः सह स्थिता देवा एतं यजमानं जानाथ जानीत। लेटि मध्यमबहुवचने आडागमे रूपम्। किञ्च, अस्य यजमानस्य यज्ञपते रूपं यज्ञकर्तृत्वादिविशिष्टं रूपं विद वित्त, प्रत्यभिज्ञानायेति शेषः। वेत्तेर्विकरणव्यत्यये शः, वचनव्यत्ययश्च। युष्माभिर्विदितरूपोऽयं यद् यदा देवयानैः, देवा यान्ति येष ते देवयानाः, 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० सू० ३।३।११७) इति ल्युट्, उपभोगस्थानभेदाद् बहुत्वम्, पूजार्थं वा, तैः। पथिभिः स्वर्गमार्गैः, आगच्छाद् आगच्छति, गमेर्लेटि इकारलोपाडागमौ, तदा तं प्रत्यभिज्ञाय इष्टापूर्ते श्रौतस्मार्तकर्मफले अस्मै यजमानाय आविः कृणवाथ प्रकटीकुरुत, प्रदत्तेत्यर्थः। इष्टापूर्ते इति पदमजहल्लक्षणया इष्टापूर्वकर्मफलपरम्। 'अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव साधनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते॥ वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमर्थिभ्यः पूर्तमित्यभिधीयते॥ (मा. पु १६।१२३-१२४)। इष्टं च पूर्तं चेतीष्टापूर्ते। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा०सू० ६।३।१०९) इति साधु। इष्टं च आपूर्तं चेति नागेशो रामायणतिलके (१।२१।८) इत्यत्र प्राह। कृणवाथ 'डुकृञ् करणे' इत्यस्य व्यत्ययेन श्नुः, आडागमश्च।

अत्र ब्राह्मणम्—'एतं जानाथ। परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद रूपमस्य। यदा गच्छात् पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणवाथाविरस्मा इति' (श० ९।५।१।४७)। प्रसन्ना कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—कर्मसमुच्चितोपासनानुष्ठायिनमेतं हे परमे व्योमन् सधस्था देवा यूयं जानाथ जानीत। अत्र पूजायां बहुवचनम्। हे देव परमेश्वर, 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (श्वे० उ० ६।११) इति श्रुतेः। एतमनुग्रहपूर्णदृष्ट्या पश्येत्यर्थः। अस्य कर्मसमुच्चितोपासनानुष्ठायिनो रूपं विशिष्टं रूपं विद जानीहि, परान् प्रत्याययितुमिति शेषः, तव तु निरतिशयसर्वज्ञत्वात्। अयं साधको यद् यदा देवयानैर्मार्गैरागच्छाद् आगच्छेद् भवदीयं ब्रह्मलोकं तदोपासनायुक्ते इष्टापूर्ते श्रौतस्मार्तकर्मणी, लक्षणया तत्फलमाविःकृणवाथ प्रकटीकुरु। परमेश्वरस्यैव कर्मफलदातृत्वात् स एवात्र प्रार्थनीयः। पूजायां बहुवचनम्।

दयानन्दस्तु—'हे सधस्था देवाः, यूयं परमे व्योमन् व्याप्तमेतं परमात्मानं जानाथाऽस्य रूपं विद। यद्देवयानैः पथिभिरागच्छादस्मै परमात्मने इष्टापूर्ते आविः कृणवाथ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परमात्मस्वरूपज्ञाने देवयानमार्गानपेक्षणात्, व्याप्तमित्यध्याहारस्य च निर्मूलत्वात्, नित्यप्राप्तस्य तस्य प्राप्तेरपि निर्युक्तिकत्वात् ॥ ६० ॥

उद्बु॑ध्यस्वाग्ने॒ प्रति॑जागृहि॒ त्वमि॑ष्टापू॒र्ते सꣳसृ॑जेथाम॒यं च॑।
अ॒स्मिन् स॒धस्थे॒ अध्युत्त॑रस्मि॒न् विश्वे॑ देवा॒ यज॑मानश्च सीदत ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! तुम सावधान हो जाओ, श्रौत-स्मार्त कर्म में यजमान को भागी बनाओ। तुम्हारे प्रसाद से यह यजमान इष्टापूर्त कर्म द्वारा निष्पाप होकर देवताओं के साथ स्थितियोग्य होकर सबसे उत्कृष्ट स्वर्गलोक में चिरकाल तक निवास करे ॥ ६१ ॥

त्रिष्टुप्। इयं पञ्चदशेऽध्याये चतुःपञ्चाशीस्थले व्याख्याता ॥ ६१ ॥

येन॒ वह॑सि स॒हस्र॒ṃ॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम् ।
तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥६२॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! जिस सामर्थ्य से आप सहर्ष दक्षिणा वाले यज्ञ को प्राप्त कराते हैं, सर्वस्व दक्षिणा वाले यज्ञ को प्राप्त कराते हैं, उस सामर्थ्य से हमारे इस छोटे से यज्ञ को भी देवताओं के पास स्वर्ग तक पहुँचा दें । इस यज्ञ के स्वर्ग में जाने से हम लोग भी वहाँ पहुँच सकेंगे ॥ ६२ ॥

अनुष्टुप् । इयं पञ्चदशेऽध्याये पञ्चपञ्चाशीस्थले व्याख्याता ॥ ६२ ॥

प्र॒स्त॒रेण॑ परि॒धिना॑ स्रु॒चा वेद्या॑ च ब॒र्हिषा॑ ।
ऋ॒चेमं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! हमारे स्रुक् का आधार, दर्भ का प्रस्तर, बाहुमात्र के तीन काष्ठ, जुहू आदि, वेदी, कुशा, ऋचा आदि से सम्पन्न इस यज्ञ को देवताओं के पास स्वर्ग में ले जाओ ॥ ६३ ॥

तिस्रोऽनुष्टुभः । हे भगवन्नग्ने, प्रस्तरेण स्रुगाधारभूतेन दर्भमुष्टिना परिधिना परिधिभिस्त्रिभिर्बाहुमात्रैः काष्ठैः स्रुचा जुह्वादिकया वेद्या मितया वेदेर्भूम्या वा बर्हिषा च दर्भपूलकेन च ऋचा ऋगादिभिर्मन्त्रैस्तदभिमानिभिर्देवतारूपैश्च उपलक्षितं सह वा नोऽस्माकमिमं यज्ञं स्वः स्वर्गं नय । किमर्थम् ? देवेषु गन्तवे देवान् प्रति गन्तुं गमनाय । यज्ञे हि गते यजमानो गत एव, स हि तस्य शरीरमित्यर्थः । 'तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्.......' (पा० सू० ३।४।९) इति तवेन्प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'प्रस्तरेण परिधिना । स्रुचा वेद्या च बर्हिषा ऋचेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तव इत्येतैर्नो यज्ञस्य रूपैः स्वर्गं लोकं गमयेत्येतत्' (श० ९।५।१।४८) ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन् परमात्मन्, प्रस्तरादिभिरुपलक्षितमिमं नो यज्ञं स्वः स्वरति नामरूपाभ्यां सर्वं यस्मिन्नसौ स्वः स्वरूपभूतः परमात्मा, तं नय देवेषु देवं भवन्तं गन्तवे गन्तुं गमनाय ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वंस्त्वं वेद्या स्रुचा प्रस्तरेण परिधिनर्चा चेमं यज्ञं देवेषु गन्तवे स्वर्नय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अर्थानवबोधात् । प्रस्तरेणासनेनेत्यशुद्धं व्याख्यानम्, प्रस्तरशब्दस्य कुशमुष्टौ रूढत्वात्, आसनार्थतायां कोशादिप्रमाणवैधुर्यात् । परितो धीते तेनेत्यप्यशुद्धं व्याख्यानम्, अत्र परिधिपदेन बाहुपरिमितानां त्रयाणां काष्ठानामभिधानात् । बर्हिषोत्तमेन कर्मणा इत्यप्यशुद्धं व्याख्यानम्, शब्देनैतेन कुशपूलस्य विवक्षितत्वात् ॥ ६३ ॥

यद् द॒त्तं यत्प॑रा॒दानं॒ यत्पू॒र्तं याश्च॒ दक्षि॑णाः ।
तद॒ग्निर्वै॑श्वकर्म॒णः स्व॑र्दे॒वेषु॑ नो दधत् ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ—विश्वकर्मा नामक अग्नि हमारे उस दान को स्वर्ग लोक में देवताओं के पास ले जाँय, जो कि जामाता आदि को दिया गया है, परोपकार के लिये दुःखियों को दिया गया है, स्मृतियों के अनुसार कूपोत्सर्जन आदि में और यज्ञ की दक्षिणा के रूप में दिया गया है ॥ ६४ ॥

यद् दत्तं भार्या-जामातृ-पुत्र-भगिनी-तत्पत्यादिभ्यो दत्तम्, यत् परादानं परोपकाराय दयादिनाऽन्धकृपणादिभ्यो यद् दत्तम्। यत्पूर्तं स्मृतिविहितं विप्रभोजनकूपारामादि, याश्च दक्षिणा यज्ञसम्बन्धिन्यः तत् सर्वं वैश्वकर्मणो विश्वकर्मा प्रजापतिस्तस्यायं वैश्वकर्मणः, विश्वकर्मा एव वा वैश्वकर्मणः, स्वार्थे तद्धितः, अग्निः। स्वर्देवेषु स्वर्गलोकस्य देवानां मध्ये नोऽस्माकं भोगार्थं दधद् दधातु स्थापयतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'यद्दत्तं यत्परादानं यत्पूर्तं याश्च दक्षिणाः। तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधदिति यच्चैव सम्प्रति दध्मो यच्चासम्प्रति तन्नोऽयमग्निर्वैश्वकर्मण स्वर्गे लोके दधात्वित्येतत्' (श० ९।५।१।४९)। यत्कर्म सम्प्रति युक्तमन्यूनानतिरिक्तं दध्मो धारयामः, कुर्म इति यावत्। यच्च कर्म असम्प्रति न्यूनातिरिक्तं न तत्सर्वं कर्ममयं वैश्वकर्म अयं वैश्वकर्मणोऽग्निः स्वर्गे लोके दधात्विति। यद्दत्तं यदुचितं दानं कृतम्, यच्चानुचितं न्यूनमतिरिक्तं वा दानं कृतम्, यत्पूर्तमारामादिकं कृतम्, याश्च यज्ञे दक्षिणाः सम्पादिताः, नोऽस्माकं सम्बन्धि तत्सर्वमग्निः स्वर्गे विद्यमानेषु देवेषु दधात्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—नोऽस्माकमस्माभिर्यद्दत्तं यत्परादानं तदग्निर्भगवान् वैश्वकर्मणः स्वः स्वर्गे लोके देवेषु देवे परमेश्वरे दधद् दधातु।

दयानन्दस्तु—'हे गृहस्थ, त्वया यद् दत्तं यत्परादानं यत्पूर्तं याश्च दक्षिणा दीयन्ते, तत् स्वश्च इन्द्रियसुखं वैश्वकर्मणोऽग्निरिव गृहस्थो भवान् देवेषु नो दधद् धार्मिकव्यवहारे स्थापयतु' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, शाब्दन्यायोपप्लवात्। तथाहि—'देवेषु' इत्यनेन धार्मिकव्यवहारग्रहणे मानाभावः। न च दानादिकमैन्द्रियकं सुखम्। पूर्तमित्यस्य पूर्णां सामग्रीमित्यप्यसङ्गतोऽर्थः, अर्थविशेषे रूढत्वात्। धार्मिकेषु व्यवहारेषु यः स्थापनं कामयते, स स्वयं धार्मिकोऽधार्मिको वा ? नाद्यः, तस्य तथा प्रार्थनानुपपत्तेः। न द्वितीयः, अधार्मिकस्यापि तादृशप्रार्थनाया असामञ्जस्यात्॥ ६४॥

यत्र॒ धारा॒ अन॑पेता॒ मधो॑र्घृ॒तस्य॑ च॒ याः।
त॒द॒ग्निर्वै॑श्वकर्म॒णः स्व॑र्दे॒वेषु॑ नो दधत्॥ ६५॥

मन्त्रार्थ—विश्वकर्मा सम्बन्धी अग्नि स्वर्ग में देवताओं के पास हमें वहाँ ले जाय, जहाँ कि मधु (शहद), घृत, दुग्ध आदि की धाराएँ कभी क्षीण नहीं होतीं॥ ६५॥

यत्र यस्मिन् देशे मधोर्मधुनो घृतस्य च धाराः प्रवाहाः, याश्चान्याः सोमादीनां पयोदध्यादीनां च धाराः प्रवाहा अनपेता अनिशं भुज्यमाना अपि अनुपक्षीणा वर्तन्ते, तत् तत्र वैश्वकर्मणोऽग्निर्विश्वकर्माग्निः स्वः स्वर्गे देवेषु मध्ये नोऽस्मान् दधद् दधातु।

अध्यात्मपक्षे—विश्वकर्मा विश्वं कर्म यस्य स विश्वकर्मा। विश्वकर्मा एव वैश्वकर्मणः परमेश्वरः, यत्र मध्वादिधारा अनपेता अनिशं भुज्यमाना अप्यनुपक्षीणा वर्तन्ते, तत्र स्वर् गोलोकादिषु देवेषु नोऽस्मान् दधद् दधातु।

दयानन्दस्तु—'यत्र मधोर्घृतस्य च या धारा अनपेता विद्वद्भिः क्रियन्ते, तद्वैश्वकर्मणोऽग्निर्नो देवेषु स्वर्दधत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, त्वद्रीत्या अग्नेर्जडत्वेन सुधाधायकत्वानुपपत्तेः। न च यज्ञेषु मध्वादिधाराः क्रियन्ते, तथा विध्यदर्शनात्॥ ६५॥

अ॒ग्निर॑स्मि॒ जन्म॑ना जा॒तवे॑दा घृ॒तं मे॒ चक्षु॑र॒मृतं॑ म आ॒सन्।
अ॒र्कस्त्रि॒धातू॒ रज॑सो वि॒मानोऽज॑स्रो घ॒र्मो ह॒विर॑स्मि॒ नाम॑ ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ—सब सृष्टि का स्वामी अर्चनीय यज्ञ, त्रिदेव स्वरूप, जल का निर्माता, अविनाशी अग्नि उत्पत्ति से मैं ही हूँ। मेरी आँखे घृत हैं। मैं घृत होमने वाले को देखता हूँ, मेरे मुख में हविरूप अमृत है। घर्मरूप और नाम से पुरोडाश आदि भी मैं ही हूँ ॥ ६६ ॥

अग्न्यद्वैतवादिनी त्रिष्टुब् देवश्रवोदेववातदृष्टा। यज्ञेऽविनियोगादग्निप्रकरणाच्च यजमान आत्मानमग्नित्वेन ध्यायन् ब्रवीति—जन्मना उत्पत्त्यैव अहमग्निरस्मि अग्निरूपोऽस्मि। जातवेदा जातं विन्दत इति जातवेदाः, उत्पन्नस्य सर्वस्य स्वामीत्यर्थः, 'अथ ह वै रेतः सिक्तं प्राणोऽन्ववरोहति तद्विन्दते तद्यज्जातं जातं विन्दते तस्माज्जातवेदाः' (श० ९।५।१।६८) इति श्रुतेः। यतश्चाहमग्निरस्मि, अतो घृतं मे चक्षुर्नेत्रम्, घृतहोमिनमहं पश्यामीति भावः। अमृतं हविः, मम आसन् आस्ये मुखे। 'पद्दन्नोमास्' (पा० सू० ६।१।६३) इत्यास्यशब्दस्य आसन्नादेशः। ततः सप्तम्याश्च लुक्। यो हि मम मुखे हविर्जुहोति तमहममृतं करोमीत्यभिप्रायः। किञ्च, अर्कः अर्चनीयः, यज्ञः अहमेवास्मि। नाम नाम्ना, विभक्तिलोपः, त्रिधातुः, दधति स्वं रूपमिति धातवः, त्रयो धातव ऋग्यजुःसामलक्षणाः स्वरूपनिर्वाहिका यस्यासौ त्रिधातुः। रजसो विमानः, रज उदकम्, तस्य विमानो विमिमीत इति विमानो निर्माता। 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (पा० सू० ३।१।१३४) इति कर्तरि ल्युः। किञ्च, अजस्रः, न जस्यतीत्यजस्रः। 'नमिकम्पि.....' (पा० सू० ३।२।१६७) इति रः। नञ्पूर्वकस्य जसेः क्रियासातत्ये वृत्तिः, अनुपक्षीण इत्यर्थः। घर्मः, जिघर्ति अनेनेति घर्मः। 'घृ क्षरणदीप्त्योः' इत्यस्मात् 'घर्मग्रीष्मौ' (उ० १।१४९) इति मप्रत्यय औणादिकः। दीप्त आदित्यरूपः, क्षरणो मेघरूपो वा। नह्येतावदेव, किन्तु हविश्चरुपुरोडाशादिकमप्यहमेवास्मि। नामशब्दस्य अस्मिशब्दस्य च सर्वत्रान्वयः। एवमात्मन्यभेदभावनयाऽद्वैतं भावनीयमिति मन्त्रार्थः।

अध्यात्मपक्षे—प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं परब्रह्मैव अग्निजातवेदोऽर्कादिरूपेण जायत इति तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमात् प्रत्यगात्मनोऽप्यग्निरूपत्वमुपपद्यते।

दयानन्दस्तु—'अहं जन्मना जातवेदा अग्निरिवाहमस्मि। यथाग्नेर्घृतं चक्षुरस्ति, तथा मेऽस्तु। यथा पावके संस्कृतं हविर्हुतं सदमृतं जायते, तथा म आसन् मुखेऽस्तु। यथा त्रिधातुः, त्रयो धातवो यस्मिन् सः, रजसो लोकसमूहस्य विमानो यानमिव धर्ता। अजस्रं गमनं यस्य सः, अर्शआदिभ्योऽच्। घर्मः, जिघर्ति येन सः। प्रकाश इव यज्ञः, हविर्होतव्यं द्रव्यमस्मि नाम ख्यातिः' इति, तदप्यव्यापारेषु व्यापारवन्निरर्थकमेव, मनुष्येषु तादृशप्रयोगासम्भवात्। नहि मनुष्यो जन्मना जातवेदा भवति। नह्यग्निर्यथा जातेषु पदार्थेषु भवति, तथा मनुष्योऽपि सर्वत्र सम्भवति, तस्य परिच्छिन्नत्वात्। जीवरूपेणापि न तस्य सर्वव्याप्तिः सम्भवति, त्वया तस्य अणुप्रमाणत्वाङ्गीकारात्। न वाग्नेर्घृतं प्रकाशकं भवति, घृतस्य स्वयं प्रकाशशून्यत्वेन प्रकाशकत्वायोगात्। अग्नौ हुतं द्रव्यं नश्यत्येव, कुतस्तस्यामृतत्वसम्भावनापि? नहि त्रिधातुपदं रजसो विशेषणं सम्भवति, असामानाधिकरण्यात्, भिन्नविभक्तिकत्वादिति यावत्। तेन त्रिगुणस्य लोकसमूहस्येत्यर्थो न सम्भवत्येव। विमानपदमपि न यानपरम्, तदपेक्षया लाघवेन यानशब्दस्यैव प्रयोगौचित्यात्। तत्रापि विमानपदस्य धारणकर्तृत्वे लक्षणा निर्मूलैव। न चात्र लक्षणा युक्ता, अन्वयानुपपत्तितात्पर्यानुपपत्तिप्रभृतिबीजाभावात्। एवं रीत्या दूषणान्तराण्यप्यूहनीयानि ॥ ६६ ॥

ऋचो नामा॑स्मि यजूं॑ᳪषि नामा॑स्मि सामा॑नि नामा॑स्मि। ये अ॒ग्नयः॒ पाञ्च॑जन्या अ॒स्यां पृ॑थि॒व्यामधि॑। तेषा॑मसि॒ त्वमु॑त्त॒मः प्र नो॑ जी॒वात॑वे सुव ॥ ६७ ॥

मन्त्रार्थ—मैं ऋग्वेद नाम वाला और यजुर्वेद नाम वाला अग्नि हूँ। सामवेद भी मेरा ही नाम है। इस पृथ्वी पर मनुष्यों की हितकारिणी जो अग्नियाँ हैं, हे यज्ञाग्ने ! तुम उनमें श्रेष्ठ हो। हमारे चिरजीवन के निमित्त आज्ञा दो ॥ ६७ ॥

अत्र कण्डिकायां मन्त्रद्वयम्। तत्र प्रथमो मन्त्र आत्मदेवत्यः सप्तदशाक्षरो यजुः। अस्यापि न यज्ञे विनियोगः। अनेन यजमानः स्वात्मनि वेदत्रयात्मकत्वं सम्पादयति। अत्रापि नामशब्दाद्विभक्तिलोपो द्रष्टव्यः। नाम्नाहमृचोऽस्मि ऋग्वेदरूपोऽस्मि। यद्यपि मन्त्रपर एव ऋक्शब्दस्तथापि लक्षणया ऋग्वेदपरो द्रष्टव्यः। ऋचां प्राधान्यं यस्मिन् वेदे स ऋग्वेद इति व्युत्पत्त्या ऋङ्मन्त्रप्रधानो मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदो ग्राह्यः। तथैव यजूंषि सामानीत्यत्रापि द्रष्टव्यम्। यजुर्वेदरूपोऽस्मि। सामानि नामास्मि सामवेदो नाम्नास्मि। 'चित्रोऽसीति चित्यनाम कृत्वोपतिष्ठते येऽग्नय इति' (का० श्रौ० १८।६।२४)। चित्यस्याग्नेश्चित्रोऽसीति नाम विधाय तमुपतिष्ठते। कर्मशेषं समाप्य इदमुपस्थानं कार्यम्, उपस्थानानन्तरं समारोपविधानादिति सूत्रार्थः। द्वितीयो मन्त्र ऋक्। सा च अग्निदेवत्याऽनुष्टुप्। अस्यां पृथिव्यामधि अस्याः पृथिव्या उपरि येऽग्नयः सन्ति, हे चित्याग्ने, तेषां पृथिवीस्थानाममीषां त्वमुत्तमोऽसि उद्गततमोऽसि। अतस्त्वं प्रार्थ्यसेऽस्माभिः। स त्वं नोऽस्माकं जीवातवे जीव्यतेऽनेनेति जीवातुः, 'जीवेरातुः' (उ० १।७८) इत्यातुःप्रत्ययः करणे भावे वा, चिरं जीवनमित्यर्थः, तस्मै। प्रसुव प्रेरय। कीदृशा अग्नयः ? पाञ्चजन्याः पञ्चजना मनुष्यास्तेभ्यो हिताः पाञ्चजन्याः। यद्वा पञ्च जनाः समूहाश्चितिरूपा येषां ते पञ्चजनाः, त एव पाञ्चजन्याः, स्वार्थे तद्धितः।

अत्र ब्राह्मणम्—'वैश्वकर्मणानि हुत्वा नाम करोति' (श० ९।५।१।५२), 'नाम कृत्वाथैनमुपतिष्ठते' (श० ९।५।१।५३), 'ये अग्नयः पाञ्चजन्या अस्यां पृथिव्यामधि। तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुवेति ये के चाग्नयः पञ्चचितिका अस्यां पृथिव्यामधि तेषामसि त्वᳪ सत्तमः प्रो अस्माञ्जीवनाय सुवेति' (श० ९।५।१।५३)। स्पष्टार्थमेतत्।

अध्यात्मपक्षे—परमात्मनो निःश्वासन्यायेन प्रादुर्भूतत्वात् प्रतीचोऽपि तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमेन ऋगादिरूपता। यूप आदित्यदृष्टिरिव वा प्रतीचि ऋगादिदृष्टिः कार्या। हे चित्याग्ने ज्ञानाग्ने, अस्यां पृथिव्यामधि ये पाञ्चजन्या मनुष्यहितावहा अग्नयः सन्ति, तेषां त्वमुत्तमोऽसि, अविद्यातत्कार्यात्मकप्रपञ्चदाहकत्वेन मोक्षप्रदत्वात्। स त्वं नोऽस्मान् जीवातवे चिरजीवनाय अमृतत्वाय प्रसुव प्रेरय। ब्रह्मात्मभावावस्थानद्वारा मोक्षं प्रापयेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, योऽहमृचो नामास्मि यजूंषि नामास्मि सामानि नामास्मि तस्मान्मत्तो विद्यां गृहाण। येऽग्नय आहवनीयादयः पाञ्चजन्या अस्यां पृथिव्यामधि तेषां मध्ये त्वमुत्तमोऽसि। स त्वं नो जीवातवे शुभकर्मसु प्रसुव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ऋचां प्रख्यापकत्वेन ऋग्वेदरूपत्वे मानाभावात्। ऋग्वेदनामापि न तावता सम्भवति, पुस्तकप्रकाशकानामपि तन्नामत्वापत्तेः। यो विद्वान् स कथं विद्याग्रहणाय प्रोत्साह्यते ? निरर्थकत्वात्। यो विद्याग्रहणाय प्रोत्साहितः पूर्वार्धेन, स एवोत्तरार्धे सर्वेषामग्नीनामुत्तमः। स एवाध्यापकस्य जीवातवे सत्कर्मसु प्रेरक इति किं केन श्लिष्यते ? ॥ ६७ ॥

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च । इन्द्र त्वावर्तयामसि ॥ ६८ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! आप वृत्रासुर को मारने वाले हैं, शत्रु सेना का तिरस्कार करने में समर्थ हैं। आपके बल को देखने के लिये मैं आपका बार-बार आह्वान करता हूँ ॥ ६८ ॥

'चितिं पुरीषवतीमुपतिष्ठते वार्त्रहत्यायेति सप्तभिः, अष्टाभिरेके, दशभिर्वा' (का० श्रौ० १७।७।१-३)। मृत्पूरणानन्तरमेतां चितिमुपतिष्ठते सप्तभिः, एकेषां मतेऽष्टाभिर्दशभिर्वा ऋग्भिरिति सूत्रार्थः। इदमुपस्थानं पुरीषनिवपनानन्तरं सर्वासु चितिषु कर्तव्यम्। आग्नेय्यः सप्तर्च इन्द्रदृष्टाः। आद्ये द्वे वृत्रहेन्द्रदेवत्ये गायत्रीत्रिष्टुभौ विश्वामित्रेणापि दृष्टे। हे इन्द्र, वयं त्वा त्वाम् आवर्तयामसि आवर्तयामः, उपतिष्ठामहे। 'इदन्तो मसि' (पा० सू० ७।१।४६) इति इगागमे रूपम्। किमर्थम् ? शवसे बलाय, त्वद्बलवृद्धये इत्यर्थः। 'शव इति बलनामसु (निघ० २।९।३)। कीदृशाय शवसे ? वार्त्रहत्याय हननं हत्या वृत्रस्य हत्या वृत्रहत्या, तत्र कुशलं वार्त्रहत्यम्, तस्मै वृत्रघातसमर्थाय। येन शवसा वृत्रो हन्यते तद् वार्त्रहत्यम्, तस्मै। पुनः कीदृशाय ? पृतनाषाह्याय पृतनाः सेनाः, शत्रूषामिति यावत्, सह्यन्तेऽभिभूयन्तेऽनेनेति पृतनाषाह्यम्, 'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१।१२४) इति ण्यति रूपम्, तस्मै शत्रुसेनापराभवसमर्थाय।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमेश्वर, त्वां वयमावर्तयामसि उपतिष्ठामहे। किमर्थम् ? शवसे निरतिशयबलस्यापि तव बलवर्धनाय। कीदृशाय शवसे ? वृत्रमावरकमज्ञानम्, तस्य हनने कुशलाय। पुनः कीदृशाय ? पृतनाषाह्याय मोहचम्वभिभवसमर्थायेति।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र सेनेश, यथा वयं वार्त्रहत्याय वार्त्रस्य वर्तमानस्य शत्रोर्हत्या हननं तत्र साधु, तस्मै शवसे बलाय पृतनाषाह्याय ये मनुष्याः पृतनाः सहन्ते ते पृतनासाहस्तेषु साधवे, तेन अन्यान्ययोग्यसाधनेन त्वामावर्तयामसि प्रवर्तयामः, तथा त्वं वर्तस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लोकसिद्धस्य अर्थस्य लोकादेव सिद्धेः, अज्ञातज्ञापकस्य वेदस्य तद्बोधने तात्पर्याभावात्। न च वृत्रपदेन वर्तमानः शत्रुर्गृह्यते, तत्र तच्छब्दशक्तेर्मानाभावात्, वृत्रपदेन आवरकस्य मेघस्य अन्धकारस्य वा विवक्षितत्वात्, 'वृञ् वरणे' इति सौवादिकधातोर्निष्पन्नत्वात्। 'गुधृवीपचि' (उ० ४।१६८) इति बाहुलकात् त्रः ॥ ६८ ॥

सहदानुं पुरुहूत क्षियन्तमहस्तमिन्द्र सम्पिणक्कुणारुम् ।
अभि वृत्रं वर्धमानं पियारुमपादमिन्द्र तवसा जघन्थ ॥ ६९ ॥

मन्त्रार्थ—अनेकों बार भक्तों द्वारा आहूत हे इन्द्रदेव ! हमारे आस-पास बसने वाले, दुर्वचन कहने वाले शत्रु के हाथों को तोड़ कर चूर्ण कर दीजिये। हे इन्द्रदेव, प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो रहे, देवताओं को पीड़ा पहुंचाने वाले वृत्रासुर अथवा सभी प्रकार के पापियों को गतिहीन कर नष्ट कर दीजिये ॥ ६९ ॥

हे पुरुहूत, पुरुभिर्बहुभिः पुरुनामभिर्वा हूत आहूतः पुरुहूतः। पुरुपदमावर्तनीयम्। हे इन्द्र! सहदानुं सहसो बलस्य दानुं दातारम्। पृषोदरादित्वात् साधु। 'सह इति बलनामसु' (निघ० २।९।१७)। अयं च वराकस्तुच्छबलः, त्वं सम्पूर्णबलः, अतोऽनेन सार्धं त्वं युध्यस्वेति प्रेर्य यः शत्रुमुपस्तोभयते स सहदानुः शत्रुः, 'दाभाभ्यां नुः' (उ० ३।३२) इति दातेर्नुः, तम्। यद्वा शत्रुणा सह एकीभूय यो योद्धुं दुर्मन्त्रं ददाति स सहदानुः शत्रुः, तम्।

क्षियन्तं निकटे निवसन्तमिहैव अहस्तं हस्तरहितं कृत्वा युद्धे निर्जित्य सम्पिणक् सम्पिण्ढि सञ्चूर्णय। 'पिष्लृ सञ्चूर्णने' इति धातोः सम्पूर्वकाल्लोडर्थे 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति लङि मध्यमैकवचने रुधादित्वात् श्नमि रूपम्, षस्य कुत्वमार्षम्, अडभाव आर्षः। कुणारुं क्वणति दुर्वचो वदतीति कुणारुः, तम्। 'पीयुक्वणिभ्यां कालन् ह्रस्वः सम्प्रसारणं च' (उ० ३।७६) इति बाहुलकाद् आरुः, धातोः सम्प्रसारणं च। हे इन्द्र, वर्धमानं सर्वमभिभूय जगद् व्याप्नुवन्तम्। पियारुं पीयतीति पियारुः, पीयुः सौत्रो धातुर्हिंसाकर्मा, देवानां हिंसकः, तम्। अथवा तौदादिकः पियतिर्गत्यर्थकोऽप्यत्र हिंसाकर्मा। वृत्रं प्रावरकं दैत्यम्। अपादं पादहीनं कृत्वा। तवसा बलेन त्वमभिजघन्थ जहि गमनासमर्थं कृत्वा सम्यङ् मारयेत्यर्थः। 'तव इति बलनामसु' (निघ० २।९।४)।

अध्यात्मपक्षे—हे पुरुहूत बहुभिर्भक्तैराहूत हे इन्द्र परमेश्वर, सहदानुं कामक्रोधादिशत्रूणां बलदातारं महाशत्रुं क्षियन्तं सदैव निकटे निवसन्तं कुणारुं दुर्वचनप्रयोगहेतुमज्ञानमहस्तमकर्मण्यं कृत्वा सम्पिणक् सम्पिण्ढि सञ्चूर्णय। अथ योऽयमपरो वृत्रो मोहरूपः, तं सर्वमभिभूय वर्धमानम्, पियारुं शान्तिदान्तिसन्तोषादीनां हिंसितारमपादं गमनासमर्थं कृत्वा तवसा विवेकबलेन, अस्माकं विवेकबलं सम्पाद्येत्यर्थः, जघन्थ सम्यङ् मारय।

दयानन्दस्तु--'हे पुरुहूत, यथा सूर्यः सहदानुं यः सहैव ददाति तम्, क्षियन्तमाकाशे गच्छन्तं कुणारुं शब्दयन्तमहस्तं पियारुं पानकारकमपादं पादेन्द्रियरहितमभिवर्धमानं वृत्रं मेघमिव सम्पिणक् पिनष्टि, तथा हे इन्द्र, शत्रूंस्तवसा जघन्थ जहि' इति, तदपि लौकिकसेनापतिप्रोत्साहनमात्रम्, धर्मब्रह्मसम्बन्धशून्यत्वेन निरर्थकं च। यथा सूर्य इत्यादिकमपि निर्मूलमेव ॥ ६९ ॥

वि न॑ इन्द्र मृधो॑ जहि नी॒चा य॑च्छ पृतन्य॒तः।
यो अ॒स्माँ२॥ अ॑भि॒दास॒त्यध॑रं गमया॒ तमः॑ ॥ ७० ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव! संग्राम में हमारे शत्रुओं पर विजय प्राप्त कीजिये, संग्राम की इच्छा से सेना का संग्रह करने वाले शत्रुओं को नीचा दिखाइये। जो हमें क्लेश देता है, उसको निकृष्ट अन्धकार रूप नरक में ढकेल दीजिये ॥ ७० ॥

इयम् ८।४४ इत्यत्र व्याख्याता ॥ ७० ॥

मृ॒गो न भी॒मः कु॑च॒रो गि॑रि॒ष्ठाः प॑रा॒वत॒ आज॑गन्था॒ पर॑स्याः।
सृ॒कꣳ स॒ꣳशाय॑ प॒विमि॑न्द्र ति॒ग्मं वि शत्रू॑न् ताढि॒ वि मृधो॑ नुदस्व ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव! भयानक दिखाई पड़ने वाले, डरावनी चाल वाले, पर्वत की गुफा में सोये सिंह के समान आप हमारी रक्षा के लिये बहुत दूर के स्थान से भी शीघ्र चले आइये। शत्रु के शरीर में प्रवेश करने वाले तीक्ष्ण वज्र को और भी धारदार बनाकर शत्रुओं को विशेष रूप से ताडित कीजिये और संग्राम भूमि से उनको भगा दीजिये ॥ ७१ ॥

जयदृष्टा त्रिष्टुप्। हे इन्द्र, परस्याः पृथिव्या दूरदिशोऽपि वा। परावतो दूरतराद्देशात्, परावच्छब्दो दूरतरवचनः, आहूयमान इव आजगन्थ आगच्छ। लोडर्थे लिट्। आगत्य च पविं वज्रं संशाय तीक्ष्णीकृत्य निशितधारं कृत्वा, 'शो तनूकरणे' इत्यस्य ल्यपि रूपम्। शत्रून् विताढि विशेषेण ताडय। मृधः संग्रामांश्च विनुदस्व विशेषेण प्रेरय दूरीकुरु। प्रधानान् हत्वा शेषान् मृधः संग्रामादपसारय। कीदृशं पविम्? सृकम्, सरति शत्रुशरीरे गच्छतीति सृकस्तम्। पुनः कीदृशम्? तिग्मम् उत्साहवन्तम्, अतितीक्ष्णं वा कृत्वा 'तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः' (निरु० १०।६) इति यास्कः। दूरादागत्य शत्रुविनाशने दृष्टान्तमाह—मृगो न मृगः सिंह इव। यथा सिंहो दूरादेत्य प्राणिनो हन्ति, तद्वत्। कीदृशो मृगः? भीमो भयङ्करः। पुनः कीदृशः? कुचरः कुत्सितं चरतीति कुचरः। पुनः कीदृशः? गिरिष्ठा गिरौ तिष्ठतीति गिरिष्ठाः पर्वताश्रयः। तडिराघातार्थकश्चौरादिको हिंसाकर्मा। तस्य लोटि हौ परे 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इत्यार्धधातुकत्वे णिचो लोपे हेर्धौ ष्टुत्वे ढलोपे दीर्घे च रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, मृगो न यथा व्याघ्रो सिंहो वा भीमो भीषणः कुचरः कुत्सितचारी हिंस्रः प्राणिवधजीवनो गिरिष्ठाः पर्वताश्रयो दूरदेशादागत्य दैत्यप्रायान् प्राणिविशेषान् तैरनभिभूयमानो हन्ति, तथा त्वं परस्या दूरदिशः परावतो दूरदेशाद् आजगन्थ आगच्छ। सर्वत्र व्याप्तस्यापि वैकुण्ठ-गोलोक-साकेतादिलोकविशेषनिवासित्वात् तव दूरदेशादागमनं युक्तमेव। आगत्य च सृकं शत्रुदेहेषु सरणशीलं तिग्मं पविं तेजनं वज्रं संशाय तीक्ष्णीकृत्य विताढि बाह्यानान्तरांश्च शत्रून् विशेषेण ताडय मारय। अवशिष्टान् मृधो विनुदस्व संग्रामादपुनरागमनाय पलायितुं प्रेरयस्व।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र सेनेश, त्वं कुचरो गिरिष्ठा भीमो मृगो न परावत आजगन्थ। परस्यास्तिग्मं पविं सृकं संशाय शत्रून् विताढि मृधो विनुदस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणस्यैव दूषणत्वात्। कुचरपदस्य कुटिलगतित्वं मृगपदस्य सिंहतुल्यार्थत्वं च काल्पनिकमेव ॥ ७१ ॥

वै॒श्वा॒न॒रो न॑ ऊ॒तय॒ आ प्र या॑तु परा॒वतः॑। अ॒ग्निर्नः॑ सुष्टु॒तीरुप॑ ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ—सब प्राणियों का हितकारी अग्नि देव हमारी सुन्दर स्तुतियों को सुनने के लिये और हमारी रक्षा के लिये दूर देश से भी शीघ्र चले आवें ॥ ७२ ॥

वैश्वानरदेवत्या गायत्री। वैश्वानरोऽग्निर्नोऽस्माकमूतये अवनाय रक्षणाय तर्पणाय वा नोऽस्माकं सुष्टुतीः शोभनाः स्तुतीरुप उपश्रोतुं परावतो दूरदेशाद् आप्रयातु आगच्छतु।

अध्यात्मपक्षे—वैश्वानरः, विश्वे नरा यस्यासौ विश्वानरः, 'नरे संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।१२९) इति दीर्घः, विश्वानरस्यापत्यं वैश्वानरः, 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' (पा० सू० ४।१।११४) इत्यण्। अग्निरूपः परमेश्वरः। अथवा विश्वेषां नराणां समष्टिर्विश्वानरः, स एव वैश्वानरः। समष्टिप्रपञ्चाभिमानी परमेश्वरः, नोऽस्माकमूतये रक्षणाय तर्पणाय च नः सुष्टुतीरुपश्रोतुं परावतो गोलोकादिदूरदेशाद् आप्रयातु।

दयानन्दस्तु—'हे सेनेश सभेश, यथा वैश्वानरोऽग्निः सूर्यः परावतः सर्वान् पदार्थान् प्राप्नोति, तथा भवानूतये न आप्रयातु। यथाग्निर्विद्युत्सहितोऽस्ति, तथा त्वं नः सुष्टुतीरुपशृणु' इति, तदपि विसङ्गतमेव, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्। वैश्वानरशब्दस्य सूर्यार्थतापि प्रमाणसापेक्षा, परावत्पदमपि दूरदेशबोधकम्, न तु तत्रत्यपदार्थबोधकम्। संहितेत्यस्य व्यापिकापि समीपस्था भवतीत्यर्थ उक्तः, सोऽपि चिन्त्य एव, निर्मूलत्वात्। नहि मनुष्यसुष्टुतिर्युक्ता, परमेश्वरस्यैव सुष्ठु स्तोतव्यत्वात् ॥ ७२ ॥

पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधीराविवेश ।
वैश्वानरः सहसा पृष्टो अग्निः स नो दिवा स रिषस्पातु नक्तम् ॥ ७३ ॥

मन्त्रार्थ—सब प्राणियों का हितकारी अग्नि देवता द्युलोक में आदित्य रूप से पूछा गया है, अर्थात् यह आदित्य रूप क्या है ? इस प्रकार प्रश्न करके मुमुक्षुओं ने उसके स्वरूप पर विचार किया है। अन्तरिक्ष में जल के अभिलाषियों ने प्रश्न किया है कि जो बिजली के रूप में प्रकाश करता है, वह कौन है ? जो सकल ओषधियों में प्रवेश कर गया, वह कौन है ? जीवन के कारणभूत ताप, पाक, प्रकाश आदि से प्रजाओं का उपकार करने वाला वह कौन है ? बलपूर्वक अध्वर्यु द्वारा मथा गया और अरणि काष्ठ से निकाला गया वह कौन है ? वह अग्नि रात-दिन वध या कष्ट से हमारी रक्षा करे, अर्थात् सर्वत्र अग्नि, सूर्य और विद्युत् के रूप में परमात्मा ही स्थित हैं, वे हमारी रक्षा करें ॥ ७३ ॥

वैश्वानरदेवत्या त्रिष्टुप् कुत्सदृष्टा। वैश्वानरः सर्वनरेभ्यो हितोऽग्निः। विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद्वा वैश्वानरोऽग्निः। दिवा दिवसे नोऽस्मान् पातु रक्षतु। स च नक्तं रात्रौ नोऽस्मान् रिषो हिंसाव्यापारात् पातु। 'रिष हिंसायाम्' भौवादिकः। स कः ? योऽग्निर्वैश्वानरो दिवि द्युलोके पृष्टः कोऽयमिति दिव्यादित्यात्मना व्यवस्थितो मुमुक्षुभिः। तत्र ह्येवं श्रूयते—''यमेतमादित्ये पुरुषं वेदयन्ते स इन्द्रः स प्रजापतिः स ब्रह्म' इति। यश्चाग्निः पृथिव्यामन्तरिक्षे लोके प्रावृषि विद्युदात्मना स्थितो जलार्थिभिः पृष्टः। 'पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु' (निघ० १।३।९)। यश्च विश्वाः सर्वा ओषधीर्व्रीहियवाद्या आविवेश। प्रविष्टः सन् पृष्टः कोऽयं प्रजानां जीवनहेतुस्तापपाकप्रकाशैरुपकरोतीत्यग्निहोत्रिप्रभृतिभिर्म्लेच्छपर्यन्तैः पृष्टः। यश्च सहसा बलेन अध्वर्युणा मथ्यमानः सन् पृष्टो दिदृक्षुभिर्जनैः कोऽयं दृश्यत इति सोऽयमग्निर्दिवानक्तं रिषः पातु, इत्युक्तेनान्वयः। नास्मान्नाशयत्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मा परमेश्वर एवात्र आदित्यविद्युदादिरूपेण स्तूयते। व्याख्यानं पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'मनुष्यैर्यो दिवि सूर्ये पृष्टो ज्ञातुं योग्यः, अग्निः प्रसिद्धः पावकः, पृथिव्यां पृष्टो जिज्ञास्यः, अग्निर्जले वायौ च पृष्टोऽग्निः सहसा बलादिगुणैर्युक्तो वैश्वानरः पृष्टोऽग्निर्विश्वा ओषधीराविवेश। स दिवा स च नक्तं यथा पाति, तथा सेनेशो भवान्नोऽस्मान् रिषः सततं पातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, उपमाबोधकपदाभावाच्च ॥ ७३ ॥

अश्याम तं काममग्ने तवोती अश्याम रयिꣳ रयिवः सुवीरम् ।
अश्याम वाजमभि वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नमजराजरं ते ॥ ७४ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आपकी कृपा से हम अपनी अभिलाषा पूरी करें। हे धनवन् ! आपकी कृपा से हम सुन्दर पुत्र और श्रेष्ठ धन पावें, आपका पूजन करते हुए हम धनधान्य से सम्पन्न हो जाँय। हे जरारहित ! आपकी कृपा से हम कभी जीर्ण न होने वाला यश पावें, अर्थात् सदा यशस्वी बनें ॥ ७४ ॥

भरद्वाजदृष्टा आग्नेयी कामवती त्रिष्टुप्। हे अग्ने, तव ऊती ऊत्या अवनेन पालनेन तर्पणेन च वयं काममभिलाषमश्याम प्राप्नुयाम, यत्कामा एतत्कर्म कुर्म इति शेषः। 'अशूङ् व्याप्तौ' सौवादिकः, विकरण-

---

१. नाधुना श्रुतिरियमुपलभ्यते।

व्यत्ययेन श्यन् । हे रयिवः, रयिर्धनमस्यास्तीति रयिवान्, तत्सम्बुद्धौ हे रयिवो धनवन्, सुवीरं शोभना वीराः पुत्रादयो यत्र स सुवीरः, तम् । पुत्रादिसहितं धनं वयं प्राप्नुयामेति यावत् । वाजयन्तो वह्निमर्चयन्तः । अन्यानपि पूजयितव्यान् अभिपूजयन्तः । 'वाजयतिरर्चतिकर्मा' (निघ० ३।१४।३६) । वाजमन्नम्, अभि अभितः समन्ताद् अश्याम प्राप्नुयाम । हे अजर, नास्ति जरा यस्य सोऽजरः, तत्सम्बुद्धौ हे जरारहित, नित्यं नूतनेत्यर्थः । अजरमक्षीणं ते तव द्युम्नं यशो वयमश्याम सर्वदा यशस्विनो भवामेत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने श्रीभगवन्, वयं यं यं कामयामहे तव ऊत्या अवनेन कृपापीयूषपूर्णेन पोषणेन तं तं काममश्याम प्राप्नुमः । हे रयिवः, शोभनगुणरूपधनयुक्त । त्वत्प्रसादात् सुवीरं महाशक्तिशालिनं रयिं शान्तिदान्त्यादिगुणकदम्बम्, अश्याम प्राप्स्यामः । त्वामन्यांश्च त्वद्भक्तान् अर्चनीयान् वाजयन्तोऽर्चयन्तः, अभिवाजं सर्वप्रकारकान् भोगान् अश्याम प्राप्नुमः । हे अजर, अजरमनुपक्षीणमातङ्करहितं च द्युम्नं यशस्ते तव प्रसादाद् वयमश्याम ।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, वयं तवोती रक्षाद्यया क्रियया तं काममश्याम । हे रयिवः, सुवीरं शोभना वीराः प्राप्यन्ते यस्मात्तमश्याम । वाजयन्तः संग्रामयन्तो योधयन्तो वयं वाजं संग्रामविजयमश्याम । हे अजर, तेऽजरं द्युम्नं यशो धनं वा अश्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अग्निपदेन सेनापतेर्ग्रहणस्य निर्मूलत्वात् । नहि सेनापतिः कामदाता भवति, येन ततः स काम्येत । शोभना वीराः प्राप्यन्ते यस्मादित्यसाम्प्रतम्, व्यावर्त्याभावात् । वाजं संग्रामविजयमित्यप्यपव्याख्यानमेव, निर्मूलत्वात् । न च मनुष्यस्य अजरत्वमुपपद्यते, सर्वस्यैव जनिमतो जरादिविकारस्यानिवार्यत्वात् ॥ ७४ ॥

व॒यं ते॑ अ॒द्य र॑रि॒मा हि काम॑मुत्ता॒नह॑स्ता॒ नम॑सोप॒सद्य॑ ।
यजि॑ष्ठेन॒ मन॑सा यक्षि दे॒वानस्रे॑धता॒ मन्म॑ना॒ विप्रो॑ अग्ने ॥ ७५ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! दान के लिये खुले हाथ रख कर हम नमनपूर्वक आपके निकट आकर यज्ञ करने में तत्पर हुए हैं । अनन्य गति वाले देवताओं की एकाग्र महिमा और आत्मा के स्वरूप को जानने वाले सावधान मन से इच्छित हवि को आपके निमित्त हमने दिया है । हे बुद्धिमान् अग्निदेव ! आप इस हवि से अन्य देवताओं को भी तृप्त करें ॥७५॥

उत्कीलदृष्टा आग्नेयी त्रिष्टुप् । हे अग्ने, हि यस्मात् कारणाद् वयं ते तुभ्यमद्य अस्मिन् दिने कामम्, काम्यत इष्यते देवैरिति कामं हविः, नमसा नमस्कारेण उपसद्य उपसङ्गम्य, निकटमागत्येति यावत् । ररिमा 'रा दाने' इत्यस्य लिटि उत्तमबहुवचने रूपम् । 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति संहितायां दीर्घः । कीदृशा वयम् ? उत्तानहस्ता अबद्धमुष्टिका असंवृताङ्गुलयः, त्यक्तकृपणस्वभावा इति यावत् । तथाविधेनैव मनसा उपलक्षिताः, सावधाना इत्यर्थः । कीदृशेन मनसा ? यजिष्ठेन, अतिशयेन यष्टृ इति यजिष्ठम्, 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० सू० ६।४।१५४) इति तृचो लोपः, तेन अतिशययजनपरायणेनेति यावत् । तथा अस्रेधता सेधत्यन्यत्र गच्छतीति स्रेधत्, रेफागमश्छान्दसः, न स्रेधदस्रेधत्, तेन । अनन्यगतेन देवताया याथात्म्यचिन्तनसन्तानैकरसेनेति यावत् । पुनः कीदृशेन ? मन्मना मन्यते देवमहिमानं जानातीति मन्म, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा० सू० ३।२।७५) इति मनिन्, तेन । देवतायाथात्म्यज्ञेनेत्यर्थः । एतादृशेन मनसा वयं हवी ररिम । अतो हे अग्ने, विप्रो मेधावी त्वं देवान् यक्षि यज । मद्दत्तेन हविषा देवांस्तर्पयेत्यर्थः । यजतेर्मध्यमैकवचने शपो लोपे षत्वे ष्टुत्वे यक्षीति रूपम् । 'विप्रो अग्ने' इत्यत्र 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इति प्रकृतिभावः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, अद्य अस्मिन्नहनि यस्मात्ते तुभ्यं कामं त्वया काम्यमानं त्वदपेक्षितं हविर्वयं ररिम दत्तवन्तः, यद्यपि भगवान् आप्तकामः, तथापि भक्तानुग्रहार्थमेव भक्तार्पितं वस्तु कामयते, उत्तानहस्ता अबद्धमुष्टिकास्त्यक्तकार्पण्याः कृताञ्जलयो वा नमसा प्रणिपातेन उपसद्य उपसङ्गम्य यजिष्ठेन यजननिष्ठेन श्रद्धायुक्तेन मनसा। तथा मन्मना देवतायाथात्म्यज्ञेन अस्रेधता अनन्यगतेन मनसा तुभ्यं कामं हवी ररिम इति सम्बन्धः। हे अग्ने भगवन्, त्वं विप्रः सन्, विशेषेण प्राति प्रपूरयति भक्तजनमनोरथानिति विप्रः, 'प्रा प्रपूरणे' इति रूपसिद्धिः, इष्टापूर्तकरस्त्वम्, अधिदेवान् यक्षि देवानां स्वं स्वं भागं प्रयच्छ। श्रीरामकृष्णादिस्वरूपेणापि भगवानेव यजमानदत्तं हविस्तेभ्यस्तेभ्यो देवेभ्यः प्रयच्छति।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, उत्तानहस्ता वयं ते नमसोपसद्य अद्य कामं हि ररिम यथा विप्रोऽस्रेधता मन्मना यजिष्ठेन मनसा देवान् यजति सङ्गच्छते, यथा च त्वं यक्षि, तथा वयमपि यजेम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नमसोपसन्नस्याभयमुद्रानुपपत्तेः, तथा वयमित्यंशस्य निर्मूलत्वाच्च॥ ७५॥

धामच्छदग्निरिन्द्रो ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः।
सचेतसो विश्वे देवा यज्ञं प्रावन्तु नः शुभे॥ ७६॥

मन्त्रार्थ—लोकों की न्यूनता को पूर्ण करने वाले, रिक्तता को भरने वाले, परम धाम में विराजमान, दिव्य गुणधारी अग्निदेव, देवराज इन्द्र, चतुर्मुख ब्रह्मा, देवगुरु बृहस्पति तथा परम बुद्धिमान् विश्वेदेव—ये सब देवता हमारे इस यज्ञ को इष्टस्थान स्वर्ग में स्थापित करें॥ ७६॥

विश्वेदेवदेवत्याऽनुष्टुप्। एते देवा नोऽस्माकं यज्ञं प्रावन्तु प्रकर्षेण रक्षन्तु, अन्यूनानतिरिक्तं कुर्वन्त्वित्यर्थः, न्यूनाधिक्ययोर्दोषावहत्वेन तद्राहित्यस्यैव तद्रक्षणात्। शुभे इष्टे स्थाने स्वर्गे च यज्ञं स्थापयन्त्विति शेषः। यद्वा शुभे स्थाने यज्ञं प्रावन्तु। एते के? अग्निर्देव इति, देवशब्दः सर्वत्रानुषज्यते, इन्द्रो देवः, ब्रह्मा देवश्चतुर्मुखः, बृहस्पतिर्देवो देवगुरुः, विश्वेदेवाश्च। धामच्छद् धामानि स्थानानि छादयत्याच्छादयतीति धामच्छद्, छादयतेः क्विपि णिलोपे धातोर्ह्रस्वः। धाम्नां छदनं तावद् न्यूनानां पूरणम्, अतिरिक्तानां समीकरणं च। इदमपि पदं सर्वेषां विशेषणम्। तथा सचेतसश्चेतसा प्रज्ञया सहिताः, समानं चेतः प्रज्ञानं येषां ते सचेतस इति वा। समानप्रज्ञाना धामच्छदोऽग्न्यादया देवा अन्यूनानतिरिक्तकर्तारो मम यज्ञं रक्षन्त्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवन् परमेश्वर, त्वमेव धामच्छदग्निः, धामानि स्थानानि छादयति न्यूनानि पूरयत्यतिरिक्तानि च समीकरोतीति धामच्छत् सर्वज्ञोऽग्निः, अग्रणीस्त्वमेव धामच्छद् इन्द्रः परमैश्वर्योपेतस्त्वमेव। धामच्छद् ब्रह्मा चतुर्मुखो देवो देवनादिगुणयुक्तः, बृहस्पतिर्देवगुरुः, विश्वेदेवाः सर्वे चैते देवाः सचेतसः समनस्का नोऽस्माकं यज्ञं भूमेः शुभे शोभनात्मके श्रीभगवद्विषये स्थितं यज्ञं प्रावन्तु रक्षन्तु, सफलयन्त्विति यावत्। अन्यूनानतिरिक्तं वा कुर्वन्तु। शुभे स्विष्टे च स्थाने स्थापयन्तु।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, देवो विद्यादाता धामच्छदग्निरिन्द्रो यो धामानि छादयति संवृणोति सोऽग्निर्विद्वान् ब्रह्मा चतुर्वेदविद् बृहस्पतिरध्यापकश्चेमे सचेतसो विश्वेदेवा नःशुभे यज्ञं प्रावन्तु। इन्द्रो विद्युत्तुल्योऽमात्यो राजा वा' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रथमतः सम्बाधनस्यैव निर्मूलत्वात्, अग्न्यादिशब्दानामिन्द्राद्यर्थत्वे मानाभावाच्च॥ ७६॥

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँ: पाहि शृणुधी गिरः। रक्षा तोकमुत त्मना ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ—हे नित्यतरुण अग्निदेव ! आप हमारी स्तुति-प्रार्थना के वचनों को सुनें और यजमान के वंश एवं सम्बन्धियों की बिना याचना किये ही रक्षा करें ॥ ७७ ॥

इयं त्रयोदशे द्वापञ्चाशयां व्याख्याता ॥ ७७ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदवाजसनेयिसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायाम्
अष्टादशोऽध्यायः समाप्तः ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन मधुमतीं मधुमता सृजामि सᳬं सोमेन । सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे अन्नरस ! अत्यन्त स्वादिष्ट, अमृत के समान मधुर और गुणकारी मीठे रस से भरे हुए तुमको स्वादिष्ट अमृत के समान मधुर रस से भरे सोम के साथ मिलाता हूँ, सोम से मिलकर हे अन्नरस ! तुम भी सोम हो गये हो । दोनों अश्विनीकुमारों के लिये, सरस्वती के लिये और सब की रक्षा करने वाले इन्द्र के लिये तुम तैयार हो जाओ ॥ १ ॥

अथ सौत्रामणीमन्त्रास्त्रिभिरध्यायैः प्रक्रियन्ते । ऋद्धिकामस्याग्निचितो मुखेतरच्छिद्रसोमवामिनो मुखेन सोमवामिनो राज्यच्युतनृपस्य पशुकामस्य च सौत्रामणीयागः । 'अन्तः पात्यस्थाने चर्मणि सुरासोमविक्रयिणः सीसेन शष्पक्रयस्तोक्मानामूर्णाभिर्लाजानाᳬं सूत्रैः सुरासोमविक्रयिन् क्रय्यास्ते सुरासोमा ३ इत्यामन्त्र्यामन्त्र्य सर्वेषु' (का० श्रौ० १९।१।१८) । 'सुरासोमविक्रयिन् क्रय्यास्ते सुरासोमाः' इति सुरासोमविक्रयिणं पृष्ट्वा पृष्ट्वा अन्तः पात्यस्थाने गोचर्मणि सुरासोमविक्रयिणः क्लीबस्य वा सकाशात् सीसेन शष्पाणामूर्णाभिर्मेषरोमभिस्तोक्मानां सूत्रैर्लाजानां केनचिद् द्रव्येण नग्नहोश्च क्रयं कृत्वा एतानि द्रव्याणि स्थापयेदिति सूत्रार्थः । तत्र शष्पाणि विरूढा व्रीहयः, तोक्मा विरूढयवाः, लाजा भृष्टा व्रीहयः । सर्जत्वक्-त्रिफला-शुण्ठी-पुनर्नवा-चतुर्जातकपिप्पली-गजपिप्पली-वंशावका-वृहच्छत्रा-चित्रकेन्द्रवारुण्यश्वगन्धा-धान्यकयवानी-जीरकद्वय-हरिद्राद्वय-वचा-तोक्म-शष्पाण्येकीकृतानि नग्नहुपदवाच्यानि[1] । 'दक्षिणेन हुत्वा नग्नहुचूर्णानि कृत्वा तांश्च व्रीहिश्यामाकौदनयोः पृथगाचामौ निषिच्य चूर्णैः सᳬंसृज्य निदधाति तन्मासरम्' (का० श्रौ० १९।१।२०) । क्रयणानन्तरं तानि शष्पादीन्यादाय दक्षिणेन द्वारेण अग्न्यागारं प्रवेश्य पूर्वं नग्नहुचूर्णानि कृत्वा 'सर्जत्वगाद्यौषधानि तूष्णीं पिष्ट्वा शष्पतोक्मलाजान् चूर्णीकृत्य दर्शपूर्णमासधर्मेण पात्रासादनादिव्रीहिश्यामाकचतुर्मुष्टिकग्रहणपूर्वकं फलीकरणान्तं कृत्वा बहुतरोदके पृथग् व्रीहिश्यामाकयोश्चरू पक्त्वा तयोरोदनयोराचामौ उष्णोदके पृथक् पात्रद्वये निषिच्य अवस्राव्य तदुदकं नग्नहुप्रभृतिभिश्चूर्णैः संसृज्य निदध्यात् । तस्य चूर्णसंसृष्टस्य आचामस्य मासरमिति संज्ञा । उभयं चूर्णाचामरूपं मासराख्यमिति सूत्रार्थः । 'औदनौ चूर्णमासरैः सᳬंसृज्य स्वाद्वीं त्वाᳬंशुना त इति, त्रिरात्रं निदधाति' (का० श्रौ० १९।१।२१-२२) । एवमाचामयोश्चूर्णसंसर्गे मासरत्वनिष्पादनानन्तरमोदनौ व्रीहिश्यामाकचरू शष्पतोक्मलाजनग्नहुचूर्णैः संसृज्य स्वाद्वीं त्वेति मन्त्रेण 'अᳬंशुना ते अᳬंशुः' इति विंशाध्यायपठितया सप्तविंशयर्चा चैकस्मिन् पात्रे चूर्णसंसृष्टावोदनौ मासराभ्यां संसृज्य शालानैर्ऋत्यकोणे गर्तं कृत्वा तत्र त्रिरात्रं स्थापयेदिति सूत्रार्थः ।

---

१. सर्जत्वक् त्रिफला चैव शुण्ठी चैवं पुनर्नवा । चतुर्जातकसंयुक्ता पिप्पली गजपिप्पली ॥
वंशावका वृहच्छत्रा चित्रकं चेन्द्रवारुणी । अश्वगन्धां समुत्पाटच मूलान्येतानि निर्दिशेत् ॥
धान्यकं च यवानी च जीरकं कृष्णजीरकम् । द्वे हरिद्रे वचा चैव विरूढा व्रीहयो यवाः ॥ इति ।

इत्थमत्र प्रक्रिया—चरू उद्वास्य द्वयोः पृथगाचामग्रहणम्। ततः शष्पतोक्मलाजचूर्णानां पृथक् त्रिधा विभक्तानां तृतीयांशं द्वेधा कृत्वा आचामयोः क्षिपेत्। ततो नग्नहुचूर्णं द्वेधा विभज्य प्रथमार्धं पुनर्द्वेधा विभज्य आचामयोः क्षिपेत्। एवं चूर्णसंसृष्टाचामयोर्मासरसंज्ञा। ततः शष्प-तोक्म-लाजचूर्णानां द्वितीयं तृतीयांशं द्विधा कृत्वा एकैकं भागमोदनयोः क्षिपेत्। ततो नग्नहुचूर्णद्वितीयार्धं द्वेधा कृत्वा ओदनयोः क्षिपेत्। तत ओदनौ एकपात्रे कृत्वा तत्राचामौ क्षिपेत्। ततः स्वाद्वीं त्वा—अंशुनेति मन्त्राभ्यां चूर्णमासरैः सहौदनयोः सङ्घट्टनेन संसर्गः कार्यः। ततस्त्रिरात्रं निधानम्। शष्प-तोक्म-लाजचूर्णतृतीयांशानां प्रतिदिनं सुरायां निवापार्थं रक्षणमिति सूत्रार्थोऽवधेयः।

स्वाद्वीं त्वेति सुरासोमदेवत्याऽनुष्टुप्, सुरारूपः सोमो देवतेत्यर्थः। सौत्रामणीमन्त्राणां प्रजापत्यश्वि-सरस्वत्य ऋषयः, 'प्रजापतिर्यज्ञमसृजत। तमाहरत्तेनायजत तेनेष्ट्वा रिरिचान इवामन्यत स एतं यज्ञक्रतुमपश्यत् सौत्रामणीम्' (श० १२।८।२।१) इति श्रुतेः, 'त्वष्टा हतपुत्रः। अभिचरणीयमपेन्द्रꣳ सोममाहरत् तस्येन्द्रो यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत् स विष्वङ् व्यार्छत्तस्य मुखात् प्राणेभ्यः श्रीयशसान्यूर्ध्वान्युदक्रामन्……' (श० १२।८।३।१), 'ततोऽस्मा एतमश्विनौ च सरस्वती च। यज्ञꣳ समभरन् सौत्रामणीं भैषज्याय' (श० १२।८।३।२) इति श्रुतिभ्यश्च।

अथ मन्त्रार्थः—हे सुरे, त्वा त्वां सोमेन संसृजामि संयोजयामि। 'छन्दसि परेऽपि' (पा० सू० १।४।८१) इति समुपसर्गस्य क्रियापदात् परं प्रयोगः। कीदृशीं त्वाम्? स्वाद्वीं मिष्टाम्, मिष्टरसामिति यावत्। पुनः कीदृशीम्? तीव्राम्, तीव्रशब्दः कटुवचनः, कट्वीं शीघ्रं मदजनयित्रीम्। पुनः कीदृशीम्? अमृताम् अमृततुल्याम्। पुनः कीदृशीम्? मधुमतीं मधुरस्वादोपेताम्। कीदृशेन सोमेन संयोजयामि? तत्राह—स्वादुना मृष्टेन तीव्रेण कटुरसेन अमृतेन सुधातुल्येन मधुमता मधुरस्वादेन। सोमोऽसीत्यादि चत्वारि यजूंषि सुरादेवत्यानि। पूर्ववद् विनियोगः। सोमोऽसीति दैव्युष्णिक्, अश्विभ्यां पच्यस्वेति यजुर्गायत्री, सरस्वत्यै पच्यस्वेति यजुरुष्णिक्, इन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्वेति यजुर्बृहती। हे सुरे, त्वं सोमसंसर्गात् सोमोऽसि, अतस्त्वां वदामि। अश्विभ्यामर्थाय पच्यस्व विपरिणम। पाकोऽत्र विपरिणामः। सरस्वत्यै सरस्वत्यर्थं पच्यस्व। इन्द्राय च पच्यस्व। कीदृशाय इन्द्राय? सुत्राम्णे, सुष्ठु त्रायते रक्षतीति सुत्रामा, तस्मै। सूपसर्गपूर्वकात् त्रायतेः 'आतो मनिन्क्वनिब्-वनिपश्च' (पा० सू० ३।२।७४) इति मनिन्प्रत्ययः। अत्र ब्राह्मणम्—'स्वाद्वीं त्वा स्वादुनेति सुराꣳ सन्दधाति। स्वदयत्येवैनां तीव्रां तीव्रेणेतीन्द्रियमेवास्मिन् दधात्यमृतामममृतेनेत्यायुरेवास्मिन् दधाति मधुमतीं मधुमतेति रसमेवास्यां दधाति सृजामि सꣳसोमेनेति सोमरूपमेवैनां करोति' (श० १२।७।३।५)।

इदमत्र विशेषतो वक्तव्यम्—शतपथश्रुतौ प्रथमं सौत्रामणीयागोत्पत्त्यर्थं विश्वरूपाख्यायिकावर्णनम्, तस्यां च इन्द्रकृतं विश्वरूपहननम्, विश्वरूपपुत्रकृतमिन्द्रोद्देश्यकाभिचारयागं कृत्वा अपेन्द्रसोमापहरणम्, तदीय-यज्ञविनाशं कृत्वा इन्द्रकृतं बलात्सोमपानम्, स सोमः शक्रशरीरं सर्वतो व्याप्य अङ्गादङ्गाद् वायंरूपेणास्रवद् इत्याद्यर्थजातस्य संक्षेपेण वर्णनम्, इन्द्रस्य अक्षिनासिकामुखश्रोत्रेन्द्रियेभ्यः क्रमशस्तेजोवीर्यबलयशोरूपेण स्रुतात् सोमाद् अजाविगोऽश्वाश्वतरगर्दभानां पशूनां पक्ष्माश्रुश्लेष्मस्नोहाफेनेभ्यो गोधूमकुवलोपवाकबदरयवकर्कन्धूनां चोत्पत्तेरभिधानम्, स्तनाभ्यां शुक्ररूपेण स्रुतात्सोमात् पयः, उरसस्त्विषिरूपेण स्रुतात्सोमात् श्येनः पक्षी, नाभितः शूषात्मना स्रुतात्सोमात् सीसम्, रेतोरूपात्मना स्रुतात्सोमाद् हिरण्यम्, शिश्नात् रसात्मना स्रुतात् सोमात् परिस्रुत्, स्फिगीभ्यां क्रोधरूपेण स्रुतात् सोमात् सुरा, मूत्रादोजोरूपेण स्रुतात् सोमाद् वृकः पशुः, अवन्ध्या-न्मन्युरूपेण स्रुतात् सोमाद् व्याघ्रः, लोहिताद् सहोरूपेण स्रुतात् सोमात् सिंहः, लोमभ्यश्चित्तरूपेण स्रुतात् सोमात् श्यामाकाः, त्वचोऽपचितिरूपेण स्रुतात् सोमाद् अश्वत्थवृक्षः, मांसेभ्य ऊर्ग्रूपेण स्रुतात्सोमाद् उदुम्बरो वृक्षः,

अस्थिभ्यः स्वधारूपेण स्रुतात् सोमाद् न्यग्रोधो वृक्षः, मज्जभ्यः सोमपीथरूपेण स्रुतात् सोमाद् व्रीहयश्चेत्यादि-सौत्रामण्युपकरणजातं समुत्पन्नमिति क्वचित्क्वचिद् विशेषणविशिष्टमभिधानम्। ततः 'कदाचिदिन्द्रो नमुचिनाऽसुरेण सह चचार, तदा नमुचिस्तमिन्द्रं पुनर्भूतं विलोक्य सुरया तस्येन्द्रियं सोमपीथमन्नाद्यं च वीर्यमपाहरत्, इन्द्रश्चार्दितः संशयितवान्' इत्याद्याख्यायिकांशकथनम्, ततः 'देवास्तमुपगम्यायमिन्द्रोऽस्माकं प्रशस्यतम आसीत्, अधुना तु पाप्मानं प्राप्तः, हन्तेमं भिषज्यामेति विचार्य क्रमादश्विनौ सरस्वतीं चाब्रुवन्, यतो युवां भिषजौ त्वं च भैषज्यमतो यूयमिमं भिषज्यत' इत्याख्यायिकांशकथनम्। एवं सुरैः प्रार्थितास्ते तान् सुरानब्रुवन्नस्तु नो भाग इति, तदा देवैरश्विभ्यां धूम्रोऽजः पशुः, सरस्वत्यै च मेषः पशुः, यस्माच्चायमिन्द्रोऽस्माकमृषभस्तस्मात्तस्मा ऋषभः पशुर्भागत्वेन परिकल्पित इत्याद्याख्यायिकांशकथनम्। ततोऽश्विनौ सरस्वती च यथा यथा स्रुतं तत्सर्वं नमुचेः सकाशादाहृत्य तस्मिन्निन्द्रे पुनरदधुरित्याख्यायिकोपसंहरणम्। एवमाख्यायिकया सौत्रामण्यङ्गपशुयाग-त्रयस्य उत्पत्तिमभिधाय प्रसङ्गात् सौत्रामणीशब्दनिर्वचनं तद्वेदितुः फलकथनं च, दक्षिणाधिकारविधिनिरूपणं च, एवं विस्तरेण तत्तदाख्यायिकाव्याजेन सौत्रामणीवर्णनम्। एतत्प्रतिपादकं ब्राह्मणमत्र प्रारम्भ एवोद्धृतम्। 'तावश्विनौ च सरस्वती च। इन्द्रियं वीर्यं नमुचेराहृत्य तस्मिन् पुनरदधुस्तं पाप्मनोऽत्रायन्त सुत्रातं वतैनं पाप्मनोऽत्रास्महीति तद्वाव सौत्रामण्यभवत् तत्सौत्रामण्यै सौत्रामणीत्वं त्रायते मृत्योरात्मानमप पाप्मानꣳ हते य एवमेतत्सौत्रामण्यै सौत्रामणीत्वं वेद त्रयस्त्रिꣳशद्दक्षिणा भवन्ति त्रयस्त्रिꣳशद्धि नं देवता अभिषज्यंस्तस्मादाहुर्भेषजं दक्षिणा इति' (श० १२।७।१।१४) इति ब्राह्मणेनोपसंहृतम्। मन्त्रार्थमनर्थकं ब्राह्मणं तु—'सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व। सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्वेत्येना वा एतं देवता अग्रे यज्ञꣳ समभरंस्ताभिरेवेनꣳ सम्भरत्यथो एता एवैनद्देवता भागधेयेन समर्धयत्यासनोति मुत्याये तिस्रो रात्रीर्वसति तिस्रो हि रात्रीः सोमः क्रीतो वसति सोमरूपमेवेनां करोति' (श० १२।७।३।६) इति।

अध्यात्मपक्षे—'अत्र सुरा सुष्ठु शोभने परस्मिन् ब्रह्मणि रमते यया सा, अर्थाद् ब्रह्मविद्या, सोमेन उमया ब्रह्मविद्यया सहितः सोमो विवेकः, तेन सम्बद्ध्यमाना प्रशस्यते। हे सुरे, त्वा त्वां स्वाद्वीमिष्टरसोपेतां स्वादुना मिष्टेन सोमेन संसृजामि संयोजयामि। मधुमयब्रह्मविषयत्वेनैव विवेकब्रह्मविद्ययोर्मिष्टरसत्वम्। तीव्रेण कटुना कटुरसेन सोमेन तीव्रां त्वां संसृजामि। विषयवैरस्यभासकत्वेन कटुत्वमुभयोरुपचर्यते। अमृतत्वप्रापकत्वेन चोभयोरमृतरूपत्वम्। इत्थममृतेन सुधातुल्येन सोमेन अमृताममृततुल्यां मधुमता सोमेन मधुमतीं मधुरस्वादोपेतेन सोमेन मधुरस्वादोपेतां त्वां संसृजामि। हे सुरे ब्रह्मविद्ये, ब्रह्मानन्दमदमादकत्वात्, त्वं सोमोऽसि चितिचैत्य-विवेकोऽसि। त्वमश्विभ्यां जीवात्मपरमात्मभ्यामर्थाय पच्यस्व परिपक्वरूपा भव। सरस्वत्यै प्रज्ञप्तिरूपिण्यै परिपच्यस्व। इन्द्राय परमैश्वर्योपेताय ईश्वराय परिपच्यस्व। विवेकेन संसृष्टा ब्रह्मविद्या समेषां हितावहा सम्पद्यते। किं बहुना, सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सम्पद्यते।

दयानन्दस्तु—'हे वैद्य, यस्त्वं सोमोऽसि, तं त्वामोषधिविद्यायां संसृजामि। यथाहं यां स्वादुना सह स्वाद्वीं तीव्रेण सह तीव्राममृतेन सहामृतां सोमेन सह मधुमतीमोषधिं संसृजामि, तथैतां त्वमश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्व सुत्राम्ण इन्द्राय पच्यस्व' इति, तत्सर्वं शतपथब्राह्मणकात्यायनादिसूत्रविरोधात् सर्वथोपेक्ष्यम्। स्वामिदयानन्दरीत्या आरोग्यप्राप्त्यर्थं वैद्यकशास्त्ररीत्या अनेकमधुरादिप्रशस्तस्वादयुक्तौषधसेवनमत्र वर्णितम्। अस्य विषयस्य सुतरामायुर्वेदविषयत्वाद् धर्मब्रह्मप्रतिपादकवेदेन कथङ्कारं सम्बन्ध इति चिन्त्यमेव ॥१॥

परीतो षिञ्चता सुतꣳ सोमो य उत्तमꣳ हविः।

दधन्वा यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ – हे ऋत्विजों ! जो सोम श्रेष्ठ हवि है, मनुष्यों का हितकारी होता हुआ यजमान की रक्षा करता है, जल में वर्तमान जिस सोम को अध्वर्यु ने पीस कर निचोड़ा है, उस अभिषुत सोम को गाय के दूध में मिलाओ, जिससे कि देवताओं के लिये श्रेष्ठ हवि तैयार हो ॥ २ ॥

'एकस्याः पयसाऽपाकृतेनाश्विनेन परिषिञ्चति परीतो षिञ्चतेति, शष्पचूर्णानि चावपति, सारस्वतेन द्वयोः प्रातः, तोक्मचूर्णानि च, ऐन्द्रेणोत्तमे तिसृणाम्, लाजचूर्णानि च' (का०श्रौ० १९।१।२३-२७)। सायंहोमान्तेऽश्विभ्यामपाकरोमीत्येकां गां करेण स्पृष्ट्वा तां दुग्ध्वा तत्पयसाऽध्वर्युः सुरां सिञ्चति परीत इति मन्त्रेण, रक्षितं शष्पचूर्णानां तृतीयांशं सुराभाण्डे क्षिपेत्, द्वितीयेऽह्नि निशान्ते सरस्वत्या" अपाकरोमीति द्वे गावौ स्पृष्ट्वा दोहितेन तयोर्दुग्धेन तेनैव मन्त्रेण सुरां सिञ्चति, तोक्मचूर्णतृतीयांशक्षेपश्च। तृतीयेऽह्नि रात्रौ इन्द्राय सुत्राम्णेऽपाकरोमीति तिस्रो गाः स्पृष्ट्वा ता दुग्ध्वा एकीकृततत्पयसा सुरां सिञ्चति तेनैव मन्त्रेण, तत्र लाजचूर्णतृतीयांशक्षेपश्चेति पूर्वोद्धृतसूत्रार्थः।

भरद्वाजदृष्टा सोमदेवत्या बृहती। हे ऋत्विजः, इतो गोसकाशाद् गृहीतेन दुग्धेनेति शेषः। सुतमभिषुतं सोमं परिस्रुद्रूपं परिषिञ्चता, यूयमिति शेषः। परि + इतः + सिञ्चतेति पदेषु सत्सु 'ओकारमितः सिञ्चतौ सोपधः' (वा० प्रा० ३।४६) इति सूत्रेण 'इतःशब्दसम्बन्धी विसर्जनीयः सोपध उपधासहितः सिञ्चतौ परे ओकारमापद्यते' इत्यर्थकेन सविसर्गस्य तकारोत्तरवर्त्यकारस्य ओकार आदेशः, 'ऋचि तुनुघ' (पा० सू० ६।३।१३३) इत्यादिना दीर्घः। यः सोम उत्तमं हविः सर्वेषां हविषां श्रेष्ठम्, यश्च नर्यो नृभ्यो हितो नर्यः सन् दधन्वान् यजमानं धारितवान् धनधान्यादिसम्पन्नं कृतवानिति यावत्, ह्वादिकस्य 'धन धान्ये' इत्यस्य भूतसामान्ये लिटि तस्य 'क्वसुश्च' (पा० सू० ३।२।१०७) इति विधीयमाने क्वस्वादेशे रूपम्। अप्सु जलेषु अन्तर्मध्ये वर्तमानं यं सोममद्रिभिर्ग्रावभिरध्वर्युरासुषाव अभिषुतवान्, तं सोमं सुरारूपतामापन्नं पयसा सिञ्चतेति सम्बन्धः।

अत्र ब्राह्मणम्—'पयश्च सुरा च भवतः। सोमो वै पयोऽन्नꣳ सुरा पयसैव सोमपीथमवरुन्धे सुरयाऽन्नाद्यं क्षत्रं वै पयो विट् सुरा सुरां पूत्वा पयः पुनाति विश एव तत्क्षत्रं जनयति विशो हि क्षत्रं जायते' (श० १२।७।३।८)। अत्र सोमसम्पादनप्रक्रिया उक्ता। स्पष्टार्था कण्डिका।

अध्यात्मपक्षे—अत्र परमात्मनः सार्वात्म्यं प्रतिपाद्यते सौत्रामणीतिकर्तव्यताप्रतिपादनप्रसङ्गेन। यथा मृद्विकारा घटशरावोदञ्चनादयो मृद्रूपा एव, तथैव याग-तदङ्ग-द्रव्यदेवतेतिकर्तव्यतादिप्रतिपादनमपि ब्रह्मप्रतिपादनमेव। यथा भूविकारेषु काष्ठपट्ट-पादुका-रथादिष्वपि निहितानि पदानि भुव्येव निहितानि भवन्ति, तथैव ब्रह्मविकारभूततत्तद्वस्तुप्रतिपादनमपि ब्रह्मप्रतिपादनमेव भवति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य उत्तमं हविः सोमः प्रेरक इतः प्राप्तः स्यात्, यो नर्यो दधन्वान् अप्स्वन्तरा सुषाव साधयेत्, तमद्रिभिर्मेघैः सुतमुत्पन्नं सोमं यूयं परिसिञ्चत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सामान्यभोजनार्हवस्तुनो हविःपदव्यपदेश्यत्वाभावात्, किं धारयन् किं वा अप्स्वन्तः सुषावेत्यस्य अस्पष्टत्वात्। मेघैः सोमोत्पत्तिरपि चिन्त्या, मेघैर्वर्षाभिः क्लिन्नायां भूमौ सर्वस्यैव भक्ष्यजातस्योत्पत्तेः सर्वसम्मतत्वात् ॥ २ ॥

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमो अतिद्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा। वायोः पूतः पवित्रेण प्राङ्क्सोमो अतिद्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—पश्चिममुख शीघ्रता से निचोड़ा हुआ यह सोम वायु देवता के पवित्रे से शुद्ध हुआ इन्द्र का योग्य सखा है। पूर्वमुख निकाला हुआ सोम वायु के पवित्रे से पवित्र हुआ है, जो कि इन्द्र का योग्य सखा है, अर्थात् हे सोम! तुम शीघ्र ही इस पात्र में से निकल सकते हो, वायु देवता के अनुग्रह से तुम पवित्र हो ॥ ३ ॥

'सते पुनाति गोऽश्ववालवालेन पुनाति ते परिस्रुतमिति, वायोः पूत इति सोमातिपूतस्य, प्राङिति तद्वामिनः' (का० श्रौ० १९।२।७-९)। अस्यां वायोः पूत इति कण्डिकायां द्वे ऋचौ, पुनाति त इति तृतीया ऋक्। तासां व्युत्क्रमेण विनियोगमाह—पूतां सुरामादाय गोऽश्वकेशनिर्मितेन वालेन पवित्रेण सते पालाशे महति पात्रे पुनीयात्। पुनाति त इति मन्त्रेण सतं वारणमिति केचित्। मुखेतरच्छिद्रसोमवामिनो यजमानस्य सौत्रामण्यां वायोः पूत इति मन्त्रेण सते सुरां पुनीयात्। मुखेन सोमवामिनस्तु 'वायोः पूतः पवित्रेण प्राङ्' इति मन्त्रेण सते सुरां पुनीयादिति सूत्रत्रयार्थः।

ऋक्त्रयमाभूतिदृष्टं सोमदेवत्यं गायत्रम्। प्रत्यङ् प्रतीपमञ्चत्यधो गच्छतीति प्रत्यङ्, अधोमुखोऽतिद्रुतः पायुद्वारा निर्गतः सोमो वायोः पवित्रेण जठरान्तर्वर्तिना पूतः शुद्धः। कीदृशः सोमः? इन्द्रस्य युज्यः, योगमर्हतीति युज्यः, इन्द्रेण सह योगार्हः, अगर्ह्य इति यावत्। सखा सहायः। सोमपानेन प्रोत्साहित इन्द्रः शत्रूनभिभवतीति। प्राङ् प्रकर्षेण अञ्चति ऊर्ध्वं गच्छतीति प्राङ्। मुखतोऽतिद्रुतो निर्गतः सोमः वायोः पवित्रेण हृदयान्तर्वर्तिना पूतः, य इन्द्रस्य युज्यो योग्यः सखा, युजेर्बाहुलकात् क्यप्।

अत्र ब्राह्मणम्—'वायोः पूतः पवित्रेण। प्रत्यङ् सोमो अतिद्रुत इति सोमातिपूतस्य पुनाति यथारूपमेवैनं पुनातीन्द्रस्य युज्यः सखेति यदेवास्य तेनेन्द्रियं वीर्यमतिक्रान्तं भवति तदस्मिन् पुनर्दधाति' (श० १२।७।३।९)। 'वायोः पूतः पवित्रेण। प्राङ् सोमो अतिद्रुत इति सोमवामिनः पुनाति यथारूपमेवैनं पुनातीन्द्रस्य युज्यः सखेति यदेवास्य तेनेन्द्रियं वीर्यमतिक्रान्तं भवति तदस्मिन् पुनर्दधाति' (श० १२।७।३।१०), 'पुनाति ते परिस्रुतमिति। समृद्धिकामस्य पुनाति समृद्धचै सोमꣳ सूर्यस्य दुहितेति श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता श्रद्धयैष सोमो भवति श्रद्धयैवैनꣳ सोमं करोति वारेण शश्वता तनेति वालेन ह्येषा पूयते' (श० १२।७।३।११)। मन्त्रसूत्रव्याख्यानेनैव व्याख्याताः स्पष्टार्थाः कण्डिकाः।

अध्यात्मपक्षे—उमया सहितः सोमो महेश्वरो जीवभावं गतः सन् प्रत्यङ्ङतिद्रुतो मनुष्याद्यधोगतिं गतः, वायोः सूत्रात्मनो हिरण्यगर्भस्य पवित्रेण पवित्रकारकेणानुग्रहेण पूतः सन्निन्द्रस्य परमेश्वरस्य युज्यो योगार्हः सखा सम्पद्यते। स एव प्राङ् मनुष्यादूर्ध्वं ब्रह्मात्वभावं गतो वायोः पवित्रेण पूत इन्द्रस्य युज्यः सखा सम्पद्यते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, य सोमः सोमलताद्योषधिगुणः प्राङ्ङतिद्रुतो वायोः पवित्रेण शुद्धिकरेण कर्मणा पूत इन्द्रस्य जीवस्य युज्यः सखेवास्ति, यश्च सोमः प्रत्यङ्ङतिद्रुतो वायोः पवित्रेण पूत इन्द्रस्य युज्यः सखेवास्ति, तं यूयं सततं सेवध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वस्याप्यस्य आयुर्वेदादिसिद्धस्य अज्ञातज्ञापकत्वाभावेनावेदार्थत्वात्, सोमपदस्य सोमलताद्योषधिगणोऽर्थ इत्यत्र प्रमाणविरहात्। न च सर्वौषधिगणः सर्वसेव्यः, अधिकारानुसारेणैव तत्प्रयोगात् ॥ ३ ॥

पुनाति ते परिस्रुतꣳ सोमꣳ सूर्यस्य दुहिता। वारेण शश्वता तना ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे यजमान! सूर्य की पुत्री श्रद्धा अभिषुत सोम को अनादि धन से पवित्र करती है ॥ ४ ॥

यजमानं प्रत्याचष्टेऽध्वर्युः। हे यजमान, सूर्यस्य दुहिता पुत्री श्रद्धा ते तव परिस्रुतं सुरां सोमं च पुनाति शोधयति। यद्वा लुप्तोपमानमेतत्। ते तव परिस्रुतं सोममिव पुनाति पवित्रं करोति सूर्यस्य दुहिता श्रद्धा। अथवा सोमरूपतामापन्नां परिस्रुतं श्रद्धा पुनाति। केन? वारेण वालेन, रलयोरैक्यात्, गोऽश्ववालेन। पुनः कीदृशेन वारेण? तत्राह—शश्वता शाश्वतिकेन अनादिना तथा तना, 'तनेति धननाम' (निघ० २।१०।१९), धनरूपेणेत्यर्थः, धनोत्पत्तिनिमित्तभूतेनेति यावत्। गोऽश्ववाला अकृत्रिमा एव गवादिषु भवन्ति, तैर्धनमर्ज्यते। ऊषरभूमौ गवां विश्रमाद् गोरोमतो दूर्वाकाण्डोत्पत्तिर्जायते। अत्रत्यं ब्राह्मणं पूर्वकण्डिकाया-मेवोद्धृतम्।

अध्यात्मपक्षे—सूर्यस्य सवितुर्देवस्य दुहिता श्रद्धा परिस्रुतं भगवते देवताभ्यश्च समर्पणीयं परिस्रुतं सोमादिकं शश्वता शाश्वतिकेन वारेण वरणीयेन गुणेन पुनाति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, या तना विस्तृतेन प्रकाशेन सूर्यदुहिता पुत्रीवोषा शश्वता सनातनेन गुणेन वारेण वरणीयेन गुणेन ते परिस्रुतं सर्वतः प्राप्तं सोममोषधिरसं पुनाति, तस्यां त्वमोषधिरसं सेवस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, उक्तश्रुतिविरोधात्। तत्र हि श्रद्धा सूर्यस्य दुहितोक्ता। उषा सोमरसं विस्तृतप्रकाशेन पुनातीत्यस्य निर्मूलत्वात्। पवित्रता च कीदृशी? नहि पापनिवारिका पुण्याधायिका च सा, त्वया तदनभ्युपगमात्। नापि दोषनिवारिका, सतो दोषस्य चोषसा निवारणे प्रमाणाभावात्, तथात्वे विषलताया अपि शोधनोपपत्तेः। न वाऽनित्ये वस्तुनि सनातनो गुणः सम्भवति। न च वारशब्दस्य वरणीयार्थता, 'वालेन ह्यषा पूयते' इति श्रुतिविरोधात्॥ ४॥

ब्रह्म क्षत्रं पवते तेज इन्द्रियꣳ सुरया सोमः सुत आसुतो मदाय।
शुक्रेण देव देवताः पिपृग्धि रसेनान्नं यजमानाय धेहि॥ ५॥

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुम शुद्ध वीर्य द्वारा अग्नि आदि देवताओं को प्रसन्न करो, घृत आदि रस से भरे अन्न को यजमान को दो। अभिषुत सोम क्षत्रिय और ब्राह्मण जाति की कान्ति को एवं इन्द्रियों की शक्ति को प्रकट करता है। सुरा के साथ मिला हुआ सोम तीव्र मद का जनक है॥ ५॥

'उत्तरस्यां पयो वेतसेऽजाविलोमपवित्रेण ब्रह्म क्षत्रमिति' (का० श्रौ० १९।२।१०)। उत्तरस्यां वेद्यामजलोमभिर्मेषरोमभिश्च निर्मितेन पवित्रेण वेतसवृक्षनिर्मिते पात्रे ब्रह्म क्षत्रमिति मन्त्रेण पयः पुनीयादिति सूत्रार्थः। सुरासोमदेवतया त्रिष्टुप्। आद्यो द्वादशकः, द्वितीयस्त्रयोदशार्णः, तृतीयचतुर्थावेकादशार्णौ, तेन त्र्यधिका। हे देव देवादिगुणक सोम, शुक्रेण शुक्लेन शुद्धेन वीर्येण त्वं देवता अग्न्याद्याः प्रकृतयागसम्बन्धिनीः पिपृग्धि प्रीणीहि। पुना रसेन घृतादिना सहितमन्नमदनीयं यजमानाय धेहि देहि। यतः सोमो भवान् सुतोऽभिषुतः सन् ब्रह्म ब्राह्मणं क्षत्रं क्षत्रियं तेजः कान्तिमिन्द्रियं सामर्थ्यं च पवते जनयति। पवतिरत्र जननार्थः, यज्ञादेव सर्वोत्पत्तेः। सोमे यज्ञ उपचर्यते। आसुतः सुरया तीव्रीकृतो भवान् मदाय च भवति। एवं सामर्थ्योपेतस्त्वं देवान् यजमानं च अभीष्टहविःप्रदानेन अभीष्टफलप्रदानेन च प्रीणीहि। यद्वा यस्मात् कारणात् सोमः सुतः संस्कृतोऽभिषुतस्तीव्रीकृतश्च ब्रह्म ब्राह्मणं क्षत्रं क्षत्रियं पतते जनयति, तेज इन्द्रियं कान्तिमिन्द्रियसामर्थ्यं च जनयति। यस्माच्च सुरया आसुतस्तीव्रीकृतो मदाय मदजनको भवसीति शेषः, अतः शुक्रेण शोचिष्मता दीप्तिमता रूपेण मन्त्रजनितेन सामर्थ्येन हे देव, देवताः पिपृग्धि प्रीणीहि। रसेन युक्तं चान्नं यजमानाय धेहि देहि।

अध्यात्मपक्षे—हे सोमात्मना प्रादुर्भूत साम्बसदाशिव, शुक्रेण शुद्धेन वीर्येण त्वं देवताः पिपृग्धि। शेषं पूर्ववत्।

अत्र ब्राह्मणम्—'ब्रह्म क्षत्रं पवत इति पयः पुनाति। ब्रह्मण एव तत् क्षत्रं जनयति ब्रह्मणो हि क्षत्रं जायते तेज इन्द्रियमिति तेज एवास्मिन्निन्द्रियं वीर्यं दधाति सुरया सोम इति सुरया हि सोमः सुत आसुत इत्यासुताद्धि सूयते मदायेति मदाय वाव सोमो मदाय सुरोभावेन सोममदं च सुरामदं चावरुन्धे शुक्रेण देव देवताः पिपृग्धीति शुक्रेण देव देवताः प्रीणीहीत्येवैतदाह रसेनान्नं यजमानाय धेहीति रसमेवान्नं यजमाने दधाति पूर्वे पयोग्रहा गृह्यन्तेऽपरे सुराग्रहा विशं तत्क्षत्रस्यानुवर्त्मानं करोति' (श० १२।७।३।१२)।

दयानन्दस्तु—'हे देव विद्वन्, यः शुक्रेण आशु शुद्धिकरेण मदाय आनन्दाय सुरया या स्मयते सा सुरा, तया चासुतः सम्पादितः सोमः समन्ताद्रोगनिवारणे सेवितस्तेज इन्द्रियं ब्रह्म विद्वत्कुलं क्षत्रं न्यायकारिकुलं च पवते तेन रसेनान्नं यजमानाय धेहि। देवताः पिपृग्धि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। तथा हि सुखदाता विद्वानत्र सम्बोध्य धर्मात्मने रसयुक्तान्नदानाय विदुषां प्रसादनाय च प्रार्थ्यते। यो विद्वान् स स्वयमेव स्वकर्तव्यं जानातीत्यपार्थमेव तद्वचनम्। या सूयते सा क्रियेत्यप्यपार्थकम्, क्रियावतामपि सवनदर्शनात्, तेषामपि क्रियात्वापत्तेः। मन्त्रे तु सुरासोमपदार्थयोश्चर्चा न त्वन्यौषधीनाम्। ब्रह्म च क्षत्रं च, एतयोर्यागद्वारा सोमस्य पावकत्वं वेदेषु प्रसिद्धम्। अन्यौषधिरसानां तथात्वं चिन्त्यमेव॥ ५॥

कु॒विद॒ङ्ग यव॑मन्तो॒ यवं॑ चि॒द्यथा॒ दान्त्य॑नुपू॒र्वं वि॒यूय॑। इ॒हेहै॑षां कृणुहि॒ भोज॑नानि॒ ये ब॒र्हिषो॒ नम॑उक्तिं॒ यज॑न्ति। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्य॒श्विभ्यां॑ त्वा॒ सर॑स्वत्यै॒ त्वेन्द्रा॑य त्वा सु॒त्राम्णे॑। ए॒ष ते॒ योनि॒स्तेज॑से त्वा वी॒र्या॑य त्वा॒ बला॑य त्वा॥ ६॥

मन्त्रार्थ—हे सोम! जैसे किसान अकेला भी अपनी जोती हुई भूमि में अधिक उत्पन्न हुए धान्य को क्रम से काटता है, उसी प्रकार क्रम से सभी देवताओं को सोम रस का पान कराने के कारण तुम उनके परम प्रिय हो। यहाँ इन यजमानों के लिये भोज्य पदार्थों का संग्रह करो, जो कि कुशा के आसन पर बैठ कर मन्त्रोच्चारण करते हुए हवि देते हैं। हे सोम! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, अश्विनीकुमारों की प्रीति के निमित्त तुम्हें ग्रहण करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। तेज के निमित्त तुम्हें यहाँ बैठाता हूँ। हे पयोग्रह! तुमको सरस्वती देवता की प्रीति के निमित्त, हे दूसरे पयोग्रह! तुमको वीरता की प्राप्ति के निमित्त, हे तृतीय पयोग्रह! रक्षक इन्द्र देवता की प्रीति के निमित्त तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ, बल के निमित्त तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ॥ ६॥

'पयोग्रहान् गृह्णाति कुविदङ्गेति, पृथगुपयामयोनी' (का० श्रौ० १९।२।१२-१३)। एवं सुरापयसोः पावनं कृत्वा कुविदङ्गेति मन्त्रेणैव त्रीन् पयोग्रहान् गृह्णाति। मन्त्रपाठे उपयामगृहीतोऽसि, एष ते योनिरिति द्वे यजुषी सकृत्पठिते अपि, त्रिषु ग्रहेषु उपयामेति ग्रहग्रहणमन्त्रः, एष ते योनिरिति ग्रहासादनमन्त्रश्च पृथक् पृथग् भवतः। ततश्चेत्थं मन्त्रस्वरूपम्—प्रथमग्रहग्रहे ॐ कुविदङ्गेति ऋचं पठित्वा उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा गृह्णामि। ॐ एष ते योनिस्तेजसे त्वा सादयामि। ततो द्वितीयग्रहग्रहे ॐ कुविदङ्गेति ऋचं पठित्वा उपयामगृहीतोऽसि सरस्वत्यै त्वा गृह्णामि। ॐ एष ते योनिर्वीर्याय त्वा सादयामि। ततस्तृतीयग्रहग्रहे ॐ कुविदङ्गेति ऋचं पठित्वा उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा सुत्राम्णे गृह्णामि। ॐ एष ते योनिर्बलाय त्वा सादयामि। कुविदङ्गेति ऋग् दशमेऽध्याये

द्वात्रिंश्यां कण्डिकायां व्याख्याता। हे पयोग्रह, त्वमुपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि। अश्विभ्यामर्थे त्वां गृह्णामि। ततः सादयति—एष ते योनिः स्थानम्। 'योनिर्द्वयोः' (अ० को० २।६।७६) इति कोषाद् योनिशब्द उभयलिङ्गः। तेजसे तेजोऽर्थं त्वां सादयामि। द्वितीयपयोग्रहे सरस्वत्यै त्वां गृह्णामि, वीर्यार्थं त्वां सादयामि। तृतीयपयोग्रहे सुत्राम्णे सुष्ठु त्रायते रक्षतीति सुत्रामा तस्मै रक्षकाय इन्द्राय त्वां गृह्णामि, बलाय बलार्थं त्वां सादयामि। एतेषां क्रमादश्वत्थोदुम्बरन्यग्रोधपात्रैर्ग्रहणम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिदिति। पयोग्रहान् गृह्णाति सोमाᳪं शवो वै यवाः सोमः पयः सोमेनैवैनᳪं सोमं करोत्येकया गृह्णात्येकधैव यजमाने श्रियं दधाति श्रीर्हि पयः' (श० १२।७।३।१३)। 'कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिदिति पयोग्रहान् गृह्णाति' इति पयोग्रहाणामुत्पत्तिवाक्यम्। मान्त्रवर्णिक्य एव सुरासोमादयो देवताः॥६॥

नाना हि वां देवहितᳪं सदस्कृतं मा सᳪं सृक्षाथां परमे व्योमन्।
सुरा त्वमसि शुष्मिणी सोम एष मा मा हिᳪंसीः स्वां योनिमाविशन्ती॥ ७॥

मन्त्रार्थ—हे सुरा-सोम! तुम दोनों देवताओं के हितकारी हो, तुम लोगों के लिये यहाँ अलग-अलग स्थान बनाये गये हैं, इसलिये तुम लोग इस विशाल हवन स्थान में ही रहो। आहवनीय अग्नि में दूध और दक्षिणाग्नि में सुरा होमी जाती है, अतः अलग-अलग रहो। हे सुरा रस! तुम बलवान् देवताओं के स्वीकार करने योग्य रस से युक्त हो, यह सोम शान्त है, अतः दक्षिणाग्नि में प्रवेश करते समय तुम सोम को पीड़ा मत दो॥ ७॥

'स्थालीभिः सौरान् नाना हि वामिति व्यत्यासम्' (का० श्रौ० १९।२।२१)। त्रीन् सुराग्रहान् व्यत्यस्य व्यत्यस्य स्थालीभिर्मृण्मयीभिर्गृह्णीयात्। तद्यथा—प्रथममाश्विनं पयोग्रहं गृहीत्वाऽऽसाद्य तत आश्विनं सुराग्रहं गृहीत्वाऽऽसादयेत्। ततः सारस्वतं पयोग्रहं ततः सारस्वतं सुराग्रहम्। तत ऐन्द्रं पयोग्रहं तत ऐन्द्रं सुराग्रहमिति। क्रमेण वा उपयामयोनी। तथा च प्रथमे नाना हीति पठित्वा उपयामगृहीतोऽस्याश्विनं तेज इति ग्रहणम्, एष ते योनिर्मोहाय त्वेति सादनम्। द्वितीये नाना हीति पठित्वा उपयामगृहीतोऽसि सारस्वतं वीर्यमिति ग्रहणम्, एष ते योनिरानन्दाय त्वेति सादनम्। तृतीये नाना हीत्यन्ते उपयामगृहीतोऽस्यैन्द्रबलमिति ग्रहणम्, एष ते योनिर्महसे त्वेति सादनमिति सूत्रार्थः।

सुरा-सोमदेवत्या जगती। हे सुरासोमौ, हि यस्मात् कारणाद् वां युवयोर्नाना पृथक् पृथक् सदः स्थानं कृतम्, सुरापयसोर्द्वे वेदी भवतः। कीदृशं सदः? देवहितं देवेभ्यो हितं पथ्यम्। यद्वा देवैर्हितं स्थापितम्। अतः कारणात् परमे उत्कृष्टे व्योमन् व्योम्नि व्योमवद्विशाले हवनस्थाने युवां मा संसृक्षायां संसर्गं मा कुरुतम्। आहवनीये पयो हूयते, दक्षिणाग्नौ च सुरा। अतो न संसर्गः। एवं द्वावुक्त्वा सुरां प्रत्याह—हे सुरे, त्वं सुरा असि। कीदृशी? तत्राह—शुष्मिणी शुष्मं बलमस्यास्तीति बलवती। अतस्त्वां पीत्वा रौद्रमना भवति। एष सोमः प्रख्यातगुणः शान्तः। अतो ब्रवीमि स्वां योनिमाविशन्ती प्रविशन्ती सती सोमं मा हिंसीः। माशब्दोऽनुदात्तोऽनर्थकः पादपूरणार्थः।

अत्र ब्राह्मणम्—'नाना हि वां देवहितᳪं सदस्कृतमिति। सुराग्रहान् गृह्णाति नाना हि सोमश्च सुरा च देवहितमिति देवहिते ह्येते नाना सदस्कृतमिति द्वे हि वेदी भवतो मा सᳪं सृक्षाथां परमे व्योमन्निति

पाप्मनैवैनं व्यावर्तयति सुरा त्वमसि शुष्मिणीति सुरामेव सुरां करोति सोम एष इति सोममेव सोमं करोति मा मा हिꣳसीः स्वां योनिमाविशन्तीति यथायोन्यैवैनां व्यावर्तयत्यात्मनोऽहिꣳसाया एकया गृह्णात्येकधैव यजमाने यशो दधाति यशो हि सुरा' (श० १२।७।३।१४)। नाना हि वां देवहितं सदस्कृतमिति सुराग्रहान् गृह्णातीति सुराग्रहाणामुत्पत्तिवाक्यम्। मान्त्रवर्णिकश्च एव सुरासोमादयो देवताः। 'क्षत्रं वै पयोग्रहाः। विट् सुराग्रहा यदव्यतिषिक्तान् गृह्णीयाद् विशं क्षत्राद् व्यवच्छिन्द्यात् क्षत्रं विशः पापवस्यसं कुर्याद्यज्ञस्य व्यृद्धि व्यतिषक्तान् गृह्णाति विशमेव क्षत्रेण सन्दधाति क्षत्रं विशा पापवस्यसस्य व्यावृत्त्यै यज्ञस्य समृद्ध्यै' (श० १२।७।३।१५)। व्यतिषक्ता अन्योऽन्यमतिक्रान्ताः। सक्तांश्च गृह्णाति। पयोग्रहं गृहीत्वा सुराग्रहं गृह्णाति। सुराग्रहं गृहीत्वा पयोग्रहान् गृह्णाति। अव्यतिषक्तग्रहणे हि क्षत्राद्विशो व्यवच्छेदः, विशश्च क्षत्रस्य। तदेतत् पापकं कर्म। तदेव वस्यसं वसुमत्तरं प्रशस्यं वा। यस्मिन् यज्ञे पापवस्यसं तस्य व्यृद्धिः। तस्माद्यज्ञसमृद्ध्यर्थं पापवस्यसं न कर्तव्यमिति। 'प्राणा वै पयोग्रहाः। शरीरꣳ सुराग्रहा यदव्यतिषक्तान् गृह्णीयाच्छरीरं प्राणेभ्यो व्यवच्छिन्द्यात् प्राणान् शरीरात् प्रमायुको यजमानः स्याद्व्यतिषक्तान् गृह्णाति शरीरमेव प्राणैः सन्दधाति प्राणान् शरीरेणाथो आयुरेवास्मिन् दधाति तस्मात् सौत्रामण्येजानः सर्वमायुरेत्यथो य एवमेतद्वेद' (श० १२।७।३।१६)। प्राणाः पयोग्रहाः, शरीरं सुराग्रहाः। अव्यतिषक्तग्रहणे प्राणेभ्यः शरीरस्य व्यवच्छेदः, शरीराच्च प्राणानाम्। तथा च यजमानो म्रियेत। व्यतिषक्तग्रहणे च शरीरं प्राणैः सन्दधाति प्राणांश्च शरीरेण। 'सोमो वै पयोग्रहाः। अन्नꣳ सुराग्रहा यत्पयोग्रहाश्च सुराग्रहाश्च गृह्यन्ते सोमपीथं चैवान्नाद्यं चावरुन्धे' (श० १२।७।३।१७)। सोमपीथं सोमपानमन्नाद्यं चावरुन्धे प्राप्नोति, यजमान इति शेषः।

पशवो वै पयोग्रहाः। अन्नꣳ सुराग्रहा यत्पयोग्रहाश्च सुराग्रहाश्च गृह्यन्ते पशूंश्चैवान्नाद्यं चावरुन्धे' (श० १२।७।३।१८)। स्पष्टार्था कण्डिका। 'ग्राम्या वै पशवः पयोग्रहाः। आरण्याः सुराग्रहा यत्पयोग्रहाश्च सुराग्रहाश्च गृह्यन्ते ग्राम्यांश्चैव पशूनारण्यांश्चावरुन्धे ग्राम्येण चान्नेनारण्येन च पयोग्रहाञ्छ्रीणाति तस्माद् ग्राम्याणां पशूनां ग्राम्यं चैवान्नाद्यमारण्यं चावरुद्धम्' (श० १२।७।३।१९)। 'तदाहुः। एतस्यै वा एतदघलायै देवतायै रूपं यदेते घोरा आरण्याः पशवो यदेतेषां पशूनां लोमभिः पयोग्रहान् श्रीणीयाद् रुद्रस्यास्ये पशूनपिदध्याद-पशुर्यजमानः स्याद्यन्न श्रीणीयादनवरुद्धा अस्य पशवः स्यूः रुद्रो हि पशूनामीष्ट इति सुराग्रहानेवैतेषां पशूनां लोमभिः श्रीणाति सुरायामेव तद्रौद्रं दधाति तस्मात् सुरां पीत्वा रौद्रमना अथो आरण्येष्वेव पशुषु रुद्रस्य हेतिं दधाति ग्राम्याणां पशूनामहिꣳसाया अवरुद्धा अस्य पशवा भवन्ति न रुद्रस्यास्ये पशूनपि दधाति' (श० १२।७।३।२०)। अघला अघं पापं लाति आदत्त इत्यघला हिंसाकारिणी। देवता रुद्रः। घोरा हर्तारः। आरण्याः पशवः सिंहवृकव्याघ्राः। रुद्रस्य वृकस्य। आस्ये मुखे। पशून् ग्रहान्। उग्ररूपार्थत्वाद् अपिदध्यात् संस्थापयेत्। अपशुर्यजमानः स्यात्। आरण्यानां लोमभिः किञ्चिदपि श्रीणीयात् ततोऽनवरुद्धा अस्वीकृताः, अनादृता इति यावत्। कथं पुना रुद्रे आभक्षायास्ये पशवोऽवरुद्धा भवन्तीत्यर्थः। सुराग्रहानेव एतेषामारण्यानां लोमभिः श्रीणाति सुरायामेवैतद् रौद्रं रूपं दधाति। तस्माद् यज्ञानुकृत्या लोकेऽपि सुरां पीत्वा रौद्रचित्तो जिघांसुः पुरुषो भवति। अथ आरण्येष्वेव पशुमृगवराहमहिषगवयादिषु रुद्रस्य स्वभूतं हेतिमायुधं सिंहव्याघ्रात्मकं दधाति। किमर्थम्? ग्राम्याणां गवादीनां पशूनामहिंसाय। अन्यथा व्याघ्रादयः सामान्यरूपेण आरण्यानिव एतानपि हिंसिष्यन्ति। यत्सुराग्रहान् श्रीणन्ति तदारण्येषु रुद्रस्य निदधाति यजमानः, सुराग्रहाणामारण्यपशुवचनात्। एवं हि पशुपतिमाभजतोऽस्य यजमानस्य अवरुद्धाः पशवो भवन्ति। या व्याघ्रमिति द्वाभ्यामृग्भ्यां यजमानं पावतः पाप्मनो व्यावर्तयति वियोजयति।

अध्यात्मपक्षे—भगवदाराधनलक्षणो निवृत्तिमार्गीयो धर्मः शास्त्रसम्मता प्रवृत्तिश्च उभावप्यत्र सम्बोध्येते। वां युवयोः, हि यस्मान्नाना पृथक् पृथग् देवहितं देवानां हितावहम्, देवैर्वा हितं स्थापितं सदः स्थानं

कृतम्, परमे उत्कृष्टे व्योमन् व्योमवद् व्यापके वैदिके धर्मे युवं युवां मा संसृक्षाथां संसृष्टे भवेतम्। हे सुरे, सुष्ठु रमन्ते आस्तिका जना यत्र सा सुरा शास्त्रसम्मता प्रवृत्तिस्तद्रूपबुद्धौ, त्वं शुष्मिणी बलवती। एष सोमः, सोम उमया सहितः साम्बसदाशिवः सोमः, तद्विषयको बोधोऽपि सोमशब्दभागुपचारात्। सर्वोत्तमप्रकृतिपरिणामत्वाद्वा सोमः। अग्निः पुरुषः, सोमः प्रकृतिः, 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' (बृ० जा० २।४) इति श्रुतेः। स्वां योनिं प्रकृतिं विशन्ती प्रविशन्ती त्वमेनं सोमज्ञानं मा हिंसीः। प्रकृत्या निवृत्तिलभ्यस्य नैष्कर्म्यस्य ज्ञानस्य बाधप्रसङ्गेऽपि तं मा हिंसीः।

दयानन्दस्तु—'हे राजप्रजाजनौ, नाना सदस्कृतं देवहितं विदुषां प्रियाचरणं वां प्राप्नोतु, स्वां योनिं प्रविशन्ती शुष्मिणी बलवती सुरा सोमलतास्ति। त्वं परमे उत्कृष्टे व्योम्नि बुद्ध्यवकाशे वर्तमानासि, तां युवां प्राप्नुतम्। मादकद्रव्याणि मा संसृक्षाथाम्, विद्वन् एष सोमोऽस्ति, तं मां च त्वं मा हिंसीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सुरापदस्य सोमार्थकत्वे प्रमाणाभावात्। अत एव सम्बोधनमपि निर्मूलमेव। वामित्यनेन युवयोः सुरासोमयोरेव प्रसङ्गः। मन्त्रे च सुरा त्वमसि शुष्मिणी, सोम एष इति स्पष्टतयोभयोर्निर्देशः। न च सुरा बुद्ध्यवकाशे वर्तते, तस्या बाह्यत्वात्॥ ७॥

उपयामगृहीतोऽस्याश्विनं तेजः सारस्वतं वीर्यमैन्द्रं बलम्।
एष ते योनिर्मोदाय त्वानन्दाय त्वा महसे त्वा॥ ८॥

मन्त्रार्थ—हे सोम ! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, तेजःस्वरूप तुमको अश्विनीकुमारों की प्रीति के निमित्त ग्रहण करता हूँ। हे प्रथम सुराग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है, आनन्द के निमित्त तुमको यहाँ स्थापित करता हूँ। हे द्वितीय सुराग्रह ! वीर्य स्वरूप तुमको सरस्वती देवता की प्रीति के लिये उपयाम पात्र में गृहीत करता हूँ, आनन्द की प्राप्ति के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ। हे तृतीय सुराग्रह ! बल की प्राप्ति और इन्द्र देवता की प्रसन्नता के लिये उपयाम पात्र में तुम्हारा ग्रहण करता हूँ। महत्त्व की प्राप्ति की कामना से तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ॥ ८॥

'सुरावन्तमिति जुहोति' (का० श्रौ० १९।३।१२)। त्रीनपि पयोग्रहानध्वर्युः सहैव जुहुयादिति सूत्रार्थः। 'पालाशैः सौरान् न मृण्मयमाहुतिमानश इति श्रुतेर्यस्त इति' (का० श्रौ० १९।३।१३)। प्रतिप्रस्थाता दक्षिणेऽग्नौ सुराग्रहं पालाशैरुलूखलैर्जुहुयान्न मृण्मयीभिः स्थालीभिः। कुतः? 'न मृण्मयमाहुतिमानशे' (तै० सं० २।५।४।६) इति श्रुतेः, 'यस्ते रसः सम्भृतः' (वा० सं० १९।३३) इति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। उत्तरेऽग्नौ पयोग्रहान् दक्षिणे सुराग्रहान् हुत्वा भक्षयन्ति। 'प्राणभक्षमेके' (का० श्रौ० १९।३।१९)। एके शाखिनः सौरग्रहाणामवघ्राणमात्रं कुर्वन्ति, न मुखेन भक्षणमिति सूत्रार्थः। 'परिक्रीतो वा वैश्यराजन्ययोरन्यतरः' (का० श्रौ० १९।३।२०)। अथवा वैश्यराजन्ययोरन्यतरो मूल्येन क्रीतः सौरान् ग्रहान् भक्षयेदिति सूत्रार्थः। 'अङ्गारेषु वा बहिष्परिधि दक्षिणतो जुहोत्याश्विनमुत्तरे मध्यमे सारस्वतमैन्द्रं दक्षिणे पितृभ्य इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १९।३।२१)। अथवा दक्षिणस्याहवनीयस्याङ्गारेषु परिधेर्बहिःप्रदेशे दक्षिणस्यां दिशि स्थापितेषु दक्षिणसंस्थेषु पितृभ्य इति होमावशिष्टान् सुराग्रहान् जुहुयात्। तत्राश्विनं सुराग्रहमुत्तरे, मध्यमे सारस्वतम्, दक्षिणे ऐन्द्रं सुराग्रहं जुहुयादिति सूत्रार्थः।

उपयामगृहीतोऽसि। आश्विनं तेजः, अश्विनोरिदमाश्विनम्, अश्विसम्बन्धि तेजः प्रकाशः प्रागल्भ्यं वा, साक्षात् त्वमवासि। सारस्वतं सरस्वत्या इदं सरस्वतीसम्बन्धि वीर्यं सामर्थ्यं च त्वमेवासि। ऐन्द्रम् इन्द्रस्य

इदमिन्द्रसम्बन्धि बलं च त्वमेवासि। एवं प्रशस्य सादयति—एष ते योनिः स्थानम्। मोदाय प्रमोदाय त्वा त्वां सादयामीति शेषः। आनन्दाय हर्षाय त्वा त्वां सादयामि। महसे, महति पूजितो भवति जनोऽनेनेति महः, 'सर्व-धातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१८९) इत्यसुन्, तस्मै महत्त्वाय च त्वा त्वां सादयामि। पूर्वोक्तसूत्रार्थरीत्या प्रत्येकमत्रापि मन्त्रा उन्नेयाः।

अध्यात्मपक्षे-- हे सोम साम्बपरमेश्वर विज्ञान, त्वमाश्विनं तेजः, त्वमेव च सारस्वतं वीर्यम्, त्वमेव च ऐन्द्रं परमैश्वर्यं निरुपधिबलम्। एष सोपाधिचिदात्मरूपः साधकस्ते योनिरभिव्यक्तिस्थानम्। मोदाय ब्रह्मोप-लब्धिजनितहर्षाय तदुपलब्धिनिष्ठाजनितानन्दाय महसे ब्रह्मात्मभावाय च त्वामत्र सादयामि।

दयानन्दस्तु—'हे राजप्रजाजन, यस्त्वमुपयामगृहीतोऽसि धर्मसम्बन्धनियमसंयुक्तोऽसि, यस्य ते एष योनिरस्ति, तस्य ते आश्विनं सूर्याचन्द्रमसोरिदं तेजः सारस्वतं वेदवाण्या इदं वीर्यम्, इन्द्रस्येदं बलं चास्तु, तं त्वा मोदाय आनन्दाय महसे सत्काराय च सर्वे स्वीकुर्वन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्, तं त्वा सर्वे स्वीकुर्वन्त्वित्यस्य आर्थिकत्वात्, यश्चार्थिकार्थो न स शब्दार्थ इति सिद्धान्तात् ॥ ८ ॥

तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि वी॒र्य॑मसि वी॒र्यं॑ मयि॑ धेहि॒ बल॑मसि॒ बलं॒ मयि॑ धे॒ह्योजो॒ऽस्योजो॒ मयि॑ धेहि म॒न्युर॑सि म॒न्युं मयि॑ धेहि॒ सहो॑ऽसि॒ सहो॒ मयि॑ धेहि ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे दूध! तुम तेज को बढ़ाने वाले हो, मुझे तेज प्रदान करो। तुम वीर्य स्वरूप हो, मुझे वीर्य प्रदान करो। तुम बलस्वरूप हो, मुझे बल प्रदान करो। हे सुरारस! तुम कान्तिस्वरूप हो, मुझे कान्ति प्रदान करो। तुम क्रोध स्वरूप हो, मुझे मन्यु (अहंकार) प्रदान करो। तुम साहसस्वरूप हो, मुझे साहस प्रदान करो ॥९॥

'गोधूम-कुवलचूर्णानि चावपति तेजोऽसीति' (का० श्रौ० १९।२।१६)। आश्विनग्रहग्रहणानन्तरं सादनात् प्राग् द्वे दर्भतृणे प्रागग्रे पात्रोपरि कृत्वा गोधूमकुवलयोश्चूर्णानि सहैव पयसि क्षिपतीति सूत्रार्थः। कुवलं स्थूलं बदरीफलम्। त्रीणि यजूंषि पयोदेवत्यानि। आद्यं यजुर्बृहती। हे पयः, त्वं तेजोऽसि, अतो मयि तेजो धेहि। यो हि यदात्मकः, स तत्र नियोगमर्हतीति न्यायात्। पयोग्रहस्य प्रागल्भ्यहेतुत्वात् तेजस्त्वम्। 'उपवाकबदरचूर्णानि च वीर्यमसीति' (का० श्रौ० १९।२।१८)। सारस्वते ग्रहे उपवाका इन्द्रयवा गोधूमवत्तुपरहिता गोधूमवर्णा यव-सदृशाः। बदरं सूक्ष्मबदरीफलम्। तयोश्चूर्णानि प्रक्षिपेदिति सूत्रार्थः। द्वितीयं यजुःपङ्क्तिः। हे ग्रह, त्वं वीर्यमसि सामर्थ्यमसि, अतो मयि वीर्यं सामर्थ्यं धेहि। 'यवकर्कन्धुचूर्णानि च बलमसीति' (का० श्रौ० १९।२।२०)। यवा दीर्घशूकाः प्रसिद्धाः। कर्कन्धुरतिस्थूलं बदरीफलम्। तयोश्चूर्णानि ऐन्द्रे पयोग्रहे क्षिपेद् बलमसीति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। तृतीयं यजुःपङ्क्तिः। हे ग्रह, त्वं बलमसि, अतो मयि विषये बलं धेहि। 'सुराग्रहाञ्छ्रीणा-त्योजोऽसीति वृक-व्याघ्र-सिंहलोमभिः प्रतिमन्त्रं मिश्रैः' (का० श्रौ० १९।२।२३)। वृकादीनां मिश्रैः केशैरोजोऽ-सीति प्रतिमन्त्रं सुराग्रहान् मिश्रयेत्, ओजोऽसीत्याश्विनम्, मन्युरसीति सारस्वतम्, सहोऽसीत्यैन्द्रमिति सूत्रार्थः। 'एके यथासंख्यम्' (का० श्रौ० १९।२।२४)। एके आचार्या वृकादिलोमानि त्रिषु सुराग्रहेषु यथासंख्यं प्रक्षिपेदिति वदन्ति। तथा च वृककेशैराश्विनम्, व्याघ्रकेशैः सारस्वतम्, सिंहकेशैरैन्द्रमिति सूत्रार्थः। त्रीणि यजूंषि सुरादेव-त्यानि। हे सुरे, त्वमोजोऽसि, अतो मयि विषये ओजः कान्तिं धेहि स्थापय। त्वं मन्युः कोपः, मानसं प्रज्वलन-मिति यावत्, असि। अतो मयि मन्युं धेहि। त्वं सहोऽसि बलमसि, अतो मयि सहो बलं धेहि।

अध्यात्मपक्षे—हे सर्वात्मन्, त्वं तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। त्वं वीर्यमसि सर्वसामर्थ्योद्गमस्थानत्वादतः सामर्थ्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽसि ओजो मयि धेहि। सर्वात्मनः सर्वोत्तमसाररूपत्वात् ततस्तदपेक्षा युक्तैव।

दयानन्दस्तु—'हे शुभगुणकरराजन्, यत्त्वयि तेजोऽस्ति तत्तेजो मयि धेहि। यत्त्वयि वीर्यमस्ति तन्मयि धेहीत्यादि, एतादृशमेव व्याख्यानम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्भवात्। नह्यन्यो मनुष्यः स्वगतं तेजआदिकमन्यत्र स्थापयितुं शक्नुयात्॥ ९॥

या व्या॒घ्रं विषू॑चिको॒भौ वृकं॑ च॒ रक्ष॑ति।
श्ये॒नं प॑त॒त्रिणँ॑ सि॒ꣳह॒ꣳ सेमं॑ पा॒त्वꣳ ह॑सः॥ १०॥

मन्त्रार्थ—जो सर्वत्र फैलने वाला उदर रोग व्याघ्र और भेड़ियों के समूह की रक्षा करता है, श्येन पक्षी और सिंह की रक्षा करता है, वह इस यजमान की पापमय व्याधि से रक्षा करे, अर्थात् सिंह, भेड़िये आदि को जैसे विसूचिका रोग नहीं होता, वैसे ही हमारे इस यजमान को भी न हो॥ १०॥

'दीक्षावत्पावयतोऽन्तःपात्ये श्येनपत्राभ्यां या व्याघ्रमिति' (का० श्रौ० १९।२।२७)। अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ सहैव अन्तःपात्येऽवस्थितं प्राङ्मुखं यजमानं श्येनपिच्छाभ्यां पावयतः, दीक्षावदित्येकेन नाभेरूर्ध्वं प्रदक्षिणं द्वितीयेन सकृदवाङ्, यद्वोभाभ्यां नाभेरूर्ध्वमधश्च द्विः 'या व्याघ्रम्' इति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। हैमवर्चिदृष्टा विषूचिकादेवत्या अनुष्टुप्। व्याध्यधिष्ठात्री विषूचिकानाम्नी देवता अत्र प्रार्थ्यते। 'विषु' निपातो नानावचनः। विषु नानादेशेषु कालेषु च, सर्वत्र सर्वदेत्यर्थः, अञ्चति गच्छतीति विषूची, सैव विषूचिका रोगविशेषः। 'केऽणः' (पा० सू० ७।४।१३) इति ङीपो ह्रस्वः। या विषूचिका व्याघ्रं वृकं च उभौ रक्षति परिपाति, तथा श्येनं पतत्रिणं पक्षिणं सिंहं च उभौ रक्षति, एतेषामजीर्णताजनिताया व्यापत्तेरभावात्, सा विषूचिका इमं यजमानमंहसो व्याधिहेतुभूतात् पापात् पातु रक्षतु।

अत्र ब्राह्मणम्—'अध्वर्युश्च प्रतिप्रस्थाता च। जघनेन वेदिं प्राञ्चमावृत्तं यजमानꣳ श्येनपत्राभ्यामूर्ध्वं चावाञ्चं च पावयतः प्राणोदानयोस्तद्रूपं प्राणोदानावेवावरुन्ध ऊर्ध्वश्च ह्ययमवाङ् च प्राण आत्मानमनुसञ्चरति सम्पृच स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्तेति पयोग्रहान् सम्मृशति श्रियैवैनं यशसा समर्धयति विपृच स्थ वि मा पाप्मना पृङ्क्तेति सुराग्रहान् पाप्मनैवैनं व्यावर्तयति' (श० १२।७।३।२२)।

अध्यात्मपक्षे - या अविद्या विषूचिका विष्वग्गतिः सर्वं बाधते, या व्याघ्रं विशेषेण आ समन्तात् सर्वं जिघ्रतीति व्याघ्रो यथा निर्भयः सन् स्वलक्ष्योन्मुखो भवति, तद्वद्यो निर्भयः सन् परमपुरुषार्थोन्मुखो भवति तं रक्षति न बाधते। वृकं च वृको यथा स्वलक्ष्यप्राप्त्यर्थं स्वात्मानं सङ्कोच्य तिष्ठति, अनुकूले चावसरे उत्पत्य लक्ष्यं स्वायत्तं करोति, तद्वद्यः कूर्मोऽङ्गानीव विषयेभ्यः कार्मकरणसङ्घातं सङ्कोच्य लक्ष्यं परमात्मानं प्राप्नोति तमपि रक्षति। सिंहवृत्तिं श्येनवृत्तिं तीव्रवेगेन लक्ष्यप्राप्त्यर्थं प्रयत्नवन्तं सिंहं सिंहवत्साधनामार्गे विक्रान्तं रक्षति, पुरुषार्थसाधने उदग्रमुन्नतं कुशलं वेगवन्तं विक्रान्तं रक्षति, तद्भिन्नान् सर्वान् बाधते, विषूचिकावदविद्या, सा इमं यजमानं पात्विति।

दयानन्दस्तु—'या विदुषी स्त्री राज्ञी विषूचिका विविधानर्थान् सूचयति, सा व्याघ्रं वृकं श्येनं पतत्रिणं सिंहं च हत्वा प्रजा रक्षति, सा इमं राजानमंहसः पातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असामञ्जस्यात्। लोके हि विषूचीशब्दो रोगविशेषे रूढः। सामान्यस्त्रिया अपि विषूचीनाम्ना व्यवहारे उद्वेगो जायते, किमुत राज्याः? व्याघ्रादिकं हत्वा प्रजा रक्षतीति स्वातन्त्र्येणाध्याहारोऽस्य व्याख्यातुः स्वातन्त्र्यमुच्छृङ्खलतामेव वा सूचयति ॥ १० ॥

यदा पिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्। एतत्तदग्ने अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया। सम्पृच स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्त। विपृच स्थ वि मा पाप्मना पृङ्क्त ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—माता का दूध पीते समय अति प्रसन्नता से मैंने जो माता को चरणों से ताड़ित किया है, हे अग्निदेव! उससे मैं तुम्हारी साक्षी में तीनों ऋणों के साथ मुक्त हो गया हूँ। मुझसे माता-पिता पीड़ित नहीं हुए, क्योंकि मैं पयोग्रह का अनुष्ठान करता हूँ। हे अग्निदेव! यह पयोग्रह सोम और सुरा से संयुक्त हो हमारा कल्याण करे। हे सुराग्रह! तुम वियोजक हो, अतः मुझे पापों से अलग करो ॥ ११ ॥

'अग्निं प्रेक्षयति यदापिपेषेति' (का० श्रौ० १९।२।२८)। अग्निं प्रेक्षस्वेति प्रैषेण अध्वर्युर्यजमानमग्निं दर्शयति, स प्रैषित औत्तरवेदिकमग्निमीक्षत इति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्या बृहती। पुत्रोऽहं प्रमुदितः प्रहृष्टो धयन् स्तन्यपानं कुर्वन् सन् यन्मातरं जननीमापिपेष आपिष्टवान् पद्भ्यां पीडितवान्। पिषेर्लिटि उत्तमैकवचने रूपम्। हे अग्ने, तदेतत् त्वत्समक्षमेव अहमनृणो भवामि, स्वाध्यायाध्ययनयजनप्रजादिभिस्त्रिभिर्ऋणैर्विनिर्मुक्तः कृतकृत्यो भवामि। अत एव भुजा उत्क्षिप्य ब्रवीमि मया पितरौ माता च पिता च पितरौ मातापितरौ, अहतौ न पीडितौ। यो हि प्रत्युपकर्तुमसमर्थस्तेनैव मातापितरौ हिंसितौ भवत इत्यभिप्रायः। 'पयोग्रहसम्मर्शनꣳ सम्पृच स्थेति' (का० श्रौ० १९।२।२९)। त्रीन् पयोग्रहान् युगपद् यजमानः स्पृशेत् सम्पृच स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्तेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। पयोग्रहदेवत्यं यजुस्त्रिष्टुप्। हे पयोग्रहाः, यूयं सम्पृचः सम्पृञ्चन्ति संयोजयन्तीति सम्पृचः स्वत एव संयोजकाः स्थ भवत। 'सम्पृच स्थ' इत्यत्र 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' (पा० सू० ८।३।३६, वा० १) इति विसर्गलोपः। अतो मा मां भद्रेण कल्याणेन सम्पृङ्क्त संसृजत, कल्याणयुक्तं मां कुरुतेत्यर्थः। सम्पूर्वात् पृचेः क्विपि सम्पृचः, पृचे रौधादिकाल्लोटि मध्यमबहुवचने पृङ्क्तेति। 'विपृच स्थेति सौराणाम्' (का० श्रौ० १९।२।२९-३।१) यजमानः सुराग्रहान् विपृच स्थेति मन्त्रेण स्पृशतीति सूत्रार्थः। हे सुराग्रहाः, यूयं विपृच स्थ विपृञ्चन्तीति विपृचो वियोजकाः स्थ भवत। अतो मा मां पाप्मना विपृङ्क्त, मां निष्कल्मषं कुरुतेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन्, यदा पुत्रः प्रमुदितो मातुः स्तनं पिबन् आपिपेष आपीडितवान्, अहं तदेतत् तवाग्रे समक्षमेव भगवदाराधनबुद्ध्या यज्ञादिकमनुष्ठाय अनृणो भवामि। तेन पितरौ न हिंसितौ, किन्तु त्वदाराधनलक्षणेन यज्ञेन तारितौ तावित्यर्थः। हे भगवन्तः, पूजायां बहुवचनम्। यूयं सम्पृचः शुभसंयोजनशक्तियुक्ताः स्थ, अतो मां भद्रेण कल्याणेन सम्पृङ्क्त संसृजत। हे भगवन्तः, यूयं विपृचोऽशुभवियोजनशक्तिमन्तः, अतो मा मां विपृङ्क्त कल्मषेण विगतसंसर्गं मां कुरुतेत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, यद् यः प्रमुदितः पुत्रो दुग्धं धयन् मातरमापिपेष तेन पुत्रेण अनृणो भवामि, यतो मे पितरावहतौ मया भद्रेण सह वर्तमानौ च स्याताम्। हे मनुष्याः, यूयं सम्पृच स्थ भद्रेण सम्पृक्त।

पाप्मना विपृच स्थ माप्येतेन विपृङ्क्त तदेतत् सुखं प्रापयत' इति, तदेतत्सर्वमज्ञानविजृम्भितम्, सर्वथाऽनुपपत्तेः। पुत्रः प्रमुदितो दुग्धं धयन् मातरमापीडयति, तेन पिता कथमनृणो भवति? कार्यकारणभावानुपपत्तेः। भावार्थभाषायां तु पित्रोर्यथावत् सेवनेन पितृऋणाद्विमुच्यत इत्युक्तम्, मन्त्रे तु तस्य चर्चाऽपि नास्ति। तेन पुत्रेण पितुः पितरौ कथमहतौ भवेताम्? कथं च पुत्रस्य पुत्रेण तत्पितरौ भद्रेण युक्तौ स्याताम्? किञ्च, कोऽयं मनुष्यानभ्यर्थयते—यूयं सत्यसम्बन्धिनो मां भद्रेण सम्पृङ्क्त यूयं पाप्मना विपृच स्थ, अतो मां पाप्मना विपृङ्क्तेति? न परमेश्वरः, निरपेक्षस्य तस्य सततस्तादृशप्रार्थनानुपपत्तेः। नापि कश्चिन्मनुष्यः, मनुष्येभ्योऽल्पशक्तिभ्यस्तादृगभीष्टसिद्धयसम्भवात्, पुण्यप्राप्तिपापनिवृत्त्योः स्वकर्तृकप्रयत्नसाध्यत्वात्। नह्यन्यगतेन पुण्येनान्यः समवैति। न वाऽन्यपाप्मराहित्येनान्यः संसृज्यते। पूर्वकण्डिकायामुद्धृतब्राह्मणेन विरुद्धयते चैतद् व्याख्यानमिति ॥ ११ ॥

देवा युज्ञमंतन्वत भेषजं भिषजाऽश्विनां।
वाचा सर॑स्वती भिषगिन्द्रांयेन्द्रियाणि दधंतः ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—संस्काररहित रस को पीने से इन्द्र के बलवीर्य को असुरों ने हर लिया, जो रात-दिन त्याज्य मद्य को सुरा कह कर पीते हैं, उनके पतित होने में कुछ भी संदेह नहीं है। इस प्रसंग में श्रुति कहती है कि देवताओं ने इन्द्र के औषध रूप सौत्रामणी यज्ञ को विस्तृत किया। वैद्य अश्विनीकुमार और त्रयीरूप सरस्वती वाणी ने इन्द्र में पुनः सामर्थ्य का आधान किया ॥ १२ ॥

देवा यज्ञमित्यादि कण्डिकाविंशतिर्ब्राह्मणरूपा, अतो विनियोगाभावः। ब्राह्मणानुवाको विंशतिः कण्डिका अनुष्टुभः सौत्रामण्याः सोमसाम्यप्रतिपादिकाः। निदानवतां मन्त्राणां पूर्वं निदानं वक्तव्यम्, येन सुखेनार्थावबोधो जायेत। अत्रेतिहासमाचक्षते—अनुपहूतसोमपानाद् भ्रष्टस्य इन्द्रस्य वीर्यं नमुचिरसुरोऽपिबत्। तत्र देवैरिन्द्रस्य भैषज्यं कृतम्। तत्राश्विनौ सरस्वती च भिषजः, सौत्रामणी त्वौषधम्। तथा च श्रुतिः—'त्वष्टा हतपुत्रः। अभिचरणीयमपेन्द्रꣳ सोममाहरत् तस्येन्द्रो यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत् स विष्वङ् व्यार्च्छत् तस्य मुखात् प्राणेभ्यः श्रीयशसान्यूर्ध्वान्युदक्रामंस्तानि पशून् प्राविशंस्तस्मात् पशवो यशो यशो हि भवति य एवं विद्वान् सौत्रामण्याभिषिच्यते' (श० १२।८।३।१)। 'ततोऽस्मा एतमश्विनौ च सरस्वती च यज्ञꣳ समभरन् सौत्रामणीं भैषज्याय तयैनमभ्यषिञ्चंस्ततो वै देवानाꣳ श्रेष्ठोऽभवच्छ्रेष्ठः स्वानां भवति य एनयाऽभिषिच्यते' (श० १२।८।३।२)।

विश्वरूपवधादमर्षी हतपुत्रस्त्वष्टा इन्द्रायाभिचरन् अपेन्द्रं सोममाहरत्। इन्द्रो यज्ञवेशसं (यज्ञच्छिद्रं) कृत्वा प्रसह्य सोममपिबत्। स विष्वङ् व्यार्च्छत्। तस्य मुखात् प्राणेभ्यश्च श्रीयशसानि श्रेयस्यः सुखनीयाः कायस्य साराः, ता यशांसि च लोकेऽर्हितानि यशस्वीनि तेजआदीनि यथोक्तानि, ऊर्ध्वानि सोमेन सहोत्क्रान्तानि। तानि च पशुषु प्रविविशुः। तस्मात्ते पशवो यशस्विनोऽभ्यर्हिताः। कण्डिकाभावार्थस्तु—देवा यज्ञं सौत्रामणीनामकं भेषजमिन्द्रस्यौषधरूपमतन्वत विस्तारितवन्तः, तदा अश्विनौ भिषजौ चिकित्सकावास्ताम्। सरस्वती वाचा वाणी, लक्षणया वेदत्रयी, भिषग् वैद्या आसीत्। कीदृशास्ते सरस्वत्यश्विनाः? इन्द्राय इन्द्रियाणि वीर्याणि सामर्थ्यानि दधतो ददतः।

अध्यात्मपक्षे— इन्द्रो जीवोऽनधिकारचेष्टया सोममभीष्टान् विषयान् अपिबत्। तेनैव असुरशक्त्यावेशात् तस्य सामर्थ्यानि विनेशुः। देवा इन्द्रियाधिष्ठातारस्तस्य पुनः सामर्थ्यलाभाय परमेश्वराराधनलक्षणं यज्ञं चिकित्सा-

रूपमतन्वत। तत्र नियमितौ प्राणापानौ भिषजौ सरस्वती वागधिष्ठात्री च त्रयीलक्षणया वाचा वैद्यासीत्। त एते चिकित्सकाः सामर्थ्यानीन्द्राय ददतः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथेन्द्रियाणि धनं वा दधतो भिषक् सरस्वती भिषजाश्विना च देवा वाचेन्द्राय भेषजं यज्ञमतन्वत, तथैव यूयं कुरुत' इति, तदपि विसङ्गतमेव, अतन्वतेत्यस्य विस्तृतं कुरुतेत्यर्थस्य लकारविरुद्धत्वात्। यथेन्द्रियाणि धनं वा धारयन्तो भिषजो देवाश्च वाचा इन्द्रियाय परमैश्वर्याय भेषजं रोगविनाशकं सुखप्रदं यज्ञं विस्तृतवन्तस्तथा यूयमपि कुरुतेति दृष्टान्तस्यैवास्पष्टत्वात्। न च वाचा रोगनिवारणं भवति, न वा तयैश्वर्यप्राप्तिः सम्भवति, तथा कार्यकारणभावासिद्धेः। न चात्र भिषजां त्रित्वम्, तत्र द्वयोः पुंस्त्वं स्त्रीत्वं चान्यस्येत्यत्र हेतुविशेष उपपद्यते ॥ १२ ॥

दी॒क्षायै॑ रू॒पꣳ शष्पा॑णि प्राय॒णी॒यस्य॒ तोक्मा॑नि।
क्र॒यस्य॑ रू॒पꣳ सोम॑स्य ला॒जाः सो॑मा॒ꣳशवो॒ मधु॑ ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—नये उत्पन्न हुए व्रीहि इस यज्ञ की दक्षिणा के लिये आवश्यक होते हैं। नवीन प्ररूढ़ यव प्रायणीय इष्टि का रूप है। खरीदी हुई लाजा सोम का रूप है। स्वादिष्ट लाजा सोम का मधुमय खण्ड है ॥ १३ ॥

अत्र सौत्रामण्याः सोमसम्पत्तिरुच्यते। शष्पाणि नवप्ररूढव्रीहिरूपाणि पूर्वोक्तानि दीक्षायै दीक्षायाः, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, दीक्षणीयेष्टेरिति यावत्, रूपम्। शष्पाणि दीक्षणीयात्वेन ध्येयानीत्यर्थः। तोक्मानि नवोद्गताङ्कुरा यवाः प्रायणीयस्य रूपम्, प्रायणीयेष्टिरूपेण ध्येयानीत्यर्थः। सोमस्य क्रयस्य रूपं लाजा भर्जनप्रफुल्लिताः। सोमे सोमक्रयः। अत्र लाजास्तस्य रूपम्। लाजाः सोमक्रयरूपेण ध्येया इत्यर्थः। सोमक्रयस्येति समासे प्राप्ते पदयोर्व्यत्ययः, रूपशब्देन व्यवधानं च छान्दसम्। मधु सोमांशवः सोमखण्डाः, मधु सोमखण्डरूपेण ध्येयम्। यद्वा लाजा एव मधु मधुरस्वादाः सोमांशवो ध्येया इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मनः सर्वरूपस्य भगवतः सौत्रामणीतदुपकरणादिरूपेणापि वर्णनम्। व्याख्यानमुक्तमेव। यद्वा पत्रपुष्पफलादिभिः सेवमानस्य भक्तस्य भगवति समर्पितानि लौकिकान्यप्युपकरणानि सोमयज्ञस्याङ्गोपाङ्गरूपाणि भवन्तीति वर्ण्यते। समर्पितानि शष्पाणि नवोद्गताङ्कुरा व्रीहयो दीक्षाया रूपम्, सोमयागगतदीक्षणीयेष्टिरूपाणि भवन्ति। तोक्मानि नवोद्गताङ्कुरा यवाश्च प्रायणीयस्य रूपम्, प्रायणीयेष्टिरूपाणि भवन्ति। लाजा भृष्टा व्रीहयो मधु मधुरास्वादाः सोमक्रयस्य रूपम्, सोमक्रयरूपा भवन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यानि प्रायणीयस्य प्रकृष्टं सुखयन्ति येन व्यवहारेण तत्र भवस्य दीक्षायै यज्ञसाधननियमपालनाय रूपम्। तोक्मान्यपत्यानि 'तोक्मेत्यपत्यनाम' (निघ० २।२।४), क्रयस्य द्रव्यविक्रयस्य रूपम्। शष्पाणि आहत्य संशोध्य ग्राह्याणि धान्यानि। यस्य ओषधिरसस्य लाजाः प्रफुल्लितव्रीहयः सोमांशवः सोमस्यांशा मधु च सन्ति, तानि यूयमतन्वत कुरुत' इति, तत्त्वतीव मन्दम्, निरर्थकत्वात्। अत्र हिन्दीभाषामयेनाप्यर्थेन न किञ्चिदवगन्तुं शक्यम्। वस्तुतस्तु दीक्षाप्रायणीयादिवैदिकार्थानभिज्ञानमूलकमेवेदमनर्गलं प्रलपितम् ॥ १३ ॥

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः ।
रूपमुपसदामेतत् तिस्रो रात्रीः सुरासुता ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—आतिथ्य के लिये व्रीहि, श्यामाक, लाजा आदि को मिला कर चूर्ण बनाया जाता है। २६ वस्तुओं को मिला कर बनाया हुआ नग्नहु नामक पदार्थ महावीर की तृप्ति के लिये है। तीन रात तक अभिषुत सुरारस उपसद नामक इष्टि का रूप है ॥ १४ ॥

एकोनविंशेऽस्मिन्नध्याये प्रथमकण्डिकाव्याख्यान एव मासरं निरूपितम्। तन्मासरं सौत्रामणीयागगतमातिथ्यरूपं सोमयागगतातिथ्येष्टिरूपेण चिन्तनीयम्। नग्नहुः महावीरस्य रूपम्। सौत्रामणीगतो नग्नहुः महावीररूपेण चिन्तनीयः। महावीरो घर्मः प्रवर्ग्यरूपः। उपसदामेतद् रूपं क्रियते। यस्मिंस्तिस्रो रात्रीः सुरा अभिषुता तिष्ठति, तिस्रो रात्रीरित्यत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० सू० २।३।५) इति द्वितीया। पूर्वोक्तं सर्वमेकपात्रे कृत्वा स्वाद्वीं त्वेति मन्त्रेण यद् गर्ते त्रिरात्रं स्थापनम्, एतदुपसदामुपसत्संज्ञकानामिष्टीनां रूपम्, तत्रोपसत्त्रयदृष्टिः कर्तव्येत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अत्रापि भगवतः सार्वात्म्यस्योपवर्णनम्। एभिर्वा सर्वैर्यज्ञैर्भगवानेवार्हणीय इति वार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यानि मासरं येनातिथयो मासेषु रमन्ते तत्। महावीरस्य यो नग्नान् जुहोति आदत्ते रूपं सुरूपकरणमुपसदाम्, य उपसीदन्ति तेषामतिथीनां तिस्रो रात्रीर्निवासनमेतद्रूपम्, सुता सुरा आसुता च समन्तान्निष्पादिता च। सन्ति तानि यूयं गृह्णीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मासर-नग्नहु-महावीरादि-शब्दा वैदिकपारिभाषिकाः, तदज्ञानमूलक एवैतस्य स्वामिनोऽर्थः। इदमपरमपि चिन्तनीयम्—मासरपदस्य आतिथ्यबोधकत्वे आतिथ्यपदस्य निरर्थकत्वापातः। न ह्यतिथय एव मासेषु रमन्ते, किन्तु ते तूपलब्धान्नपानादौ रमन्ते। न चैतत्स्वाम्यभिप्रेतस्यापि महावीर-नग्नहुरूपत्वं सम्भवति। न वा नग्नादानं कार्यमेव सम्भवति। न च महावीरो नग्नमाददाति, किन्तु नग्नेभ्यो वस्त्रादिकमेव ददाति। उपसत्पदेनापि यद्यतिथय एव गृह्येरन्, तदा पुनः पौनरुक्त्यम्। न च तेषां रात्रित्रयवासविधानार्थं तदनुवाद इति वाच्यम्, मूले वासबोधकपदस्यालीकत्वात् ॥ १४ ॥

सोमस्य रूपं क्रीतस्य परिस्रुत् परिषिच्यते ।
अश्विभ्यां दुग्धं भेषजमिन्द्रायैन्द्रꣳ सरस्वत्या ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—इन्द्र के निमित्त इन्द्रसम्बन्धी औषध, सरस्वती और अश्विनीकुमार के लिये दुहा हुआ दूध, अभिषुत महौषधि रस—इन सबको सुरा के साथ तीन दिन तक सींचा जाता है। यह खरीदे गये सोम का रूप है, अर्थात् सोम के साथ अभिषुत करने के लिये अश्विनीकुमार, सरस्वती और इन्द्र के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के दूध की आवश्यकता पड़ती है ॥ १५ ॥

यदश्विभ्यां सरस्वत्या च ऐन्द्रमिन्द्रदेवत्यमिन्द्राय भेषजमिन्द्रार्थे औषधं दुग्धं पयोऽश्विभ्यामपाकरोमीति दुग्धेन एकयोः पयसा सरस्वत्या अपकरोमीति, दुग्धेन गोद्वयपयसा इन्द्रायापाकरोमीति, दुग्धेन गोत्रयपयसा दिनत्रये परिस्रुत् सुरा यत् परिषिच्यते, तत् क्रीतस्य सोमस्य रूपं ज्ञातव्यमित्यर्थः। 'एकस्याः

पयसाऽपाकृतेनाश्विनेन परिषिञ्चति' (का० श्रौ० १९।१।२३)। अश्विभ्यामपाकरोमीत्येकां गां हस्तेन स्पृष्ट्वा दोहयेत्। एवमपाकृताया एकस्या गोः पयसा सुरां परिषिञ्चेदिति सूत्रार्थः। 'सारस्वतेन द्वयोः प्रातः' (का० श्रौ० १९।१।२५)। प्रातर्द्वितीयेऽहनि सरस्वत्यै अपाकरोमीति द्वे गावौ हस्तेन स्पृष्ट्वा दोहयेत्। एवमपाकृतेन सारस्वतेन द्वयोर्गावोः पयसा सुरां परिषिञ्चेदिति सूत्रार्थः। 'ऐन्द्रेणोत्तमे तिसृणाम्' (का० श्रौ० १९।१।२७)। तृतीयेऽहनि ऐन्द्रेणापाकृतेन तिसृणां गवां पयसा सुरां परिषिञ्चेदिति सूत्रार्थः।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वरस्य सार्वात्म्येन यज्ञतदुपकरणात्मकतापि ज्ञेया।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रियः! यथा सरस्वत्या प्रशस्तविद्याविज्ञानयुक्तया पत्न्या विदुष्या क्रीतस्य सोमस्य सोमाद्योषधिसमूहस्य परिस्रुद् यः परितः स्रुवति स रसो रूपमुत्तमस्वरूपम्, अश्विभ्यां वैदिकविद्याव्यापिभ्यां विद्वद्भ्यां दुग्धं भेषजं सर्वौषधमिन्द्राय सर्वैश्वर्येच्छुकाय ऐन्द्रमिन्द्रो विद्युद् देवता यस्य तद् विज्ञानं परिषिच्यते, तथा यूयमप्याचरत' इति, तदपि निःसारम्, जलमपि परितः स्रवतीति तस्यापि परिस्रुत्पदव्यपदेश्यत्वापातात्। सोमस्य ओषधिगणस्येत्यपि निर्मूलम्। सरस्वतीपदस्य ज्ञानवतीत्यर्थत्वेऽपि तादृशी पत्नीत्यनर्थकमेव। किञ्च, विद्वत्क्रीतसोमापेक्षया विदुष्या क्रीते सोमे वैलक्षण्याभावाल्लाघवेन ज्ञानवत्क्रीतस्येत्येव तु स्यात्। अश्विभ्यामित्यत्र द्विवचनं किमभिप्रेत्याश्रितम्? इत्यपि विचार्यमेव। सर्वस्यैतस्य लोकसिद्धत्वाच्च तत्प्रतिपादने वेदस्य तात्पर्याभावोऽपि ध्येयः॥ १५॥

आ॒स॒न्दी रू॒पꣳ रा॑जास॒न्द्यै वेद्यै॒ कु॒म्भी सु॑रा॒धानी॑।
अन्त॑र उत्तरवे॒द्या रू॒पं का॑रोत॒रो भि॒षक्॥ १६॥

मन्त्रार्थ—यजमान के अभिषेक की चौकी सोम के स्थापन के लिये मंचिका रूप है। सुरा रखने की कलशी सोम की वेदिका है। दोनों वेदियों का मध्य भाग उत्तर वेदिका का रूप है। सुरा को छानने की चलनी इन्द्र की औषधि है॥ १६॥

आसन्दी यजमानाभिषेकाय कल्पिता मञ्चिका। राजासन्द्यै, राज्ञः सोमस्यासन्दी राजासन्दी, तस्यै, चतुर्थी षष्ठ्यर्थे, राजासन्द्या रूपम्, अर्थात् सोमराजासन्दीरूपेण ध्येया। सुराधानी सुरा धीयते यस्यां सा। अधिकरणे ल्युट्। टिड्ढाणञिति ङीप्। कुम्भी घटो वेद्यै वेद्याः सौमिक्या वेदे रूपम्। अन्तरः सौत्रामणीयागवेद्योरन्तरो मध्यभागः सोमयागीयोत्तरवेदे रूपम्, उत्तरवेदीरूपेण ध्येय इत्यर्थः। कारोतरः सुरागलनसमर्थं वंशमयं पात्रं सुरापावनी गालिनी वा, इन्द्रस्य यजमानस्य च भिषग् ज्ञेयः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! युष्माभिर्यज्ञायासन्दीरूपं राजासन्द्यै या समन्तात् सन्यते सेव्यते सा सुक्रिया, राजानः सीदन्ति यस्यां तस्यै, वेद्यै विदन्ति सुखानि यया तस्यै। कुम्भो धान्यादिपदार्थाधारा। सुराधानी सुरा सोमरसो धीयते यस्यां सा गर्गरी। अन्तरो येनानिति प्राणिति स अन्नादिः। उत्तरवेद्या उत्तरायतासौ वेदी तस्या रूपम्। कारोतरः कर्मकारी भिषग् वैद्यः, चैतानि संग्राह्याणि' इति, तदेतदतीव साहसम्, वैदिकप्रसिद्धिविरोधात्। आसन्दीपदस्य सुक्रिया कथमर्थः? शष्कुलीकरपट्टिकादीनामप्यासेव्यमानत्वेन तत्त्वापत्तेः। राजासन्द्यै वेद्यै गर्गरीत्यस्य सम्बन्धासिद्धेश्चेति। अन्तर इत्यस्य अन्नमर्थ इत्यपि निर्मूलम्, अनतेस्तद्रूपासिद्धेः, जलादिना व्यभिचाराच्च। कारोतरः कर्मकारीत्यपि निर्मूलम्, सुक्रियारूपादीनां च कथं संग्रहः? असम्भवदोषग्रस्तोऽयमर्थः। सर्वं चैतद् वैदिकविधानाज्ञानमूलकमेव॥ १६॥

वे॒द्या वेदि॑: समा॑प्यते ब॒र्हिषा॑ ब॒र्हिरि॑न्द्रि॒यम् ।
यूपे॑न॒ यूप॑ आप्यत॒े प्रणी॑तो अ॒ग्निर॒ग्निना॑ ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—वर्तमान वेदि के द्वारा सोम की वेदि भली प्रकार प्राप्त होती है। वर्तमान कुशा से सोम सम्बन्धी कुशा तथा बल प्राप्त होते हैं। वर्तमान यूप से सोमसम्बन्धी यूप प्राप्त होता है और वर्तमान अग्नि से प्रणीत नामक अग्नि प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

अत्र सौत्रामणीयागे वर्तमानया वेद्या वेदिः सौमिकी वेदिः समाप्यते सम्यक् प्राप्यते, तद्रूपेण ध्येयेत्यर्थः। बर्हिषा अत्रत्येन दर्भेण बर्हिः समाप्यते। इन्द्रियं वीर्यं सौमिकमत्रत्येन वीर्येण समाप्यत इति शेषः, उभयोः फलदाने सामर्थ्यादिति भावः। यूपेन अत्रत्येन यूपः सौमिकः समाप्यते। अग्निना अत्रत्येन प्रणीतः सौमिकोऽग्निः, आप्यते प्राप्यते।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'यथा विद्वद्भिर्वेद्या यज्ञसामग्र्या वेदिर्यज्ञभूमिः, बर्हिषा महता पुरुषार्थेन बर्हिरिन्द्रियं वृद्धं धनं समाप्यते, यूपेन मिश्रितामिश्रितव्यवहारेण यूपो मिश्रितो व्यवहारः, अग्निना प्रणीतोऽग्निराप्यते, तथैव यूयं साधनानि साधनैः सम्मेल्य सर्वसुखमाप्नुत' इति, तदपि साहसमेव, प्रसिद्धार्थं परित्यज्याप्रसिद्धकाल्पनिक-निरर्थकव्याख्याने व्यापृतेरकिञ्चित्करत्वात्। बर्हिषा महता पुरुषार्थेनेत्यपव्याख्यानम्, निर्मूलत्वात्। यूपो मिश्रितव्यवहारयत्नादय इत्यपि निर्मूलम्, यौतेस्तावत्स्वर्थेषु प्रयोगे मानाभावात् ॥ १७ ॥

ह॒वि॒र्धानं॒ यद॒श्विनाग्नी॑ध्रं॒ यत् सर॑स्वती ।
इन्द्रा॑यै॒न्द्रꣳ सद॑स्कृ॒तं पत्नी॒शालं॒ गार्ह॑पत्यः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—अश्विनीकुमार हविर्धान स्वरूप हैं, सरस्वती आग्नीध्र का रूप है, इन्द्र देवता वाला इन्द्र के निमित्त बनाया गया पत्नीशाल नामक स्थान गार्हपत्यस्थानीय है ॥ १८ ॥

अत्र सौत्रामण्यां यद् अश्विना अश्विनौ देवते वर्तेते, तेनाश्विसद्भावेन हविर्धानं सौमिकमाप्यत इति पूर्वेणानुषज्यते। यद्वा—यदश्विदैवतं तेन हविर्धानमाप्यते। यत्सरस्वतीदैवतं तेनाग्नीध्रं सौमिकमाप्यते। सोमे ऐन्द्रमिन्द्रदेवत्यं सदः कृतमस्ति। ऐन्द्रं सदः, पत्नीशालम्। पत्नीनां शाला पत्नीशालम्, 'विभाषा सेनासुराच्छाया-शालानिशानाम्' (पा० सू० २।४।२५) इति वैकल्पिकं क्लीबत्वम्। गार्हपत्यश्चेति। तदेतत् त्रयं सौत्रामण्यामिन्द्राय यद्धविः क्रियते तेनाप्यते। सौत्रामणीयागे यदिन्द्राय हविः क्रियते, तत्सौमिकैन्द्रसदःपत्नीशालगार्हपत्यरूपेण ध्येयमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः। अर्थात् सर्वात्मनो यज्ञात्मप्रदर्शनमेव।

दयानन्दस्तु—'हे गृहस्थाः! यथा विद्वांसावश्विना यद्धविर्धानं कृतवन्तः, यच्च सरस्वती आग्नीध्रं कृतवती, इन्द्रायैन्द्रं सदः पत्नीशालं च विद्वद्भिः कृतम्, तदिदं सर्वं गार्हपत्यो धर्म एवास्ति। तथा च तत्सर्वं यूयमपि कुरुत' इति, तदपि निःसारम्, कथञ्चिद् मुख्यार्थं परित्यज्य गौणार्थाङ्गीकारेऽपि निरर्थकत्वात्, विशृङ्खलार्थत्वाच्च। यद्यपि सर्वमेतदीयं व्याख्यानं निरर्थकमेव, तथापि विदुषां विनोदाय कुतूहलाय च तदुपन्यस्तम् ॥ १८ ॥

प्रैषेभिः प्रैषानाप्नोत्याप्रीभिराप्रीर्यज्ञस्य ।
प्रयाजेभिरनुयाजान् वषट्कारेभिराहुतीः ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—प्रैष नामक यज्ञीय कर्मों से यजमान प्रैषों को पाता है। प्रयाज्य याज्यों से यज्ञ को प्रसन्न करने वाली क्रियाओं के रूपों में प्रयाजों को पाता है। प्रयाजों से उत्तम यज्ञ कर्म रूप प्रयाजों को और अनुयाजों से अनुकूल यज्ञ पदार्थ रूप अनुयाजों को पाता है। वषट्कारों से वषट्कारों को और आहुतियों से आहुतियों को पाता है ॥ १९ ॥

प्रैषेभिः प्रैषैरत्रत्यैः सौमिकान् प्रैषानाप्नोति। अत्रत्याभिराप्रीभिः प्रियाभिः प्रयाजयाज्याभिर्यज्ञस्य सोमयज्ञस्य आप्रीः प्रियाः प्रयाजयाज्या आप्नोति। अत्रत्यासु प्रयाजयाज्यासु सोमयागीयप्रयाजयाज्याबुद्धिः कर्तव्या। प्रयाजेभिरित्यादिचतुर्णां वाक्यानाम् 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वालोपो वाच्यः' (पा० सू० ५।३।८३, वा० ४) इति वार्तिकादर्धलोपः। प्रयाजेभिः प्रयाजैः प्रयाजानाप्नोति। अनुयाजैरनुयाजानाप्नोति। वषट्कारेभिर्वषट्कारैर्वषट्कारानाप्नोति। आहुतिभिराहुतीः प्राप्नोति, प्रैषादीनामुभयत्र सत्त्वादिति भावः। सौत्रामणीप्रैषादयः सौमिकप्रयाजादिरूपेण ध्येया इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'यो विद्वान् प्रैषेभिः कर्मभिः प्रैषान् भृत्यान्, आप्रीभिः सर्वतः प्रसादिनीभिः क्रियाभिः आप्रीः प्रीत्युत्पादिकाः परिचारिकाः, यज्ञस्य प्रयाजेभिः प्रयजन्ति यैस्तैरनुयाजान् अनुकूलान् यज्ञपदार्थान्, वषट्कारेभिः कर्मभिः, आहुतिभिर्या आहूयन्ते प्रदीयन्ते ता आप्नोति, स सुखी भवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारस्य निर्मूलत्वात्, प्रैषपदयोः कर्मभृत्यपरत्वे मानाभावात्। आप्रीपदयोरपि क्रियापरिचारिकापरत्वं बलप्रयुक्तमेव। अनुयाजपदस्य अनुकूलपदार्थतापि बलात्कार एव। वषट्कारैश्चाहुतयो दीयन्ते न प्राप्यन्ते। वैदिकप्रसिद्धिविरोधश्च ॥ १९ ॥

पशुभिः पशूनाप्नोति पुरोडाशैर्हवींᳪंष्या ।
छन्दोभिः सामिधेनीर्याज्याभिर्वषट्कारान् ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—यजमान पशुओं से पशुओं को पाता है, पुरोडाशों से पुरोडाशों को और हवियों से हवियों को पाता है। छन्दों से छन्दों को और सामिधेनियों से सामिधेनियों को पाता है। वह याज्यों से याज्यों को और वषट्कारों से वषट्कारों को प्राप्त करता है ॥ २० ॥

अत्रत्यैः पशुभिः सौमिकान् पशूनाप्नोति, पुरोडाशैः पुरोडाशान् हविर्भिर्हवींषि, छन्दोभिश्छन्दांसि, सामिधेनीभिः सामिधेनीः, याज्याभिर्याज्याः, वषट्कारैर्वषट्कारानाप्नोति। अत्रापि पूर्ववद् वाक्यार्धलोपो द्रष्टव्यः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः! यथा गृहस्थः पशुभिः पशून्, पुरोडाशैः पचनक्रियासंस्कृतैर्हवींषि होतुमर्हाणि वस्तूनि, छन्दोभिः प्रज्ञापकैर्गायत्र्यादिभिः सामिधेनीः सम्यगिध्यन्ते याभिस्ताः समिधः, याज्याभिर्यज्ञक्रियाभिर्वषट्कारान् धर्मयुक्तक्रियाकर्तॄन् आप्नोति, तथैतान् यूयमाप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पुरोडाशपदस्य पचनक्रियासंस्कृतार्थताया निर्मूलत्वात्, समिधां प्राप्तौ छन्दसां हेतुत्वानुपपत्तेश्च, यज्ञक्रियाणां यज्ञकर्तृप्राप्तौ हेतुत्वायोगाच्च ॥ २० ॥

धानाः कर॒म्भः सक्त॑वः परीवा॒पः पयो॒ दधि॑ ।
सोम॑स्य रू॒पꣳ ह॒विष॑ आ॒मिक्षा॑ वा॒जिनं॒ मधु॑ ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—भुने हुए धान, खीलें, उदमन्थ, सत्तू, हविष्पक्ति, दूध, दही ये सब सोम के रूप हैं। गरम दूध में दही डालने पर होने वाला गाढा भाग आमिक्षा, शहद और अन्न हवि का रूप हैं, अर्थात् इन सबकी सहायता से सोम की आहुति निष्पन्न होती है ॥ २१ ॥

अत्रत्या धानादयः सोमरूपेण ध्येया इत्यर्थः। धाना भृष्टयवादयः। करम्भः उदकमन्थः, 'करम्भो दधिसक्तवः' (अ० को० २।९।४८) इत्यमरः। सक्तवः प्रसिद्धाः। परीवापः हविष्पक्तिः। पयोदधिनी प्रसिद्धे। एतानि सर्वाणि सोमस्य रूपम्। आमिक्षा पयस्या, मधु मधुरम्, वाजिनं च हविषो रूपम्। उष्णे पयसि दधिक्षेपे परिणामिनः पयसो घनभाग आमिक्षा। शेषजलप्रायभागो वाजिनम्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदर्थो योजनीयः।

दयानन्दस्तु—'परीवापः परितः सर्वतो बीजारोपणं यस्मिन् सः। सोमस्य अभिषोतुमर्हस्य हविषो होतुमर्हस्य आमिक्षा दधिदुग्धमिष्टैर्निर्मिता। वाजः प्रशस्तान्नानि विद्यन्ते येषु तेषामिदं सारवस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अभिषोतुमर्हाणामन्यासां वीरुधां सोमत्वायोगात्। होतुमर्हत्वेन हविष्ट्वम्, हविष्टेन होतुमर्हत्व-मित्यन्योन्याश्रयता। 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इति रीत्या घनीभूतो भाग आमिक्षा, द्रवरूपश्च वाजिनमिति ॥२१॥

धा॒नाना॑ꣳ रू॒पं कुव॑लं परीवा॒पस्य॑ गो॒धूमाः॑ ।
सक्तू॑नाꣳ रू॒पं बद॑रमुप॒वाकाः॑ कर॒म्भस्य॑ ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—इस यज्ञ में कोमल वेर के फल धान की खीलों के रूप हैं, गेहूं हविष्पक्ति के रूप हैं। बदरी फल सत्तुओं के और यव करम्भ के रूप हैं ॥ २२ ॥

ननु पूर्वस्मिन् मन्त्रे धानादीनां सोमरूपत्वमुक्तम्। तेऽत्र कुत्र सन्तीति धानादिसोमहविषां सोमस्य च सम्पत्तिः सौत्रामणीद्रव्येषूच्यते। कुवलं कोमलं बदरीफलं धानानां पूर्वोक्तानां रूपमिति ध्येयम्। गोधूमाः परीवापस्य रूपम्। बदरं सर्वं बदरीफलं सक्तूनां रूपम्। उपवाका यवाः करम्भस्य रूपं ज्ञेयम्।

अध्यात्मपक्षे—उक्ता रीतिराश्रयणीया।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यूयं धानानां कुवलमिव रूपम्, परीवापस्य गोधूमा रूपम्। सक्तूनां बदरीफलवद्रूपम्। करम्भस्य उपवाकाः समीपप्राप्तयवानां रूपम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, समानताज्ञानस्य निष्प्रयोजनत्वात्। समानताप्यनुपपन्नैव, धानाकुवलयोर्वैषम्यात्। परीवापगोधूमयोरपि वैषम्यमेव। सक्तुबदरयोरपि साम्यं न दृश्यते। सिद्धान्ते तु सौत्रामणीगतेषु तत्तत्पदार्थेषु सोमीयतत्तत्पदार्थानां दृष्टिः कर्तव्या, शालग्रामे विष्णुबुद्धिवत्, यूपे आदित्यबुद्धिवच्चेति न कोऽपि दोषः ॥ २२ ॥

पयसो रूपं यद्यवा दध्नो रूपं कर्कन्धूनि।
सोमस्य रूपं वाजिनꣳ सौम्यस्य रूपमामिक्षा ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—यव दूध के और बड़े बदरीफल दही के रूप हैं। अन्न सोम का रूप है और दही मिला गरम दूध सोम में पके हुए चरु का रूप है ॥ २३ ॥

यद् ये यवास्ते पयसो रूपम्, कर्कन्धूनि स्थूलबदरीफलानि दध्नो रूपम्। वाजिनं सोमस्य रूपम्। आमिक्षा पयस्या सौम्यस्य चरो रूपं ज्ञेयम्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, वाजिनमिति सोमस्य रूपमामिक्षेव सौम्यस्य रूपं सम्पादयत। यद्यवास्ते पयसो रूपम्, कर्कन्धूनि दध्नो रूपम्, वाजिनं बह्वन्नसाररूपम्, सौम्यस्य सोमानामोषधिसाराणां भावस्य रूपमामिक्षा' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात् ॥ २३ ॥

आश्रावयेति स्तोत्रियाः प्रत्याश्रावो अनुरूपः।
यजेति धाय्यारूपं प्रगाथा येयजामहाः ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—स्तोता आश्रावय शब्द कहता है, प्रत्याश्राव तीन ऋचा वाले अनुवाक का रूप है, यजन करो यह शब्द धाय्या का रूप है, येयजामहे यह प्रगाथ का रूप है ॥ २४ ॥

शस्त्रसम्पत्तिमाह—'अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति' (बृ० ३।१।९) इत्यानन्त्यगुणेन यथा मनसि विश्वेदेवत्वं कल्प्यते, तथैव प्रकृतेऽपि प्रैषस्तोत्रिययोरभेदो ज्ञेयः। 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३।१८।१), 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३।१९।१) इत्यध्यासरूपा वा दृष्टिः। तथा च मनआदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः। विशिष्टक्रियायोगनिमित्तमप्यभेदव्यवहारो भवति, यथा 'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४।३।१), 'प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४।३।३) इत्यादिकम्। आश्रावयेति, ओश्रावयेति प्रैषशब्दः स्तोत्रियरूपो ज्ञेयः। स्तोत्रे प्रथमस्तृचोऽनुवाकः स्तोत्रियः। प्रत्याश्रावः 'अस्तु श्रौषट्' इति शब्दः। अनुरूप उत्तरतृचरूपः। यजेतिशब्दो धाय्याया रूपम्। अर्थाद् निष्कैवल्यशस्त्रे स्तोत्रियानुरूपयोरनन्तरं धाय्या शस्यते, सा यजेतिशब्दो ज्ञेयः। धाय्यारूपेण यजेतिशब्दो ध्येय इति यावत्। येयजामहाः, येयजामह इति शब्दः, प्रगाथाः प्रगाथरूपेण ध्येयः। सौत्रागता ओश्रावयेत्यादयः प्रैषशब्दाः सोमयागीयस्तोत्रियादिरूपेण ध्येया इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, त्वं विद्यार्थिन आश्रावय विद्योपदेशान् कुरु। ये स्तोत्रियाः स्तोत्राणि अर्हन्ति तान् प्रत्याश्रावः, यः प्रतिश्राव्यते सः, अनुरूपोऽनुकूलः। यजेति धाय्यारूपं या धेयमर्हा तस्या रूपम्। येयजामहाः प्रगाथा ये प्रकर्षेण गीयन्ते ते। भृशं यजन्ति ते' इति, तदपि वैदिकवृत्तान्तानभिज्ञानमूलम्। काल्पनिकोऽप्यर्थोऽसम्बद्ध एव ॥२४॥

अर्धऋचैरुक्थानां रूपं पदैराप्नोति निविदः ।
प्रणवैः शस्त्राणां रूपं पयसा सोम आप्यते ।। २५ ।।

मन्त्रार्थ—आधी ऋचाओं में उक्थों का रूप पाया जाता है, प्रत्येक पद में न्यूंखों का और प्रणव में शस्त्रों का रूप पाया जाता है। इसी तरह दूध में सोम के रस की प्राप्ति होती है ।। २५ ।।

अर्धऋचैः, ऋचामर्धान्यर्धऋचाः, 'अर्धर्चाः पुंसि च' (पा० सू० २।४।३१) इति पुंस्त्वम्, 'ऋत्यकः' (पा० सू० ६।१।१२८) इति प्रकृतिभावत्वाद् गुणाभावः, तैः सौत्रामणीयागगतैरर्धर्चैः, उक्थानां शस्त्रविशेषाणां रूपमाप्यते। पदैर्निविदो न्यूङ्खान् आप्नोति। प्रणवैः शस्त्राणां रूपमाप्यते। पयसा क्षीरेण सोम आप्यते। अर्धर्चादय उक्थरूपेण ध्येया इत्यर्थः। नितरामत्यन्तविषमप्रकारेण ऊङ्खनम् उच्चारणं न्यूङ्खः। गवामयनस्य चतुर्थेऽहनि प्रातरनुवाकं प्रतिपद्यर्धर्चाद्यो न्यूङ्खः, द्वितीयं स्वरमोङ्कारं त्रिमात्रमुदात्तमुच्चार्य त्रिस्तस्योपरिष्टादपरिमितान् पञ्च वार्द्धौकाराननुदात्तानुत्तमस्य तु त्रीन् पूर्वमक्षरं निहन्यते, 'न्यूङ्खयमाने' (आश्व० श्रौ० ७।११।१-५) इति स्मरणात्। एतदर्थस्तु—चतुर्थेऽहनि प्राप्ते सति प्रातरनुवाकस्य येयमृक् प्रथमास्ति, तस्या यौ द्वावर्धर्चौ तयोर्यावादी तयोराद्ययोर्न्यूङ्खः कर्तव्यः। तद्यथा—

आपो रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृतामृतं च ।
रायश्च स्थ स्वपत्यस्य पत्नीः सरस्वती तद् गृणते वयो धात् ॥' (ऋ० सं० १०।३०।१२)

इति प्रातरनुवाकस्य प्रतिपत्। तस्याः पूर्वार्धस्यादौ योऽयं द्वितीयः स्वर ओकारः षकारादूर्ध्वभावी, तं त्रिमात्रोपेतमुदात्तस्वरयुक्तं त्रिवारमुच्चारयेत्। त एते त्रय ओङ्काराः सम्पद्यन्ते। तत्रैकैकस्य ओकारस्योपरि पुनरप्योकारा अर्धस्वरूपा ह्रस्वमात्रा अपरिमिता उच्चारणीयाः। ते चार्धौकाराः सर्वेऽप्यनुदात्ताः। उतमस्य तु त्रिमात्रस्य ओकारस्योपरि पुनरप्योकारा अर्धस्वरूपा ह्रस्वमात्रा अपरिमिताः पञ्च वोच्चारणीयाः। एवमुदात्तास्त्रिमात्रास्त्रय ओकाराः, अर्धौकारास्त्रयोदश, इत्येवमोकाराः षोडश सम्पद्यन्ते। प्रथमद्वितीययोस्त्रिमात्रयोर्मध्ये पञ्चानुदात्ता अर्धौकाराः, एवं द्वितीयतृतीययोरपि त्रिमात्रयोर्मध्ये पञ्चानुदात्ता अर्धौकाराः, तृतीयस्य त्रिमात्रस्य उपरिष्टाद् अनुदात्ता अर्धौकारास्त्रयः। सोऽयमुच्चारणविशेषो न्यूङ्ख उच्यते। तद्यथा—'आ पो ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ रेवतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च। रायो ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ स्थ स्वपत्यस्य पत्नीः सरस्वती तद् गृणते वयोधो ३ मापो ३ (आश्व० श्रौ० ७।११।७)। 'यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु' (पा० सू० १।२।३४) इति स्थले 'न्यूङ्खा ओकाराः षोडश तेषु केचिदुदात्ताः केचिदनुदात्ताः' इति काशिका। 'षोडशेति पाठः, ओकारा इति च, न त्वेते मकारान्ताः, तेषु प्रथम-सप्तम-त्रयोदशास्त्रय उदात्तास्त्रिमात्राः, इतरे त्रयोदशानुदात्ता अर्धौकाराः। एतच्च आश्वलायनेन चतुर्थेऽहनीत्यस्मिन् खण्डे लक्षणेनोक्तमुदाहृतं च' इति पदमञ्जर्यां हरदत्तः। 'न्यूङ्खयन्ते शब्दविशेषं कुर्वन्ति' इति ऋग्वेदसंहिताभाष्ये (१०।९४।३) सायणः। 'न्यूङ्खो नाम सोमयागे प्रातरनुवाकसंज्ञकं शस्त्रम्, होत्रा शंसनोयत्वेन विहितम्' इति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'यो विद्वान् अर्ध-ऋचैरुक्थानां स्तोत्रविशेषाणां रूपम्,' पदैर्विभक्त्यन्तैः पदैः प्रणवैः शस्त्राणां शंसन्ति यैस्तेषां रूपं निविद् ये निश्चयेन विदन्ति तान् आप्नोति, येन विदुषा पयसा सोम आप्यते स वेदवित् कथ्यते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वाच्छन्द्यमूलकत्वात्। अन्यथा कथमर्धर्चैरुक्थानां रूपं विज्ञायते?

तादृशोक्थानां खपुष्पायमाणत्वात्, शस्त्राणामेव किं सर्वेषां स्तोत्राणामपि पदैर्निष्पन्नत्वात्। 'अकारो वै सर्वा वाक्' (ऐ० आ० २।३।६) इत्यादिश्रुत्या सर्वस्यैव वाङ्मयस्य अकारमूलकत्वेन शस्त्राणामेव पदप्रणवमूलकत्वोक्तेरभिप्रायो वर्णनीय आसीत् ॥ २५ ॥

अ॒श्विभ्यां॑ प्रातःसव॒नमिन्द्रे॑णै॒न्द्रं माध्य॑न्दिनम् ।
वै॒श्वदे॒वꣳ सर॑स्वत्या तृ॒तीय॑मा॒प्तꣳ सव॑नम् ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—अश्विनीकुमारों के द्वारा प्रातःसवन की, इन्द्र के द्वारा इन्द्र देवता वाले माध्यन्दिन सवन की और सरस्वती के द्वारा विश्वेदेव देवता वाले तृतीय सायंसवन की प्राप्ति होती है, अर्थात् तीनों कालों में इन देवताओं की आराधना करनी चाहिये ॥ २६ ॥

सवनसम्पत्तिमाह—अश्विभ्यां नासत्याभ्यां देवाभ्यामत्रत्याभ्यां प्रातःसवनमाप्तम्। इन्द्रेण देवेन ऐन्द्रमिन्द्रदेवत्यं माध्यन्दिनं सवनमाप्तं प्राप्तम्। सरस्वत्या वाग्देवतया कृत्वा वैश्वदेवं विश्वेदेवदेवत्यं तृतीयं सायंसवनं प्राप्तम्।

अध्यात्मपक्षे—तादृशप्रातःसवनादिकं बुद्धिशुद्ध्यादिद्वारा परमात्मावगमहेतुः। अश्वीन्द्रसरस्वत्यो देवताः परमात्मविकारत्वात् परमात्मरूपाः, तत्प्रधानं प्रातरादिसवनमपि परमात्माराधनमेव।

दयानन्दस्तु—'यैरश्विभ्यां प्रथमं प्रातःसवनम्, इन्द्रेण ऐन्द्रं द्वितीयं माध्यन्दिनं सवनम्, सरस्वत्या वैश्वदेवं तृतीयं सवनमाप्तम्, ते जगदुपकारकाः सन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रातरादियज्ञक्रियासामान्यस्य सवनत्वाप्रसिद्धेः, क्रियाविशेषस्य चानिरुक्तेः। न च सूर्यशशिभ्यां प्रातःसवनस्य निष्पत्तिः, न वा विद्युता माध्यन्दिनसवनस्य सम्बन्धः, न वारोग्यकरं कर्म सवनं भवति, तथात्वे साम्प्रतिकचिकित्सकादिचिकित्सासामान्यस्यापि सवनत्वापातात् ॥ २६ ॥

वा॒य॒व्यै᳕र्वा॑य॒व्या᳕न्याप्नोति॒ सते॑न द्रोणकल॒शम् ।
कु॒म्भीभ्या॑मम्भृ॒णौ सु॒ते स्था॒लीभिः॑ स्था॒लीरा॑प्नोति ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ—वायव्य सोम पात्रों से वायव्य पात्रों की प्राप्ति होती है। वेत के पात्र से द्रोणकलश की प्राप्ति होती है। सौ छिद्र वाली झारी और दक्षिणाग्नि पर स्थापित होने वाले सुराधानी पात्र से पूतभृत् और आधवनीय को सोमाभिषव होने पर पाता है। स्थालियों के द्वारा स्थालियों की प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

वायव्यानि सोमपात्राणि। सर्वेषामेव सोमपात्राणां वायव्यानीति संज्ञा। वायव्यैरत्रत्यैर्वायुदेवताकैर्ग्रहैराप्नोति। सतेन वैतसेन पात्रेण; 'वैतसः सतो भवति। अप्सुयोनिर्वै वेतस आपो वै सर्वा देवताः सर्वाभिरेवैनमेतद्देवताभिरभिषिञ्चति' (श० १२।८।३।१५) इति श्रुतेः। द्रोणकलशं सौमिकमाप्नोति। कुम्भीभ्यां सुराधानीभ्यां शतच्छिद्राभ्यामम्भृणौ पूतभृदाधवनीयौ सुतेऽभिषुते सोमे यौ भवतस्तौ प्राप्नोति। स्थालीभ्यामत्रत्याभ्यां सौमिकीः स्थालीराप्नोति, स्थालीनामुभयत्र सत्त्वात्।

अध्यात्मपक्षे—उक्तैव रीतिः ।

दयानन्दस्तु—'यो विद्वान् वायव्यैर्वायुदेवताकैर्वायुषु भवैर्वा वायव्यानि कर्माणि प्राप्नोति, सतेन विभक्तेन कर्मणा द्रोणकलशं च द्रोणपरिमाणं कलशं चाप्नोति । कुम्भीभ्यां धान्यजलाधाराभ्याम् अम्भृणौ अपो बिभर्ति याभ्यां तौ सते निष्पादिते स्थालीभिः स्थालीः प्राप्नोति, स आढ्यो भवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रकृतहानाप्रकृतप्रसङ्गापातात् । कार्यकारणभावसिद्धावन्यथासिद्धिविरहोऽपेक्षितः । अत्र तदभाव इति भावः ।।२७।।

यजुर्भिराप्यन्ते ग्रहा ग्रहैः स्तोमाश्च विष्टुतीः ।
छन्दोभिरुक्थाशस्त्राणि साम्नाऽवभृथ आप्यते ।। २८ ।।

मन्त्रार्थ—यजुर्मन्त्रों के द्वारा ग्रह की प्राप्ति होती है, ग्रहों से स्तोम और अनेकों प्रकार की स्तुतियाँ सम्पन्न होती हैं । छन्दों से उक्थ और कथन करने योग्य स्तुतियाँ सम्पन्न होती हैं । साम से अवभृथ प्राप्त होता है ।। २८ ।।

यजुर्भिर्यजंष्याप्यन्ते । ग्रहा ग्रहैराप्यन्ते । स्तोमैः स्तोमा आप्यन्ते । विष्टुतिभिर्विविधाभिः स्तुतिभिर्विष्टुतीर्विष्टुतयः प्राप्यन्ते । छन्दोभिर्गायत्र्यादिभिरुक्था उक्थानि शस्त्राणि च प्राप्यन्ते । साम्ना साम आप्यते । अवभृथेन अवभृथ आप्यते । अत्रत्येषु यजुरादिषु सौमिकानि यजुरादीनि चिन्त्यानीत्यर्थः, उभयत्र तेषां सत्त्वात् ।

अध्यात्मपक्षे—प्रदर्शितपूर्वः पन्थाः ।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, यूयं यजुर्भिर्ग्रहा ग्रहैः स्तोमा विष्टुतीश्च छन्दोभिरुक्था शस्त्राणि च प्राप्यन्ते । साम्नावभृथ आप्यते । तेषामुपयोगो यथावत् कर्तव्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वैदिककर्मानभिज्ञत्वात्, उक्तानां परस्परं हेतुहेतुमद्भावासिद्धेः, कीदृशश्च तेषामुपयोग इत्यनुक्तेश्च ।। २८ ।।

इडाभिर्भक्षानाप्नोति सूक्तवाकेनाशिषः ।
शंयुना पत्नीसंयाजान् समिष्टयजुषा सᳬंस्थाम् ।। २९ ।।

मन्त्रार्थ—यजमान अन्न से भक्ष्य पदार्थों को पाता है । सूक्तवाक से आशीर्वाद पाता है, शंयु होम से शंयु को और पत्नीसंयाज से पत्नीसंयाज को पाता है । यजुःसमूह से उसे संस्था की प्राप्ति होती है ।। २९ ।।

इडाभिरिडामाप्नोति । भक्षैर्भक्षानाप्नोति । सूक्तवाकेन सूक्तवाकमाप्नोति । आशीर्भिराशिष आप्नोति । शंयुना होमविशेषेण शंयुमाप्नोति । पत्नीसंयाजैः पत्नीसंयाजानाप्नोति । समिष्टयजुषा समिष्टयजुराप्नोति । संस्थया संस्थामाप्नोति । इडादीनामुभयत्र सत्त्वात् । सौत्रामण्या इडादिषु सौमिकेडादिदृष्टयः कर्तव्याः । वाक्योत्तरार्धलोपो ज्ञातव्यः ।

अध्यात्मपक्षे—प्रदर्शिता रीतिः ।

दयानन्दस्तु—'इडाभिः पृथिवीभिर्भक्षयितुमर्हानन्नादीन्, सूक्तवाकेन सुष्ठूच्यते यत् तत् सूक्तवाकम्, तेन आशिष इच्छाः, शंयुना सुखमयेन पत्नीसंयाजान् ये पत्न्या सह समिज्यन्ते तान्, समिष्टयजुषा समीचीनेनसाधकैर्याजुषैः कर्मभिः संस्थां सुष्ठु स्थानं प्राप्नोति, स सुखी कथं न स्यात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अस्पष्टार्थत्वात्, कार्यकारणासिद्धेश्च । इदं व्याख्यानमेव सूचयति यदस्य इडादिपदार्थानवबोधः ।। २९ ।।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—हुतशेषभक्षण रूप चार रात्रि के व्रत से यजमान दीक्षा को पाता है। दीक्षा से दक्षिणा को और दक्षिणा से आस्तिक्य बुद्धि को पाता है। आस्तिक्य बुद्धि रूप श्रद्धा के द्वारा यजमान सत्यस्वरूप परमात्मा को पाता है ॥ ३० ॥

'हुतोच्छिष्टभक्षः, चतूरात्रम्,' अग्निहोत्रं जुहोति' (का० श्रौ० १९।१।१३-१५)। हुतोच्छिष्टभक्षो यजमानः, स्यादिति शेषः। तथा च प्रतिदिनं सायं प्रातश्चाग्निहोत्रं हुत्वा स्थालीस्थस्य हुतशेषस्य हविषो भक्षणार्थं स्थापनं कुर्यात्। चतुर्दिनसाध्योऽयं क्रतुरिति। प्रतिषेधाभावात् पुनर्विधानसामर्थ्यात् स्वयमेवाग्निहोत्रं जुहुयादिति नियमः। एवं सूत्राणामर्थः। व्रतेन हुतोच्छिष्टभक्षश्चतूरात्रमग्निहोत्रं जुहोतीति प्रतिपादितव्रतेन दीक्षामाप्नोति। दीक्षया दक्षिणामाप्नोति। दक्षिणा दक्षिणया, विभक्तिलोपो व्यत्ययेन वा प्रथमा, 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' (पा० सू० ७।१।३९) इति। श्रद्धां श्रत् सत्यं धीयतेऽस्यां सा श्रद्धा, ताम् आस्तिक्यबुद्धिम्। पुण्यकृतां मनोवृत्तिविशेषम्, 'श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' (बृ० उ० १।५।३) इति श्रुतेः। श्रद्धया सत्यं ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१) इति श्रुतेः, आप्यते प्राप्यते, श्रद्धां विना साङ्गश्रवणाद्यभावेन तत्त्वज्ञानानुत्पत्तेः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वप्रदर्शित एव पन्थाः।

दयानन्दस्तु—'यो बालको मनुष्यो वा व्रतेन सत्यभाषणादिनियमेन दीक्षां ब्रह्मचर्यविद्यादिसुशिक्षाम्, दीक्षया दक्षिणां प्रतिष्ठां श्रियं वा प्राप्नोति, तया श्रद्धां श्रत् सत्यं दधाति यया इच्छया तामाप्नोति, श्रद्धया सत्यं सत्सु नित्येषु पदार्थेषु व्यवहारेषु वा साधुस्तं परमेश्वरं धर्मं वा आप्यते प्राप्यते' इति, तदप्यसङ्गतम्, व्रत-दीक्षा-दक्षिणादिशब्दानां तथार्थत्वे मानाभावात्। न वा श्रिया प्रतिष्ठया वा सत्यधारणप्रीतिरुपलभ्यते, विपरीतस्यैव सुवचत्वात्। तं परमेश्वरं धर्मं वा आप्यत इत्यस्य साधुत्वमपि चिन्त्यम् ॥ ३० ॥

एतावद् रूपं यज्ञस्य यद् देवैर्ब्रह्मणा कृतम् ।
तदेतत् सर्वमाप्नोति यज्ञे सौत्रामणीसुते ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं ने और प्रजापति ब्रह्मा ने जिस यज्ञ का अनुष्ठान किया है, उसका इतना ही रूप है। सौत्रामणी यज्ञ में सुरा-सोम का अभिषवण होने पर यह याग पूर्णता को प्राप्त करता है ॥ ३१ ॥

यज्ञस्य सोमयज्ञस्य एतावदेतत्परिमाणं रूपं देवैर्ब्रह्मणा प्रजापतिना च यद्रूपं कृतं दृष्टम्, सुप्तप्रतिबुद्धन्यायेन प्राक्कल्पीयस्य विद्यमानस्यैव दर्शनम्। बुद्धिपूर्वकमविद्यमानस्य निर्माणं करणम्। सौत्रामणी सौत्रामण्याम्, सप्तम्येकवचनस्य पूर्वसवर्णदीर्घः, यज्ञे सौत्रामण्याख्ये सुते सुरासोमेऽभिषुते सति तदेतत् सोमयागरूपं सर्वमाप्नोति।

अध्यात्मपक्षे—सर्वमेतद् यज्ञस्य विष्णो रूपं यन्मन्त्रेषु प्रतिपादितम्, 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'यो मनुष्यो यद्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्मणा परमेश्वरेण वेदचतुष्टयेन वा यज्ञस्यैतावद्रूपं कृतं निष्पादितं प्रकाशितं वा तत्परोक्षमेतत् प्रत्यक्षम्। सर्वं सौत्रामणीसूत्राणि यज्ञोपवीतादीनि मणिना ग्रन्थिना युक्तानि ध्रियन्ते यस्मिन् तस्मिन् सुते सम्पादिते यज्ञे आप्नोति, स द्विजत्वारम्भं करोति' इति, तदेतदज्ञानविजृम्भितम्, श्रुतिसूत्रप्रसिद्धस्य सौत्रामण्याख्ययागरूपार्थस्य परित्यागेन क्लिष्टकल्पनया यज्ञोपवीतादिग्रन्थियुक्तधारणं यज्ञ इत्यर्थस्य खपुष्पायमाणस्य कल्पनानुपपत्तेः, कोऽयं तादृशो यज्ञो यस्मिन् यज्ञस्य एतत्परिमाणं रूपं प्रत्यक्षमित्यनुक्तेः। प्रत्युत यज्ञस्य एतावद्रूपमित्युक्त्या पूर्वोक्तमन्त्रेषु यज्ञस्य रूपमेव वर्णितम्। यत् त्वया कथञ्चिदन्यत्र नयनाय बलात्कारः कृतः। प्रसिद्धाश्च वैदिकेषु श्रुतिसूत्रादिषु पत्नीसंयाजेष्टयजुःसंस्थादयः पदार्थाः। सर्वमेतद्यज्ञस्य रूपम्। 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुत्यनुसारेण अध्यात्मं सर्वं वैष्णवमेव रूपम् ॥ ३१ ॥

सुरा॑वन्तं बर्हि॒षद॑ꣳ सु॒वीरं॑ य॒ज्ञꣳ हि॑न्वन्ति महि॒षा नमो॑भिः।
दधा॑नाः॒ सोमं॑ दि॒वि दे॒वता॑सु॒ मदे॒मेन्द्रं॒ यज॑मानाः॒ स्व॒र्काः ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं को नमन करते हुए, अन्न के द्वारा स्वर्ग में स्थित देवताओं को आहुति देते हुए, सोमाभिषव करते हुए, महान् ऋत्विक्गण कुशा के आसन पर बैठे हुए देवताओं के निमित्त सौत्रामणी याग का अनुष्ठान करते हैं। इस यज्ञ में शुभ मन्त्र वाले इन्द्र का यजन करते हुए हम हर्ष को प्राप्त हों ॥ ३२ ॥

सुरावन्तमिति जुहोति' (का० श्रौ० १९।३।१२)। अध्वर्युस्त्रीनपि पयोग्रहान् सहैव जुहोतीत्यर्थः। एवं सौत्रामण्याः सोमसम्पत्तिमापाद्य प्रकृतमनुसरति—सुरावन्तमिति। चतस्रस्त्रिष्टुभोऽश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याः। कण्डिकार्थस्तु—महिषा महान्त ऋत्विजः। यद्यपि महिषशब्दो निघण्टौ (३।३।८) महन्नामसु पठितः, तथाप्यत्र ऋत्विग्वाचकः, 'महिषा नमोभिरित्यृत्विजो वै महिषाः' (श० १२।८।१।२) इति श्रुतेः। यज्ञं सौत्रामणीसंज्ञं हिन्वन्ति वर्धयन्ति प्रापयन्ति वा। किंभूतं यज्ञम्? बर्हिषदं बर्हिषि सीदन्ति देवा यत्र स बर्हिषत्, तम्। पुनः कथंभूतम्? सुरावन्तम्, सुरा विधिपूर्वकं निर्मिता विद्यते यत्र स सुरावान् तम्, 'सुरावान् वा एष बर्हिषद्यज्ञो यत्सौत्रामणी' (श० १२।८।१।२) इति श्रुतेः। पुनः कीदृशम्? सुवीरम्, सुष्ठु शोभना वीरा ऋत्विजो यत्र तम्। कीदृशा महिषाः? नमोभिरन्नैर्नमस्कारैर्वा सह दिवि स्वर्गे वर्तमानासु देवतासु सोमं दधाना धारयन्तः। तत्र यज्ञे इन्द्रं यजमाना यजन्तः सन्तो वयं मदेम हृष्येम। किंभूता वयम्? स्वर्काः शोभनोऽर्कोऽर्चनं मन्त्रा वा येषां ते स्वर्काः। यद्वा शोभनोऽर्कोऽन्नं येषां ते स्वर्काः, 'अर्को वै देवानामन्नमन्नं यज्ञो यज्ञेनैवैनमन्नाद्येन समर्धयति' (श० १२।८।१।२) इति श्रुतेः, 'अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति, अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति, अर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतानि, अर्को वृक्षो भवति संवृतः कटुकिम्ना' (नि० ५।४) इति तत्रभवतो यास्कस्योक्तेश्च।

अत्र ब्राह्मणम्—'स जुहोति। सुरावन्तं बर्हिषदꣳ सुवीरमिति सुरावान् वा एष बर्हिषद्यज्ञो यत्सौत्रामणी बर्हिषैवैनं यज्ञेन समर्द्धयति यज्ञꣳ हिन्वन्ति महिषा नमोभिरिति ऋत्विजो वै महिषा यज्ञो नम ऋत्विग्भिरेव यज्ञꣳ समर्द्धयति यज्ञेन यजमानं दधानाः सोममिति सोमपीथमेवास्मिन् दधति दिवि देवतास्विति दिव्येवैनं देवतासु दधति मदेमेन्द्रमिति मदाय वाव सोमो मदाय सुरोभावेन सोममदं च सुरामदं चावरुन्धे यजमानाः स्वर्का इत्यर्का वै देवानामन्नमन्नं यज्ञो यज्ञेनैवैनमन्नाद्येन समर्द्धयति हुत्वा भक्षयन्ति समृद्धमेवास्य तद्भक्षयन्ति' (श० १२।८।१।२)। स जुहोतीति होमं विधाय मन्त्रे व्याचष्टे—सुरावन्तमिति।

अध्यात्मपक्षे—बर्हिषदं यज्ञं यज्ञरूपधरं विष्णुं महिषा महान्तो वशिष्ठादयो हिन्वन्ति वर्धयन्ति वर्धापनं मङ्गलाशासनं कुर्वन्ति। कीदृशं विष्णुम्? सुरावन्तम्। ये सुष्ठु रमन्ते ते सुराः, तद्वन्तम्। छान्दसो दीर्घः। अथवा सुष्ठु रमते भगवान् यासु ताः सुरा भगवच्छक्तयः, तद्वन्तम्। पुनः कीदृशम्? सुवीरम्। सुष्ठु शोभना वीरा ऋत्विजो हनुमदादयो वा यस्य तं सुवीरम्। कथम्भूता महिषाः? नमोभिरन्नैर्नमस्कारैर्वा सह दिवि स्वप्रकाशे धाम्नि स्वरूपे वर्तमानासु वर्तमानायाम्, पूजायां बहुवचनम्, देवतासु परदेवतायां विष्णौ सोमं समर्पणीयं सोमादिहविः सोमात्मकं मनो वा दधानाः, तैः सार्धं वयमिन्द्रं परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम्, यजमानाः श्रद्धयाऽर्चयन्तो मदेम हृष्येम। कीदृशा वयम्? स्वर्काः शोभनोऽर्चनीयः परमात्मा देवो येषां ते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये महिषा महान्तः स्वर्काः शोभनादिपदार्था यजमाना विद्वांसो नमोभिरन्नैः सुरावन्तं सुराः प्रशस्ताः सोमा यस्मिंस्तं बर्हिषदं बर्हिषि आकाशे सीदति यस्तम्। सुवीरं शोभना वीराः शरीरात्मबलयुक्ता यस्मात्तम्, यज्ञं हिन्वन्ति वर्धयन्ति, ते दिवि शुद्धे व्यवहारे देवतासु विद्वत्सु सोममैश्वर्यं दधाना धरन्तः सन्तो वयं च मदेम हर्षेम' इति, तदपि मन्दम्, त्वद्रीत्या यज्ञस्य वायुशुद्धिहेतुत्वेन वीरप्राप्तिहेतुत्वानुपपत्तेः। न च यज्ञोऽन्तरिक्षे तिष्ठति, तस्यैहैव समाप्तत्वात्। न चादृष्टरूपेण तदवस्थितिः, त्वया तदनङ्गीकारात्। सुरापदस्य प्रशस्तसोमार्थतापि चिन्त्या, तथैव सोमपदस्य ऐश्वर्यार्थतापि॥ ३२॥

यस्ते॒ रसः॒ सम्भृ॑त॒ ओष॑धीषु॒ सोम॑स्य॒ शुष्मः॒ सुर॑या सु॒तस्य॑।
तेन॑ जिन्व॒ यज॑मानं॒ मदे॑न॒ सर॑स्वतीम॒श्विना॒विन्द्र॑म॒ग्निम्॥ ३३॥

मन्त्रार्थ—हे सुरारस! ओषधियों में जो तुम्हारा रस इकट्ठा हुआ है, वह सुरा के साथ अभिषुत सोम का बल है। उस आनन्दप्रद रस से यजमान, सरस्वती, दोनों अश्विनीकुमार और अग्नि को तुम तृप्त करो॥ ३३॥

'पालाशैः सौरान्न मृन्मयमाहुतिमानश इति श्रुतेर्यस्त इति' (का० श्रौ० १९।३।१३)। प्रतिप्रस्थाता दक्षिणेऽग्नौ सुराग्रहं पालाशैरुलूखलैर्जुहुयाद् यस्त इति मन्त्रेण न मृन्मयीभिः स्थालीभिः। कुतः? 'नहि मृन्मयमाहुतिमानशे' (तै० सं० २।५।४।६) इति श्रुतौ मृन्मयपात्रेण होमनिषेधादिति सूत्रार्थः। मृन्मयं पात्रमाहुतिं न व्याप्नोतीति श्रुत्यर्थः। हे सुरे, यस्ते तव ओषधीषु वर्तमानो रसः सम्भृत एकीकृतः 'अपां च वा एष ओषधीनां च रसो यत्सुरा' (श० १२।८।१।४) इति श्रुतेः। सुरया सह सुतस्य सोमस्य च यः शुष्मो यद् बलम्, मदेन मदयति हर्षयति ग्लेपयति वेति मदः, तेन मदजनकेन तेन सुरारसेन सोमबलेन च यजमानं सरस्वतीमश्विना-विन्द्रमग्निं च जिन्व प्रीणीहि।

अत्र ब्राह्मणम्—'स जुहोति। यस्ते रसः सम्भृत ओषधीष्वित्यपां च वा एष ओषधीनां च रसो यत्सुरापां चैवैनमेतदोषधीनां च रसेन समर्धयति सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्येति य एव सोमे शुष्मो यः सुरायां तमेवावरुन्धे तेन जिन्व यजमानं मदेनेति तेन प्रीणीहि यजमानं मदेनेत्येवैतदाह सरस्वतीमश्विना-विन्द्रमग्निमिति देवताभिरेव यज्ञꣳ समर्धयति देवताभिर्यज्ञेन यजमानꣳ हुत्वा भक्षयन्ति व्यृद्धमेवास्य तत्समर्धयन्ति' (श० १२।८।१।४)। स जुहोति यस्ते रस इति। ते तव सोमस्य सोमात्मिकायाः सुरायाः सुतस्य त्वदात्मना सुतस्य शुष्मो बलवान् रसः सम्भृत ओषधीषु, तेन रसेन त्वमुदकाकारेण तर्पय सरस्वत्यादीन्, तद्द्वारेण यजमानमपि प्रीणीहि। सोमाधारमित्येवं मन्त्रार्थमादरीकृत्य यजमानमेव ओषधीनां च रसेन समर्ध-यतीत्याद्याह। देवताभिरेवाश्व्यादिभिर्यज्ञं समर्धयति। देवताभिर्यज्ञेन च यजमानम्, तदर्थत्वाद् यज्ञस्य। हुत्वा

सुरां भक्षयन्ति यजमानसप्तमा ऋत्विज एवेति यत् तत्तेन व्यृद्धेनैव लोकदृष्ट्या अस्य यजमानस्य समर्धयति। सोमं राजानमिह भक्षयामीत्यनयोपासनयेत्यभिप्राय इति श्रीमदाचार्यहरिस्वामी।

अध्यात्मपक्षे—हे ब्रह्मन्, यस्ते तव स्वरूपभूतो रस ओषधीषु वर्तमानः सम्भृतः, 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा। पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥' (भ०गी० १५।१३) इति हि भगवद्वचनम्। सुरया सह सुतस्य सोमस्य च यः शुष्मो बलं तेन मदेन मदजनकेन सुरावन्मादकेन सोमवद्बलकरेण च रसेन सरस्वतीं वाचमश्विनौ प्राणापानौ इन्द्रं जीवमग्निमीश्वरं च जिन्व प्रीणयसि।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्ते रस आनन्द ओषधीषु वर्तमानः सुतस्य सिद्धस्य सोमस्य सुरया उत्तमदानशीलया स्त्रिया सम्भृतः सम्यग्धारितः, शुष्मो बलकरो रसः, तेन मदेन आनन्ददायकेन यजमानं सर्वसुखदायकं सरस्वतीं विद्यायुक्तां स्त्रियम् अश्विनौ विद्याव्याप्तौ अध्यापकोपदेशकौ इन्द्रमैश्वर्ययुक्तं सभापतिम् अग्निं सेनापतिं जिन्व प्रसन्नं कुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विदुषो रसस्य आनन्दस्य ओषधीषु वर्तमानत्वासिद्धेः। आनन्दस्त्वद्रीत्या आत्मधर्म इति स नौषधीषु स्थातुमर्हति। नहि रसस्य दानशीलया स्त्रिया पुरुषेण वा धारणे वैशेष्यं सिद्ध्यति। किञ्च, किमर्थं विदुषा एकस्या विदुष्यास्तर्पणं क्रियते? द्वयोरध्यापकोपदेशकयोरेव वा प्रसादनमित्यनुक्तेः॥ ३३॥

यमश्विना नमुचेरासुरादधि सरस्वत्यसुनोदिन्द्रियाय।
इमं तꣳ शुक्रं मधुमन्तमिन्दुꣳ सोमꣳ राजानमिह भक्षयामि॥ ३४॥

मन्त्रार्थ—दोनों अश्विनीकुमारों ने असुर के पुत्र नमुचि के पास से जिस सोम का आहरण किया, सरस्वती ने जिसको इन्द्र के बलवीर्य या भैषज्य के लिये संस्कृत किया, उस स्वच्छ, मधुररसयुक्त, परम ऐश्वर्यवान्, सरस्वती से संस्कृत राजा सोम का मैं इस यज्ञ में भक्षण करता हूँ॥ ३४॥

'अध्वर्युः प्रतिप्रस्थाताग्नीध्रमश्विनेत्याश्विनं भक्षयन्ति द्विर्द्विरावर्तम्' (का० श्रौ० १९।३।१४)। अध्वर्युः, प्रतिप्रस्थाता, अग्नीत्—एते त्रय आश्विनं पयोग्रहं हस्ते गृहीत्वा यमश्विनेति मन्त्रेण एकवारं भक्षयित्वा पुनरनेनैव क्रमेण द्वितीयवारं भक्षयेयुः, मन्त्रस्य सकृदेव प्रयोग इति सूत्रार्थः। 'होतृ-ब्रह्म-मैत्रावरुणाः सारस्वतमाश्विनवत्' (का० श्रौ० १९।३।१५)। होत्रादयः सारस्वतं पयोग्रहमाश्विनग्रहवदिति यमश्विनेति मन्त्रेण क्रमेण भक्षयित्वा पुनस्तेनैव क्रमेण भक्षयेयुः, सकृदेव मन्त्रप्रयोग इति सूत्रार्थः। 'ऐन्द्रं यजमानः' (का० श्रौ० १९।३।१७)। ऐन्द्रं पयोग्रहं यजमान एव भक्षयेदिति सूत्रार्थः। नमुचिरसुरः, इन्द्रस्य इन्द्रियं वीर्यमपिबत्। इन्द्रेण तस्य शिरसि च्छिन्ने लोहितमिश्रः सोम उदतिष्ठत्। तदुत्पूय देवा अपिबन्त। तदभिवादिनी एषा ऋक्—यमिति। आसुरात्, असुरस्यापत्यं पुमानासुरः, तस्मात्। नमुचेरेतन्नामकात्। अधि सकाशाद् अश्विना अश्विनौ यं सोममाहरतामिति शेषः, 'अश्विनौ ह्येतं नमुचेरध्याहरताम्' (श० १२।८।१।३) इति श्रुतेः। अश्विभ्यामाहृतं यं सोमं सरस्वती असुनोत्। एतत्सर्वं किमर्थमिति चेत्? इन्द्रियाय वीर्याय, इन्द्रभैषज्याय वा। तमश्विभ्यामाहृतं सरस्वत्यभिषुतमिमं राजानं सोममिह यज्ञेऽहं भक्षयामि। कीदृशं सोमम्? शुक्रं शुद्धं लोहितासंसृष्टं मधुमन्तं मधुररसोपेतमिन्दुं परमैश्वर्यप्रदम्।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवन्, यं त्वदीयस्वरूपभूतं रसं तत्त्वज्ञानं विना न मुञ्चतीति नमुचिर्मोहोऽज्ञानम्, तस्माद् आसुरात् सु सुष्ठु शोभनं परं ब्रह्म तत्र ये रमन्ते ते सुराः। न सुरा असुराः, अनात्मरता

इति यावत्, तेषु भवतीत्यासुरस्तस्मात्, नमुचेः सकाशाद् अश्विनौ गुरुशिष्यौ प्रश्नोत्तररूपेण वादेनाध्याहरताम्। यं च अश्विभ्यामाहृतं सरस्वती ब्रह्मविद्यालक्षणा असुनोत्, इममपरोक्षं प्रत्यक्चैतन्याभिन्नं परमात्मरूपं रसं शुक्रं शुक्लमविद्यातज्जनितोपाधिरहितम्, मधुमन्तं परप्रेमास्पदमिन्दुं चन्द्रवदाह्लादकं सोमं साम्बसदाशिवरूपं राजानं राजमानं स्वप्रकाशमिह देहे स्थितः साधकरूपेणाहं भक्षयामि सर्वोपाध्यध्यासापोहेन शुद्धः स्वात्मतयाऽनुभवामि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, इहेन्द्रियाक्ष नमुचेर्यो जलं न मुञ्चति स नमुचिः, तस्मात्। आसुराद् असुरस्य मेघस्यायमासुरस्तस्मात्। अश्वि शुक्रं मधुमन्तमिन्दुं राजानं सोमं पुरुषार्थप्रेरकं सरस्वती असुनोत्, अश्विनौ सभामेनेशौ सुनुताम्, तमिमं भक्षयामि' इति, तदपि न क्षोदक्षमम्, ओषधिरसस्य विदुषी नार्येव सम्पादयित्रीति हेतुविशेषानुपपत्तेः। तत्र सभापतेः सेनापतेश्च क उपयोगः? कोऽसौ भक्षयिता यदर्थं समासेन ईशाभ्यां सोमरस आह्रियते? उद्धृतश्रुतिविरोधश्च। श्रुतिस्तु आसुरान्नमुचेः सकाशादश्विनावध्याहरतामित्याह॥ ३४॥

यदत्र॑ रि॒प्तᳪ र॒सिनः॑ सु॒तस्य॒ यदिन्द्रो॒ अपि॑बच्छची॑भिः।
अ॒हं तद॑स्य॒ मन॑सा शि॒वेन॒ सोम॒ᳪ राजा॑नमि॒ह भ॑क्षयामि॥ ३५॥

मन्त्रार्थ—रसवान् तथा भली प्रकार से संस्कृत सोम का जो भाग इस रस में मिला हुआ है, जिसको कर्मों के द्वारा शुद्ध करके इन्द्र ने पिया है, उस दीप्तिमान् सुरा रस से निकले हुए सोम को शुद्ध मन से मैं इस यज्ञ में पीता हूँ॥ ३५॥

'स भक्षयति। यमश्विना नमुचेरासुरादधीत्यश्विनौ ह्येतन्नमुचेरध्याहरताᳪ सरस्वत्यसुनोदिन्द्रियायेति सरस्वती ह्येतमसुनोदिन्द्रियायेमन्तᳪ शुक्रं मधुमन्तमिन्दुमिति शुक्रो वा एष मधुमानिन्दुर्यत्सोमः सोमᳪ राजानमिह भक्षयामीति सोम एवास्य राजा भक्षितो भवति दक्षिणेऽग्नौ सुराग्रहान् जुह्वति पाप्मनैवैनं तद् व्यावर्तयन्ति' (श० १२।८।१।३) इत्युत्तरेऽग्नौ पयोग्रहान् दक्षिणे सुराग्रहान् हुत्वा भक्षयन्ति। तथा चाह कात्यायनः—'यदत्रेति सौरान् भक्षयन्ति यथाभक्षितं प्राचीनावीतिनो दक्षिणतः' (का० श्रौ० १९।३।१८)। विहारस्य दक्षिणत उपविष्टा कृतापसव्याः पयोग्रहभक्षणेतिकर्तव्यतानतिक्रमेण सौरान् ग्रहान् भक्षयेयुरध्वर्य्वादयः। अध्वर्युः, प्रतिप्रस्थाता, आग्नीध्रः—इत्येते त्रयः सौरमाश्विनं द्विरावर्तं भक्षयन्ति। ततः सारस्वते शेषासेकः। तथा चाह कात्यायनः—'शेषᳪ शेषमासिञ्चत्युत्तरे पूर्वस्य' (का० श्रौ० १९।३।१६)। पूर्वस्य ग्रहस्य भक्षितस्य शेषमुत्तरे ग्रहेऽवनयेत्। आश्विनस्य शेषं सारस्वते तच्छेषमैन्द्रे इति सूत्रार्थः। 'प्राणभक्षमेके' (का० श्रौ० १९।३।१९)। एके शाखिनः सौरग्रहाणामवघ्राणमात्रं कुर्वन्ति, न मुखेन भक्षणमिति सूत्रार्थः। 'परिक्रीतो वा वैश्यराजन्ययोरन्यतरः' (का० श्रौ० १९।३।२०)। अथवा वैश्यराजन्ययोरन्यतरो मूल्येन क्रीतः सौरान् ग्रहान् भक्षयेदिति सूत्रार्थः। रसोऽस्त्यस्मिन्निति रसी, तस्य रसवतः। सुतस्य अभिषुतस्य सोमस्य। यत्, सामान्ये नपुंसकत्वम्, यो भाग इत्यर्थः। अत्र सुरायां रिप्तं लिप्तम्, सोमसम्बन्धि यत्सुरायां लग्नमिति यावत्। यच्च सुरालग्नं सोमांशं शचीभिः कर्मभिः शुद्धं कृत्वा इन्द्रोऽपिबत्। सोमं राजानमिति द्वितीयान्तयोः षष्ठ्यन्तत्वेन विपरिणामः, अस्येति विशेषणानुरोधात्। अस्य सोमस्य राज्ञः, तत् तं सुरानिर्गतं सोमं शिवेन शुद्धेन कल्याणमयेन मनसा इह यज्ञेऽहं सुरासकाशाच्छुद्धं कृत्वा भक्षयामि।

अत्र ब्राह्मणम्—'स भक्षयति। यदत्र रिप्तᳬं रसिनः सुतस्येति सुतासुतयोरेव रसमवरुन्धे यदिन्द्रो अपिबच्छचीभिरितीन्द्रो ह्येतदपिबच्छचीभिरहं तदस्य मनसा शिवेनेत्यशिव इव वा एष भक्षो यत्सुरा ब्राह्मणस्य शिवमेवैनमेतत् कृत्वात्मन् धत्ते सोमᳬं राजानमिह भक्षयामीति सोम एवास्य राजा भक्षितो भवति' (श० १२।८।१।५)। 'आश्विनं तावदध्वर्युः प्रतिप्रस्थाता आग्नीध्रः, सारस्वतं होता ब्रह्मा मैत्रावरुणः, ऐन्द्रं यजमानः' इति वचनाद् यो नाम भक्षयति, स अनेन मन्त्रेणेति प्रत्येकं मन्त्रो वर्तत इत्येवैकवचनम्। सुतः सोमः, असुतः सुरा, तयो रसमवरुन्ध इति सुरायाः साक्षात् सोमस्याप्युपासनम्, 'यदत्र रिप्तं रसिनः सुतस्य' इति वचनात्। इन्द्रो ह्येतत् सुरालिप्तं सोमलिप्तं सोममत्रापि पीतवान् शचीभिः कर्मभिर्हेतुभूतैः। पुनरिन्द्रकर्तृकं कर्म करिष्यामीत्येवमर्थः' इत्याचार्यो हरिस्वामी।

अध्यात्मपक्षे—अत्र जगति रसिनो रसवतः परमात्मनः सुतस्य परिष्कृतस्य शोधितस्य यो भागो रिप्तं लिप्तोऽधिष्ठानतया संसृष्टस्तत् तमिन्द्रः परमेश्वरः शचीभिर्विचारलक्षणैः कर्मभिः शुद्धं कृत्वा अपिबत् स्वात्मतादात्म्येनानुभूतवान्। अहं जीवोऽपि, अस्य सोमस्य राज्ञः स्वप्रकाशस्य साम्बसदाशिवस्य स्वरूपभूतं तं शिवेन शुद्धेन मनसा शुद्धं कृत्वा भक्षयामि स्वात्मतादात्म्येनानुभवामि।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, यथाहमिह संसारेऽस्य सुतस्य सिद्धस्य रसिनः प्रशस्तरसयुक्तस्य पदार्थस्य यो भाग इह संसारे रिप्तं लिप्तं प्राप्तम्, इन्द्रः सूर्यः शचीभिराकर्षणादिभिः कर्मभिर्यं भागमपिबत्, तं राजानं प्रकाशमानं सोममोषधिरसं शिवेन मनसाहं भक्षयामि पिबामि, तथैव यूयमपि पिबत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वात्, निरर्थकत्वाच्च। नहीदं वैद्यकशास्त्रं यदोषधिपानमुपदिशेत्। न वा सर्वे सर्वौषधिरसाधिकारिणः, तत्तदवस्थाविशेषविशिष्टान् प्रत्येव तत्सार्थक्यात्॥ ३५॥

पि॒तृभ्यः॑ स्वधा॒यिभ्यः॑ स्व॒धा नमः॑ पिताम॒हेभ्यः॑ स्वधा॒यिभ्यः॑ स्व॒धा नमः॒ प्रपि॑ताम॒हेभ्यः॑ स्वधा॒यिभ्यः॑ स्व॒धा नमः॑। अक्ष॒न् पि॒तरोऽमी॑मदन्त पि॒तरो॑ऽतीतृपन्त पि॒तरः॒ पित॑रः॒ शुन्ध॑ध्वम्॥ ३६॥

मन्त्रार्थ—आश्विन ग्रह होम और स्वधा के प्रेमी पितरों के अर्थ स्वधा नामक अन्न की आहुति और प्रणाम प्राप्त हो। सारस्वत सुराग्रह होम और स्वधा के प्रेमी पितामहों के लिये स्वधा रूप अन्न की आहुति और प्रणाम प्राप्त हो। ऐन्द्र सुराग्रह होम और स्वधा के प्रेमी प्रपितामहों के लिये स्वधा नामक अन्न और प्रणाम प्राप्त हो। सुराग्रह प्रक्षालन जल को आहवनीय अंगार के उत्तर में छिड़कते हुए कहे कि पितरों ने अपने आहार को ग्रहण किया, पितृगण तृप्त हो आनन्दित हुए, पितृगण अत्यन्त तृप्त हुए। हे पितरों! अब आप लोग आचमन द्वारा शुद्ध होइये॥ ३६॥

'अङ्गारेषु वा बहिष्परिधि दक्षिणतो जुहोत्याश्विनमुत्तरे मध्यमे सारस्वतमैन्द्रं दक्षिणे पितृभ्य इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १९।३।२१)। सुराग्रहाणां भक्षणम्, अवघ्राणम्, मूल्येन राजन्यवैश्यान्यतरकर्तृकं पानमिति पक्षत्रयं पुरस्तान्निरूपितम्। अधुना चतुर्थं पक्षमाह—अङ्गारेषु वेति। वा अथवा दक्षिणस्य आहवनीयस्य अङ्गारेषु परिधेर्बहिःप्रदेशे दक्षिणस्यां दिशि स्थापितेषु दक्षिणसंस्थेषु पितृभ्य इति मन्त्रेण भक्षावशिष्टान् सुराग्रहान् जुहुयात्। तत्राश्विनं सुराग्रहमुत्तरे, सारस्वतं मध्यमे, ऐन्द्रं सुराग्रहं दक्षिणे जुहुयात्। अपसव्येन एतत्कर्म कर्तव्यम्। 'अक्षन् पितर इति प्रक्षालनेनोपसिञ्चति' (का० श्रौ० १९।३।२२)। होमक्रमेण सौरग्रह

पात्रप्रक्षालनोदकेन यथास्वमङ्गारानुपसिञ्चेदिति सूत्रार्थः । 'पितरः शुन्धध्वमिति जपति' (का० श्रौ० १९।३।२३) स्पष्टार्थमेतत् ।

पितृदेवत्यानि सप्त यजूंषि । पितृभ्यः स्वधा नमः पितृभ्यः स्वधासंज्ञकं नमोऽन्नमस्तु, 'स्वधा वै पितृणामन्नम्' (श० १३।८।१।४) इति श्रुतेः । यद्वा पितृभ्यः स्वधा अन्नमस्तु, तेभ्यो नमो नमस्कारश्चास्तु । कीदृशेभ्यः पितृभ्यः ? स्वधायिभ्यः स्वधामन्नं प्रति यन्ति गच्छन्ति तच्छीला इति स्वधायिनः, स्वधोपपदात् 'इण् गतौ' इति धातोः 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' (पा० सू० ३।२।७८) इति णिनिप्रत्यये, 'अचो ञ्णिति' (पा० सू० ७।२।११५) इति वृद्धौ रूपम्, तेभ्यः । पितृभ्य इति बहुवचनं पितृव्याद्यपेक्षं पूजार्थं वा । पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नम इति द्वितीयं यजुः । प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नम इति तृतीयं यजुः । अक्षन् भक्षितवन्तः । 'घस्लृ अदने' इत्यस्य लुङि प्रथमपुरुषबहुवचनेऽडागमे 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' (पा० सू० ६।४।९८) इत्युपधालोपे, 'शासिवसिघसीनां च' (पा० सू० ८।३।६०) इति सकारस्य मूर्धन्यादेशे, 'खरि च' (पा० सू० ८।४।५५) इति चर्त्वे रूपम् । पितर इति चतुर्थं यजुः । अमीमदन्त, 'मद तृप्तियोगे' इत्यस्य लुङि प्रथमबहुवचने रूपम् । मादिताः पितर इति पञ्चमं यजुः । अतीतृपन्त पितरः, तर्पिता अस्माभिरिति । यद्वा अस्मानतीतृपन्त तर्पयन्ति तृप्ताः सन्तोऽभीष्टदानेनेति षष्ठं यजुः । हे पितरः, यूयं शुन्धध्वं पाणिप्रक्षालनेन शुद्धा भवतेति सप्तमं यजुः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'तद्धैतदन्येऽध्वर्यवः । राजन्यं वा वैश्यं वा परिक्रीणन्ति स एतद् भक्षयिष्यतीति तदु तथा न कुर्याद्यो ह वा एतद् भक्षयति तस्य हैवं पितॄन् पितामहानेष सोमपीथोऽन्वेति दक्षिणस्यैवाग्नेस्त्रीनङ्गारान्निर्वर्त्य बहिष्परिधि तदेताभिर्व्याहृतिभिर्जुहुयात्' (श० १२।८।१।६), 'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नम इति । पितॄनेव पितृलोके स्वधायां दधाति पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नम इति पितामहानेव पितामहलोके स्वधायां दधाति प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नम इति प्रपितामहानेव प्रपितामहलोके स्वधायां दधाति' (श० १२।८।१।७) । एतत्सुरापाने कर्तव्ये यो ह वै एतद् हुतोच्छिष्टं भक्षयति तस्यैव पितॄश्वेष सोमपीथः सामपानं मान्त्रवर्णिकमस्त्येव । न च राजन्यवैश्ययोः सोमपीथोऽस्तीत्यभिप्रायः । दक्षिणस्यैवाग्नेरेकदेशभूतानङ्गारान् निर्वर्त्य बहिष्कृत्य पितृवद्दक्षिणोत्तरात् तत् तेषु एताभिर्व्याहृतिभिर्जुहुयात् । 'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः' इत्याश्विनशेषमुत्तरार्धे जुहोति । एतेन च पितॄनेव यजमानस्य पितृलोके दधाति स्थापयति । पितामहेभ्य इति सारस्वतं मध्यमे । प्रपितामहेभ्य इत्यैन्द्रं दक्षिण इत्याचार्यो हरिस्वामी । 'अप आनीय निनयति । अक्षन् पितर इत्यन्नाद्यमेवैषु दधात्यमीमदन्त पितर इति मदयत्येवैनानतीतृपन्त पितर इति तर्पयत्येवैनान् पितरः शुन्धध्वमित्यनुपूर्वमेवैनान् सर्वान् पावयति पवित्रं वै सौत्रामणी' (श० १२।८।१।८) । अप आनीय ग्रहपात्रेषु ततस्तद्धामदेशे च यथाक्रमं निनयति । अन्नाद्यमेवैषु दधातीत्येतदन्नस्यादनविषयत्वादपक्वं नित्यमननेनेवान्नाद्यमुपात्तमित्यभिप्रायः । 'पितरः शुन्धध्वम्' इति जपति, क्रियान्तरस्यानुपदेशादिति भावः । अनुपूर्वमेव एनान् पित्रादीन् पावयति तर्पयतीत्याचार्यो हरिस्वामी ।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वरस्यैव पितृपितामहप्रपितामहादिरूपेणापि पूज्यत्वम्, तस्यैव सर्वहेतुत्वात् । पृथिव्यादीनां कारणत्वमाकाशे पर्यवस्यति, आकाशस्य जनकत्वमहमि, तस्य महति, तस्याप्यव्यक्ते, अव्यक्तस्यापि कारणं सत्तत्त्वम्, 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम' (म० भा० १२।३३४।३१), 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निर्गुणे सम्प्रलीयते' (म० भा० १२।३३९।३१) इत्यादिवचनेभ्यः । तथा चाकाशस्य वृद्धप्रपितामहत्वं परस्मिन् सति ब्रह्मणि पर्यवस्यति । अत एव येषां पितृपितामहादयो ब्रह्मविद्वरिष्ठत्वान्मुक्तास्तेषां मुक्तानामपि पुत्रपौत्रप्रपौत्रशिष्यप्रशिष्यादिभिः पितृरूपजनार्दनाराधनबुद्ध्यैव पित्रादिसमर्थनं क्रियते । सर्वत्र बहुवचनं पितृव्याद्यपेक्षया पूजायां

वा, 'पिताहमस्य जगतः' (भ० गी० ९।१७) इति रीत्या परमेश्वरः सर्वस्य पिता। पितुरपि पितृत्वात् पितामहत्वम्, तस्यापि पितृत्वात् प्रपितामहत्वम्, तस्यापि पितृत्वात् वृद्धप्रपितामहत्वमिति तेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधां प्रति गमनशीलेभ्यः स्वधारूपं नमोऽन्नमस्तु। स्वधास्तु नमस्कारश्चास्तु। सर्वे चैते पितरः, अक्षन् भक्षितवन्तः, अस्मत्समर्पितं हविरिति शेषः। पितरः सर्वेऽमीमदन्त अतीतृपन्त। हे पितरः, यूयं शुन्धध्वम्, पाणिप्रक्षालनं कुरुध्वमित्यर्थः। स्वात्मवदेव देवानां पितॄणां चोपासनमर्चनं च क्रियते।

दयानन्दस्तु—'अस्माभिः पुत्रशिष्यमनुष्यैर्येभ्यः स्वधायिभ्यः पालकेभ्यो जनकाध्यापकादिभ्यो ज्ञानिभ्यो वा स्वधा अन्नजलादिकं नमस्कारश्चास्तु, तथैव पितामहेभ्यो बह्वन्नं नमः सत्कारश्चास्तु, तथैव पितामहपितृभ्योऽपि स्वधान्नं नमोऽस्तु। हे पितरः, यूयं सुनिर्मितं भोजनमक्षन् अदन्तु। हे ज्ञानिनः, अमीमदन्त यूयमतिशयेन हर्षयत। शुन्धध्वं पवित्रीकुरुत' इति, अत्रोच्यते—यदि मृतानां पित्रादीनामेतद्भोजनादिदानम्, तदा अपसिद्धान्तापातः। यदि जीवतामेवैतत्, तदा स्वधादिमन्त्रोच्चारणनैरर्थक्यमेव। शास्त्रेषु मनुष्येभ्यो हन्तकारः, पितृभ्यः स्वधाकारः, देवेभ्यः स्वाहाकारो हविरादिदाने प्रयुज्यते। तादृशे भेदे किं मूलमित्यनुक्तेः। सर्वथापि स्वैरित्वमर्थप्रक्रियायामस्य महात्मनः प्रतिफलति ॥ ३६ ॥

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—सौम्यमूर्ति पितृगण पूर्ण आयु देने वाले पवित्र से मुझे पवित्र करें, पितामह मुझे पवित्र करें, प्रपितामह मुझे पवित्र करें। पितामह शतायु देने वाले पवित्रे से मुझे पवित्र करें, प्रपितामह अतिपवित्र आनन्दयुक्त सौ वर्ष की आयु प्रदान करें। इस प्रकार मैं सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करूँ ॥ ३७ ॥

'कुम्भीमासज्य कुम्भवच्छतवितृण्णां वालपवित्रहिरण्यान्यन्तर्धाय नवर्चं वाचयति पुनन्तु मेति' (का० श्रौ० १९।३।२४)। चरकसौत्रामणीकुम्भवत् पञ्चदशेऽध्याये दशम्यां कण्डिकायां 'भस्माहृत्य' इत्यादिके षोडशे सूत्रे प्रतिपादितपद्धतिवत् शतच्छिद्रां कुम्भीमासज्य दक्षिणस्याहवनीयस्योपरि शिक्ये कृत्वा तत्र वालपवित्रहिरण्यान्यन्तर्धाय तत्र परिस्रुच्छेषमासिञ्चेत्। ततस्तस्यां सुरायामग्नेरुपरि स्रवन्त्यां पुनन्तु मेति नवर्चं वाचयेत्। वालो गोवालनिर्मितः सुरागलनम्। पवित्रमजाविलोमनिर्मितं पयोगलनम्। तथा च दक्षिणाहवनीयपार्श्वयोः स्तम्भद्वयोपरि दक्षिणाग्रं वंशं निधाय कुम्भीतले वालादीनि निधाय तत्र सुराशेषं सिक्त्वाग्नेरुपरि स्रवन्त्यां सुरायां नवर्चं यजमानं वाचयेत्। हिरण्यं शतमानमितम्। प्रत्यृचं वाचनमिति सूत्रार्थः।

द्वे पितृदेवत्ये अनुष्टुभौ। पितरो मा मां पुनन्तु शोधयन्तु। केन ? पवित्रेण गोऽश्ववालकृतेन पवित्रेण। कीदृशेन पवित्रेण ? शतायुषा शतं शतवर्षमितम् आयुर्जीवनं यस्मात्तत् शतायुः, तेन। येन पूतः पुरुषः शतायुर्भवति तादृशेन पवित्रेण मां पुनन्त्विति सम्बन्धः। पितामहाश्च मां पुनन्तु। प्रपितामहाश्च मां पुनन्तु। कीदृशाः पित्रादयः ? सोम्यासः सोम्याः। सोमं सम्पादयन्तीति सोम्याः। ते परिस्रुतमपि सोमं कुर्वन्ति, तेषामचिन्त्यशक्तित्वम्। आदरार्थं पुनर्वचनम्। पितामहाः प्रपितामहाश्च मां पुनन्तु शतायुषा पवित्रेण। एवं पित्रादिभिः पूतोऽहं विश्वं सर्वमायुर्व्यश्नवै व्याप्नवै, प्राप्नुयामिति यावत्। 'अशूङ् व्याप्तौ सङ्घाते च' लोटि उत्तमैकवचनम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'त्रिभिः पवित्रैः पावयन्ति। त्रयो वा इमे लोका एभिरेवैनं लोकैः पुनन्ति (श० १२।८।१।९)। 'पावमानीभिः पावयन्ति। पवित्रं वै पावमान्यः पवित्रेणैवैनं पुनन्ति' (श० १२।८।१।१०), 'तिसृभि-स्तिसृभिः पावयन्ति। त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तैरेवैनं पुनन्ति' (श० १२।८।१।११), 'नवभिः पाव-यन्ति। नव वै प्राणाः प्राणैरेवैनं पुनन्ति प्राणेषु पुनः पूतं प्रतिष्ठापयन्ति' (श० १२।८।१।१२), 'पवित्रेण पावयन्ति। अजाविकस्य वा एतद्रूपं यत्पवित्रमजाविकेनैवैनं पुनन्ति'(श० १२।८।१।१३),'वालेन पावयन्ति। गोऽश्वस्य वा एतद्रूपं यद्वाली गोऽश्वेनैवेनं पुनन्ति'(श० १२।८।१।१४), 'हिरण्येन पावयन्ति। देवानां वा एतद्रूपं यद्धिरण्यं देवानामेवैनँ रूपेण पुनन्ति' (श० १२।८।१।१५), 'सुरया पावयन्ति। सुरा हि पूता पूतयैवेनं पुनन्ति। तद्यथा सुरा पूयमाना बल्कसेन विविच्यत एवमेवैतद्यजमानः सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वान् सौत्रामण्या यजते यो वैतदेवं वेद' (श० १२।८।१।१६)। पवित्रेण अजाविलोममयेन वालेन गोऽश्ववालेन हिरण्येन। एतानि त्रीण्यन्तर्धाय सुरां क्षारयन्तो वाचयन्ति। सुरया यजमानस्य प्रकृतपूतया वालपवित्रहिरण्यैः पूयमानया यजमानं वाचयन्ति। बल्कसेन किट्टिसेन विविच्यते, तस्मात् पृथग्भवतीत्याचार्यो हरिस्वामी।

अध्यात्मपक्षे—अपूजिताः पितरोऽसोम्या भवन्ति। संराधितास्तु सोम्याः सोमवत्प्रियदर्शना भवन्ति। ते मां पुनन्तु। पितामहाः प्रपितामहाश्च पूर्वोक्तरीत्या परमेश्वराः शतायुषा पवित्रेण पुनन्तु। तैः पूतः सर्वमायु-र्व्यश्नवै। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'सोम्यासः पितरो ज्ञानप्रदानेन पालकाः पवित्रेण शुद्धाचरणयुक्तेन शतायुषा मां पुनन्तु। सोम्यासः पितामहाः पवित्रेण शतायुषा पुनन्तु। प्रपितामहाः पुनन्तु। यतोऽहं विश्वमायुर्व्यश्नवै प्राप्नुयाम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शतायुष्ट्वफलस्य पावनं प्रति करणत्वायोगात्। न च लौकिकमनुष्याणां पावकत्वं सम्भवति, स्वकर्तृकशुद्धाचरणेनैव स्वशुद्धिसम्भवात्। न च शुद्धाचरणोपदेशकत्वेन तेषां पावकत्वम्, कुलालपितुर्घटं प्रति कारणत्ववदन्यथासिद्धत्वात् ॥ ३७ ॥

अग्न॒ आयूँ॑षि पवस॒ आसु॒वोर्ज॒मिषं॑ च नः। आ॒रे बा॑धस्व दु॒च्छुना॑म् ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! आप ही आयु प्राप्त कराने वाले कर्मों के कर्ता हैं, हमें धन-धान्य और दही आदि रस दीजिये, दूर स्थित दुष्ट कुत्तों के समान दुर्जनों की बाधा से हमारी रक्षा कीजिये, जिससे कि हम उनके आक्रमण से बच सकें ॥ ३८ ॥

प्रजापतेरार्षम्। अग्निदेवत्या गायत्री। हे अग्ने, यतस्त्वमायूंषि आयुःप्रापकाणि कर्माणि पवसे पावयसे, स्वभावत एव चेष्टयसे, अन्तर्भावितण्यर्थः। अत एव त्वां प्रार्थयामहे। नोऽस्माकं कृते इषं व्रीह्यादिकमन्नं यदभीष्टं तद्वा ऊर्जं दध्यादिकमुपसेचनं च आसुव अभ्यनुजानीहि, देहीत्यर्थः, अन्नाद्यन्तरा आयुःप्राप्त्यसम्भवात्। किञ्च, आरे दूरे एव अवस्थितानां दुच्छुनां दुष्टाश्च ते श्वानश्च दुश्श्वानस्तेषाम्। कर्मणि षष्ठी। श्वभिरत्र दुर्जना उपलक्ष्यन्ते। तान् सारमेयप्रायान् दुर्जनान् बाधस्व नाशयसि, तद्राहित्यस्य परमायुःप्राप्तिहेतुत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, सर्वान्तर्यामित्वात् त्वमेव आयूंषि दीर्घायुःप्रापककर्माणि चेष्टयसे, अतस्त्वत्तः ऊर्ध्वमिषमिष्यमाणमभीष्टमन्नमूर्जं रसं च आसुव ज्ञापय, देहीत्यर्थः। आरे स्थितानपि दुर्जनान् बाधस्व, दुर्जनसामीप्यस्य दीर्घायुष्ट्वप्रतिबन्धकत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन् पितः पितामह प्रपितामह, त्वं न आयूंष्यन्नादीनि पवसे पवित्रीकुर्याः।' स त्वमूर्जं पराक्रममिषमिच्छासिद्धिं च आसुव आसमन्तात् सुव प्रेर्ष्वं साधय। दुच्छुनां सङ्गं बाधस्व' इति, तदपि विसङ्गतमेव, मनुष्याणामायुःपावकत्वायोगात्, पराक्रमेच्छासिद्धिदानेऽपि तदसामर्थ्याच्च। पारम्पर्येण तद्धेतुत्वे त्वन्यथासिद्धिरेव। सिद्धान्ते तु देवानामिव पित्रादीनामपि विशिष्टसामर्थ्यसम्पन्नत्वेन तथा प्रेरणे दाने च सामर्थ्यसत्त्वेनादोषात् ॥ ३८ ॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—देवानुगामी भूतगण हमें पवित्र करें, मन सहित हमारी बुद्धि को पवित्र करें, समस्त प्राणी हमें पवित्र करें। हे अग्निदेव! आप भी हमें पवित्र करें ॥ ३९ ॥

लिङ्गोक्तदेवतात्वाद् देवजनधीविश्वभूतजातवेदोदेवत्या अनुष्टुप्। देवजनाः, देवानां जना देवजनाः, देवानुगामिनो जनाः, मां पुनन्तु। मनसा युक्ता धियो बुद्धयः कर्माणि वा मां पुनन्तु। विश्वा विश्वानि सर्वाणि भूतानि मां पुनन्तु। हे जातवेदः, जातं वेत्तीति जातवेदाः, तत्सम्बुद्धौ, हे सर्वज्ञ अग्ने! अथवा जात आविर्भूतो वेदो यस्मात् स जातवेदास्तत्सम्बुद्धौ, त्वमपि मां पुनीहि।

अध्यात्मपक्षे—देवजना दैवीं सम्पदमुपगता जनाः, मनसा युक्ता धियश्च मां पुनन्तु, मनोबुद्ध्योरन्तर्मुखताया एव प्राधान्येन शुद्धिहेतुत्वात्। विश्वा सर्वाणि भूतानि परमात्मविकारत्वात् तद्भावनया भावितानि तानि च मां पुनन्तु। जातवेदः, जाताः सर्वे वेदा यस्मात् स जातवेदाः, तत्सम्बुद्धौ, हे जातवेदो भगवन्, त्वं च मां पुनीहि, 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥' (वा० सं० ३१।७) इति मन्त्रवर्णात्।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदो विद्वन्, जातेषु जातेषु ज्ञानिन्, यथा देवजना देवा विद्वांसश्च ते जनाः, मनसा मां पुनन्तु, मम धियश्च पुनन्तु, मम विश्वा भूतानि मां पुनन्तु, तथा त्वं पुनीहि' इति, तदपि न युक्तम्, विशेषानुपपत्तेः, विद्वज्जनानां पावकत्वे जाते पुनः विदुषः पावकत्वाभ्यर्थनानुपपत्तेः, सर्वभूतानां कथं पावकत्वमित्यनुक्तेश्च ॥ ३९ ॥

पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देव दीद्यत्। अग्ने क्रत्वा क्रतूँ२॥रनु ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! दीप्ति से सम्पन्न होकर आप शुद्ध पवित्र से, अर्थात् शुद्ध ज्योति के द्वारा हमें पवित्र करें, हमारे यज्ञ का निरीक्षण करते हुए अपने ज्वलन आदि कर्मों से उसे पवित्र करें ॥ ४० ॥

अग्निदेवत्या गायत्री। हे अग्ने देव द्योतमान, शुक्रेण शुक्लेन अशबलेन, शुद्धेनेति यावत्, पवित्रेण मा मां पुनीहि पवित्रय। कथम्भूतस्त्वम्? दीद्यत्, अतिशयं दीव्यतीति दीद्यत्, दिवेर्यङ्लुगन्तस्य रूपम्। अथवा सम्बुद्धिः। किञ्च, हे अग्ने क्रतून् अनु अस्माकं यज्ञाननुलक्ष्य क्रत्वा क्रतुना कर्मणा त्वं यज्ञे मां पुनीहि। यद्वा क्रतून् यज्ञान् पुनीहि, सम्यग् वैगुण्यरहितान् यज्ञान् कारयेत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमेश्वर, त्वं शुक्रेण अशबलेन पवित्रेण ज्ञानेन मां पुनीहि। दीद्यत् हे स्वप्रकाश, क्रत्वा स्वसत्यसङ्कल्पेन क्रतूनस्माकं त्वत्प्राप्तिविषयान् सङ्कल्पान्, सफलयेति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे दीद्यद् देवाग्ने, त्वं पवित्रेण शुक्रेण वीर्येण पराक्रमेण स्वयं पवित्रो भूत्वा मां च तदनु पुनीहि। स्वस्य क्रत्वा प्रज्ञया कर्मणा वा स्वां प्रज्ञां स्वं कर्म च पवित्रीकृत्य अस्माकं क्रतून् पुनीहि' इति, तदपि न युक्तम्। शिष्यपुत्रादीनां पित्रादीन् प्रति तथोपदेशानुपपत्तेः, मन्त्रपदैस्तथार्थानवगमाच्च, निर्मूलाध्याहारस्य अनादरणीयत्वाच्च ॥ ४० ॥

यत्ते॑ प॒वित्र॑म॒र्चिष्यग्ने॒ वित॑तमन्त॒रा। ब्रह्म॒ तेन॑ पुनातु मा ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! आपकी ज्वाला के मध्य में जो त्रयीरूप शुद्ध ब्रह्म स्थित है, उसके प्रभाव से आप मुझे पवित्र करें ॥ ४१ ॥

आग्नेयी गायत्री। तृतीयः पादो ब्रह्मदेवत्यः। हे अग्ने, ते तव अर्चिषि ज्वालायामन्तरा मध्ये यद् ब्रह्म त्रयीलक्षणं परब्रह्मरूपं सत्यज्ञानानन्दलक्षणं वा पवित्रं विततं विस्तृतं प्रसारितम्, तेन पवित्रेण अग्न्यनुज्ञातेन मा मां भवान् पुनातु।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, ते तव अर्चिषि नित्यज्ञानरूपे ज्योतिषि यद् ब्रह्म त्रयीलक्षणं पवित्रं विश्वशुद्धिकरं विततं व्याप्तम्, तेन पवित्रेण भवान् मां पुनातु।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने जगदीश्वर, तेऽर्चिषि सत्कारयोग्ये तेजःस्वरूपेऽन्तरा सर्वतो भिन्ने यद् विततं व्याप्तं पवित्रं शुद्धस्वरूपं ब्रह्म वेदविद्या, तेन मां भवान् पुनातु' इति, तदपि न समञ्जसम्, शब्दराशिमयस्य वेदस्य ब्रह्मज्योतिषि व्याप्त्यनुपपत्तेः। परस्या वाचो ब्रह्मरूपेण शक्त्यात्मना वा वेदानामेवानन्त्याद्वा विततत्वोक्तिः सङ्गच्छते, 'अनन्ता वै वेदाः' (तै० ब्रा० ३।१०।११।४) इति श्रुतेः ॥ ४१ ॥

पव॑मानः॒ सो अ॒द्य नः॑ प॒वित्रे॑ण॒ विच॑र्षणिः। यः पोता॒ स पु॑नातु मा ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—जो देव मनुष्य के किये और न किये हुए कर्मों को जानता है, स्वयं पवित्र और दूसरों को पवित्र करने वाला है, वह आज मुझे पवित्र से पवित्र करे ॥ ४२ ॥

सोमदेवत्या गायत्री। तृतीयः पादो वायुदेवत्यः। स पवमानः पवतेऽसौ पवमानः शोधकः सोमः, अद्य अस्मिन् दिवसे, नोऽस्मान् पवित्रेण पुनातु। कीदृशः सोमः? विचर्षणिः, विविधं चष्टे पश्यतीति तथोक्तः, कृताकृतावेक्षक इति यावत्, पुनातु। यद्वा विविधाश्चर्षणयो मनुष्या ऋत्विजो यस्य सः। ऋत्विग्भिर्यजनीय इत्यर्थः। यश्च स्वभावतः पोता। पुनातीति पोता, पवते वा स पोता वायुः, स मां पुनातु पवित्रयतु।

अध्यात्मपक्षे—स वेदान्तेषु ब्रह्मविद्वरिष्ठेषु च प्रसिद्धः पवमानो ब्रह्माकारवृत्तिविषयत्वेनाभिव्यज्यमानः, नोऽस्मान् पवित्रेण स्वविषयज्ञानेन पुनातु। यो विचर्षणिः सर्वद्रष्टा पोता स्वभावत एव पवित्रयिता, स मां पुनातु।

दयानन्दस्तु—'यो जगदीश्वरः, नो मध्ये पवित्रेण पवमानो विचर्षणिः, सोऽद्यास्माकं पवित्रकर्तोपदेशकश्चास्ति। स पोता मां पुनातु' इति, तदप्यसङ्गतम्, ईश्वरस्य स्वतः शुद्धत्वेन तस्य शुद्धाचरणमूलकशुद्ध्ययोगात् ॥ ४२ ॥

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च । मां पुनीहि विश्वतः ।। ४३ ।।

मन्त्रार्थ—हे सबके प्रेरक सविता देव ! आप शुद्ध करने वाले पवित्रे और सबको पवित्र करने वाली अपनी आज्ञा से मुझे सब ओर से पवित्र करें, क्योंकि आपकी आज्ञा से ही यज्ञ की सिद्धि मिलती है ।। ४३ ।।

सवितृदेवत्या गायत्री । हे देव द्योतमान सवितः ! जगत्कारण, उभाभ्यां पवित्रेण अजाविलोमनिर्मितेन सवेन अभ्यनुज्ञया च यज्ञानुष्ठानप्रेरणया च विश्वतः सर्वतो मां पुनीहि । त्वदनुज्ञया यज्ञसिद्धिरिति भावः ।

अध्यात्मपक्षे—हे देव, प्रमाणानपेक्षतया स्वप्रकाशत्वेन दीप्यमान सवितः जगदुत्पत्त्यादिहेतो ! पवित्रेण ज्ञानेन, 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' (भ० गी० ४।३८) इति भगवद्वचनात्, सवेन शुभकर्मप्रेरणया, इत्युभाभ्यां सर्वतो मां पुनीहि ।

दयानन्दस्तु—'हे देव, सवितः, त्वं पवित्रेण शुद्धाचरणेन सर्वनैश्वर्येण उभाभ्यां विद्यापुरुषार्थाभ्यां विश्वतो मां पुनीहि' इति, तदपि न, ऐश्वर्यस्य स्वतः शोधकत्वायोगात् । अन्यथा धनिनां राज्ञां च शुद्धिरेव स्यात् ॥ ४३ ॥

वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद्यस्यामिमा बह्व्यस्तन्वो वीतपृष्ठाः ।
तया मदन्तः सधमादेषु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ।। ४४ ।।

मन्त्रार्थ—नाना प्रकार के अवतारों के रूप में क्रीड़ा करने वाली महानारायण की शक्ति सबको पवित्र करती हुई, विश्व भर को प्रकाशित करती हुई, हमें प्राप्त हुई है । इस परा नामक शक्ति में अनेक प्रकार के शरीरधारी स्तुति करते हुए दिखायी पड़ते हैं । उस परा शक्ति के प्रसाद से यज्ञ-स्थान में आनन्द मनाते हुए हम नाना प्रकार के धन-धान्य के स्वामी हों ।। ४४ ।।

विश्वेदेवदेवत्या त्रिष्टुप् । प्रवह्लिकेव अनिर्ज्ञाताभिधेयेति महीधरोव्वटौ । तत्र काञ्चिदेव देवतामङ्गीकृत्य व्याचक्ष्महे । दक्षिणाग्नेरुपरिष्टात् शतातृण्णा कुम्भी क्षरति । सा वा स्यात्, सौत्रामणी वा स्यात्, वाग् वा स्यात्, उखा वा स्यात् । वैश्वदेवी विश्वेभ्यो देवेभ्य आगता, सा तथोक्ता, विश्वेभ्यो देवेभ्यो हिता वा । देवी द्योतमाना सुराकुम्भी पुनती पावनं कुर्वती । आगाद् आगता । यस्यां सुराकुम्भ्यामिमाः प्रत्यक्षतो दृश्यमानाः । बह्व्यो बहुसंख्याकाः । तन्वः शरीरप्राया धारा वर्तन्ते । कीदृश्यस्तन्वः ? वीतपृष्ठाः, वीतमिष्टं पृष्ठं स्वरूपं यासां ताः कामितशरीराः । काम्यन्ते हि सुराधाराः सुरैः, तया सुराकुम्भ्या सधमादेषु सह माद्यन्ति देवा येषु ते सधमादाः, 'सध मादस्थयोश्छन्दसि' (पा० सू० ६।३।९६) इति सहशब्दस्य सधादेशः, यज्ञस्थानानि, तेषु । मदन्तो मोदमानाः सन्तो वयं रयीणां धनानां पतयः स्याम भवेम । एवमेव सौत्रामण्यादियज्ञेऽपि यथायथं व्याख्योन्नेया ।

अध्यात्मपक्षे—वैश्वदेवी विश्वेभ्यो देवेभ्य आगता आविर्भूता भगवती । सप्तशत्या द्वितीयाध्याये चैतज्ज्ञेयम्—

ततोऽतिकोपपूर्णस्य चक्रिणो वदनात्ततः । निश्चक्राम महत्तेजो ब्रह्मणः शङ्करस्य च ॥
अन्येषां चैव देवानां शक्रादीनां शरीरतः । निर्गतं सुमहत्तेजस्तच्चैक्यं समगच्छत ॥

अतीव तेजसः कूटं ज्वलन्तमिव पर्वतम्। ददृशुस्ते सुरास्तत्र ज्वालाव्याप्तदिगन्तरम् ॥
अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्। एकस्थं तदभून्नारी व्याप्य लोकत्रयं त्विषा ॥
यदभूच्छाम्भवं तेजस्तेनाजायत तन्मुखम्। याम्येन चाभवन् केशा बाहवो विष्णुतेजसा ॥
सौम्येन स्तनयोर्युग्मं मध्यं चैन्द्रेण चाभवत्। वारुणेन च जङ्घोरू नितम्बस्तेजसा भुवः ॥
ब्रह्मणस्तेजसा पादौ तदङ्गुल्योऽर्कतेजसा। वसूनां च कराङ्गुल्यः कौबेरेण च नासिका ॥
तस्यास्तु दन्ताः सम्भूताः प्राजापत्येन तेजसा। नयनत्रितयं जज्ञे तथा पावकतेजसा ॥
भ्रुवौ च सन्ध्ययोस्तेजः श्रवणावनिलस्य च। अन्येषां चैव देवानां सम्भवस्तेजसां शिवा ॥
ततः समस्तदेवानां तेजोराशिसमुद्भवाम्। तां विलोक्य मुदं प्रापुरमरा महिषार्दिताः ॥

इत्येवंरूपेणोक्ता भगवती राजराजेश्वरी। सा च देवी देवीतिनाम्ना प्रसिद्धा। विश्वोद्भवविभवपराभव-क्रीडापरायणत्वाद् दीव्यति क्रीडते या सा देवी। पुनती विश्वमेव पावनं कुर्वाणा। आगात् श्रौतस्मार्त-लक्षणस्य धर्मस्य भक्तानां च रक्षणार्थमाविरभूत्। यस्यामिमा भक्तैः प्रत्यक्षतो दृश्यमाना बह्व्योऽपरिगणिताः, वीतपृष्ठाः कामितस्वरूपास्तन्वः शरीराणि वर्तन्ते, सर्वदेवशक्तिसारनिर्मितत्वात्। तया भगवत्या हेतुभूतया कर्त्र्या मदन्तस्तदनुग्रहेण प्रमोदमानाः सधमादेषु सह माद्यन्ति येषु तेषु यज्ञेषु ब्रह्मलोकेषु भगवत्याः सुधासिन्धो-र्मध्ये सुरविटपिवाटीपरिवृते नीपोपवनवति, पूजायां बहुवचनम्, रयीणां ज्ञानवैराग्यादीनां शमदमादीनां मोक्षादि-लक्ष्मीणां स्वाराज्यसाम्राज्यादिलक्ष्म्यादीनां पतयः स्याम।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, या वैश्वदेवी विश्वासां देवीनां महिषीणां मध्ये इयं विदुषी पुनती देवी अध्यापिका ब्रह्मचारिणी कन्या अस्मान् आगात्। यस्यां सत्यामिमा बह्व्यस्तन्वो वीतपृष्ठा विविधानि इतानि विदितानि पृष्ठानि प्रच्छन्नानि याभिस्ताः स्युः। तया सुशिक्षिता भार्याः प्राप्य वयं सहस्थानेषु मदन्तो रयीणां पतयः स्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, कल्पनाबहुलत्वात्, सम्बोधनादेर्निर्मूलत्वाच्च। भार्याः प्राप्येत्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव। न च विदितानि प्रच्छन्नानि सम्भवन्तीति। ब्रह्मचारिणो अस्मानागतेत्यपि निर्मूलम् ॥ ४४ ॥

ये स॒मा॒नाः सम॑नसः पि॒तरो॑ यम॒राज्ये॑।
तेषाँ॑ लो॒कः स्व॒धा नमो॑ य॒ज्ञो दे॒वेषु॑ कल्पताम् ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—अपसव्य, दक्षिण मुख होकर यजमान जुहू में एक बार घृत लेकर अग्नि में आहुति देता है। जो जातिमर्यादा आदि से समान सपिण्डक पितृगण यमलोक में वर्तमान हैं, उन पितरों के लोक में स्वधा नामक अन्न दृष्टिगोचर हो अथवा स्वधा नामक अन्न और नमस्कार प्राप्त हो। पितृयज्ञ वसु-रुद्र-आदित्य देवताओं को तृप्त करने में समर्थ हो ॥ ४५ ॥

'ये समाना इति यजमानो जुहोति' (का० श्रौ० १९।३।२७)। सकृद्गृहीतमाज्यं दक्षिणेऽग्नौ प्राचीना-वीती दक्षिणमुखो यजमानो जुह्वा जुहोतीति सूत्रार्थः। द्वे अनुष्टुभौ आद्या पितृदेवत्या। यमराज्ये यमस्य धर्मराजस्य राज्यमाधिपत्यं यस्मिन्नसौ यमराज्यस्तस्मिन्। लोके संयमन्याम्, 'धर्मराजः पितृपतिः समवर्ती परेतराट्। कृतान्तो यमुनाभ्राता शमनो यमराड् यमः ॥' (अ० को० १।१।५८) इति कोषात्। ये पितरो वर्तन्ते तेषां पितॄणाम्, लोको लोके, विभक्तिव्यत्ययः, स्वधा स्वधाशब्दोपलक्षितं नमोऽन्नमस्तु। अथवा स्वधा अन्नम्, नमो नमस्कारश्चास्तु। कथम्भूताः पितरः ? समाना जातिरूपादिभिस्तुल्याः। पुनः कथम्भूताः ? समनसः समानं मनो येषां ते तथोक्ताः समानमनस्काः। यज्ञस्तु देवेषु कल्पतां देवांस्तर्पयितुं समर्थो भवत्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—सर्वात्मनो भगवतो यमराज्ये पितृरूपेणावस्थानम्। तेभ्यो नमोऽन्नमस्तु। यमस्य संयमनस्य राज्ये क्षेत्रे ये समानाः समनसः पितरः पालकाः सन्ति, तेभ्यो नमः। पूजायां बहुवचनम्, परमेश्वरस्यैव सर्वकारणत्वेन सर्वपितृत्वात्। देवेषु तदङ्गोपाङ्गभूतेषु यज्ञो यजनमस्तु।

दयानन्दस्तु—'ये समानाः समनसः समानविज्ञानाः पितरः प्रजापालका यमराज्ये सभाधीशस्य राष्ट्रे सन्ति, तेषां लोकः सभा दर्शनं वा स्वधान्नं नमो यज्ञो न्यायश्च देवेषु विद्वत्सु कल्पताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यमराज्यपदेन धर्मराजलोकप्रसिद्धेः, यमपदस्य सभाधीशपरत्वे मानाभावाच्च। पितृपदस्यापि पालकपरत्वमसम्प्रतिपन्नमेव। शतपथश्रुतिविरोधश्च। तथा चात्र ब्राह्मणम्—'पितृलोकं वा एतेऽन्ववयन्ति। ये दक्षिणेऽग्नौ चरन्त्याज्याहुतिं जुहोति यज्ञो वा आज्यं यज्ञादेव यज्ञे प्रतितिष्ठन्ति' (श० १२।८।१।१८) इति। अत्र दक्षिणेऽग्नौ पितॄणां होमविधानेन यमलोकसम्बन्धिनां पितॄणामेवावगमात्। 'ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये। तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पतामिति पितॄनेव यमे परिदधात्यथो पितृलोकमेव जयति सर्वे यज्ञोपवीतानि कृत्वोत्तरमग्निमुपसमायान्त्ययं वै लोक उत्तरोऽग्निरस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठन्त्याज्याहुतिं जुहोति यज्ञो वा आज्यं यज्ञादेव यज्ञे प्रतितिष्ठन्ति' (श० १२।८।१।१९)। अपसव्येन पितृकर्म क्रियते। तत एव देवकार्यार्थं यज्ञोपवीतानि कृत्वेत्युक्तिः ॥ ४५ ॥

ये स॑मा॒नाः सम॑नसो जी॒वा जी॒वेषु॑ माम॒काः।
तेषा॒ꣳ श्रीर्म॑यि कल्पताम॒स्मिँल्लो॒के श॒तꣳ समाः॑ ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—यजमान उपवीती होकर उत्तर वेदि में आहुति देता है। प्राणियों में समदर्शी मनस्वी हमारे जो सपिण्ड पितृगण हैं, उनकी लक्ष्मी इस भूलोक में सौ वर्ष पर्यन्त हमारे ही पास रहे ॥ ४६ ॥

'उत्तरे च यज्ञोपवीत्युत्तरया' (का० श्रौ० १९।३।२८)। उत्तरे उत्तरवेद्याहवनीये कृतसव्यो यजमान उत्तरया अग्रिमया ऋचा सकृद्गृहीतमाज्यं जुहुयादिति सूत्रार्थः। यजमानाशीः। श्रीदेवत्या। जीवेषु, जीवन्तीति जीवास्तेषु प्राणिषु मध्ये ये समानास्तुल्या रूपगुणैश्वर्यादिभिः। समनसः समानमनस्काः, मामका मदीयाः। 'तवकममकावेकवचने' (पा० सू० ४।३।३) इत्यस्मदो ममकादेशः। जीवा जीवनवन्तः सन्ति, तेषां सम्बन्धिनी या श्रीः सा तान् परित्यज्य अस्मिँल्लोके शतं समाः शतसंवत्सरपर्यन्तं मयि कल्पतां क्लृप्ता भवतु। गोत्रिणां सहजमात्सर्यग्रस्तत्वादेवमभ्यर्थना। तथा च रामायणम्—

जानामि शीलं ज्ञातीनां सर्वलोकेषु राक्षस। हृष्यन्ति व्यसनेष्वेते ज्ञातीनां ज्ञातयः सदा ॥
प्रधानं साधकं वैद्यं धर्मशीलं च राक्षस। ज्ञातयोऽप्यवमन्यन्ते शूरं परिभवन्ति च ॥
नित्यमन्योऽन्यसंहृष्टा व्यसनेष्वाततायिनः। प्रच्छन्नहृदया घोरा ज्ञातयस्तु भयावहाः ॥
श्रूयन्ते हस्तिभिर्गीताः श्लोकाः पद्मवने पुरा। पाशहस्तान्नरान् दृष्ट्वा शृणुष्व गदतो मम ॥
नाग्निर्नान्यानि शस्त्राणि न नः पाशा भयावहाः। घोराः स्वार्थप्रयुक्तास्तु ज्ञातयो नो भयावहाः ॥
उपायमेते वक्ष्यन्ति ग्रहणे नात्र संशयः। कृत्स्नाद् भयाज्ज्ञातिभयं सुकष्टं विदितं च नः ॥

(युद्धकाण्डे, १६।३-८)

अत्र ब्राह्मणम्—'स जुहोति। ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः। तेषाꣳ श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतꣳ समा इति स्वानामेव श्रियमवरुन्धेऽथो ज्योग्जीवातुमेवैषु दधाति पयः समन्वारब्धेषु जुहोति प्राणो वा अन्नं पयः प्राण एवान्नाद्येऽन्ततः प्रतितिष्ठन्ति' (श० १२।८।१।२०)।

अध्यात्मपक्षे—ये समानाः समनसश्च जीवा मामकाः सन्ति, तेषां सम्बन्धिनी या श्रीर्धर्मब्रह्मनिष्ठारूपास्ति, सा तादृशी श्रीर्धर्मब्रह्मनिष्ठा मयि शतं समाः कल्पताम्।

दयानन्दस्तु—'येऽस्मिँल्लोके जीवेषु समानाः समनसो मामका जीवाः सन्ति, तेषां श्रीर्मयि शतं समाः कल्पताम्' इति, तदप्यसमञ्जसम्। प्रार्थनामात्रेण अन्यसम्बन्धिन्याः श्रियोऽन्यत्र सञ्चारायोगात्। सिद्धान्ते तु देवानां पितॄणां च प्रसादात् तन्नासम्भवम्॥ ४६॥

द्वे सृ॒ती अ॑शृणवं पि॒तॄणा॑म॒हं दे॒वाना॑मु॒त मर्त्या॑नाम्।
ताभ्या॑मि॒दं विश्व॒मेज॒त्सम॑ति॒ यद॑न्त॒रा पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च॥ ४७॥

मन्त्रार्थ—मैंने मरणधर्मा प्राणियों के, देवताओं के और पितरों के गमन करने योग्य दो मार्गों को सुना है, जो कि द्युलोक और भूलोक के मध्य में विद्यमान हैं। यह क्रियावान् जगत् उन दोनों मार्गों से प्राप्त होता है॥ ४७॥

'अन्वारब्धेषु पयो जुहोति द्वे सृती इति' (का० श्रौ० १९।३।२९)। सर्वेषु ऋत्विक्षु यजमानमन्वारब्धेष्वध्वर्युः पयो जुहुयादिति सूत्रार्थः। अमुमेवार्थं पूर्वकण्डिकायामुद्धृता श्रुतिरप्याह। देवयानपितृयानमार्गदेवत्या त्रिष्टुप्। अहं मर्त्यानां मरणधर्मणां प्राणिनां द्वे सृती द्वौ मार्गौ ये एते शुक्लकृष्णे सृती देवयानपितृयाणौ पन्थानौ अशृणवं श्रुतवानस्मि, श्रुतित इति शेषः। सा च शातपथी श्रुतिः—'स एष देवयानो वा पितृयाणो वा पन्थाः' (श० १।९।३।२) इति। के द्वे सृती? अत आह—देवानां मार्ग एकः। उत अपि च पितॄणां मार्गोऽपरः। ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति, तदः स्थाने यदो वृत्तिः, ताभ्यां याभ्यां पथिभ्यामिदं सर्वं जगद् एजत् क्रियावत् समेति सङ्गच्छते। कीदृश्यौ सृती? पितरं मातरं चान्तरा द्यौः पिता पृथिवी माता, द्यावापृथिव्योर्मध्ये, 'असौ वै पितेयं माता' (श० १२।८।१।२१) इति श्रुतेः। ताभ्यां देवयानपितृयाणमार्गाभ्याम्, सुहुतमस्त्विति शेषः। यद्वा पितरं मातरं चान्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्ये यदेजत् कम्पमानं क्रियावद् विश्वं सर्वमिदं याभ्यां सृतिभ्यां समेति सङ्गच्छते, ताभ्यां सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—मर्त्यानां मरणधर्मणां द्वे सृती अशृणवम्। ते चाग्न्याद्यधिष्ठातृदेवरूपिण्यौ। तथा चाह भगवान् गीतासु—'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते। एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥' (भ० गी० ८।२४-२६)। अग्निधूमादीन् जडानाश्रित्य अल्पज्ञा अल्पशक्तयो मर्त्या न गन्तव्यं स्थानं प्राप्तुं शक्नुवन्ति, अतः परमेश्वरनियुक्ता अग्निधूमाद्यधिष्ठातृदेवा एव तत्तन्मार्गाधिकारिणो जनान् यथायोग्यं ब्रह्मलोकं पितृलोकं वा प्रापयन्तीति।

'अर्चिरादिना तत्प्रथितेः' (ब्र० सू० ४।३।१)। सर्वो ब्रह्मप्रेप्सुरर्चिरादिनैवाध्वना रंहति। प्रथितो ह्येष मार्गः सर्वेषां विदुषाम्। 'वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम्' (ब्र० सू० ४।३।२) इत्यर्चिरादिमार्गे वायोरपि सन्निवेश उक्तः। 'तेऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्' (छा० ५।१०।१-२) इत्यत्र संवत्सरात् पराञ्चमादित्यादर्वाञ्चं वायुमभिसम्भवन्ति। कुत इति चेत्तत्राह सूत्रकारः—अविशेषविशेषाभ्याम्। तथा हि—'स वायुलोकम्' (कौ० १।३) इत्यत्राविशेषोपदिष्टस्य वायोः श्रुत्यन्तरे विशेषोपदेशो दृश्यते—'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति

तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति' (बृ० ५।१०।१)। एतस्मादादित्याद्वायोः पूर्वत्वदर्शनाद् विशेषादब्दादित्ययोरन्तराले वायुर्निवेशयितव्यः। ननु—'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकम्' (कौ० १।३) इत्यग्नेः परत्वदर्शनाद् अर्चिषोऽनन्तरं कथं न वायोर्निवेशः स्यादिति चेदत्रोच्यते—केवलोऽत्र पाठः पौर्वापर्येणावस्थितः, नात्र क्रमवचनः कश्चिच्छब्दोऽस्ति, पदार्थोपदर्शनमात्रं ह्यत्र क्रियते—एतमेतं चागच्छतीति। इतरत्र च पुनर्वायुप्रत्तेन रथचक्रमात्रेण छिद्रेणोर्ध्वमाक्रम्यादित्यमागच्छतीत्यवगम्यते क्रमः। तस्मात् सूक्तमविशेषविशेषाभ्यामिति।

वाजसनेयिनस्तु 'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्' (बृ० ६।२।१५) इति समामनन्ति। तत्रादित्यानन्तर्याय देवलोकाद्वायुमभिसम्भवेयुः। वायुमब्दादिति तु छन्दोगश्रुत्यपेक्षयोक्तम्। छान्दोग्यवाजसनेयकयोस्त्वेकत्र (छान्दोग्ये) देवलोको न विद्यते, परत्र (वाजसनेयके) संवत्सरो न विद्यते। तत्र श्रुतिद्वयप्रत्ययादुभावप्युभयत्र ग्रथयितव्यौ। तत्रापि माससम्बन्धात् संवत्सरः पूर्वः पश्चिमो देवलोक इति विवेकः। नहि मासो देवलोकेन सम्बद्धयते, किन्तु संवत्सरेण, तस्मात्तयोः परस्परं सम्बन्धाद् मासारभ्यत्वाच्च संवत्सरस्य मासानन्तर्यं संवत्सरस्येति संवत्सरात् परस्ताद् देवलोकः। तत्रादित्यानन्तर्याय वायोः संवत्सरस्य आदित्यस्य स्थाने देवलोकाद्वायुमिति पठितव्यमित्यर्थः।

'तडितोऽधिवरुणः सम्बन्धात्' (ब्र० सू० ४।३।३)। 'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्' (छा० ४।१५।५) इत्यस्या विद्युत उपरिष्टात् स वरुणलोकमित्ययं वरुणः सम्बद्धयते। अस्ति हि सम्बन्धो विद्युद्वरुणयोः, 'यदा हि विशाला विद्युतस्तीव्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरेषु प्रनृत्यन्त्यथापः प्रपतन्ति। विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा' (छा० ७।११।१) इति च ब्राह्मणम्। अपां चाधिपतिर्वरुण इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः। 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' (ब्र० सू० ४।३।४)। तेष्वेवार्चिरादिषु संशयः—किमेतानि मार्गचिह्नान्युत भोगभूमयोऽथवा नेतारो गन्तॄणामिति। तत्र मार्गलक्षणभूता अर्चिरादयः। यथा हि लोके कश्चिद् ग्रामं नगरं वा प्रतिष्ठासमानोऽनुशिष्यते—गच्छ इतस्त्वममुं गिरिं ततो न्यग्रोधं ततो नदीं ततो ग्रामं ततो नगरं वा प्राप्स्यसीत्येवमिहाप्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमित्याद्याह। अथवा भोगभूमय इति। तथाहि लोकशब्देनाग्न्यादीननुबध्नाति, 'अग्निलोकमागच्छति' (कौ० १।३) इत्यादि। लोकशब्दश्च प्राणिनां भोगायतनेषु प्रयुज्यते, 'मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः' (बृ० उ० १।५।१६) इति च। तथा च ब्राह्मणम्—'अहोरात्रेषु ते लोकेषु सज्जन्ते' इत्यादि। तस्मान्नातिवाहिका अर्चिरादय इत्येवं पूर्वपक्षयित्वा सिद्धान्ते आतिवाहिका अर्चिरादयो गन्तॄणां नेतार इति सिद्धान्तितम्। तल्लिङ्गादिति तत्र हेतुरुक्तः। तथाहि—'चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति'(छा० ४।१५।५) इति सिद्धवद् गमयितृत्वं दर्शयति। तद्वचनं तद्विषयमेवोपक्षीणमिति चेन्न, प्राप्तमानवत्वनिवृत्तिपरत्वाद्विशेषणस्य। यद्यर्चिरादिषु पुरुषा गमयितारः प्राप्तास्ते च मानवास्ततो युक्तं तन्निवृत्त्यर्थं पुरुषविशेषणममानव इति।

ननु तल्लिङ्गमात्रगमकं न्यायाभावात्, नैव दोषः—'उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः' (ब्र० सू० ४।३।५)। ये तावदर्चिरादिमार्गास्ते देहवियोगात् सम्पिण्डितकरणग्रामा इत्यस्वतन्त्रा अर्चिरादीनामप्यचेतनत्वादस्वातन्त्र्यमित्यतोऽर्चिराद्यभिमानिनश्चेतना देवताविशेषा अतियात्रायां नियुक्ता इति गम्यते। लोकेऽपि हि मत्तमूर्च्छितादयः सम्पिण्डितकरणाः परप्रयुक्तवर्त्मानो भवन्ति। अनवस्थितत्वादप्यर्चिरादीनां न मार्गलक्षणत्वोपपत्तिः। नहि रात्रौ मृतस्याहःस्वरूपाभिसम्भव उपपद्यते। न च मरणं दिनं वा रात्रिं वा प्रतीक्षते, तस्य कर्मनियतत्वात्। ध्रुवत्वात्तु देवतात्मनां नायं दोषो भवति। अर्चिरादिशब्दता चैषामर्चिराद्यभिमानादुपपद्यते। 'अर्चिषोऽहः' (छा० ४।१५।५, ५।१०।१) इत्यादिनिर्देशस्त्वातिवाहिकत्वेऽपि न विरुद्धयते। अर्चिषा हेतुनाऽहरभिसम्भवति। अह्ना हेतुनाऽऽपूर्यमाणपक्षमिति। लोके प्रसिद्धेष्वप्यातिवाहिकेष्वेवंजातीयक उपदेशो दृश्यते—गच्छ त्वमितो बलवर्माणम्, ततो

जयसिंहम्, ततः कृष्णगुप्तमिति । अपि चोपक्रमे—'तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति' (बृ० ६।२।१५) इति सम्बन्धमात्रमुक्तम्, न च सम्बन्धविशेषः कश्चित् । उपसंहारे तु—'स एतान् ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।६) इति सम्बन्धविशेषोऽतिवाह्यातिवाहकत्वलक्षण उक्तः । तेन स एवोपक्रमेऽपीति निर्धार्यते । सम्पिण्डितकरणत्वादेव च गन्तॄणां न तत्रोपभोगसम्भवः । लोकशब्दस्त्वनुपभुञ्जानेष्वपि गन्तृषु गमयितुं शक्यते, अन्येषां तल्लोकवासिनां भोगभूमित्वात् । अतोऽग्निस्वामिकं लोकं प्राप्तोऽग्निनातिवाह्यते, वायुस्वामिकं प्राप्तो वायुनेति योजयितव्यम् ।

अन्वातिवाहिकत्वपक्षे वरुणादिषु कथं तत्सम्भवः ? विद्युतो ह्यधि वरुणादय उपक्षिप्ताः । विद्युतस्त्वनन्तरमा ब्रह्मप्राप्तेरमानवस्यैव पुरुषस्य गमयितृत्वं श्रुतमिति शङ्का सूत्रकृतैवोत्तरिता—'वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः' (ब्र० स० ४।३।६) । ततो विद्युदभिसम्भवनादूर्ध्वं विद्युदनन्तरवर्तिनैवामानवेन पुरुषेण वरुणलोकादिष्वतिवाह्यमाना ब्रह्मलोकं गच्छन्तीत्यवगन्तव्यम्, 'तान् वैद्युतात् पुरुषोऽमानवः स एत्य ब्रह्मलोकं गमयति' इति तस्यैव गमयितृत्वश्रुतेः । वरुणादयस्तु तस्यैवाप्रतिबन्धकरणेन साहाय्यानुष्ठानेन वा केनचिदनुग्राहका इत्यवगन्तव्यमिति भगवत्पादाः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'स जुहोति । द्वे सृती अश्रृणवं पितॄणामहमिति द्वे वाव सृती इत्याहुर्देवानां चैव पितॄणां चेति ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेतीति ताभ्याᳬं ह्रीदᳬं सर्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेत्यसौ वै पितेयं माताऽऽभ्यामेव पितॄन् देवलोकमपिनयति' (श० १२।८।१।२१) । स जुहोति । ताभ्यामिदं द्यावापृथिव्योः सकाशात् पितॄन् देवलोकमपिनयत्यनेन देवयानपितृयाणौ तर्पयित्वेति हरिस्वामी ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, अहं ये पितॄणां जनकादीनां देवानामाचार्यादीनां विदुषां द्वे सृती गच्छन्त्यागच्छन्ति च जीवा ययोस्ते अश्रृणवं श्रृणोमि । ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यत् पितरं जनकं मातरं जननीमन्तरा पृथग्भूत्वा शरीरान्तरेणान्यौ मातापितरौ प्राप्नोति, तदेतद् यूयं विजानीत' इति, तदपि विसङ्गतमेव, अनुपपत्तेः । जनकादीनामाचार्याणां च मनुष्यत्वाविशेष्ये तद्भेदान्मार्गभेदासम्भवात् । न च जनकादीनामविद्वत्त्वेन देवाद्भिन्नत्वम्, तेषामपि विद्वत्त्वसम्भवात् । न च विदुषामविदुषां जननमरणभेदोऽपि वक्तुं शक्यः । न च जननमरणे एव द्वे गती, तयोः सर्वसाधारणत्वात् । न च 'पितरं मातरमन्तरा' इति वाक्यस्य पितरं मातरं चान्तरा पृथग्भूय शरीरान्तरेण अन्यौ मातापितरौ प्राप्नोतीत्यर्थः सम्भवति, तत्र तादृशार्थासामर्थ्यात् । न चाध्याहारबलात्तथार्थ इति मन्तव्यम्, अध्याहारे मानाभावात्, श्रुतिस्मृतिसूत्रविरोधश्च । उद्धृतश्रुतौ स्पष्टमेव मातृपितृशब्दाभ्यां द्यावापृथिव्योर्ग्रहणम् । 'सृती' इत्यनेन देवयानपितृयाणयोरेव ग्रहणम्, न जननमरणयोरिति ॥ ४७ ॥

इदᳬं हविः प्रजननं मे अस्तु दशवीरᳬं सर्वगणᳬं स्वस्तये । आत्मसनि प्रजासनि पशुसनि लोकसन्यभयसनि । अग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतो अस्मासु धत्त ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ—यह प्रजा को उत्पन्न करने वाला हवि दस प्राण और दस इन्द्रियों को उन्नति देने वाला है । सब अंगों को पुष्टि देनेवाला, आत्मा को प्रसन्न करने वाला, प्रजा को उन्नति देने वाला, पशुधन की वृद्धि करने वाला, लोक में प्रतिष्ठा देने वाला, बल प्रदान कर अभय देने वाला यह हवि मेरे लिये कल्याणकारक हो । अग्नि देवता मेरी प्रजा की वृद्धि करें । हमारे लिये अन्न, दूध और वीर्य को धारण करें ॥ ४८ ॥

'शेषं यजमानो भक्षयतीदᳬं हविरिति' (का० श्रौ० १९।३।३०) । उखास्थितं शेषं पयो यजमानो भक्षयेदिति सूत्रार्थः । अत्र ब्राह्मणम्—'एकाकी हुतोच्छिष्टं भक्षयत्येकधैव श्रियमात्मन् धत्ते श्रीर्हि पयः'

(श० १२।८।१।२१)। एकाकी असहायः हुतोच्छिष्टं भक्षयति न ऋत्विग्भिः सार्धम्। तेन एकधैव श्रियमात्मन् धत्ते। यजमानाशीर्देवत्या [1]त्र्यवसाना [2]अष्टिः, एको[3] व्यूहः। इदं हविः पयोरूपं मे मम स्वस्तये अविनाशायास्तु। कीदृशं हविः? प्रजननं प्रजनयतीति तथोक्तम्, प्रजोत्पादकम्। पुनः कीदृशम्? दशवीरम्, दश दशसंख्याका वीराः प्राणलक्षणा यत्र यत् तथोक्तम्। यस्मिन् पीते प्राणापानव्यानसमानोदाननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जयाख्याः स्वास्थ्यं लभन्त इति। तथा सर्वगणं सर्वे गणा अङ्गानि यस्मिंस्तत् तथोक्तम्। यस्मिन् पीते सर्वाणि हस्तपादमुखादीन्यङ्गानि स्वस्थानि भवन्तीत्यर्थः। आत्मसनि आत्मानं सनोति ददाति सनति सम्भजते वा तत् सनि। औणादिक इः। 'षणु दाने' तनादिः, 'षण् सम्भक्तौ' भ्वादिः। यस्मिन् पीते परमात्मलाभसामर्थ्यं जायते, आत्मसम्भजनं वा जायते, तत्तादृशमिदं हविरित्यर्थः। प्रजासनि प्रजाः सनोति ददाति सनति सम्भजते वा तत् तथोक्तम्। पशुसनि पशून् सनोति ददाति सनति सम्भजते वा तथोक्तम्। अत्र पशुपदं सर्वविधपशुपरम्। लोकसनि लोकमैहिकं सनोति, ऐहिकं सुखं ददातीत्यर्थः, सनति सम्भजते वा तथोक्तम्। अभयसनि अभयं स्वर्गं सनोति ददाति सनति सम्भजते वा तथोक्तम्। तत्तदुक्तगुणविशिष्टमपि मम स्वस्तयेऽस्त्विति सम्बन्धः। एवं हविरभ्यर्थ्य अग्निं प्रार्थयते—अग्निर्देवो मम प्रजां बहुलां प्रवृद्धां करोतु। एवमग्निमुक्त्वा ऋत्विजः प्रत्याह—हे ऋत्विजः, अस्मासु अन्नं व्रीह्यादि पयो दुग्धं रेतः शुक्रं वीर्यवतां वीर्यं वा धत्त स्थापयत।

अत्र ब्राह्मणम्—'स भक्षयति। इदꣳ हविः प्रजननं मे अस्त्विति प्रजननꣳ हि यदि पयो यदि सोमो दशवीरमिति प्राणा वै दश वीराः प्राणानेवात्मन् धत्ते सर्वगणमित्यङ्गानि वै सर्वं गणा अङ्गान्येवात्मन् धत्ते स्वस्तय आत्मसनीत्यात्मानमेव सनोति प्रजासनीति....लोकाय वै यजते तमेव जयत्यभयसनीति स्वर्गो वै लोकोऽभयꣳ स्वर्ग एव लोकेऽन्ततः प्रतितिष्ठत्यग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतो अस्मासु धत्तेति तद्य एवैनमेते याजयन्ति तानेतदाहैतन्मयि सर्वं धत्तेति हिरण्येन मार्जयन्तेऽमृतं वै हिरण्यममृत एवान्ततः प्रतितिष्ठन्ति' (श० १२।८।१।२२)। प्रजननं हि हविः, यदि पयो लोकदृष्ट्या। यदि सोम उपासनया। प्राणा वै दश विक्रान्ता वीराः। ते तर्पयितव्या अस्य सन्तीति दशवीरम्। एवं हस्तादीनि सर्वाण्यङ्गान्येव तर्पयितव्यानि विद्यन्तेऽस्येति सर्वगणम्। एवमङ्गान्येवात्मन् धत्ते। स्वस्तये अविनाशाय। आत्म-प्रजा-पशु-लोक-स्वर्गाद्यभीष्टप्रदमिदं हविरन्ततः स्वर्गे लोके प्रतितिष्ठति। पवित्र-वाल-हिरण्यानां मध्ये हिरण्येन मार्जयन्ते, ऋत्विज इति शेषः। हिरण्यं चामृतमग्निदाहेऽप्यनष्टम्। तेन मार्जनेन यजमान आत्मानमेवामृतं करोति।

अध्यात्मपक्षे—इदं हविर्भगवदुपभुक्तं वस्तु भुक्तं सत् प्रजननं ज्ञानवैराग्याद्युत्पादकं भवति। अत्र दशवीराणां प्राणानां सर्वगणानां सर्वाङ्गानां च आप्यायनसामर्थ्यमस्तीति तत्तादृशं हविर्दशवीरं सर्वगणम्। तच्च आत्मसनि आत्मा कार्यकरणसङ्घातः, आत्मा मनः, आत्मा प्रत्यगभिन्नः परमात्मा, सङ्घातादीनां स्वास्थ्यकरं पावकम्, परमात्मप्रापकं च भवति। अग्निः सर्वपापतापसंहारको भगवान् मे प्रजां पुत्रशिष्यादिरूपां बहुलां बाहुल्योपेतां करोतु। अन्नं पयो रेतः प्रसिद्धानि। अन्नं ज्ञानमशनायादिनिवर्तकत्वात्, पयो वैराग्यं ज्ञानसहकारित्वात्, रेतो ब्रह्मात्मनिष्ठासामर्थ्यं दार्ढ्यं च। एतानि हे ऋत्विजः! सेव्यमानाः सन्तो वाऽस्मासु धत्त स्थापयत।

---

१. त्रीण्यवसानानि विरामा यस्यां सा तथाभूता।

२. अष्टिछन्दस्का।

३. अष्टौ चतुःषष्ट्यक्षराणि भवन्ति, अत्र कण्डिकायां त्रिषष्ट्यक्षराणि, अतो व्यूहेन (स्वस्तये इत्यत्र सुवस्तये) चतुःषष्ट्यक्षराणि कार्याणि।

दयानन्दस्तु—'अग्निः पतिर्मे बहुलां बहुसुखप्रदां प्रजां करोतु। यदिदं प्रजननमुत्पत्तिनिमित्तं हविर्दातुमादातुं योग्यं दशवीरं दशसन्तानोत्पादकं सर्वगणं सर्वे गणा गण्याः प्रशंसनीयाः पदार्था यस्मिन्, यस्मादात्मसेवनम्, प्रजासेवनम्, पशुसेवनम्, लोकसेवनम्, अभयदानं च सम्पद्यते, तादृशं सन्तानं स्वस्तये सुखायास्तु। हे मातृपितृप्रभृतिजनाः, अस्मासु अन्नं पयो रेतो वीर्यं धत्त' इति, तदसङ्गतम्, सर्वथाप्यनुपपत्तेः। अग्निपदेन पत्युर्ग्रहणे मानाभावः। नहि गच्छतीति व्युत्पत्त्यापि मनुष्यो महिषो वा गौः सम्भवति। हविर्दातुमादातुं योग्यम्, दशसन्तानोत्पादकमिदं प्रजननं किम्? इत्यधुनापि न स्पष्टम्। स्त्रीव्यञ्जनं चेत्, सर्वगणमिति विशेषणानुपपत्तिः, प्रजां बहुलां करोत्वित्युक्त्यैव गतार्थत्वात्। तादृशाश्लीलवर्णनस्य न किमपि प्रयोजनमुत्पश्यामः। किञ्चात्मसन्यादिकं यस्य सन्तानस्य विशेषणम्, तथोक्तस्य तु मन्त्रे चर्चापि नास्ति, कुतस्तदुपपत्तिः? पूर्वोद्धृतब्राह्मणविरोधश्च। न च मातापित्रादयो दुहितृषु प्रजां रेतो वा धारयितुं शक्नुवन्तीति तदर्थनापि व्यर्थैव॥ ४८॥

उदी॑रता॒मव॑र॒ उत्परा॑स॒ उन्म॑ध्य॒माः पि॒तरः॑ सो॒म्यासः॑।

असुं॒ य ई॒युर॑वृ॒का ऋ॑त॒ज्ञास्ते नो॑ऽवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु॥ ४९॥

मन्त्रार्थ—इस लोक में स्थित, परलोक में स्थित और मध्यलोक में स्थित सोमपायी पितृगण ऊपर के लोक को प्राप्त हों। जो पितृगण प्राण रूप को प्राप्त हैं, वे शत्रुरहित होने से निरपेक्ष रूप के ज्ञाता स्वाध्यायनिष्ठ पितृगण बुलाने पर हमारी रक्षा के लिये तुरन्त आ जाँय॥ ४९॥

'सोमवतां बर्हिषदामग्निष्वात्तानां च' (का० श्रौ० १९।३।२५)। अस्य सूत्रस्यार्थः परस्ताद्वर्णयिष्यते। अत्रैवं विभावनीयम्—उदीरतामित्यादिकत्रयोदशर्चोऽयमनुवाकः। अस्मिन् उदीरताम् (४९), अङ्गिरसः (५०), ये नः पूर्वे (५१) इति ऋक्त्रयस्य, अग्निष्वात्तानिति त्रयोदश्याश्च ऋचो विनियोगः कल्पकृता प्रोक्तः। अवशिष्टास्तु मध्यपातिन्यो नवर्चः। तत्र त्वꣳ सोम (५२), त्वया हि नः (५३), त्वꣳ सोम पितृभिः (५४) इति तृचं सोमवतां पितॄणाम्; बर्हिषदः पितरः (५५), आहं पितॄन् (५६), उपहूताः पितरः (५७) इति तृचं बर्हिषदां पितॄणाम्; आयन्तु नः (५८), अग्निष्वात्ताः पितरः (५९), ये अग्निष्वात्ताः (६०) इति तृचमग्निष्वात्तानाम्। तत्र 'नवर्चं वाचयति पुनन्तु मेति' (का० श्रौ० १९।३।२४) इति प्रतिपादितनवर्चवाचनानन्तरं सोमवत्पितृदेवत्यं बर्हिषत्पितृदेवत्यमग्निष्वात्तपितृदेवत्यं च तृचत्रयम्, अर्थान्नवर्चम्, त्वं सोम प्रचिकित इत्यारभ्य तन्वं कल्पयातीत्यन्तं प्रत्यृचमध्वर्युर्यजमानेन वाचयतीति सूत्रार्थः। अयमनुवाकः शङ्खदृष्टः पितृदेवत्यः। अस्मिन्ननुवाके 'अग्निष्वात्ताः पितरः' (५९) इत्यृग् जगती, अन्या द्वादश त्रिष्टुभः।

अवरे अपकृष्टे अस्मिँल्लोकेऽवस्थिताः पितरः, उदीरताम् ऊर्ध्वं क्रमन्ताम्, ऊर्ध्वलोकं गच्छन्तु। 'ईर गतौ कम्पने च' इत्यादादिकस्य लोटि रूपम्। परासः पराः परस्मिन् लोके स्थिताः पितर उदीरतां तस्मादपि स्थानात् परं स्थानं गच्छन्तु। मध्यमा मध्ये भवाः पितरः, उदीरताम्। कीदृशाः पितरः? सोम्यासः सोम्याः। सोमं सम्पादयन्ति ये ते सोम्याः, सोममर्हन्ति वा। 'सोममर्हति यः' (पा० सू० ४।४।१३७) इति साधुः। ये च असुं प्राणमीयुर्वातात्मानो वातरूपं प्राप्ताः। अवृकाः, न वृका अवृकाः, वृकवदकुटिलहृदयाः, शत्रुष्वपि माध्यस्थ्यमवलम्बमाना उदासीनाः। अथवा अविद्यमानो वृकः शत्रुर्येषां ते। ऋतज्ञाः सत्यज्ञानाः, यज्ञज्ञाः स्वाध्यायनिष्ठा वा तेऽपि ततोऽपि विशिष्टतरं स्थानमुदीरतां गच्छन्तु। एवं च ये स्वकीयेन कर्मणा अस्मदीयेन श्राद्धतर्पणादिना

वा उन्नतिं प्राप्तास्ते नोऽस्मान् हवेष्वाह्वानेषु अवन्तु रक्षन्तु, यदा वयमाह्वयेम तदा अस्मदीयमाह्वानं श्रुत्वा तत्क्षणमेव तेऽस्मान् रक्षन्त्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वर एव तत्तल्लोकेषु पितृरूपेण रूपान्तरेण च पूज्यते, औपाधिकरूपेण तस्यैव अधस्तात् परस्तादवस्थानं ततस्ततः परतरस्थानगमनं च न विरुध्यते। ये पितृतुल्याः साधका वा उत्कृष्टापकृष्टभूमिषु स्थितास्ते ततस्तत उत्कृष्टभूमिकागमनाय प्रोत्साह्यन्ते।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, ये अवृका ऋतज्ञाः पितरः पालका हवेषु संग्रामादिव्यवहारेषु समुदीयुस्तेन न उदवन्तु, ये सोम्यासोऽवरे परासो मध्यमास्तेऽस्मान् हवेषु उदीरताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वृकशब्दस्य चौर्यार्थत्वासिद्धेः, संग्रामे पितॄणां पुत्रादिनियोगाप्रसङ्गाच्च ॥ ४९ ॥

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयꣳ सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ – स्तुति करने योग्य, नवीन गति वाले, सोम रस के सम्पादक, अंगिरावंशी, अथर्ववंशी और भृगुवंशी हमारे पितृगण, जो इस समय पितृलोक में विराजमान हैं, उन यज्ञों के शुभचिन्तक पूजनीय पितरों की सुन्दर बुद्धि में तथा कल्याणकारक मन में हम सदा विद्यमान रहें, अर्थात् पितरों की बुद्धि और मन सदा हमारा कल्याण करने में लगी रहे ॥ ५० ॥

ये नोऽस्माकं पितरस्तेषां पितॄणां सुमतौ शोभनायां बुद्धौ वयं स्याम भवेम, तेऽस्मासु शोभनामनुग्रहपूर्णां दयार्द्रां बुद्धिं कुर्वन्त्वित्यर्थः। तेषां भद्रे कल्याणकरे सौमनसे सुमनसो भावः सौमनसं तस्मिन्। तेऽस्मासु शुभानुसन्धानोपेतं मनः कुर्वन्त्वित्यर्थः। कीदृशानां पितॄणाम् ? यज्ञियानाम्, यज्ञे हिता यज्ञियास्तेषाम्, अनुयोगिनि सप्तमी, प्रतियोगिनि तु चतुर्थी, यज्ञसम्पादनेऽनुकूलानाम्। कीदृशाः पितरः ? अङ्गिरसः, अङ्गिरसोऽपत्यान्यङ्गिरसः, बहुत्वे 'अत्रिभृगुकुत्सवशिष्ठगोतमाङ्गिरोभ्यश्च' (पा० सू० २।४।६५) इति तद्धितलोपः, अङ्गिरसोऽपत्यरूपाः। नवग्वाः, नवा नूतना ग्वा गतिर्येषां ते, नवा नवनीया स्तोतव्या ग्वा येषामिति वा। अथर्वाणः, अथर्वणो मुनेर्बहून्यपत्यानि। भृगवः भृगोरपत्यानि। सोम्यासः सोममर्हन्तीति सोम्यासः सोम्याः, सोमसम्पादिन इत्यर्थः। 'सोममर्हति यः' (पा० सू० ४।४।१३७) इति साधुः।

अध्यात्मपक्षे—पितरः पितृतुल्या अङ्गिरसोऽङ्गिरःकुलोत्पन्नाः, नवग्वा नवाः स्तोतव्या ग्वा गतयोऽणिमादिसिद्धिरूपाः, मुक्त्यादिप्राप्तिरूपाः, निष्कामभक्तिप्राप्तिरूपा वा येषां ते। अथर्वाणः, अथर्वर्षिकुलोत्पन्ना बहवः। भृगवो भृगोर्बहवोऽपत्यरूपाः। सोम्यासः सोमवदाह्लादकाः। साधका मुक्ता वा ये सन्ति, तेषां सुमतौ वयं स्याम, तेषामनुसन्धानमात्रेण नृणां कल्याणसम्भवात्, 'यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वार्थगोचरा। तद्दृष्टिगोचराः सर्वे पूताः स्युरप्रयत्नतः॥' इत्यभियुक्तोक्तेः। यज्ञियानां ज्ञानयोगनिष्ठानां तेषां भद्रे कल्याणमये सौमनसे शोभनमनोभावे वयं स्याम।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, ये नोऽङ्गिरसः सर्वसिद्धान्तविद्याविदो नवग्वा अथर्वाणोऽहिंसका भृगवः परिपक्वविज्ञानाः सोम्यासः पितरः पालकाः सन्ति, तेषां यज्ञियानां सुमतौ भद्रे सौमनसे स्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, प्रसिद्धार्थत्यागे मानाभावात्, सुमतौ भद्रे सौमनसे भवनस्यानिरूपणात्। न च तदनुगुणप्रवृत्तिरेव भवनम्, भवतेस्तथार्थत्वे मानाभावात्। त्वत्कृतार्थस्य प्रामाणिकत्वे भृगव इति पदेनैव गतार्थत्वेन अङ्गिरसादिपदानां वैयर्थ्यापातात्, परिपक्वज्ञानेषु सिद्धान्तविद्यादीनामर्थसिद्धत्वात् ॥ ५० ॥

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः संᳬरराणो हवीᳬंष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—हमारे जिन सोम-सम्पादक वसिष्ठवंशी पूर्व पितरों ने सोमपान के निमित्त देवताओं का आह्वान किया था, वही इस समय सोमपान के लिये आमन्त्रित हैं। सोम की इच्छा वाले पितृपति उन सब पितरों के साथ प्रसन्न मन से हमारी दी हुई हवियों को यथेच्छ भक्षण करें ॥ ५१ ॥

नोऽस्माकं ये पूर्वे वसिष्ठा वसिष्ठस्य बहून्यपत्यानि, सोम्यासः सोमसम्पादिनः पितरः सोमपीथं सोमपानम् अनु ऊहिरे अनुवहन्ति स्म देवान् प्रापितवन्तः, तेभिस्तैः पितृभिः, उशद्भिः कामयमानैः, संरराणः प्रीयमाणः सन् उशन् कामयमानो यमः संयमनीपतिः पितृपतिः प्रतिकामं यथाकामं हवींषि अत्तु। 'ऊहिरे' इति 'वह प्रापणे' इत्यस्य लिटि प्रथमाबहुवचने, संपूर्वस्य 'रा दाने' इत्यस्य शानचि शपः श्लौ संरराण इति, 'वश कान्तौ' इत्यस्य शतरि उशन्निति रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—ये पितरो वसिष्ठाः सोम्यासो वसिष्ठोपलक्षिततत्तदृषिकुलोत्पन्नाः, सोमपीथं सोमपानमनूहिरे देवान् पायितवन्तः, तैरुशद्भिर्भगवन्तं कामयमानैः संरराणः प्रीयमाणः तांश्चोशन् कामयमानो यमः सर्वनियन्ता भगवान् हवींषि भक्तैः समर्पितानि नैवेद्यानि अत्तु भक्षयतु।

दयानन्दस्तु—'ये नः सोम्यासो वसिष्ठा अतिशयेन धनिनः पूर्वे पितरो ज्ञानिनः सोमपीथमनूहिरे अनुवहन्ति पुनः पुनः प्राप्नुवन्ति च, तेभिस्तैरुशद्भिः सह हवींष्युशन् संरराणो यमो न्यायी संयमी सन्तानः प्रतिकाममत्तु' इति, तदपि निरर्थकम्, यमशब्दस्य सन्तानार्थकत्वासिद्धेः ॥ ५१ ॥

त्वᳬं सोम प्रचिकितो मनीषा त्वᳬं रजिष्ठमनुनेषि पन्थाम्।
तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुम कान्ति और चेतना से युक्त हो, तुम अपनी बुद्धि के द्वारा अतिसरल देवयान मार्ग को प्राप्त कराते हो। हे सोम! हमारे धैर्यवान् पितरों ने तुम्हारे आश्रय से देवताओं में श्रेष्ठ यज्ञफल को पाया है ॥५२॥

हे सोम, त्वं प्रचिकितः प्रकर्षेण चेतनावान् विशिष्टज्ञानविज्ञानसम्पन्नः, मनीषा यज्वनां मनसो विशिष्टतरेच्छा असि। यद्वा—हे सोम, त्वं मनीषा मनीषया स्वप्रज्ञया यावज्ज्ञातव्यं तस्य प्रचिकितः प्रकर्षेण ज्ञातासि। 'कित निवासे रोगापनयने च', अत्र ज्ञाने वृत्तिः। त्वं च रजिष्ठम् अतिशयेन ऋजु इति रजिष्ठम् 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (पा० सू० ५।३।५५) इति तमपि, 'विभाषर्जोश्छन्दसि' (पा० सू० ६।४।१६२) इत्यृकारस्य रेफे रूपम्। ऋजुतमं देवयानाख्यं पन्थां पन्थानम्, पथिन्शब्दाद् द्वितीयैकवचने सर्वनामस्थानेऽपि 'अयस्मयादीनि छन्दसि' (पा० सू० १।४।२०) इति यथायोग्यं पदत्वे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (पा० सू० ८।२।७) इति नकारलोपे सवर्णदीर्घे च पन्थामिति रूपम्। अनुनेषि अधिकारिणो जनान् अनुनयसि। नयतेः शपि लुसे गुणे लटि रूपम्। किञ्च, हे इन्दो! तव प्रणीती प्रणीत्या प्रणयनेन तवाभ्यनुज्ञया नो धीरा धीमन्तो यज्ञादिज्ञानवन्तः पितरो देवेषु मध्ये रत्नं रमणीयं यज्ञफलम् अभजन्त सिषेविरे, सोमयागेनैवोत्तमफललाभात्। यद्वा हे सोम, त्वं

मनीषा मनीषया स्वप्रज्ञया रजिष्ठं देवयानं पन्थानमनुनयसि प्रापयसीति सम्बन्धः। मनीषेति तृतीयैकवचने पूर्वसवर्णदीर्घः।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बसदाशिव, त्वं प्रचिकितः प्रकृष्टज्ञानः सर्वज्ञोऽसि। हे इन्दो! सोमवत्प्रियदर्शन चन्द्रशेखर, त्वं मनीषया स्वप्रज्ञयाऽधिकारिजनान् रजिष्ठम् ऋजुतमं त्वत्प्रापकं पन्थां पन्थानम् अनुनेषि अनुनयसि प्रापयसि। तव प्रणीती प्रणीत्या प्रणयनेन धीरा धीमन्तः पितरः पितृतुल्याः साधकाः सिद्धाश्च देवेषु स्वप्रभया भासमानेषु भक्तेषु मध्ये रत्नं रमणीयं फलमभजन्त सिषेविरे प्राप्नुवन्ति च।

दयानन्दस्तु—'हे सोम विविधैश्वर्ययुक्त, प्रचिकितः प्राप्तविज्ञानस्त्वं मनीषा प्रज्ञया यं रजिष्ठम् अतिशयेन ऋजुं कोमलं पन्थां नेषि नयसि तं त्वं मामनुनय। हे इन्दो! चन्द्र इव वर्तमान, ये तव प्रणीती प्रकृष्टा चासौ नीतिश्च, धीराः पितरो देवेषु रत्नम् अभजन्त तेऽस्माभिर्नित्यं सेवनीयाः सन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, यम्-तम्-माम्-इत्यादिपदानां मूलेऽभावात्। कोऽयं सम्बोधनीयो यस्य प्रणीत्या सह धीरा वर्तन्ते, ते च किमर्थं विद्वत्सु सम्बोधयित्रर्थे रत्नं भजेरन्, नह्यन्यार्थेऽन्यो रत्नं भजति॥ ५२॥

त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः।
वन्वन्नवातः परिधीँ२॥रपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः॥ ५३॥

मन्त्रार्थ—हे सबको पवित्र करने वाले सोम! हमारे धीर पितरों ने तुम्हारी सहायता से यज्ञ आदि कर्मों को पूरा किया है। इस कारण हम प्रार्थना करते हैं कि इस कर्म की रक्षा में लगे हुए तुम वात आदि के उपद्रवों को और उपद्रवकारियों को यहाँ से दूर करो। वीर अश्वों के द्वारा हमें सब ओर से धन प्राप्त कराओ॥ ५३॥

हे सोम हे पवमान शोधक, नोऽस्माकं पूर्वे पूर्वजा धीरा धीमन्तः पितरो हि यस्मात् त्वया आश्रयभूतेन कर्माणि सोमसमवेतज्योतिष्टोमादीनि यज्ञादीनि, चक्रुः कृतवन्तः, अतस्त्वां प्रार्थये यत् त्वं परिधीन् परितः सर्वतो दधति उपद्रवाय तिष्ठन्तीति परिधयः, सर्वतो निहिता यज्ञोपद्रवकारिणस्तान्, अपोर्णु अपगमय। कथम्भूतस्त्वम्? वन्वन् सम्भजमानः। तान्यस्मदीयानि कर्माणि अव रक्ष। यद्वा—अवातो वाताद्युपद्रवरहितः स्वस्थचित्तः परिधीन् अपोर्णु। किञ्च, वीरेभिर्वीरैरश्वैश्च सहितः सन्नोऽस्माकं मघवा धनवान् भव। मघं धनमस्यामस्तीति मघवा। यो यस्मै ददाति स तस्य धनवानिति बुद्ध्या तथोक्तिः। भवा इति संहितायां दीर्घः। 'परिधीँ अप' इत्यत्र 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० सू० ८।३।९) इति नकारस्य रुः।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम साम्बसदाशिव, हि यस्मात् त्वया आश्रयभूतेन नोऽस्माकं धीरा धीमन्तः पूर्वे पूर्वजाः पितरः कर्माणि त्वदाराधनलक्षणानि चक्रुः, अतोऽस्मात् कारणाद् हे पवमान, नाम्नैव विश्वपावन वन्वन् अस्मदीयानि कर्माणि अव रक्ष। परिधीन् सर्वतो निहितान् यज्ञोपद्रवकारिणोऽपोर्णु अपगमय। वीरेभिः वीरैरश्वैश्च सहितो नोऽस्माकं मघवा धनवान् भव। अस्माकं धनं धनवांश्च सर्वं त्वमेव भव।

दयानन्दस्तु—'हे पवमान सोम, त्वया विदुषा सह नः पूर्वे धीराः पितरो यानि धर्म्याणि कर्माणि चक्रुस्तानि हि वयमप्यनुतिष्ठेम। अवातो वन्वन् धर्मं सेवमानस्त्वं वीरेभिरश्वैश्च सह नः शत्रून् परिधीन् अपोर्णु मघवा च भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारकल्पनाभूयस्त्वात्। तानि वयमप्यनुतिष्ठेमेत्यस्य मूलेऽनुपलम्भ एव। 'धर्मं वन्वन् सन्तानस्त्वं शत्रूनपोर्णु' इत्यर्थेऽपि धर्मसन्तानादिपदानां मूलेऽभाव एव॥ ५३॥

त्वꣳ सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आततन्थ ।
तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम ! पितरों के साथ संवाद करते हुए तुमने स्वर्ग और पृथ्वी का विस्तार किया है । हे सोम ! तुम्हारे लिये हम हवि का विधान करते हैं । तुम्हारी कृपा से हम धनवान् बनें ॥ ५४ ॥

हे सोम, यस्त्वं पितृभिः संविदानः संवादं कुर्वाणः, 'समो गमृच्छिभ्याम्' (पा० सू० १।३।२९) इति स्थलीयेन 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्' इति वार्त्तिकेनात्मनेपदम्, ततः शानचि रूपसिद्धिः । द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अन्वाततन्थ विस्तारितवान् । 'तनु विस्तारे' इत्यस्माल्लिटि 'बभूथाततन्थजगृम्भववर्थेति निगमे' (पा० सू० ७।२।६४) इति निपातितः । हे इन्दो, तस्मै ते तुभ्यं हविषा विधेम हविर्दद्मः, विभक्तिव्यत्ययः । विदधतिर्दानार्थः । वयं च हविःप्रदानानन्तरं रयीणां पतयः स्याम भवेम ।

इत्येष सोमवतां पितॄणां षडृचः समाप्तः सम्पूर्णः ।

अध्यात्मपक्षे—हे सोम, पूर्वजैः पितृभिः संविदानः संवादं कुर्वाणोऽनायासेन द्यावापृथिव्यौ आततन्थ विस्तारितवान् । हे इन्दो चन्द्रवत्प्रियदर्शन चन्द्रशेखर, तस्मै ते हविर्नैवेद्यं समर्पयामः । वयं त्वत्प्रसादज्ज्ञानवैराग्यादिदैवसम्पदां पतयोऽधिकारिणः स्याम भवेम ।

दयानन्दस्तु—'हे सोम सुसन्तान, पितृभिः सह संविदानो यस्त्वं द्यावापृथिवी सुखमाततन्थ, हे इन्दो ! तस्मै ते वयं हविषा सुखं विधेम, यतो रयीणां पतयः स्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारगौणार्थाश्रयत्वयोर्निर्मूलत्वात् ॥ ५४ ॥

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् ।
त आगतावसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—इस मन्त्र से बर्हिषद पितरों का उपस्थान करते हैं । हे कुशासन पर विराजमान होने वाले पितरों ! आप सब हमारी रक्षा के लिये कल्याण बुद्धि से यहाँ आइये । आप लोगों के लिये हमने यह हवि तैयार की है । आप इसका सेवन कीजिये । परम सुखदायक इस हवि से तृप्त होकर आप लोग हमें सुख और अभय प्रदान कीजिये, पापों से हमें मुक्त रखिये ॥ ५५ ॥

बर्हिषद इति तिस्र ऋचो बर्हिषदां पितॄणाम् । बर्हिषि दर्भे सीदन्तीति बर्हिषदः, पृषोदरादित्वादन्त्याक्षरलोपः । एते पितरो हविर्यज्ञयाजिनः । हे बर्हिषदः पितरः ! ते यूयमूत्या अवनेन मिमित्तेन अर्वागागत आगच्छत । किमर्थमिति चेत् ? वो युष्माकम् इमा इमानि हव्या हव्यानि हवींषि वयं चकृम कृतवन्तः, तानि जुषध्वं सेवध्वम् । अथ अनन्तरं शन्तमेन सुखयितृतमेन अवसा अन्नेन तर्पिताः सन्तो नोऽस्माकं शंयोः, पदद्वयमेतत्, शं सुखं रोगशमनं योर्भयपृथक्करणम्, अरपः पापाभावं च दधात धत्त स्थापयत । 'रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः, शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्' (निरु० ४।२१) । दधातेति 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति तकारस्य तबादेशात् पित्त्वेन ङित्वाभावात् 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (पा० सू० ६।४।११२) इत्यालोपाभावः ।

अध्यात्मपक्षे—हे पितरः पितृतुल्या बर्हिषदो दर्भासीनास्तपोधनाः, यूयम् ऊती ऊत्या अवनेन हेतुना अर्वाक् परमात्मलोकादधस्ताद् बाह्यं जगद् आगत आगच्छत। वो युष्माकम् इमा इमानि हव्या हव्यानि ज्ञानलक्षणानि हवींषि वयं चकृम कृतवन्तः। वयं युष्मभ्यं सकाशात् सम्पादयिष्यामः। अथ आगमनानन्तरं शन्तमेन ज्ञानलक्षणेन अवसा अन्नेन नोऽस्माकं शंयोः शमनं रोगाणां यावनं च भयानाम्, अन्यदपि अरपं पापाभावं दधात धत्त, 'गङ्गा पापं शशी तापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा। पापं तापं च दैन्यं च हन्ति साधुसमागमः॥' इत्यभियुक्तोक्तेः।

दयानन्दस्तु—'हे बर्हिषदः, बर्हिषि उत्तमायां सभायां सीदन्तीति तथोक्ताः पितरः पालकाः, वयमर्वाग् येभ्यो वो युष्मभ्यमिमा इमानि हव्या अत्तुमर्हाणि चकृम तानि यूयं जुषध्वम्। शन्तमेनावसा रक्षोघ्नेन सहागत। अथ नः शमरपश्च दधात दुःखं च योः दूरीकुरुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बर्हिषद इत्यस्य तथार्थत्वे मानाभावात्। अर्वागित्यस्य पश्चादित्यर्थोऽपि निर्मूल एव। संस्कृतानि कुर्म इत्यपि तथाभूत एवार्थः। न च सर्वैः सभासदां कृतेऽन्नानि संस्क्रियन्ते॥ ५५॥

आहं पि॒तॄन् सु॑वि॒दत्राँ॑२॥ अवित्सि॒ नपा॑तं च वि॒क्रम॑णं च॒ विष्णोः॑।
ब॒र्हि॒षदो॒ ये स्व॒धया॑ सु॒तस्य॒ भज॑न्त पि॒त्वस्त इ॒हाग॑मिष्ठाः॥ ५६॥

मन्त्रार्थ—मैं कल्याण देने वाले पितरों को अच्छी तरह से जानता हूँ। व्यापक और अच्युत देवयान मार्ग को और अनेक प्रकार के गमन वाले, जहाँ से कि लौट कर आना पड़ता है, पितृयान मार्ग को मैं जानता हूँ। कुशा के आसन पर बैठने वाले पितृगण स्वधा रूपी अन्न के साथ अभिषुत सोम का सेवन करने के लिये यहाँ पधारें॥ ५६॥

अहं पितॄन् आ आभिमुख्येन अवित्सि वेद्मि विदितवान्। विदेर्लुङि आत्मनेपदे उत्तमैकवचने रूपम्। कथंभूतान् पितॄन्? सुविदत्रान्, सुष्ठु विशेषेण ददतीति सुविदत्राः कल्याणदानास्तान्। 'सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेर्वैकोपसर्गाद् दक्षतेर्वा स्याद् द्व्युपसर्गात्' (निरु० ७।९) इति तत्रभवान् यास्कः। 'सुविदेः कत्रः' (उ० ३।१०८) इति कत्रप्रत्ययेन साधुः। विष्णोः, वेवेष्टीति विष्णुस्तस्य व्यापनशीलस्य यज्ञस्य, 'यज्ञो वै विष्णुरिति' (श० १।१।२। १) इति श्रुतेः। नपातं विक्रमणं च वेद्मि। नास्ति पातो यत्र स नपातो देवयानः पन्थाः। तत्र गतानां पातो नास्ति। विविधं क्रमणं गमनागमनं यत्र स विक्रमणः पितृयाणः पन्थाः। तत्र हि अरघट्टघटीवद् उत्तराधरं प्राणिनो गच्छन्ति, कर्मफलभोगान्ते पतन्तीति यावत्। यज्ञसम्बन्धिनौ तौ देवयानपितृयाणौ पन्थानौ अवेत्सि, आभिमुख्येन वेद्मीत्यर्थः। कर्मोपासनसमुच्चयानुष्ठायी देवयानेन पथा ब्रह्मलोकमुपगत्य न पुनरावर्तते। केवलकर्मानुष्ठायी पितृयाणेन पथा पितृलोकमुपेत्य कर्मफलभोगान्ते पुनरावर्तते। अतो ब्रवीमि ये बर्हिषदः पितरः स्वधया सवनीयलक्षणेनान्नेन सह सुतस्याभिषुतस्य सोमस्य पित्वः पानं भजन्त भजन्ते सेवन्ते, 'भज सेवायाम्', लङ् अडभावः, त इह पक्षे आगमिष्ठा आगच्छन्तु। लोडर्थे लुङ्, पुरुषवचनव्यत्ययश्च।

अध्यात्मपक्षे—अहं शोभनदानान् पितृतुल्यान् दर्भासीनान् सिद्धान् ब्रह्मविद्वरिष्ठान् गुरून् आभिमुख्येन शुद्धभावनया वेद्मि तदुपास्तिं करोमि। 'मायां न सेवे भद्रं ते न मृषा धर्ममाचरे। शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद्वेद्मि जनार्दनम्॥' (म० भा० उद्यो० ६९।५) इति भगवद्वेदव्यासवचनात्। विष्णोर्भगवतो व्यापकस्य ब्रह्मणो नपातमपुनरावर्तनं पन्थानं विक्रमणं पुनरावर्तनं च पन्थानं वेद्मि। ये पितरस्तादृशाः स्वधकान्नेनोपभोग्येन ब्रह्मणा सह सुतस्य सोमस्य तज्ज्ञानामृतस्य पित्वः पानं भजन्ते, त इह स्थानेऽस्मदन्तःकरणे वा आगमिष्ठा आगच्छन्तु।

दयानन्दस्तु—'ये बर्हिषदः पितरः स्वधया सुतस्य पित्वश्चाभजन्त सेवन्ते, त आगमिष्ठाः। य इह विष्णोर्नपातं विक्रमणं च विदन्ति, तान् सुविदत्रान् पितॄनहमवित्सि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वधया अन्नेन सुतस्य निष्पादितस्य पित्वः सुरभिपानं भजन्त इति विसङ्गतेः। हिन्दीभाष्ये तु स्वधया तृप्तस्येति तद्विरुद्धमुक्तम्। 'अवित्सि विष्णोर्नपातं विक्रमणं च विदन्ति' इत्यपव्याख्यानम्, मन्त्रे विदन्तीति क्रियाया अभावात्। न च 'अवित्सि' इत्यस्य सोऽर्थ इति वाच्यम्, 'वेद्मि' इति त्वद्व्याख्यानविरोधात् ॥ ५६ ॥

उप॑हूताः पि॒तरः॑ सो॒म्यासो॑ बर्हि॒ष्ये॑षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑ ।
त आग॑मन्तु॒ त इ॒ह श्रु॑व॒न्त्वधि॑ब्रुवन्तु॒ ते॑ऽवन्त्व॒स्मान् ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—हे पितृगण ! आप लोग इस यज्ञ में आवें, प्रिय कुशाओं पर स्थित निधि के समान स्थापित हवियों के भक्षण के निमित्त बुलाये गये सोमपान के योग्य पितृगण हमारे इस आह्वान को सुनें। वे पिताओं को पुत्रों से जो कहना चाहिये, वह हमसे कहें और हमारी रक्षा करें ॥ ५७ ॥

हे पितरः ! भवन्त इह यज्ञे आगमन्तु आगच्छन्तु, व्यत्ययेन शपो लुक्, आगत्य च श्रुवन्तु अस्मद्वचनं शृण्वन्तु। श्रुत्वा च अधिब्रुवन्तु पितृभिः पुत्राणां यद् वक्तव्यं तद् ब्रुवन्तु। सत्यसङ्कल्पद्वारा तत्प्रेरणयोपदिशन्तु। तथा तेऽस्मानवन्तु। कीदृशाः पितरः ? प्रियेष्वभिरुचितेषु हविष्षु निमित्तभूतेषु उपहूताः। पुनः कीदृशाः ? सोम्यासः सोम्याः। कीदृशेषु प्रियेषु ? बर्हिष्येषु बर्हिषि दर्भे भवन्ति बर्हिष्याणि, तेषु बर्हिषि सादितेषु। पुनः कीदृशेषु ? निधिषु निधिवत्स्थापनीयेषु, तादृशप्रियहविर्भागायोपहूता इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे पितरः, उपहूताः सोम्यासो बर्हिष्येषु दर्भवत्पवित्रेषु साधकेषु भवेषु तद्धृदयस्थितेषु प्रियेषु भविषु—'खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥' (भा० पु० ११।२।४१) इत्यादिवचनसमर्थितेषु निधिषु निधिवत्पालनीयेषु निमित्तेषु, आगमन्तु आगच्छन्तु, साधकानां तत्त्वज्ञानदानार्थमागच्छन्तु, आगत्य च अस्मत्प्रश्नवच आशीर्वचो वा शृण्वन्तु। श्रुत्वा च अधिब्रुवन्तु तदुपरि तद्विषये यद्वक्तव्यं तद् ब्रुवन्तु। न केवलं ब्रुवन्तु, किन्तु विशेषानुग्रहेण तत्त्वज्ञानोत्पादनेन अविद्याजन्याज्जननमरणाविच्छेदलक्षणात् संसारादवन्तु।

दयानन्दस्तु—'ये सोम्यासः पितरो बर्हिष्येषु प्रियेषु निधिषु बर्हिषूत्तमेषु साधुषु निधिषु कोशेषु उपहूतास्त इहागमन्तु आगच्छन्तु। त इह श्रुवन्तु अधिब्रुवन्तु अवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेदेषु तदुपदेशासम्भवात्, रत्नादिनिमित्ताह्वानस्य लौकिकत्वात्, पितृपुत्रादिव्यवहारस्यापि लोकत एव प्राप्तेः ॥ ५७ ॥

आय॑न्तु नः पि॒तरः॑ सो॒म्यासो॑ऽग्निष्वा॒त्ताः प॒थिभि॑र्देव॒यानैः॑ ।
अ॒स्मिन् य॒ज्ञे स्व॒धया॒ मद॒न्तोऽधि॑ब्रुवन्तु॒ ते॑ऽवन्त्व॒स्मान् ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—अग्निष्वात्त पितरों का अब उपस्थान करते हैं। सोम के योग्य अग्नि द्वारा स्वादित हमारे पितृगण देवयान मार्ग से आवें, इस यज्ञ में स्वधा नामक अन्न से प्रसन्न होते हुए हमें मानसिक उपदेश दें और हमारी रक्षा करें ॥ ५८ ॥

चतस्र ऋचोऽग्निष्वात्तानां पितॄणाम् । नः अस्माकम्, सोम्यासः सोम्याः सोमपानार्हाः, अग्निष्वात्ता अग्निना स्वात्ताः सुष्ठु स्वादिताः, अग्निर्यान् दहन् स्वादयति, श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठायिनो देवयानैर्देवैः सह यान्ति पितरो येषु ते देवयाना मार्गाः, तैः पथिभिर्मार्गैः, आयन्तु आगच्छन्तु । येषां पुत्रादिभिरेतत्कर्मानुष्ठीयते, त आगच्छन्त्विति सम्बन्धः । तथा चाह भगवान् मनुः—'पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते । अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥' (म० स्मृ० ९।१३७) । किञ्च, पितर आगत्य अस्मिन् यज्ञे स्वधयान्नेन मदन्तस्तृप्यन्तः, तुष्टाः सन्त्विति यावत् । नः अस्मान्, अधिब्रुवन्तु अधिकान् ब्रुवन्तु । तदीयात् तथाभूताद्वाक्यादेव वयमधिकाः स्यामेत्यर्थः । ते पितरोऽस्मानवन्तु पालयन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—नोऽस्माकं पितरस्ते पितृतुल्यास्ते येऽग्निष्वात्ता अग्निना ज्ञानेन स्वात्ताः स्वादिताः, देवयानैः पथिभिर्दैवीं सम्पदमुपगताः, यैः पथिभिर्मार्गैर्गच्छन्ति तैर्मार्गैरिहायान्तु । आगत्य ते स्वधया ब्रह्मलक्षणेनान्नेन मदन्तस्तृप्यन्तो नोऽस्मभ्यमधि सर्वाधिकं ब्रह्म ब्रुवन्तु । ते तथोपदेशेन अस्मानवन्तु पालयन्तु ।

दयानन्दस्तु—'ये सोम्यासोऽग्निष्वात्ता गृहीताग्निविद्या नः पितरः सन्ति, ते देवयानैः पथिभिरायन्तु । अस्मिन् यज्ञे वर्तमाना भूत्वा स्वधया मदन्तः सन्तोऽस्मानधिब्रुवन्तु, अस्मानवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्, अग्निष्वात्ता इत्यस्य अग्निविद्यानैपुण्यमर्थः कथमित्यनुक्तेः, धार्मिका धर्ममार्गेणैवायन्तीति पुत्राणां तेभ्यस्तथोपदेशानुपपत्तेः ॥ ५८ ॥

अग्निष्वात्ताः पितर॒ एह ग॑च्छत॒ सद॑ःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अ॒त्ता ह॒वीᳪंषि॒ प्रय॑तानि ब॒र्हिष्यथा॑ र॒यिᳪं॒ सर्व॑वीरं दधातन ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निष्वात्त पितरो ! हमारे इस यज्ञ में आप लोग आवें, सुन्दर नीति-वाक्यों का उपदेश करते हुए इस सभास्थान में विराजमान हों, कुशाओं पर नियम से स्थापित हवियों को पवित्रता पूर्वक भक्षण करें और सकल वीरपुत्र, धन आदि को सब ओर से लाकर हमें दें ॥ ५९ ॥

हे अग्निष्वात्ताः पितरः, इह यज्ञे यूयमागच्छत । आगत्य च सदः सदः प्रतिभक्तपुत्रादिगृहं सदत सीदत उपविशत । वीप्सायाम् 'नित्यवीप्सयोः' (पा० सू० ८।१।४) इति द्वित्वम् । कथंभूता यूयम् ? सुप्रणीतयः शोभना प्रणीतिः प्रणयनं येषां ते तथोक्ताः । ततः सदस्युपविष्टाः सन्तो हवींषि अत्ता अत्त भक्षयत । अत्तेर्लोटि संहितायां दीर्घः । कीदृशानि हवींषि ? बर्हिषि दर्भे प्रयतानि नियमपूर्वकं स्थापितानि प्रकर्षेण यम्यन्ते नियम्यन्त इति प्रयतानि । अथवा व्यपगतरागद्वेषमोहैरभिसंस्कृतानि शुचीनि । अथ अनन्तरं तृप्ताः सन्तः सर्ववीरं सर्वे वीरा यत्र तादृशं रयिं धनं दधातन स्थापयत 'निपातस्य च' (पा० सू० ६।३।१३६) इति 'अथा' इति निपातस्य दीर्घः । 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० सू० ७।१।४५) इति तकारस्य तनबादेशः ।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्निष्वात्ता ज्ञानाग्निना स्वादवन्तः सुप्रणीतयः शोभना प्रणीतिर्वेदान्ततात्पर्यनिर्धारणपद्धतिर्येषां ते । पितरः पितृतुल्या ब्रह्मविद्वरिष्ठाः, यूयमिह जिज्ञासूनां सदस्सु आगच्छत, आगत्य च सदः सदः प्रतिसदः सदत उपविशत । उपविष्टाः सन्तो हवींषि अत्त । कीदृशानि ? बर्हिषि दर्भे प्रयतानि नियमपूर्वक-

स्थापितानि। यद्वा दर्भवत्पवित्रे वेदान्ते प्रयतानि स्थापितानि हवींषि ब्रह्मलक्षणानि अत्त अनुभावयत। अन्तर्भावितण्यर्थो द्रष्टव्यः। पूजायां बहुवचनम्।

दयानन्दस्तु—'हे सुप्रणीतयोऽग्निष्वात्ताः पितरः, यूयमिहागच्छत। सदः सदः सदत। प्रयतानि हवींषि अत्त। बर्हिषि स्थित्वास्मदर्थं सर्ववीरं रयिं दधातन' इति, तदपि यत्किञ्चित्, बर्हिःपदस्य तादृशार्थत्वे मानाभावात्, विद्याप्रचारायागतानां सकाशात् सर्ववीरधनप्रार्थनानुपपत्तेश्च ॥ ५९ ॥

ये अ॒ग्निष्वा॒त्ता ये अन॑ग्निष्वात्ता॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते।
तेभ्य॑ः स्व॒राडसु॑नीतिमे॒तां य॑थाव॒शं त॒न्वं॑ कल्पयाति ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—जिन अग्निष्वात्त पितरों का विधिपूर्वक अग्निदाह कर और्ध्वदेहिक कर्म हुआ है और जिनका अग्नि से दाह नहीं हुआ है, जो द्युलोक में अपने द्वारा उपार्जित कर्मों के भोग से प्रसन्न रहते हैं, स्वर्गपति धर्मराज उन पितरों को इच्छानुसार इस मनुष्य सम्बन्ध वाले प्राणयुक्त शरीर को देता है, अर्थात् यम की आज्ञा से उनको स्वकर्मानुसार पवनाश्रित शरीर मिलता है और वे अपने पुत्र आदि के द्वारा किये गये शास्त्रोक्त आह्वान में जाते हैं। उनके निमित्त दिया हुआ अन्न विश्वेदेव देवताओं के द्वारा सूक्ष्म भाव से प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

ये पितरः, अग्निष्वात्ता अग्निना स्वादिताः, अग्निना दग्धाः सन्तो विधिवदौर्ध्वदेहिकं प्राप्ताः, ये च अनग्निष्वात्ता न अग्निना स्वादिताः श्मशानकर्माप्राप्ता अदग्धाः सन्तो दिवः स्वर्गस्य स्वधया अन्नेन, स्वकर्मोपार्जितेनेति यावत्, मादयन्ते तृप्यन्ति सुखं सेवन्ते, तेभ्यः पितृभ्योऽर्थे स्वराट् स्वेनैव अन्यनिरपेक्षतया राजत इति स्वराड् अकृतकैश्वर्यो यमो यथावशं वशमभिलाषमनतिक्रम्य वर्तत इति यथावशं यथाकाममेतां मनुष्यसम्बन्धिनीं तन्वं शरीरं कल्पयाति कल्पयतु, तेभ्यो नरशरीरं यमो ददात्वित्यर्थः। कीदृशीं तन्वम्? असुनीतिम् असून् प्राणान् नयतीत्यसुनीतिः, महाप्राणयुक्ता इति यावत्, चिरकालजीविनीति तात्पर्यम्। उव्वटाचार्यस्तु—तेभ्य इति स्थाने विभक्तिव्यत्ययेन तेषामिति विपरिणमय्य 'कृते' इत्यध्याहृत्य एतामिति स्थाने लिङ्गव्यत्ययेन एतमिति विपरिणमय्य कण्डिकार्थं विदधति। अत्र पक्षे विपरिणामादिगौरवम्।

अध्यात्मपक्षे— ये ब्रह्मोपासका ब्रह्माभ्यासपरायणास्तेऽग्निष्वात्ताः कृतौर्ध्वदेहिकाः, अनग्निष्वात्ता अकृतौर्ध्वदेहिका वा ते दिवो द्युलोकस्य मध्ये स्वधया दिव्यभोगेन मादयन्ते तृप्यन्ति, तेभ्यः पितृभ्यः पितृतुल्येभ्यो जगद्धितकारिभ्यो विशेषेण स्वराट् परमेश्वरो यथावशं यथारुचि एतामसुनीतिं चिरजीविनीं तन्वं कल्पयाति कल्पयति, संस्कारनैरपेक्ष्येण तेषां सद्गतिरित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'येऽग्निष्वात्ता येऽनग्निष्वात्ता ज्ञाननिष्ठाः पितरो दिवो मध्ये स्वधया स्वकीयपदार्थधारणक्रियया मादयन्ते आनन्दयन्ति, तेभ्यः स्वराड् या असून् प्राणान्नयति तां यथावशं तन्वं कल्पयेत् समर्थां कुर्यात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वधापदस्य तथार्थत्वे मानाभावात्। पदार्थविद्यावतामभीष्टतनुप्राप्तिरपि निर्मूलैव, तथात्वे कर्मोपासनज्ञानशून्यानामाधुनिकानां पदार्थविद्याकुशलानामपि सद्गतिसिद्ध्यापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, वेदतदुक्तार्थनिष्ठानामेव सद्गतिरिति सिद्धान्तव्याकोपात् ॥ ६० ॥

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशꣳसे सोमपीथं य आशुः ।
ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थं—ऋतुमान् अग्निष्वात्त नामक पितरों को हम बुलाते हैं। जो पितृगण चमस पात्र में सोमपान करते हैं, वे वेदाध्ययनसम्पन्न हमें सुख-सुविधा से सम्पन्न करें, हमें विपुल धन का स्वामी बनावें ॥ ६१ ॥

अग्निष्वात्तान् ऋतुमतः 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वा० सं० २४।२०) इत्यादिविधिप्राप्तर्तुदेवता विद्यन्ते येषु ते ऋतुमन्तस्तान् ऋतुयुक्तान् पितॄन् वयं हवामहे आह्वयामः। ये पितरो नाराशंसे चमसे सोमपीथं सोमपानम् आशुः अश्नन्ति। नाराशंसे चमसे पितॄणां भक्षः श्रूयते। तथाहि श्रुतिः—'अथ यदि नाराशꣳसेषु सन्नः। किञ्चिदापद्येत पितृभ्यो नाराशꣳसेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्'(श० १२।६।१।३३) इति। विप्रासो मेधाविनस्ते पितरो नोऽस्माकं सुहवाः स्वाह्वाना भवन्तु, अस्मदाहूताः शीघ्रमायान्त्वित्यर्थः। एवं पितृष्वाहूतेषु वयं तेषां प्रसादाद् रयीणां पतयः स्याम।

अध्यात्मपक्षे—अग्निष्वात्तान् ऋतुमतः सर्वे प्रशस्ता ऋतवस्ताननुसरन्तीति ऋतुमन्तस्तान् पितॄन्, 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥' इति प्रशंसार्थे मतुब्विधानात्। ये च नाराशंसे चमसे सोमपीथं सोमपानमाशुः प्राप्नुयुः, ते चाहूयमाना विप्रासः सुहवाः स्वाह्वाना भवन्तु। सार्वात्म्यविवक्षया वा परमेश्वर एवाग्निष्वात्तादिपितृरूपेण श्राद्धतर्पणादिभिः पूज्यते स्तूयते।

दयानन्दस्तु—'ये सोमपीथमाशुरश्नीयुः, यानृतुमतोऽग्निष्वात्तान् पितॄन् वयं नाराशंसे नराणां प्रशंसामये सत्कारव्यवहारे हवामहे, ते विप्रासो नः सुहवा भवन्तु, वयं च तत्कृपातो रयीणां पतयः स्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमात्राणां त्वदभिमतानां पितॄणां कृपातो रयिपतित्वासम्भवात्, नाराशंसशब्दस्य सोमग्रहविशेषे रूढस्य नराणां प्रशंसामात्रार्थताया व्यवहारार्थतायाश्च निर्मूलत्वात्, कर्मोपासनब्रह्मज्ञानवादिभिरपि नराणां प्रशंसासम्भवेन तत्रातिव्याप्तेः ॥ ६१ ॥

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभिगृणीत विश्वे ।
मा हिꣳसिष्ट पितरः केनचिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थं—हे पितृगण ! आप वाम जंघा को झुकाकर, दक्षिण मुख बैठकर इस यज्ञ की प्रशंसा कीजिये। चित्त की चंचलता के कारण किसी प्रकार का अपराध हो जाने पर हमारे ऊपर क्रोध मत कीजिये, क्योंकि मनुष्य-स्वभाव वश हमसे भूल हो जाती है, उसे आप लोग क्षमा करें ॥ ६२ ॥

दशर्चोऽनुवाकः। तत्र नव पित्र्याः। दशमी ऐन्द्री गायत्री। द्वितीयातृतीये नवमी चानुष्टुभः। शिष्टास्त्रिष्टुभः। यद्यपि कात्यायनेन आच्या जान्वित्यनुवाकस्य विनियोगो नोक्तः, तथापि पूर्वतनस्य उदीरतामिति त्रयोदशर्चस्य अस्य च आच्या जान्विति दशर्चस्य चानुवाकद्वयस्य श्राद्धेऽश्नत्सु द्विजेषु लैङ्गिको जपे विनियोगः कल्पनीयः। अनुवाकेऽस्मिन् नव पितृदेवत्याः। दशमी चैन्द्री। अन्त्या गायत्री, तृतीयाचतुर्थीनवम्योऽनुष्टुभः, शिष्टास्त्रिष्टुभः। हे विश्वे सर्वे पितरः, सोमवन्तो बर्हिषदोऽग्निष्वात्ताश्च। यूयमिमं यज्ञं सौत्रामणीमभिगृणीत अभिष्टुवीत। दक्षिणामन्त्रकालकर्तृहविर्यजमानोत्कर्षसौष्ठवात् साध्वयं यज्ञः सम्पन्न इति यज्ञस्यास्य स्तुति

कुरुतेत्यर्थः। किं कृत्वा ? जानु वामजानु आच्य पातयित्वा, तथा दक्षिणतो निषद्य दक्षिणाभिमुखा उपविश्य, तेषां तथाविधस्वभावत्वात्, 'अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदन्' (श० २।४।२।२) इति श्रुतेः। किञ्च, हे पितरः ! केनचिदप्यपराधेन नोऽस्मान् मा हिंसिष्ट अस्माकं वधमपकारं मा कार्ष्ट। पुरुषता पुरुषस्य भावः पुरुषता, तया। विभक्तिलोपः। पुरुषस्वभावेन अनवस्थितचित्तत्वेन वो युष्माकमागोऽपराधं वयं कराम कुर्मो यद् यद्यपि, तथापि मा हिंसिष्ट मा बाधिष्ट। करोतेर्लेङि शपि अडभावे च रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—अत्रापि पितृरूपेण परमेश्वर एव प्रार्थ्यते। व्याख्यानं तु पूर्ववदेव।

दयानन्दस्तु—'हे विश्वे पितरः, यूयं केनचिद्धेतुना नो या पुरुषता, तां मा हिंसिष्ट यतो वयं सुखं कराम। यद्वा आगस्तत्त्याजयेम। यूयमिमं यज्ञमभिगृणीत। वयमाच्य जानु दक्षिणतो निषद्य युष्मान् सततं सत्कुर्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणात्। तथाहि—पुरुषतापदेन तादृशगौणार्थग्रहणे किं बीजम् ? त्याजयेमेति पदं मन्त्रे क्व विद्यते ? किञ्च, नहि सत्कारार्हाणामपराधं सत्कर्तारस्त्याजयन्तीति श्लिष्यते। न वा तान् स्वप्रशंसा-करणार्थं प्रेरयन्ति। न वा जानु पातयित्वा आराधकस्य पूज्यानां दक्षिणतः स्थानं युक्तमिति शिष्टाचारः। दिवङ्गतपितॄणां तु तादृशशिष्टाचार इत्युदाहृतश्रुत्यैव सिद्धम्, यत् पितर एव वामजान्वाच्य दक्षिणतः सीदन्तीति ॥ ६२ ॥

आसी॑नासो अरु॒णीना॑मु॒पस्थे॑ र॒यिं ध॑त्त दा॒शुषे॒ मर्त्या॑य।
पु॒त्रेभ्यः॑ पितर॒स्तस्य॒ वस्वः॒ प्रय॑च्छत॒ त इ॒होर्जं॑ दधात ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—हे पितृगण। लाल ऊन के आसनों पर अथवा अरुण वर्ण सूर्य की किरणों पर, सूर्य लोक की गोद में बैठे हुए आप लोग हवि देने वाले यजमान को धन दीजिये, पुत्रस्वरूप इनको धन दीजिये, जिससे कि वे भी इस यजमान के यज्ञ में आनन्दित हों ॥ ६३ ॥

हे पितरः ! दाशुषे हवींषि दत्तवते मर्त्याय यजमानाय रयिमभिलषितं धनं धत्त दत्त। कथम्भूता यूयम् ? अरुणीनाम् अरुणवर्णानामूर्णानामुपस्थे उपरिभागे आसीनास आसीना उपविष्टाः। याभिः कुतपाः क्रियन्ते, ता ऊर्णा अरुणा भवन्ति। 'कुतपं चासने दद्यात्' इति स्मृतेः कुतपप्रियाः पितरः। यद्वा अरुणीनामरुणवर्णानां रश्मीनामुपस्थे उत्सङ्गे आसीना इत्यादित्यलोकजितः पितर उच्यन्ते। अपि च, हे पितरः ! पुत्रेभ्यो यजमानेभ्यः। यजमानवचनोऽत्र पुत्रशब्दः, पितॄणां यज्ञे पुत्राणामेव यजमानत्वात्। पुत्राणां यजमानानां यदभीष्टं तस्य वस्वो वसुनो धनस्य प्रयच्छत दत्त। कर्मणि षष्ठ्यौ। ते यूयमिहास्मदीये यज्ञे ऊर्जं रसं दिव्यफलदानसामर्थ्यं दधात स्थापयत।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वरस्यैव पितृरूपेण प्रार्थनम्। व्याख्यानं तथाविधमेव।

दयानन्दस्तु—'हे पितरः, यूयमिहारुणीनामरुणवर्णानां स्त्रीणामुपस्थे आसीनाः सन्तः पुत्रेभ्यो दाशुषे यत्र रयिं धत्त, तस्य वस्वोंऽशान् प्रयच्छत, यतस्त ऊर्जं दधात' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निर्मूलाध्याहारगौणार्थ-स्वीकारबाहुल्यात्। नहि सत्कारार्हाः पूज्याः पितरः पुत्राणां समक्षमरुणवर्णानां स्त्रीणामुत्सङ्ग आसीना भवन्ति, शिष्टाचारविरोधात्। न च दाशुषे दत्तवते धनदानं युक्तम्, तस्य स्वत एव धनवत्त्वात्, अन्यथा दातृत्वानुपपत्तेः। वस्तुतोऽत्र दिवङ्गतपितॄणामेव संस्तवनम्, जानु पातयित्वा दक्षिणतोऽवस्थानस्य कुतपादिदानस्य च तेष्वेव सङ्गतेः। मृतपितॄणां श्राद्धतर्पणाद्यनङ्गीकारादेव क्लिष्टकल्पनया मन्त्राणामन्यथा नयनमर्धनास्तिकानाम् ॥ ६३ ॥

यमग्ने कव्यवाहन त्वं चिन्मन्यसे रयिम् ।
तं नो गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा पनया युजम् ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ—हे पितरों को अन्न पहुँचाने वाले अग्निदेव ! आप हविरूप जिस धन को भली भाँति जानते हैं, वषट्कार आदि वाणियों से सुनने योग्य हमारी उस हवि को देवताओं के लिये सब ओर से पहुँचाइये ॥ ६४ ॥

चतसृभिर्ऋग्भिः स्विष्टकृदग्निरुच्यते । हे कव्यवाहन, कव्यं पितृभ्यो देयमन्नं वहतीति कव्यवाहनः, 'कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट्' (पा० सू० ३।२।६५) इति ञ्युटि रूपसिद्धिः, तत्सम्बुद्धौ । हे अग्ने ! त्वं चित् त्वमपि यं रयिं हविर्लक्षणं धनं मन्यसे उत्तममवगच्छसि, साधु शक्यते श्रेयः प्राप्तुमनेनेति नोऽस्माकं तं रयिं देवत्रा देवेषु, 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्' (पा० सू० ५।४।५६) इति सप्तम्यर्थे त्राप्रत्ययः । पनया देहि । संहितायां दीर्घः । अत्र स्तुतेर्दान एव पर्यवसानम् । कीदृशं रयिम् ? गीर्भिः पुरोनुवाक्या-याज्या-वषट्कारलक्षणाभिर्वाग्भिः श्रवाय्यं श्रोतुं योग्यम्, 'श्रु दक्षिस्पृहिगृहिभ्य आय्यः' (उ० ३।९६) इत्याय्यप्रत्यये रूपसिद्धिः । 'श्रवाय्यः स्याद्यज्ञपशौ श्रवणीयेऽपि कीर्त्यते' इति वेदान्ती महादेवः । युजम्, युज्यत इति युग् योग्यः, 'क्विप् च' (पा० सू० ३।२।७६) इति क्विपि साधुः, तम् । नहि यथाकथञ्चित् सम्पादितं धनं योग्यं भवति, अपि तु धर्मानुबन्धमर्थानुबन्धं च धनं योग्यम् ।

अध्यात्मपक्षे—हे कव्यवाहन अग्ने, तत्तदुपाधिकपरमात्मन्, त्वं चित् त्वमपि यत् श्रेष्ठं रयिं धनं मन्यसे, गीर्भिः स्तुतिलक्षणाभिर्वाग्भिः श्रवाय्यं श्रवणार्हं युजं योग्यं देवत्रा देवेभ्योऽर्थाय पनया देहि ।

दयानन्दस्तु—'हे कव्यवाहनाग्ने, कविषु साधुनि वस्तुनि वहति यस्तत्सम्बुद्धौ, त्वं गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा देवेषु विद्वत्सु युजं योक्तुमर्हं यं रयिं मन्यसे, तमपि नोऽस्मभ्यं पनया देहि' इति, तदपि न मनोज्ञम्, कव्यशब्दस्य पितृदेयान्नेषु रूढत्वात् । त्वद्व्युत्पत्त्या हव्यकव्ययोर्भेदाभावप्रसङ्गात् । त्वया तु णिजन्तादेव श्रुधातोराय्यो विहितः । तदपि तव कामवादमात्रम्, ततः श्रुप्रकृतेरेव आय्यविधानात् । अन्यथा दक्षिस्पृह्यादिवत् श्रावीति णिजन्तमेव प्रयुञ्जीत । यदि तु धातुनिर्देशं मन्यसे, तर्हि श्रुप्रकृतावेव कथं तद्वैधुर्यम् ? हन्त ! शास्त्रेषु सर्वेष्वस्य कामचारः ॥ ६४ ॥

यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षदृतावृधः ।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ॥ ६५ ॥

मन्त्रार्थ—जो कव्य पहुँचाने वाला अग्नि सत्य अथवा यज्ञ को बढ़ाने वाले पितरों का यजन करता था, वही अग्नि देवताओं और पितरों के लिये हवियों को सब ओर से ले जाता है ॥ ६५ ॥

यः कव्यवाहनोऽग्निः, ऋतावृध ऋतं सत्यं यज्ञं वा वर्धयन्ति ये ते ऋतावृधः, संहितायां दीर्घः, सत्यवृधो यज्ञवृधो वा, तान् पितॄन् यक्षद् इष्टवान्, यजेर्लेटि 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति सिप्यनुबन्धलोपे तिपि, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपे, 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमे, 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः' (पा०सू० ८।२।३६) इति षान्तादेशे, 'षढोः कः सि' (पा०सू० ८।२।४१) इति षकारस्य ककारे, 'आदेशप्रत्यययोः' (पा० सू० ८।३।५९) इति सस्य मूर्धन्यादेशे, कषयोः संयोगे

क्षत्वे रूपसिद्धिः। सोऽग्निः, इदानीं देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च हव्यानि हवींषि प्रवोचति प्रब्रवीतु। इमानि देवेभ्यः, इमानि पितृभ्य इति वदत्वित्यर्थः। इत्-उ-निपातौ पादपूरणार्थौ। आकारः समुच्चयार्थः। 'वच परिभाषणे' इत्यस्य 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' (पा० सू० २।४।७२) इति प्राप्तशब्लोपस्य व्यत्ययेनाभावे, छन्दसि 'वच उम्' (पा० सू० ७।४।२०) इत्युमागमे गुणे च रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—कव्यवाहनाद्युपाधिकः परमेश्वरः प्रार्थ्यते। व्याख्यानं पूर्ववदेव, निरुपचारेण परमेश्वर एव तादृशसामर्थ्योपपत्तेः।

दयानन्दस्तु—'यः कवीनां प्रशस्तानि कर्माणि प्रापयति, स कव्यवाहनोऽग्निर्विद्वान् ऋतावृधः पितॄन् यक्षत्, इदु देवेभ्यः पितृभ्यो हव्यानि वा वोचति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, देवेभ्यो विद्वद्भ्यः पितृभ्यो ज्ञानिभ्यो वा हव्यानां विज्ञानानां प्रवचनस्य निरर्थकत्वात्, विज्ञानवतामेव विद्वत्त्वाज्ज्ञानित्वाच्च। किञ्च, यः पितॄन् यजति स एव तेभ्यो विज्ञानमुपदिशेदिति विप्रतिषिद्धम्। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धवत्त्वेन व्यावर्त्याभावादेव इदिति न निर्धारणार्थकः॥ ६५॥

त्वम॑ग्न ईडि॒तः क॑व्यवाहना॒वाड्ढ॒व्यानि॑ सुर॒भीणि॑ कृ॒त्वी।
प्रादा॑ः पि॒तृभ्य॑ः स्व॒धया॒ ते अ॑क्षन्न॒द्धि त्वं दे॑व॒ प्रय॑ता ह॒वीᳫंषि॑॥ ६६॥

मन्त्रार्थ—हे कव्यवाहक अग्निदेव! ऋत्विजों की स्तुति से प्रसन्न होकर आप हवियों को मनोहर गन्ध से भरकर देवताओं के पास पहुंचाते हैं। अब आप इसे पितृमन्त्रों से पितरों के पास पहुंचाइये। वे इसका भक्षण करेंगे। हे देव! आप भी इन शुद्ध हवियों को ग्रहण कीजिये॥ ६६॥

हे कव्यवाहन, हे अग्ने! त्वं हव्यानि हवींषि सुरभीणि सुगन्धीनि कृत्वी कृत्वा, 'स्नात्व्यादयश्च' (पा० सू० ७।१।४९) इत्यत्र सूत्रगत आदिशब्दः प्रकारार्थः, आकारस्य ईकारो निपात्यते। अवाट् ऊढवानसि। वहतेर्लुङि मध्यमैकवचने इडागमाभावे सिचो लोपे वृद्धौ च रूपम्। कीदृशस्त्वम्? ईडितः स्तुतः, देवैर्ऋत्विग्भिश्च। किञ्च, हव्यानि ऊढ्वा स्वधया पितृमन्त्रेण पितृभ्यः प्रादाः प्रदत्तवानसि। ते च पितरः, अक्षन् अभक्षयन्। अदो लुङि लुङ्सनोर्घस्लृ' (पा० सू० २।४।३७) इति घस्लादेशे, 'मन्त्रे घसह्वर' (पा० सू० २।४।८०) इत्यादिना च्लेर्लोपे, 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' (पा० सू० ६।४।९८) इत्युपधालोपे, 'शासिवसिघसीनां च' (पा० सू० ८।३।६०) इति षत्वे रूपम्। हे देव, त्वमपि अद्धि हवींषि भक्षय। कीदृशानि हवींषि? प्रयता प्रयतानि शुचीनि।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'हे कव्यवाहनाग्ने पुत्र, ईडितस्त्वं सुरभीणि हव्यानि कृत्वा अवाड् वहसि। तानि पितृभ्यः प्रादाः। ते पितरः स्वधया सहैतान्यक्षन्। हे देव, त्वमप्येतानि हवींष्यद्धि' इति, तदप्यकिञ्चित्करम्, कव्यवाहन-पदेन कवीनां प्रागल्भ्याणि प्रापयति यः स पुत्र एव कथमिति विनिगमनाविरहात्, हव्यस्वधयोर्भेदाभावे साहचर्यानुपपत्तेश्च॥ ६६॥

ये चे॒ह पि॒तरो॒ ये च॒ नेह याँश्च॑ वि॒द्म याँ२।। उ॑ च॒ न प्र॑वि॒द्म ।
त्वं वे॑त्थ॒ यति॒ ते जा॑तवेदः स्व॒धाभि॑र्य॒ज्ञꣳ सुकृ॑तं जुषस्व ।। ६७ ।।

मन्त्रार्थ—जो पितृगण इस लोक में हैं और जो इस लोक में नहीं हैं, अर्थात् स्वर्ग में हैं, जिन पितरों को हम जानते हैं और स्मरण न रहने से जिनको नहीं जानते, हे अग्निदेव ! उन सबको आप भली-भांति जानते हैं। उन सब पितरों के निमित्त यज्ञ के द्वारा श्रेष्ठ अन्न को पहुँचाइये ।। ६७ ।।

ये पितर इह लोके आसते, ये च इह लोके न सन्ति, यांश्च पितॄन् वयं विद्म जानीमः। उः पादपूरणः। यांश्च पितॄन् वयं न प्रविद्म न प्रकर्षेण जानीमः। हे जातवेदः, ते पितरो यति यावन्तो वर्तन्ते, या संख्या येषां ते यति, 'किमः संख्यापरिमाणे डति च' (पा० सू० ५।२।४१) इति छान्दसो डतिः, 'बहुगणवतुडति संख्या' (पा० सू० १।१।२३) इति संख्यासंज्ञायाम्, 'डति च' (पा० सू० १।१।२५) इति षट्संज्ञायाम्, 'षड्भ्यो लुक्' (पा० सू० ७।१।२२) इति जसो लुकि रूपम्। यद्वा यति यतीन् नित्यनैमित्तिकानुष्ठानैर्निष्पापान्, छान्दसो विभक्तिलोपः। ते तान्, व्यत्ययेन जस्। त्वं वेत्थ। हे जातवेदः, अत एवमुच्यसे यत् स्वधाभिः पितॄणामन्नैः, सुकृतं शोभनं कृतं यज्ञं त्वं जुषस्व सेवस्व।

अध्यात्मपक्षे—हे जातवेदः, जातवेदोऽवच्छिन्नचैतन्यस्वरूप परमेश्वर ! शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे जातवेदः, ये चेह पितरो ये चेह न सन्ति, वयं यांश्च प्रविद्म यांश्च न प्रविद्म, तान् यति या संख्या येषां तान् यावतस्त्वं वेत्थ, उ ते त्वां विदुस्तत्सेवामयं सुकृतं यज्ञं स्वधाभिर्जुषस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, जातवेदःपदेन यस्यकस्यचिज्जातप्रज्ञस्य मनुष्यस्य सम्बोधने कथं स प्रार्थितं सम्पादयिष्यति ? सम्बन्धाभावात्। पुत्रस्य सम्बोधनमपि नोपपद्यते, पित्रादिभिरविज्ञातानामसन्निहितानां पितॄणां पुत्रकर्तृकसेवानुपपत्तेः, सेवामयमित्यंशस्य मन्त्रेऽभावाच्च, यावतस्त्वं वेत्थ तावतामेव सेवनोपदेशे ये चेह पितरः सन्ति ये च नेह यांश्च विद्म यान् उ च न प्रविद्म इत्युक्तेरानर्थक्यापत्तेः। तस्मात् सिद्धान्तानुसारं ते पितरो यति यावन्तो विद्यन्ते, तांस्त्वं वेत्थ-इत्येव व्याख्यानं युक्तम् ॥ ६७ ॥

इ॒दं पि॒तृभ्यो॒ नमो॑ अस्त्व॒द्य ये पूर्वा॑सो॒ य उप॑रास ई॒युः ।
ये पार्थि॑वे॒ रज॒स्या निष॑त्ता ये वा॑ नू॒नꣳ सु॑वृ॒जना॑सु वि॒क्षु ।। ६८ ।।

मन्त्रार्थ—आज यह अन्न उन पितरों के निमित्त है, जो पहले स्वर्ग में जा चुके हैं। कृतकृत्य होकर परम ब्रह्म को प्राप्त हुए हैं, जो पृथ्वी पर होने वाली अग्निरूप ज्योति में स्थित हैं या स्वर्ग में स्थित हैं, जो पितृगण धर्मरूप बलयुक्त प्रजाओं में देहधारण कर विद्यमान हैं, उन पितरों के निमित्त भी हम धन देते हैं। जो पितृगण यजमान से पूर्व उत्पन्न ज्येष्ठ भ्राता, पितामह आदि पितृलोक को प्राप्त हुए हैं, जो यजमान का जन्म होने के उपरान्त उत्पन्न हुए भ्राता, पुत्र आदि पितृलोक को प्राप्त हुए हैं और इस पितृ कार्य में हवि को स्वीकार करने के लिये आकर बैठे हैं, उन सबके लिये हम आहुति देते हैं ॥ ६८ ॥

ये पितरः पूर्वासः पूर्वे ईयुः स्वर्गं जग्मुः, ये च उपरास उपराः, उपरमन्ते विरमन्तीति तथोक्ता उपरतव्यापाराः कृतकृत्याः सन्त ईयुः परं ब्रह्म प्रापुः, ये च पार्थिवे रजसि पृथिव्यां भवं पार्थिवं रजो ज्योतिरग्निः,

तस्मिन् आ निषत्ता आभिमुख्येन निषण्णाः, 'नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्तसूर्तगूर्तानि च्छन्दसि' (पा० सू० ८।२।६१) इति निष्ठायां नत्वाभावो निपातितः। ये वा, वा समुच्चयार्थः। ये च नूनं निश्चितं विक्षु यजमानलक्षणप्रजासु निषण्णाः। कीदृशीषु विक्षु ? सुवृजनासु शोभनं वृजनं धर्मरूपं वृत्तरूपं वा बलं यासां ताः सुवृजनाः, तासु। तेभ्यश्चतुर्विधेभ्यः स्वर्गब्रह्माग्नियजमानस्थेभ्यः पितृभ्य इदं नमोऽन्नमस्तु। अद्य अस्मिन् दिने नमस्कारो वाऽस्तु।

अध्यात्मपक्षे—ये पूर्वासः पूर्वं स्वर्गमीयुः, ये चोपरासो निवृत्तव्यापाराः, ये च पार्थिवे रजस्यग्नि-ज्योतिषि, आभिमुख्येन निषण्णाः, ये च नूनं शोभनवृत्तासु प्रजासु निषण्णाः, तेभ्यः सर्वेभ्यः पितृभ्यस्तत्तदवच्छिन्न-चैतन्येभ्यः, अद्य अद्यतनमिदं नमोऽस्तु।

दयानन्दस्तु—'ये पितरः पूर्वासोऽस्मत्तो वृद्धाः, य उपरासो वानप्रस्थाद्याश्रमं प्राप्ता भोगेभ्य उपरताः, ये पार्थिवे पृथिव्यां विदिते रजसि लोके, आनिषत्ताः कृतनिवासाः, ये च नूनं सुवृजनासु शोभनगतिषु विक्षु प्रजासु प्रयतन्ते, तेभ्यः पितृभ्योऽद्येदं नमोऽन्नमस्तु' इति, तदपि न सङ्गतम्, कोऽयमन्यः पार्थिवो लोक इत्यनुक्तेः। प्रयतन्त इत्यध्याहारोऽपि निर्मूल एव, त्वद्रीत्या सर्वेषामेव भूलोकनिवासित्वाविशेषात्, तद्विशेषानुपपत्तेश्च। विक्षु कीदृशः प्रयत्न इत्यपि चिन्त्यमेव। वस्तुतस्तु वेदानां चार्वाकसिद्धान्तपर्यवसायित्वापादनाय कलिहतकानामयं प्रयत्नः॥ ६८॥

अध॑ा य॒था॑ नः पि॒तर॒ः परा॑सः प्र॒त्नासो॑ अग्न ऋ॒तमा॑शुषा॒णाः।
शुचीद॑यन् दीधि॑तिमुक्थ॒शास॒ः क्षामा॑ भि॒न्दन्तो॑ अरु॒णीरप॑ व्रन्॥ ६९॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! हमारे उत्तम पुरातन यज्ञ को पाने वाले पितृगण जैसे देहयात्रा के अनन्तर निर्मल कान्ति वाले सूर्यमण्डल रूप देवयान मार्ग को ही प्राप्त हुए हैं, उसी प्रकार यज्ञों में शस्त्र नामक स्तोत्रों को पढ़ने वाले और पृथ्वी को वेदी के निमित्त खोदने वाले, अर्थात् सम्पूर्ण सामग्री से सम्पन्न यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले हम भी सूर्य सम्बन्धी ज्योतिर्मार्ग को पावें॥ ६९॥

हे अग्ने, नोऽस्माकं पितरः, अध अथ अनन्तरं शरीरत्यागानन्तरम्। यथा येन प्रकारेण शुचि शुचिम्, अविभक्तिको निर्देशः। निर्मलं दीप्तं भास्वरमिति यावत्। इदेवार्थकः। दीधितिम् आदित्यरश्मिं तत आदित्य-मण्डलमेव अयन् प्राप्ताः। लङि आडभाव आर्षः। कीदृशाः पितरः ? परासः परा उत्कृष्टाः, प्रत्नासः प्रत्नाः पुराणाः, ऋतं यज्ञमाशुषाणा अश्नुवाना व्याप्नुवन्तः। एतादृशाः पितरो यथा देवयानं पन्थानं प्राप्ताः, तथा वयमप्यरुणीररुणवर्णाः सूर्यदीधितीः सूर्यरश्मीन् अपव्रन् अपवृणुमः, सूर्यरश्मीन् अपवृत्य देवयानमार्गं प्राप्नुम इत्यर्थः। श्नौ लुप्ते लङि रूपम्। अडभावः पुरुषव्यत्ययश्च छान्दसः। कीदृशा वयम्? उक्थशासः, यज्ञेषु उक्थानि शस्त्राणि शंसन्ति वदन्ति ते उक्थशासः। क्विप् संहितायां दीर्घः। तथा क्षामा क्षामां भूमिं भिन्दन्तो वेदिचात्वालयूपावटोपरादिखननैर्विदारयन्तः, सर्वोपकरणैर्यज्ञं कुर्वन्त इत्यर्थः। क्षामेत्यविभक्तिको निर्देशः। यद्वा क्षामाश्रयाणि व्रीहिपशुयूपादीनि यज्ञे भिन्दन्तः, सर्वोपकरणैर्यज्ञमनुतिष्ठन्त इत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने भगवन् परमेश्वर, यथा नः पितरः परासः प्रत्नास ऋतं सत्यं परं ब्रह्म आशु-षाणा अश्नुवानाः सेवमानाः शुचि शुचिं परमनिर्मलमेव दीधितिं भास्वरं परमात्मानमेव अयन् प्राप्ताः, तथा वयमपि अरुणीररुणवर्णाः, राजसीर्वृत्तीरिति यावत्, अपवृणुम, अपवृत्य च ता ऋतं ब्रह्मैव प्राप्नुम। कीदृशा वयम्?

उक्थशासः, यज्ञेषु शस्त्रशंसनेन शुद्धाः। क्षामा भिन्दन्तो वेदिचात्वालादिसाधनैर्यज्ञानुष्ठानेन विशुद्धसत्त्वाः, विश्वतो विरज्य श्रवणादिभिः कृतब्रह्मात्मसाक्षात्काराः। यद्वा—उक्थशासो वेदाभ्यासपराः। क्षामा क्षामामविद्याभूमिं भिन्दन्तः। अरुणी राजसीर्वृत्तीः, राजसवृत्त्युपलक्षिताः सर्वा अपि वृत्तीरपाकृत्य निर्वृत्तिकचिन्तनेन निरावरणं ब्रह्म प्राप्नुम इत्यर्थः। रजसो लोहितत्वेन राजसीनां वृत्तीनामरुणीत्वं श्लिष्यते।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, यथा नः परासः प्रत्नास उक्थशासः शुचि पवित्रं ऋतं सत्यम् आशुषाणाः प्राप्नुवन्तः पितरो दीधितिं विद्याप्रकाशमरुणीः सुशीलतया प्रकाशमयीः स्त्रियः क्षामा निवासभूमिं चायन् प्राप्नुवन्ति, अधाथाविद्यां भिन्दन्त इद् एव आवरणान्यपव्रन् दूरीकुर्वन्ति, तांस्त्वं तथा सेवस्व' इति, तदपि निरर्थकम्, अविद्यापदस्य आवरणपदस्य च मूलमन्त्रेऽभावात्, अरुणीपदस्य सुशीलानां स्त्रीणां बोधने मानाभावाच्च ॥६९॥

उ॒श॒न्तस्त्वा॒ नि धी॑मह्यु॒शन्तः॒ समि॑धीमहि ।
उ॒शन्नु॑श॒त आ व॑ह पि॒तॄन् ह॒विषे॒ अत्त॑वे ॥ ७० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव ! आपकी इच्छा करते हुए हम आपको यहाँ स्थापित करते हैं, यज्ञ का अनुष्ठान करने की इच्छा से आपको प्रज्वलित करते हैं। आप भी हमें चाहते हुए हवि चाहने वाले पितरों को हवि का भक्षण करने के निमित्त बुलाइये ॥ ७० ॥

हे अग्ने, यतो वयमुशन्तः कामयमानाः, त्वा त्वां निधीमहि स्थापयामहे, यतश्च उशन्तः कामयमाना एव समिधीमहि सन्दीपयामः। यतस्त्वमपि उशन् कामयमान एव उशतः कामयमानानेव पितॄन् हविषे अत्तवे हविषोऽदनाय आवह आनय। कामनात्र प्रेमरूपैव, सौन्दर्यज्ञानजनितेच्छाया एव प्रेम्णो रूपत्वात्। प्रेम्णाग्नेः स्थापने प्रेम्णा तत्सन्दीपनेऽग्निरपि प्रेमयुक्तः प्रेमयुक्तान् पितॄन् हविषो भक्षणायानयति।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने, उशन्तस्त्वा हृदि स्थापयामः, उशन्त एव त्वां समिधीमहि मानस्यागर्चायां भूषणालङ्कारादिभिरलङ्कुर्मः, त्वं चोशन् प्रेम्णोपेतः सन् पितॄन् पितृतुल्यान् ब्रह्मविद्वरिष्ठान् आवह आनय। किमर्थमिति चेत्, अस्माकं हविषे ब्रह्मसुखस्य अत्तवे भोगाय।

दयानन्दस्तु—'हे विद्यार्थिन् पुत्र वा, त्वामुशन्तो वयं त्वां निधीमहि, उशन्तः सन्तः समिधीमहि दीपये। उशन् कामयमानस्त्वं हविषे हविषोऽत्तवे अत्तुमुशतोऽस्मान् पितॄनावह' इति, तदपि यत्किञ्चित्. विद्यार्थिपुत्रयोः सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्। पूर्वस्मान्मन्त्राद् 'अग्ने' इति सम्बोधनस्यानुवृत्तिसम्भवाच्चाग्निप्रार्थनैवात्र युक्ता, न पुत्रादिप्रार्थना, तदपेक्षया देवप्रार्थनाया उत्कर्षेण साफल्योपपत्तेः। स्थापनं सन्दीपनं चाग्नेरेव आञ्जस्येन संगच्छते ॥ ७० ॥

अ॒पां फेने॑न॒ नमु॑चेः॒ शिर॑ इन्द्रोद॑वर्तयः। विश्वा॒ यदज॑यः॒ स्पृधः॑ ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! जब आप संग्रामों में विजय प्राप्त कर रहे थे, उस समय आपने जल के झाग से नमुचि नामक दैत्य का सिर काट लिया था ॥ ७१ ॥

अयमैन्द्रो मन्त्रः सोमो राजेत्यस्याग्रिमस्यानुवाकस्य निदानभूतः पठ्यते। हे इन्द्र, यद् यदा त्वं विश्वाः स्पृधः सर्वान् संग्रामान् अजयः जितवानसि, तदा अपां फेनेन जलीयफेनपुञ्जेन नमुचेरसुरस्य शिर उदवर्तय उच्छिन्नवानसि। उत्पूर्वो वृतिश्छेदार्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, यद् यदा त्वं विश्वाः स्पृधः सर्वान् संग्रामान् अजयो जितवानसि, तदा अपां फेनेन फेनवन्निःसारेण आविद्यकेन महावाक्यजन्यब्रह्माकारवृत्त्यात्मकेन ज्ञानेन नमुचेः, न जीवं मुञ्चति तत्त्वज्ञानं विनेति नमुचिरज्ञानम्, तस्य शिर उत्कृष्टभागं ममतापादकमावरणम्, उदवर्तय उच्छिन्नवानसि।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र, यथा सूर्योऽपां फेनेन वर्धनेन नमुचेर्मेघस्य शिरो घनाकारमुपरिभागं छिनत्ति, तथैव त्वं स्वकीयाः सेना उदवर्तय ऊर्ध्वं वर्तयः, यथा विश्वाः स्पृधः, या अस्य धनोपेताः शत्रुसेनाः, ता अजयो जय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अपां वर्धनेन मेघशिरश्छेदादर्शनात्। न च मेघे शिरः सम्भवति, न च घनाकारस्योपरिभागत्वम्, सर्वस्यैव घनाकारत्वात् ॥ ७१ ॥

सोमो राजाऽमृतꣳ सुत ऋजीषेणाजहान्मृत्युम्। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ—यहाँ पयोग्रह का उपस्थापन किया जाता है कि वनस्पतियों का राजा अभिषुत सोम अमृतरूप होता है। नीरस स्थूल भाग को सोमलता से अलग कर दिया जाता है, तभी यह रस अमृतरूप होता है। इस सत्य के द्वारा सत्यरूप परमात्मा को जाना जाता है। इन्द्र का यह अन्न सोमसम्बन्धी शुद्ध रस वीर्यदायक, बलकारक, अजरता और अमरता को देने वाला मीठा दूध है ॥ ७२ ॥

'सोमो राजेत्यनुवाकेन ग्रहानुपतिष्ठते युगपत्' (का० श्रौ० १९।२।२५)। अष्टर्चेन सोमो राजेत्यनुवाकेन समानकालमेव पयोग्रहान् सुराग्रहांश्च अध्वर्युर्युगपदुपतिष्ठेदिति सूत्रार्थः। 'चतुर्भिर्वा पयोग्रहान् शेषेण सौरान्' (का० श्रौ० १९।२।२६)। यद्वा चतुर्भिः पयोग्रहान् चतुर्भिः सुराग्रहान्। ग्रहणानन्तरमेवोपस्थानम्। मन्त्रपाठक्रमादत्र लिखितम्। 'सोमो राजाष्टर्चमश्विसरस्वतीन्द्रा अपश्यन्' इत्यनुक्रमणादश्विसरस्वतीन्द्रदृष्टा अष्टौ ऋचः। आद्यास्तिस्रो महाबृहत्यः। यस्याश्चत्वारः पादा अष्टार्णाः पञ्चमो द्वादशार्णः सा महाबृहती। सोमो राजा सुतोऽभिषुतः सन् अमृतं सम्पद्यते, रसरूपो भवतीति यावत्। स्थूलस्य सूक्ष्मतापादनममृतीभावः। यत ऋजीषेण, ऋजीषं नीरसं सोमलताचूर्णम्, तेन ऋजीषरूपेण मृत्युं स्थौल्यं स्थूलभावमजहाद् जहाति। मूर्तत्वाद् ऋजीषभावस्य सत्यमेतत्। अनेन च ऋतेन सत्येन एतत् सत्यं ज्ञातं यद् अन्धसोऽन्नस्य सोमस्य विपानं विविक्तं लोहितात् सोमपानं दोषाद्विविच्य पीयते पानयोग्यं वा क्रियतेऽनेनेति विपानम्, शुक्रं शुक्लं शुद्धमत एवेन्द्रियं वीर्यप्रदं भूयात्। इन्द्रस्य पयश्चेदृशमिन्द्रियं वीर्यवद् अमृतम् अजरामरत्वप्रदम्, मधु मधुरं च स्यात्। अपां फेनेनेत्यस्य मन्त्रस्य अस्याष्टर्चानुवाकस्य च सम्बन्धः श्रुत्यैवोक्तः। तद्यथा—'तस्य शीर्षंच्छिन्ने लोहितमिश्रः सोमोऽतिष्ठत्तस्मादबीभत्सन्त त एतदन्धसोर्विपानमपश्यन् सोमो राजामृतꣳ सुत इति तेनैनꣳ स्वदयित्वाऽऽत्मन्नदधत' (श० १२।७।३।४)। यथा एककारणानि वस्तूनि विविच्यमानानि दृश्यन्ते, यथा च पृथग्भूतानि सम्मृष्टानि पुनर्विविच्यन्ते, एवमयमपि लोहितमिश्रः सोमो विविक्तः सोम एवेति सर्वानुवाकतात्पर्यम्।

अध्यात्मपक्षे—सोमः साम्बसदाशिवः परमेश्वरः, राजा सर्वत्र राजमानः शासकः परमेश्वर एव सार्वात्म्याद् राज्ञः सोमस्य रूपेण स्तूयते। स सोमो राजा सुतोऽभिषुतः संस्कृतः सन् अमृतं सम्पद्यत इत्यादिकं पूर्ववदेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'य ऋतेन सत्येन ब्रह्मणा सह अन्धसोऽन्नस्य सुसंस्कृतस्य सम्बन्धि सत्यं विद्यमानं विपानं विविधं पानं यस्मात् तत् शुक्रम् आशुकार्यकरम् इन्द्रियम् इन्द्रस्य, जीवस्य लिङ्गम् इन्द्रस्य परमैश्वर्यस्य इन्द्रियं धनम्, इदं पयोऽमृतमेतत्स्वरूपमानन्दं मधु क्षौद्रं च संगृह्णीयात्, सोऽमृतं ब्रह्म प्राप्तः सन् सुतः सोम ऐश्वर्यवान् प्रेरको राजा देदीप्यमान ऋजीषेण सरलभावेन मृत्युमजहाद् जह्यात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, परस्परविरुद्धत्वात्। तथाहि हिन्दीभाष्ये तु शीघ्रकार्यकरमिन्द्रियं धनमिन्द्रियस्य परमैश्वर्यवतो जीवस्य इन्द्रियं श्रोत्रादिकमित्युक्तम्। संगृह्णीयादित्यादिकं मूलमन्त्रे नास्त्येव, तथाप्यविस्पष्टमेव व्याख्यानम् ॥ ७२ ॥

अ॒द्भ्यः क्षी॒रं व्य॑पिबत् क्रुङ्ङा॑ङ्गिर॒सो धि॒या। ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ᳪ शु॒क्रमन्ध॑स॒ इन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑ ॥ ७३ ॥

मन्त्रार्थ—शरीर के अंगों के रस को प्राण ऐसे पीता है, जैसे हंस बुद्धि के द्वारा जल में से दूध को पी जाता है। इस सत्य से सत्य को जाना जाता है। इन्द्र का यह अन्न सोम सम्बन्धी शुद्ध रस, वीर्यदायक, बलकारक, अजरता और अमरता को देने वाला मीठा दूध है ॥ ७३ ॥

आङ्गिरसः, आङ्गानामयमाङ्गी, आङ्गी चासौ रसश्चेत्याङ्गिरसोऽङ्गानां रसः प्राणः, तदभावेऽङ्गानां नीरसत्वदर्शनात्। स तादृशः प्राणः, यथा क्रुङ् हंसो भूत्वा धिया प्रज्ञया क्षीरोदकयोः संसृष्टयोः, अद्भ्यः सकाशात् क्षीरं दुग्धं वियुत्य अपिबत् पिबतीति तस्य जातिस्वभावः। अनेन सत्येनेदं सत्यं ज्ञायते यद् अन्धसो विपानं शुक्रं भवतु। अथेन्द्रस्य पयो वीर्यममृतं भवतु।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेवार्थः।

दयानन्दस्तु—'य आङ्गिरसोऽङ्गिरसा कृतो विद्वान् धिया अद्भ्यः क्षीरं दुग्धं क्रुङ् पक्षी यथाल्पमल्पं व्यपिबत् पिबति, स ऋतेनेन्द्रस्यान्धसः सकाशादिदं सत्यं विपानं शुक्रमिन्द्रियं पयोऽमृतं मध्विन्द्रियं च प्राप्नुयात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणेनापि भावानभिव्यक्तेः ॥ ७३ ॥

सोम॑म॒द्भ्यो व्य॑पिब॒च्छन्द॑सा ह॒ᳪसः शु॑चि॒षत्। ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ᳪ शु॒क्रमन्ध॑स॒ इन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑ ॥ ७४ ॥

मन्त्रार्थ—निर्मल आकाश में विचरण करने वाला आदित्य जल मिले सोम को जल में से अलग कर वेद के द्वारा अथवा अपनी किरणों के द्वारा पी जाता है। इस सत्य से सत्य को जानना चाहिये। इन्द्र का यह अन्न सोम सम्बन्धी शुद्ध रस, वीर्यदायक, बलकारक, अजरता और अमरता को देने वाला मीठा दूध है ॥ ७४ ॥

हन्ति एक एवाकाशे गच्छतीति हंस आदित्यः, गत्यर्थकस्य हन्ते रूपम्। अद्भ्यः सकाशात् छन्दसा छन्दोनिबद्धेन वेदेन, अथवा वेदरूपैः किरणैः, यथा सोमं व्यपिबत् पिबति, सोमोदकयोः संसृष्टयोर्वियुत्य सोममेव रविः पिबति, अनेन ऋतेन सत्येन इदं सत्यमित्याद्युक्तम्। कीदृशो हंसः? शुचिषत्, शुचौ निर्मले आकाशे सीदतीति तथोक्तः।

अध्यात्मपक्षे—क्षीरनीरविवेकनिपुणहंसवत् सारासारविवेकनिपुणः, अद्भ्यो मृगतृष्णोदकोपमात् संसाराद् वियुत्य सोमं शिवमधिष्ठानतत्त्वमेव पिबति हृदये धत्ते। अनेन ऋतेन सत्येन इदं सत्यमित्यादि पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'यः शुचिषद् हंसो विवेकी जनश्छन्दसा स्वच्छन्दतया अद्भ्यः सोमं सोमलतासारं व्यपिबत्, स ऋतेन अन्धसो दोषनिवर्तकं शुक्रं विपानं सत्यमिन्द्रियमिन्द्रस्य प्रापकमिदं पयोऽमृतं मध्विन्द्रियं प्राप्तुमर्हति, स एवाखिलमानन्दमाप्नोति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्वच्छन्दताया अनर्थहेतुत्वात्। नहि वेदशाखा-नुयायी स्वाच्छन्द्यं भजते। ऋतेन सत्येन वेदविज्ञानेन अन्धसः सुसंस्कृतान्नस्य दोषनिवर्तकं शुक्रं विपानं विविधरक्षायुक्तं सत्यं परमेश्वरादिसत्यपदार्थेषूत्तममिन्द्रियं विज्ञानरूपं य इन्द्रस्य योगविद्योत्पन्नस्य ऐश्वर्यस्य इदं पय उत्तमज्ञानरसोपेतम्, अमृतं मधुविद्यायुक्तमिन्द्रियं जीवैः सेवितं सुखं प्राप्तुमर्हो भवति' इत्यत्र केन किं श्लिष्यते ? इति सुधियो विदाङ्कुर्वन्तु ॥ ७४ ॥

अन्नात् परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत् क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः। ऋतेन सत्य-मिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७५ ॥

भाष्यार्थ—प्रजापति ने परिस्रुत अन्न से रसमय सोम में मिले हुए दूध को गायत्रीलक्षण ब्रह्मस्वरूप से विचार कर पिया और क्षत्रिय को अपने वश में किया। इस सत्य से सत्य को जानना चाहिये। इन्द्र का यह अन्न सोम सम्बन्धी शुद्ध रस, वीर्यदायक, बलकारक, अजरता और अमरता को देने वाला मीठा दूध है ॥ ७५ ॥

अतिजगती द्वापञ्चाशदक्षरा। प्रजापतिः प्रथमशरीरी परिस्रुतः सुरारूपादन्नाद् रसं गायत्रीलक्षणेन ब्रह्मणा त्रयीलक्षणेन वा व्यपिबद् विविच्य पीतवान्, गायत्रीमन्त्रेण वा विविच्य पीतवान्। क्षत्रं च व्यपिबद् वशीचकार। क्षत्रियस्य पानं वशीकरणम्। पयः सोमं च व्यपिबत्। अनेन सत्येनेदं सत्यमित्यादि समानम्।

अध्यात्मपक्षे—देवानामसुराणां च राजसतामसवृत्तिविशेषाणां प्रजानां जनयिता पालकश्च जीवो यथा परिस्रुतो मादकादन्नात् संसाराद् ब्रह्मणा वेदेन रसं सारमधिष्ठानं ब्रह्मात्मकं रसं विविच्य गृह्णाति, क्षत्रं वर्धिष्णु जयिष्णु च वशीकरोति। अनेन सत्येनान्धसोऽन्नस्य संसारस्य सम्बन्धि विपानं लोहिताद् मायामयाद् विविच्य पानमिन्द्रियं वीर्यप्रदं शुक्रं शुद्धं शोधकं भूयात्। इन्द्रस्य परमेश्वरस्येदं पयःस्वरूपमिन्द्रियं वीर्यप्रदं शुक्रं शुद्धं मधु मधुरं च भवति।

दयानन्दस्तु—'यो ब्रह्मणा सह प्रजापतिः परिस्रुतोऽन्नान्निःसृतं पयः सोमं रसं क्षत्रं च व्यपिबत्, स ऋतेनान्धसो निर्वर्तकं शुक्रं विपानं सत्यमिन्द्रियमिन्द्रस्य प्रापकमिदं पयोऽमृतं मध्विन्द्रियं च प्राप्नुयात्, स सदा सुखी भवेत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, पक्वान्नरसपानस्य लौकिकत्वेन धर्मब्रह्मबोधके वेदे तदुपदेशस्याकिञ्चि-त्करत्वात्। अन्धस इत्यस्य अन्धकारार्थता तु शब्दसाम्यजनितभ्रान्तिमूलिका। स्वजन-श्वजनयोः सकृच्छकृतोरिव तयोरन्धान्धसोर्महावैषम्यात्। 'अन्ध दृष्ट्युपघाते' इति चौरादिकस्य 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इत्यसुन्-प्रत्ययेऽत्तस्य अन्धार्थकता सुतरां सिद्धेति न शङ्कनीयम्, केनापि कोषकारेण 'अन्धस्'शब्दस्यास्मिन्नर्थे उल्लेखाभावात्। इन्द्रे राजभिर्जुष्टं न्यायस्य चरणमित्यादिकं शब्दन्याये सर्वथा स्वातन्त्र्यमेव ॥ ७५ ॥

रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम् । गर्भो जरायुणावृत उल्बं जहाति जन्मना । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानᳪ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७६ ॥

मन्त्रार्थ—इन्द्रिय योनि में प्रवेश कर वीर्य को छोड़ती है तथा अन्यत्र मूत्र को त्यागती है, अर्थात् एक ही मार्ग से कार्यवश भिन्न-भिन्न वस्तु निकलती है। वीर्य से गर्भस्थिति होती है। झिल्ली से ढका हुआ गर्भ जन्म के बाद झिल्ली को त्याग देता है, तब भूमि पर आता है। इस सत्य से सत्य को जानना चाहिये। इन्द्र का यह अन्न सोमसम्बन्धी शुद्ध रस, वीर्यदायक, बलकारक, अजरता और अमरता को देने वाला मीठा दूध है ॥ ७६ ॥

द्वे अतिशक्र्यौं। षष्ट्यक्षरातिशकरी। इन्द्रियं पुंप्रजननम्। अन्यत्र ज्ञानक्रियाकरणसामान्यबोधकोऽपीन्द्रियशब्दोऽत्र शिश्नेन्द्रियमेव बोधयति। योनिं स्त्रीप्रजननं प्रविशत् सद् रेतो वीर्यं विजहाति त्यजति। योनिप्रवेशादन्यत्र मूत्रं विजहाति। तुल्यद्वारयोरपि रेतोमूत्रयोर्मूत्रस्थानादन्यत्र रेतोऽवतिष्ठते। जरायुणा गर्भवेष्टनेनावृतो गर्भो जन्मना प्रसवेन कृत्वा उल्बं जरायुं जहाति। भिन्नस्थानानामेकद्वाराणामाद्यमुदाहरणम्। एकस्थानानामनेकद्वाराणां द्वितीयम्। सत्यमेतत्। अनेन सत्येनैतत् सत्यं ज्ञातं यदन्धसो विपानं शुक्रमित्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रियम् इन्द्रस्य परमात्मन इदम्, 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्' (पा० सू० ५।२।९३) इत्यादिना निपातितोऽयं शब्दः, प्रत्यक्चैतन्यं योनिं प्रकृतिं प्रविशद् रेतोवत् सारं परात्ममतिं जहाति स्थापयति। मूत्रवद्धेयं निःसारमनात्मजातं जहात्यनात्मत्वेन त्यजति। जरायुणा जरायुवदावरणेन अज्ञानेनावृतो गर्भो गर्भभाग् भवति। जन्मना ब्रह्माकारवृत्तावाविर्भूत्या उल्बं च जहाति। ऋतेनान्नेनान्धसो विपानमित्यादि पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'इन्द्रियं योनिं प्रविशत् सद् रेतो विजहाति, अतोऽन्यत्र मूत्रं विजहाति। तज्जरायुणा वृतो गर्भो जायते। जन्मनोल्बं जहाति। स ऋतेनान्धसो निवर्तकं विपानं शुक्रं सत्यमिन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोमृतं मध्विन्द्रियं चैति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अस्पष्टत्वात्। एवमेव—'ऋतेन बाह्येन वायुना अन्धस आवरणस्य निवर्तकं विपानं विविधं पानं साधनं शुक्रं पवित्रं सत्यं वर्तमाने साधु। इन्द्रस्य जीवस्येन्द्रियं धनम्, इदं पयोरसवदमृतं मधु येन मन्यते, तद् मध्विन्द्रियं चैति' इति, तदपि तथाविधमेव, अन्धस इत्यस्य कथञ्चिदावरणार्थकत्वेऽपि निवर्तकमिति पदस्याप्रमाणकत्वात्। तथाप्यस्पष्टार्थता सुस्थिरा। भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः ॥ ७६ ॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाᳪ सत्ये प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानᳪ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने मूर्तिमान् सत् और असत् को पहचान कर विचारपूर्वक दोनों को अलग अलग स्थापित किया। उस परमात्मा ने मिथ्याभाषण रूप अनृतभाषण में नास्तिकता और अश्रद्धा को तथा सत्य में आस्तिक्य बुद्धि और श्रद्धा को स्थापित किया। इस सत्य से सत्य को जानना चाहिये। इन्द्र का यह अन्न सोमसम्बन्धी शुद्ध रस, वीर्यदायक, बलकारक और अमरता को देने वाला मीठा दूध है ॥ ७७ ॥

प्रजापतिः सत्यानृतयो रूपे दृष्ट्वा उपलभ्य इदं सत्यमेवंरूपम्, इदमनृतमेवंरूपमिति व्याकरोत् पृथगवस्थापयत्। अश्रद्धां नास्तिक्यमनृतेऽदधाद् अस्थापयत्, अश्रद्धाया अनृतनिमित्तत्वात्। श्रद्धामास्तिक्यं सत्येऽदधात्, सत्यस्य श्रद्धानिमित्तत्वात्। ऋतेनेत्यादि पूर्ववत्।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतिः परमेश्वर एव सत्यानृतव्याकर्ता। तद्वेदेनैव आस्तिक्यनास्तिक्ययोर्व्यवस्थेति पूर्ववदेव व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'ऋतेन स्वकीयेन सत्येन विज्ञानेन सत्यानृते रूपे दृष्ट्वा व्याकरोत्' इत्याह, तन्न, रूपरूपिणोर्धर्मधर्मिभावेन तादात्म्यानुपपत्तेः। अन्धसो निवर्तकमित्यनुपपत्तिरत्रापि तथैव ॥ ७७ ॥

वेदे॑न रू॒पे व्य॑पिबत् सुतासु॒तौ प्र॒जाप॑तिः। ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ꣳ शु॒क्रमन्ध॑स॒ इन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑ ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने प्रेरित अथवा अप्रेरित धर्म और अधर्म के रूपों को ज्ञान के द्वारा अथवा वेदों की सहायता से पहचाना, अथवा प्रजापति ने सुत और असुत दोनों प्रकार के पदार्थों को अपना भक्ष्य जान कर खा लिया। इस सत्य से सत्य को जानना चाहिये। इन्द्र का यह अन्न सोमसम्बन्धी शुद्ध रस, वीर्यदायक, बलकारक, अजरता और अमरता को देने वाला मीठा दूध है ॥ ७८ ॥

महाबृहती। प्रजापतिः सुतासुतौ सुतासुतयोः, विभक्तिव्यत्ययः, सुतः सोमः, असुतः पयः। परिस्रुत् सुरा च। रूपे वेदेन परिज्ञानेन त्रय्या विद्यया वा व्यपिबद् विविच्य पीतवान्। ऋतेनेत्यादि पूर्ववत्। प्रजापतिकृतस्यैव अधुनातनैर्यजमानैरनुकरणीयत्वात्।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापतिः परमात्मैव तत्तदुपहितः सन् वेदेन सुतासुतौ व्यपिबत्।

दयानन्दस्तु—'यः प्रजापतिर्ऋतेन सुतासुतौ प्रेरिताप्रेरितौ धर्माधर्मौ' इत्याह, तच्चासङ्गतम्, तदभिमते मन्त्रात्मके वेदे विधिनिषेधयोरभावेन धर्माधर्मयोर्बोधकत्वायोगात्, विधिनिषेधबहुलस्य ब्राह्मणस्य तेन वेदत्वानभ्युपगमात् ॥ ७८ ॥

दृ॒ष्ट्वा प॑रि॒स्रुतो॒ रस॑ꣳ शु॒क्रेण॑ शु॒क्रं व्य॑पिबत् पयः॒ सोम॑ प्र॒जाप॑तिः। ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ꣳ शु॒क्रमन्ध॑स॒ इन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑ ॥ ७९ ॥

मन्त्रार्थ—प्रजापति ने परिस्रुत के रस को देखकर शुद्ध मन्त्र से दुग्ध और सोम को पवित्र करके पिया, अथवा प्रजापति रूप सूर्य ने परिस्रुत के रस, दुग्ध और सोम को देखकर इनको किरणों से स्वच्छ करके पिया। इस सत्य से सत्य को जानना चाहिये। इन्द्र का यह अन्न सोम सम्बन्धी शुद्ध रस वीर्यदायक, बलकारक, अजरता और अमरता को देने वाला मीठा दूध है ॥ ७२ से ७९ संख्या के इन मन्त्रों में सोम की शुद्धि और सोमपान की विधि बताई गई है। यद्यपि सोम एक लता का नाम है, किन्तु अन्न, दूध आदि में उसका सार रहता है। उसी को ग्रहण करने की रीति यहाँ बताई गई है ॥ ७९ ॥

भतिजगती । प्रजापतिः परिस्रुतः सुराया रसं दृष्ट्वा शुक्रेण शुद्धेन मन्त्रेण पयः सोमं च शुक्रं शुक्लं शुद्धं कृत्वा व्यपिबद् वियुज्य पीतवान् । ऋतेनेत्यादि पूर्ववत् ।

अध्यात्मपक्षे—प्रजापत्युपहितः परमात्मा एव पाता, शुद्धं तदयोगात् ।

दयानन्दस्तु—'परिस्रुतः सर्वतः प्राप्तः शुक्रेण शुद्धेन भावेन शुक्रं शीघ्रसुखकरं सोममोषधिरसम्' इत्याह । तच्चायुक्तम्, परिस्रुच्छब्दस्य सौत्रामणीयागगतायां विशिष्टौषधिनिर्मितसुरायां प्रसिद्धत्वात् ॥ ७९ ॥

सीसे॑न॒ तन्त्रं॒ मन॑सा मनी॒षिण॑ ऊर्णासू॒त्रेण॑ क॒वयो॑ वयन्ति । अ॒श्विना॑ य॒ज्ञꣳ स॑वि॒ता सर॑स्वतीन्द्र॑स्य रू॒पं वरु॑णो भिष॒ज्यन् ॥ ८० ॥

मन्त्रार्थ— अश्विनीकुमार, सविता देव, सरस्वती, वरुण, मनीषी कविगण इन्द्र के रोगी रूप को देखकर उसको नीरोग करने के विचार से सौत्रामणी यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। वे शीशे से अंगद अलंकार को और उसके धागे से इन्द्र के लिये वस्त्र बुनते हैं ॥ ८० ॥

'खुरैर्वसाग्रहान् द्वात्रिꣳशतं जुहोति सीसेनेति प्रत्यृचम्' (का० श्रौ० १९।४।१२) । 'पञ्चपलो ग्रहः' इति परिशिष्टोक्तेः, ऋषभखुराणां महत्त्वाच्च द्वात्रिंशदृषभखुरानादाय अग्नितप्तान् कृत्वा तन्मध्यान्मांसं निष्कास्य ग्रहयोग्यान् कृत्वा अध्वर्युः सर्वेषां पशूनां वसामेकस्मिन् पात्रे कृत्वा तैः खुरैः पर्यायेण द्वात्रिंशद्वसाग्रहान् जुहुयात् । अत्रैकैकेन मन्त्रेण द्वयोर्होमः । 'द्वौ द्वौ हुत्वा शेषान् सते करोति' (का० श्रौ० १९।४।१३) । एकैकेन मन्त्रेण द्वौ द्वौ वसाग्रहौ हुत्वा तयोर्ग्रहयोः शेषान् सते वैतसे पात्रे प्रतिहोमं नयेदिति सूत्रद्वयार्थः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'शफग्रहा भवन्ति । शफैर्वै पशवः प्रतितिष्ठन्ति प्रतिष्ठामेवैनङ्गमयति त्रयस्त्रिꣳशद्ग्रहा भवन्ति त्रयस्त्रिꣳशद्वै सर्वा देवताः सर्वाभिरेवैनमेतद्देवताभिरभिषिञ्चति जगतीभिर्जुहोति जागता वै पशवो जगत्यैवास्मै पशूनवरुन्धे षोडशभिर्ऋग्भिर्जुहोति षोडशकला वै पशवोऽनुकलमेवास्मिञ्छ्रियं दधाति' (श० १२।८।३।१३) । शफाः खुराः । त्रयस्त्रिंशद् ग्रहा भवन्ति । तैर्वसाग्रहा गृह्यन्ते । प्रत्यर्चं द्वौ द्वौ हुत्वा तच्छेषान् सते वैतसे पात्रे समवनीय तैस्तैः संस्रवैः स संहितो यजमानोऽभिषिच्यत इत्येतत् । यः अभिषेकोत्तरं स्तोत्रशस्त्रो वसाग्रहो गृह्यते स त्रयस्त्रिंशः । 'सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण इति । द्वौ द्वौ समासꣳ हुत्वा सते सꣳस्रवान् समवनयत्यहोरात्राण्येवैतदर्धमासान् मासानृतून् संवत्सरे प्रतिष्ठापयति तानीमान्यहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरे प्रतिष्ठिताः' (श० १२।८।३।१४) । सत्रस्य समस्य समासम् । अहोरात्राण्येवैतदर्धमासान् । अहोरात्राभ्यामहोरात्रं चतुर्विंशत्यर्धमासान् । तेषामेव द्वादशभिर्युगलैर्मासान् । षड्भिर्मासयुगलैः षड्तूनित्यभिप्रायः । 'वैतसः सतो भवति । अप्सुयोनिर्वै वेतस आपो वै सर्वा देवताः सर्वाभिरेवैनमेतद्देवताभिरभिषिञ्चति' (श० १२।८।३।१५), 'सर्वसुरभ्युन्मर्दनं भवति । परमो वा एष गन्धो यत्सर्वसुरभ्युन्मर्दनं गन्धेनैवैनमेतदभिषिञ्चति' (श० १२।८।३।१६) । सर्वसुरभि चन्दनादि, उन्मर्दनमुद्वर्तनं यजमानस्य भवति । तेनोन्मृदितगात्रोऽभिषेक्तव्य इत्यभिप्रायः ।

अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याः षोडश जगत्यः । 'जगतीभिर्जुहोति' (श० १२।८।३।१३) इति श्रुतिबलाद् बह्वक्षरन्यूनानामपि कासाञ्चिदृचां जगतीत्वमेव । तथा चानुक्रान्तम्—'सीसेन तन्त्रमश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याः षोडश जगत्यः' इति । अनेन षोडशर्चेनानुवाकेन अश्व्यादिभिर्यथा इन्द्रस्य भैषज्यं कृतं तत्प्रतिपाद्यते । अश्विना अश्विनौ दस्रौ सविता सरस्वती वरुणश्च मनसा विचार्य यज्ञं सौत्रामणीं वयन्ति निष्पादयन्ति । केन ? सीसेन ऊर्णासूत्रेण च ।

सीसेन शष्पक्रयणात्, ऊर्णया तोक्मक्रयणाच्च ताभ्यां यज्ञनिष्पादनमित्यर्थः। अत्र प्रथमर्चे यज्ञः पटादिभिरुपमीयते। यथा सूत्रैः पटं वयति तन्तुवायः, तथाश्व्यादयः सीसेन ऊर्णासूत्रेण च तन्त्रमिव पूर्वापरैः सूत्रैर्दक्षिणोत्तरैश्च यज्ञं वयन्ति। यथा कश्चित् सीसेन धातुविशेषेण तन्त्रमङ्गदविशेषं कटकविशेषं वा (चूड़ीति ख्यातम्) वयति, ऊर्णासूत्रेण च तन्त्रं पटं वयति, तद्वत्। 'तन्त्रं कुटुम्बकृत्ये स्यात् सिद्धान्ते चौषधोत्तमे। प्रधाने तन्तुवाये च शास्त्रभेदे परिच्छदे॥ श्रुतिशाखान्तरे हेतावुभयार्थप्रयोजके। इतिकर्तव्यतायां च' इति मेदिनीकोषात्। अत्र तन्तुवायेत्यत्र तन्तुवानेति पाठभेदः। तस्मात् पट इत्यर्थः। तन्तुवायेति पाठेऽपि पटोऽर्थो भवितुं शक्यः। कीदृशा अश्व्यादयः? मनीषिणो मेधाविनः। कवयः क्रान्तदर्शनाः। इन्द्रस्य रूपं भिषज्यन् भिषज्यन्तः। 'भिषज् चिकित्सायाम्' कण्ड्वादित्वाद् यत्, ततः शता, वचनव्यत्ययः। इन्द्रभैषज्याय यज्ञं वयन्तीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रस्य परमात्मन औपाधिकं विकृतं जैवं रूपमश्विनौ मातापितरौ, सविता प्रकाशको गुरुः, सरस्वती त्रयी, वरुणः पाशाधिष्ठाता, अर्थात् प्रतिबन्धाधिष्ठाता, एते मनीषिणो मेधाविनः कवयः क्रान्तदर्शना मनसा पर्यालोच्य सीसेन ऊर्णातन्तुना च तन्त्रमिव यज्ञं ज्ञानयज्ञं वयन्ति निष्पादयन्ति, यथा कश्चित् सीसेन धातुविशेषेण तन्त्रं कटकमूर्णासूत्रेण च तन्त्रं पटं वयति, तद्वत्। अश्व्यादयो नियन्त्रितदेहेन्द्रियान्तःकरणरूपेण धातुविशेषेण वेदवेदान्तजन्यविचाररूपेण ऊर्णासूत्रेण ब्रह्मात्मसाक्षात्काररूपं यज्ञं निष्पादयन्ति, वरुणः प्रतिबन्धान्निवारयति। मातापितरौ नियन्त्रितं कार्यकरणसंघातं प्रयच्छतः। आचार्यस्त्रयी च वेदान्तविचारानुपस्थापयन्ति। एवं ज्ञानयज्ञेन जैवमौपाधिकं रूपं भिषज्यन्ति, उपाध्यपोहेन प्रत्यगात्मानं ब्रह्मरूपेणावस्थाप्य ऐन्द्रं वास्तवमेव रूपं व्यञ्जयन्ति।

दयानन्दस्तु—हे मनुष्याः, यथा कवयो मनीषिणः सीसेन सीसकधातुपात्रेणेव ऊर्णासूत्रेण ऊर्णाकम्बलेनेव मनसा अन्तःकरणेन तन्त्रं कुटुम्बधारणमिव तन्त्रं कलानिर्माणं वयन्ति, यथा सविता विद्याव्यवहारेषु प्रेरकः, सरस्वती प्रशस्तविज्ञानयुक्तसरस्वती, अश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ, यज्ञं सङ्गन्तुमर्हं व्यवहारं कुरुत, यथा भिषज्यन् चिकित्सुर्वरुणः श्रेष्ठ इन्द्रस्य रूपं विदधाति, तथा यूयमप्याचरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मूले इवपदाभावात्, सीससूत्राभ्यां मनसः सादृश्याभावाच्च। अत्र यज्ञं वयन्तीत्येकस्यामेव क्रियायामश्व्यादिकर्तॄणां सम्बन्धसम्भवे विदधातीत्यादिक्रियान्तरकल्पनाया निर्मूलत्वात्। सम्बोधनमपि निर्मूलमेव॥ ८०॥

तदस्य रूपममृतꣳ शचीभिस्तिस्रो दधुर्देवताः सꣳरराणाः।
लोमानि शष्पैर्बहुधा न तोक्मभिस्त्वगस्य माꣳसमभवन्न लाजाः॥ ८१॥

मन्त्रार्थ—दोनों अश्विनीकुमार और सरस्वती, इन तीनों देवताओं ने भली-भाँति देखभाल कर इन्द्र के उस मरणधर्मरहित रूप को अपनी युक्तियों के द्वारा नीरोग किया था, मिल जुल कर सौत्रामणी यज्ञ का निर्माण किया था, इस इन्द्र के रोमों को जमे हुए धान से और त्वचा को जमे हुए यवों से बनाया था, खीलों से इसके मांस को पुष्ट किया था॥ ८१॥

तिस्रो देवता अश्विसरस्वत्यः सं सम्यक् रराणा रममाणाः सत्यः, अस्येन्द्रस्य तदमृतममरणधर्मि रूपं शचीभिः कर्मभिः सन्दधुः कर्माङ्गैः सन्धानं चक्रुः। कथं सन्दधुरिति चेत्, लोमानि इन्द्रस्य रोमाणि शष्पैर्विरूढव्रीहिभिः सन्दधुः। नकारः समुच्चयार्थो आध्यायसमाप्तेः। अस्येन्द्रस्य त्वग् न त्वचं च बहुधा तोक्मभिर्विरूढैरङ्कुरितैर्यवैः सन्दधुः। विभक्तिव्यत्ययः। लाजा न लाजाश्चास्य मांसं समभवन्, लाजाभिरस्य मांसं सन्दधुरित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—अस्येन्द्रस्य तदुपहितस्य परमात्मनस्तदमृतममरणधर्मि रूपं तिस्रो देवताः सम्यग् रममाणाः सन्दधुः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'तिस्रो देवताः पठकाः पाठकाः परीक्षकाश्च देवता विद्वांसः शचीभिः प्रज्ञाभिः कर्मभिर्वा बहुधा यज्ञं शष्पैर्दीर्घलोमभिः सह लोमानि च दधुः। तदस्यामृतं रूपं यूयं विजानीत। अयं तोक्मभिर्बालकैर्नानुष्ठेयः। अस्य मध्ये त्वङ् मांसं लाजा वा हविर्नाऽभवदिति च वित्त' इति, तदपि विनोदमात्रम्, निर्मूलत्वात्। शष्पपदस्य दीर्घलोमार्थतासिद्धेश्च, दीर्घा लोका इति हिन्दीभाष्यविरोधाच्च, दीर्घलोमभिः सह लोमानि सन्दधुरित्यसङ्गतेश्च, यागधारणे लोम्नामुपयोगासिद्धेश्च, 'अनुष्ठेयः, अभवत्'इति पदयोरध्याहारस्य निर्मूलत्वाच्च ॥ ८१ ॥

तद॒श्विना॑ भि॒षजा॑ रु॒द्रव॑र्तनी॒ सर॑स्वती वयति॒ पेशो॒ अन्त॑रम्।
अस्थि म॒ज्जानं॒ मास॑रैः कारोत॒रेण॒ दध॑तो॒ गवां॑ त्व॒चि ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ—पृथ्वी की त्वचा, अर्थात् मिट्टी के पके हुए पात्र में सोम को स्थापित करते हुए, रुद्र के समान पराक्रम वाले वैद्य अश्विनीकुमार और वाग्देवी सरस्वती ने इन्द्र के रूप को निखार दिया था। इन्होंने मासर के चूर्णमय चरु को टपका कर इन्द्र की हड्डियों को और सोमरस को छानने वाले रस से मज्जा को परिपूर्ण किया था ॥ ८२ ॥

रुद्रवर्तनी रुद्रस्येव वर्तनिर्मार्गो ययोस्तौ, रुग्णवर्तनी वा, रोरूयमाणौ वर्तेते इति वा। भिषजा भिषजौ देववैद्यौ अश्विना अश्विनौ, सरस्वती च तदन्तरं शरीरान्तर्वर्ति पेश इन्द्रस्य रूपम्, सकारान्तः, वयति वयन्ति सम्बध्नन्ति, वचनव्यत्ययः। कथं वयन्ति? तदाह—मासरैः शष्पादिचूर्णचरुनिःस्रावैः, अस्थि अस्थीनि सम्बध्नन्ति। कारोतरेण सच्छिद्रेण पात्रेण गालिन्या वा मज्जानं वयन्ति निष्पादयन्ति। किं कुर्वाणास्ते? तदाह—गवां त्वचि चर्मणि दधतः सुरां स्थापयन्तः।

अध्यात्मपक्षे—अश्व्याद्यवच्छिन्नः परमेश्वरः सौत्रामणीगततत्तन्नियतसाधनावच्छिन्नैश्चैतन्यैरिन्द्रस्य आन्तरं रूपं वयति।

दयानन्दस्तु—'यत्सरस्वती वयति तत्पेशोऽस्थिमज्जानमन्तरं मासरैः कारोतरेण गवां त्वचि रुद्रवर्तनी भिषजौ वैद्यौ अश्विनौ दधतो दध्याताम्' इति, तदपि निःसारम्, निरर्थकत्वात्, व्याख्यानद्वयेनापि भावानवगमात्, भावार्थस्य च मूलसम्बन्धवैधुर्यात् ॥ ८२ ॥

सर॑स्वती॒ मन॑सा पेश॒लं वसु॒ नास॑त्याभ्यां वयति दर्श॒तं वपुः।
रसं॑ परि॒स्रुता॒ न रोहि॑तं न॒ग्नहु॒र्धीर॒स्तस॑रं॒ न वेम॑ ॥ ८३ ॥

मन्त्रार्थ—दोनों अश्विनीकुमार और सरस्वती, ये तीनों परस्पर विचार कर इन्द्र के सुवर्ण और रजतरूप धन को तथा दर्शनीय रूप को उत्पन्न करते हैं। परिस्रुत सुरा रस से इन्द्र के शरीर को रुधिर से पूर्ण करते हैं। इसीलिये इन्द्र को वेदों में रोहित कहा गया है। इन्होंने सर्ज की छाल से रस को पूर्ण किया और टसर बुनने के लिये दण्ड दिया ॥ ८३ ॥

नासत्याभ्यामश्विभ्यां सहिता सरस्वती मनसाऽन्तःकरणेन पर्यालोच्य प्रकृतस्येन्द्रस्य वसु धनं दर्शतं दर्शनीयं वपुः शरीरं च वयति पटमिव सृजति। कीदृशं वपुः? पेशलम्, पेशं लाति गृह्णातीति, हिरण्यवद्वा

रूपवद्वा। पेश इति हिरण्यनाम च रूपनाम च। परिस्रुता परिस्रुतः सुराया रोहितं लोहितं रसं न रसं च वयति, वपुषो रञ्जनार्थमिति शेषः। अत एव वेदेषु रोहित इन्द्रः पठ्यते। अथ तदा नग्नहुः किण्वः सुराकन्दः पूर्वोक्तो धीरो धियमीरयतीति धीरो मादकः, तसरं वमनसाधनं वेम न वेमा च सम्पद्यते। नग्नहोः कर्तृत्वमात्रं विवक्षितम्, विवक्षातः कारकाणि भवन्तीति वैयाकरणानां प्रसिद्धेः। कुविन्दानां तसरवेमानौ प्रसिद्धावेव।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वोक्तमेव व्याख्यानम्। सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वात् सार्वात्म्यविवक्षया तत्तद्वर्णनम्।

दयानन्दस्तु—'सरस्वती मनसा वेम न यतः पेशलं दर्शतं वपुस्तसरं रोहितं परिस्रुता रसं न वसु वयति। नासत्याभ्यां नग्नहुर्वीरश्चास्ति, तौ द्वौ वयं प्राप्नुयामः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वेमपदस्य उत्पत्त्यर्थत्वे मानाभावात्। न विद्यतेऽसत्यं ययोस्ताभ्यां मातापितृभ्यामित्यपि निर्मूलमेव, तथात्वे सत्यवादिनि कस्मिंश्चिदपि नरे नासत्यपदप्रयोगापत्तेः। नियमेन दस्रनासत्याश्विशब्दानां द्विवचनत्वस्य गतिश्चिन्त्या। नग्नं शुद्धं जुहोति गृह्णातीति नग्नहुरित्यपि चिन्त्यम्। उद्धृतश्रुतिसूत्रविरोधस्तु स्पष्ट एव॥ ८३॥

पय॑सा शु॒क्रम॒मृतं॑ ज॒नित्र॒ᳫँ सुर॑या॒ मूत्रा॑ज्जनयन्त॒ रेतः॑।
अपाम॑तिं दु॒र्म॑तिं बाध॑माना॒ ऊव॑ध्यं॒ वात॒ᳫँ सब्वं॒ तदा॒रात्॥ ८४॥

मन्त्रार्थ—तीनों देवताओं ने निर्मल दूध के भाग से अमृतमय जननशील वीर्य को उत्पन्न किया, समीप में स्थित होकर अज्ञान और दुर्मति को दूर करते हुए उसके आमाशय में अन्न को और पक्वाशय में अन्न के सुरा-रस को कल्पित कर मूत्र की कल्पना की॥ ८४॥

अश्विनौ सरस्वती चेत्येता देवता पयसा दुग्धेन कारणेन प्रकृतस्य इन्द्रस्य शुक्रं शुक्लम् अमृतमविनश्वरं जनित्रं जनयतीति जनित्रं जयनशीलं रेतो वीर्यं जनयन्त उदपादयन्त, अडभाव आर्षः। आरात् समीपे स्थित्वा तत्प्रसिद्धमूवध्यमामाशयगतमन्नम्, वातं नाडीगतं वायुं सब्वं पक्वाशयगतमन्नं च, सर्वमशुचिमिति यावत्। सुरया कृत्वा मूत्राद् मूत्रं च अजनयन्त। कीदृशास्ते? तत्राह—अमतिम् अमननं वध्यभावं दुर्मतिं दुर्बुद्धिं च अपबाधमाना निवर्तयन्तः, सद्बुद्धिं ददत इत्यर्थः। यद्वा अश्विनौ सरस्वती चेति प्रकृता देवताः पयसा शुक्रं च अमृतं जनित्रमाजन्म जनयन्तः, सुरया मूत्राद् मूत्रम्, विभक्तिव्यत्ययः, रेतश्च जनयन्तः, अमतिमज्ञानं दुर्मतिं च अपबाधमानाः, अवध्यमामाशयगतमन्नं वातं गुदद्वारेण बहिर्गमनशीलं सब्वं पक्वाशयगतमन्नं च आरात् सुरया सुरासन्निकर्षाद् जनयन्तः, सन्निकर्षो हि गन्धादिभिः, वयन्ति।

अध्यात्मपक्षे—तत्तदवच्छिन्नचैतन्यरूपा देवताः। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'ये विद्वांसोऽमतिं दुर्मतिमपबाधमानाः सन्तो यदूवध्यमूरू वध्ये येन तत्, वर्णलोपः, वातं प्राप्तम्, सब्वं समवेतम्, 'षप् समवाये' इति धातोरौणादिको वप्रत्ययः, पयसा सुरयोत्पन्नं मूत्राद मूत्राधारेन्द्रियाद् जनित्रम् अमृतं शुक्रं रेतोऽस्ति, तदाधाराज्जनयन्तस्ते प्रजावन्तो भवन्ति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारादिमूलकत्वात्। ऊवध्यं वातं सब्वमित्यादिपदानां निराधारे काल्पनिके व्याख्यानेऽपि विशृङ्खलतैवार्थस्य। सुरया सोमलतादिरसेनेत्यपि निर्मूलमेव॥ ८४॥

इन्द्रः सुत्रामा हृदयेन सत्यं पुरोडाशेन सविता जजान ।
यकृत् क्लोमानं वरुणो भिषज्यन्मतस्ने वायव्यैर्न मिनाति पित्तम् ॥ ८५ ॥

मन्त्रार्थ—सबकी भली प्रकार से रक्षा करने वाला, पुरोडाश का अधिष्ठाता देव इन्द्र हृदय से हृदय को प्रकट करता है। सविता ने पुरोडाश से इन्द्र के सत्य को उत्पन्न किया है, वरुण ने चिकित्सा करते हुए हृदय की बाईं ओर स्थित मांसपिण्ड रूप तिल्ली को और गले की नाड़ी को प्रकट किया है, सोम सम्बन्धी ऊर्ध्व पात्रों से हृदय की दोनों ओर की हड्डियों का और पित्त का निर्माण किया है ॥ ८५ ॥

सुत्रामा सुष्ठु त्रायत इति तथोक्त इन्द्रः पुरोडाशदेवता। हृदयेन हृदयम्, इन्द्रस्येति शेषः, विभक्तिव्यत्ययः, जजान जनयति। सविता च पुरोडाशेन इन्द्रस्य सत्यं जजान। वरुणो भिषज्यन् इन्द्रस्य चिकित्सां कुर्वन् यकृत् कालखण्डं क्लोमानं गलनाडिकां च जजान। 'यकृच्च क्लोमानश्च' (बृ० १।१।१) इत्यत्र—'यकृच्च क्लोमानश्च हृदयस्याधस्ताद् दक्षिणोत्तरौ मांसखण्डौ' इति शङ्करभगवत्पादाः। वायव्यैः सौमिकैरूर्ध्वपात्रैः, मतस्ने हृदयोभयपार्श्वस्थे अस्थिनी पित्तं न पित्तं च मिनाति निर्मिमीते, सृजतीत्यर्थः। सौमिकान्यूर्ध्वपात्राणि वायव्यसंज्ञानि।

अध्यात्मपक्षे—परमात्मैव तत्तद्देवता भूत्वा इन्द्रभावापन्नस्य स्वस्य तत्तत्साधनभूतैः स्वैरेव रूपैर्भिषज्यति।

दयानन्दस्तु—'यथा सुत्रामा सवितेन्द्रो वरुणो विद्वान् भिषज्यन् सन् हृदयेन सत्यं जजान। पुरोडाशेन वायव्यैश्च यकृत्क्लोमानं मतस्ने पित्तं च मिनाति, तदेतत्सर्वं यूयं मा हिंस्त' इति, तदपि साहसमात्रम्। वैदिकार्थानवबोधात्, पुरोडाशवायव्यैर्यकृत्क्लोमादीनां हननाप्राप्तेर्निषेधासम्भवात्। चिकित्स्यस्य चिकित्सा भवति, न चात्मना यथार्थभावः प्रकटति ॥ ८५ ॥

आन्त्राणि स्थालीर्मधु पिन्वमाना गुदाः पात्राणि सुदुघा न धेनुः ।
श्येनस्य पत्रं न प्लीहा शचीभिरासन्दी नाभिरुदरं न माता ॥ ८६ ॥

मन्त्रार्थ—मधु से भरी हुई, दूध देने वाली स्थाली आँतों के स्थान पर आदित्य इष्टि और उसके पात्र गुदास्थानापन्न, श्येन का पंख हृदय का वाम भाग और माता स्थान भूत आसन्दी (चौकी) कर्मों के द्वारा नाभिस्थान और उदर रूप हुई ॥ ८६ ॥

स्थाल्य इन्द्रस्य आन्त्राण्यभवन्। कीदृश्यः स्थाल्यः ? मधु पिन्वमानाः क्षौद्रं मधुररसं वा सिञ्चन्त्यः। पात्राण्यन्यानि यज्ञियानि तस्य गुदस्थानान्यभवन्। सुदुघा न धेनुः शोभनं दुग्धे सा सुदुघा दोग्ध्री गौश्च आदित्येष्टेर्दक्षिणारूपा इन्द्रस्य गुदा एवाभवत्, श्येनस्य पत्रं च प्लीहा हृदयवामभागस्थः शिथिलमांसखण्डो गुल्मसंज्ञोऽभवत्। आसन्दी मञ्चिका शचीभिः कर्मभिः सहिता इन्द्रस्य नाभिरुदरं चाभवत्। कीदृशी आसन्दी ? माता जननीस्थानीया, आसन्द्यामभिषिच्यते, ततो जायत एवेति सा मातोच्यते।

अध्यात्मपक्षे—सौत्रामणीयागगतानि स्थाल्यादीनि इन्द्रस्य आन्त्रादीनि संवृत्तानि। सर्वमेतत् परमात्मविलासभूतमेव। स एवेन्द्रः, स एव सौत्रामणी, तद्गतोपकरणानि च स एवेति सार्वात्म्यं तस्य स्पष्टं भवति।

दयानन्दस्तु—'युक्तिमता पुरुषेण शचीभिः प्रज्ञाकर्मभिः स्थालीरग्नेरुपरि निधायौषधिपाकान् विधाय तत्र मधु प्रक्षिप्य भुक्त्वाऽन्त्राणि अन्नपाकाधारा नाडीः पिन्वाना गुदा गुह्येन्द्रियाणि पात्राणि भोजनार्थानि सुदुघा धेनुर्न धेनुरिव प्लीहा श्येनस्य पत्रं न पत्रमिव माता, तेऽभीष्टं सुखं लभन्ते' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणालीकार्थस्वीकारेऽपि भावस्यास्पष्टत्वात् ॥ ८६ ॥

कुम्भो व॒निष्ठुर्ज॑नि॒ता शची॑भि॒र्यस्मि॒न्नग्रे॒ योन्यां॒ गर्भो॑ अ॒न्तः ।
प्ला॒शिर्व्य॑क्तः श॒तधा॑र॒ उत्सो॑ दु॒हे न कु॒म्भी स्व॒धां पि॒तृभ्यः॑ ॥ ८७ ॥

मन्त्रार्थ—रस के साधनभूत घड़े स्थूल आंत उत्पन्न करते हैं। जिस कुम्भरूप योनि के भीतर प्रथम सोमरूप गर्भ स्थित हुआ, वह घट स्पष्ट जननेन्द्रिय बना और सुराधानी पात्र ने पितरों के निमित्त स्वधा अन्न को प्रकट किया ॥ ८७ ॥

कुम्भः सुराधानकुम्भः, शचीभिः कर्मभिः, वनिष्ठुः स्थूलान्त्रमिन्द्रस्य जनिता जनयति। यस्मिन् कुम्भे योन्यां कुम्भरूपे योनौ स्थाने, अग्रे प्रथममन्तर्मध्ये गर्भः सुरारूप उषितः। शतधार उत्सः कूपतुल्यः कुम्भो व्यक्तः स्पष्टः प्लाशिः शिश्न इन्द्रस्याभवत्। कुम्भी सुराधानी च पितृभ्यः स्वधामन्नं दुहे दुग्धे पूरयति, 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० सू० ७।१।४१) इति तकारलोपः।

अध्यात्मपक्षेऽपि पूर्वोक्तदिशा सार्वात्म्यविवक्षयाऽर्थो ज्ञातव्यः।

दयानन्दस्तु—'यः कुम्भः कलश इव वीर्यादिधातुभिः पूर्णो वनिष्ठुः सम्भाजी, 'वन सम्भक्तौ' इत्यस्माद् औणादिक इष्ठुप्रत्ययः, जनितोत्पादकः, यः प्रकृष्टतयाऽश्नुते स व्यक्तः। विविधाभिः प्रसिद्धः। शचीभिः कर्मभिः शतधार उत्सो दुहे न प्रपूर्तिकरे व्यवहार इव पुरुषो या च कुम्भीव स्त्री, तौ पितृभ्यः स्वधां प्रदद्याताम्। यस्मिन्नग्रे योन्यामन्तर्गर्भो धीयेत, तं सततं रक्षेताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निष्प्रमाणाध्याहारादिमूलकत्वात्, कुम्भकुम्भीशब्दाभ्यां स्त्रीपुंसयोर्ग्रहणे मानाभावाच्च ॥ ८७ ॥

मुख॒ꣳ सद॑स्य॒ शिर॒ इत्सते॑न जि॒ह्वा प॒वित्र॑म॒श्विना॒सन् सर॑स्वती ।
चप्यं॒ न पा॒युर्भि॒षग॑स्य॒ वालो॑ व॒स्तिर्न शेपो॒ हर॑सा तर॒स्वी ॥ ८८ ॥

मन्त्रार्थ—सत नामक पात्र इस इन्द्र का मुख हुआ, उसी पात्र से सिर की चिकित्सा हुई। पवित्र जिह्वा के संपादक अश्विनीकुमार और सरस्वती मुख में स्थित हुए, चप्य पायु इन्द्रिय हुई, रस का छानने का वस्त्र इसकी चिकित्सा हुई, गुदा तथा वेग से वीर्यवान् पुरुष की जननेन्द्रिय बनी ॥ ८८ ॥

अस्येन्द्रस्य सत् सतः, वैतसः पात्रविशेषः, अन्तलोपश्छान्दसः, मुखमभूत्। तथा च श्रुतिः—'मुखꣳ सतं जिह्वा पवित्रं चप्यं पायुर्बस्तिर्वालः' (श० १२।९।१।३) इति। सतेन इत् तेन पात्रेणैव अस्य शिरोऽभूत्। पवित्रं जिह्वा चाभवत्। अश्विना अश्विनौ सरस्वती च आसन् अस्य आस्येऽभवन्। चप्यं न पिष्टपात्रं च, 'चप्यं पिष्टपात्रम्' इति तैत्तिरीयब्राह्मणभाष्ये (२।६।४।४) सायणः, पायुरिन्द्रियमभवत्। वालः सुरागलनवस्त्रम्, अस्येन्द्रस्य भिषग्वैद्यो वस्तिर्गुदं शेफो लिङ्गं चाभूत्, वालेन एतत्त्रयं जातमिति यावत्। कीदृशः? हरसा वीर्येण तरस्वी वेगवान्।

अध्यात्मपक्षे—सौत्रामण्युपकरणानि च प्रकृतस्य भिषज्यस्येन्द्रस्य तत्तदङ्गान्यभवन्। ब्रह्मण एवैतद्विलसितमिति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा जिह्वा सरस्वती स्त्री अस्य पत्युः सतेन उत्तमावयवैर्विभक्तेन शिरसा सह शिरः कुर्यात्, आसन् आस्ये पवित्रं मुखं कुर्यात्, एवमश्विनौ गृहाश्रमव्यवहारव्यापिनौ इद् एव वर्तेताम्,

यदस्य पायुर्भिषक् वालो बस्तिः शेपो हरसा बलेन तरस्वी भवति, स चप्यं न सद् भवेद्, सर्वं यथावत् कुर्यात्' इति, तदपि तुच्छम्, विसङ्गतेरस्पष्टार्थत्वाच्च। अश्विनावित्यनेन' यदि दम्पत्योर्ग्रहणम्, तदा जिह्वेव सरस्वती स्त्रीति पृथक् स्त्रीग्रहणं निरर्थकमेव स्यात्। तत्र हिन्दीभाष्ये शिरसा सह शिरः कुर्यादित्युक्तम्। मूले च एक एव शिरःशब्दः। तत्र शिरसा इति तृतीयान्तस्याध्याहारे किं बीजम्? कुर्यादिति पदमपि मूले नास्ति। अश्विना-वित्यनेन 'परस्पररत्या संसक्तस्त्रीपुरुषौ' इति त्वद्बुद्धावेव प्रस्फुरति। तरस्वीति प्रशस्तं तरो विद्यते यस्य सः, हिन्दीभाष्ये तु—'करने हारा होता है' इत्युक्तम्। तत्र केन कस्य सम्बन्धः? चप्यमिति चपेषु सान्त्वनेषु भवं चप्यमिति', हिन्दीभाष्ये च—'करने के समान' इत्याद्यपि सर्वथाऽसम्बद्धमेव।

शतपथी श्रुतिस्तु—'हृदयमेवास्यैन्द्रः पुरोडाशः। यकृत् सावित्रः क्लोमा वारुणो मतस्ने एवास्याश्वत्थं च पात्रमौदुम्बरं च पित्तं नैयग्रोधमान्त्राणि स्थाल्यो गुदा उपशयानि श्येनपत्रे प्लीहासन्दी नाभिः कुम्भो वनिष्ठुः प्लाशिः शतातृण्णा तद्यत् सा बहुधा वितृण्णा भवति तस्मात् प्लाशिर्बहुधा विकृतो मुखᳪं सतं जिह्वा पवित्रं चप्यं पायुर्बस्तिर्वालः' (श० १२।९।१।३) इति स्पष्टमेवमर्थं ब्रूते॥ ८८॥

अ॒श्विभ्यां॒ चक्षु॑र॒मृतं॒ ग्रहा॑भ्यां॒ छागे॑न॒ तेजो॑ ह॒विषा॑ शृ॒तेन॑।
पक्ष्मा॑णि गो॒धूमैः॒ कुव॑लैरु॒तानि॒ पेशो॒ न शु॒क्रमसि॑तं वसाते॥ ८९॥

मन्त्रार्थ—अश्विनीकुमार देवता वाले ग्रहों से अविनाशी नेत्र कल्पित हुए, बकरी के दूध में पके हुए हवि से चक्षु का तेज कल्पित हुआ। गेहूं से नेत्रों के नीचे के लोम और बेरों से नेत्रों के ऊपर के लोम कल्पित हुए, जो कि नेत्रों की सफेदी और कालिमा को ढकते हैं॥ ८९॥

अश्विभ्यामिन्द्रस्य चक्षुः संस्क्रियते। ग्रहाभ्यामश्विदेवत्याभ्यां सोमपात्राभ्यां चक्षुरेवामृतमनश्वरं क्रियते। शृतेन पक्वेन हविषा छागेन छागरूपेण पक्वेन हविषा तेजश्चक्षुःसम्बन्धि क्रियते। गोधूमैः पक्ष्माणि नेत्रलोमानि क्रियन्ते। कुवलैर्बदरैरुतानि चक्षुर्निविष्टानि लोमानि क्रियन्ते। तैरेव शुक्रं शुक्लम् असितं कृष्णं च पेशो रूपं शुक्लकृष्णे नेत्रगते रूपे वसाते आच्छादयेते, कुर्वाते इत्यर्थः। प्रकृतत्वादश्विनौ कर्तारौ। यथा पूर्वमश्विनौ सरस्वती चास्येन्द्रस्य आसन् आस्येऽभवन्, तैरास्यमिन्द्रस्योत्पन्नमित्यर्थः, तथैव प्रकृतमन्त्रेऽश्विनौ अश्विभ्यां स्वस्वरूपाभ्यामेव इन्द्रस्य चक्षुश्चक्रतुः।

अध्यात्मपक्षे—सार्वात्म्यं परस्यात्र प्रकाश्यते। अश्विनौ तदवच्छिन्नौ चैतन्यरूपौ अश्विभ्यां तदवच्छिन्नाभ्यां चैतन्याभ्यामेव इन्द्रस्य देवविशेषावच्छिन्नस्य चक्षुस्तदवच्छिन्नं चैतन्यं चक्रतुः। एवमेवान्यदपि ज्ञेयम्।

दयानन्दस्तु—'यथा ग्रहाभ्यामश्विभ्यां बहुभोजिभ्यां स्त्रीपुरुषाभ्यां सह कौचिद्विद्वांसौ स्त्रीपुरुषौ उतानि सन्ततानि वस्त्राणि पक्ष्माणि परिगृहीतान्यन्यानि वसाते, यथा वा भवन्तोऽपि छागेनाजादिदुग्धेन शृतेन हविषा सह तेजोऽमृतं चक्षुः कुवलैर्गोधूमैः शुक्रमसितं पेशो न स्वीक्रियेरन्, तथान्ये गृहस्था अपि कुर्युः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्राक्षरासम्बद्धत्वात्, गौणार्थग्रहणेऽपि सङ्गतिविरहात्। अश्विभ्यां बहुभोजिभ्यां स्त्रीपुरुषाभ्या-मित्यपि निर्मूलम्। एवमेव पक्ष्माणि परिगृहीतान्यन्यानीत्यपि निर्मूलमेव॥ ८९॥

अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्था अमृतो ग्रहाभ्याम् ।
सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान ॥ ९० ॥

मन्त्रार्थ—भेड़ और मेढ़ा नासिका में बल के कारण हुए, सरस्वती सम्बन्धी ग्रहों से प्राण वायु का मार्ग अविनाशी हुआ। सरस्वती देवी ने जौ के अंकुरों से व्यान वायु को प्रकट किया, बेरों के साथ मिली कुशा नासिका की लोम हुई, अर्थात् इनकी उपयोगी क्रियाओं से बल प्रकट किया गया और इनसे इन्द्र तेजस्वी हुआ ॥ ९० ॥

अविः सारस्वतो मेषः, नसि इन्द्रस्य नासिकायां वीर्याय अवस्थितः। ग्रहाभ्यां सरस्वतीदेवत्याभ्यां प्राणस्य प्राणवायोः पन्था मार्गः, अमृतः अनश्वरः क्रियते। सरस्वती उपवाकैर्यवाङ्कुरैर्व्यानं व्यानवायुं जजान जनयति। बर्हिर्दर्भो बदरैः सह मिलित्वा इन्द्रस्य नस्यानि नासाभवानि लोमानि जजान जनयति।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदर्थो योजनीयः।

दयानन्दस्तु—'यथा ग्रहाभ्यां सह सरस्वती बदरैरुपवाकैर्जजान, तथा वीर्याय नसि प्राणस्य अमृतः पन्था अविर्न मेषो व्यानं नस्यानि बर्हिश्च उपयुज्यते' इति, तदपि निरर्गलप्रलाप एव, मन्त्राक्षरासम्बद्धत्वात्। भावार्थस्तु ततोऽपि दूरतरः। कौ ग्रहणकर्तारौ याभ्यां प्रशस्तविज्ञानवती स्त्री बदरैः समानं सामीप्यकारकैः कर्मभिः किमुत्पादयतीत्यादिकं सर्वमस्पष्टं निरर्थकं वेदाक्षरासंस्पृष्टं च ॥ ९० ॥

इन्द्रस्य रूपमृषभो बलाय कर्णाभ्याᳬ श्रोत्रममृतं ग्रहाभ्याम् ।
यवा न बर्हिर्भ्रुवि केसराणि कर्कन्धु जज्ञे मधु सारघं मुखात् ॥ ९१ ॥

मन्त्रार्थ—बल के निमित्त ऋषभ से इन्द्र का रूप निखारा गया, श्रोत्र सम्बन्धी ग्रहों के द्वारा त्रिकाल के शब्द को सुनने वाली श्रोत्र इन्द्रिय संपादित हुई, जौ और कुशा भौं के बालों को सम्पन्न करने वाले हुए, मुख से बेर के समान मधुमक्षिका, शहद के समान लार, श्लेष्मा आदि प्रकट हुए ॥ ९१ ॥

ऋषभो बलाय इन्द्रस्य सामर्थ्याय रूपं चक्रे। ऐन्द्राभ्यां ग्रहाभ्याममृतं भूतभाविवर्तमानकालत्रयवर्तिशब्दग्राहकं श्रोत्रमिन्द्रियं कर्णाभ्यामिन्द्रस्य कर्णगोलकयोश्चक्रे, श्रोत्रेन्द्रियं कर्णशष्कुल्योः स्थापितवानित्यर्थः। यवा बर्हिश्च भ्रुवि भ्रुवोः केसराणि लोमान्यभवन्। कर्कन्धु बदरं मुखात् सारघं मधु तत्तुल्यं लालाश्लेष्मादि जज्ञे। सरघा मधुमक्षिका, तद्भवं सारघं यथा मधु नानातरुभ्य आह्रियते, एवं लालादि सर्वाङ्गेभ्यो भवतीति लालादीनां मधुसाम्यम्।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदर्थः।

दयानन्दस्तु—'यथा ग्रहाभ्यां सहर्षभो बलाय यवा न कर्णाभ्यां श्रोत्रममृतं कर्कन्धु सारघं मधु बर्हि भ्रुवि केसराणि मुखाज्जनयति, तथैतत्सर्वमिन्द्रियं रूपं जज्ञे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मन्त्राक्षरासम्बद्धत्वात्। ऋषभो ज्ञानी ग्रहाभ्यां व्यवहारैर्यवसमानं कर्णाभ्यां श्रोत्रं शब्दविषयं धारयतीत्युक्तं हिन्दीभाष्ये। तत्र यवैः कस्य सादृश्यम्? कर्णयोः शब्दस्य वा? न च यवैः केनाप्यंशेन तत्र सादृश्यं लक्ष्यते। येन कर्म दधाति स कर्कन्धुः, कोऽसौ कर्मधारक इति तु नोक्तम्। केसराणि विज्ञानानीति व्याख्यानमपि निर्मूलमेव। सुषुम्णायां प्राणवायुमवरोध्येत्युक्तिस्तु मूर्खजनप्रतारणायैव। ज्ञानं मुखादुत्पादयतीत्यप्यशुद्धमेव, ज्ञानस्य मुखादनुत्पत्तेः ॥९१॥

आ॒त्मन्नु॒पस्थे॒ न वृक॑स्य॒ लोम॒ मुखे॒ श्मश्रू॑णि॒ न व्या॒घ्रलो॑म।
केशा॒ न शी॒र्षन् यश॑से श्रि॒यै शिखा॑ सि॒ꣳहस्य॒ लोम॒ त्विषि॑रिन्द्रि॒याणि॑ ॥ ९२ ॥

मन्त्रार्थ—अपने शरीर में उपस्थ और अधोभाग के रोम वृक (भेड़िया) के लोम से और मुख पर जो दाढ़ी-मूँछों के बाल हैं, वे व्याघ्र के लोम से कल्पित हुए। सिर के बाल यश से कल्पित हैं, जो मनुष्य की शोभा बढ़ाते हैं। शिखा कान्ति है और सारी इन्द्रियाँ सिंह के रोम से कल्पित हैं ॥ ९२ ॥

आत्मन् आत्मनि उपस्थे न गुह्ये च यानि लोमानि तानि वृकस्य लोमानि। लोमेति जातावेकवचनम्। मुखे यानि श्मश्रूणि तानि च व्याघ्रलोम। शीर्षन् शीर्ष्णि शिरसि च यशसे यशोऽर्थं ये केशाः, या च श्रियै शोभायै शिखा, या च त्विषिः कान्तिः, यानि चेन्द्रियाणि, तत्सर्वं सिंहस्य लोम। सौत्रामणीयागे वृक-व्याघ्र-सिंहलोम्नामपि सुराग्रहादिभाजनेषु प्रयोगः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेव सार्वात्म्यप्रतिपादकतया व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्य, यस्यात्मन्नुपस्थे सति वृकस्य लोम न व्याघ्रलोम न मुखे श्मश्रूणि शीर्षन् केशा न शिखा सिंहस्य लोमेव त्विषिरिन्द्रियाणि सन्ति, स यशसे श्रियै प्रभवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मूले यस्य तस्येतिपदयोरभावात्, मनुष्यस्य आत्मादौ वृक-व्याघ्र-सिंहलोम्नामदर्शनात्। इवाध्याहारेऽपि न निर्वाहः, तत्र तत्सादृश्याभावात् ॥ ९२ ॥

अङ्गा॒न्या॒त्मन् भि॒षजा॒ तद॒श्विना॒त्मान॒मङ्गैः॒ सम॑धा॒त् सर॑स्वती।
इन्द्र॑स्य रू॒पꣳ श॒तमा॑न॒मायु॑श्च॒न्द्रेण॒ ज्योति॑र॒मृतं॒ दधा॑नाः ॥ ९३ ॥

मन्त्रार्थ—इन्द्र के रूप को सैकड़ों वर्षों से पूजनीय अथवा सौ वर्ष पूर्ण करने वाली आयु को प्रसन्नतादायक चन्द्र की ज्योति के द्वारा अमृतरूप, कभी न नष्ट होने वाला स्वरूप दिया गया। चिकित्सक अश्विनीकुमारों ने शरीर के सारे अंगों को सुव्यवस्थित किया और सरस्वती ने इस अवयव-संधान में सहायता की, अर्थात् अश्विनीकुमार और सरस्वती ने मिल कर पूर्वोक्त विधि से अंगों का संयोजन कर इस यज्ञशरीर को बनाया। इसके द्वारा इन्द्र यजमान को सुखमय जीवन और अमृतत्व को प्राप्त कराता है ॥ ९३ ॥

भिषजा भिषजौ वैद्यौ अश्विना अश्विनौ दस्रौ आत्मन् आत्मन्यङ्गान्यवयवान् समधात् समधातां समयोजयताम्। सरस्वती आत्मानमङ्गैः समधात् सन्दधे। कीदृशा अश्व्यादयः? इन्द्रस्य रूपं स्वरूपमायुश्च चन्द्रेणाह्लादकेन ज्योतिर्ज्योतिषा सहामृतमनश्वरं दधानाः सम्पादयन्तः। कीदृशं रूपम्? शतमानम्, शतानामनेकेषां मानं पूजा यस्मिन् तज्जगत्पूज्यं रूपमित्यर्थः। अथवा यस्मिन्नात्मनि भिषजौ अश्विना अङ्गानि समधाताम्, तमात्मानमङ्गैः समधात् सरस्वती च। एवमिन्द्रस्य रूपं शतमानं बहुप्रतिमानमायुश्च अश्विनौ सरस्वती च चन्द्रेण ह्लादकेन ज्योतिषाऽमृतमनश्वरं दधाना इन्द्रस्यात्मानमङ्गैः संयोजितवन्तः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, भिषजावश्विनौ सिद्धसाधकौ यथा सरस्वती आत्मन् स्थिरा सती योगाङ्गान्यनुष्ठाय आत्मानं समधात्, तथैवाङ्गैर्यदिन्द्रस्य रूपमस्ति, तत् सन्दध्याताम्। यथा योगं दधानाः शतमानमायुर्धरन्ति,

तथा चन्द्रेणामृतज्योतिर्दध्यात्' इति, तदपि निरर्गलम्, विसङ्गतेः। मूलमन्त्रे इव-यथा-तथादिपदानामभावात्, भिषजा अश्विना इति समानयोरपि पदयोरेकत्र 'इव' इत्यध्याहारः, अन्यत्र 'तदभावः' इत्यत्र वीजानुक्तेः। अङ्गैरित्यनेन योगाङ्गानामेव ग्रहणं न व्याकरणाद्यङ्गानामित्यत्र का विनिगमना? योगाङ्गान्यनुष्ठाय आत्मन् स्थिरेत्यप्यसङ्गतम्, अनुष्ठाय-स्थिरेतिपदयोर्मूलेऽभावात्। न चात्मनि कस्यचित् स्थितिः सम्भवति, आत्माश्रयदोषात्। नहि पटुरपि नटवटुः स्वस्कन्धमारोढुं प्रभवति। नह्यात्मनः समाधानं भवति, किन्तु चित्तस्य समाधानं प्रसिद्धम्। तथा चाह पण्डितराजो जगन्नाथो गङ्गालहर्याम्—'समाधानं बुद्धेः' इति।

सिद्धान्तपक्षव्याख्यानं तु श्रुतिसम्मतमेव। तथाहि—'एतस्माद्वै यज्ञात् पुरुषो जायते' (श० १२।९।१।१) इति सौत्रामणीयज्ञात् पुरुषस्योत्पत्तिरुक्ता। ततः प्राक्—'त्वष्टा हतपुत्रः। अभिचरणीयमपेन्द्रꣳ सोममाहरत् तस्येन्द्रो यज्ञवेशसं कृत्वा प्रासहा सोममपिबत् स विष्वङ् व्यार्च्छत् तस्य मुखात् प्राणेभ्यः श्रीयशसान्यूर्ध्वान्युदक्रामँस्तानि पशून् प्राविशँस्तस्मात् पशवो यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान् सौत्रामण्याऽभिषिच्यते' (श० १२।८।३।१), 'ततोऽस्मा एतमश्विनौ सरस्वती च। यज्ञꣳ समभरन् सौत्रामणीं भैषज्याय तयैनमभ्यषिञ्चँस्ततो वै स देवानाꣳ श्रेष्ठोऽभवच्छ्रेष्ठः स्वानां भवति य एनयाऽभिषिच्यते' (श० १२।८।३।२) इति श्रुतिमनुसृत्यैव उव्वटमहीधरादिभिस्तत्परत्वेन मन्त्रा व्याख्याताः॥ ९३॥

सर॑स्वती॒ योन्यां॒ गर्भ॑मन्तर॒श्विभ्यां॒ पत्नी॒ सुकृ॑तं बिभर्ति।
अ॒पाꣳ रसे॑न॒ वरु॑णो॒ न साम्नेन्द्रꣳ॑ श्रि॒यै ज॒नय॑न्न॒प्सु राजा॑॥ ९४॥

मन्त्रार्थ—सरस्वती देवी अश्विनीकुमारों की पत्नी बन कर इन्द्र रूप गर्भ को भली-भाँति धारण करती है। जल का देवता राजा वरुण जल के सारभूत रस के द्वारा साम के प्रभाव से जगत् की शोभा बढ़ाने वाले अथवा ऐश्वर्य के निमित्तभूत इन्द्र का पिता के समान पोषण करता है॥ अथवा पत्नी सरस्वती इसको धारण करती है और अश्विनीकुमारों की सहायता से वरुण इस इन्द्र का पोषण करता है। यहाँ इन्द्र पद से ऐश्वर्यवान् यज्ञ का वर्णन है। वाणी ही सरस्वती है। जिस वेदवाणी में यह यज्ञ स्थापित होता है, द्युलोक और भूमि के अधिष्ठाता देव इसकी रक्षा करते हैं, अथवा अहोरात्र इसके रक्षक हैं॥ ९४॥

सरस्वती अश्विभ्यां पत्नी अश्विनोः पत्नी भूत्वा योन्यामन्तर्मध्ये गर्भमिन्द्रलक्षणं सुकृतं यथा शोभनं कृतं बिभर्ति। अप्सु राजा अपामीश्वरो वरुणोऽपां रसेन साम्ना उदकरसभूतेन साम्ना इन्द्रं श्रियै जनयन् सन् बिभर्तीत्यनुषज्यते। नश्चार्थः।

अध्यात्मपक्षे—अश्विद्वयमसंयुक्तं सगुणं निर्गुणं ब्रह्मैव। सरस्वती च तन्निष्ठाऽनन्तब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्तिरेव। एवमर्थो ज्ञातव्यः।

दयानन्दस्तु—'हे योगिन्! यथा सरस्वती पत्नी पत्युर्योन्यामन्तः सुकृतं गर्भं बिभर्ति, यथा वा वरुणो राजा अश्विभ्यामपां रसेन अप्सु साम्ना न सुखेनेन्द्रं श्रियै जनयन् विराजते, तथा त्वं भव' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विभ्यामिति पदेनाध्यापकोपदेशकयोर्ग्रहणे मानाभावः। अध्याहारश्च निर्मूल एव॥ ९४॥

तेजः॑ पशू॒नाᳪ᳭ ह॒विरि॑न्द्रि॒याव॑त् परि॒स्रुता॒ पय॑सा सार॒घं मधु॑ ।
अ॒श्विभ्यां॑ दु॒ग्धं भि॒षजा॒ सर॑स्वत्या सु॒तासु॒ताभ्या॑म॒मृतः॒ सोम॒ इन्दुः॑ ॥ ९५ ॥

ऊनविंशोऽध्यायः समाप्तः ॥

मन्त्रार्थ—चिकित्सा करने वाले अश्विनीकुमार और सरस्वती ने वीर्यवान् पशुसम्बन्धी दुग्ध, घृत तथा मधुमक्षिकाओं के बनाये हुए शहत की हवि को लेकर परिस्रुत किये हुए दूध से इन्द्र के निमित्त तेज का दोहन किया। सुत और असुत दुग्ध से अमृतरूप ऐश्वर्यदायक सोम को निकाला। इस प्रकार अश्विनीकुमार और सरस्वती आदि ने मिल कर अनेकों द्रव्यों से रस लेकर इन्द्र का उपकार किया, उसको बलशाली बनाया ॥ ९५ ॥

भिषजा भिषग्भ्यामश्विभ्यां सरस्वत्या च इन्द्रियावद् इन्द्रियवद् वीर्यवत् पशूनां सम्बन्धि हविरादाय परिस्रुता पयसा च सह सारघं मधु चादाय इन्द्रार्थे तेजो दुग्धं स्रावितम्। सुतासुताभ्यां परिस्रुत्पयोभ्यां सकाशाद् अमृतोऽमृतरूप इन्दुरैश्वर्यप्रदः सोमश्च दुग्धः। एवं यैः सरस्वत्यश्विभिरिन्द्राय नानाद्रव्येभ्यो नानारसानादाय उपकारः कृतः, तेभ्यः सौत्रामणिद्रष्टृभ्य ऋषिभ्यो नमः।

अध्यात्मपक्षे—सौत्रामणीद्रष्ट्रपाध्यवच्छिन्नाय परस्मै ब्रह्मणे नमः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, याभ्यां सुतासुताभ्यां निष्पादिताऽनिष्पादिताभ्यां भिषजाश्विभ्यां पशूनां गवादीनां परिस्रुता पयसा तेन इन्द्रियावत् सारघं मधु हविर्दुग्धम्, सरस्वत्यामृतः सोम इन्दुश्चोत्पाद्यते, तौ योगसिद्धि प्राप्नुतः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विभ्यामिति द्वित्वास्वारस्यात्। ब्राह्मणेषु परिस्रुत्पयसोर्द्विवचनस्वारस्येन 'सुतासुताभ्याम्' इत्यनेनायमेवार्थो युक्तो लभ्यते। अनेन महात्मना कृतस्य व्याख्यानस्य श्रुतिविरोधाद् व्याख्यानापसदत्वमेव।

तानि च ब्राह्मणान्युद्ध्रियन्ते—'अङ्गान्येवास्याश्विनः पशुः। आत्मा सारस्वतो रूपमैन्द्र ऋषभस्तस्मादाहुर्गावः पुरुषस्य रूपमित्यायुर्हिरण्यं तच्छतमानं भवति तस्माच्छतायुः पुरुषः' (श० १२।९।१।४)। एतच्छ्रुत्यनुरोधेनैव 'अङ्गान्यात्मन् भिषजा तदश्विनात्मानम्' (वा० सं० १९।९३) इत्यादिकण्डिकाव्याख्यानम्। तथाहि—आश्विनः पशुः, अस्येन्द्रस्य अङ्गानि, सारस्वत ऋषभः पशुरस्यात्मा शरीरम्। अश्विनौ सरस्वती चैवमिन्द्रस्य रूपमायुश्च ज्योतिर्हिरण्यमयं शतमानं सम्पादितवन्तः। 'चक्षुषी एवास्याश्विनौ ग्रहौ। पक्ष्माणि गोधूमसक्तवश्च कुवलसक्तवश्च नासिके एवास्य सारस्वतौ ग्रहावथ यानि नासिकयोर्लोमानि तान्युपवाकसक्तवश्च बदरसक्तवश्च श्रोत्रे एवास्यैन्द्रौ ग्रहावथ यानि कर्णयोर्लोमानि यानि च भ्रुवोस्तानि यवसक्तवश्च कर्कन्धुसक्तवश्च' (श० १२।९।१।५)। एतच्छ्रुत्यनुरोधेनैवान्या अपि कण्डिका व्याख्याताः। तथाहि—आश्विनौ अस्येन्द्रस्य चक्षुषी निर्मितवन्तौ, अर्थाद् आश्विनाभ्यां ग्रहाभ्यां चक्षुरमृतमनश्वरं चक्रतुः। गोधूमसक्तवः कुवलसक्तवश्च पक्ष्माणि पक्ष्मनिविष्टानि, पक्ष्मसु निविष्टानि रोमाण्यभवन्। सारस्वतौ ग्रहौ नासिके सञ्जाते। उपवाकसक्तवश्च बदरसक्तवश्च नासिकयोर्लोमानि जातानि। ऐन्द्रौ ग्रहौ श्रोत्रे सम्भूते। यवसक्तवः कर्कन्धुसक्तवश्च कर्णयोर्भ्रुवोश्च लोमानि सम्पन्नानि। 'अथ यान्युपस्थे लोमानि। यानि चाधस्ताद् तानि वृकलोमान्यथ यान्युरसि लोमानि यानि च निकक्षयोस्तानि व्याघ्रलोमानि केशाश्च श्मश्रूणि च सिᳪ᳭हलोमानि' (श० १२।९।१।६)। एतेन—'वृक-व्याघ्र-सिंहानामिव लोमानि श्मश्रूणि भवन्ति, स श्रिया यशसा वर्धते' इत्यादिकं व्याख्यानमपव्याख्यानमेव वेदितव्यम्।

'त्रयः पशवो भवन्ति। त्रेधा विहितो वा अयं पुरुषस्यात्मात्मानमेवास्य तै स्पृणोति यद्ववाङ् नाभेस्तदाश्विनेन यदूर्ध्वं नाभेरवाचीनᳪ᳭ शीर्ष्णस्तत्सारस्वतेन शिर ऐन्द्रेण यथारूपमेव यथादेवतमात्मानं मृत्यो

स्पृत्वाऽमृतं कुरुते' (श० १२।९।१।७)। 'त्रयः पुरोडाशा भवन्ति। त्रेधा विहितं वा इदं पुरुषस्य वयो वय एवास्य तैः स्पृणोति पूर्ववयसमेवैन्द्रेण मध्यमवयसᳶ सावित्रेणोत्तमवयसं वारुणेन यथारूपमेव यथादेवतं वयो मृत्यो स्पृत्वाऽमृतं कुरुते' (श० १२।९।१।८)।

श्रुत्यैवाध्यात्मपि व्याख्यानं दर्शितम्। तथाहि—'षड् ग्रहा भवन्ति। षड् वा इमे शीर्षन् प्राणाः प्राणानेवास्य तैः स्पृणोति चक्षुषी एवाश्विनाभ्यां नासिके सारस्वताभ्याᳶ श्रोत्रे ऐन्द्राभ्यां यथारूपमेव यथादेवतं प्राणान् मृत्यो स्पृत्वाऽमृतान् कुरुते' (श० १२।९।१।९)। 'सन्तता याज्या पुरोऽनुवाक्या भवन्ति। समानदेवत्याः प्राणानाᳶ सन्तत्या अव्यवच्छेदाय सर्वाः पुरोऽनुवाक्या भवन्ति सर्वा याज्यास्तस्मात् प्राणाः सर्वे पराञ्चः सर्वे प्रत्यञ्चः सर्वाः प्रथमा भवन्ति सर्वा मध्यमाः सर्वा उत्तमास्तस्मात् प्राणाः सर्वे प्रथमाः सर्वे मध्यमाः सर्वं उत्तमाः सर्वेषां ग्रहाणां द्वे याज्यापुरोऽनुवाक्ये भवतः प्राणोदानयोस्तद्रूपं प्राणोदानावेवावरुन्धे तस्मात् सर्वे प्राणाः प्राणोदानयोरेव प्रतिष्ठिताः' (श० १२।९।१।१०)। 'स वा एष आत्मैव यत् सौत्रामणी। मन एव प्रत्यक्षाद्वाग्यजमानस्तस्यात्मैव वेदिः प्रजोत्तरवेदिः पशवो बर्हिरङ्गान्यृत्विजोऽस्थीनीध्म आज्यं मज्जा मुखमग्निरन्नमाहुतिर्वयः सᳶस्था तस्मात् सौत्रामण्येजानो वय उपगच्छति' (श० १२।९।१।११)। आत्मा शरीरम्, वेदिर्वयः, स्थाविरं संस्था।

'तद्यौ ह वा इमौ पुरुषाविवाक्ष्योः। एतावेवाश्विनावथ यत्कृष्णं तत्सारस्वतं यच्छुक्लं तदैन्द्रं तद्यदाश्विने पशौ सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत् साधं कृत्वात्मन् धत्ते' (श० ११।९।१।१२)। मन एवेन्द्रः। वाक् सरस्वती श्रोत्रे अश्विनौ यद्वै मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्णाभ्याᳶ शृणोति तद्यत्सारस्वते पशौ सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत् साधं कृत्वात्मन् धत्ते' (श० १२।९।१।१३)। 'प्राण एवेन्द्रः। जिह्वा सरस्वती नासिके अश्विनौ यद्वै प्राणेनान्नमात्मन् प्रणयते तत्प्राणस्य प्राणत्वं जिह्वया वा अन्नस्य रसं विजानाति नासिके उ वै प्राणस्य पन्थास्तद्यदैन्द्रे पशौ सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत्साधं कृत्वात्मन् धत्ते' (श० १२।९।१।१४)। 'हृदयमेवेन्द्रः। यकृत् सविता क्लोमा वरुणस्तद्यदैन्द्रे पुरोडाशे सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत् साधं कृत्वात्मन् धत्ते' (श० १२।९।१।१५)। 'प्राण एव सविता। व्यानो वरुणः शिश्नमिन्द्रो यद्वै प्राणेनान्नमत्ति तद्व्यानेन व्यनिति शिश्नेन वा अन्नस्य रसᳶ रेतः सिञ्चति तद्यत् सावित्रे पुरोडाशे सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत् साधं कृत्वात्मन् धत्ते' (श० १२।९।१।१६)। 'योनिरेव वरुणः। रेत इन्द्रः सवितैव रेतसः प्रजनयिता तद्यद्वारुणे पुरोडाशे सत्यथैता देवताः सह यजत्येतान्येवैतत् साधं कृत्वात्मन् धत्ते स य एवमेतद्वेदैता एव देवता अनुसम्भवत्येता देवता अनु प्रजायत आ प्रजया पशुभिः प्यायते प्रत्यस्मिँल्लोके तिष्ठत्यभि स्वर्गं लोकं जयति य एवं विद्वान् सौत्रामण्या यजते यो वैतदेवं वेद' (श० १२।९।१।१७)।

इत्येवं सर्वथापि ब्राह्मणानुरोधेन पूर्वोक्तं सिद्धान्तसम्मतमेव व्याख्यानं क्षोदक्षमम्, न दयानन्दीयमिति युक्तमुत्पश्यामः ॥ ९५ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां
एकोनविंशोऽध्यायः समाप्तः ॥

विंशोऽध्यायः

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि।
मा त्वा हिᳬसीन्मा मा हिᳬसीः॥ १॥

मन्त्रार्थ—इस मन्त्र को पढ़ता हुआ चौकी के दो पाये दक्षिण वेदी पर और दो उत्तर वेदी पर रखे। हे आसन्दी, तुम क्षत्रिय जाति की राजपदवी की उत्पत्तिस्थली हो, तुम क्षत्रिय जाति की नाभि, अर्थात् एकता के बन्धन का कारण हो। तब चौकी पर मृगचर्म बिछावे। हे कृष्णाजिन, आसन्दी तुमको पीड़ा न दे, तुम मुझे पीड़ा मत पहुँचाओ॥ १॥

'सोमासन्दीवदासन्दीं जानुमात्रपादीं वेद्योर्निदधाति क्षत्रस्य योनिरिति' (का० श्रौ० १९।४।७)। मुञ्जरज्ज्वा व्यूतामौदुम्बरीमरत्निप्रमाणां जानुमात्रपादीमासन्दीं वेद्योर्निदध्यात्, आसन्द्याः पादद्वयं दक्षिणवेद्यां पादद्वयं चोत्तरवेद्यां कुर्यादिति सूत्रार्थः। पूर्वं प्रकृतौ नाभिमात्रपादा आसन्दी उक्ता। तद्बाधनार्थमत्र जानुमात्र-पादीमित्युच्यते। आसन्दीदेवत्या द्विपदा गायत्री। हे आसन्दि, क्षत्रस्य योनिरुत्पत्तिस्थानमसि। आसन्द्यामभि-षिक्तो गुणधर्मानर्हति राजेत्यभिप्रायकं योनित्वम्। क्षत्रस्य नाभिर्नहनं बन्धनं चासि। 'कृष्णाजिनमस्यामास्तृणाति मा त्वेति' (का० श्रौ० १९।४।८)। अस्यामासन्द्यां कृष्णाजिनं स्तृणुयादाच्छादयेदिति सूत्रार्थः। कृष्णाजिनदेवत्यं यजुः। यज्ञाध्यासेन कृष्णाजिनं प्रार्थ्यते। हे कृष्णाजिन, आसन्दी त्वा त्वां मा हिंसीत्। त्वं च मा मां मा हिंसीः, मा जहि।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथैनां कृष्णाजिनेनास्तृणाति। मा त्वा हिᳬसीन्मा मा हिᳬसीरिति यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञस्य चैवात्मनश्चाहिᳬसायै' (श० १२।८।३।९)। प्रसन्नं ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे—हे परमात्मन्, त्वं क्षत्रस्य योनिः कारणमसि, धर्मरूपत्वात्। क्षतात् त्रायत इति क्षत्रम्, पृषोदरादिः, तस्य क्षत्रस्य नाभिरसि बन्धनमसि, 'तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रम्' (श० १४।४।२।२६) इति श्रुतेः। धर्मेणैव क्षत्रं नियम्यते। अन्यथाऽङ्कुशमन्तरा गज इव वल्गामन्तराऽश्व इवानियन्त्रितं क्षत्रं जगन्नाशकमेव स्यात्। तादृशं त्वां कोऽपि मा हिंसीत्। त्वं च मां मा हिंसीः, 'धर्म एव हतो हन्ति' (म० स्मृ० ८।१५) इति स्मृतेः।

दयानन्दस्तु—'यतस्त्वं क्षत्रस्य राज्यस्य योनिर्निमित्तं क्षत्रस्य राजकुलस्य नाभिरिव जीवनहेतुरसि, तस्मात् त्वां कोऽपि मा हिंसीत्, त्वं च मां मा हिंसीः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लोकसिद्धस्यार्थस्य बोधने वेदा-प्रवृत्तेः। क्षत्रियशब्दो जातिविशेषे रूढः। तथा च 'क्षत्राद् घः' (पा० सू० ४।१।१३८) इत्यत्र काशिका—'क्षत्रियः, अयमपि जातिशब्द एव' इति, 'क्षत्रियः, जातावित्येव' इति सिद्धान्तकौमुदी। तथा च महाकविप्रयोगः—'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः' (र० वं० २।५३)। एतेन जातिविशेषे रूढोऽयं शब्दो न राज्यस्य बोधक इति ज्ञायते॥ १॥

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः। मृत्योः पाहि विद्योत्पाहि ॥ २ ॥

मन्त्रार्थं—यजमान उस पर बैठे। हे यजमान, तुम इस पर बैठने के फलस्वरूप दण्ड और पुरस्कार के द्वारा देश के अनिष्ट को दूर करने वाले न्यायपरायण और राजकार्य में चतुर होकर प्रजाओं के सम्राट् बनने में समर्थ हो जाओ। यजमान के वामचरण के नीचे चाँदी का मंडलाकार रुक्म भूषण रखे—हे रुक्म, अकाल मृत्यु से मेरी रक्षा करो। फिर दाहिने चरण के नीचे सुवर्ण का रुक्म रखे—हे रुक्म, बिजली के उत्पात से मेरी रक्षा करो ॥ २ ॥

'तस्मिन्नास्ते यजमानो निषसादेति' (का० श्रौ० १९।४।९)। यजमानः कृष्णाजिन उपविशेद् निषसादेति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। व्याख्यातेयं कण्डिका दशमेऽध्याये सप्तविंशे स्थाने। 'पादयो रुक्मा उपास्यति राजतᳬ सव्ये मृत्योरिति' (का० श्रौ० १९।४।१०)। अध्वर्युरासन्द्यामुपविष्टस्य यजमानस्य सव्यपादसमीपे मृत्योः पाहीति मन्त्रेण राजतं दक्षिणपादसमीपे भूमौ विद्योत्पाहीति मन्त्रेण सौवर्णं रुक्मं परिमण्डलमाभरणविशेषं निदध्यादिति सूत्रार्थः। 'सौवर्णᳬ शिरस्येके विद्योदिति' (का० श्रौ० १९।४।११)। सौवर्णं पुनः शिरस्येके आचार्या उपास्यन्ति एके दक्षिणपादे विद्योत्पाहीति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। रुक्मदेवत्ये यजुषी। देव्यौ बृहत्यौ। हे रुक्म मृत्योरकालमरणान्मां पाहि। हे सौवर्ण रुक्म विद्योत्, विद्योतत इति विद्योत्, विच्प्रत्यये सति गुणः, पञ्चम्याश्च लुक्, विद्युत्पातादित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—असौ साधकः पस्त्यासु प्रजास्विन्द्रियादिरूपासु, आ समन्ताद् निषसाद आधिपत्येनोपविवेश। कीदृशः? धृतव्रतः। वरुणो वारयत्यनिष्टमिति वरुणः। साम्राज्याय स्वस्वरूपे सम्यग्राजत इति सम्राट्, तस्य भावः साम्राज्यम्, तस्मै। सुक्रतुः शिवसङ्कल्पवान्। हे परमेश्वर, त्वमेतं मृत्योः संसारलक्षणात् पाहि। विद्योद् विद्युतो वज्रोपमाद् मोहादपि रक्ष।

दयानन्दस्तु—'हे सभेश, भवान् सुक्रतुः धृतव्रतो वरुणः सन् साम्राज्याय पस्त्यासु न्यायगृहेषु आनिषसाद अस्मान् वीरान् मृत्योः पाहि, अपमृत्युना प्राणत्यागात् पाहि। विद्योद् दीप्यमानाग्न्यादेः पाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वीराणां तादृशाभ्यर्थनस्य लज्जास्पदत्वात्, मनुष्यमात्रस्य अपमृत्यो रक्षकत्वासम्भवात्। पस्त्यापदस्य न्यायगृहार्थतापि चिन्त्यैव ॥ २ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभिषिञ्चामि सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायाभिषिञ्चामीन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभिषिञ्चामि ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थं—अध्वर्यु यजमान का अभिषेक करे—हे यजमान, सविता देव की आज्ञा से अश्विनीकुमारों की भुजा और पूषा देवता के हाथों से तुम अश्विनीकुमारों की चिकित्सा के द्वारा कान्ति और ब्रह्मतेज को प्राप्त करो, इसके लिये तुम्हारा अभिषेक करता हूँ। सरस्वती के द्वारा प्राप्त की गई औषधि से पराक्रम और अन्नभक्षण की सामर्थ्य के निमित्त तुम्हारा अभिषेक करता हूँ, इन्द्र की इन्द्रिय-वृद्धि की सामर्थ्य से बलसमृद्धि और यश की प्राप्ति के लिये तुम्हारा अभिषेक करता हूँ ॥ ३ ॥

'सर्वसुरभ्युन्मृदितꣳ शेषैरभिषिञ्चत्या मुखादवस्रावयन् प्रतिदिशꣳ सर्वत्र सावित्रमश्विनोः सरस्वत्या इन्द्रस्येति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १९।४।१४)। सर्वसुरभिभिश्चन्दनकर्पूरकस्तूरिकाकेसरादिभिः, उद्वर्तितं आसन्द्यामुपविष्टं यजमानं वेतसपात्रस्थापितैर्वसाग्रहशेषैः प्रतिदिशं स्थितोऽध्वर्युरामुखादवस्रावयन् मन्त्रत्रयेण परिषिञ्चेत्। तत्र मन्त्रत्रयेऽपि सावित्रं देवस्य त्वेति मन्त्रमनुषजेत्। 'सर्वाभिश्चतुर्थम्' (का० श्रौ० १९।४।१५)। चतुर्थमभिषेकं सर्वाभिर्देवताभिः, अश्विनोः सरस्वत्या इन्द्रस्येति त्रिभिर्मन्त्रैः समुच्चितैः, उत्तरे स्थितोऽध्वर्युः कुर्यात्। अत्रापि पूर्वं सावित्रमन्त्रप्रयोगः। 'महाव्याहृतिभिरेके' (का० श्रौ० १९।४।१६)। एके महाव्याहृतिभिश्चतुर्थमभिषेकं कुर्वन्ति। अस्मिन् पक्षे प्रथमाभिषेकोऽश्विनोरित्यादिसमुच्चयेन, द्वितीयश्च महाव्याहृतिभिः कार्यः। 'उत्तमेन वा' (का० श्रौ० १९।४।१७)। अथवा प्रागुक्तानां त्रयाणां मन्त्राणामन्तिमेनेन्द्रस्येन्द्रियेणेत्यनेन चतुर्थमभिषिञ्चेदिति सूत्रार्थः।

देवस्य त्वेति व्याख्यातम्। अश्विनोरित्यादिमन्त्रत्रयं लिङ्गोक्तदेवतम्। आद्या प्राजापत्या बृहती, द्वे ऋग्गायत्र्यौ। हे यजमान, अश्विनोर्भैषज्येन, भिषजः कर्म भैषज्यं तेन भिषक्कर्मणा त्वामभिषिञ्चामि। किमर्थमित्यत आह—तेजसे कान्त्यै ब्रह्मवर्चसाय ब्रह्मणो वर्चो ब्रह्मवर्चसम्, सर्वत्रास्खलितवेदवेदाङ्गाध्ययनतदर्थानुष्ठानजनिता कीर्तिर्ब्रह्मवर्चसम्, तस्मै। सरस्वत्यै भैषज्येन सरस्वत्या भिषक्कर्मणा च वीर्याय सामर्थ्याय अन्नाद्याय अन्नभक्षणसामर्थ्याय च त्वामभिषिञ्चामि। इन्द्रस्य इन्द्रियेण इन्द्रियपाटवेन सामर्थ्येन च त्वामभिषिञ्चामि। किमर्थम्? बलाय सामर्थ्याय श्रियै सर्वसमृद्धयै यशसे कीर्त्यै चेति।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, देवस्य सवितुः प्रेरणेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामश्विनोरश्विनोरिव सुन्दरयोर्भवरोगवैद्ययो रामलक्ष्मणयोः, भैषज्येन आध्यात्मिकानुग्रहरूपेण तेजसे ब्रह्मवर्चसाय त्वामभिषिञ्चामि। सरस्वत्या ब्रह्मविद्याया भैषज्येन वीर्याय असत्त्वापादकाभानापादकावरणनिवृत्तिसामर्थ्याय अन्नाद्याय ब्रह्मरसास्वादनसामर्थ्याय च त्वामभिषिञ्चामि। इन्द्रस्य परमेश्वरस्य इन्द्रियेण सामर्थ्यातिशयेन बलाय निष्ठादार्ढ्याय श्रियै दैवीसम्पदे यशसेऽभिषिञ्चामि।

दयानन्दस्तु—'हे शुभलक्षणान्वित पुरुष, सवितुः परमेश्वरस्य प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामश्विनो भैषज्येन तेजसे प्रागल्भ्याय राजप्रजाजनोऽहं त्वामभिषिञ्चामि। सरस्वत्या भैषज्येन वीर्याय पराक्रमाय अन्नाद्याय अत्तुं योग्याय अन्नाय त्वामभिषिञ्चामि। इन्द्रस्य परमैश्वर्यस्य इन्द्रियेण धनेन बलाय पुष्टत्वाय श्रियै सुशोभितायै राज्यलक्ष्म्यै यशसे कीर्त्यै च त्वामभिषिञ्चामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्यैव निर्मूलत्वात्, सरस्वत्यै वाच इति भैषज्यसम्बन्धानुक्तेः, परमैश्वर्यस्य धनेन कीदृशोऽभिषेक इत्यनुक्तेः, अभिषिञ्चामि स्वीकरोमीत्यस्य निर्मूलत्वात्, श्रुतिसूत्रविरोधाच्च ॥ ३ ॥

कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा। सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन् ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—अध्वर्यु यजमान का स्पर्श करते हुए कहता है—हे यजमान, तुम कौन से प्रजापति हो, प्रजापति पद की प्राप्ति के निमित्त तुम्हारा अभिषेक करता हूँ। प्रजापति की प्रीति के निमित्त तुम्हारा अभिषेक करता हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि तुम कौन प्रधान पुरुष हो, तुमने किस देवता की प्रसन्नता के लिये इस महान् अनुष्ठान का आरम्भ किया है, यजमान उस देवता का नाम स्मरण करे। हे सुन्दर कीर्ति वाले, हे श्रेष्ठ मंगलमय, हे सत्यराज्य के प्रभो, आप यहाँ आवें ॥ ४ ॥

'यजमानमालभते कोऽसीति' (का० श्रौ० १९।४।१९)। अध्वर्युर्यजमानं स्पृशति कोऽसीति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। प्राजापत्या गायत्री उष्णिग्गर्भा, 'षडक्षरः सप्ताक्षरस्तत एकादशाक्षर एषोष्णिग्गर्भा गायत्री' (ऋक्-प्रातिशाख्ये १६।२८) इति वचनात्। इयादिपूरणाद् द्वितीयस्य सप्ताक्षरत्वम्। हे यजमान, त्वं कः प्रजापतिरसि। कतमः? अत्यन्तं कः कतमः श्रेष्ठः प्रजापतिरसि, बहूनां प्रजापतीनां मध्ये उत्तमः प्रजापतिरसीति यावत्। कस्मै? प्रजापतिपदप्राप्तये, त्वामहमभिषिक्तवानिति शेषः, काय प्रजापतिभावाय चाभिषिक्तवान्, अस्मीति शेषः। 'सुश्लोकेत्यालब्धो ह्वयति' (का० श्रौ० १९।४।२०)। अध्वर्युणा स्पृष्टो यजमानः सुश्लोकादिसंज्ञान् नरानाह्वयतीति सूत्रार्थः। हे सुश्लोक, एहीति शेषः। शोभनः श्लोकः कीर्तिर्यस्य स सुश्लोकस्तत्सम्बुद्धौ। हे सुमङ्गल शोभनं मङ्गलमभ्युदयो यस्य स सुमङ्गलस्तत्सम्बुद्धौ, त्वमेहीति शेषः। हे सत्यराजन्, सत्योऽविनाशी राजा प्रभुर्यस्य स सत्यराजा तत्सम्बुद्धौ, त्वमेहीति शेषः।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, त्वं कोऽसि हिरण्यगर्भोऽसि कतमोऽसि अतिशयितः प्रजापतिस्तत्साक्षि-रूपोऽसि। कस्मै तत्पदप्राप्तये काय प्रजापतिभावाय, त्वामुपदिशामीति शेषः। तादृशोपास्यनिष्ठः साधक एव निष्ठादार्ढ्याय सम्बोध्यते। हे सुश्लोक हे सुमङ्गल हे सत्यराजन्, त्वं त्वदुपासननिष्ठो भवेति शेषः, तादृशोपासनाया एव सुश्लोकत्वाद्यापादकत्वात्।

दयानन्दस्तु—'हे सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन्, त्वं कोऽसि सुखरूपोऽसि। कतमोऽतिशयेन सुखकारी असि। कस्मै सुखरूपाय परमेश्वराय काय ब्रह्मदेवत्याय वेदमन्त्राय त्वामहमभिषिञ्चामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विपरीतार्थस्यापि सम्भवात्। नहि खलु न्यायकारी सुमङ्गलः सुश्लोकः सुखरूप एव भवति, सुश्लोकानामपि नलादीनां दुःखित्वस्मरणात्। कतमः सुखकारीति व्याख्यानमयुक्तम्, निर्मूलत्वात्। काय ब्रह्मदैवत्यमन्त्रायेति च निर्मूलम्, तस्य तादृशशक्तौ मानाभावात्। किञ्च, सुखवाचिना कशब्देन नपुंसकेन भाव्यम्॥ ४॥

शिरो॑ मे॒ श्रीर्यशो॒ मुखं॒ त्विषिः॒ केशा॑श्च॒ श्मश्रू॑णि।
राजा॑ मे प्रा॒णो अ॒मृत॑ᳪ स॒म्राट् चक्षु॑र्वि॒राट् श्रोत्र॑म्॥ ५॥

मन्त्रार्थ—यजमान अपने शरीर का स्पर्श करे—मेरा सिर ब्रह्मतेज से संयुक्त हो, मुख वेदपाठ से यश-स्वरूप हो, सिर के बाल और दाढ़ी-मूछे हृदय में ब्रह्माग्नि के प्रकाश से कान्तिरूप हों, मेरा तेजस्वी प्राण समाधि-लाभ से अमृतमय हो, चक्षु इन्द्रिय दिव्य दृष्टि से और श्रोत्रेन्द्रिय दूरश्रवण की शक्ति से सम्पन्न हो॥ ५॥

'अङ्गानि चालभते यथालिङ्गᳪ, शिरो म इति प्रतिमन्त्रम्' (का० श्रौ० १९।४।२१)। यजमानो यथालिङ्गमङ्गान्यालभते 'शिरो मे' इत्यादिभिर्मन्त्रैरिति सूत्रार्थः। इन्द्रशरीरावयवदेवताकं पञ्चर्चम्। तत्र तृतीया गायत्री, अन्त्या त्र्यवसाना महापङ्क्तिः, शिष्टा अनुष्टुभः। अभिषिक्तो यजमान इन्द्ररूपः सन्नात्मनः सार्वात्म्यं पश्यन्नाह—मे मम शिरः श्रीः शोभाऽस्तु। मे मुखं यशोऽस्तु। मम केशाः श्मश्रूणि मुखलोमानि त्विषिर्दीप्तिरस्तु। राजा दीप्यमानो मम प्राणो मुखवायुरमृतमस्तु। चक्षुरिन्द्रियं सम्राडस्तु। श्रोत्रमिन्द्रियं विराड् विविधं राजमान-मस्तु। यद्वा श्रीर्मे शिरोऽस्ति। यशो मुखमस्ति। त्विषिः केशादयः। राजा प्राणोऽमृतं वर्तते। सम्राट् सङ्गतं राज्यं यत्र सः, चक्षुर्वर्तते। विराट् श्रोत्रमस्ति। प्रथमशरीरी विराडत्र ग्राह्यः।

अध्यात्मपक्षे—गुरुणोपदिष्टः साधकः स्वाङ्गेषु श्रीयशआदिभावनां कृत्वा चिन्तयति। यद्वा भौतिकशिर-आदीन्यङ्गानि तिरोभाव्य श्रीयशआदीनि शिरआदिरूपेण चिन्तयति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, राज्येऽभिषिक्तस्य मम श्रीः शिरो यशः कथनं मुखं त्विषिर्न्यायप्रदीप्तिरिव केशाः श्मश्रूणि च राजा मे प्राणोऽमृतं मरणरहितं चेतनं ब्रह्म। सम्राट् चक्षुः। विराट् विविधशास्त्रश्रवणयुक्तं श्रोत्रं कस्येति यूयं जानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमात्रस्य राज्ञः शिरआदीनां शोभाधानादिरूपत्वा-दर्शनात्। नहि न्यायप्रदीप्तिः केशादीनामेव सम्भवति, भिन्नरूपत्वात्। न वा प्राणस्य चेतनब्रह्मरूपत्वं सम्भवति। यशःपदस्य न यशःकथनमर्थः। कथञ्चित्तथात्वेऽपि न मुखकीर्तिकथनयोरभेदः सम्भवति, भिन्नरूपत्वप्रसिद्धेः। सम्राट्पदस्य चक्षुर्विशेषणत्वे प्रकरणविरोधश्च। विराट् श्रोत्रमित्यपि तथाविधमेव ॥ ५ ॥

जि॒ह्वा मे॑ भ॒द्रं वाङ्म॒हो मनो॑ म॒न्युः स्व॒राड् भाम॑ः ।
मोदा॑ः प्रमो॒दा अ॒ङ्गुली॒रङ्गा॑नि मि॒त्रं मे॒ सह॑ः ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—मेरी जीभ कल्याणरूप हो, वाणी वैदिक सिद्धान्त के प्रचार से पूजित हो, मन 'अहं ब्रह्मास्मि' के उच्चारण से अहंभाव से युक्त हो, क्रोध अपनी मर्यादा में रहे, अंगुलियाँ आनन्दरूप हों, अंग परमानन्दरूप हों, मेरे मित्र शत्रु के नाशक हों ॥ ६ ॥

मे जिह्वा रसनेन्द्रियं भद्रं कल्याणरूपमस्तु। वाग् वागिन्द्रियं महो मह्यते पूज्यत इति महः पूज्य-मानास्तु, पूजाकारिणी चास्तु, महेः 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इत्यसुन्प्रत्ययः। मनो मन्युः क्रोधरूपमस्तु, क्रोधफलं वा ददातु। भामः क्रोधः स्वराट् स्वेनैव राजमानोऽस्तु, स्वराज्यक्षमोऽस्तु वर्तते वा। न कुतश्चित् प्रतिहन्यताम्। अवन्ध्यकोपत्वं मेऽस्त्वित्यर्थः। अङ्गुलयो मोदा मोदन्त इति मोदा आनन्दरूपाः सन्तु। पचाद्यच्। अङ्गानि प्रमोदाः प्रकृष्टहर्षाः सन्तु। मे मम मित्रं सहोऽस्तु। सहनेऽभिभवति शत्रूनिति सहः, रिपुनाशकमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—भद्रं मे जिह्वा महो वाग् मन्युर्मनः स्वराड् भामो मोदा अङ्गुलयः प्रमोदा अङ्गानि शत्रुपराभवो मित्रमिति चिन्तनीयमिति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, मे जिह्वा भद्रं वाङ् महो मनो मन्युः स्वराड् भामो मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं च सहो सहायो मे भवेत्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अङ्गुल्यङ्गानां मोदप्रमोदरूपत्वा-सम्भवात्। सिद्धान्ते तु सार्वात्म्यभावनया तथा भाव्यते, शालग्रामे विष्णुबुद्धिवत्, योषायामग्निबुद्धिवच्चेति ध्येयम् ॥ ६ ॥

बा॒हू मे॒ बल॑मि॒न्द्रिय॑ᳪं हस्तौ॑ मे॒ कर्म॑ वी॒र्य॑म् । आ॒त्मा क्ष॒त्रमुरो॒ मम॑ ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—मेरी दोनों भुजाएँ बलिष्ठ हों, मेरे दोनों हाथ देवार्चन करने में समर्थ हों, मेरा अन्तरात्मा हृदय भी संसार से रक्षा करने में समर्थ हो ॥७॥

मे बाहू बलमस्तु, बलवन्तौ स्तामित्यर्थः। इन्द्रियं च बलं स्वकार्यक्षममस्तु। मे हस्तौ कर्म वीर्यं चास्तु, सत्कर्मकुशलौ सामर्थ्यवन्तौ च स्तामित्यर्थः। मम च आत्मा अन्तरात्मा उरो हृदयं च क्षत्रं क्षतात् त्राणकरमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—बलं मे बाहू कर्म वीर्यं च हस्तौ उरुः क्षत्रं चात्मा स्यात्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, मे बलमिन्द्रियं बाहू मे कर्म वीर्यं हस्तौ ममात्मा उरः क्षत्रं च' इति, तदपि चिन्त्यम्, अन्यत्रान्यबुद्धेर्भ्रान्तित्वात्, सम्पत्प्रतीकोपासनादीनां त्वदनभिमतत्वाच्च ॥ ७ ॥

पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—मेरा पृष्ठदेश सबको धारण करने वाले राष्ट्र के समान हो। पेट, कन्धे, गर्दन, दोनों ऊरु, दोनों हाथ, तीनों ओर का कटिभाग, दोनों जंघाएं और मेरे सभी अंग प्रजा के समान पोषणीय हों, अर्थात् राष्ट्ररूप शरीर में ये सब अंग निरुपद्रव रहें ॥ ८ ॥

मे मम पृष्ठीः पृष्ठप्रदेशो राष्ट्रं देशो देशवत् सर्वसाधारणमस्तु। मे मम उदरमंसौ स्कन्धौ ग्रीवाः कण्ठदेशाः श्रोणी कटिदेशौ ऊरू सक्थिनी अरत्नी हस्तदेशौ जानुनी च सर्वतोऽन्यान्यङ्गानि च विशः प्रजाः सन्तु, प्रजावत् पोष्याः सन्तु।

अध्यात्मपक्षे—राष्ट्रादिषु पृष्ठ्यादिदृष्टयः कर्तव्याः, व्यष्टयभिमानस्य मृत्युत्वात्, अमृतत्वाच्च समष्टयभिमानस्य।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, मम पृष्ठदेशादयो राष्ट्रादयः' इति, तदपि न सङ्गतम्, उपासनाङ्गीकारमन्तरा अन्यत्रान्यदृष्टेरसङ्गतेः ॥ ८ ॥

नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत्। आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः। जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—मेरी नाभि भगवान् के ध्यान से ज्ञानमय हो, मेरी पायु इन्द्रिय ज्ञानजनित संस्कार का आधार हो, मेरी स्त्री सन्तान को उत्पन्न करने में समर्थ हो, मेरे अण्डकोश आनन्द से समृद्ध हों, मेरी जननेन्द्रिय यागैश्वर्य और योगसम्पत्ति से सम्पन्न हो, मेरी जंघा और चरण धर्म मार्ग पर चलें, मैं प्रजाओं में प्रतिष्ठित राजा बनूं ॥ ९ ॥

मे नाभिश्चित्तं ज्ञानरूपमस्तु। उव्वटाचार्यरीत्या तु नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं च वर्तते। तत्र विज्ञप्तिर्विज्ञानम्, तज्जन्यः संस्कारश्चित्तम्। पायुर्मे गुदेन्द्रियं विज्ञानं ज्ञानजनितसंस्काराधारमस्तु। भसत् स्त्रीप्रजननमपचितिः प्रजारूपमस्तु सुभगमस्तु। यजमानपत्नीविषयकमेतत्। उव्वटाचार्यास्तु—पायुर्गुदप्रदेशः, अपचितिः पूजा भसच्च वर्तते, भसत्शब्देन स्त्रीप्रजननं गौडा आहुः। न च यजमानस्यैतद् भवति, अतः पत्नीविषयकमेतद् दर्शनम्। 'बभस्तिरत्तिकर्मा' (नि० ५।१२) इति तत्रभवान् यास्कः। बभस्ति भर्त्सयति दीप्यते भक्षयति वा स भसत्। 'भस भर्त्सनदीप्त्योः' इत्यस्मात् 'शॄदॄभसोऽदिः' (उ० १।१३०) इति साधुः। मे मम आण्डौ वृषणौ आनन्दनन्दौ आनन्देन सम्भोगजनितसुखेन नन्दत इति तथोक्तौ, स्तामिति शेषः, तत्सुखभोक्तारौ भवतामित्यर्थः। पसो लिङ्गम्, 'पसः सपतेः स्पृशतिकर्मणः' (नि० ५।१६) इति तत्रभवान् यास्कः। सपति समवैति स्त्रियेति पसः, पृषोदरादित्वाद् वर्णविपर्ययः। अथवा सपति स्पृशति स्त्रियं स्त्रीयोनिमिति वा पसः। भगः सौभाग्यं चास्तु। भग ऐश्वर्यं सौभाग्यसम्पत्तिर्वा। जङ्घाभ्यां पद्भ्यां चाहं धर्मोऽस्मि। उपलक्षणमेतत्, सर्वाङ्गैर्धर्मरूपोऽस्मीति यावत्। धर्मरूपत्वादेव विशि प्रजायां राजा प्रतिष्ठितोऽस्मि। धर्मप्रतिष्ठितो हि राजा भवति।

अध्यात्मपक्षे—चित्तं विज्ञानं मे नाभिः। अपचितिर्भसच्च पायुः। आनन्दनन्दौ प्रहर्षहर्षावाण्डौ। भगः सौभाग्यं मे पसः। धर्मो मे जङ्घे पादौ च। एतदुपलक्षितानि सर्वाण्यङ्गानि। कीदृशो धर्मः? विशि प्रतिष्ठितो राजा।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, मे चित्तं स्मरणवृत्तिर्नाभिः, विज्ञानं विशेषज्ञानमनेकज्ञानं वा मे पायुः, मूलेन्द्रियं मेऽपचितिः, प्रजाजनकं भसद् भगेन्द्रियम्, आनन्दनन्दौ आण्डौ अण्डाकारौ वृषणौ मे भग ऐश्वर्यं पसः सौभाग्ययुक्तं स्यात्। एवमहं जङ्घाभ्यां पद्भ्यां सह विशि प्रतिष्ठितो धर्मो राजास्मि, तस्माद्यूयं मदनुकूला भवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नाभ्या विज्ञानपाय्वोर्भेदस्य लोकप्रसिद्धत्वादभेदानुपपत्तेः। तथैव सर्वत्र उद्देश्यानां विधेयानां च भेद एव। न च राजापि जङ्घाभ्यां पद्भ्यां विशि प्रतितिष्ठति, किन्तु सर्व इव राजापि भूमावेव पद्भ्यां जङ्घाभ्यां च तिष्ठति। तस्मात् पूर्वोक्तं व्याख्यानमेव युक्तम् ॥ ९ ॥

प्रति॑ क्ष॒त्रे प्रति॑तिष्ठामि रा॒ष्ट्रे प्रत्यश्वे॑षु प्रति॑तिष्ठामि॒ गोषु॑। प्रत्यङ्गे॑षु प्रति॑तिष्ठाम्या॒त्मन् प्रति॑ प्रा॒णेषु प्रति॑तिष्ठामि पु॒ष्टे प्रति॒ द्यावा॑पृथि॒व्योः प्रति॑तिष्ठामि य॒ज्ञे ॥१०॥

मन्त्रार्थ—मैं क्षत्रिय जाति में और राष्ट्र में प्रतिष्ठा चाहता हूँ, मैं घोड़ों का और गायों का स्वामी बनना चाहता हूँ, शरीर के अवयवों में नीरोग प्रतिष्ठित रह कर चित्त की शान्ति चाहता हूँ। मैं प्राणों में, धन-सम्पत्ति में, स्वर्ग और भूलोक में तथा यज्ञ के विषय में प्रतिष्ठा पाना चाहता हूँ ॥ १० ॥

'कृष्णाजिनेऽवरोहति प्रतिक्षत्र इति' (का० श्रौ० १९।४।२३)। यजमान आसन्दोतः कृष्णाजिनेऽवतरति प्रतिक्षत्र इति मन्त्रेणेति सूत्रार्थः। विश्वेदेवदेवत्यं यजुः, अतिशक्वरी। अहं यजमानः क्षत्रे क्षत्रियजातौ प्रतितिष्ठामि प्रतिष्ठायुक्तो भवामि। राष्ट्रे देशे, अश्वेषु गोषु, अङ्गेषु करपादाद्यवयवेषु, आत्मन् आत्मनि चित्ते प्राणेषु पञ्चसु पुष्टे पुष्टौ समृद्धौ द्यावापृथिव्योरिहलोकपरलोकयोः प्रतितिष्ठामि, यज्ञे ज्योतिष्टोमादौ च प्रतितिष्ठामि, यज्ञानुष्ठाननिष्ठा भवामीत्यर्थः। प्रतितिष्ठामीति क्रियापदावृत्तिः प्रत्येकफलस्य प्राधान्यद्योतनार्था। क्षत्रराष्ट्रयोः प्रतिष्ठा तयोर्वशीकरणम्। गोऽश्वप्रतिष्ठा तत्प्राप्तिः। प्राणाङ्गप्रतिष्ठा नीरोगत्वम्। आत्मप्रतिष्ठा आधिराहित्यम्। पुष्टप्रतिष्ठा धनसमृद्धिः। द्यावापृथिव्योः प्रतिष्ठा उभयलोककीर्तिः। यज्ञे प्रतिष्ठा तदनुष्ठाननिष्ठा। वश्यविश्वः पशुमान्निराधिव्याधिः श्रीमान् यज्ञकर्ता च भवेयमिति महीधराचार्यः। प्रतिपदं प्रतितिष्ठामीत्यस्य एकदेशो ज्ञातव्यः, सत्यभामा सत्या, भीमसेनो भीम इत्यादिवत्।

अध्यात्मपक्षे—समष्टिभावनया साधकः स्वात्मवैभवं कामयते। क्षत्रे राष्ट्रेऽश्वेषु गोष्वङ्गेष्वात्मनि प्राणेषु पुष्टे द्यावापृथिव्योर्यज्ञे चाहं प्रतितिष्ठामि।

दयानन्दस्तु—'विशि प्रतिष्ठितो राजाहं धर्म्येण क्षत्रे क्षतात्रक्षके क्षत्रियकुले प्रतितिष्ठामि, राष्ट्रे प्रतितिष्ठामि,……यज्ञे च प्रतितिष्ठामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, धर्म्येण व्यवहारेणेत्यंशस्य निर्मूलत्वात्। न च शब्दमात्रे कश्चन प्रतितिष्ठति। सिद्धान्ते तु सौत्रामणीयागानुष्ठानाभिषेकमन्त्रपूर्वकात्ममनोभावनादिबलात् तत्सम्पत्तिरिति ॥ १० ॥

त्र॒या दे॒वा एका॑दश त्रयस्त्रि॒ꣳशाः सु॒राध॑सः। बृह॒स्पति॑पुरोहिता दे॒वस्य॑ सवि॒तुः स॒वे। दे॒वा दे॒वैर॑वन्तु मा ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—सुन्दर धन वाले बृहस्पति पुरोहित के साथ विद्यमान ब्रह्मा, विष्णु, महेश नामक तीन देवता, ग्यारह देवता और तेंतीस देवता—इन सबके प्रेरक सविता देवता की आज्ञा में वर्तमान सभी देवता मेरी रक्षा करें ॥११॥

'त्रया देवा इति शस्त्रान्ते जुहोति' (का० श्रौ० १९।५।८)। शस्त्रसमाप्तौ वषट्कृते त्रया इति कण्डिकाद्वयात्मकेन मन्त्रेण त्रयस्त्रिंशं वसाग्रहं जुहोतीति सूत्रार्थः। त्र्यवसाना विश्वेदेवदेवत्या पङ्क्तिः। एकादश-देवा वक्ष्यमाणैर्देवैः सह मामवन्तु रक्षन्तु। कीदृशा देवाः? त्रयाः, त्रयोऽवयवा येषां ते तथोक्ताः, 'संख्याया अवयवे तयप्' (पा० सू० ५।२।४२) इति त्रिशब्दात्तयपि, 'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा' (पा० सू० ५।२।४२) इति अयजादेशे, 'यस्येति च' (पा० सू० ६।४।१४८) इतीकारलोपे रूपम्। ते च कति भवन्तीति मन्त्रः स्वयमेवाह—त्रयस्त्रिंशा इति। तिसृभिरधिका त्रिंशत्संख्या येषां ते त्रयस्त्रिंशाः, त्रयस्त्रिंशत्संख्या इत्यर्थः। सुराधसः शोभनं राधो धनं येषां ते। 'राध इति धननाम, राध्नुवन्त्यनेन' (नि० ४।४) इति यास्कोक्तिः। तथा बृहस्पतिपुरोहिता बृहस्पतिः पुरोहितो येषां ते तथोक्ताः। सवितुर्देवस्य सवे आज्ञायां वर्तमानाः। देवा दीप्यमानाः।

अध्यात्मपक्षे—देवैः सह ये एकादश देवा त्रयास्त्रिप्रकाराः, ये चैकीकृतास्त्रयस्त्रिंशत् सम्पद्यन्ते, ये च सुराधसः शोभनधनाः, ये च बृहस्पतिपुरोहिताः, ते सर्वे सवितुः परमेश्वरस्य प्रसवे आज्ञायां प्रवर्तमाना वक्ष्यमाणैर्देवैः सह मामवन्तु ब्रह्मज्ञानप्रतिबन्धापनयनेन ब्रह्मज्ञानसम्पादनेनाविद्यालक्षणसंसारमृत्यो रक्षन्तु।

दयानन्दस्तु—'ये त्रयास्त्रयाणामवयवभूता देवा दिव्यगुणा बृहस्पतिपुरोहिता बृहस्पतिः सूर्यः पुरः पूर्वः हितो धृतो येषु ते। सुराधसः सुष्ठु राधसः संसिद्धयोगेभ्य एकादशसंख्याकास्त्रयस्त्रिंशाः सवितुर्देवस्य परमेश्वरस्य सवे परमैश्वर्ययुक्ते प्रेरयितव्ये जगति वर्तन्ते, तैर्देवैः सहितं देवा विद्वांसो मामवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्याणां विदुषां पृथिव्याकाशादीनां पालने सामर्थ्याभावात्। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशद्युचन्द्रनक्षत्राणि अष्टौ वसवः। प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जया एकादशो जीवात्मा द्वादशमासा विद्युद्यज्ञावित्येते त्रयस्त्रिंशद्देवाः। एतेषां पालने रक्षणे मनुष्याणामल्पशक्तिमतां विदुषामपि न सामर्थ्यं दृश्यते। यदि जीवात्मापि त्रयस्त्रिंशदन्तर्गत एव, तर्हि तैः सह मामवन्त्विति मांपदप्रयोगो व्यर्थ एव स्यात्। किञ्चात्र एकादशरुद्रा ये बृहदारण्यकादौ देवत्वेनोक्ताः, त्वयापि भूमिकायामङ्गीकृताः, तानपहायान्येषां ग्रहणे का विनिगमना? ॥ ११ ॥

प्रथमा द्वितीयैर्द्वितीयास्तृतीयैस्तृतीयाः सत्येन सत्यं यज्ञेन यज्ञो यजुर्भिर्यजूंषि सामभिः सामान्यृग्भिर्ऋचः पुरोनुवाक्याभिः पुरोनुवाक्या याज्याभिर्याज्या वषट्कारैर्वषट्-कारा आहुतिभिराहुतयो मे कामान् समर्धयन्तु भूः स्वाहा ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—पहले कहे हुए वसु देवता, दूसरे रुद्र देवताओं के साथ मिलकर मेरी रक्षा करें, दूसरे देवता तीसरे देवताओं के साथ और तीसरे आदित्य देवता सत्यरूप ब्रह्म के साथ, ब्रह्म यज्ञ के साथ, यज्ञ यजुर्वेद के मन्त्रों के साथ, यजुः साम मन्त्रों के साथ, साम ऋचाओं के साथ, ऋचाएं पुरोनुवाक्या मन्त्रों के साथ, पुरोनुवाक्या याज्या मन्त्रों के साथ, याज्या हविःसमर्पक वषट्कार मन्त्रों के साथ, वषट्कार आहुतियों के साथ मेरी कामनाओं को पूर्ण करें। भुवन को भली प्रकार दी हुई आहुति स्वीकृत हो ॥ १२ ॥

विश्वेदेवदेवत्यमाशीर्लिङ्गं यजुः। प्रकृतिश्छन्दः, 'तान्यभि-सं-व्या-प्रेभ्यः कृतिः' (पि० सू० ४।३) इति चतुरशीत्यक्षरस्य प्रकृतित्वात्। 'इयादिपूरणः' (पि० सू० ३।२) इति चतुरशीत्यक्षरत्वं ज्ञेयम्। कथमवन्त्विति जिज्ञासायामाह—प्रथमा इति। प्रथमा देवा द्वितीयैः सहिता मामवन्तु, द्वितीया देवास्तृतीयैः सहावन्तु, तृतीयाः सत्येन सह, सत्यं यज्ञेन सह, यज्ञो यजुर्भिः सह, यजूंषि सामभिः सह, सामानि ऋग्भिः सह, ऋचः पुरोनुवा-

क्याभिः सह, पुरोनुवाक्या याज्याभिः सह, याज्या वषट्कारैः सह, वषट्कारा आहुतिभिः सह, एवं त्रिप्रकारैरेकादशसंख्यैर्देवैरुत्तरोत्तरं पालिता आहुतयो मे मम कामानभिलाषान् समर्धयन्तु पूरयन्तु। भूः, भवतीति भूर्भुवनम्, अथवा भवति सम्पद्यत इति भूराहुतिरूपम्, स्वाहा सुहुतमस्तु।

अध्यात्मपक्षे—रक्षणप्रकारमेवाहानया कण्डिकयेति। तथाहि—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० ४।४।२२), 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३।४।२६) इति श्रुतिसूत्राभ्यां ब्रह्मात्मसाक्षात्कारे सर्वापेक्षा गम्यते। एवं त्रिप्रकारैर्देवैरुत्तरोत्तरं पालिता आहुतयोऽभीष्टकामान् पूरयन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यथा प्रथमा द्वितीयैः प्राणाद्यै रुद्रैः, द्वितीयास्तृतीयैर्द्वादशादित्यैः, तृतीयाः सत्येन कारणेन, सत्यं यज्ञेन शिल्पक्रियया, यज्ञो यजुर्भिः, यजूंषि सामभिः, सामानि ऋग्भिः, ऋचः पुरोनुवाक्याभिरथर्ववेदप्रकरणैः, पुरोनुवाक्या याज्याभिर्यज्ञसम्बद्धक्रियाभिः, याज्या वषट्कारैरुत्तमकर्मभिः, वषट्कारा आहुतिभिः, आहुतयः स्वाहा एते स्वाहा सत्यक्रियया एते सर्वे भूरस्यां भूमौ मे मम कामान् समर्धयन्तु, तथा मां भवन्तो बोधयन्तु' इति, तदतीवोपहासास्पदम्, वैदिकपदार्थाज्ञानविजृम्भितत्वात्। शस्त्र-स्तोत्र-पुरोनुवाक्या-याज्या-धाय्यानां वैदिकानां शब्दानां मन्त्रविशेषे रूढत्वात्। न च पुरोऽनुवाक्याशब्देनाथर्ववेदप्रकरणानि बोध्यन्ते, मानाभावात्। न च याज्यापदेन यज्ञसम्बन्धिन्यः क्रिया प्रसिद्धाः सन्ति। एवमेव वषट्कारैरुत्तमकर्मभिरित्यपि व्याख्यानं निर्मूलमेव ॥ १२ ॥

लोमा॑नि॒ प्रय॑ति॒र्मम॒ त्वङ्म॒ आन॑ति॒रा॒ग॑तिः।
मा॒ꣳसं म॒ उप॑नति॒र्वस्व॒स्थि म॒ज्जा म॒ आन॑तिः ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—मेरे सारे रोम विशाल हों, मेरी त्वचा ऐसी हो कि उसे देख कर झुक कर सब लोग प्रणाम करें, मेरे पास आवें। मेरा माँस प्राणियों को नमन कराने वाला हो, मेरी हड्डियाँ धनरूप हों, मेरी मज्जा, अर्थात् हड्डी के भीतर का भाग जगत् को नमन कराने वाला हो। तात्पर्य यह है कि मेरे शरीर की सातों धातुएँ जगत् को वश में कर सकें ॥ १३ ॥

'प्रत्यक्षभक्षं यजमानो लोमानि प्रयतिरिति' (का० श्रौ० १९।५।१०)। यजमानो ग्रहशेषं प्रत्यक्षमुपहवपूर्वकं भक्षयति लोमानीत्यादिमन्त्रेणेति सूत्रार्थः। लोमत्वगादिदेवत्या अनुष्टुप्। मम लोमानि प्रयतिः प्रयतनम्, प्रयत्नो वर्तते तथोद्यमशीलः स्यां यथा लोमस्वपि प्रयत्नः स्यात्। मे त्वग् आनतिरागतिश्च, आनयन्ति भूतानि यस्यां सा आनतिः, आगच्छन्ति भूताति यां प्रति सा आगतिः। मदीयां त्वचं दृष्ट्वा भूतान्यागच्छन्ति नमन्ति चेति भावः। मे मम मांसमुपनतिः, उपनयन्ति भूतानि यत्र सा। मम अस्थि वसु धनं धनरूपमेव। मे मज्जा आनतिः। उपलक्षणमेतत्। मम सप्तापि धातवो जगद्वशीकरणसमर्था भूयासुरित्यभिप्रायः।

अध्यात्मपक्षे—प्रयत्यादिषु लोमादिदृष्टयः क्रियन्ते। तेन नाहं भौतिकव्यष्टिकार्यकारणसङ्घातरूपः, किन्तु समष्टिसूक्ष्मप्रयत्नाद्युपलक्षितहिरण्यगर्भरूप इति भावयेत्।

दयानन्दस्तु—'हे अध्यापकोपदेशकाः, यथा मम लोमानि प्रयतिर्मे त्वगानतिर्मांसमागतिर्मे वसूपनतिर्मेऽस्थि मज्जा चानतिः, तथा यूयं प्रयतध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यापकोपदेशकादीनां लोमादीनां प्रयत्ना-

दिरूपेण परिणमनसामर्थ्यादर्शनात्। सिद्धान्ते तु सौत्रामणीयागमन्त्रप्रभावेण लोमादिषु तादृशश्चमत्कारो नासम्भवः। अध्यात्मपक्षे तु व्यष्टिसमष्ट्यभेदचिन्तनमुपासनारूपमेव। 'पादा मात्रा मात्राश्च पादाः' (माण्डूक्यो० ८) इतिवत्॥ १३॥

यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्।
अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वाद् मुञ्चत्वꣳहसः॥ १४॥

मन्त्रार्थ—हे प्रकाशसम्पन्न देवताओं, हमसे जो आप लोगों का कोई अपराध हुआ हो, तो उस पाप से और सकल विघ्नरूप पापों से अग्नि देवता हमें मुक्त कर दें॥ १४॥

'मासरकुम्भं प्लावयति यद्देवा इति' (का० श्रौ० १९।५।१३)। अवभृथेष्टिं कृत्वा यद्देवा इत्यादिना वरुण नो मुञ्चेत्यन्तेन सार्धकण्डिकाचतुष्कात्मकेन मन्त्रेण मासरकुम्भं जले तारयेदिति सूत्रार्थः। अग्नि-वायु-सूर्यदेवत्यास्तिस्रोऽनुष्टुभः कूष्माण्डीसंज्ञाः। देवा दीव्यन्तीति देवा द्योतमानाः, हे देवासो देवाः! वयं यद्देवहेडनं देवानामनादरम्, देवापराधमिति यावत्, चकृमा कृतवन्तः, करोतेर्लिट्, संहितायां छान्दसो दीर्घः, अग्निस्तस्मादेनसः पापात्, मा मां मुञ्चतु पृथक्करोतु। तथा विश्वाद् विश्वस्मात्, अंहसः विघ्नाच्च मुञ्चतु पृथक्करोतु। विश्वादित्यत्र ङसेः स्मादभाव आर्षः।

अध्यात्मपक्षे—तथैव व्याख्यानम्। यद्वयं देवहेडनं प्रमादात् कृतवन्तः, हे देवाः! भवतामनुरोधेन अग्निः परमेश्वरस्तज्जनितात् पापान्मां मोचयतु। न केवलं तस्मादेव, किन्तु विश्वस्मात् सर्वस्मात् पापान्मां मोचयतु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यद्वयं देवाः, अन्ये देवासश्च परस्परं देवहेडनं देवानामनादरं चकृम, तस्माद् विश्वादेनसोंऽहसश्च अग्निर्मां मुञ्चतु' इति, तत्रापि विचारणीयम्—हे देवास इति सम्बोधनमपहाय हे विद्वन्निति सम्बोधनकल्पनं मोदकं परित्यज्य करं लेढीत्याभाणकमनुहरति। न चैको विद्वान् बहूनामनादरापराधं क्षन्तुमधिकृतः समर्थो वा, मानाभावात्, देवपदेन योनिविशेष एव गृह्यत इत्यस्य भूमिकायां साधितत्वाच्च॥१४॥

यदि दिवा यदि नक्तमेनाꣳसि चकृमा वयम्।
वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वाद् मुञ्चत्वꣳहसः॥ १५॥

मन्त्रार्थ—हमने दिन में और रात में अज्ञानवश जो भी पाप किये हों, वायु देवता उस पाप से अथवा सभी पापों से हमारी रक्षा करें॥ १५॥

यदि दिवा दिने यदि नक्तं रात्रौ वयमेनांसि पापानि चकृमा, वायुस्तस्मादेनसो विश्वाद् विश्वस्मादेनसश्च मां मुञ्चतु।

अध्यात्मपक्षे—वायुभावापन्नः परमेश्वरो मां मुञ्चतु। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यदि दिवा यदि नक्तमेनांसि वयं चकृम, वायुर्मां मुञ्चतु' इति, तदपि तुच्छम्, मनुष्यस्य वायोस्तथा सामर्थ्याभावात्॥ १५॥

यदि जाग्रद् यदि स्वप्न एनांꣳसि चकृमा वयम् ।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वाद् मुञ्चत्वꣳहसः ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हमने यदि जागते में या सोते समय कुछ पाप किये हैं, सूर्य देवता उस पाप से और अन्य सभी प्रकार के पापों से हमें मुक्त कर दें ॥ १६ ॥

यदि जाग्रद् जाग्रति जाग्रदवस्थायाम्, सप्तमी लुप्ता । यदि स्वप्ने स्वप्नावस्थायां वयमेनांसि चक्रमा कृतवन्तः, सूर्यस्तस्मादेनसो विश्वस्माच्चांहसो मां मुञ्चतु । अत्र ब्राह्मणम्—'यद्देवा देवहेडनमिति । देवकृतादेवैन-मेनसो मुञ्चति यदि दिवा यदि नक्तमिति यदेवाहोरात्राभ्यामेनः करोति तस्मादेवैनं मुञ्चति यदि जाग्रद्यदि स्वप्न इति मनुष्या वै जागरितं पितरः सुप्तं मनुष्यकिल्बिषाच्चैवैनं पितृकिल्बिषाच्च मुञ्चति' (श० १२।९।२।२) । देवहेडनमित्यनेन देवकृतादेनसो मुञ्चति यदि दिवा यदि नक्तमिति यदेवाहोरात्राभ्यामेनः करोति तस्मान्मुञ्चति, यदि जाग्रदित्यनेन मनुष्यकिल्बिषान्मुञ्चति, यदि स्वप्न इत्यनेन पितृकिल्बिषान्मुञ्चतीत्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—सूर्यमण्डलान्तर्गतः पुरुषः परमेश्वरः, 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्र० सू० १।१।२०) इति न्यायात् ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यदि जाग्रद् यदि·······सूर्य इव भवान् मां मुञ्चतु' इति, तदपि तुच्छम्, मनुष्यस्य अन्यदीयजाग्रत्स्वप्नगतापराधानां विश्वेषां चापराधानां ज्ञानासम्भवात्, तेभ्यो मोचनस्य दूरतो निरस्तत्वात् ॥ १६ ॥

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये । यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—ग्राम में अथवा वन में वृक्षछेदनरूप, सभा में असत्य भाषणरूप, सकल इन्द्रियों से परदोष कथन, परनारी दर्शन आदि, देवताओं के प्रति, दास वर्ग के प्रति, वैश्यों के प्रति जो हमने अपराध या पाप किये हैं, जो पाप पत्नीसहित यजमान के इस कर्म में किया गया है, उन सब पापों से हे देवताओं, अथवा हे कुम्भ के अधिष्ठात्री देवताओं ! हमें मुक्त कीजिये ॥ १७ ॥

लिङ्गोक्तदेवतं यजुः । यद् ग्रामे यच्चारण्ये यत् सभायां पक्षपातादिरूपमेनः, यदिन्द्रिये इन्द्रियविषये परापवादनारीदर्शनादि, अथवा इन्द्रियविषये देवविषये वा शूद्रेऽर्ये वैश्ये, 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (पा० सू० ३।१।१०३) इति निपातः, यदेनः पापं वयं चक्रमा कृतवन्तः, यच्चैतद्व्यतिरिक्तं पापं वयं कृतवन्तः, आवयोर्दम्पत्योः पत्नीयजमानयोरेकस्य अधिधर्मणि कर्मण्यधिकर्मविषये यदेनो धर्मलोपलक्षणं कृतवन्तस्तस्यैनसः पापस्य अवयजनं नाशनं त्वमसीति मासरकुम्भं प्रति वचनम् । अवपूर्वयजेर्नाशने वृत्तिः ।

अत्र ब्राह्मणम्—'यद् ग्रामे यदरण्य इति । ग्रामे वा ह्यरण्ये वैनः क्रियते तस्मादेवैनं मुञ्चति यत्सभायामिति सभ्यादेवैनमेनसो मुञ्चति यदिन्द्रिय इति दैवादेवैनमेनसो मुञ्चति यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधिधर्मणि तस्यावयजनमसीति सर्वस्मादेवैनमेतस्मादेनसो मुञ्चति' (श० १२।९।२।३) । यदिन्द्रिय इत्यत्रेन्द्रियपदेन देवो गृह्यते । देवविषये यदेनश्चक्रमेति तदर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—मासरकुम्भोपलक्षितः परमात्मैवात्र प्रार्थनीयः, तस्यैव सर्वपापनाशकत्वोपपत्तेः। व्याख्यानं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्! यद् ग्रामे ...... सर्वस्य त्वमवयजनं दूरीकरणसाधनमसि, तस्मात् त्वं महाशयोऽसि' इति, तदपि पूर्वोक्तदूषणगणं नातिक्राम्यति ॥ १७ ॥

यदापो॑ अघ्न्या इति॒ वरु॒णेति॒ शपा॑महे॒ ततो॑ वरुण नो मुञ्च। अव॑भृथ निचुम्पुण निचे॒रुर॑सि निचुम्पु॒णः। अव॑ दे॒वैर्दे॒वकृ॑त॒मेनो॑ऽयक्ष्य॒व॒ मर्त्यै॒र्मर्त्यकृतं पुरु॒राव्णो॑ देवरि॒षस्पा॑हि ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—जो जल स्वच्छ रखने योग्य है, अथवा जो सोमलता काटने योग्य नहीं है, उसको हमने जो अभिषुत किया है, हे वरुण देवता! उस पाप से हमें मुक्त कीजिये। घड़े को जल में डुबाकर कहे कि हे मन्दगति जलाशय अवभृथ! यद्यपि तुम अति गमनशील हो, तो भी मन्दगति हो जाओ, क्योंकि मैंने ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जानबूझ कर हवि के स्वामी देवताओं के प्रति जो कुछ अपराध किया है, उसे मैं इस जलाशय में छोड़ रहा हूँ। हमारे सहायक ऋत्विजों ने यज्ञ का दर्शन करने के लिये आये मनुष्यों की अवज्ञा कर जो पाप अर्जित किया है, उसे हमने इस जल में डुबो दिया है। हे यज्ञदेवता, विरुद्ध फल देने वाले पापों से हमारी रक्षा करो ॥ १८ ॥

यदाप इति कण्डिकैकदेशो व्याख्यातपूर्व (६।२२) इत्यत्र। 'पूर्ववन्मज्जनम्' (का० श्रौ० १९।५।१४)। पूर्ववदिति अवभृथेत्यादि ओषधीरुताप इत्यन्तेन मन्त्रेण मासर(सुरा)कुम्भस्य जले मज्जनं कुर्यादिति सूत्रार्थः। अवभृथेति कण्डिकैकदेशो व्याख्यातपूर्वः (३।४८) इत्यत्र। इयान् विशेषः—अवायक्षि नाशितवानसि। यजेर्लुङि तङि उत्तमैकवचने रूपम्। यथात्र 'अयक्षि अव' इति पदं तथा पूर्वत्र 'अयासिषमव' इति पदम्। अवायक्षीतिवद् अवायासिषमिति यावत्।

षष्ठे द्वाविंशी कण्डिका—यदाहुरघ्न्या इति प्रकरणप्राप्तं व्याख्यानं पुनः स्मार्यते। यदाहुरिति वरुणदेवत्या गायत्री अवसानहीना। अघ्न्या इति गोनाम। हे वरुण, वेदस्मृतिलोकवाक्यानि अघ्न्या अहन्तव्या अवध्याः पूज्या गाव इति वदन्ति। इतिकरणेन वाक्यार्थमभिनयेन दर्शयति। हे वरुण, वयं तु शपामहे। इतिकरणं प्रदर्शनार्थम्। इति एवमनेन प्रकारेण अघ्न्याः शपामहे हिंस्मः, शपतिर्हिंसार्थः। अत एव वयं याचामहे हे वरुण, ततस्तस्मादेनसो नो मुञ्च मोचय।

अत्र ब्राह्मणम्—'यदापो अघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्चेति वरुण्यादेवैनमेनसो मुञ्चत्यवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुण इति यो ह वा अयमपामावर्तः स हावभृथः स हैष वरुणस्य पुत्रो वा भ्राता वा तमेवैतत् स्तौत्यव देवैर्देवकृतमेनोऽयक्षीति देवकृतमेवैनोऽवयजतेऽव मर्त्यैर्मर्त्यकृतमिति मर्त्यकृतमेवैनोऽवयजते पुरुराव्णो देवरिषस्पाहीति सर्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपायेत्येवैतदाह' (श० १२।९।२।४)।

'अवभृथ निचुम्पुण' इति यज्ञदैवतं यजुः। अवाचीनानि पात्राणि जलमध्ये ध्रियन्ते यस्मिन् यज्ञविशेषे सोऽयमवभृथः, तत्सम्बुद्धौ हे अवभृथ यज्ञ, हे निचुम्पुण नितरां चोपति मन्दं गच्छति यः स निचुम्पुणः, तत्सम्बुद्धौ हे निचुम्पुण, यद्यपि त्वं निचेरुः, नितरां चरतीति निचेरुः, नितरां गमनशीलोऽसि, तथाप्यत्र निचुम्पुणो भव मन्दगमनो भव। किमर्थमिति चेत्? तत्राह—देवैर्द्योतनात्मकैः, अस्मदीयैरिन्द्रियैः, देवकृतं

देवेषु हविःस्वामिषु कृतमेनः पापं यदस्ति तदवायासिषं जलेऽहमवनीतवानस्मि। तथा मर्त्यैर्मनुष्यैरस्मत्सहायभूतैऋत्विग्भिर्मर्त्यकृतं मर्त्येषु यज्ञदर्शनार्थमागतेषु कृतमवज्ञारूपं यदेनोऽस्ति, तदप्यहमवायक्ष्यवायासिषम्। इदमस्मत्कृतं पापं यथा त्वां न व्याप्नोति तथा मन्दं गच्छ। यथा अवभृथाख्ययज्ञः पुरुरावा पुरु बहु रुद्धं फलं राति ददातीति पुरुरावा, तस्माद् रिषो वधात् पाहि पालय।

अत्र ब्राह्मणम्—'अथाधिरोहति। वारुण्यर्चा वरुणो वै देवानाᳪं राजा स्वयैवैनमेतद्देवतयाऽभिषिञ्चति निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा साम्राज्याय सुक्रतुरिति' (श० १२।८।३।१०)। 'अथ सुवर्णरजतौ रुक्मौ व्युपास्यति। मृत्योः पाहि विद्योत्पाहीति वृष्टिर्वै विराट् तस्या एते घोरे तन्वौ विद्युच्च ह्लादुनिश्च ततः सुवर्ण एव रुक्मो विद्युतो रूपᳪं रजतो ह्लादुनेस्ताभ्यामेवास्मै देवताभ्याᳪं शर्म यच्छति तस्मात् सौत्रामण्येजानस्यैताभ्यां देवताभ्यां न शङ्का भवत्यथो य एवमेतद्वेद' (श० १२।८।३।११) ॥ १८ ॥

स॒मु॒द्रे ते॒ हृद॑यम॒प्स्व॑न्तः सं त्वा॑ विश॒न्त्वोष॑धीरु॒तापः॑। सु॒मि॒त्रि॒या न॒ आप॒ ओष॑धयः सन्तु दु॒र्मि॒त्रि॒यास्तस्मै॑ सन्तु॒ योऽस्मान्॒ द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—अवभृथ स्नान के अनन्तर दो डग चल कर अंजुलि में जल लेकर शत्रु की दिशा में उसे छोड़ा जाता है। हे सोम, तुम्हारा हृदय समुद्र के जल में स्थित है, वहाँ तुमको प्रेषित करता हूँ। वहाँ अन्य ओषधियाँ और जल तुम्हारे साथ मिल जाँय, जल और ओषधियाँ हमारे मित्र हों। जो काम हमारे प्रतिकूल हैं, जो हमारे शत्रु हैं, उनका नाश करने के लिये यह अंजुलि हम समर्पित करते हैं ॥ १९ ॥

'सुमित्रिया न इत्यपोऽञ्जलिनादाय दुर्मित्रिया न इति द्वेष्यं परिषिञ्चति द्वौ विक्रमा उदङ्गत्वा' (का० श्रौ० १९।५।१५)। यजमानोऽवभृथप्रवेशदेशात् प्रक्रमद्वयमुदीच्यां गत्वा सुमित्रिया इति जलमादाय यस्यां दिशि द्वेष्यो भवेत् तस्यां दिशि ता अपो निषिञ्चेदिति सूत्रार्थः। समुद्रे ते इति द्विपदा विराट् अब्देवत्या। हे वरुण, समुद्रे अप्सु अन्तस्ते हृदयम्, तादृशं त्वा ओषधीरोषधयः, विभक्तिव्यत्ययः, उत आपो विशन्तु संसृज्यन्ताम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तरिति। आपो वै समुद्रो रसो वा आपस्तदेनमेतेन रसेन सᳪंसृजति सन्त्वाविशन्त्वोषधीरुताप इति तदेनमेतेनोभयेन रसेन सᳪंसृजति यश्चौषधिषु यश्चाप्सु द्वौ विक्रमा उदङ्ङुत्क्रामत्येतावतो मनुष्ये जूतिर्यावान् विक्रमस्तद्यावत्येवास्मिन् जूतिस्तयैव पाप्मानं विजहाति' (श० १२।९।२।५)। 'सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्त्विति। अञ्जलिनाप उपाचति वज्रो वा आपो वज्रेणैवैतन्मित्रधेयं कुरुते दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति यामस्य दिशं द्वेष्यः स्यात् तां दिशं परासिञ्चेत् तेनैव तं पराभावयति' (श० १२।९।२।६)।

अध्यात्मपक्षे—साधकानां हृदयं ब्रह्माकाराकारितवृत्तिमद् ब्रह्मानन्दरसपूर्णं च भूयात्, कामक्रोधादयो द्विषश्च पराभूयन्तामिति तात्पर्यम् ॥ १९ ॥

द्रु॒प॒दादि॑व मुमुचा॒नः स्वि॒न्नः स्ना॒तो मला॑दिव।
पू॒तं प॒वित्रे॑णे॒वाज्य॒मापः॑ शुन्धन्तु॒ मैन॑सः ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—पत्नीसहित यजमान पहिने हुए वस्त्रों को छोड़ दे। हे जल देवता, मुझे आप पाप से पवित्र करें। जैसे पुरुष पादुका को सहज ही छोड़ देता है, अथवा स्नान करने से जैसे शरीर के मैल से मुक्त हो जाता है, अथवा जैसे ऊन के वस्त्र से छाना हुआ घृत निर्मल हो जाता है, वैसे ही आप मुझे पापों से मुक्त कर दें ॥ २० ॥

'अवभृथवत् स्नात्वा वासोऽपासनं द्रुपदादिवेति' (का० श्रौ० १९।५।१६)। जलस्थावेव जायापती सौमिकावभृथवत् स्नात्वा कर्मकाले धृतं वासोऽप्सु क्षिपत इति सूत्रार्थः। अब्देवत्याऽनुष्टुप्। आपो जलानि, एनसः पापात्, मा मां शुन्धन्तु पुनन्तु, पापात् पृथक्कुर्वन्तु। एतस्मिन्नर्थे दृष्टान्तत्रयमुच्यते—द्रुपदादिवेति। द्रुस्तरुः, तन्मयं पदं द्रुपदं पादुका, तस्माद् मुमुचानः पृथग्भवन् यथा पादुकादोषैरसम्बद्धो भवति, मुचेर्विकरणव्यत्ययेन शानचि जुहोत्यादिवाद् द्वित्वे मुमुचान इति रूपम्। यथा च स्विन्नः स्वेदयुक्तः स्नातः सन् मलात् पृथग् भवति। आज्यमिव यथा पवित्रेण कम्बलमयेन पूतं गालितमाज्यं घृतं कीटेभ्यः पृथग् भवति, तथाऽपो मां शुन्धन्तु। 'पलाशी द्रुद्रुमागमाः' (अ० को० २।४।५) इति कोषे द्रुमार्थको द्रुशब्द उक्तः।

अत्र ब्राह्मणम्—'द्रुपदादिव मुमुचानः। स्विन्नः स्नातो मलादिव पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनस इति वासोऽपप्लावयति यथेषीकां मुञ्जाद्विवृहेदेवमेनꣳ सर्वस्मात् पाप्मनो विवृहति स्नाति तम एवापहते' (श० १२।९।२।७)। सूत्रमन्त्रव्याख्यानेन व्याख्यातप्रायं ब्राह्मणम्।

अध्यात्मपक्षे—आपः अब्भावापन्नः परमेश्वरः, एनसो मां शुन्धन्तु शोधयतु। अन्यत् पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे आपः प्राणवज्जलवत्पूता विद्वांसः, भवन्तो द्रुपदादिव वृक्षात् फलादिवद् मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव पवित्रेणेव यथा शुद्धिकरेणेव पूतं शुद्धमाज्यं घृतं तथा मामेनसः शुद्धन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्याणां सर्वैनसः पावनसामर्थ्यायोगात् ॥ २० ॥

उद्वयं तम॑स॒स्परि॒ स्वः॒ पश्य॑न्त॒ उत्त॑रम्।
दे॒वं दे॑व॒त्रा सूर्य॒मग॑न्म॒ ज्योति॑रुत्त॒मम् ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—अन्धकारमय लोक से परम श्रेष्ठ स्वर्ग लोक को देखते हुए, देवलोक में सूर्य देवता को देखते हुए हम श्रेष्ठ ब्रह्मज्योति को प्राप्त करते हैं॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान जल से बाहर निकले॥ २१॥

'सोमवदुत्क्रमणमागमनं च' (का० श्रौ० १९।५।१७)। सोमवद् उद्वयमिति मन्त्रेण जलान्निष्क्रमणम्, अपाम सोममित्यृचं जपतां त्रिपशुदेशं प्रत्यागमनं भवतीति सूत्रार्थः। सूर्यदेवत्याऽनुष्टुप् प्रस्कण्वदृष्टा। उदः अगन्मेत्याख्यातेन सम्बन्धः। वयं तमसः परि तमोबहुलादस्मान्मृत्युलक्षणात् संसाराद् उदगन्म उद्गता निर्गताः, गमेर्लङि शपि लुप्ते मस्य नः। कथम्भूता वयम्? उत्तरम् उत्कृष्टतरं स्वः स्वर्गं पश्यन्त ईक्षमाणाः। ततोऽपि देवत्रा देवलोके सूर्यं देवं पश्यन्तः। उत्तमं ज्योतिर्ब्रह्मरूपमुदगन्म प्राप्ताः।

अत्र ब्राह्मणम्—'उद्वयं तमसस्परीति। पाप्मा वै तमः पाप्मानमेव तमोऽपहते स्वः पश्यन्त उत्तरमित्ययं वै लोकोऽद्भ्य उत्तरोऽस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति स्वर्गो वै लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमꣳ स्वर्ग एव लोकेऽन्ततः प्रतितिष्ठत्यनपेक्षमेत्याहवनीयमुपतिष्ठते' (श० १२।९।२।८)। तमःपदेन पाप्मा ग्राह्यः।

अध्यात्मपक्षे—ब्रह्मोपासकाः स्वानुभवं प्रकाशयन्तः प्राहुः—वयं तमसोऽज्ञानतत्कार्यात्मकात् प्रपञ्चात् परि उपरि विद्यमानं स्वः ब्रह्मात्मकं स्वर्गम् उदगन्म ब्रह्मभावं प्राप्ताः। कीदृशा इत्याकाङ्क्षायां हेतुगर्भमुत्तरं पठति—उत्तरम् उत्कृष्टतरं सूर्यं देवं द्योतनात्मकं सूर्यमात्मानं पश्यन्तः, ततोऽप्युत्तममुत्कृष्टतमं ज्योतिः

सूर्यमण्डलान्तर्गतं परमात्मज्योतिर्ज्योतिषामपि ज्योतिरगन्म साक्षात्कृतवन्तः, 'हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः' (छा० १।६।६), 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्र० सू० १।१।२०) इति श्रुतिसूत्रयोः प्रसिद्धमिति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वयं तमसः परं ज्योतिः सूर्यं सवितारं चराचरात्मानं परमेश्वरं वा परिपश्यन्तः सन्तो देवत्रा दिव्यगुणेषु देवेषुः स्वः सुखरूपं देवं दिव्यसुखप्रदं स्वरुत्तरमुत्तमं ज्योतिः स्वप्रकाशं परमेश्वरमुदगन्म, तथैव यूयमप्येनं प्राप्नुत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, नीरूपस्य परमात्मनो दृग्गोचरत्वानुपपत्तेः। देवं दिव्यसुखप्रदमित्यपि चिन्त्यम्, निर्मूलत्वात्। सिद्धान्ते तु प्रत्यक्षस्य सूर्यस्य चक्षुषा दर्शनम्, हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्टस्य परमात्मनो ध्यानबलेन नीरूपस्य ब्रह्मज्योतिषस्तु प्रत्यगात्मना साक्षात्कारः। न च त्वन्मते तथा सम्भवति, प्रत्यगात्मपरमात्मनोर्वस्तुभेदस्य सत्त्वेनान्यात्मसाक्षात्कारासम्भवात्। मनसा स्वात्मन एव साक्षात्कारः सम्भवति, नान्यात्मनोऽपि॥ २१॥

आपो॑ अ॒द्यान्व॑चारिष॒ꣳ रसे॑न॒ सम॑सृक्ष्महि। पय॑स्वानग्न॒ आग॑मं॒ तं मा॒ सꣳसृ॑ज॒ वर्च॑सा प्र॒जया॑ च॒ धने॑न च॥ २२॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! आज मैं अवभृथ स्नान करते समय जल के भीतर चला हूँ, जल के रस से संपृक्त हुआ हूँ, जल से पवित्र हुआ हूँ। अतः आप मुझे तेज से, पुत्र-पौत्र आदि से तथा सुवर्ण आदि धन से सम्पन्न करें॥ इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए यजमान आहवनीय अग्नि का उपस्थान करता है॥ २२॥

'आहवनीयमुपतिष्ठतेऽपो अद्येति' (का० श्रौ० १९।५।१८)। आपो अद्येति मन्त्रेण यजमान आहवनीयमुपतिष्ठेतेति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्या पङ्क्तिः। अद्य अस्मिन्नहनि योऽहमपोऽन्वचारिषम्, अवभृथकर्मणा जलमनुचरितवानस्मि प्राप्तवानस्मि, यश्चाहमब्जेन रसेन समसृक्ष्महि संसृष्टवानस्मि, वचनव्यत्ययः, यश्चाहं पयस्वान् उदकवान् सन् आगमम् आगतवानस्मि, हे अग्ने! तं मामागतवन्तं सन्तं वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन प्रजया पुत्रपौत्रादिलक्षणया धनेन सुवर्णरत्नादिना च त्वं संसृज संयोजय। आङ्पूर्वकाद् गमेर्लुङि पुषादित्वात् च्लेरङि आगममिति रूपम्।

अत्र ब्राह्मणम्—'अपो अद्यान्वचारिषमिति। अपामेव रसमवरुन्धे रसेन समसृक्ष्महीत्यपामेव रसमात्मन् धत्ते पयस्वानग्न आगमं तं मा सꣳसृज वर्चसा प्रजया च धनेन चेत्याशिषमेवैतदाशास्ते' (श० १२।९।२।९)।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, यश्चाहमस्मिन्नवसरेऽपो जलानि तत्समवेतानि कर्माणि तत्फलभूतान् लोकान् अन्वचारिषं प्राप्तवानस्मि, यश्चाहं रसेन तत्फलभोगेन समसृक्ष्महि संसृष्टवान्, यश्चाहं पयस्वान् पयउपलक्षितसर्वभोगसामग्रीसम्पन्नः सन् आगमम् आगतवानस्मि, तं मां वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन प्रजया पुत्रशिष्यादिलक्षणया धनेन ब्रह्मविद्यालक्षणेन संसृज संयोजय।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने, यः पयस्वान् प्रशस्तजलविद्यायुक्तस्त्वामगमं प्राप्नुयाम्, अद्य अस्मिन् दिने रसेन मधुरादिना सहापो जलानि अन्वचारिषम् आनुकूल्येन पिबामि, तं मां वर्चसा वेदाध्ययनेन प्रजया सुसन्तानैः धनेन च संसृज संयोजय, यत इमेऽहं च सर्वे वयं सुखाय समसृक्ष्महि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमात्रं प्रति तादृशप्रार्थनायोगात्। पयस्वानित्यस्य जलविद्यायुक्त इत्यर्थोऽपि चिन्त्यः, निर्मूलत्वात्। व्यक्तिगतमधुरजलपानवर्णनमपि निःसारमेव॥ २२॥

एधो॑ऽस्येधिषी॒महि॑ समिद॑सि॒ तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि । स॒माव॑वर्ति पृथि॒वी स॒मु॒षाः स॒मु॒ सूर्यः॑ । स॒मु॒ विश्व॑मि॒दं जग॑त् । वै॒श्वा॒न॒रज्यो॑तिर्भूयासं वि॒भून् कामा॑न् व्य॒श्नवै॒ भूः स्वाहा॑ ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—आहुति के निमित्त समिधा उठाते हुए यजमान कहता है कि हे समिधाकाष्ठ ! तुम प्रकाश देने वाले हो, अनुग्रह करके हमारे धन-धान्य की वृद्धि करो। समिधा को आहवनीय में छोड़ने को उद्यत होकर कहे—हे समिधा, तुम पूर्ण प्रकाश करने वाली हो,-तुम तेज:स्वरूप हो, मुझमें तेज का आधान करो। समिधा में घी लगावे। पृथ्वी प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, प्रात:काल निरन्तर आता जाता रहता है, सूर्य भी बार बार उदित और अस्त होता है, यह सारा संसार आवागमनशील है, कुछ भी स्थिर नहीं है। इतना कह कर उस समिधा की अग्नि में आहुति दे। सकल कामनाओं को पाने के लिये मैं सब प्राणियों के हितकारी परमात्मा की ज्योति को, नाना प्रकार के मनोरथों को प्राप्त करूं, सत्यस्वरूप ब्रह्म को दी गई यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २३ ॥

'एधोऽसीति समिधमादायाहवनीयेऽभ्यादधाति समिदसीति' (का० श्रौ० १९।५।१९)। यजमान एधोऽसीति मन्त्रेण समिधं गृहीत्वा समिदसीति मन्त्रेणाग्नौ दधातीति सूत्रार्थः। समिद्दैवत्ये यजुषी। हे समित्, त्वमेधोऽसि, एधयति दीपयतीत्येधः, दीपिकाऽसि। वयं त्वत्प्रसादाद् एधिषीमहि धनादिभिर्वृद्धिं प्राप्नुयाम। त्वं समिदसि समिन्धयति दीपयतीति समित्, तेजश्चासि, तत्संयोगेनाग्नेर्ज्वलनात्। अतो मयि विषये तेजो धेहि धारय। 'जुहोति च समाववर्तीति' (का० श्रौ० १९।५।२०)। यजमानः सकृद् गृहीतमाज्यं समाववर्तीति कण्डिकाशेषेण जुहुयादिति सूत्रार्थः। समाववर्तीति आग्नेयी गायत्री। वैश्वानरज्योतिरित्याग्नेयं यजुः। पृथिवी समाववर्ति सम्यगावर्तते, नश्वरत्वाद् विनश्यतीत्यर्थः, विकरणव्यत्ययेन वृतेः शपः श्लुः। उषा दिवसोऽपि समाववर्ति विनश्यति। उ एव विश्वमिदं जगत् सर्वं जनद् विनश्यति। अतोऽहं वैश्वानरज्योतिर्भूयासम्। विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरः, 'नरे संज्ञायाम्' (पा० सू० ६।३।१२९) इति विश्वशब्दस्य दीर्घः, विश्वानरस्यायं वैश्वानरः परमात्मा, 'तस्येदम्' (पा० सू० ४।३।१२०) इत्यणि रूपसिद्धिः, तद्रूपं ज्योतिर्ब्रह्मैव भूयासम्। विभून् महतोऽपि कामान् मनोरथान् व्यश्नवै प्राप्नुयाम्। भूः भवनं भूः सत्तामात्रं ब्रह्म, तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु। महाव्याहृतीनामव्ययत्वात् चतुर्थ्यामपि तथैव रूपम्, 'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥' इति तल्लक्षणात्।

अत्र ब्राह्मणम्—'एधोऽस्येधिषीमहीति समिधमादत्ते। एधो ह वा अग्नेः समित् समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहीत्याहवनीये समिधमभ्यादधात्यग्निमेवैतया समिन्धे स एनꣳ समिद्धस्तेजसा समिन्धे' (श० १२।९।२।१०)।

अध्यात्मपक्षे—हे समित्, समिन्धनात् समित्, सर्वभासिके चिते ! त्वमेधोऽसि सर्वदीपिकासि। त्वत्प्रसादाद् वयम् एधिषीमहि ज्ञानवैराग्यादिभिर्वृद्धिं प्राप्नुयास्म। त्वं तेजोऽसि, 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इति मन्त्रवर्णात्। तत्तेजो ज्योतिषामपि ज्योतीरूपं तेजो मयि धेहि आविर्भावय। पृथिवी धरित्री समाववर्ति नश्वरत्वाद् विनश्यति, उषा दिवसोऽपि समाववर्ति नश्यति। सूर्यः समाववर्ति उ एव विनश्वरमेवेति। इदं दृश्यं विश्वं सर्वं जगत् समाववर्ति विनश्यति। दृश्यं सर्वमपि बाध्यत्वादसदेव। वैश्वानरो विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितो वा विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद्वा वैश्वानरः परमात्मा, तद्रूपं ज्योतिर्ब्रह्मरूपं भूयासं सर्वप्रपञ्चातीत-ब्रह्मरूपमेव भवामि, न तद्भिन्नकार्यकारणसङ्घातरूपस्तदुपहितो वा। विभून् महतोऽपि कामान् ब्रह्मात्मभावमन्यान् वा व्यश्नवै प्राप्नुयाम। भूः परब्रह्मणे स्वाहा, सर्वस्वमात्मानं च समर्पयामीति भावः।

दयानन्दस्तु—'हे जगदीश्वर, त्वमेधो वर्धकोऽसि समिदस्यग्नेरिन्धनमिवासि मनुष्याणामात्मनां प्रकाशकोऽसि। तेजोऽसि तीव्रप्रज्ञः, तस्मात्तेजो मयि धेहि। यो भवान् सर्वत्र समावर्वर्ति सम्यग्वर्तेत, येन भवता पृथिवी उषाश्च संसृष्टाः सूर्यः संसृष्ट इदं विश्वं जगत् संसृष्टम्, तदु वैश्वानरज्योतिर्ब्रह्म प्राप्य वयमेधिषीमहि। यथाहं स्वया सत्यक्रियया सत्यवाचा वा भूः सत्तारूपां प्रकृतिं विभून् कामान् व्यश्नवै सुखी भूयासम्, तथैव यूयमपि सिद्धकामाः सुखिनः स्यात' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारबाहुल्यात्, येन भवता, प्राप्य, संसृष्टा इत्यादि-शब्दानां मन्त्रेऽभावात्, स्वाहापदस्याऽतादृशार्थत्वाच्च ॥ २३ ॥

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—अन्वाधान और ब्राह्मणवरण के बाद यजमान आवहनीय अग्नि में तीन समिधाएँ छोड़े। हे कर्म के पालक अग्निदेव, ये समिधाएँ तुमको समर्पित करता हूँ। यज्ञ में दीक्षित हुआ मैं कर्म और श्रद्धा से सम्पन्न होकर तुम्हें प्रदीप्त करता हूँ ॥ २४ ॥

'अभ्यादधामीति प्रत्यृचमाहवनीये तिस्रः समिधोऽभ्यादधाति' (का० श्रौ० १९।१।१२)। सौत्रामण्यादावादित्येष्टिं समाप्य त्रिपश्वर्थमाहवनीवदक्षिणाग्नी विहृत्याग्न्यन्वाधानं ब्रह्मवरणं च कृत्वा आहवनीये यजमानस्तिस्रः समिधः प्रत्यृचमादधीतेति सूत्रार्थः। अग्निदेवत्यास्तिस्रोऽनुष्टुभ आश्वतराश्विदृष्टाः। हे अग्ने व्रतपते, व्रतस्य कर्मणः पतिः पालको व्रतपतिस्तत्सम्बुद्धौ, अहं समिधं त्वय्यभ्यादधामि जुहोमि। तेन समिदाधानेन दीक्षितः सन्नहं व्रतं कर्म श्रद्धां विश्वासं चोपैमि उपगच्छामि। त्वा त्वामिन्धे दीपयामि।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, व्रतपते कर्मणां स्वामिन्, अहं त्वयि समिधं चक्षुरादिभिर्दीप्यमानं स्वात्मानं त्वयि समर्पयामि। तेन दीक्षितः सन्नहं व्रतं सङ्कल्पं श्रद्धां विश्वासं चोपैम्युपगच्छामि। त्वामिन्धेऽन्तःकरणे त्वदाकाराकारितया वृत्त्या त्वां पश्यामि।

दयानन्दस्तु—'हे व्रतपते अग्ने, त्वयि स्थिरीभूयाहं समिधमिव ध्यानमभ्यादधामि, यतो व्रतं सत्यभाषणादिकं कर्म श्रद्धां सत्यधारिकां क्रियां च उपैमि प्राप्नोमि, दीक्षितः सन् त्वामिन्धे प्रकाशयामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, समिधमिव ध्यानमिति गौणार्थस्वीकारस्य निर्मूलत्वात्। श्रद्धां सत्यधारिकां क्रियामित्यपि निर्मूलम्, श्रदित्यस्य विश्वासाधायकत्वप्रसिद्धेः ॥ २४ ॥

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—जहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति एक साथ एक मन होकर विचरते हैं, जहाँ देवता अग्नि के साथ निवास करते हैं, उस पवित्र स्वर्ग लोक को मैं प्राप्त करूँ ॥ २५ ॥

यत्र लोके ब्रह्म ब्राह्मणजातिः, क्षत्रं क्षत्रियजातिश्च सम्यञ्चौ सहावियोगेन तिष्ठतः, समीची इति प्राप्ते लिङ्गव्यत्ययः, तं पुण्यं पवित्रं लोकं प्रज्ञेषं जानीयाम्। तल्लोकमप्राप्तानां तल्लोकज्ञानं न भवतीति स्वर्लोकगमनं

प्रार्थ्यते। यत्र चाग्निना सह देवाश्चरन्ति, सदा ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्च यत्राविरोधेन तिष्ठन्ति, तं लोकं प्राप्नुयामित्यर्थः। यद्वा यत्र ब्रह्म मूर्तिमद् ब्रह्म भौमब्रह्म ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टं क्षतात्किल त्रायत इति क्षत्रं तच्च मूर्तिमत् क्षत्रियत्वजातिविशिष्टं सदा अवियोगेन सम्यञ्चौ सध्रीचीने चरतस्तिष्ठतः, यत्र चाग्निना सह देवाश्चरन्ति, तं पुण्यलोकं प्रज्ञेषं प्रज्ञानं वा प्राप्ता वयम्।

अध्यात्मपक्षे—यत्र ब्रह्म ब्राह्मं तेजः शमदमाद्युपेतं क्षत्रं शौर्यवीर्याद्युपेतं क्षात्रं तेजो धैर्यं सहिष्णुता च सम्यञ्चौ समीची सहाविरोधेन चरतः, यत्राग्निना सर्वकर्मदाहकेनाग्निना ज्ञानरूपेण सह देवा इन्द्रियाणि भवन्ति, तं पुण्यं पवित्रं लोकम्, लोक्यते दृश्यते भुज्यत इति लोकः, फलं देहं प्रज्ञेषं प्रज्ञानं च प्राप्ताः साधका अवश्यं निःश्रेयसाय प्रयतेरन्निति शेषः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं यत्र परमात्मनि ब्रह्म च क्षत्रं च, चकाराद् वैश्यकुलं च सम्यगेकीभावेन चरन्तौ सह सार्धं वर्तेते, यत्र देवा विद्वांसः पृथिव्यादयो वा अग्निना विद्युता सह भवन्ति, तं लोकं दर्शनार्हं पुण्यं प्रज्ञेषं जानीयाम्, जानातेर्लेटि सिपि रूपम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लोकप्रसिद्धपदार्थत्यागेऽप्रसिद्धार्थकल्पने च मानाभावात्। त्वद्रीत्या च न सर्वं ब्रह्मणि वर्तते, त्वया तस्याधिष्ठानत्वानङ्गीकारात्। वेदान्तरीत्यैव ब्रह्मणः सर्वाधिष्ठानत्वम्॥ २५॥

यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते॥ २६॥

मन्त्रार्थ—जहाँ इन्द्र और वायु एक साथ एक मन होकर विचरते हैं, जहाँ अन्न की प्राप्ति के लिये कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता, उस पवित्र लोक को मैं प्राप्त करूँ॥ २६॥

यत्र लोके इन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः, यत्र सेदिः सदनम् अन्नाप्राप्तिजनितं दुःखं न विद्यते, तं पुण्यं पवित्रं लोकं प्रज्ञेषं विजानीयाम्, 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' इति धातोः 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' (पा० सू० ३।२।१७१) इति चकारात् किप्रत्यये लिड्वद्भावादेत्वाभ्यासलोपयोः सतोः सेदिरिति रूपम्।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परं ब्रह्म वायुर्हिरण्यगर्भः सूत्रात्मा यत्र सम्यञ्चौ चरतः, सेदिः संसारदुःखं च न भवति, तं पुण्यं लोकं प्रज्ञेषं जानीयामिति। वेदेषु परब्रह्मापरब्रह्मरूपेणोभयोः प्रसिद्धिरिति तयोः सध्रीचीनत्वम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथाहं यत्रेश्वरे इन्द्रः सर्वत्राभिध्याता विद्युच्च वायुर्धनञ्जयादिरूपः पवनश्च सम्यञ्चौ चरतः, यत्र सेदिर्नाश उत्पत्तिर्वा न विद्यते, तं पुण्यं लोकं प्रज्ञेषम्, तथैव यूयं विजानीत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, हे मनुष्याः! यूयं तथैव विजानीतेत्यध्याहारस्य निर्मूलत्वात्, पूर्वोक्तदोषाच्च॥ २६॥

अꣳशुना ते अꣳशुः पृच्यतां परुषा परुः।
गन्धस्ते सोममवतु मदाय रसो अच्युतः॥ २७॥

मन्त्रार्थ—हे महोषधि रस! तुम्हारा भाग सोम के भाग में मिल जाय, तुम्हारा पर्व सोम के पर्व से मिल जाय, तुम्हारी गन्ध अविनाशी हो, तुम रस और उल्लास को देने वाले हो, तुम सोम की रक्षा करो॥ २७॥

सुरादेवत्याऽनुष्टुप् सुरासंसर्जने विनियुक्ता। तत्सूत्रं तु—'स्वाद्वीं त्वाऽँशुना त इति' (का० श्रौ० १९।१।२१)। हे सुरे, ते तव अंशुर्भागः सोमस्यांशुना भागेन सह पृच्यतां संयुज्यताम्। ते तव परुः पर्व सोमस्य परुषा पर्वणा पृच्यताम्। ते तव गन्धः, अच्युतोऽनश्वरो रसश्च सोममवतु आलिङ्गतु। किमर्थम् ? मदाय मत्ततायै। सुरायुक्तः सोमः पीतो मदजनको भवति, अत उभयोर्योगोऽस्तु। सौत्रामणीयागाङ्गभूताया यस्याः सुराया वैदिकविधानेन निर्माणम्, तस्या अत्र सोमेन योगो विहितो नान्यस्या लौकिक्याः सुरायाः, तस्या निषेधात्।

अध्यात्मपक्षे—हे विश्वविस्मारिके ब्रह्मानन्दानुभूते, तवांशुर्भागः सोमस्यांशुना भक्तिरसभागेन पृच्यताम्। तव परुः पर्व सोमस्य साम्बसदाशिवस्य परुषा पर्वणा पृच्यताम्। ते तव गन्धोऽच्युतो रसश्च सोमं साम्बसदाशिवमालिङ्गतु। किमर्थम् ? मदाय ब्रह्मानन्दोन्मदाय।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, ते तवांशुना भागेनांशुः परुषा मर्मणा परुः मर्म पृच्यताम्। तेऽच्युतो गन्धो रसश्च मदाय सोममैश्वर्यमवतु' इति, तदप्यसङ्गतम्, कस्य भागः कस्य भागेन कस्य मर्म कस्य मर्मणा पृच्यतामित्यनुक्तेः। गन्धो रसश्च कथमच्युतः स्यात् ? नह्यात्मनो गन्धो रसश्च, तस्याभौतिकत्वात्। भौतिकयोर्गन्धरसयोर्व्यवहार्ययोश्च विनश्वरत्वमेवेति ॥ २७ ॥

सिञ्चन्ति परिषिञ्चन्त्युत्सिञ्चन्ति पुनन्ति च।
सुरायै बभ्र्वै मदे किन्त्वो वदति किन्त्वः ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—पवित्र किये रस का ग्रहण करें। बल के धारक कपिल वर्ण महौषधियों के रस को पीकर इन्द्र प्रसन्नता से भर गया है, तुम कौन हो, तुम कौन हो, ऐसे कहता है। इसीलिये ऋत्विक्गण पात्र में महौषधि के रस को भरते हैं, उसमें दूध मिलाते हैं, उसे ग्रहों में भरते हैं, पावन सुवर्ण आदि से पवित्र करते हैं ॥ २८ ॥

सुरादेवत्या इन्द्रदेवत्या चानुष्टुप्। पूतसुरादाने विनियोगः। तथा चाह परमर्षिः कात्यायनः—'पूतामादत्ते सिञ्चन्ति परिषिञ्चन्तीति' (का० श्रौ० १९।२।८)। कारोतरेण पूतां सुरां केनचित्पात्रेण गृह्णीयादिति सूत्रार्थः। 'श्वभ्रं खात्वा खरमपरेण चर्मावधाय परिस्रुतमासिच्य कारोतरमवदधाति कारोतराद्वा चर्मणि मन्त्रलिङ्गात्' (का० श्रौ० १९।२।७)। दक्षिणवेदिखरमपरेण बहिर्वेदि श्वभ्रं = गर्तं खात्वा तत्र गर्ते गोचर्मावधाय परिस्रुतं = सुरां तत्रासिच्य सुराया उपरि कारोतरं वंशमयं पात्रं सुरागलनसमर्थं निदध्यात्। एवं कृते मलमधस्तिष्ठति, गलिता सुरा कारोतरस्योपर्यायाति। अथवा पूर्वं चर्मणि कारोतरमवधाय तत्र सुरामासिञ्चति, कारोतराच्चर्मणि सुरा पतति। कुतः ? 'कारोतरेण दधतो गवां त्वचि' (वा० सं० १९।८२) इति मन्त्रलिङ्गात्। बभ्र्वै बभ्रुवर्णायै तस्यै सुरायै, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, बभ्रुवर्णायाः सुराया मदे स्थितः, अर्थात् सुरया मत्त इन्द्रः किन्त्वः किं त्वम् ? कस्य त्वम् ? इत्याद्यन्यतिरस्कारकरं वचो वदति। का सा सुरेति तत्राह—याम् आचामामभावमुपगतां सुरां पात्रे ऋत्विजः सिञ्चन्ति, आचामो भक्तमण्डः। पयआदिभिरुत्सिञ्चन्ति, संश्लेषयन्ति, ग्रहैर्गोबालपवित्रहिरण्यादिभिः पुनन्ति च। तस्याः सुराया मदे स्थित इन्द्रः किं त्वं कस्य त्वं ब्रूहीत्यादि वदतीति सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—यां ब्रह्मानन्दानुभूतिरूपां मदजननीं विश्वविस्मारिकां सुरां सिञ्चन्ति तापत्रयशान्तये बुधाः परिषिञ्चन्ति, शमादिलक्षणैः पयोभिः परिषिञ्चन्ति, उत्सिञ्चन्ति, ग्रहैर्मनआदिभिर्ग्रहैः, यां च पुनन्ति मीमांसापरिष्कृतैस्तर्कैः, तस्या मदे स्थित इन्द्रो जीवः साधकः किन्त्वः कस्य त्वम्, कस्त्वमित्यादि वदति। सर्वं ब्रह्मैवेति पश्यतीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'ये बभ्रवे बलधारकाय सुरायै सोमाय मदे आनन्दाय महौषधिरसं सिञ्चन्ति परिषिञ्चन्ति उत्सिञ्चन्ति, ते शरीरात्मबलं प्राप्नुवन्ति। यः किन्त्वः किन्त्वः किमन्य इति वदति स किञ्चिदपि नाप्नोति' इति, तत्तुच्छम्, वेदाक्षरविरोधात्, बभ्रुपदस्य बलधारकत्वार्थे प्रमाणाभावात्। सुरापदस्य सोमार्थतापि चिन्त्यैव। महौषधिरसपदाध्याहारोऽपि निर्मूल एव, पर्य्युदिति पदकृत्यमपि न निरूपितम्। किन्त्वो वदतीत्यप्यव्याख्यातप्रायमेव ॥ २८ ॥

धा॒नाव॑न्तं कर॒म्भिण॑मपू॒पव॑न्तमु॒क्थिन॑म्। इन्द्र॑ प्रा॒तर्जु॑षस्व नः ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र! प्रातःकाल हमारे खीलों से युक्त दही, सत्तू और मालपुए आदि से युक्त पुरोडाश को हमारी स्तुति के साथ सेवन करो॥ इस मन्त्र से लाजा-होम किया जाता है॥ २९॥

इन्द्रदेवत्या गायत्री विश्वामित्रदृष्टा स्मार्ते श्रवणाकर्मणि धानाहोमे विनियुक्ता, प्रातःसवने पुरोडाशपुरोनुवाक्यापि। हे इन्द्र, त्वं प्रातःकाले नोऽस्माकं पुरोडाशं जुषस्व सेवस्व। कीदृशं पुरोडाशम्? धानावन्तं धाना विद्यन्ते यत्र तं धानाभिर्युक्तमित्यर्थः। करम्भिणं करम्भेण दधियुक्तेन सक्तुना युक्तम्, अपूपवन्तम् अपूपेन युक्तम्। उक्थिनम् उक्थं शस्त्रमस्ति यत्र तं स्तुतियुक्तम्।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमात्मन्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र सुखेच्छो विद्यैश्वर्ययुक्त, त्वं नो धानावन्तं करम्भिणं सुष्ठु क्रियया निष्पन्नमुक्थिनं प्रशस्तोक्थवाक्यजन्यबोधसम्पादितं भक्ष्याद्यन्वितं भोज्यमन्नरसादिकं प्रातर्जुषस्व' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अस्यार्थस्य लोकसिद्धत्वेन एतदनुवादनैरर्थक्यात्, करम्भपदस्य सुष्ठुक्रियार्थताया निर्मूलत्वात्। इन्द्रपदार्थोऽपि निर्मूल एव ॥ २९ ॥

बृ॒हदिन्द्रा॑य गायत॒ मरु॑तो वृत्र॒हन्त॑मम्।
येन॒ ज्योति॒रज॑नयन्नृता॒वृधो॑ दे॒वं दे॒वाय॒ जागृ॑वि ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—हे ऋत्विक्गण! इन्द्र के निमित्त अति पापनाशक अथवा वृत्रासुर के नाशक बृहत्साम का गान करो, यज्ञ की वृद्धि करने वाले देवगण अथवा ऋत्विक्गण जिस सामगान से इन्द्र के निमित्त दीप्तिमान् अविनाशी तेज को प्राप्त कराते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सामगान से इन्द्र तेजस्वी होता है॥ इस मन्त्र से ब्रह्मा सामगान करता है॥ ३०॥

'ऐन्द्रयां बृहत्यां गायति' (का० श्रौ० १९।५।२)। अध्वर्युप्रेषितो ब्रह्मा इन्द्रदेवत्यायां बृहत्यां बृहदिन्द्राय गायतेत्यस्यामृचि साम गायेदिति सूत्रार्थः। इन्द्रदेवत्या बृहती नृमेधपुरुषमेधदृष्टा। हे मरुतः, तद्वत्कर्मशीला ऋत्विजः, इन्द्राय इन्द्रार्थं यूयं बृहत्साम गायत सामगानं कुरुत। कीदृशं साम? बृहद् वृत्रहन्तमम्, वृत्रं पापं प्रत्यतिशयेन हन्ति गच्छतीति वृत्रहन्तमस्तम्। अथवा वृत्रमसुरं नाशयति, तम्। 'नाद् घस्य' (पा० सू० ८।२।१७) इति नुम्। ऋतावृधः, ऋतं यज्ञं वर्धयन्ति ये ते ऋतावृधो देवा ऋत्विजो वा, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० सू० ६।३।१३७) इति दीर्घः। येन सामगानेन देवाय इन्द्राय ज्योतिस्तेजः, अजनयन् उदपादयन्, तं तादृशं बृहत्साम

गायतेति सम्बन्धः। 'कीदृशं ज्योतिरजनयन्नित्याकाङ्क्षायामाह—देवम्, दीप्यमानम्। जागृवि जागर्तीति जागृवि जागरणशीलम्, अविनश्वरमित्यर्थः। सामगानेनेन्द्रस्तेजस्वी जात इति भावः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्राय परमेश्वराय बृहत्साम गायत हे मरुतो देवाः! कीदृशं साम? वृत्रहन्तमम्, वृत्रं पापमतिशयेन हन्तीति वृत्रहन्तमम्। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे मरुतो विद्वांसः, ऋतावृधो भवन्तो येन देवाय इन्द्राय परमैश्वर्ययुक्ताय देवं दिव्यसुखप्रदं जागृवि जागरूकं ज्योतिरजनयन्, तद् वृत्रहन्तमं बृहत् तस्मै गायत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मरुत्पदस्य प्रसिद्धमर्थं विहायाप्रामाणिकार्थकल्पने मानाभावात्, साम्नि मेघहन्तृसूर्यसाम्यस्यानिरूपणाच्च। नहि विद्वांसोऽपि मनुष्याः सत्यं वर्धयन्ति, तस्यैकरूपत्वेन वर्धनायोगात्। न च ते परस्मिन् ज्योतिरुत्पादयितुं क्षमाः, परमात्मज्योतिषो नित्यत्वात् ॥ ३० ॥

अध्व॑र्यो॒ अद्रि॑भिः सु॒तᳪं᳖ सोमं॑ प॒वित्र॒ आन॑य। पु॒नी॒हीन्द्रा॑य॒ पात॑वे ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—हे अध्वर्युगण! आप लोग पत्थरों से अभिषुत सोम को पवित्रे में ले जाओ, इसको इन्द्र के पीने के लिये पवित्र करो॥ इस मन्त्र से दूध को अभिमन्त्रित किया जाता है॥ ३१ ॥

'ब्रह्मानुमन्त्रणमध्वर्यो अद्रिभिरिति' (का० श्रौ० १९।२।१३)। ब्रह्मा अध्वर्यो अद्रिभिरिति मन्त्रेण पूयमानस्य पयसोऽनुमन्त्रणं कुर्यादिति सूत्रार्थः। ऐन्द्री गायत्री। हे अध्वर्यो, अद्रिभिर्ग्रावभिः पाषाणैः सुतमभिषुतं सोमं पवित्रे कम्बलमये पात्रे आनय आसिञ्च गालय। ततः पुनाहि पुनीहि। पुनीहीति प्रेषितोऽध्वर्युः सोमं पुनाति। किमर्थम्? इन्द्राय पातवे इन्द्रस्य पानार्थम्।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्राय परमेश्वरस्य पातवे पानार्थम्। यागादिकमपि परमेश्वरार्थमेव क्रियते।

दयानन्दस्तु—'योऽध्वरं यज्ञं युनक्ति सोऽध्वर्युः, तत्सम्बुद्धौ। त्वमिन्द्राय परमैश्वर्याय पातवे पातुमद्रिभिर्मेघैः सुतं निष्पन्नं सोमं सोमवल्ल्याद्योषधिसारं रसं पवित्रे शुद्धे व्यवहारे आनय पुनाहि पवित्रय' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सर्वासामोषधीनां मेघैर्निष्पन्नत्वेन मेघैरिति पदस्य व्यावर्त्याभावात्। परमैश्वर्यवान् कोऽस्ति यस्य पानार्थं मेघैर्निष्पन्नः सोमो व्यवहारे आनीयते। न च स्वकर्तृकं पानमेव व्यवहार इति वाच्यम्, तस्य परमैश्वर्यवदर्थतानुपपत्तेः, तेन पुनीहीत्यस्याः क्रियायाः सकर्मकत्वेन पवित्रा भवेति हिन्दीव्याख्यानानुपपत्तेः ॥ ३१ ॥

यो भू॒ताना॒मधि॑पति॒र्यस्मिँ॑ल्लो॒का अधि॑ श्रि॒ताः। य ई॒शे॑ मह॒तो म॒हाँस्तेन॑ गृह्णामि॒ त्वाम॒हं मयि॑ गृह्णामि॒ त्वाम॒हम् ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—जो प्राणियों का पालन करने वाला है, भू आदि लोक जिस परमात्मा के आश्रय से ठहरे हुए हैं, जो सबसे बड़ा और बड़ों का भी नियन्ता है, हे ग्रह! उसी परमात्मा की आज्ञा के अनुसार मैं उस परमात्मा के अनुग्रह से तुमको ग्रहण करता हूँ। मैं तुमको परमात्मभाव को प्राप्त हुए अपने में ग्रहण करता हूँ॥ ३२ ॥

'त्रयस्त्रिᳪं᳖शं वसाग्रहं गृह्णाति यो भूतानामिति' (का० श्रौ० १९।४।२४)। 'सीसेन तन्त्रम्' (वा० सं० १९।८०) इत्यादिभिः षोडशभिर्ऋग्भिरार्षभैः खुरैर्वसां गृहीत्वा एकेन मन्त्रेण द्वयोर्होमरीत्या द्वात्रिंशत्सं-

ख्याकानां वसाग्रहाणां संस्रवैर्यजमानाभिषेकः कृतः। ततोऽध्वर्युर्यो भूतानामिति सार्धकण्डिकात्मकेन मन्त्रेण त्रयस्त्रिंशं वसाग्रहमार्षभखुरेण गृह्णीयादिति सूत्रार्थः। आत्मवादिनी ग्रहदेवत्या कौण्डिन्यदृष्टा पङ्क्तिः। यः परमात्मा भूतानां जरायुजादिभूतानां चतुर्विधानामधिपतिरधिकं पालयिता, यस्मिन्नात्मनि लोका भूरादयः, अधिश्रिता आश्रिताः, सर्वे लोका यदाधारा इत्यर्थः, यश्च स्वयं महान् सर्वोत्कृष्टः, यश्च महतो महत्तत्त्वप्रमुखस्य तत्त्वगणस्य ईशे ईष्टे नियन्ता वर्तते, 'ईश ऐश्वर्ये' इत्यस्माल्लटि तङि प्रथमपुरुषैकवचने, 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० सू० ७।१।४१) इति तकारलोपे 'ईशे' इति रूपम्, 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' (पा० सू० २।३।५२) इति कर्मणि षष्ठी। हे ग्रह, अहं तेन परमात्मना कृत्वा त्वां गृह्णामि। मयि परमात्मभावमापन्ने मयि विषयेऽहं त्वां गृह्णामि, आदरार्था द्विरुक्तिः।

अध्यात्मपक्षे—पूर्ववदेव व्याख्यानम्।

दयानन्दस्तु—'हे सर्वहितेच्छो, यो भूतानामधिपतिर्महतो महानस्ति, य ईशे ईष्टे, यस्मिन् सर्वे लोका अधिश्रिताः, तेन त्वामहं गृह्णामि। मयि त्वामहं गृह्णामि' इति, तदप्यसङ्गतम्, अमूर्तस्य तस्य ग्रहणानुपपत्तेः। मयि त्वामहं गृह्णामीत्यप्यसङ्गतम्, पूर्वेणैव गतार्थत्वात्, यः सर्वत्रास्ति तस्य मय्यपि सत्त्वात्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, सम्बोध्यस्यैव त्वंपदार्थोपपत्तेश्च। न च सम्बोध्यस्य अहमर्थे सत्त्वसम्भवः, युष्मदस्मदोर्विरोधेनाहमर्थाश्रयत्वानुपपत्तेः ॥ ३२ ॥

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्य॒श्विभ्यां॑ त्वा॒ सर॑स्वत्यै॒ त्वेन्द्रा॑य त्वा सु॒त्राम्णे॑। ए॒ष ते॒ योनि॑र॒श्विभ्यां॑ त्वा॒ सर॑स्वत्यै॒ त्वेन्द्रा॑य त्वा सु॒त्राम्णे॑ ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे सोम! तुम उपयाम पात्र में गृहीत हो, तेजस्वी रूप वाले तुमको अश्विनीकुमारों की प्रीति के लिये, सरस्वती, इन्द्र और सुत्रामा की प्रीति के लिये यहाँ स्थापित करता हूँ। यह तुम्हारा स्थान है। अश्विनीकुमार, सरस्वती, इन्द्र और सुत्रामा की प्रीति के लिये तुम्हें यहाँ स्थापित करता हूँ ॥ ३३ ॥

यजुःसाम त्रिष्टुप्। हे वसाग्रह, उपयामगृहीतोऽसि उपयामेन पात्रविशेषेण गृहीतोऽसि। अश्विभ्यां त्वा अश्विनोरर्थाय त्वां गृह्णामि। सरस्वत्यै त्वा, सुत्राम्णे इन्द्राय त्वा गृह्णामि। एष ते यजुः प्राजापत्या बृहती। ग्रहदेवते द्वे यजुषी। सादने विनियोगः। हे वसाग्रह! एष ते योनिः स्थानम्। अश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वा सुत्राम्ण इन्द्राय त्वा सादयामि।

अध्यात्मपक्षे—हे निवेदनीय द्रव्य! उपयामेन श्रद्धात्मकवृत्तिविशेषेण अश्विभ्यां रामलक्ष्मणाभ्यां बलकृष्णाभ्यां वा त्वां गृह्णामि। सरस्वत्यै ज्ञानरूपिण्यै सीतायै, सुत्राम्ण इन्द्राय रक्षितृत्वविशिष्टाय निर्गुणनिराकारपरमात्मने त्वां गृह्णामि। हे ग्रह निवेदनीय द्रव्य, एष पूजाप्रदेशस्ते योनिः स्थानम्। तत्र अश्विभ्यामर्थे सरस्वत्यै सुत्राम्णे त्वां सादयामि।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यस्त्वमश्विभ्यामुपयामगृहीतोऽसि, यस्य त एषोऽश्विभ्यां स योनिरस्ति, तं त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे चाहं गृह्णामि। सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा गृह्णामि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, द्वितीयस्य अश्विभ्यामित्यादिपदस्य वैयर्थ्यापत्तेः, अश्विभ्यामित्यनेनाऽध्यापकोपदेशकयोर्ग्रहणे मानाभावाच्च। नहि कस्यचिद्विदुषो ग्रहणेन उत्तमवागादिकं लभ्यते, न वा इन्द्रपदस्य उत्तमव्यवहारोऽर्थः, न वा सुत्रामपदस्य उत्तमरक्षार्थः सम्भवति, प्रत्ययार्थवैपरीत्यात् ॥ ३३ ॥

प्राणपा मे॑ अपानपाश्च॑क्षुष्पाः श्रो॑त्रपाश्च॑ मे ।

वाचो मे॑ विश्वभे॑षजो मन॑सोऽसि विलाय॑कः ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ—हे ग्रह ! अथवा हे परमात्मन्, आप मेरे प्राणों के रक्षक हैं। अपान वायु, दोनों नेत्र, दोनों कान और मेरी वाणी के रक्षक हैं। सकल प्रधान औषधियों में आप विद्यमान हैं। मेरे मन को विषयों से हटा कर आत्मस्वरूप में स्थापित कीजिये ॥ इस मन्त्र से बची हुई हवि का प्रसाद लिया जाता है ॥ ३४ ॥

'शेषमृत्विजः प्राणभक्षं भक्षयन्ति प्राणपा म इति (का० श्रौ० १९।५।९)। त्रयस्त्रिंशवसाग्रहहोमानन्तरं शेषमृत्विजः सर्वेऽप्यजिघ्रेयुः प्राणपा इति कण्डिकाद्वयेनेति सूत्रार्थः। ग्रहदेवत्ये द्वे अनुष्टुबुपरिष्टाद्बृहत्यौ। हे ग्रह, यस्त्वं मे प्राणपा असि, प्राणान् पातीति प्राणपाः। अपानपा अपानं पाति रक्षतीत्यपानपाः। चक्षुष्पाः, चक्षुषी पातीति चक्षुष्पाः। मे मम श्रोत्रपाश्चासि श्रोत्रं पातीति श्रोत्रपाः श्रोत्ररक्षकः। मे वाचो वागिन्द्रियस्य विश्वभेषजो विश्वं सर्वं भेषजमौषधं यस्मात् सः। वाच औषधम् उन्मार्गनिवर्तको जपादौ प्रवर्तकश्चासि। मनसो विलायकश्चासि, विलाययति विषयेभ्यो निवर्त्य आत्मनि स्थापयतीति विलायकः। अथवा मनसो विलायकः, चित्तैकाग्र्यसम्पादकत्वेन ब्रह्मज्ञानप्रदोऽसि। यद्वा 'लीङ् श्लेषणे' इति धात्वर्थानुसारेण मनसः सर्वकरणेषु संश्लेषकश्चासि, सर्वैन्द्रियैः सह मनः संयोजयसीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे परमेश्वर, त्वं मे प्राणपा इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यतस्त्वं मे प्राणपा मनसो विज्ञानसाधकस्य विलायकोऽसि, येन विविधतया लीयते श्लिष्यते तस्मात्त्वं पितृवत् सत्कर्तव्योऽसि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, विदुषि मनुष्ये तथाविधप्रार्थनाया नैरर्थक्यात्, अल्पशक्तिमत्त्वेन हितैषित्वेऽपि तथा कर्तुमसमर्थत्वात् ॥ ३४ ॥

अ॒श्विन॑कृतस्य ते॒ सर॑स्वतिकृत॒स्येन्द्रे॑ण सु॒त्राम्णा॑ कृतस्य॑। उप॑हूत॒ उप॑हूतस्य भक्षयामि ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—हे ग्रह ! आपकी आज्ञा में रहता हुआ मैं अश्विनीकुमारों से संस्कृत, सरस्वती के द्वारा प्रस्तुत, रक्षा करने वाले इन्द्र से देखे गये और ऋत्विजों से आवाहित किये हुए तुम्हें भक्षण करता हूँ ॥ ३५ ॥

हे ग्रह, उपहूत आज्ञप्तोऽहं ते तव त्वाम्, कर्मणि षष्ठी, भक्षयामि। कीदृशस्य ते ? अश्विनकृतस्य अश्विनावेव आश्विनौ, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण्, वृद्ध्यभाव आर्षः, ताभ्यां कृतो दृष्टोऽश्विनकृतस्तस्य, करोतिरत्र दर्शनार्थः। सरस्वतिकृतस्य सरस्वत्या कृतो दृष्टः सरस्वतिकृतस्तस्य, 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' (पा० सू० ६।३।६३) इति ह्रस्वः। सुत्राम्णा इन्द्रेण कृतस्य, सुष्ठु त्रायते रक्षतीति सुत्रामा, 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' (पा० सू० ३।२।७४) इति 'त्रैङ् पालने' इत्यस्माद् मनिन्प्रत्यये, 'आदेच उपदेशेऽशिति' (पा० सू० ६।१।४५) इत्यात्वे रूपसिद्धिः, तेन इन्द्रेण कृतस्य दृष्टस्य उपहूतस्य ऋत्विग्भिः कृतोपहवस्य। सर्वत्रात्र कर्मणि षष्ठी।

अध्यात्मपक्षे—हे भगवन्निवेदित द्रव्य, ते त्वामहं भक्षयामि। कीदृशं त्वाम् ? अश्विनादिभिः कृतं ध्यानेन संस्कृतम्। यद्वा—हे भगवन्, त्वामहं भक्षमामि, परमानन्दरूपं रसयामि। कीदृशं त्वाम् ? अश्विनादिभिः कृतं प्रेम्णा विषयीकृतम्, 'अहमन्नादः' (तै० उ० ३।१०।६) इति श्रुतेः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, उपहूतोऽहं तेऽश्विकृतस्य सरस्वतीकृतस्य सुत्राम्णा इन्द्रेण कृतस्योपहूतस्य अन्नादिकं भक्षयामि' इति, तदपि तुच्छम्, अन्नाद्यध्याहारे मानाभावात्, वैरूप्याच्च। हिन्दीव्याख्याने—अश्विनोः कृते सरस्वत्या कृते सुत्राम्णेन्द्रेण कृतस्य समीप उपहूतस्य अन्नादिकं भक्षयामीत्युक्तम्, तच्च कृतस्य अन्नादिकमित्यसङ्गतिः ॥ ३५ ॥

अत्र सौत्रामण्या आध्वर्यवं समाप्तम्।

समि॑द्ध॒ इन्द्र॑ उ॒षसा॒मनी॑के पुरो॒रुचा॑ पूर्व॒कृद्वा॑वृधा॒नः।
त्रि॒भिर्दे॒वैस्त्रि॒ꣳश॒ता वज्र॑बाहुर्ज॒घान॑ वृ॒त्रं वि दुरो॑ ववार ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—आगे के ग्यारह मन्त्रों से ऐन्द्र पशु के आप्रिय प्रयाज-याज्यों का अनुष्ठान किया जाता है। भली प्रकार से प्रदीप्त उषा काल के मुख, अर्थात् प्रातःकाल के समय आगे चलने वाले प्रकाश से पूर्व दिशा को प्रकाशित करने वाले, तेंतीस देवताओं के साथ वृद्धि पाने वाले वज्रधारी इन्द्र ने वृत्रासुर या मेघ का तारण किया है, मेघों के स्रोतों या दैत्यपुरी के द्वार को सूना किया है, अथवा खोला है ॥ ३६ ॥

'समिद्ध इन्द्र इत्याप्रियः प्रथमस्य' (का० श्रौ० १९।६।१२)। समिद्ध इत्याद्या एकादश ऋचः प्रथमस्य ऐन्द्रस्य पशोः, आप्रियः प्रयाजयाज्याः। इतः सौत्रामण्या हौत्रमुच्यते। आङ्गिरसदृष्टा एकादश आप्रियस्त्रिष्टुभः। तासां क्रमादेता देवताः—(१) इध्मः, (२) तनूनपान्नराशंसः, (३) इडः, (४) बर्हिः, (५) द्वारः, (६) उषासानक्ता, (७) दैव्यौ होतारौ, (८) तिस्रो देव्यः, (९) त्वष्टा, (१०) वनस्पतिः, (११) स्वाहाकृतय इति। एताश्च देवता यथायोगमिन्द्रविशेषणत्वेन व्याख्येयाः, इन्द्रस्यानेनानुवाकेन स्तूयमानत्वात्। इन्द्रो वृत्रं मेघं दैत्यं वा जघान हतवान् दुरो द्वाराणि च मेघस्य, स्रोतांसीति यावत्, विववार विवृतानि कृतवान्। दैत्यपक्षे पिहितानि तत्पुरद्वाराण्युद्घाटितवान्। द्वारशब्दस्य छान्दसे सम्प्रसारणे दुर इति रूपम्। कीदृश इन्द्रः? समिद्धः सन्दीप्तः। उषसामनीके मुखे प्रातःकाले पुरोरुचा अग्रे प्रसरन्त्या दीप्त्या पूर्वकृत् पूर्वां दिशं करोतीति, आदित्यात्मना पूर्वस्याः कर्ता। सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। त्रिभिर्देवैः त्रिंशता च, अर्थात् त्रयस्त्रिंशद्देवैः सह वावृधानो वर्धमानः, वृधेर्विकरणव्यत्ययेन शपः श्लुः, 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।७) इत्यभ्यासदीर्घः। वज्रबाहुः, वज्रं बाहौ यस्य स तथोक्तः। द्युस्थानोऽन्तरिक्षस्थानश्च द्विस्थान इन्द्रोऽत्र स्तुतः। उषसां यत्र मुखं तत्र द्युस्थानो भगवानादित्यः समिद्धः। पुरोरुचा अग्रगामिन्या दीप्त्या वावृधानः पूर्वकृत् स एव मध्यस्थानः, अर्थादन्तरिक्षस्थानः। त्रिभिस्त्रिंशता देवैः सहितो वज्रपाणिर्वृत्रं हत्वा द्वाराणि विविधानि विवृतान्यकरोत्।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरः, उषसामभ्युदयवेलानामनीके मुखे समिद्धो वज्रबाहुस्तमस्तोमं जघान। हत्वा च विविधानि ज्ञानानि प्रवर्तयामास। धर्ममेघसमाधेर्विविधानि स्रोतांसि विववार। पुरोरुचा अग्रे प्रसरन्त्या ज्ञानदीप्त्या वावृधानः पूर्वकृत् पूर्वसिद्धस्य ब्रह्मात्मभावस्य प्रकाशको भवति।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, पूर्वकृद्वावृधानो वज्रबाहुः सन्नुषसामनीके यथा पुरोरुचा समिद्ध इन्द्रस्त्रिभिरधिकैः त्रिंशता देवैः सह वर्तमानः सन् वृत्रं जघान, दुरो विववार, तथाऽतिबलैर्योद्धृभिः सह शत्रून् हत्वा विद्याधर्मद्वाराणि प्रकाशितानि कुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, निष्प्रमाणकाध्याहारमूलकत्वात्, पूर्वकृदित्यस्यास्पष्टत्वात्, पृथिव्यादीनां मेघनिवारणेऽनुपयोगेन तेषां सहभावस्य वैयर्थ्यात्। किञ्चोषसामनीक इत्यपि निरर्थकमेव, सूर्यस्य मध्याह्नकाले ततोऽप्यधिकमेघनाशकत्वोपपत्तेः ॥ ३६ ॥

नराशꣳसः प्रति शूरो मिमानस्तनूनपात् प्रति यज्ञस्य धाम ।
गोभिर्वपावान् मधुना समञ्जन् हिरण्यैश्चन्द्री यजति प्रचेताः ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—ऋत्विजों से स्तुति किया हुआ यज्ञ रूप, शूरता आदि गुणयुक्त, यज्ञ के स्थान को जानता हुआ, जाठराग्नि रूप से शरीर का रक्षक या सृष्टि को बढ़ाने वाला, मरीचि का पौत्र अथवा भोग्य पदार्थों को बढ़ाने वाली गौ का पौत्र, घृत रूप वृषभों के द्वारा सुन्दर कृषि वाला, अतिस्वादु मधु के समान घृत से प्रकट हुए हवि को भक्षण करने वाला, सुवर्णादि से परम धनी विशेष ज्ञानी और कर्म का ज्ञाता यजमान प्रति दिन इन्द्र का पूजन करता है ॥ ३७ ॥

अस्यामेकस्यामृचि नराशंसतनूनपातौ स्तूयेते । एतयोः सम्भूयदेवतात्वं वा पृथक् पृथग् वेति विचारणीयम् । यतो हि विशेष्यशब्दो विशेषणशब्दश्च सर्वोऽप्येकवचनान्तः । एते सर्वे हि शब्दा इन्द्रविशेषणतया योज्या इत्युक्तमेव । प्रचेताः प्रकृष्टं चेतो ज्ञानं यस्यासौ प्रचेताः, कर्मज्ञाता यजमानस्तमिन्द्रं प्रति यजति प्रत्यहं यजति । तं कम् ? इत्याकाङ्क्षायामाह—यो नराशंसो नरैर्ऋत्विग्भिरासमन्तात् शस्यते शस्त्रैः स्तूयते सः । यद्वा—'नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यः, नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति । अग्निरिति शाकपूणिः, नरैः प्रशस्यो भवति' (नि० ८।६) इति यास्करीत्या नराशंसो यज्ञस्तद्रूपस्तद्वान् वा, देवेषु हविर्वाहकोऽग्निर्वा, यज्ञस्य धाम स्थानं जानन्निति शेषः । अथवा यज्ञस्थानं प्रतिमिमानः, मिमीत इति मिमानः, प्रतिगणयन् । एकः प्रतिशब्दो मिमान इत्यनेन सम्बद्ध्यते, अपरो यजतीत्यनेन । तथा शूरः शौर्यवान् । तनूनपात् तनोति विस्तारयति सृष्टिमिति तनूः प्रजापतिर्मरीचिः, तस्य नपात् पौत्रः, कश्यपात्मज इत्यर्थः । यद्वा तनूं शरीरं न पातयति, जाठररूपेण धारयतीति तनूनपाद् अग्निस्तद्रूपः । यद्वा तनोति भोगानिति तनूः गौः, तस्या नपात् पौत्रः, घृतमिति यावत् । गोः पयो जायते, पयसो घृतमिति घृतस्वरूपस्तद्वान् वा । गोभिः गोप्रभृतिपशुसम्बन्धिनीभिः, वपावान् वपायुक्तः । मधुना मधुस्वादोपेतेन घृतेन समञ्जन् हवींषि भक्षयन्, हिरण्यैः पश्वदानभूतैः, चन्द्री चन्द्रं सुवर्णमस्यास्तीति चन्द्री, तं तादृशमिन्द्रं प्रति यजतीति सम्बन्धः । व्यवहितपदप्रायोऽयं मन्त्रः ।

अध्यात्मपक्षे—य इन्द्रः परमेश्वरः शूरः शौर्योपेतः श्रीरामः, नराशंसः नरैस्तदुपलक्षितैर्वानरैः पक्षिभिर्भुशुण्डीगरुडादिभिर्देवैश्च सदा शस्यते प्रशस्यते सः । यश्च यज्ञस्य आराधनलक्षणस्य धाम स्थानं प्रतिमिमानो जानानः, यश्च तनूनपाद् अग्निः, दनुजो वनकृशानुः, गोभिर्गोविकारैः पयोभिर्दधिघृतादिभिः, वपावान् चरुपुरोडाशादिनिर्वापवान् यज्ञादिकर्ता मधुना मधुरास्वादवता घृतेन क्षौद्रेण वा हवींषि समञ्जन् हिरण्यैस्तन्मयैर्भूषणैश्चन्द्री हिरण्यवान् तं परमात्मानं श्रीरामं प्रचेताः प्रकृष्टबुद्धिमान् भक्तः प्रतियजति प्रत्यहमाराधयति ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यो नराशंसो नरैराशस्यते यज्ञस्य धाम प्रतिमिमान उत्तमान् पदार्थान् मिमीते, शूरस्तनूनपाद गोभिर्वपावान् वपन्ति यया क्रियया सा प्रशस्ता विद्यते यस्य, मधुना समञ्जन् हिरण्यैश्चन्द्री प्रचेताः प्रतियजति सोऽस्माभिराश्रयितव्यः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सम्बोधनस्य निर्मूलत्वात्, मनुष्यसामान्यस्य स्तोतव्यत्वाश्रयितव्यत्वानुपपत्तेश्च । त्वद्रीत्या वपा च स्वयमेव क्रियेति यया क्रियया वपन्तीत्युक्तिर्निरर्थिकैव, क्रियायाः क्रियान्तरसापेक्षत्वेऽनवस्थानात् ॥ ३७ ॥

ई॒डि॒तो दे॒वैर्हरि॑वाँ२॥ अभि॒ष्टिरा॒जुह्वा॑नो ह॒विषा॒ शर्द्ध॑मानः ।
पु॒र॒न्द॒रो गो॑त्र॒भिद् वज्र॑बाहु॒रा या॑तु य॒ज्ञमुप॑ नो जुषा॒णः ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—देवताओं के द्वारा स्तुत हरि नामक घोड़ों वाला, सब यज्ञों में स्तुति पाने वाला, हवि के द्वारा आवाहन किया हुआ, अति बलवान् शत्रुओं के नगरों को विदीर्ण करने वाला, असुर कुल का नाशक, वज्रधारी इन्द्र देवता हमारे यज्ञ की आहुति को ग्रहण करने के लिये यहाँ पधारे ॥ ३८ ॥

यो देवैरीडितः पूजितः स्तुतः। हरिवान् हरी इन्द्रस्याश्वौ स्तोऽस्येति हरिवान्। अभिष्टिः, अभि अभितः समन्तादिष्टिर्यागो यस्यासावभिष्टिः, अभिगमनवान् अभ्येषणवान् वा, स्तौतेरौणादिको डिः प्रत्ययः। हविषा निमित्तेन, हविर्भक्षणार्थमिति यावत्। आजुह्वान आहूयमान ऋत्विग्भिः। शर्द्धमानः अतिबलायमानः। 'शर्ध' इति बलनाम (निघ० २।९।७)। पुरन्दरः पुरं रिपुनगरं दारयतीति पुरन्दरः। गोत्रभिद् गां भूमिं त्रायन्ते वृष्ट्येति गोत्रा मेघाः, तान् वृष्ट्यर्थं भिनत्तीति तथोक्तः। अथवा गोत्रान् गिरीन् भिनत्तीति गोत्रभित्। वज्रबाहुः वज्रधरः। एवंभूतो य इन्द्रः, सोऽस्माकं यज्ञं जुषाणः सेवमान आयातु।

अध्यात्मपक्षे—यो भगवान् इन्द्रो रामो देवैरीडितो लङ्कायां रावणवधान्ते। यः सर्वैरभितः स्तूयते सोऽभिष्टिः। हरिवान् हरयो विशिष्टा वानरा हनुमदादयो सेवकत्वेन सन्ति यस्य सः। यश्च हविषा निमित्तेन आजुह्वानो भक्तैस्तत्र तत्राहूयते। शर्द्धमानः अतिबलायमानः। पुरन्दरो लङ्कादिशत्रुपुरदारकः। गोत्रभिद् गां पृथिवीं त्रायन्ते धर्मस्थापनादिनेति गोत्रा राजकुलानि, तान् बिभर्ति स्थापयति पुष्णाति चेति गोत्रभित्, औणादिको डितप्रत्ययः। तथा च रामायणम्—'राजवंशान् शतगुणान् स्थापयिष्यति राघवः' (१।१।९६) इति। सोऽस्माकं यज्ञमाराधनमुपजुषाण आयातु।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा हरिवान् वज्रबाहुः पुरन्दरः सेनेशो गोत्रभित् सूर्यो रसानिव स्वसेनां सेवते, तथा देवैरीडितोऽभिष्टिराजुह्वानो हविषा शर्द्धमानो जुषाणो भवान्नो यज्ञमुपयातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, धर्मब्रह्मपरस्य वेदस्य सेनेशादिमनुष्यस्तुतौ तात्पर्याभावात्। हविःपदेन सद्विद्यादानप्रदानबोधनमपि विसङ्गतम्, प्रकरणविरोधात्। न च सेनेशस्य यज्ञे समागमनं प्रार्थ्यते, देवतानामेव तत्राह्वानोपयोगात् ॥ ३८ ॥

जुषाणो बर्हिर्हरिवान्न इन्द्रः प्राचीनꣳ सीदत् प्रदिशा पृथिव्याः ।
उरुप्रथाः प्रथमानꣳ स्योनमादित्यैरक्तं वसुभिः सजोषाः ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ—अश्वों से युक्त, महाकीर्तिमान्, प्रीति वाला इन्द्र देवता देवयजन भूमि की प्रदिशा में बनी हुई बर्हिशाला को लक्ष्य करके बारह आदित्य और आठ वसुओं से संयुक्त हो हमारी यज्ञशाला में आकर विशाल सुखदायक कुशा के आसन पर बैठे ॥ ३९ ॥

इन्द्रो नोऽस्माकम्, प्राचीनं प्राग्भवं प्रदेशं सीदत् सीदतु, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपः। कीदृश इन्द्रः? हरिवान् हरी स्तोऽस्येति। हरयो हरिद्वर्णा वा अश्वाः सन्त्यस्येति। पुनः कथम्भूत इन्द्रः? पृथिव्याः प्रदिशा पृथिवीं देवयजनभूमिं प्रदिशन् उपदिशन्। पृथिव्या इति द्वितीयार्थे षष्ठी। प्रदिशतीति प्रदिशा, 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति विभक्तेर्डादेशः। पुनः कथंभूतः? उरुप्रथा उरु विस्तीर्णं प्रथः प्रथनं ख्यातिर्यस्य सः, प्रथेरसुन्। पुनः कथम्भूतः? सजोषाः, जोषणं जोषः प्रीतिः, जोषसा सहितः सजोषाः सन्तुष्टः। बर्हिर्दर्भं जुषाणः, 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' इत्यस्मात् शानच्, शपो लुक्, जुषमाणः सेवमानः, इन्द्र आस्तामिति सम्बन्धः। कीदृशं बर्हिः? प्रथमानम्, प्रथते यत् तत् प्रथमानं विस्तीर्णम्, स्योनं सुखस्वरूपम्।

पुनः कीदृशम् ? आदित्यैर्वसुभिर्मरुद्भिश्च अक्तं म्रक्षितम्, बर्हिरञ्जनमन्त्रे आदित्यादीनामुक्तत्वात् । स च मन्त्रः—'सं बर्हिरङ्क्ताᳪं हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सं मरुद्भिः' (वा० सं० २।२२) इति ।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वर इन्द्ररूपेण प्राचीनं प्राग्भवं प्रदेशं सीदतु । श्रीरामपरो वा—श्रीरामः प्राचीनं नित्यसिद्धमकृत्रिमं हृदयसिंहासनं सीदद् आस्ताम् । कीदृशः श्रीरामः ? हरिवान्, हनुमदादिवानरभटैर्युक्तः, पृथिव्यां सप्तद्वीपायां प्रदिशा प्रशासकः, उरुप्रथा विस्तीर्णयशाः, सजोषाः प्रीत्या युक्तः, सदा प्रसन्न इति यावत् । बर्हिः, बृंहति अहर्निशं वर्धते यत् तत्, 'बृंहेर्नलोपश्च' (उ० २।१११) इति इसुप्रत्ययो नलोपश्च । यज्ञं भक्तकृतसाधनरूपं जुषाणः सेवमानः । कीदृशं बर्हिः ? प्रथमानं विस्तीर्णं स्योनं सुखकरम्, आदित्यैर्वसुभिरन्यैश्च देवैः, अक्तं व्यञ्जितम्, अन्तर्भावितणिजर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा बर्हिरन्तरिक्षं जुषाणो हरिवान् हरणशीलः किरणवान् आदित्यैर्वसुभिः सजोषा इन्द्रः पृथिव्याः प्रदिशा प्रथमानं प्राचीनं स्योनं सीदतु, तथा त्वं नोऽस्माकं मध्ये भव' इति, तदपि तुच्छम्, मनुष्यवर्णने वेदानां लौकिकत्वेन पौरुषेयत्वापत्तेः । सूर्यस्य सदैव पृथिव्यादिभिर्मासैश्च सहभावः, तादृशवर्णनस्य कर्तव्यत्वानुपपत्तेः ॥ ३९ ॥

इन्द्रं दुरः कवष्यो धावमाना वृषाणं यन्तु जनयः सुपत्नीः ।
द्वारो देवीरभितो विश्रयन्ताᳪं सुवीरा वीरं प्रथमाना महोभिः ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—जिनमें वायु के आने-जाने का अवकाश है और जहाँ मनुष्यों का शब्द होता रहता है, ऐसी यज्ञशाला में मनोरथों की वर्षा करने वाला इन्द्र प्राप्त हो । यजमान की दौड़ती हुई साध्वी स्त्रियों तथा सुन्दर वीर ऋत्विजों से युक्त तेज एवं उत्सवों से विस्तार को प्राप्त यज्ञशाला दिव्य गुणों से युक्त सब ओर से विस्तारित हो ॥४०॥

दुरो यज्ञगृहद्वारः, सम्प्रसारणं छान्दसम्, तत्रागतमिन्द्रं यन्तु प्राप्नुवन्तु । कीदृशमिन्द्रम् ? वृषाणं वर्षति कामानिति वृषा, तं वर्षितारम्, 'इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान्' (वा० सं० २३।४८) इति मन्त्रवर्णात् । पुनः कीदृशम् ? वीरं शूरम् । कीदृश्यो दुरः ? कवष्यः, 'कु शब्दे' आदादिकः, कुवन्ति शब्दयन्ति जना यासु ताः कवष्यः सच्छिद्राः, सच्छिद्रे स्थान एव शब्दप्रसरात्, औणादिकोऽषट्प्रत्ययः, स्तावकजनकोलाहलपूर्णा इत्यर्थः । तथा धावमाना धावन्ते स्वागतार्थमिति तथोक्ताः, आदरवत्य इति यावत् । इन्द्रसम्मानानुगुणमाङ्गलिकनारिकेलोपेतपूर्णकलशादिमत्यः । तत्रोपमानम्—जनयो जायाः सुपत्नीः शोभनाः साध्व्यः पत्न्य इव यज्ञैः सहाधिकारिण्यो जायाः स्त्रिय इव, जायतेऽस्यामिति जनिः, 'जनिघसिभ्यामिण्' (उ० ४।१३१), 'जनिवध्योश्च' (पा० सू० ७।३।३५) इति वृद्ध्यभावः, बहुवचने जनय इति । स्त्रियो यथा धावमाना यन्ति, तथा द्वार इन्द्रं यन्तु । किञ्च, इन्द्रसङ्गतिं प्राप्य द्वारो देवीर्देव्यो दीप्यमाना अभितः सर्वत्र विश्रयन्तां विशेषेण श्रयन्ताम्, ऋत्विज इति शेषः, विव्रियन्तामिति यावत् । कीदृश्यो द्वारः ? सुवीराः शोभना वीरा ऋत्विजो यासु ताः, ऋत्विग्युक्ता इत्यर्थः । महोभिस्तेजोभिरुत्सवैर्वा प्रथमाना विस्तृता भवन्त्यः, 'महस्तूत्सवतेजसोः' (अ० को० ३।३।२३१) इति कोषात् ।

अध्यात्मपक्षे—द्वारो यज्ञगृहद्वार इन्द्ररूपेण परमात्मानं श्रीरामं वा यन्तु । शेषं पूर्ववत् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा कवष्यः शब्दे साधवो वृषाणं वीरमिन्द्रं धावमाना दुरो द्वाराणि यन्तु । यथा प्रथमानाः सुवीरा महोभिः सुपूजितैर्गुणैर्द्वारो देवीः सुपत्नीरभितो विश्रयन्ताम्, तथा यूयमाचरत' इति, तदपि

यत्किञ्चित्, कवष्यो जनयो वृषाणं प्राप्नुयुरित्यस्य सङ्गतत्वेऽपि दुर इत्यनेन असम्बन्धात्। तथैव सुवीराः प्रथमानाः सुपत्नीरभितो विश्रयन्तामित्यत्रापि द्वार इति पदस्यासङ्गतिः। तथैव यूयमप्याचरतेति निर्मूलमेव। स्त्रीषु द्वारतुल्यताकल्पनापि बलात्कार एव। सूत्रब्राह्मणानुसारेण इन्द्रस्तुतिपरा मन्त्रा न स्वयंवरविधायकाः, मन्त्रेषु विधायकतानुपपत्तेः ॥ ४० ॥

उषासानक्ता बृहती बृहन्तं पयस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम्।
तन्तुं ततं पेशसा संवयन्ती देवानां देवं यजतः सुरुक्मे ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—विशाल, सुन्दर, जलयुक्त दोहनवाली और विस्तारवान् सूत्र के समान विचित्र रूप से इन्द्र को युक्त करने वाली सूर्य की प्रभा और रात्रि इस महान् पराक्रमी देवताओं के देवता इन्द्र को सुन्दर दीप्ति से युक्त करती है ॥ ४१ ॥

उषासानक्ता उषाः प्रातःकालिकी आदित्यप्रभा, नक्तं रात्रिः, उषाश्च नक्तं चेति उषासानक्ता। 'उषासोषसः' (पा० सू० ६।३।३१) इत्युषस्शब्दस्य उषासादेशः। औ विभक्तिः, विभक्तेर्डादेशो टिलोपे च रूपम्। बृहती बृहत्यौ महत्यौ बृहन्तं महान्तं शूरं विक्रान्तं देवानां देवं सर्वदेवपूज्यमिन्द्रं यजत इन्द्रेण सङ्गमं कुरुतः। यजिरत्र सङ्गतिकरणार्थः। कीदृश्यौ उषासानक्ता? पयस्वती उदकवत्यौ, अवश्यायवत्याविति यावत्। सुदुघे शोभनं दुग्धः सुदुघे साधुदोहने, 'दुहः कब्घश्च' (पा० सू० ३।२।७०) इति कपि घादेशे च रूपम्। इन्द्रं पेशसा विचित्ररूपेण संवयन्ती संवयन्त्यौ सङ्गमयन्त्यौ, इन्द्रं रूपेण योजयन्त्याविति यावत्। तत्र दृष्टान्तः—ततं तन्तुमिव यथा पटार्थं विस्तीर्णं तन्तुं कश्चित् पटरूपेण वयति तद्वत्। सुरुक्मे सुष्ठु शोभनं रुक्मं रोचनं कान्तिर्ययोस्ते सुरुक्मे।

अध्यात्मपक्षे—उषासानक्ता तूलाविद्या मूलाविद्या च, बुद्धिः प्रकृतिश्चेति यावत्। ते बृहन्तं महान्तमपरिच्छिन्नं शूरमभङ्गुरमिन्द्रं परमैश्वर्यवन्तं देवानां देवं देवैरपि पूज्यं परमात्मानं ततं पटरूपेण विस्तृतं तन्तुं सूत्रमिव पेशसा विचित्ररूपेण संवयन्तो संवयन्त्यौ, इन्द्रं परमात्मानं विचित्रप्रपञ्चरूपेण योजयन्त्यौ स्तः। कीदृश्यौ? बृहत्यौ महत्यौ पयस्वती पयस्वत्यौ कर्मसंस्कारवत्यौ। पयःपदेन पयःसमवेतानि कर्माणि। सुदुघे साधु दोहने तत्तदभीष्टं पूरयित्र्यौ सुरुक्मे शोभनदीप्तिमत्यौ, सूर्यादिहेतुत्वात्। कर्मवासनावासिततूलाविद्यामूलाविद्ये बुद्धिप्रकृती वा विशुद्धमिन्द्रं परमात्मानमनेकरूपेण विवर्तयतः। यथा कश्चित् तन्तुमेव पटात्मना परिणमयति, तथा परमात्मानमेव जगदात्मना परिणमयतः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा पेशसा संवयन्ती प्रापयन्त्यौ पयस्वती रात्र्यन्धकारयुक्ते सुदुघे बृहती वर्धमाने सुरुक्मे उपासानक्ता ततं देवानां देवं बृहन्तमिन्द्रं सूर्यं यजतः, तथा तन्तुं विस्तारकं शूरं पुरुषं यूयं सङ्गच्छध्वम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारसापेक्षत्वात्। न चोषस्शब्देन दिवसस्य बोधः, तत्र तस्याशक्तत्वात्। न च पयःशब्दस्यान्धकारोऽर्थः। यथाकथञ्चित् तथात्वेऽपि न दिनस्य अन्धकारयुक्तत्वम्, तद्वैपरीत्योपलम्भात्। न च ते इन्द्रं सूर्यं गच्छतः, सूर्यस्य सत्त्वे रात्रेरपगमात्। न वा ते सूर्यं रूपेण योजयतः, सूर्यरूपेणैव तयोः रूपवत्त्वात्। न च मनुष्यैरवश्यं कश्चिच्छूरोऽभिगन्तव्यः, वीतरागाणामन्यपुरुषनिरपेक्षत्वात्। द्वितीयान्तपदानामिन्द्रस्य विशेषणत्वेन सम्भवति योजने शूरम्पदस्य स्वातन्त्र्येणान्वयायोगात् ॥ ४१ ॥

दैव्या॒ मिमा॑ना॒ मनु॑षः पुरु॒त्रा होता॑राविन्द्रं॑ प्रथ॒मा सु॑वा॒चा ।
मू॒र्धन् य॒ज्ञस्य॒ मधु॑ना॒ दधा॑ना प्रा॒चीनं॒ ज्योति॑र्ह॒विषा॑ वृधातः ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—नाना प्रकार से यज्ञरचना करने वाले, मनुष्य होता के पहले सुन्दर वचन वाले और यज्ञ के प्रधान अंग शिरोभाग में इन्द्र को स्थापित करते हुए देवताओं के होता वायु और अग्नि पूर्व दिशा में वर्तमान आहवनीय अग्नि को मधुर हवि से बढ़ाते हैं ॥ ४२ ॥

अयं चाग्निरसौ च वायुर्मध्यमस्तौ दैव्यौ देवानामिमौ 'देवाद्यञञौ' (पा० सू० ४।१।८५, वा० ३) इति यञ्प्रत्ययः। होतारौ वाय्वग्नी प्राचीनं प्राच्यां दिशि वर्तमानं ज्योतिराहवनीयाख्यं मधुना मधुरेण हविषा कृत्वा वृधातो वर्धयतः, वृधेः 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्याट्। कीदृशौ होतारौ ? बहुधा मिमाना मिमानौ यज्ञं निर्मिमाणौ। मनुषः, मनोरपत्यं जातिश्चेत् 'मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च' (पा० सू० ४।१।१६१) इत्यञि षुगागमे छान्दसे वृद्ध्यभावे च रूपम्। अत्र प्रथमा पञ्चम्यर्थे। मानुषाद् होतुः प्रथमा आद्यौ, विभक्तेरा। सुवाचा शोभना वाग् ययास्तौ। यज्ञस्य मूर्धन् मूर्धनि प्रधानेऽङ्गे इन्द्रं दधाना स्थापयन्तौ। सर्वत्र प्रथमाद्विवचनस्य आकारः।

अध्यात्मपक्षे—सत्त्वं च क्षेत्रज्ञश्चैतौ दैव्यौ देवस्य स्वप्रकाशस्य परमात्मनः सम्बन्धिनौ होतारौ तस्याह्वातारौ प्राचीनं प्राग्भवं ब्रह्मात्मकं ज्योतिर्मधुना हविषा मधुरदृश्यात्मकहविःसमर्पणेन, वृधातो वर्धयतः, चिदग्निमण्डले मनःसंयुक्तेन्द्रियस्रुचा सर्वं दृश्यं हुत्वा तस्यापरिच्छिन्नतां पूर्णतां सम्पादयतः। कीदृशौ ? पुरुत्रा बहुधा यज्ञस्य यज्ञं निदिध्यासनलक्षणं मिमानौ निर्मिमाणौ, कर्मणि षष्ठी। मनुषो मानुषाद्धोतुः प्रथमौ सुवाचा वेदान्तलक्षणया शोभनया वाचा यज्ञस्य मूर्ध्नि प्रधानरूपेणेन्द्रं परमात्मानं दधानौ स्थापयन्तौ।

दयानन्दस्तु—'यौ दैव्यौ देवेषु भवौ मिमाना निर्मातारौ होतारौ दातारौ सुवाचा सुवाचौ यज्ञस्य मूर्धन् प्रथमा वर्तमानौ पुरुत्रा मनुषो दधाना मधुना हविषा प्राचीनं ज्योतिरिन्द्रं वृधातः, तौ सर्वैर्मनुष्यैः सत्कर्तव्यौ' इति, तदपि यत्किञ्चित्, दैव्याविति द्विवचनस्यातन्त्रत्वात्, मधुना हविषा प्रकाशैश्वर्ययोरनुपपत्तेः ॥ ४२ ॥

ति॒स्रो दे॒वीर्ह॒विषा॒ वर्ध॑माना॒ इन्द्रं॑ जुषा॒णा जन॑यो॒ न पत्नीः॑ ।
अच्छि॑न्नं॒ तन्तुं॒ पय॑सा॒ सर॑स्वती॒डा दे॒वी भार॑ती वि॒श्वतू॑र्तिः ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—दीप्यमान सर्वगामिनी वाणी की अधिष्ठात्री भारती शुभ गुणों के कारण स्तुति के योग्य पुष्टियुक्त साध्वी स्त्रियों के समान इन्द्र या यजमान की सेवा करती हुई तीनों देवियाँ दूध और हवि से यज्ञ को विघ्नरहित करें ॥ ४३ ॥

यास्तिस्रः सरस्वती, इडा, भारती च देवी देव्यो हविषा आज्येन वर्धमाना जनयो न पत्नीः पत्न्यो यज्ञसम्बन्धिन्यो जाया इव इन्द्रं जुषाणाः सेवमानास्ता अच्छिन्नं तन्तुमविस्रस्तं निर्विघ्नं यज्ञं पयसा हविषा, कुर्वन्त्विति शेषः। पुनस्ताः कीदृश्यः ? देवी देव्यो दीप्यमानाः, विश्वतूर्तिः सर्वत्र तूर्णगामिन्यः। इदं विशेषणद्वयं तिसृणामपि।

अध्यात्मपक्षे—सरस्वती वाग्देवता तत्सम्बन्धिनी नाडी तदुपलक्षिता सुषुम्ना च, इडा प्रसिद्धा चन्द्रनाडी, भारती आदित्यप्रभारूपा सूर्यनाडी, एतास्तिस्रो नाड्यो जनयो न पत्नीः साध्व्यो जाया इव इन्द्रं दीप्तिमन्तं जीवात्मानं जुषाणाः सेवमानाः पयसा आज्यादिलक्षणेन हविषान्नेन वर्धमाना तन्तुं जीवनयज्ञमच्छिन्नमविघ्नं सम्पादयन्तीत्यर्थः। कीदृश्यस्ताः ? देवी दीप्यमाना विश्वतूर्तिर्विश्वस्मिन् त्वरते तूर्णं गच्छतीति। एतासां पुष्टौ जीवति क्षीणतायां च क्षीयते जीवात्मा।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, या विश्वतूर्तिर्विश्वस्मिंस्त्वरमाणा देवी सरस्वती प्रशस्तविज्ञानवती इडा स्तुत्या भारती धारणपोषणकर्त्री च तिस्रोदेवीर्देव्यः, पयसा शब्दार्थसम्बन्धेन हविषा दानादानेन प्राणेन वा वर्धमाना जनयो जनयित्र्यः पत्नी न इव छिन्नं तन्तुमिन्द्रं जुषाणाः सन्ति, ता यूयं सेवध्वम्' इति, तदपि न सङ्गतम्, कास्ता इत्यस्पष्टत्वात्। न च शक्त्य एव ताः, तासां स्वातन्त्र्येण ज्ञानवत्त्वभरणपोषणकर्तृत्वायोगात्। न वा दानादानसमर्थाः, तयोश्चेतनधर्मत्वात्। न च पयःशब्देन शब्दार्थसम्बन्धरसार्थता, न वा शब्दार्थसम्बन्धानां रसरूपता, प्रमाणशून्यत्वात्। तासां विद्युत्सेवनमपि प्रमाणसापेक्षमेव ॥ ४३ ॥

त्वष्टा दधच्छुष्ममिन्द्राय वृष्णेऽपाकोऽचिष्टुर्यशसे पुरूणि।
वृषा यजन् वृषणं भूरिरेता मूर्धन् यज्ञस्य समनक्तु देवान् ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—अतिप्रशंसनीय, अर्चनशील, सब ओर से गमन करने वाला, मनोरथों की वृष्टि करने वाला, परम वीर्यवान्, सबका उत्पादक त्वष्टा देवता यज्ञ के निमित्त सेचन करने वाले इन्द्र के लिये बहुत बलशाली और धर्मसम्पन्न इन्द्र का पूजन करते हुए यज्ञ के शिरोभाग आहवनीय में देवताओं को तृप्त करे ॥ ४४ ॥

त्वष्टा, त्वक्षति करोति रूपमिति त्वष्टा, 'त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः' (नि० ८।१३), देवो यज्ञस्य मूर्धन् मूर्ध्नि शिरसि तद्रूप आहवनीये देवानाहवनीयात्मना स्थितान् समनक्तु भोजयतु, अन्तर्भावितणिजर्थो द्रष्टव्यः। कीदृशस्त्वष्टा ? यशसे यशस्विने वृष्णे सेक्त्रे इन्द्राय पुरूणि भैषज्यान्यकरोत्। वचनव्यत्ययो वा, पुरु बहु शुष्मं बलं दधद् धारयन्। तथा अपाकः, पाक इति प्रशस्यनामसु (निघ० ३।८।८), न विद्यते पाकः प्रशस्यो यस्मात् सः, परमप्रशस्तस्त्वष्टा। 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' (पा० सू० २।२।२४, वा० २) इति समासः। अचिष्टुरञ्चनशीलः; सर्वत्र गत इति यावत्। वृषा वर्षिता वृषणं सेक्तारमिन्द्रं यजन् पूजयन्। भूरिरेता भूरि बहु रेतो वीर्यं यस्य स सर्वजनकः।

अध्यात्मपक्षे—त्वष्टा सर्वकर्ता परमेश्वर इन्द्राय दीप्तिमते इन्द्राय उरु बहु शुष्मं बलं दधद् धारयन् यज्ञस्य मूर्धन् मूर्ध्नि यज्ञादिप्रधानकर्मनिमित्तं देवान् इन्द्रियाणि समनक्तु भोजयति। कीदृशस्त्वष्टा ? अपाकः सर्वश्रेष्ठः, अचिष्टुः सर्वत्राञ्चनशीलः सर्वगतः, भूरिरेताः सर्वकारणः। कीदृशाय इन्द्राय ? वृष्णे सेक्त्रे, यशसे यशस्विने।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, यथा त्वष्टा विद्युदिव वर्तमानो विद्वान् वृषा सेक्ता इन्द्राय परमैश्वर्याय वृष्णे परशक्तिबन्धकाय शुष्मं बलम्, अपाकोऽप्रशस्यः, अचिष्टुः गमनकर्ता, यशसे पुरूणि बहूनि दधद् भूरिरेता वृषणं मेघं यजन् सङ्गच्छमानो यज्ञस्य सङ्गतस्य जगतो मूर्धन् मूर्ध्नि देवान् समनक्तु कामयताम्' इति, तदप्यसङ्गतम्, त्वष्टृपदस्य विद्युत्तुल्यविद्वदर्थे मानाभावात्। इन्द्रशब्दस्य परमैश्वर्यवत्त्वार्थकत्वेऽप्यैश्वर्यमात्रं लक्षणामन्तरा नार्थः।

सा च तात्पर्यानुपपत्तिरूपबीजसापेक्षा। वृष्ण इत्यस्य परमैश्वर्यरोधनार्थतापि चिन्त्यैव। यो यशसे पुरूणि बहूनि धारयति, यश्चात्यन्तबहुवीर्यः, स कथमप्रशस्य इत्यपि चिन्तनीयम्। कश्च स तादृशो यो मेघं सङ्गच्छते, यश्च विदुषः कामयताम्? जगत उत्तमभागः कः? किमर्थं च तत्रैव विद्वांसः काम्याः? इत्यादिप्रश्नपरम्परा अनिराकाङ्क्षैव। अतः सर्वस्याप्येतस्य गौणार्थस्याश्रयणं निर्मूलमेव। काव्यकोषादिषु देवेन्द्रादिशब्दा अर्थविशेषेषु प्रसिद्धाः। कथङ्कारं तेषामपलापः?॥ ४४॥

वनस्पतिरवसृष्टो न पाशैस्त्मन्या समञ्जञ्छमिता न देवः।
इन्द्रस्य हव्यैर्जठरं पृणानः स्वदाति यज्ञं मधुना घृतेन॥ ४५॥

मन्त्रार्थ—यूप देवता यज्ञ के समान, आज्ञा दिये हुए के समान, पाशों से अपने को युक्त करती हवियों के द्वारा इन्द्र के उदर को पूर्ण कर मधुर रस और घृत के द्वारा यज्ञ का आस्वादन करता है॥ ४५॥

वनस्पतिस्तद्विकारो यूपो देवो दीप्यमानो मधुना मधुररसेन घृतेन आज्येन च युक्तं यज्ञं यागं स्वदति स्वदतु आस्वादयतु समनक्तु वा। कीदृशो वनस्पतिः? अवसृष्टो न आज्ञप्त इव पाशैः कृत्वा त्मन्या आत्मनि समञ्जन् पशुं संयोजयन्। आत्मन्शब्दस्य आदेराकारस्य 'मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः' (पा० सू० ६।३।१४१) इति लोपे विभक्तेर्यादेशे च रूपम्। कथमिव? शमिता न देवः, यथा शमिता मृत्युदेवता पाशैः पशुमात्मनि संयोजयति, तद्वद् वनस्पतिरप्यात्मनि पशुं संयोजयति। तथा इन्द्रस्य जठरमुदरं हव्यैः पृणानः पूरयन् वनस्पतिर्यज्ञं स्वदति।

अध्यात्मपक्षे—वनस्पतिर्यूपभावापन्नः परमेश्वरः, अवसृष्ट इव यज्ञं स्वदातीति पूर्ववदेव व्याख्यानम्। यद्वा वनस्पतिर्यमलार्जुनौ वृक्षत्वेन एकत्वविवक्षया एकवचनम्, देवः पाशैर्बद्धं यज्ञं विष्णुं कृष्णमात्मनि समञ्जन् संयोजयन् मधुना घृतेन मधुरेण घृतगन्धिस्नेहेन यज्ञं कृष्णं स्वदाति माधुर्यसौन्दर्यसौरस्यसौगन्ध्यादिविशिष्टस्य माधुर्यादिकमास्वादयति। कथमिव? शमिता न शमं गच्छन्निव। ध्यानादिबलेन शमं गच्छन्नुपासकः परमेश्वरस्य कृष्णस्य जठरं हव्यैर्दध्योदननवनीतादिभिः पृणानः पूरयन् भक्त्या तमात्मनि योजयति, तद्वत्।

दयानन्दस्तु—'यः पाशैर्वनस्पतिर्वनस्य वृक्षसमूहस्य पतिः पालकः, अवसृष्ट आज्ञप्तः पुरुष इव त्मन्या आत्मना समञ्जन् सम्पृचानो देवो दिव्यसुखदाता शमिता यज्ञो न यज्ञ इव इन्द्रस्य ऐश्वर्यस्य जठरं पृणानो हव्यैरत्तुमर्हैः, मधुना क्षौद्रेण घृतेनाज्येन च सह यज्ञं कुर्वन् खादति, स रोगहीनो भवति' इति, तदपि यत्किञ्चित्, गौणार्थाश्रयणाध्याहारमूलकत्वात्। वनस्पतिशब्दश्च—'अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः' (१।४७) इति मनुसंहितारीत्या न्यग्रोधाश्वत्थादिविशिष्टवृक्षेषु रूढः। रूढिमपहाय वृक्षसमूहपालके मनुष्ये प्रयुञ्जानस्य शाब्दन्याये सर्वथा निरङ्कुशत्वमेव द्योतयति। दृढबन्धनैश्च कथं वक्षसमूहस्य पालनमित्यपि तन्मनःस्थमेव। आत्मना कस्य सम्पर्को विवक्षितः? शमिता यज्ञः कथम्? इन्द्रस्य जठरमैश्वर्यस्य कोशं पूरयन् हव्यैरत्तुमर्हैर्मधुना घृतेन च यज्ञं कुर्वन् स्वदाति, स रोगहीनो भवतीत्यादिकं सर्वं सापेक्षमेव, पूर्वोक्तदोषदूषितं च॥ ४५॥

स्तोकानामिन्दुं प्रति शूर इन्द्रो वृषायमाणो वृषभस्तुराषाट्।
घृतप्रुषा मनसा मोदमानाः स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्॥ ४६॥

मन्त्रार्थ—शूरवीर, शत्रुओं के ऊपर गरजने वाला, वृष्टि का प्रेरक, शत्रुजयी इन्द्र तथा स्वाहाकार घृत के बिन्दु से भी मन में प्रसन्न होते हुए मरणधर्मरहित देवता घृतबिन्दु युक्त सोम से तृप्त हों॥ ४६॥

इन्द्रः स्वाहा, देवाः, नामैकदेशे नामग्रहणम्, स्वाहाकृतयो देवाश्च मादयन्तां तृप्यन्तु, 'मद तृप्तियोगे' चौरादिकः। किमुद्दिश्य ? स्तोकानामिन्दुं प्रति, स्तोका वपासम्बन्धिनो घृतबिन्दवः, तत्सम्बन्धी य इन्दुः सोमस्तं प्रति, तमुद्दिश्येति यावत्। इह वपास्तोकेषु सोमत्वमारोप्यते, वपास्तोकरूपं सोममुद्दिश्य इन्द्रः स्वाहाकृतयश्च तृप्यन्तामित्यर्थः। कीदृश इन्द्रः ? शूरः शौर्यवान्, वृषायमाणो वृषवदाचरति वृषायते, वृषायते यः स वृषायमाणः, शत्रून् प्रति गर्जन्नित्यर्थः। वृषभः, वर्षति कामानिति वृषभः, 'ऋषिवृषिभ्यां कित्' (उ० ३।१२३) इत्यभच्-प्रत्ययेन साधुः, वर्षिता। तुराषाट् तूर्णं सहतेऽभिभवति शत्रूनिति तुराषाट्। कीदृशाः स्वाहाकृतयः ? घृतप्रुषा प्रुष्णाति स्नेहनं करोति पूरयति वेति प्रुट्, सम्पदादिभ्यः क्विप्, घृतस्य प्रुड् घृतप्रुट्, तेन घृतबिन्दुनापि मनसा मोदमानाः, सन्तुष्टा इति यावत्। अमृताः, नास्ति मृतं मरणं येषां ते तथोक्ता अमरणधर्माणः। आचार्योव्वटरीत्या तु वपास्तोकानां सम्बन्धिनमिन्दुं सोमं प्रति गमनाय शूरो विक्रान्तो वृषायमाणस्तुराषाट् स इन्द्रः स्वाहाकृतिभिर्मादयतां तृप्यतु। घृतप्रुषा घृतावयवेन च मनसा मोदमाना हृष्यन्तः स्वाहा स्वाहाकृतिभिर्देवा अमृता अमरणधर्माणो मादयन्तां तृप्यन्तु।

अध्यात्मपक्षे—स्तोकानां रससिन्धुबिन्दूनां सम्बन्धिनमिन्दुं चन्द्रं प्रति गमनाय शूरो विक्रान्तो वृषायमाणस्तुराषाट् स्वाहा सर्वस्वात्मनिवेदनैः सह मादयताम्। घृतप्रुषा घृतबिन्दुभिः, इन्द्रावयवभूता देवा अपि घृतगन्धिस्नेहेन तद्युक्तेन मनसा मोदमाना हृष्यन्तु, स्वाहाकारैः सर्वसमर्पणैः सह अमृताः सन्तो मादयन्ताम्।

दयानन्दस्तु—'यथा वृषायमाणो वृषभस्तुराषाट् तुरान् सहते यः स शूर इन्द्रः स्तोकानामिन्दुं प्रत्यानन्दति, तथा घृतप्रुषा प्रकाशसेविना मनसा स्वाहा सत्यक्रियमा च मोदमाना अमृता देवा मादयन्ताम्' इति, तदपि तुच्छम्, घृतप्रुषा मनसा प्रकाशसेविना विज्ञानेनेति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात्, मनःपदस्य विज्ञानार्थत्वायोगात्। घृतशब्दस्य कथञ्चित् प्रकाशार्थत्वेऽपि प्रुषेत्यस्य सेवार्थता निर्मूलैव। भावार्थस्तु सर्वथा मूलार्थासंस्पर्शीत्यलं परकीयरन्ध्रान्वेषणेन ॥ ४६ ॥

आयात्विन्द्रोऽवस उप न इह स्तुतः सधमादस्तु शूरः।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात् ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—जिस इन्द्र के पूर्वकाल में किये हुए वृत्रवध आदि पराक्रमों की स्वर्ग में चर्चा होती रहती है और जो कभी तिरस्कृत न होने वाले हमारे क्षात्र तेज को पुष्ट करता है, वह शूरवीर, स्तुति करने से वृद्धि को प्राप्त हुआ इन्द्रदेव हमारी रक्षा के लिये यहाँ आवे, इस यज्ञ में देवताओं के साथ आकर भोजन करे ॥ ४७ ॥

'याज्यानुवाक्याश्च वपा-पशु-पुरोडाशानामायात्विन्द्र इति' (का० श्रौ० १९।६।१३)। वपा-पशु-पुरोडाशानां याज्यानुवाक्या वर्ण्यन्ते। 'आयात्विन्द्रः' (२०।४७) इति वपायाः पुरोऽनुवाक्या, 'आ न इन्द्रो दूरात्' (२०।४८) इति याज्या, 'आ न इन्द्रो हरिभिः' (२०।४९) इति पशुपुरोडाशस्य पुरोऽनुवाक्या, 'त्रातारमिन्द्रम्' (२०।५०) इति याज्या, 'इन्द्रः सुत्रामा' (२०।५१) इति पशुयागे पुरोऽनुवाक्या, 'तस्य वयम्' (२०।५२) इति याज्येति सूत्रार्थः। सप्त त्रिष्टुभ इन्द्रदेवत्याः। इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तो देवो नोऽस्माकमुप समीपे, अवसे अवितुम्, तर्पणाय रक्षणाय वा आयातु। 'तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्' (पा० सू० ३।४।९) इति तुमर्थेऽवतेरसेन्प्रत्ययः। इहयागे सन् अस्माभिः स्तुतः सधमात् सह देवैः सार्धं मादयति तृप्यतीति सधमात् सहभोजनकर्तास्तु,

'सधमादस्थयोश्छन्दसि' (पा० सू० ६।३।९६) इति सहशब्दस्य सधादेशः। कीदृश इन्द्रः? शूरः शौर्यगुणोपेतः। स्तुतोऽस्माभिः। स्तुत्या स्वबलैर्वा वावृधानो वर्धमानः। यस्य इन्द्रस्य पूर्वीस्तविषीः पूर्वास्तविष्यः, पूर्वाणि कृतानि बलानि वृत्रवधादयः पराक्रमाः, द्यौर्न स्वर्ग इवोच्चैः कथ्यन्ते, तविषीति बलनाम (निघ० २।९।१०), 'तविषीति बलनाम, तवतेर्वा वृद्धिकर्मणः' (निरु० ९।२५)। तुधातुः सौत्रः 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' (पा० सू० ७।३।९५) इति सूत्रे पठितो गतिवृद्धिहिंसार्थकः। यद्वा द्यौः स्वर्गो यथा स्तूयते तथेन्द्रस्य पराक्रमाः स्तूयन्ते। यश्चेन्द्रः क्षत्रमस्मदीयमभिभूति अभिभवितृ अभिभवनशीलं क्षतत्राणकरं क्षत्रं पुष्यात् पुष्णाति, स इन्द्र आयात्विति सम्बन्धः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमात्मा अवसेऽवनाय तर्पणाय वा नोऽस्माकं समीपे आयातु आगच्छतु, श्रीरामादिविग्रहवान् भूत्वेत्यभिप्रायः। इहागत्यास्माभिः स्तुतः सन् सधमात् सह स्वपरिकरैः सार्धं मादयतीति तथोक्तः, सहभोजनोऽस्तु। स च कीदृशः? शूरो विक्रान्तः। वावृधानः प्रतिक्षणं नवनवायमानबलेन वर्धमानः। यस्य पूर्वीस्तविषीः पूर्वाणि रावणवधादीनि बलानि, द्यौरिवोच्चैर्वसिष्ठवाल्मीक्यादिभिः स्तूयन्ते, यश्च क्षत्रं क्षतात् त्राणकरं क्षात्रं धर्मं पुष्यात् पुष्यति, स आयात्वित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'य इन्द्र इह स्तुतः शूरः पूर्वीस्तविषीः सेनाः पूर्वीः पूर्वैर्विद्वद्भिः सुशिक्षयोत्तमाः कृता वावृधानोऽत्यन्तं वर्धमानो यस्याभिभूति शत्रूणामभिभवनकर्त्री क्षत्रं राज्यं द्यौर्न द्यौरिव वर्तते, यो नः पुष्यात्, सोऽस्माकमवसे उपायातु, सधमात् समानस्थानाद् अस्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। तथाहि—पूर्वीति-पदस्य पूर्वैर्विद्वद्भिः सुशिक्षयोत्तमाः कृता इति व्याख्यानं कथमिवोपपद्यते? पूर्वशब्दस्य तादृशेऽर्थेऽशक्तत्वात्। तविषीति पदमपि न सेनापरम्, प्रमाणशून्यत्वात्। क्षत्रं राज्यमित्यपि निर्मूलम्। अभिभूतिपदं शत्रूणामभि-भवकर्त्रीति त्वया व्याख्यातं कस्य विशेषणम्? न तविषीरित्यस्य, वचनवैषम्यात् ॥ ४७ ॥

आ न इन्द्रो दूरादा न आसादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः सङ्गे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून् ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ—मनोरथों को पूर्ण करने वाला, उत्कृष्ट गुणों वाला, अतितेजस्वी, बलशाली, मनुष्यों का पालन करने वाला, वज्रधारी, एक अथवा अनेक बड़े-बड़े संग्रामों में शत्रुओं का नाश करने वाला इन्द्र हमारी रक्षा के लिये सुदूर स्वर्ग से यहां आवे, हमारे निकट इस यज्ञस्थल पर विराजमान हो ॥ ४८ ॥

इन्द्रो दूराद् द्युलोकादेः, नोऽस्माकमासाद् अन्तिकाच्च आयासद् आगच्छतु, आ उपसर्गो यासदित्यनेन सम्बद्ध्यते। यदि दूरे द्युलोकादौ यदि वान्तिके यत्रैव भवेत्तत एवागच्छत्वित्यर्थः। आसादित्यन्तिकनामसु (निघ० २।१६।२), यातेर्लेटि 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्यडागमे, 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० सू० ३।१।३४) इति सिपि च रूपम्। किमर्थमागच्छत्विति चेत्, तत्राह—अवसेऽवितुमस्माकं रक्षणं कर्तुम्। कीदृश इन्द्रः? अभिष्टिकृद् अभिष्टिमभिलाषं करोति पूरयतीति तथोक्तो मनोऽभिलषितकार्यकारी। उग्र उच्यति समवैति महापुरुषानित्युग्रः, उत्कृष्ट इत्यर्थः। 'उच् समवाये' दैवादिकात्, 'ऋज्रेन्द्र' (उ० २।२९) इत्यादिना रन्प्रत्ययः, चकारस्य गकारश्चादेशः। ओजिष्ठेभिस्तेजस्वितमैर्बलैः, युक्त इति शेषः। ओजोऽस्त्येषां त ओजस्विनः। 'अस्माया-मेधास्रजो विनिः' (पा० सू० ५।२।१२१) इति विनिः, अतिशयेन ओजस्विन ओजिष्ठाः, 'विन्मतोर्लुक्' (पा० सू० ५।३।६५) इति विनो लुक्, तैरतिशयतेजस्विभिः। नृपतिर्नृणां पालकः। वज्रबाहुर्वज्रं बाहौ यस्य सः।

सङ्गे एकस्मिन् संग्रामे समत्सु बहुष्वपि संग्रामेषु युगपदुत्थितेषु। सङ्गे (निघ० २।१७।८), समत्सु (निघ० २।१७।२२) इत्युभे अपि संग्रामनामनी। पृतन्यून् पृतनामिच्छन्ति पृतन्यन्ति, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा० सू० ३।१।८) इति क्यचि, 'कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः' (पा० सू० ७।४।३९) इत्यन्त्यलोपे, 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युप्रत्यये पृतन्युरिति रूपम्, शत्रून्। तुर्वणिः, तुर्वतीति तुर्वणिर्हन्ता। एवंभूत इन्द्रः समायात्वित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरो रामः, नोऽस्माकं दूराद् दूरदेशात् साकेतलोकादेरासाद् निकटप्रदेशाच्च, आयासद् आगच्छतु। किमर्थम्? अवसे अवितुं भक्तान् रक्षितुम्। अभिष्टिकृद् भक्ताभिलषितकार्यकारी, उग्रः शत्रूणां दर्पदलनादा ओजिष्ठेभिरोजस्वितमैर्लक्ष्मणहनूमदङ्गदादिभिः सेवितः, नृपती राजा वज्रबाहुरनिवारणीयबाणबाहुः, सङ्गे द्वन्द्वयुद्धे रावणेन सह समत्सु सामूहिकयुद्धेषु पृतन्यून् शत्रून् तुर्वणिर्हन्ता।

दयानन्दस्तु—'योऽभिष्टिकृद् अभिष्टिं सर्वत इष्टिं सुखं करोति सः, वज्रबाहुर्नृपतिरोजिष्ठैरुग्रस्तुर्वणिरिन्द्रो नोऽवसे समत्सु सङ्गे दूरादासादायासन्नोऽस्मान् पृतन्यून् सततमारक्षेद् मानयेच्च, सोऽस्माभिरपि सदा माननीयः' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्याहारादिमूलकत्वात्, औपचारिकत्वाच्च। नहि कस्यचिद्बाहू वज्रवद् दृढौ भवतः। न वा अजिष्ठा योद्धारो मनुष्येषूपलभ्यन्ते। सङ्गे प्रसङ्गे इत्यप्यश्लिष्टमेव। न च तुर्वणिरित्यस्य शीघ्रं शत्रुहन्तेत्यर्थः सम्भवति, 'तुर्व हिंसायाम्' इति धातोर्निष्पन्नत्वात्। आरक्षेन्मानयेच्चेत्यपि निर्मूलमेव॥ ४८॥

आ न॒ इन्द्रो॒ हरि॑भिर्या॒त्वच्छा॑र्वाची॒नोऽव॑से॒ राध॑से च।
तिष्ठा॑ति व॒ज्री म॒घवा॑ विर॒प्शीमं य॒ज्ञमनु॑ नो॒ वाज॑सातौ॥ ४९॥

मन्त्रार्थ—परिपूर्ण धन वाला महान् वज्रधारी इन्द्र हमारी रक्षा के निमित्त और धन देने के निमित हरि नामक अश्वों के साथ भली प्रकार से हमारे सामने आवे। हमारे इस यज्ञ में अन्न का भण्डार बनाकर यहाँ रहे, अर्थात् धन-धान्य से हमारी रक्षा करे॥ ४९॥

इन्द्रोऽर्वाचीनोऽर्वागञ्चनशीलोऽच्छाभिमुखः सन् नोऽस्मान् हरिभिर्हरितवर्णैरश्वैरायातु। किमर्थम्? अवसे, अवनमवः, 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इत्यसुन्, तस्मै रक्षणाय। राधसे धनाय अन्नाय च। आगत्य च वज्री इन्द्रो नोऽस्माकमिमं यज्ञमनु प्रति वाजसातौ अन्नसम्भजने निमित्ते तिष्ठाति तिष्ठतु, लेट्। कीदृश इन्द्रः? मघवा मघं धनमस्त्यस्येति। विरप्सी विविधं रपति लपति यः स विरप्शी महान् विरमणशीलो वा। विरप्शीति महन्नामसु (निघ० ३।३।२२)।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरः, अर्वाचीनः सर्वोत्कृष्टोऽपि सन् करुणया भक्तोद्धरणे अर्वागञ्चनशीलो भवति। नोऽस्मानच्छ हरिभिर्हनुमदादिवानरैः सह आयातु। किमर्थम्? अस्मानवसे रक्षितुम्। अन्नाय अभीष्टभोग्यप्रापणाय वा। राधसे धनाय ब्रह्मविद्यारूपधनाय। आगत्य चास्माकमिमं यज्ञमाराधनलक्षणमनु प्रति वाजसातौ अन्नसम्भजने निमित्ते तिष्ठाति तिष्ठतु, अन्नविभाजननिमित्तेन तिष्ठतु। कीदृश इन्द्रः? वज्री वज्रोपमास्त्रः, मघवा अनन्तब्रह्माण्डैश्वर्ययुक्तः, विरप्शी महान् स्वरूपतो गुणतश्च निरतिशयमहत्त्वोपेतः।

दयानन्दस्तु—'यो मघवा विरप्शी अर्वाचीनो वज्री इन्द्रो हरिभिर्नोऽवसे राधसे च वाजसातौ तिष्ठाति तिष्ठतु, स इमं यज्ञमच्छान्वयातु' इति, तदप्यसङ्गतम्, अनुपपत्तेः। तथाहि—नहि वज्रीतिपदस्य शस्त्रविद्याकुशल इत्यर्थः, न च सेनापतिरैश्वर्यदाता भवति, राज्ञ एवैश्वर्याधिपतित्वात्। न वा स निरतिशयैश्वर्यवान् भवति, तस्य राजाधीनत्वात्। न वा हरिशब्दस्य सुशिक्षितोऽश्वोऽर्थः, निष्प्रमाणत्वात् ॥ ४९ ॥

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳ हवे हवे सुहवꣳ शूरमिन्द्रम्।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रꣳ स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—रक्षक इन्द्र को मैं बुलाता हूं, प्रत्येक यज्ञ में यजमान की रक्षा करने वाले सुख से बुलाने योग्य शूरवीर इन्द्र का आह्वान करता हूं। सम्पन्न आहुतियों के द्वारा पूजित इन्द्र का आह्वान करता हूं। धनवान् इन्द्र हमारा कल्याण करें ॥ ५० ॥

गर्गदृष्टा। त्रातारं रक्षितारमिन्द्रमवितारं प्रीणयितारमिन्द्रम्। हवे हवे प्रत्याह्वानं प्रतियज्ञं वा सुहवं सुखेन हूयत आहूयत इति सुहवः, तम्। शूरं शौर्योपेतं शक्रम्, शक्नोति कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुमिति शक्रः, 'स्फायि ....' (उ० २।१३) इत्यादिना शके रक्प्रत्ययः, तं समर्थम्। पुरुहूतं पुरुभिर्बहुभिर्हूयत इति पुरुहूतस्तं बहुभिराहूतमीदृशमिन्द्रं ह्वयामि आह्वयामि। मघवा धनवानिन्द्र आहूतः सन्नोऽस्मभ्यं स्वस्ति अविनाशं धातु दधातु करोत्वित्यर्थः। विकरणव्यत्ययः।

अध्यात्मपक्षे—यमिन्द्रं परमेश्वरं वेदास्तज्ज्ञाश्च त्रातारं रक्षितारमवितारं तर्पयितारं कथयन्ति, यं च हवे हवे सुहवं शोभनाह्वानं शूरं विक्रान्तं शक्रं शक्तं समर्थं च वदन्ति, तमीदृशमिन्द्रमहं ह्वयामि। स आहूतः सन्नेत्य नोऽस्मभ्यं स्वस्ति क्षेमं कल्याणं धातु दधातु, करोतीति यावत्।

दयानन्दस्तु—'हे सभाध्यक्ष, यं हवे हवे त्रातारमवितारमिन्द्रं दुष्टविदारकं सुहवं शूरमिन्द्रमैश्वर्यदातारं शक्रं पुरुहूतं शूरमिन्द्रं राज्यं कारयितारं त्वां ह्वयामि, स मघवेन्द्रो नः स्वस्ति दधातु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सभाध्यक्षस्य मनुष्यमात्रस्य तादृग्विशेषणानुपपत्तेः, वेदस्य धर्मब्रह्मपरत्वेन मनुष्यपरत्वायोगात् ॥५०॥

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ२॥ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—भली-भाँति रक्षा करने वाला धनवान् सर्वज्ञ इन्द्र हमें अन्न प्रदान कर सुखी करें, हमारे दुर्भाग्य को दूर करें, हमें अभय प्रदान करें। हम श्रेष्ठ धन के और पुत्रों के स्वामी हों ॥ ५१ ॥

सुत्रामा सुष्ठु त्रायते रक्षतीति सुत्रामा साधुत्राणः, 'त्रैङ् पालने' इति धातोः 'आतो मनिन्क्वनिप्वनिपश्च' (पा० सू० ३।२।७४) इति मनिन्प्रत्यये सुत्रामा। स्ववान् स्वं धनमस्यास्तीति तथोक्तः, विशिष्टधनोपेतः। 'दीर्घादटि समानपादे' (पा० सू० ८।३।९) इति नकारस्य रुत्वे, 'आतोऽटि नित्यम्' (पा० सू० ८।३।३) इत्यनुनासिके च रूपम्। विश्वं सर्वं वेदो धनं यस्य स विश्ववेदाः। अवोभिरन्नैः सुमृडीकः शोभनसुखकारी भवतु। अव इत्यन्ननामसु (निघ० २।७।९)। 'मृडः कीकन्कङ्कणौ' (उ० ४।२५) इति 'मृड सुखने' इति

तौदादिकात् कीकन्प्रत्यये मृडीक इति। सुष्ठु शोभनं मृडीकं सुखं यस्मात् सः। किञ्च, स इन्द्रो द्वेषो दौर्भाग्यं बाधतां निवर्तयतु, अभयं च भयाभावं च कृणोतु करोतु। किञ्च, हे इन्द्र! त्वत्प्रसादाद् वयं सुवीर्यस्य शोभनाश्च ते वीराश्च सुवीराः पुत्रादयः, तेभ्यो हितं सुवीर्यम्, तस्य धनस्येति यावत्, पतयः स्वामिनः स्याम भवेम।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रः परमेश्वरः सुत्रामा, पूर्ववदेव विशेषणानामाञ्जस्येन परमात्मन्येव सङ्गतेः। देवविशेषोऽपि तदनुगृहीत एव सुत्रामा स्ववांश्च भवति।

दयानन्दस्तु—'यः सुत्रामा स्ववान् इन्द्रः, अवोभिर्न्यायपुरःसरै रक्षणादिभिः प्रजा रक्षेत्, स द्वेषो बाधतामभयं कृणोतु, स्वयमपि तादृश एवं विश्ववेदाः समग्रधनो भवतु, यतो वयं सुवीर्यस्य पतयः स्याम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्ये राजनि सभाध्यक्षे वा तदसम्भवात्, समग्रधनत्वासम्भवादिति यावत्॥ ५१॥

तस्य॑ व॒यꣳ सु॑म॒तौ य॒ज्ञिय॒स्यापि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म।

स सु॒त्रामा॒ स्ववाँ॑२॥ इन्द्रो॑ अ॒स्मे आ॒राच्चि॒द् द्वेषः॑ सनु॒तर्यु॑योतु॥ ५२॥

मन्त्रार्थ—यज्ञ का सम्पादन करने वाले हम लोगों को इन्द्र की सुमति प्राप्त हो, कल्याण रूप श्रेष्ठ मन से हम सम्पन्न हों, अर्थात् हमारे मन को इन्द्रदेव सुमति और कल्याण से युक्त करें। सबकी भली-भाँति देखरेख करने वाला वह धनवान् इन्द्र हमसे दूर रहकर भी हमारे सभी दुर्भाग्यों का नाश कर दे॥ ५२॥

तस्य सुत्राम्ण इन्द्रस्य सुमतौ सानुग्रहायां बुद्धौ वयं स्याम भवेम। तथा भद्रे कल्याणरूपे सौमनसे सुमनसो भावे शोभनमनस्कत्वेऽपि वयं स्याम। सोऽस्मासु शोभनां बुद्धिं शोभनं भद्रं मनश्च करोत्वित्यर्थः। कीदृशस्येन्द्रस्य? यज्ञियस्य यज्ञाय हितस्य यज्ञसम्पादिनः। स सुत्रामा सुरक्षकः स्ववान् धनवानिन्द्रः, अस्मे अस्मत्तः, आराच्चिद् दूरादपि वर्तमानं द्वेषो दौर्भाग्यं सनुतरन्तर्हितं कृत्वा युयोतु पृथक्करोतु। सनुत इति निर्णीतान्तर्हितनामसु (निघ० ३।२५।३)। निर्णीतं बहिर्नीतं निर्गतमन्तर्हितं वा। यद्वा दूरे वर्तमानं दौर्भाग्यादिकं प्रकटं कृत्वा युयोतु पृथक्करोतु।

अध्यात्मपक्षे—तस्येन्द्रस्य परमात्मनः सुमतौ शोभनायां मतौ वयं स्याम। तदनुगृहीतबुद्धिगोचराणां पावित्र्यमुक्तम्। 'यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वार्थगोचरा। तद्दृष्टिगोचराः सर्वे पूता एव न संशयः॥' इत्याप्तोक्तेः। किमु वक्तव्यं परमात्मन एव शोभनमतिगोचराणां कृतार्थत्वे? तस्यैव यज्ञियत्वमपि, तन्नामोच्चारणेनैव यज्ञव्यङ्गतानिवारणात्, 'यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥' इत्युक्तेः। तस्य सौमनसं भद्ररूपं भद्रकरम्। तत्सम्बन्धेनापि जीवानां कृतकृत्यता भवति। स एवानायासेन सर्वरक्षकः, सङ्कल्पमात्रेण सर्वपालकत्वात्। तस्य स्मरणमेव दौर्भाग्यनाशकमभयकरं च। किं पुनस्तस्यैव तत्सम्पादने प्रवृत्तस्य स्थात्वे? स एवानन्तैश्वर्यवानिन्द्रोऽस्मत्त आराच्चिद् दूरादपि वर्तमानं द्वेषो दौर्भाग्यमन्तर्हितं प्रविलापितं कृत्वा युयोतु समूलघातं हन्तु।

दयानन्दस्तु—'यः सुत्रामा स्ववानिन्द्रः सभेशः, अस्मै द्वेष आराच्चिद् सनुतर्युयोतु, तस्य पूर्वोक्तस्य सभेशस्य राज्ञः सुमतौ भद्रे सौमनसेऽप्यनुकूलाः स्याम। सोऽस्माकं राजा तस्य वयं प्रजाश्च' इत्यादिकम्, तदपि मन्दम्, मनुष्ये सभेशे तदसम्भवात्। नहि तस्य परिच्छिन्नायां मतौ सर्वे जना भवितुं शक्नुवन्ति। इन्द्रः पितृवद्वर्तमान इत्यर्थोऽपि निर्मूलः॥ ५२॥

ओं मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः ।
मा त्वा केचिन्नियमन् विं न पाशिनोऽतिधन्वेव तांर।। इहि ।। ५३ ।।

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र ! गंभीर हिनहिनाहट वाले और मयूर के समान रोम वाले अपने घोड़ों के साथ आप यहां पधारिये । आते समय आपको कोई भी बाधा न पहुँचा सके । जैसे पाशधारी बहेलिये पक्षी को पकड़ते हैं, उसी तरह से आप भी मरुभूमि के सभी विघ्नों को बांध कर हमारे इस यज्ञ में आइये ।। ५३ ।।

विश्वामित्रदृष्टा बृहती । तृतीयो द्वादशार्णोऽन्ये त्रयः पादा अष्टार्णाः । आमन्द्रैः, एवेत्—इत्यनयोर्ऋचो-र्विनियोगाभावः । लैङ्गिको विनियोगोऽवगन्तव्यः । हे इन्द्र, त्वं मन्द्रैर्गम्भीरह्रेषारवैः, मयूररोमभिर्मयूरस्येव रोमाणि येषां तैः, हरिभिर्हरिद्वर्णैरश्वैरायाहि । किञ्च, ये केचिदस्मद्विरोधिनस्ते आगच्छन्तं त्वा त्वां मा नियमन् नियच्छन्तु मा निबध्नन्तु । कथमिव ? पाशिनः, पाशोऽस्ति येषां ते पाशप्रतिबन्धका आखेटकिनो व्याधा वा, विं शकुनिमिव । यथा व्याधादयः पाशिनः शकुनीन् निबध्नन्ति, तथा त्वां मा केचन निबध्नन्त्वित्यर्थः । अथ ये परिपन्थिनो भवेयुः, तानतिक्रम्य इहि आगच्छ । किमिव ? धन्व इव । धन्व निरुदकदेशः । यथा पान्थो निरुदकदेशमतिक्रम्य गच्छति तथा ।

अध्यात्मपक्षे—भक्ता भगवन्तमाह्वयन्ति । सोत्कण्ठं तदागमनं प्रतीक्षमाणाः प्रतिबन्धकान् कल्पयन्त-स्तदतिक्रमणं कल्पयन्ति । हे इन्द्र परमैश्वर्योपेत भगवन्, त्वं मयूररोमभिर्हरिद्वर्णैरचिन्त्यरूपैरश्वैरायाहि । त्वां केचिद् विघ्नकारका विं शकुनिं पाशिन इव मा नियमन् मा निबध्नन्तु । यथा निरुदकं मरुमतीत्य पान्थः सुदेशमागच्छति, तथा त्वं प्रतिबन्धकानतीत्य अस्मान् इहि आगच्छ ।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र सेनेश, एवं मन्द्रैर्मयूररोमभिर्हरिभिस्तान् शत्रून् विजेतुं याहि । त्वां पाशिनो विं न पक्षिणमिव केचिन्मा नियमन् । त्वमतिधन्वेवेहि' इति, तदपि मन्दम्, अध्याहारादिदोषयुक्तत्वात् । शत्रून् विजेतुं याहीत्यंशस्य मन्त्रेऽभावात्, सेनापत्यादिव्यवहारस्य लौककत्वेनापौरुषेये वेदे तदयोगात् ।। ५३ ।।

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः ।
स नः स्तुतो वीरवद्धातु गोमद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।। ५४ ।।

मन्त्रार्थ—परब्रह्म के स्वरूप पर विचार करने में लगे हुए महर्षिगण इसी प्रकार मन्त्रों के द्वारा मनोरथ पूर्ण करने वाले वज्रधारी इन्द्र की अर्चना करते हैं । हमारी स्तुति से प्रसन्न हुए इन्द्र पुत्र-पौत्र आदि संतति और पशुधन से हमें सम्पन्न करें । हे ऋत्विजों ! आप लोग अनेक कल्याणों को देने वाली स्तुतियों से निरन्तर हमारी रक्षा करें ।। ५४ ।।

वसिष्ठदृष्टा इन्द्रदेवत्या त्रिष्टुप् । वसिष्ठासो वसिष्ठा वसिष्ठापत्यानि बहूनि, यद्वा वस्तृतमा ऋषयः, अर्कैरर्चनीयैर्मन्त्रैरेव, इत् पादपूरणः, इन्द्रम् अभ्यर्चन्ति । कीदृशमिन्द्रम् ? वृषणं वर्षितारम् । वज्रबाहुं वज्रहस्तम् । स इन्द्रः स्तुतः सन् वीरवद् वीराः पुत्रपौत्रादयो विद्यन्ते यत्र तादृशं गोमद् गोयुक्तं धनं नोऽस्मभ्यं धातु दधातु । विकरणव्यत्ययः । एवं पादत्रयेण इन्द्रं स्तुत्वा ऋत्विज आह—हे ऋत्विजः, यूयं स्वस्तिभि-रविनाशैः सदास्मान् पात रक्षत ।

अध्यात्मपक्षे—वसिष्ठासो वसिष्ठापत्यानि तद्गोत्रपुरुषाः, उपलक्षणमेतत्, अन्येऽपि मुनयः, एव इद् एवमेव अर्कैर्मन्त्रैरिन्द्रं परमात्मानमभ्यर्चन्ति पूजयन्ति। कीदृशम्? वज्रबाहुं वज्रवद् दृढौ बाहू यस्य तं विग्रहवन्तं विष्णुं रामं कृष्णं वा वृषणमभीष्टवर्षितारम्। स एवं स्तुत इन्द्रो वीरवद् गोमद् धनं नोऽस्मभ्यं धातु। 'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥' (भा० पु० १।३।१०)। एवं त्रिभिः पादैर्भगवन्तं स्तुत्वा याजयितॄनाह—हे याजका गुरवः, यूयं सदा स्वस्तिभिः क्षेमैः प्राप्तज्ञानवैराग्यादिरक्षाभिर्नः पात रक्षत। 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥'

दयानन्दस्तु—हे वसिष्ठासः, अतिशयेन वसवः ये वृषणं वज्रबाहुमर्कैर्विद्वांसोऽर्चन्ति, तमेव यूयमर्चत। स स्तुतो नो गोमद् वीरवद्राज्यं धातु। यूयं स्वस्तिभिः कल्याणकरैः कर्मभिः सदा पात' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अनुपपत्तेः। तथाहि—वसिष्ठास इत्युपस्थितं कर्तृपदमुपेक्ष्य य इति कर्तृपदकल्पनस्य निर्मूलत्वात्। तमेव यूयमर्चतेति वाक्यकल्पनमपि निर्मूलमेव। वीरवद् गोमद्राज्यं यो धारयति, स एव सभेशो भवतीति धारकस्यैव धारणप्रार्थनमपि निरर्थकमेव। रागास्पदस्य प्रापणोपदेशोऽपि व्यर्थ एव, रागतो नित्यप्राप्तत्वात्॥ ५४॥

समिद्धो अ॒ग्निर॑श्विना त॒प्तो घ॒र्मो वि॒राट् सु॒तः।

दु॒हे धे॒नुः सर॑स्वती॒ सोम॑ᳫं शु॒क्रमि॒हेन्द्रि॒यम्॥ ५५॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारो! अग्नि प्रज्वलित हुई, प्रवर्ग्य तप गया, विराजमान सोम अभिषुत हुआ, सभी को तृप्त करने वाली धेनुरूप सरस्वती देवी ने इस यज्ञ में शुद्ध इन्द्रियों के निमित्त बलदायक सोम को दुहा॥ ५५॥

'आप्रियश्च समिद्धो अग्निरश्विनेति' (का० श्रौ० १९।६।१५)। समिद्ध इत्याद्या द्वादशर्चोऽनुष्टुभश्चकारात् त्रिपशोः प्रयाजयाज्या इति सूत्रार्थः। विदर्भिदृष्टाऽश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्या आप्रीसंज्ञा द्वादशानुष्टुभः। अश्विनौ देवानामध्वर्यू। तौ प्रति होता प्राह—हे अश्विना अश्विनौ, समिद्धः सन्दीप्तः, अग्निर्हविःक्षपणसमर्थोऽस्ति। घर्मः प्रवर्ग्यः, तप्तोऽस्ति। विराड् विविधं राजमानः सोमः सुतोऽभिषुतः। धेनुः, धिनोति प्रीणाति तर्पयतीति धेनुः, धिवेरौणादिको नुः, वलोपो गुणश्च, प्रीणयित्री सरस्वती इह यज्ञे सोमं दुहे दुग्धे प्रपूरयति। 'दुह प्रपूरणे' इत्यस्माल्लटि तङि प्रथमैकवचने टेरेत्वे, 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा० सू० ७।१।४१) इति तकारलोपे, 'दुहे' इति रूपम्। कीदृशं सोमम्? शुक्रं शुक्लं शुद्धम्। पुनः कीदृशम्? इन्द्रियम्, इन्द्राय हितम्, बलकरमिति यावत्। एतावता यज्ञसम्पत्तिरस्ति युवामागच्छतमिति।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्विनौ, सीतारामौ वा पार्वतीपरमेश्वरौ वा सम्बोध्य भक्तः प्राह—अग्निः प्रेमाग्निः, विरहाग्निर्वा समिद्धः। घर्मः, जिघर्ति क्षरति नश्यति आमूलचूलं पापं येन स घर्मो ध्यानम्। तप्त ऐश्वर्यस्य परां काष्ठां प्राप्तः। विराड् विविधरूपेण राजमानमन्तःकरणं सुतो द्रुतः। धेनुः सरस्वती सर्वविधपापतापशामकं नामोच्चारणं शुक्रमिन्द्रियं शुद्धमात्महितकारि दुहे दुग्धे। एवं सर्वापि समागमनप्राकट्यसामग्री सम्पन्ना, अतः शीघ्रमागच्छतम्, मा विलम्बं कुरुतम्।

दयानन्दस्तु—'यथेह धेनुः सरस्वती शास्त्रविज्ञानयुक्ता वाक् शुक्रं सोममैश्वर्यमिन्द्रियं च दोग्धि, तथैतमहं दुहे। अश्विनौ शुभगुणव्याप्तौ स्त्रीपुरुषौ। तप्तो विराट् सुतः समिद्धो घर्मोऽग्निर्यथा विश्वं पाति, तथाहमेतत् सर्वं रक्षेयम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, लुप्तोपमालङ्कारच्छलेन निष्प्रमाणाध्याहारमूलकत्वात्। अश्विनौ स्त्रीपुरुषावित्यपि प्रमाणशून्यमेव। घर्मपदं यज्ञपरमित्यपि चिन्त्यम्। इन्द्रियं धनमित्यादिकमप्यश्लिष्टमेव॥ ५५॥

तनूपा भिषजा सुतेऽश्विनोभा सरस्वती ।
मध्वा रजांऽसीन्द्रियमिन्द्राय पथिभिर्वहान् ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—शरीर के रक्षक वैद्य दोनों अश्विनीकुमार और सरस्वती देवी मधु से लोकों को पूर्ण करती हैं। सोम का अभिषव होने पर उसको इन्द्र की इन्द्रियों की वृद्धि के निमित्त ये देवता मार्ग में उस सोम का वहन करते हैं ॥ ५६ ॥

उभा अश्विना उभौ अश्विनौ सरस्वती सुते अभिषुते मध्वा मधुना रजांसि लोकान् दुहते पूरयन्ति । पूर्वर्चो 'दुहे' इत्यस्य 'दुहते' इति वचनव्यत्ययेनेहानुषङ्गः । रजःशब्दोऽत्र लोकवाची । तथा चाह यास्कः—'लोका रजांस्युच्यन्ते' (नि० ४।१९) इति । कीदृशावश्विनौ ? तनूपा तनूः शरीराणि पात इति तनूपौ शरीररक्षितारौ । भिषजा भिषजौ वैद्यौ । किञ्च, अश्विसरस्वत्य इन्द्राय इन्द्रियं वीर्यं पथिभिर्यज्ञमार्गैर्वहान् वहन्ति । 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा० सू० ३।४।९७) इतीकारलोपे 'लेटोऽडाटौ' (पा० सू० ३।४।९४) इत्याडागमे च वहानिति रूपम् । यद्वा—तनूपौ भिषजौ उभौ अश्विनौ सरस्वती च सुतेऽभिषुते सोमे मध्वा मधुररसेन इन्द्रोपभोगाय रजांसि लोकान्, पूरयन्त्विति शेषः । इन्द्रियं वीर्यम्, इन्द्राय इन्द्राप्यायनार्थम्, पथिभिर्मार्गैर्यज्ञैर्वहान् वहन्तु ।

अध्यात्मपक्षे—तौ पूर्वोक्तावश्विनौ अश्विवत् परमसुन्दरौ तनूपौ शरीराणां पातारौ रक्षितारौ भिषजौ भवरोगवैद्यौ सरस्वती च ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री सीतोपनिषदुक्ता सीता मध्वा मधुरेण यशसा कीर्तिसुधया रजांसि लोकान् दुहन्ति पूरयन्ति । इन्द्राय जीवोपलब्धिमते इन्द्रियं वीर्यं पथिभिर्वैदिकैर्मार्गैः श्रोत्रमार्गैर्वा वहान् वहन्ति, 'प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् । धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ॥' (२।८।५), 'शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः । हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम् ॥'(१।२।१७) इति श्रीमद्भागवतमहापुराणवचनाभ्याम् ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा भिषजा तनूपा उभा अश्विना विद्यासु शिक्षितौ स्त्रीपुरुषौ सरस्वती च सरो बहु ज्ञानं विद्यते ययोस्तौ मध्वा मधुरेण द्रव्येण सुते उत्पन्नेऽस्मिन् जगति स्थित्वा पथिभिरिन्द्राय रजांसि लोकान् इन्द्रियं धनं दध्यातास्, तथैतद्वहान् वहन्तु प्राप्नुवन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सरस्वतीतिपदस्य द्विवचनान्तत्वानुपपत्तेः । पूर्वसवर्णात् सिद्धेऽपि द्विवचनान्तत्वेऽश्विनावित्यस्य 'स्त्रीपुरुषौ' इति व्याख्यानस्य निर्मूलत्वात् । अश्विनौ, भिषजौ, नासत्यौ—इतिशब्दानां देवविशेषयोः प्रसिद्धेः । तथा चाहामरसिंहः—'स्वर्वैद्यावश्विनीसुतौ । नासत्यावश्विनौ दस्रावाश्विनेयौ च तावुभौ ॥' (१।१।५१) इति । गौणार्थत्वेऽपि तद्वत् सुन्दरौ पुरुषौ विवक्षितौ, न तु स्त्रीपुरुषौ । न चात्र द्विवचनस्य स्वारस्यं व्यावृत्त्यं वा दृश्यते । सुते जगतीत्यस्यापि पदकृत्यं न पश्यामः, तदनुक्तावपि तात्स्थ्यात् । न च मनुष्या राज्ञे लोकान् धनं च धारयन्ति ॥ ५६ ॥

इन्द्रायेन्दुंऽ सरस्वती नराशंऽसेन नग्नहुम् ।
अधातामश्विना मधु भेषजं भिषजा सुते ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—सरस्वती ने यज्ञ के साथ इन्द्र के निमित्त सोम नामक महान् औषधि के कन्द को धारण किया और वैद्य अश्विनीकुमारों ने अभिषुत होने पर इस मधुर औषधि को धारण किया ॥ ५७ ॥

सरस्वती नराशंसेन, नरा आशंसन्ति प्रशंसन्ति देवान् यत्र स यज्ञः, यज्ञेन सह इन्द्राय इन्द्रार्थमिन्दुं सोमं नग्नहुं सुराकन्दं पूर्वोक्तमधाद् धृतवती। अधातामित्युत्तरार्धक्रियाया व्यत्ययेनाधादिति पूर्वार्धेऽपि योजनम्। किञ्च, भिषजौ अश्विनौ सुते सोमेऽभिषुते सति मधु मधुरं भेषजमौषधमधातां धारितवन्तौ। यद्वा सरस्वती इन्द्राय इन्द्रार्थमिन्दुं सोममभिषुणोदिति वाक्यपूर्तिः कर्तव्या। कीदृशी सरस्वती ? नराशंसेन यज्ञेन सहिता। अश्विनौ च सुते सोमे सुरायां मधुररसरूपं भेषजमधातां धारितवन्तौ। कीदृशौ तौ ? भिषजौ वैद्यौ।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्राय परमात्मने इन्दुं सोमं प्रेमामृतरसं सरस्वती विज्ञानजननी भक्तिरधाद् धृतवती। कीदृशी सा ? नराशंसेन यज्ञेन कर्मणा युक्ता सती, 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥' (वि० पु० ३।८।९) इत्युक्तेः। कीदृशमिन्दुम् ? नग्नहुं नग्ना वीतरागा अपि हूयन्ते बलादाकृष्यन्ते येन तं तादृशम्। अश्विनौ च ज्ञानवैराग्ये सुते सोमे प्रेम्णि मधु भेषजमधातां धारितवन्तौ, ताभ्यां प्रेम्णि माधुर्यातिशयाधानात्।

दयानन्दस्तु—'अश्विना भिषजेन्द्राय दुःखदारणाय सुते मधु भेषजमधाताम्। नराशंसेन नरैः स्तुतेन सरस्वती नग्नहुमिन्दुमैश्वर्यमादधातु। यो नन्दयति स नग्नः, तमाददातीति नग्नहुस्तम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विनाविति द्विवचनस्य निष्प्रयोजनत्वापत्तेः। यो नन्दयति स नन्दनो भवति न नग्नः, कथञ्चित् तत्सम्पादनं श्रुतिषु बलात्कार एव। नराशंसेन नरैः प्रशंसितेन वचनेनेत्यत्रापि किं बीजम् ? नरैः प्रशंसिता अन्येऽपि पदार्थाः सन्तीति तेन वचनग्रहणे का विनिगमनेति तव निरूपणाशक्तेः॥ ५७॥

आजुह्वाना सरस्वतीन्द्रायेन्द्रियाणि वीर्यम्।
इडाभिरश्विनाविषꣳ समूर्जꣳ सꣳरयिं दधुः॥ ५८॥

मन्त्रार्थ—इन्द्र को बुलाती हुई देवी सरस्वती और वैद्य अश्विनीकुमार इन्द्र के निमित्त चक्षु आदि इन्द्रियों और उनकी सामर्थ्य को स्थापित करते हैं। गो आदि पशुधन, अन्न, दही आदि रस और धन को भी ये स्थापित करते हैं॥ ५८॥

आजुह्वाना आह्वयतीति आजुह्वाना, 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' (पा० सू० ३।४।६) इति कालसामान्ये धात्वर्थमात्रे लिट्, लिटः कानचि सम्प्रसारणे द्वित्वे च रूपम्। अर्थाद् इन्द्रमाह्वयन्ती सरस्वती अश्विना चेन्द्राय इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि वीर्यं वीरकर्म सामर्थ्यं च सन्दधुः। इडाभिर्यज्ञियाभिर्हेतुभूताभिः पशुभिः सह इषमभीष्टमन्नं सन्दधुः, 'पशवो वा इडा' (श० १।८।१।१२) इति श्रुतेः। ऊर्जं तदुपसेचनं च दध्यादि सन्दधुः, रयिं धनं च सन्दधुः। अश्विनौ सरस्वती च इन्द्रायैतानि चक्षुरादीनि ददुरित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—आजुह्वाना परमात्मानमाह्वयन्ती सरस्वती पूर्वोक्तभक्तिमन्दाकिनी इन्द्राय दीप्तिमते भक्तायेन्द्रियाणि भगवतो दिव्यरूपदर्शनक्षमाणि चक्षुरादीनि वीर्यं सामर्थ्यं च अधात्। अश्विनौ ज्ञानवैराग्यौ भिषजौ सरस्वती च इडाभिर्वेदवेदान्तलक्षणाभिर्वाग्भिः, इषमभिलषितमन्नं भगवन्माधुर्यादिकमूर्जं दार्ढ्यं रयिं धनं च दैवीं सम्पदं सन्दधुः।

दयानन्दस्तु—'आजुह्वाना सरस्वती प्रशस्तज्ञानवती स्त्रीन्द्रायेन्द्रियाणि वीर्यं चाश्विनाविडाभिरोषधिभिरिषं समूर्जं रयिं सन्दधुः' इति, तदपि न युक्तम्, शब्दानामर्थार्पने निरङ्कुशत्वात्, इन्द्रपदस्य यथेष्टार्थाङ्गीकरणस्य निर्मूलत्वात् 'इन्द्राय पत्ये' इत्यप्यसङ्गतमेव, सर्वस्य पत्युः परमैश्वर्यवत्त्वायोगाच्च। इन्द्रियशब्दः सुवर्णादिपरः, वीर्यं घृतादिपरम्, इडाशब्द ओषधिपर इत्येतत् सर्वमर्थकरणे स्वातन्त्र्यमेव॥ ५८॥

अश्विना नमुचेः सुतꣳ सोमꣳ शुक्रं परिस्रुता ।
सरस्वती तमाभरद् बर्हिषेन्द्राय पातवे ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—अश्विनीकुमारों के द्वारा महान् औषधियों के रस के साथ अभिषुत पवित्र सोम को नमुचि असुर के पास से सरस्वती ने हरण कर लिया, उसको इन्द्र की रक्षा के निमित्त कुशाओं पर स्थापित किया ॥ ५९ ॥

अश्विनौ परिस्रुता सुरया सह सुतमभिषुतं शुक्रं शुद्धममलिनं सोमं नमुचेस्तन्नाम्नोऽसुरात् सकाशाद् आहरताम् । सरस्वती च तमेव सोमं बर्हिषा स्तरणार्थेन दर्भेण सह आभरत् आहरत्, आहृतवती । किमर्थम् ? इन्द्राय पातवे इन्द्रस्य पानार्थम् । तुमर्थे 'तुमर्थे सेसेन········' (पा० सू० ३।४।९) इति तवेङ्प्रत्ययः ।

अध्यात्मपक्षे—अश्विवत् परममनोहरे सर्वाधिव्याधिविनाशिनी ज्ञानवैराग्ये नमुचेरज्ञानरूपादसुरात् सकाशात् परिस्रुता विश्वविस्मारकेण मादकगुणेन सह सोमं प्रेमामृतं शुक्रमाहरताम् । सरस्वती भक्तिमन्दाकिनी बर्हिषा यज्ञेन तज्जन्येन शुभादृष्टेन सह तमाभरत् पोषणं कृतवती । किमर्थम् ? इन्द्रस्य परमात्मनः पातवे पानाय । प्रेमामृतभोक्ता भगवानेव ।

दयानन्दस्तु—'यौ परिस्रुता परितो गच्छन्तौ अश्विना अश्विनौ सरस्वती च बर्हिषा सुखवर्धकेन कर्मणा इन्द्राय नमुचेरसाध्यरोगस्य निवारणाय च शुक्रं सुतं सोमं सोमाद्योषधिगणं पातवे तमाभरत्, सदा तावेव सुखिनौ' इति, तदपि न, व्यक्तिविशेषस्य घटनावर्णनाय वेदस्याप्रवृत्तेः, अश्विसरस्वत्यादिपदानां त्वदुक्तार्थताया निर्मूलत्वात् ॥ ५९ ॥

कवष्यो न व्यचस्वतीरश्विभ्यां न दुरो दिशः ।
इन्द्रो न रोदसी उभे दुहे कामान् सरस्वती ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—अश्विनीकुमारों के साथ सरस्वती ने और इन्द्र ने भी दोनों द्यावापृथिवी, छिद्रयुक्त, अवकाशयुक्त यज्ञीय द्वार एवं सब दिशाओं से कामनाओं को दुहा ॥ ६० ॥

अस्यामृचि त्रयो नकाराः समुच्चयार्थीयाः । अश्विभ्यां न अश्विभ्यां च सहिता सरस्वती इन्द्रो न इन्द्रश्च उभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ कामान् दुहे दुग्धे, दुहेर्द्विकर्मकत्वात् । द्यावापृथिवीभ्यां सकाशादिन्द्रोऽश्विभ्यां सरस्वती च कामान् अभिलषितपदार्थान् प्रपूरयतीत्यर्थः । 'अकथितं च' (पा० सू० १।४।५१) इति द्वारां दिशां रोदसोश्च कर्मत्वम् । तथैव दुरो द्वारः, यज्ञगृहद्वारेभ्यो दिशो दिग्भ्यश्च सकाशात् कामान् दोग्धि । कीदृश्यो द्वारः ? कवष्यः, 'कुष निष्कर्षे', निष्कर्षो बहिर्निःसारणम् । 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इत्यसुन्प्रत्ययः षकारलोपश्च, कुषिताः सच्छिद्राः । तथा व्यचस्वतीः, व्यचनं व्यचोऽवकाशः, तद्वत्यः ।

अध्यात्मपक्षे—पूर्वोक्ताभ्यामश्विभ्यां ज्ञानवैराग्याभ्यां सहिता सरस्वती, ज्ञानवैराग्ययुक्ता भक्तिरिति यावत् । इन्द्रो भजनीयो भगवांश्च उभे रोदसी उभाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां सकाशाद् दिशो दिग्भ्यः सकाशाद् दुरो यज्ञगृहद्वार्भ्यश्च सकाशाद् भक्ताय कामान् दोग्धि । सर्वा दिशः सर्वा द्वारो द्यावापृथिव्यात्मकं सर्वं जगत् तेषां कृपया कामपूरकाणि भवन्तीत्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'सरस्वत्यहमिन्द्रो न इव अश्विभ्यां सूर्यचन्द्रमोभ्यां न इव व्यचस्वतीर्व्याप्तिमत्यः कवष्यः प्रशस्ता दिशो न इव दुरो न उभे रोदसी न वा कामान् दुहे पिपर्मि, यथा विद्युत् सूर्यचन्द्रमोभ्यां प्रशस्ता दिशो

द्वार उभे रोदसी दोग्धि, अन्धकारमपनोद्य प्रकाशेन पूरयति, भूमिप्रकाशौ धरति, तथाहं 'सरस्वती श्रेष्ठज्ञानवती कामान् पिपर्मीत्यर्थः' इति, तदप्यसङ्गतम्, विद्युतः स्वातन्त्र्यायोगेन सूर्यचन्द्रयोस्तत्करणत्वासम्भवात्, दार्ष्टान्तेऽश्विवत् करणानुपलब्धेश्च। अनुपलम्भपराहतश्च दृष्टान्तः ॥ ६० ॥

उषासानक्तमश्विना दिवेन्द्रँ सायमिन्द्रियैः।
सञ्जानाने सुपेशसा समञ्जाते सरस्वत्या ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—सरस्वती के साथ अश्विनीकुमार एकमत होकर सुन्दर रूप वाले उषाकाल, रात्रि-दिन और सायंकाल के समय इन्द्र को सामर्थ्य से संयुक्त करते हैं ॥ ६१ ॥

हे अश्विनौ, उषासानक्ता उषाश्च आदित्यप्रभा च नक्तं च रात्रिश्चेत्युषासानक्तम्। दिवा दिने सायं सायङ्काले च इन्द्रमिन्द्रियैर्वीर्यैः सह सरस्वत्या च सह समञ्जाते संश्लेषयतः। सातत्याभिप्रायमेतत्। कीदृश्यौ? सञ्जानाने सञ्जानीत इति सञ्जानाने, एकमतीभूते इत्यर्थः। सुपेशसा शोभनं पेशो रूपं ययोस्ते। शुक्लेन उषाः कृष्णेन रात्रिश्च सुरूपे।

अध्यात्मपक्षे—अश्विनाविव दिवाहनी विद्याविद्ये इन्द्रं दिवासायं रात्रिन्दिवम्। सततमिन्द्रियैर्वीर्यैरैहिकामुष्मिकाभ्युदयनिःश्रेयससादनसामर्थ्यैरिन्द्रमिन्द्रस्य परमात्मनोंऽशभूतमिन्द्रमुपलब्धिदीप्तिमन्तं समञ्जाते संश्लेषयतः। कीदृश्यौ ते? सञ्जानाने एकमतीभूते सुपेशसा सुरूपे। अविद्या विद्यासाहाय्यमाश्रित्य ऐहिकामुष्मिकाभीष्टं सम्पादयति। विद्या चाविद्यामाश्रित्यापवर्गं सम्पादयति। विद्यांशज्ञानमन्तराऽविद्याऽकिञ्चित्करी, तामन्तरा विद्याप्यकिञ्चित्कर्येव। देहबुद्ध्यादीनां श्रवणमननादीनां च आविद्यकत्वं प्रसिद्धमेव। तच्च ब्रह्मात्मसाक्षात्कारस्यापि जीवातुभूतम्।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वांसः, यथा सुपेशसाऽश्विना सरस्वत्योषासानक्तं सायं च दिवा इन्द्रियैरिन्द्रस्य लिङ्गैरिन्द्रं विद्युतं सञ्जानाने समञ्जाते प्रकटयतः, तथा यूयं प्रसिद्धयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भावानभिव्यक्तेः। सुरूपाभ्यां सूर्यचन्द्राभ्यां सुशिक्षितया वाचा प्रमातारौ कथं जीवनलक्षणैर्विद्युतं समञ्जाते प्रकटयत इति न स्पष्टम्। किमिन्द्रे जीवलक्षणानि ज्ञानानि सन्ति? न च तथात्वं तत्र दृश्यते, विद्युतो जडत्वेन तदसम्भवात् ॥ ६१ ॥

पातं नो अश्विना दिवा पाहि नक्तँ सरस्वति।
दैव्या होतारा भिषजा पातमिन्द्रँ सचा सुते ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारों! आप लोग दिन में हमारी रक्षा करो। हे सरस्वती देवी! आप हमारी रात्रि में रक्षा करें। हे देव सम्बन्धी होता एवं वैद्य अश्विनीकुमारों! सोम के अभिषुत होने पर आप सब इकट्ठे होकर इन्द्र की रक्षा करें ॥ ६२ ॥

हे अश्विना अश्विनौ, दिवा दिवसे नोऽस्मान् युवां पातं रक्षतम्। हे सरस्वति, ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्रि महाशक्ते, हे दैव्या दैव्यौ देवसम्बन्धिनौ होतारा होतारौ भिषजा भिषजौ देववैद्यौ, सुते सोमेऽभिषुते सति सचा सह एकीभूय युवामिन्द्रं पातं विस्रस्तमिन्द्रियादिसन्धानेन रक्षतम्।

अध्यात्मपक्षे—हे ज्ञानवैराग्ये, उषासानक्तं दिवारात्री विद्यादशायामविद्यादशायां च नोऽस्मान् पातं रक्षतम्'। हे सरस्वति, त्वं च नक्तं पाहि। हे दैव्यौ परमात्मसम्बन्धिनौ होतारौ जीवानां कल्याणाय आह्वातारौ, युवां सुते उत्पन्ने आविर्भूते प्रेम्णि सचा सह एकीभूय यूयमिन्द्रं पातम्।

दयानन्दस्तु—'हे दैव्यौ अश्विनौ, युवां दिवानक्तं नः पातम्। हे सरस्वति, नः पाहि। हे होतारौ, सचा भिषजा सुत इन्द्रं पातम्' इति, तदपि न सङ्गतम्, अश्विनोर्द्वित्वस्य सरस्वत्या एकत्वस्यासामञ्जस्यात्, इन्द्रपदस्य सोमलता कथमर्थं इत्यनुक्तेश्च ॥ ६२ ॥

तिस्रस्त्रेधा सरस्वत्यश्विना भारतीडा।
तीव्रं परिस्रुता सोममिन्द्राय सुषुवुर्मदम् ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ—तीन प्रकार से स्थित सरस्वती, अश्विनीकुमार और इड़ा—ये तीन देवता सोम का अभिषवण करते हैं, अर्थात् मध्यस्थान में सरस्वती, द्युलोक में भारती और पृथ्वी पर इड़ा—ये तीनों देवियाँ अश्विनीकुमारों के द्वारा महौषध के रस से युक्त अधिक हर्षित करने वाले सोम का अभिषवण करते हैं ॥ ६३ ॥

तिस्रो देव्यः, अश्विना अश्विनौ च परिस्रुता सुरया सह सोममिन्द्राय सुषुवुरभिषुतवन्तः। कास्तास्तिस्रो देव्यः? इत्यत आह—सरस्वती, भारती, इडा च। कीदृश्यस्ताः? त्रेधा स्थिता इति शेषः। सरस्वती मध्यस्थाना, भारती आदित्यप्रभा द्युस्थाना, इडा पृथिवीस्थाना। कीदृशं सोमं सुषुवुः? तीव्रं पटुतमं बुद्ध्यादिपाटवकरम्, मदं तर्पणं तृप्तिकरम्, मदजनकं वा।

अध्यात्मपक्षे—अश्विनौ, सरस्वती सुषुम्नास्था, इडा चन्द्रनाडीगता, भारती सूर्यनाडीगता तिस्रो देव्यस्त्रेधा स्थिता उद्बोधिताः परिस्रुता विश्वविस्मारकेण मादनगुणेन युक्तं सोमं प्रेमामृतरसं सुषुवुरुत्पादितवत्यः। कीदृशं सोमम्? तीव्रं सर्वेन्द्रियपाटवकरं मदं पूर्णतृप्तिजनकं च।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा सरस्वती भारती इडा तिस्रोऽश्विनौ च इन्द्राय परिस्रुता तीव्रं मदं सोमम्, त्रिधा सुषुवुः, तथा यूयमपि सुषनोत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असङ्गतेः, ओषधिरससम्पादने चैतावतामुपयोगनैरर्थक्यात्। न च वाचस्तत्रोपयोगः। सिद्धान्ते तु महाभागस्येन्द्रस्य हविरपि पूष्णो हस्ताभ्यामश्विनोर्बाहुभ्यां सम्पाद्यते। तथैव तस्य सोमाभिषवेऽपि विशिष्टानां देवीनामश्विनोश्चोपयोगः श्लिष्टतरः ॥ ६३ ॥

अश्विना भेषजं मधु भेषजं नः सरस्वती।
इन्द्रे त्वष्टा यशः श्रियꣳ रूपꣳ रूपमधुः सुते ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ—सोम का अभिषव होने पर अश्विनीकुमार ने बलवान् इन्द्र में महौषधि रस, सरस्वती ने मधुरूप औषध, त्वष्टा देवता ने कीर्ति, लक्ष्मी और अनेक प्रकार के रूप स्थापित किये ॥ ६४ ॥

अश्विनौ नासत्यौ नोऽस्मत्सम्बन्धिनी सरस्वती त्वष्टा प्रयाजदेवता च इन्द्रे एतानि वस्तूनि अधुरदधुः, स्थापयामासुः। कानीत्यत आह—भेषजमौषधं मधु मधुरूपं भेषजं च यशः कीर्तिं श्रियं लक्ष्मीं रूपं रूपं नानाविधं रूपं च, 'नित्यवीप्सयोः' (पा० सू० ८।१।४) इति रूपशब्दस्य द्वित्वम्। कस्मिन्नवसरे इति चेत्, तत्राह—सुते सोमेऽभिषुते सति।

अध्यात्मपक्षे—इन्द्रे भगवन्मार्गप्रवृत्ते जीवे अश्विनौ शास्त्राचार्यौ भेषजं सरस्वती तज्जनिता उपासनालक्षणा विद्या भेषजं पाशविककामकर्मज्ञाननिवर्तकं वैदिककामकर्मज्ञानरूपमौषधं मधु भेषजं मधुरं. भेषजम् अनुरागरसमदधुः। त्वष्टा च तैरनुकूलितो विघ्नविधाता यशः श्रियं रूपं विविधं रूपमदधात् धारितवान्। कदा चैतत् ? सुते सोमे भगवत्प्रेमाङ्कुरे जाते सति ॥ ६४ ॥

ऋतुथेन्द्रो वनस्पतिः शशमानः परिस्रुता।
कीलालमश्विभ्यां मधु दुहे धेनुः सरस्वती ॥ ६५ ॥

मन्त्रार्थ—प्रयाज देवता इन्द्र की स्तुति करता हुआ, प्रत्येक ऋतु में महौषध के रस के साथ अन्न के रस को इन्द्र के निमित्त देता है तथा अश्विनीकुमारों सहित सरस्वती धेनुरूप होकर इन्द्र के निमित्त मधु को दुहती है ॥ ६५ ॥

वनस्पतिः प्रयाजदेवः शशमानः संशममानः, स्तुवन्निति यावत्। ऋतुथा ऋतौ ऋतौ काले काले, 'ऋतौ ऋतौ काले काले' (निरु० ८।१७) इति यास्कः। परिस्रुता सुरया सह कीलालमन्नरसमिन्द्र इन्द्राय इन्द्रार्थम्। चतुर्थ्येकवचनस्य 'सुपां सुलुक्' (पा० सू० ७।१।३९) इति सुः। सरस्वती अश्विभ्यां सह धेनुर्भूत्वा मधु दुहे दुग्धे।

अध्यात्मपक्षे—वनस्पतिः, तदुपलक्षितवृक्षसमूहः, स्तुवन् परिस्रुता मादकेन गुणेन युक्तं कीलालं दिव्यमन्नरसमृतुथा यथाकालं इन्द्राय इन्द्रार्थं श्रीरामार्थं दुहे दुग्धे। अश्विभ्यां सहिता सरस्वती धेनुर्भूत्वा इन्द्राय मधु दुहे दुग्धे। भुशुण्डीरामायणादौ वर्णितं रामचरितमानसेऽपि च यद् ऋतुकालानप्रतीक्ष्यैव सर्वेऽपि तरवस्तदा श्रीरामार्थं फलिनो जाताः, अवस्थाश्चानपेक्ष्यापि।

दयानन्दस्तु—'यथा धेनुः सरस्वती परिस्रुता सहर्तुथा शशमान इन्द्रो वनस्पतिर्मधु कीलालमश्विभ्यां कामान् दोग्धि तथाहं दुहे' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्। भावार्थस्तु सर्वथापि मूलाक्षरासंस्पर्शी ॥६५॥

गोभिर्न सोममश्विना मासरेण परिस्रुता।
समधातꣳ सरस्वत्या स्वाहेन्द्रे सुतं मधु ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारों! आप लोग सरस्वती के साथ दूध, घृत आदि के द्वारा महौषधों के रस से अभिषुत मधुर सोम को इन्द्र के निमित्त स्थापित करें, जिससे कि इनकी श्रेष्ठ आहुति दी जाय ॥ ६६ ॥

हे अश्विना अश्विनौ, मासरेण पूर्वोक्तेन परिस्रुता सह गोभिर्न गोप्रभृतिपशुभिश्च सह। नश्चार्थे। सुतमभिषुतं सोमं मधु च इन्द्रे युवां समधातं समारोपयतम्। न केवलं युवामेव, किन्तु सरस्वत्या सह स्वाहा स्वाहाकृतिभिश्च प्रयाजदेवैश्च सह युवां समधातम्। यद्वा—हे स्वाहाकृतयः प्रयाजदेवाः, यूयं सरस्वत्या सह इन्द्रे सुतं मधु समधात समारोपयतेति वचनव्यत्ययः।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्विनौ सिद्धसाधकौ, युवां गोभिर्न गोविकारैर्दधिदुग्धघृतैः, मासरेण परिस्रुता च सह सोममिन्द्रे समधातम्। न केवलं युवाम्, किन्तु सरस्वत्या स्वाहाकृतिभिः सह सर्वैः सर्वभावैर्भगवानिन्द्रः समाराध्यत इत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विना, परिस्नुता मासरेण प्रमितेन मण्डेन परिस्नुता सर्वतो मधुरादिरसेन सरस्वत्या स्वाहेन्द्रे गोभिर्दुग्धादिभिः, न इव सुतं मधु सोमं युवां समधातम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ओषधिरसधारणे वाण्या सम्बन्धायोगात्। श्रुतिसूत्रविरुद्धं च मासरपदव्याख्यानम्। व्रीहिश्यामाकयोश्चरू पक्त्वा तयोरोदनयोराचामौ (उष्णोदके) 'माँड' इति भाषायाम्, पृथक् पात्रद्वये निषिच्य अवस्राव्य तदुदकं नग्नहुप्रभृतिभिश्चूर्णैः संसृज्य निदध्यात्, तन्मासरम्, तस्य चूर्णसंसृष्टस्य आचामस्य मासरमिति संज्ञा ॥ ६६ ॥

अश्विना हविरिन्द्रियं नमुचेर्धिया सरस्वती ।
आ शुक्रमासुराद्वसु मघमिन्द्रायजभ्रिरे ॥ ६७ ॥

मन्त्रार्थ—अश्विनीकुमार और सरस्वती ने बुद्धिपूर्वक नमुचि नामक दैत्य के यहाँ से इन्द्र के निमित्त शुद्ध और बलकारक हवि एवं पूजनीय धन का आहरण किया ॥ ६७ ॥

'अश्विना हविरिति तिस्रो वपानां याज्यानुवाक्याः' (का० श्रौ० १९।६।१६)। अश्विना हविरिति प्रभृति तिस्र ऋचस्तिसृणां वपानां याज्यानुवाक्याः क्रमशो भवन्तीति सूत्रार्थः। तत्प्रकारमाह—'प्रथमामनूच्य द्वितीया याज्या द्वितीयामनूच्य तृतीया याज्या तृतीयामनूच्य प्रथमा याज्या' (का० श्रौ० १९।६।१७) इति। तथा च आश्विनवपायागे 'अश्विना हविः' (वा० सं० २०।६७) इत्यनुवाक्या, 'यमश्विना' (वा० सं० २०।६८) इति याज्या, सारस्वतवपायागे 'यमश्विना' (वा० सं० २०।६८) इत्यनुवाक्या, 'तमिन्द्रम्' (वा० सं० २०।६९) इति याज्या, ऐन्द्रवपायागे 'तमिन्द्रम्' (वा० सं० २०।६९) इत्यनुवाक्या, 'अश्विना हविः' (वा० सं० २०।६७) इति याज्येति सूत्रार्थः। श्रुतिरप्येवमेवाह। तथाहि—'सर्वाः पुरोऽनुवाक्या भवन्ति सर्वा याज्याः' (श० १२।८।२।३५), तथा 'सर्वाः प्रथमा भवन्ति सर्वा मध्यमाः सर्वा उत्तमाः' (श० १२।८।२।३५) इति। अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्यास्तिस्रोऽनुष्टुभः। अश्विना अश्विनौ सरस्वती च धिया बुद्ध्या नमुचेर्नमुचिसंज्ञकादासुराद् दैत्यादिन्द्राय इन्द्रार्थमेतानि वस्तूनि आजभ्रिरे आजह्रिरे। कानि च तानीत्यत आह—हविः शुक्रं शुद्धममलिनम्, तथाविधमेवेन्द्रियं वीर्यं मघं महनीयं वसु धनं च।

अध्यात्मपक्षे—अश्विना शास्त्राचार्यौ सरस्वती तत्संस्कृता प्रज्ञा च इन्द्राय परमेश्वरांशाय जीवात्मने धिया बुद्ध्या आसुराद् नमुचेरज्ञानकार्यादहङ्कारात् सकाशात् शुक्रं निर्मलं ब्रह्मात्मस्वरूपं मघं महनीयं ज्ञानरूपं वसु धनं च आजह्रिरे। अहङ्कारेण तादृशं स्वरूपं धनमपहृतमासीत्। शास्त्राचार्यौ तज्जन्या विवेकबुद्धिश्च एतस्याहङ्कारस्य सकाशात् तत्सर्वमाहृत्य इन्द्राय दत्तवन्तः।

दयानन्दस्तु—'अश्विनौ सुवैद्यौ सरस्वती च सुशिक्षिता स्त्री धिया नमुचेरविनश्वरात् कारणाद उत्पन्नात् कार्याद् हविरादातुमर्हमिन्द्रियं मन आसुरान्मेघात् शुक्रं वीर्यं मघं पूज्यं वसु इन्द्राय ऐश्वर्याय आजह्रिरे' इति, तदपि निरर्थकमेव, अस्पष्टत्वात्, 'अविनश्वरात् कारणादुत्पन्नात् कार्यात्' इति नमुचेः पदस्य कथङ्कारमर्थ इत्यनुक्तेः। इन्द्रपदस्य ऐश्वर्यमर्थ इत्यपि निर्मूलम् ॥ ६७ ॥

यमश्विना सरस्वती हविषेन्द्रमवर्धयन् ।
स बिभेद बलं मघं नमुचावासुरे सचा ॥ ६८ ॥

मन्त्रार्थ—अश्विनीकुमार और सरस्वती ने एक मत होकर जिस इन्द्र को हवि के द्वारा बढ़ाया, उस इन्द्र ने असुर नमुचि के साथ विवाद पैदा करके बल और पूजनीय मेघ को विदीर्ण किया, अर्थात् नमुचि के द्वारा रोके गये मेघों से मनुष्यों के कल्याण के लिये वृष्टि कराई ॥ ६८ ॥

यमिन्द्रमश्विना सरस्वती च हविषा अवर्धयन् स इन्द्रो नमुचौ आसुरे सचा नमुचिना असुरेण सह मघं महनीयं बलं वरणीयं मेघं बलनामानमसुरं बिभेद विदारितवान्। सचेत्यव्ययं सहार्थे। तद्योगाच्च विभक्तिव्यत्ययः। नमुचिं मेघं विदार्य वृष्टिं कारितवानित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—यमिन्द्रं जीवमश्विनौ शास्त्राचार्यौ प्रज्ञा च हविषा ब्रह्माग्नौ समर्पितेन द्रव्यरूपेण हविषा अवर्धयन्। उपाध्यपनोदनेन ब्रह्मात्मना प्रादुर्भावितवन्तः, स इन्द्रोऽपोदितनानात्वतादात्म्याध्यासो नमुचिना तत्त्वज्ञानमन्तरा न मुञ्चत्यात्मानमिति नमुचिरहङ्कारः, तेन आसुरेण असुषु अनात्मसु रमन्ते येन तदज्ञानमसुरम्, तद्भवेनाहङ्कारेण सह मघं महनीयं बलं वरं वरणीयं जननमरणाविच्छेदलक्षणं संसारं बिभेद विदारितवान्।

दयानन्दस्तु—'सचाश्विना सरस्वती च नमुचावासुरे हविषा यमिन्द्रमवर्धयन् स मघं वलं बिभेद' इति, तदप्यसङ्गतम्, मेघस्य नाशरहितकारणादुत्पत्त्यसिद्धेः। कोऽयमिन्द्रो यं हविषा अश्व्यादयो वर्धयन्ति, यश्च बलं भिनत्ति। यस्य विभेदनेन नाशः क्रियते स कथं पूज्यः? पूज्यस्य च कथं विनाशः क्रियते? तस्मात् सर्वमेतत् यत्किञ्चित्॥ ६८॥

तमिन्द्रं पशवः सचाश्विनोभा सरस्वती।
दधाना अभ्यनूषत हविषा यज्ञ इन्द्रियैः॥ ६९॥

मन्त्रार्थ—यज्ञीय कर्म में घृत आदि के अङ्गभूत पशुओं की दोनों अश्विनीकुमारों और सरस्वती ने एकमत होकर यज्ञ में उस इन्द्र के निमित्त हवि की कल्पना कर उसके बल और उत्साह को बढ़ाते हुए उसकी स्तुति की॥ ६९॥

तमिन्द्रं पूर्वोक्तगुणं पशवः कर्माङ्गभूता गोमेषाजा उभौ अश्विनौ सरस्वती च सचा सहभूताः सन्तो यज्ञे हविषा इन्द्रियैर्वीर्यैश्च दधानाः पुष्णन्तः सन्तस्तमुक्तगुणमिन्द्रमभ्यनूषत अवर्धयन्। नूषतिर्वृद्ध्यर्थ इत्युव्वटाचार्यः, अस्तुवन्निति महीधराचार्यश्च। 'णू स्तवने' तौदादिकः।

अध्यात्मपक्षे—तं पूर्वोक्तगुणमिन्द्रं पशवस्तदुपकरणभूता देहेन्द्रियादयः, अश्विनौ सरस्वती च पूर्वोक्ता यज्ञे परमेश्वराराधनलक्षणे ब्रह्माग्नौ समर्पितेन हविषा दधानाः पुष्णन्तः, अभ्यनूषत अभिवर्धयन्ति।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, सचाश्विनोभा इन्द्रिये यमिन्द्रं दध्यातां तं सरस्वती दध्यात्। ये च पशवो दध्युस्तं हविषा दधानाः सन्तो यज्ञेऽनूषत इन्द्रियैर्धनैरिन्द्रं बलादिगुणानां धारकं सोममश्व्यादयो धारयन्तु' इति। व्याख्यानमेतन्निर्मूलम्, इन्द्रियेन्द्रशब्दयोस्तथार्थत्वे मानाभावात्। पशवश्च कथं तं धारयेयुरित्यप्यस्पष्टम्॥ ६९॥

य इन्द्रं इन्द्रियं दधुः सविता वरुणो भगः।
स सुत्रामा हविष्पतिर्यजमानाय सश्चत॥ ७०॥

मन्त्रार्थ—जिन सविता, वरुण और भग नामक देवताओं ने इन्द्र के बल को बढ़ाया, वह हवियों का स्वामी सुरक्षक इन्द्र यजमान को इच्छित पदार्थ देकर सुखी करे॥ ७०॥

'य इन्द्र इति पुरोडाशानां पूर्ववत्' (का० श्रौ० १९।६।१८)। 'य इन्द्र इति तिस्रस्त्रयाणां पशुपुरोडाशानां याज्यानुवाक्याः पूर्ववज्ज्ञेयाः। तथाहि—'य इन्द्रे' (वा० सं० २०।७०), 'सविता' (वा० सं० २०।७१) इत्यैन्द्रस्य पशोरनुवाक्यायाज्ये। 'सविता' (वा० सं० २०।७१), 'वरुणः क्षत्रम्' (वा० सं० २०।७२) इति सावित्रस्य पशोरनुवाक्यायाज्ये। 'वरुणः क्षत्रम्' (वा० सं० २०।७२), 'य इन्द्रे' (वा० सं० २०।७०) इति वारुणस्य पशोरनुवाक्यायाज्ये इति सूत्रार्थः। प्रत्येकमिन्द्र-सवितृ-वरुणदेवत्यास्तिस्रोऽनुष्टुभः। सविता वरुणो भग इति ये त्रयो देवा इन्द्रे इन्द्रियं दधुर्वीर्यं स्थापयामासुः, हविष्पतिर्हविषां स्वामी सुत्रामा शोभनत्राणकर इन्द्रः, यजमानाय यजमानम्, कर्मणि चतुर्थी, सश्चत सेवताम्, इष्टदानेन यजमानं सुखयत्वित्यर्थः। 'षच् सेवने' लोडर्थे लङ्, अडभाव आर्षः। सचतेरेव छान्दसः शकार उपजन इति देवराजयज्वा। उव्वटाचार्यरीत्या तु—ये इन्द्रे इन्द्रियं दधुस्ते सर्वे यजमानेऽपीन्द्रियं वीर्यं दधतीति वाक्यपूर्तिः कार्या। भगशब्देनात्रेन्द्रो लक्ष्यते। यजमानाय यजमानम्, पुरुषवचनव्यत्ययः। सश्चत सचतामित्यर्थः। यश्च सुत्रामा इन्द्रो हविष्पतिः, स यजमानं सश्चत सचतां सेवताम्।

अध्यात्मपक्षे—ये सविता वरुणो भग इन्द्रे जीवात्मनि इन्द्रियं वीर्यं दधुस्ते यजमानाय परमेश्वरार्चकाय इन्द्रियं सामर्थ्यं दधतीति शेषः। यो हविषां पतिः स सुत्रामा यजमानाय यजमानं सश्चत सचतामित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, य इन्द्र इन्द्रियं दधुस्ते सुखिनः स्युः। अतो ये भगो वरुणः सविता सुत्रामा हविष्पतिर्जनो यजमानो यजमानायेन्द्रियं सश्चत सेवते, स प्रतिष्ठां प्राप्नुयात्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ऐश्वर्ये धनं दधुरित्यस्य निरर्थकत्वात्। 'अतो भगो भजनीयः, वरुणः श्रेष्ठः, सविता ऐश्वर्येच्छुः, सुत्रामा होमयोग्यपदार्थानां रक्षको यज्ञकर्तारं सेवेत' इति केन किं श्लिष्यते ॥ ७० ॥

स॒वि॒ता वरु॑णो॒ दध॒द्यज॑मानाय दा॒शुषे॑ ।
आद॑त्त॒ नमु॑चे॒र्वसु॑ सु॒त्रामा॒ बल॑मिन्द्रि॒यम् ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ—सुरक्षक इन्द्र ने नमुचि नाम के असुर से धन, बल और इन्द्रियों की सामर्थ्य को जीत लिया, सविता और वरुण देवता हवि देने वाले यजमान के निमित्त धन और बल को धारण करते हैं ॥ ७१ ॥

सुत्रामा इन्द्रो नमुचेरसुरात् सकाशाद् यद्वसु धनं बलमिन्द्रियं वीर्यं च आदत्त जग्राह। सविता वरुणो भगश्च पशुपुरोडाशमन्त्रदेवाः। तन्नमुचेरानीतं वस्वादिकं यजमानाय दधद् दधतु, ददात्वित्यर्थः। कथम्भूताय यजमानाय? दाशुषे हवींषि दत्तवते। दाशति ददातीति दाश्वान्, 'दाशृ दाने' इत्यस्मात् 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' (पा० सू० ६।१।१२) इति क्वसन्तो निपातः।

अध्यात्मपक्षे—'नमुचेरसुरात् सुत्रामा इन्द्रो जीवो बलमिन्द्रियं सामर्थ्यं चादत्त जग्राह। तत्सर्वं सविता जगदुत्पादको वरुणो वरणीयो दाशुषे दानादिशीलाय यजमानाय भगवदाराधकाय दधद् ददातु। ज्ञानमार्गेण ज्ञानिनो यत्प्राप्नुवन्ति, भक्ता भगवदनुग्रहेण तदेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'वरुणः सविता सुत्रामा दाशुषे यजमानाय वसु दधतः स नमुचेर्बलमिन्द्रियमादत्ते' इति तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्। वरुणादयः किमर्थं यजमानाय वसु धारयेयुः? नमुचेर्धर्मममुक्तवतो बलं शिक्षितं मनश्च ते कथं गृह्णीयुः? न चान्यस्य बलं मनश्चान्ये ग्रहीतुं शक्नुवन्ति। सिद्धान्ते तु सवितृवरुणादयो देवा महाभाग्यवन्तः समर्था अभिप्रेयन्ते। त्वया तु देवतापलापायैव वरुण उत्तमः, सविता प्रेरकः, सुत्रामा सुरक्षको जनोऽर्थः क्रियते। न च जननमरणवन्तो जन्तवस्तत्सर्वं कर्तुं प्रभवन्ति ॥ ७१ ॥

वरु॑णः क्ष॒त्रमि॑न्द्रि॒यं भगे॑न सवि॒ता श्रिय॑म् ।
सु॒त्रामा॒ यश॑सा॒ बलं॒ दधा॑ना य॒ज्ञमा॑शत ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ—प्रहार से रक्षा करने की शक्ति, बल, ऐश्वर्य सहित लक्ष्मी को और यश के साथ सब प्रकार की सामर्थ्य को यजमान में स्थापित करते हुए सविता और इन्द्र देवता इस सौत्रामणी यज्ञ को व्याप्त करते रहते हैं ॥ ७२॥

वरुणः सविता सुत्रामा इन्द्रश्च यज्ञं सौत्रामण्याख्यमाशत भक्षितवन्तो व्याप्तवन्तो वा, 'अश भोजने', अशूङ् व्याप्तौ' इति धात्वर्थानुरोधात्, उभयत्रापि विकरणव्यत्ययः। किं कुर्वाणाः ? क्षत्रं क्षतात् त्राणसामर्थ्यमिन्द्रियं वीर्यं भगेन भाग्येन सह श्रियं लक्ष्मीं यशसा सह बलं च दधाना यजमाने स्थापयन्तः। तत्र वरुणः क्षत्रमिन्द्रियं च दधाति, सविता भाग्येन सह श्रियं दधाति, सुत्रामा यशो बलं च दधातीति विभागः।

अध्यात्मपक्षे—परमेश्वरः सर्वात्मा। स एव वरुणः सन् क्षत्रं क्षतत्राणकरमिन्द्रियं सामर्थ्यम्, सविता भूत्वा भगेन सौभाग्येन युक्तां श्रियं सम्पत्तिम्, सुत्रामा सन् यशसा सह बलमर्चके दधानोऽर्चनं गृह्णाति। तदेवं समष्टिरूपेणोच्यते—वरुणादयः क्षत्रादिकं दधाना आशत यज्ञमश्नन्ति, यज्ञमाराधनलक्षणमाशत अश्नन्ति, गृह्णन्तीत्यर्थः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा वरुणः सविता सुत्रामा सूद्योगी सभेशो भगेन सह वर्तमानं क्षत्रमिन्द्रियं श्रियं यज्ञं च प्राप्नोति, तथा यशसा बलं दधानाः सन्तो यूयमाशत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मूले यूयमिति पदाभावात्। यद्यध्याहारलब्धं यूयमिति पदम्, तदापि यशसा सह बलं दधाना इतिवत् क्षत्रमिन्द्रियं भगेन श्रियं दधाना इति कुतो न सम्बद्ध्येत ? प्राप्नोतिपदं चापि मूले नास्ति, तस्माद्वेदबाह्यमेवैतत्सर्वम् ॥ ७२ ॥

अ॒श्विना॒ गोभि॑रिन्द्रि॒यमश्वे॑भिर्वी॒र्यं᳘ बल॑म् ।
ह॒विषेन्द्र॑ᳪ᳘ सर॑स्वती॒ यज॑मानमवर्धयन् ॥ ७३ ॥

मन्त्रार्थ—दोनों अश्विनीकुमार और सरस्वती गौ आदि पशुओं के द्वारा इन्द्रियों को दक्षिणारूप शक्ति को, तथा हवि के द्वारा इन्द्र और यजमान को सब प्रकार से बढ़ावा देते हैं ॥ ७३ ॥

'अश्विना गोभिरिति च हविषाम्' (का० श्रौ० १९।६।१९)। अश्विना गोभिरिति तिस्रो हविषां याज्यानुवाक्याः। चात् पूर्ववत्। अर्थात् 'अश्विना' (वा० सं० २०।७३), 'ता नासत्या' (वा० सं० २०।७४) इत्याश्विनपशुयागे पुरोऽनुवाक्यायाज्ये। 'ता नासत्या' (वा० सं० २०।७४), 'ता भिषजा' (वा० सं० २०।७५) इति सारस्वतपशुयागे पुरोऽनुवाक्यायाज्ये, 'ता भिषजा' (वा० सं० २०।७५), 'अश्विना गोभि' (वा० सं० २०।७३) इत्यैन्द्रपशुयागे पुरोऽनुवाक्यायाज्ये इति सूत्रार्थः। अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्यास्तिस्रोऽनुष्टुभः। अश्विना अश्विनौ सरस्वती च इन्द्रं यजमानं च गोभिर्गवादिभिः पशुभिः, इन्द्रियमिन्द्रियेण, विभक्तिव्यत्ययः, इन्द्रियपाटवेन, अश्वेभिरश्वैर्दक्षिणारूपैः, वीर्यं बलं वीर्येण मनःसामर्थ्येन बलेन शरीरदार्ढ्येन हविषा पशुपुरोडाशेन च अवर्धयन्। इन्द्रस्य वर्धनं तृप्तिः, यजमानस्य वर्धनं धनपुत्रपश्वादिपुष्टिः।

अध्यात्मपक्षे—अश्विनौ सरस्वतीं च शास्त्राचार्यौ विद्या च इन्द्रं परमात्मानं यजमानं च गोविकारैर्दुग्धदध्याज्यादिभिः, इन्द्रियेण वीर्येण, अश्वैरश्वादिदक्षिणाभिः, वीर्येण मनःसामर्थ्येन, बलेन शरीरदार्ढ्येन, हविषा

पुरोडाशादिना अवर्धयन् । तत्तत्करणकमाराधनं परमेश्वरस्य तृप्त्यर्थं यजमानस्य गवादिप्राप्त्यर्थम् । तत्तद्रूपापन्नः परमात्मैव वा इन्द्रं देवं यजमानं च वर्धयति ।

दयानन्दस्तु—'अश्विना सरस्वती गोभिरश्वेभिर्हविषेन्द्रियं वीर्यं बलमिन्द्रं यजमानमवर्धयन्' इति, तदपि न, निष्प्रमाणत्वात् । अश्व्यादयोऽश्वादिभिः कथं यजमानं वर्धयिष्यन्ति ? मनुष्ये तादृशसामर्थ्याभावात् । हविषाऽङ्गीकृतेन पुरुषार्थेनेति कथमर्थः ? 'हु दानादनयोः' इति धातुरीत्याऽङ्गीकारार्थताया युक्तत्वेऽपि पुरुषार्थता कथं युक्ता ? इति सर्वत्रैव विप्रतिपत्तयः ॥ ७३ ॥

ता नासत्या सुपेशसा हिरण्यवर्तनी नरा ।
सरस्वती हविष्मतीन्द्र कर्मसु नोऽवत ॥ ७४ ॥

मन्त्रार्थ—सुवर्ण मार्ग से विचरण करने वाले, सुन्दर रूप वाले नराकार वे दोनों अश्विनीकुमार, हवि को समृद्ध करने वाली सरस्वती और हे इन्द्र, आप सब इस सौत्रामणी यज्ञरूप कर्म में हमारी रक्षा करें ॥ ७४ ॥

ता नासत्या तौ नासत्यौ न असत्यौ, किन्तु सत्यावेव अश्विनौ, सुपेशसा सुपेशसौ सुष्ठु शोभनं पेशो रूपं ययोस्तौ सुरूपौ, हिरण्यवर्तनी हिरण्यदानोपलक्षितो वर्तनिर्मार्गो ययोस्तौ, हिरण्योपलक्षितो वर्तनिर्मार्गो ययोस्तौ, यत्र पथि गच्छतस्तत्र तत्र हिरण्यमेव सम्पद्यते, नरा नरौ नृगुणयुक्तौ नराकारौ वा, हविष्मती हविरस्ति यस्याः सा, सरस्वती च कर्मसु सौत्रामण्यादियागेषु, नोऽस्मानवत अवन्तु रक्षन्तु, पुरुषव्यत्ययः । हे इन्द्र, त्वमपि कर्मसु वर्तमानान् नोऽस्मानवत अव, वचनव्यत्ययः । अत्र त्रयः पादाः परोक्षकृताः, चतुर्थस्तु प्रत्यक्षकृतः ।

अध्यात्मपक्षे—तौ रामलक्ष्मणौ नासत्यौ अश्विनाविव सुन्दरौ ध्रुवसत्यौ च । सरस्वती ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री सीता च कर्मसु कर्मफलेषु वर्तमानानस्मानवत अवन्तु । कीदृशौ तौ ? सुपेशसौ दिव्यरूपवन्तौ सुवर्णमरकतावपि यदीयद्युतिद्युतिमन्तौ, हिरण्यवर्तनी हिरण्यादिरत्नोपलक्षितलक्ष्मीलाञ्छितपन्थानौ, नरा नरौ नराकारौ । सरस्वती च कीदृशी ? हविष्मती, हविरुपलक्षितधनधान्याधिष्ठात्री महालक्ष्मीरूपा । एवं परोक्षमुक्त्वा प्रत्यक्षमेव भगवन्तं पश्यन्नृषिराह—हे इन्द्र ! परमैश्वर्ययुक्त श्रीलक्ष्मणान्वित राम, त्वं कर्मसु संसारे वर्तमानान्, उपासनात्मकेषु कर्मसु वर्तमानान् वा नोऽस्मान् अव ।

दयानन्दस्तु—'हे इन्द्र विद्वन् ! ता तौ सुपेशसा सुरूपौ हिरण्यवर्तनी हिरण्यं सुवर्णं वर्तयतो नरा सर्वगुणानां नेतारौ अध्यापकोपदेशकौ हविष्मती सरस्वती त्वं च कर्मसु नोऽस्मानवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अध्यापकादीनां रक्षायां विनियोगायोगात्, हिन्दीभाष्यविरोधाच्च । तत्र तु सुवर्णवर्तयित्री सरस्वत्यभिप्रेता । प्रसिद्धान् देवविशेषाननुपेक्ष्य मनुष्यपरत्वव्याख्यानं मन्त्राणां लोकायतीकरणमेव ॥ ७४ ॥

ता भिषजा सुकर्मणा सा सुदुघा सरस्वती ।
स वृत्रहा शतक्रतुरिन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥ ७५ ॥

मन्त्रार्थ—वे सुन्दर कर्म वाले वैद्य अश्विनीकुमार, वह कामदुघा सरस्वती और वृत्रासुर का वध करने वाला इन्द्र ऐश्वर्यवान् यजमान की इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ावें ॥ ७५ ॥

ता भिषजा तौ भिषजौ सुरवैद्यौ अश्विनौ, सा च प्रसिद्धा ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री सरस्वती, स प्रसिद्धो वृत्रहा शतक्रतुः, शतं बहूनि कर्माणि वृत्रवधादीनि यस्य स बहुकर्मा, इन्द्राय इन्द्रियं वीर्यं दधुः। ननु वृत्रहा शतक्रतुरिन्द्राय इन्द्रियं दधुरिति विरुद्धमिति, चेन्न, कल्पान्तरीय इन्द्र एतत्कल्पप्रभवाय ददातीत्यदोषः। स एकधा द्विधा बहुधापि भवेत्। यद्वा—देवानामचिन्त्यशक्तित्वेन माहाभाग्याद् दातृरूपेण पात्ररूपेण च बहुभवनं ज्ञेयम्। कीदृशौ भिषजौ ? सुकर्मणा सुकर्माणौ शोभनं चिकित्सालक्षणं कर्म ययोस्तौ। कीदृशी सरस्वती ? सुदुघा या सुष्ठु दुग्धे सा सुदुघा सुदोहना।

अध्यात्मपक्षे—ता भिषजा तौ भिषजौ भवरोगवैद्यौ सुकर्मणा सुकर्माणौ रामलक्ष्मणौ सुदुघा सुदोहना सीता सरस्वती स वृत्रहा शतक्रतुरिन्द्र इन्द्राय देवराजाय इन्द्रियं वीर्यं दधुः, रावणवधादिभिरिन्द्रस्यैव बलवृद्धेः। इन्द्रस्य रथप्रेषणेन तत्र साहाय्यमस्त्येवेत्यभेदेऽपि परस्परमुपकार्योपकारकभावः।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा तौ भिषजौ सुकर्मणा सुकर्माणौ सा सुदुघा सरस्वती स वृत्रहेव शतक्रतुरतुलप्रज्ञश्चेन्द्रायेन्द्रियं दधुः, तथा यूयमप्याचरत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, भिषजोर्द्वित्वस्य सरस्वतया एकत्वस्य च निर्निमित्तत्वापत्ते, इन्द्रशब्दस्यैश्वर्यार्थत्वस्य निष्प्रमाणकत्वाच्च ॥ ७५ ॥

युवꣳ सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपानाः सरस्वतीन्द्रं कर्मस्वावत ॥ ७६ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्विनीकुमारों और हे सरस्वती देवी ! आप सब एकमत होकर नमुचि असुर के यहाँ विद्यमान महौषधों के रसयुक्त ग्रहों को उसके यहाँ से लाकर स्वयं उसका पान करते हुए इस यज्ञ कर्म में उसकी रक्षा करें ॥७६॥

'ग्रहाणां युवꣳ सुरामं पुत्रमिवेति' (का० श्रौ० १९।६।२०)। त्रयाणां पयोग्रहाणां सुराग्रहाणां च युवꣳ सुराममिति पुरोऽनुवाक्या, 'पुत्रमिव' (मा० सं० २०।७७) इति याज्येति सूत्रार्थः। द्वे अश्विसरस्वतीन्द्र-देवत्ये अनुष्टुप्त्रिष्टुभौ। हे अश्विनौ, हे सरस्वति, युवं यूयम्, वचनव्यत्ययः, नमुचौ आसुरे दैत्ये वर्तमानं सुरामं सुरामयं ग्रहं सचा सह विपिपाना विविधं पिबन्तः सन्तः कर्मसु वर्तमाना इन्द्रमावत आसमन्ताद्रक्षत। पिपाना इत्यत्र विकरणव्यत्ययः।

अध्यात्मपक्षे—हे अश्विनाविव सुन्दरौ भवरोगवैद्यौ, सरस्वती ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री युवं यूयं नमुचौ सीतां मरणमन्तरा न मुञ्चतीति नमुची रावणः, तस्मिन्। आसुरे वैश्रवणेऽपि आसुरभावाक्रान्ते सुरामं सुष्ठु रमन्ते यस्मिन् तत् सुरामं तत्। विपिपाना विविधं पिबन्तः कर्मसु भवदीयासु वासनासु वर्तमानमिवेन्द्रं देवराजमावृत रक्षत।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विना सचा युवं हे सरस्वति त्वं च यथा नमुचौ प्रवाहेन नित्यस्वरूपे आसुरे मेघे कर्मसु सुरामं सुरम्यमिन्द्रं परमैश्वर्यमावत पालयत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, ग्रीष्मादिषु विनाशदर्शनेन मेघस्य प्रवाहरूपेणापि नित्यत्वायोगात्। अतिसुन्दरमैश्वर्यं किम् ? कथं च तन्नित्ये मेघे भवतीत्यस्यानिरूपणाच्च ॥ ७६ ॥

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दꣳसनाभिः।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र ! असुरों के सहवास से अशुद्ध हुए सोमरस को पीकर जब तुम विपत्ति को प्राप्त हुए थे, उस समय दोनों हितकारी अश्विनीकुमारों ने मन्त्रद्रष्टा महर्षियों के काव्य और कर्मों के प्रयोगों से तुम्हारी उसी

प्रकार रक्षा की थी, जैसे माता-पिता पुत्र की रक्षा करते हैं। हे इन्द्र! तुम नमुचि का बध करके रमणीय सोम रस का पान कर जब प्रसन्न हो जाते हो, तब सरस्वती वाणी तुम्हारी सेवा करती है ॥ ७७ ॥

इयं दशमेऽध्यायेऽन्तिमा कण्डिका तत्रैव व्याख्याता ॥ ७७ ॥

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशा मेषा अवसृष्टास आहुताः ।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनये चारुमग्नये ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ—अन्न-रस के पानकर्ता, सोम की आहुति को ग्रहण करने वाले, बुद्धिमानों में श्रेष्ठ अग्निदेव के लिये हे अध्वर्यु, हृदय से बुद्धि को प्रकट करो, अर्थात् मन और बुद्धि का शोधन करो। इस शुद्ध व्यवहार में घोड़े, सेवन में समर्थ वृषभ और वन्ध्या भेड़ को सुशिक्षित कर छोड़ कर पुनः ग्रहण किया जाता है ॥ ७८ ॥

'पशुस्विष्टकृतो यस्मिन्नश्वासोऽहाव्यग्न इति' (का० श्रौ० १९।६।२१)। पशुस्विष्टकृद्यागे 'यस्मिन्नश्वासः' (मा० सं० २०।७८) इति पुरोनुवाक्या, 'अहाव्यग्ने' (मा० सं० २०।७९) इति याज्येति सूत्रार्थः। द्वे अग्निदेवत्ये जगतीत्रिष्टुभौ। हे अध्वर्यो, तस्मै अग्नये हृदा मनसा सह मतिं बुद्धिं चारुं समीचीनां जनय। अग्न्यर्थं मनोबुद्धी शुद्धे संस्कृते कुरु। कथंभूतायाग्नये? कीलालपे कीलालमन्नरसं पिबतीति कीलालपस्तस्मै। यस्मिन्नग्नौ सोमपृष्ठाय सोमः पृष्ठे यस्यासौ सोमपृष्ठस्तस्मै, यस्य पृष्ठे सोमाहुतयो हूयन्त इत्यर्थः। वेधसे विदधाति शुभं करोतीति वेधाः, तस्मै शुभमतिकर्त्रे। यस्मिन्नग्नौ अश्वासः अश्वाः, ऋषभासः ऋषभाः, उक्षण उक्षाणः सेचनसमर्था वृषाः, 'वा षपूर्वस्य निगमे' (पा० सू० ६।४।९) इत्युपधादीर्घाभावः। वशा वन्ध्याः, मेषा अजाः, एते पशवोऽवसृष्टाः, अवदायावदाय चतुरवत्तेन निक्षिप्ताः, तथा आहुता आदायादायाहुताः, तस्मै अग्नये मनोबुद्धी शुद्धे कुरु इति होतुर्वाक्यमध्वर्युं प्रति।

अध्यात्मपक्षे—हे साधक, तस्मै अग्नये परमात्मने हृदा मनसा सह मतिं बुद्धिं जनय। भगवच्चरणार्पण-बुद्ध्या अनुष्ठितेन स्वधर्मेण चारुं संस्कृतां शुद्धां कुरु। कीदृशायाग्नये? कीलालपे भक्तिसमर्पितविविधान्न-रसपानकर्त्रे। सोमपृष्ठाय सोमस्य सोमात्मिकायाः प्रकृतेः पृष्ठे उपरिष्टाद् वर्तमानाय। अग्नीषोमात्मकं जगत्। तत्र सोमः प्रकृत्यात्मकः, अग्निः पुरुषात्मकः। उभयोर्योगेन विश्वमुत्पद्यते। वेधसे सर्वज्ञाय। यस्मिन् अश्वाः, ऋषभाः, उक्षाणो वशा वन्ध्याः, मेषा लोकहितार्थमवसृष्टाः संसारकार्यार्थं निर्मिताः, आहुता आसमन्ताद् गृहीत्वा दत्ताश्च।

दयानन्दस्तु—'हे विद्वन्, अश्वास ऋषभास उक्षाणो वशा मेषा अवसृष्टासः सुशिक्षिता आहुताः सन्तो यस्मिन् कार्यकराः स्युः, तस्मिन् त्वं हृदा सोमपृष्ठाय कीलालपे वेधसे अग्नये चारुं मतिं कुरु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अवसृष्टशब्दस्य शिक्षितार्थस्य निर्मूलत्वात्। सोमः पृष्ठो येन तस्मै सोमपृष्ठायेत्यपि निरर्थकम्, असङ्गतेः। सोमविद्यपृच्छकायेति हिन्दीभाष्यमपि विसङ्गतमेव, पृच्छतेः पृष्ठशब्दानिष्पत्तेः। अग्नितुल्याय विदुषे तेजस्विने कीदृशीं चारुमतिं प्रकटयेत्? प्रकृते तेन किमायातमित्यस्यास्पष्टत्वात् ॥ ७८ ॥

अहाव्यग्ने हविरास्ये ते स्रुचीव घृतं चम्वीव सोमः ।
वाजसनिꣳ रयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम् ॥ ७९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्निदेव! सब ओर से आपके मुख में हवियां दी गई हैं, जैसे कि स्रुवे में घृत और अधिषवण में सोम दिया गया है। आप हमें धन-धान्य, वीर-पुत्र, धन-ऐश्वर्य और सभी लोकों में प्रशंसित विशाल यश दीजिये ॥७९॥

हे अग्ने, यस्य ते तव आस्ये मुखे स्रुचि घृतमिव, चम्वि चम्वाम् अधिषवणचर्मणि सोम इव, तत्र यथा सोमः सर्वदा स्थितः, तद्वन्नित्यं मया तवास्ये हविरहावि हुतम्। स त्वम् अस्मे अस्मासु वाजसनिं वाजस्य अन्नस्य सनिं भोगं सुवीरं शोभनवीरोपेतं रयिं धनं प्रशस्तं लोकस्तुतं बृहन्तं महान्तं यशसं यशश्च, पुंस्त्वमार्षम्। सर्वलोकप्रसिद्धं यशः सोमं वा धेहि देहीत्यर्थः, 'यशो वै सोमो राजा' (ऐ० ब्रा० १।१३) इति श्रुतेः।

अध्यात्मपक्षे—हे अग्ने परमात्मन्, स्रुचि घृतं चम्वि सोम इव तवास्येऽग्निरूपे मुखे मया अहावि नित्यं हविर्हुतम्, त्वमस्मे अस्मासु यशआदिकं धेहि। शेषं पूर्ववत्।

दयानन्दस्तु—'हे अग्ने विद्वन्, येन त्वया सोमो हविस्ते तवास्ये घृतं स्रुचीव चम्वि यज्ञपात्रे सोम ऐश्वर्यसम्पन्नो हविरहावि, स त्वमस्मे सुवीरं प्रशस्तं यशसं वीर्यकरं बृहन्तं महान्तं रयिं धेहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्यमल्पशक्तिमन्तमल्पज्ञं जीवं प्रति तादृशप्रार्थनानुपपत्तेः, यशसं रयिमिति विशेष्यविशेषणानुपपत्तेश्च ॥ ७९ ॥

अ॒श्विना॒ तेज॑सा॒ चक्षुः॑ प्रा॒णेन॒ सर॑स्वती वी॒र्य॑म्।
वा॒चेन्द्रो॒ बले॒नेन्द्रा॑य दधुरिन्द्रि॒यम् ॥ ८० ॥

मन्त्रार्थ—दोनों अश्विनीकुमारों ने तेज के साथ नेत्रों को, सरस्वती देवी ने प्राणों के साथ सामर्थ्य को और इन्द्र ने वाणी तथा बल के साथ इन्द्रियों की शक्ति को यजमान के निमित्त स्थापित किया है, अर्थात् हवि और सोम रस को पाकर इन देवताओं ने यजमान को ये सब शक्तियाँ प्रदान की हैं॥ ८० ॥

'प्रतिगरिष्यत्युपविष्टेऽध्वर्यो शोꣳसावेत्याहूय' (का० श्रौ० १९।६।२६)। त्रयस्त्रिंशवसाग्रहसादनानन्तरमध्वर्योर्होतुः पुरस्तात् प्रतिगरार्थमुपवेशनमुक्तम्। तदाह—प्रतिगरिष्यतीत्यादिना। प्रतिगरिष्यत्यध्वर्यौ पुर उपविष्टे सत्यध्वर्यो शोꣳसावो३म् इत्याहूय 'अश्विना तेजसेत्यनुवाकꣳ शꣳसति' (का० श्रौ० १९।६।२६), आश्विनमनुवाकं 'अश्विना तेजसा चक्षुः' (वा० सं० २०।८०) इत्येकादशर्चं शस्त्रं होता शंसेत्। प्रथमान्त्ये ऋचौ त्रिः शंसनीये मध्यस्थानां त्रयाणां तृचानामादिष्वाहावः कार्य इति सूत्रार्थः। अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याऽनुष्टुप्। आद्यः पादोऽष्टार्णः, द्वितीयो नवार्णः, तृतीयः षडर्णः, चतुर्थोऽष्टार्णः। अश्विना अश्विनौ तेजसा सह चक्षुरिन्द्रियमिन्द्राय दधुर्दधतुः। सरस्वती प्राणेन सह वीर्यमिन्द्राय दधौ ददौ। इन्द्रः कल्पान्तरीयो बलेन सह वाचमिन्द्रियमिन्द्राय एतत्कल्पभवाय ददौ। सर्वापेक्षया दधुरिति बहुवचनम्।

अध्यात्मपक्षे—अश्विसरस्वतीन्द्रभावापन्नः परमेश्वर इन्द्राय रूपादिदीप्तिमते जीवाय चक्षुरादीनि ददौ।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा सरस्वती अश्विनौ अध्यापकोपदेशकौ इन्द्रः सभेश इन्द्राय जीवाय प्राणेन जीवनेन वीर्यं पराक्रमं तेजसा चक्षुः प्रत्यक्षमिन्द्रियं वाचा बलेनेन्द्रियं जीवचिह्नं दधुस्तथा धरन्तु' इति, तदपि यत्किञ्चित्, मनुष्येषु प्राणनेत्रादिधारणसामर्थ्यायोगात्, उपदेशानर्थक्याच्च। नहि मनुष्याणामायत्तं प्राणादिधारणम्, सति तथा मरणाद्यनुपपत्तिः॥ ८० ॥

गोम॑दू॒ षु णा॑सत्याश्वा॑वद्यातमश्विना। व॒र्ती रु॑द्रा नृपाय्य॑म् ॥ ८१ ॥

मन्त्रार्थ—हे सत्यव्यवहारयुक्त अश्विनीकुमारों, हे दुष्टों को रुलाने वालों! आप लोग अवश्य ही गायों और अश्वों से युक्त वर्तमान मार्ग से इस सोम रस का पान करने के लिये इस यज्ञ में आओ, अर्थात् यजमान ने इस यज्ञ में गायों और अश्वों का दान किया है, अतः इनकी सहायता से आप लोग यहाँ पधारें॥ ८१ ॥

गृत्समददृष्टा अश्विदेवत्यास्तिस्रो गायत्र्यः। आद्या पादनिचृद् गायत्री, 'त्रयः सप्तकाः पादनिचृत्' (४।४) इति द्वादशकाण्डीपरिभाषायामृग्वेदसर्वानुक्रमण्यां कात्यायनवचनात्। उ, सु, निपातौ पादपूरणार्थौ। ऊषुणा सत्या, 'उ' इति निपातः, तस्य 'इकः सुञि' (पा० सू० ६।३।१३४) इति दीर्घः, 'सुञः' (पा० सू० ८।३।१०७) इति सकारस्य षत्वम्, 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' (पा० सू० ८।४।३) इति नासत्यघटकनकारस्य णत्वम्। हे नासत्या नासत्यौ, हे अश्विना अश्विनौ, हे रुद्रा रुद्रौ शत्रूणां रोदयितारौ, वर्तिः वर्त्या मार्गेण, विभक्तिव्यत्ययः। युवां नृपाय्यम्, नृभिः पीयते सोमो यस्मिन् स नृपाय्यो यज्ञः, तम्। 'क्रतौ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ' (पा० सू० ३।१।१३०) इत्यत्र कुण्डशब्देन नृशब्दोऽप्युपलक्ष्यते। तथा च नृशब्देऽपि तृतीयान्ते उपपदे पिबतेर्धातोरधिकरणे यत्प्रत्ययो युगागमश्च निपात्यते। यातं गच्छतम्। किं कृत्वा? गोमद् गावो विद्यन्ते यस्मिन् तत्। अश्वावद् अश्वा विद्यन्ते यत्र तत्, 'मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ' (पा० सू० ६।३।१३१) इति दीर्घः। गोयुक्तमश्वयुक्तं च धनमादाय यज्ञं प्रति गच्छतमित्यर्थः। सदेवा नरो यस्मिन् यज्ञे पिबन्ति स नृपाय्य इत्युव्वटाचार्यः।

अध्यात्मपक्षे—अश्विनौ तद्वत् सुन्दरौ नासत्यौ परमसत्यौ रुद्रौ रावणादिशत्रूणां रोदयितारौ युवां नृपाय्यं यज्ञं प्रति गवाश्वादियुक्तं धनमादाय गच्छतम्।

दयानन्दस्तु—'हे नासत्यौ रुद्रौ अश्विनौ, यथा युवां गोमद् वर्तिर्वर्तमानं मार्गम् अश्वावन्नृपाय्यं नृणां पाय्यं पानं सुयातम्, तथा वयमपि प्राप्नुयाम' इति, तदपि यत्किञ्चित्, असम्बद्धत्वात्, अस्पष्टत्वाच्च। तथाहि वर्तिपदं मार्गपरं चेत्, तर्हि विशेषणेन तदनुरूपेणैव भाव्यम्। तथैव अश्वावदिति पदस्य नृपाय्यविशेषणत्वे तदनुरूपतैव न्याय्या। किञ्च, नृपाय्यपदव्यपदेश्यं किम्? तदपि न स्पष्टम्॥ ८१॥

न यत्परो नान्तर आदधर्षद् वृषण्वसू। दुःशꣳसो मर्त्यो रिपुः॥ ८२॥

मन्त्रार्थ—हे वृष्टि रूप धन देने वाले अश्विनीकुमारों! जो निन्दा करने वाला शत्रु हमारा सम्बन्धी न हो अथवा हो, वह हमारी और इन्द्र की धर्षणा न कर सके॥ ८२॥

हे वृषण्वसू, वर्षतीति वृषा, 'कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः' (उ० १।१५६) इति कनिन्प्रत्ययेन साधुः। वृषा वर्षणं वृष्टिर्वसु धनं ययोस्तौ वृषण्वसू, सम्बोधने हे वृषण्वसू! यद्वा वृष्णा वृष्ट्या जलान्नादिवर्षणेन वासयतो लोकं स्थापयत इति वृषण्वसू, हे अश्विनौ! दुःशंसो दुर् दुष्टमपवादं शंसतीति दुःशंसोऽपवदिता, रिपुः शत्रुः, मर्त्यो मनुष्यः, परः असम्बद्धः, अन्तरः सम्बद्धः, स्वकीयोऽपीदृशो मर्त्यो यद् यमिन्द्रं न आदधर्षन्न आधृष्णुयान्न पराभूयात्। स्वकीयः परकीयो वा पिशुनो रिपुर्यमिन्द्रं पराभवितुं न शक्तस्तमिन्द्रं युवां वीर्यवन्तं कुरुतमित्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे वृषण्वसू, वृष्णा तत्त्वज्ञानवृष्ट्या वासयतः साधकान् ब्रह्मणि प्रतिष्ठापयत इति वृषण्वसू अश्विनौ शास्त्राचार्यौ, तमिन्द्रं परमात्मानं स्वानुग्रहेण प्रकाशयतमिति शेषः। कीदृशमिन्द्रम्? यद् यमिन्द्रं परः परकीयोऽसम्बद्धो मर्त्योऽन्तरः सम्बद्धः स्वकीयो दुःशंसो निन्दको रिपुर्न आदधर्षत् परिवदितुं न समर्थः, सर्वस्यात्मत्वात् सर्वप्राणिपरप्रेमास्पदत्वात्, तादृशमिन्द्रं प्रकाशयतम्।

दयानन्दस्तु—'हे वृषण्वसू सभासेनेशौ, युवां यद् यस्माद् दुःशंसो दुःखेन शंसितुं योग्यः परो मर्त्यो रिपुर्न स्यात्, नान्तरश्च योऽस्मानादधर्षत्, तं प्रयत्नतो वशं नयतम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, रिपोर्मध्यस्थस्य च वशीकरणाप्रसङ्गात्, भावार्थविरोधाच्च, राजपुरुषैर्यः प्रबलो दुष्टतमः शत्रुर्भवेत् स प्रयत्नेन जेतव्य इति विरोधाच्च॥ ८२॥

ता नु आवोढमश्विना र॒यिं पि॒शङ्ग॑संदृशम् । धिष्ण्या॑ वरि॒वोविद॑म् ॥ ८३ ॥

मन्त्रार्थ—हे सबको धारण करने वाले, अग्निरूप धैर्यशील अश्विनीकुमारों ! आप हमारे लिये पीतवर्ण के सुवर्ण रूप धन को प्राप्त कराने में हेतु बनें ॥ ८३ ॥

यौ युवामुक्तगुणौ ता तौ नोऽस्माकम्, हे अश्विनौ हे धिष्ण्यौ धिष्ण्याग्निरूपौ धातारौ वा, पिशङ्ग-सन्दृशं पिशङ्गं पीतं सम्यग् दृश्यते तत् पिशङ्गसन्दृशं पीतवर्णम्, सुवर्णमित्यर्थः, अनेकरूपदर्शनं वा रयिं धनमावोढमावहतं प्रापयतम् । वहतेर्लुङि परस्मैपदे मध्यमपुरुषद्विवचनम् । कीदृशं रयिम् ? वरिवोविदम्, वरिवो धनं विन्दति प्राप्नोतीति वरिवोविदः, वरिव इति धननामसु (निघ० २।१०।५), तम् । 'विद्लृ लाभे' इत्यस्मात् 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा० सू० ३।१।१३५) इति कः । यद् धनं लब्धं सदन्यस्य धनलाभस्य हेतुभूतं स्यात्, तदर्थानुबन्धरूपं धनं प्रापयतमिति सम्बन्धः ।

अध्यात्मपक्षे—यौ युवां परमात्मानं प्रकाशयतम्, तौ हे अश्विनौ हे धिष्ण्यौ धिष्ण्याग्निसदृशौ ज्ञानरूपौ ज्ञानधातारौ वा, पिशङ्गसदृशं रयिं ज्योतिर्मयं ज्ञानरूपं रयिं धनं यश्च वरिवो धनं विन्दति प्राप्नोति तं ज्ञानान्तर-प्राप्तिहेतुं धनमावोढम् आवहतम् ।

दयानन्दस्तु—'हे अश्विनौ, धिष्ण्यौ धिषणया धिया गृहीतौ तौ युवां नो वरिवोविदं येन वरिवः परिचरणं विन्दति तं पिशङ्गसंदृशं रयिमावोढम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, सभासेनेशयोर्दानानधिकारित्वात्, सुवर्णसदृशं किं धनमित्यनुक्तेश्च । न चैश्वर्यं स्वर्णसदृशं भवति, तस्य नीरूपत्वात् ॥ ८३ ॥

पा॒व॒का नः॒ सर॑स्वती॒ वाजे॑भिर्वा॒जिनी॑वती । य॒ज्ञं व॑ष्टु धि॒याव॑सुः ॥ ८४ ॥

मन्त्रार्थ—पवित्र करने वाली, अन्नों द्वारा अन्नयुक्त, बुद्धिकर्म रूप फल को देने वाली सरस्वती देवी हमारी यज्ञ करने की इच्छा को पूरी करे ॥ ८४ ॥

मधुच्छन्दोदृष्टाः सरस्वतीदेवत्यास्तिस्रो गायत्र्यः । पावका पवनं पावः, 'भावे' (पा० सू० ३।३।१८) इति घञ्, पावं कायति कथयतीति पावका, 'आतोऽनुपसर्गे कः' (पा० सू० ३।२।३) इति कप्रत्ययः, पावयित्री सरस्वती । वाजेभिरन्नैर्वाजिनीवती वाजा अन्नानि विद्यन्ते यस्यां सा वाजिनी यज्ञक्रिया, सा विद्यते यस्यां सा वाजिनीवती यज्ञक्रियाधिष्ठात्री । धियावसुः, धिया कर्मणा वसु धनं यस्याः सा । समासेऽपि तृतीयायाश्छान्दसोऽ-लुक् । ज्ञानविज्ञानाधिष्ठात्री तथाविधा सरस्वती नोऽस्माकं यज्ञं वष्टु कामयताम् । यो हि यदिच्छति तत्प्रति-गच्छति, अतोऽस्मद्यज्ञं प्रत्यागच्छत्वित्यर्थः ।

अध्यात्मपक्षे—पावका पावयित्री सरस्वती ब्रह्मविद्यारूपा नोऽस्माकं यज्ञं यजनं ब्रह्मनिदिध्यासनरूपं वष्टु कामयताम्, तं च सफलयितुमागच्छेदित्यर्थः । कीदृशी सा ? वाजेभिर्वाजिनीवती वाजं ब्रह्मात्मकमन्नमभि-व्यङ्ग्यतयाऽस्ति यस्यां सा वाजिनी ब्रह्माकारा वृत्तिः, तदधिष्ठात्री वाजिनीवती । वाजेभिर्ब्रह्मात्मकैरन्नैर्विषयै-र्वाजिनीवती । अनेकाभिर्ब्रह्माकाराभिर्वृत्तिभिर्ब्रह्माकाराऽपरोक्षसाक्षात्काररूपा चरमा वृत्तिरुत्पद्यते । धियावसुः, धिया उक्तया चरमया वृत्त्या या धनवती, तादृशी सा नो यज्ञमागच्छत्वित्यर्थः ।

दयानन्दस्तु—'हे अध्यापकोपदेशकौ, यथा वाजेभिर्विज्ञानादिगुणैर्वाजिनीवती पावका धियावसुः सरस्वती वाणी नो यज्ञं वष्टु, तथा युवामस्मान् शिक्षेताम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, वाण्या विज्ञानाऽनाश्रयत्वात्, चिदात्मन एव ज्ञानाश्रयत्वात् ॥ ८४ ॥

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ८५ ॥

मन्त्रार्थ—सत्य और प्रिय वचनों की अथवा वैदिक शब्दों की प्रेरणा करने वाली, सुबुद्धियों को चेतना देने वाली सरस्वती देवी इस यज्ञ की रक्षा करे ॥ ८५ ॥

सूनृतानां सुष्ठु नृत्यन्त्यनेनेति सूनृतानि प्रियसत्यवचनानि, 'घञर्थे कविधानम्' (पा० सू० ३।३।५८, वा० २) इति कप्रत्ययेन साधु, तेषां वेदत्रयीशब्दानां चोदयित्री प्रेरयित्री। 'चुद प्रेरणे' णिजन्तात् तृच्, ततो ङीप्। देवमनुष्यादिषु प्रियसत्यवचनानां प्रेरयित्री वा। सुमतीनां सुष्ठु शोभना मतयो बुद्धयः सुमतयस्तासाम्, चेतन्ती चेतयन्ती प्रकटयन्ती वा, सुमतिदात्रीत्यर्थः। 'छन्दस्युभयथा' (पा० सू० ३।४।११७) इति शपोऽप्यार्ध-धातुकत्वात् णिचो लोपः। तथाविधा सरस्वती यज्ञं दधे धारयति, तदनुग्रहमन्तरा यज्ञाप्रवृत्तेः।

अध्यात्मपक्षे—या सूनृतानां प्रेरयित्री सुमतीनां च चेतन्ती उत्पादयित्री, तथाविधा सरस्वती ब्रह्मविद्या-धिष्ठात्री नो यज्ञं ब्रह्मयज्ञं निदिध्यासनादिलक्षणं धारयतु।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रियः, यथा सूनृतानां चोदयित्री सुमतीनां चेतन्ती सरस्वती अहं यज्ञं दधे, तथाऽयं युष्माभिरप्यनुष्ठेयः' इति, तदपि तुच्छम्, लौकिक्यां मानुष्यां तदसम्भवात्, यथा तथेत्यध्याहारस्य निष्प्रमाणत्वात्॥८५॥

महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। धियो विश्वा विराजति ॥ ८६ ॥

मन्त्रार्थ—सरस्वती देवी कर्म अथवा प्रज्ञा से महान् जल को प्रेरित करती है, अर्थात् सर्वत्र वर्षा कराती है। सकल प्राणियों की बुद्धि को प्रदीप्त करती है, उसकी हम स्तुति करते हैं ॥ ८६ ॥

या सरस्वती केतुना कर्मणा प्रज्ञया वा महो महद् अर्णं उदकं प्रचेतयति प्रज्ञापयति प्रेरयति, सर्वस्यां भूमौ वृष्टिं कारयतीत्यर्थः। किञ्च, विश्वाः सर्वा धियः प्राणिनां बुद्धीर्विराजति विराजयति प्रदीपयति, सर्वजन्तु-बुद्धीः प्रकाशयति, तां स्तुम इति शेषः। 'राजृ दीप्तौ' अन्तर्भावितण्यर्थो द्रष्टव्यः।

अध्यात्मपक्षे—या सरस्वती केतुना कर्मानुष्ठानेन, उपासनाद्वारेत्यर्थः। महो अर्णः, महद् उदकं प्रचेत-यति केतुनैव सर्वा बुद्धीर्दीपयति, तथाविधां दिव्यां भगवतीं ज्ञानविज्ञानमूलभूतां स्तुमः।

दयानन्दस्तु—'हे स्त्रियः, यथा सरस्वती वाणी केतुना प्रज्ञानेन महो महद् अर्णोऽन्तरिक्षस्थं शब्दसमुद्रं प्रचेतयति प्रज्ञापयति, विश्वा धियो विराजति प्रकाशयति, तथा यूयं प्रवृत्ता भवत' इति, तदपि यत्किञ्चित्, स्त्रीणां सम्बोध्यत्वे मानाभावात्। न च वाणी तत्रोदाहरणमर्हति, चैतन्याचैतन्याभ्यां विग्रहसाहित्यराहित्याभ्यां च वैषम्यात्। न च साऽन्तरिक्षसमुद्रं प्रज्ञापयति, वाणीमतामपि तदज्ञानात्॥ ८६ ॥

इन्द्रायाहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः। अण्वीभिस्तना पूतासः ॥ ८७ ॥

मन्त्रार्थ—हे अनेकों प्रकार की कान्ति वाले ऐश्वर्यवान् इन्द्रदेव! आप यहाँ आइये। यह आपको चाहने वाला अंगुलियों और दशापवित्र से शोधित अभिषुत सोम आपके लिये ही यहाँ रखा हुआ है ॥ ८७ ॥

मधुच्छन्दोदृष्टा इन्द्रदेवत्यास्तिस्रो गायत्र्यः। हे चित्रभानो, चित्रा नानाविधा भानवो दीप्तयो यस्य स चित्रभानुस्तत्सम्बुद्धौ। हे इन्द्र! त्वमायाहि। किमित्यायामीति चेत्, इमे सोमाः सुता अभिषुताः। त्वायवस्त्वां कामयन्त इति त्वायवः, 'सुप आत्मनः क्यच्' (पा०सू० ३।१।८) इति क्यचि 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (पा०सू० ७।२।९८) इति त्वादेशो, 'आ सर्वनाम्नः' (पा० सू० ६।३।९१) इत्यत्रानुवृत्तस्य 'दृग्दृशवतुषु' (पा० सू० ६।३।८९) इत्यस्य योगविभागाद् दृग्दृशवतुभिन्नेऽपि क्वचिदात्वे, 'क्याच्छन्दसि' (पा० सू० ३।२।१७०) इत्युप्रत्यये च रूपम्। तथा अण्वीभिरङ्गुलीभिः, अण्वीत्यङ्गुलिनाम (नि० घ० २।५।२)। तना च धनदानेन च, तनेति धननामसु

(निघ० २।१०।१९)। पूताः शोधिताः पवित्रीकृताः। अथवा तनाशब्दो दशापवित्रवाची। तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्णः। सोमास्त्वां कामयन्ते इन्द्रोऽस्मान् पिबत्विति। तदर्थमायाहीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमात्मन्, हे चित्रभानो चित्रदीप्ते, लक्ष्म्यालङ्कृतत्वात् चित्रा नानाविधाः श्यामलाः पीता हरिता व्यस्तनानाविधालङ्कारपीताम्बरादिकृताश्च भानवो दीप्तयो यस्य स चित्रभानुः, तत्सम्बुद्धौ। त्वमायाहि। इमे सुता अभिषुताः सोमा अनेके, अन्ये च भक्तसमर्पितोपहारास्त्वायवस्त्वां कामयन्ते। अन्यत् पूर्ववत्। 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्' (तै० ३।१०।६) इत्यादिश्रुतिरीत्या भगवच्छेषा भक्ता एव भोग्यभावापन्ना भगवन्तं भोक्तारं सोऽस्मानङ्गीकरोत्विति कामयन्ते।

दयानन्दस्तु—हे चित्रभानो इन्द्र, त्वया य इमे अण्वीभिः सुता निष्पादिताः, तना विस्तृतगुणेन पूतासस्त्वायवो ये त्वां युवन्ति मिलन्ति, ते पदार्थाः सन्ति तानायाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्। राजस्तुतौ वेदानां तात्पर्याभावेन तथार्थस्य निरर्थकत्वात्। न च राजपूजैव धर्मः, न वा तत्प्रवृत्तये वेदस्य प्रवृत्तिरिति विद्वांसो विदाङ्कुर्वन्तु। न च विद्याप्रकाशे चित्रा भानवो भवन्ति, तस्या नीरूपत्वात्। अङ्गुलीभिः के पदार्था राजानं मिलन्तीत्यनुक्तेश्च ॥ ८७ ॥

इन्द्रा या॑हि धि॒येषि॒तो विप्र॑जूतः सु॒ताव॑तः। उप॒ ब्रह्मा॑णि वा॒घतः॑ ॥ ८८ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्रदेव ! अपनी बुद्धि से प्रेरित हुए आप श्रेष्ठ ब्राह्मणों से सेवित होते हुए यहाँ आइये। सोम का अभिषव करने वाले यजमान को और ऋत्विजों के स्तोत्र को सुनते हुए आप यहाँ हवि के समीप आकर बैठिये ॥८८॥

हे इन्द्र, धिया स्वबुद्ध्या इषितः प्रेषितः सन्नायाहि, अनन्यप्रेषित इति यावत्। कीदृशस्त्वम् ? विप्रजूतः, 'जु वेगितायां गतौ' सौत्रस्तस्य 'ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च' (पा० सू० ३।३।९७) इति निपातनाद् जूतिः, ग्रन्थिः प्रीतिर्वा, जूतिरस्त्यस्येति जूतः, विप्रैर्मेधाविभिर्जूतः सम्बन्धविशेषोऽस्त्यस्येति विप्रजूतः। अथवा विप्रैर्मेधाविभिर्जूतोऽनुगतः, सेवित इति यावत्, स तथोक्तः। किमित्यागन्तव्यमिति चेत् ? सुतावतः सुतवतः सोममभिषुतवतो यजमानस्य ब्रह्माणि हवींषि उप हविषां समीपे, छान्दसो दीर्घः, वाघत ऋत्विजः, वाघत इति ऋत्विङ्नामसु (निघ० ३।१८।३), वर्तन्त इति शेषः। ऋत्विजो हविरादाय स्थिताः प्रतीक्षन्त इत्यायाहीत्यर्थः।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, धिया स्निग्धया भक्तानुग्रहार्द्रया इषितः प्रेषितो विप्रजूतो विप्रैर्मेधाविभिर्वा ब्रह्मविद्भिर्वा जूतः सेवितोऽनुगतो वा। तैः प्रीतिमान् वा आयाहि, भक्तानां हृदये यजमानस्थाने वा। किमर्थमागन्तव्यमिति चेत् ? सुतावतः सुतवतः, छान्दसो दीर्घः। सोममभिषुतवतो यजमानस्य उपब्रह्माणि वाघतो वर्तन्ते। हविषां समीपे वाघत ऋत्विजस्त्वां प्रतीक्षन्ते तदर्थमागन्तव्यमित्यर्थः।

दयानन्दस्तु—हे इन्द्र, इषितो विप्रजूतो विप्रैर्जूतः शिक्षितो वाघतो यः शिक्षया वाचा हन्ति जानाति, स त्वं धिया सुतावतो ब्रह्माणि उपायाहि' इति, तदपि यत्किञ्चित्, शिक्षार्थस्य जुधातोरप्रसिद्धेः। त्वद्रीत्या किं राजार्थं भोजनादिनिर्माणमेव सर्वेषां कर्तव्यम्, राज्ञश्च तद्ग्रहणमेव कार्यम्, नान्यत्किमपि ? ब्रह्माण्यन्नानि धनानि वेत्युपहासास्पदमेव। किमन्नधनोपार्जन एव मानवजीवनस्य परिसमाप्तिः ? एतत्सर्वमनालोच्यैवायं महात्मा मन्त्रार्थेषु कामचारं करोति। अत एव निघण्टूक्तमप्यर्थं लोकायतिकसरणावानयति ॥ ८८ ॥

इन्द्रा या॑हि तू॒तु॑जा॒न उप॒ ब्रह्मा॑णि हरिवः। सु॒ते द॑धिष्व न॒श्चनः॑ ॥ ८९ ॥

मन्त्रार्थ—हे अश्व वाले इन्द्रदेव ! शीघ्रतापूर्वक आकर आप इन हवियों के समीप बैठिये। सोम के अभिषुत होने पर हमारे सोमरूप अन्न और हवि को उदरस्थ कीजिये ॥ ८९ ॥

हे हरिवः! हरी अश्वौ विद्येते यस्यासौ हरिवान्, तत्सम्बुद्धौ 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा० सू० ८।३।१) इति नकारस्य रुत्वम्। हे इन्द्र, तूतुजानस्त्वरमाणः सन् त्वं ब्रह्माणि हवींषि उप हवींषि प्रति आयाहि। तूतुजान इति क्षिप्रनामसु (निघ० २।१५।१९)। आगत्य च सुते सोमेऽभिषुते सति नोऽस्माकं चनोऽन्नं सोमरूपं हविः, 'चन इत्यन्ननाम' (निरु० ६।१६)। पच्यते यत् तत् पचनम्, कर्मणि ल्युट्। पकारलोपेन सकारोपजनेन च चन इति, अन्ननामेति यावत्। दधिष्व उदरे धारय। 'धि धारणे' तौदादिकस्य व्यत्ययेन शपः श्लौ द्वित्वम्, अभ्यासस्यात्वं च छान्दसम्।

अध्यात्मपक्षे—हे इन्द्र परमेश्वर, हे हरिवो देवराजेन्द्ररूपधारिन्, यद्वा हरयो हनुमदादयो विद्यन्ते सेवकत्वेन यस्य स हरिवान्, तत्सम्बुद्धौ। तूतुजानस्त्वरमाणः सन् उप ब्रह्माणि हवींषि प्रति आगच्छ। एत्य च सुते सोमेऽभिषुते सति नोऽस्माकं चनः सोमरूपमन्नं दधिष्व स्वोदरे धारय।

दयानन्दस्तु—'हे हरिव इन्द्र विद्यैश्वर्यादिवर्धक, तूतुजानो नः सुते निष्पन्ने ब्रह्माणि च नो दधिष्व' इति, तदपि न, विदुषो मनुष्यस्यापि तादृशसामर्थ्याभावात्॥ ८९॥

अ॒श्विना॑ पिब॒तां मधु॒ सर॑स्वत्या स॒जोष॑सा।
इन्द्रः॑ सु॒त्रामा॑ वृत्र॒हा जु॒षन्ता॑ᳪं सो॒म्यं मधु॑॥ ९०॥

मन्त्रार्थ—सरस्वती के साथ प्रीतियुक्त अश्विनीकुमार स्वादिष्ट सोम का पान करें। सुरक्षक वृत्रासुर का वध करने वाले इन्द्रदेव मीठी सोममय हवि का सेवन करें॥ इस यज्ञ में बुद्धिबल को तीव्र करने वाली औषधियों के रस को मन्त्रों से संस्कृत करके सुरा नामक यौगिक रस तैयार किया जाता है। जो लोग इसको लौकिक मद्यवत् समझते हैं, वे इस कर्म के रहस्य को न जानने से शास्त्र की श्रद्धा से वंचित हो विषयलोलुप बन जाते हैं। इस मन्त्रसिद्ध औषधरस का यह प्रभाव है कि इन्द्र पर्यन्त देवताओं ने इसकी सहायता से इन्द्रिय-बल और बुद्धि को पाया था॥ ९०॥

अश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याऽनुष्टुप्। अश्विना अश्विनौ मधु मधुरस्वादोपलक्षितं सोमं पिबतां भक्षयताम्। कीदृशौ अश्विनौ? सरस्वत्या सजोषसा, जोषणं जोषः, 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१९०) इत्यसुन्प्रत्ययः, प्रीतिः, समानं जोषो ययोस्तौ, सरस्वत्या सह प्रीतिमन्तावित्यर्थः। किञ्च, सुत्रामा सुष्ठु त्रायते रक्षतीति तथोक्तः। वृत्रहा वृत्रं हतवानिति वृत्रहा, ईदृश इन्द्रोऽश्विनौ सरस्वती च मधु मधुरं सोम्यं सोममयं हविर्जुषन्तां सेवन्ताम्। 'मये च' (पा० सू० ४।४।१३८) इति सोमशब्दान्मयडर्थे यप्रत्ययः।

अध्यात्मपक्षे—अश्विनौ तद्वत्सुन्दरौ श्रीरामलक्ष्मणौ बलकृष्णौ वा सरस्वत्या सीतया प्रीतिमन्तौ, श्रीरामः पत्नीबुद्धया प्रीतिमान्, लक्ष्मणश्च मातृबुद्धया प्रीतिमान्, तौ मधु मधुरस्वादोपेतं सोमं पिबताम्। इन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा अश्विनौ सरस्वती चैते सर्वे सोम्यं सोममयं मधु जुषन्ताम्।

दयानन्दस्तु—'हे मनुष्याः, यथा सजोषसावश्विनौ सरस्वत्या मधु पिबताम्, यथा चेन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा च सोम्यं मधु जुषन्ताम्, तथा युष्माभिरनुष्ठेयम्' इति, तदपि यत्किञ्चित्, अश्विपदेनाध्यापकोपदेशकयोर्ग्रहणे मानाभावात्। तथैव सुत्रामवृत्रहपदाभ्यामपि कयोश्चिन्मनुष्ययोर्गौण्या वृत्त्यापि ग्रहणं निर्मूलमेव, मुख्यार्थसम्भव एव गौणार्थग्रहणस्यौचित्यात्। न वा सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यो ह्योषधिरसपानमेवोपदेष्टव्यम्, न चाश्व्यादिवत् समेषां कृते तत्सुलभम्॥ ९०॥

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां वेदार्थपारिजातभाष्यमण्डितायां विंशोऽध्यायः समाप्तः॥

———

